कृष्णभक्ति-काव्य में सखीभाव

डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी

S.3

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१०४

कृष्णभक्ति-काव्य में सखीभाव

लेखक

डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी

एम० ए०, (हिन्दी-संस्कृत) पी-एच० डी०

हिन्दी-विभाग : दयालसिंह महाविद्यालय, नई दिल्ली

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, संवत् २०२३ वि०
मूल्य

चौखम्बा विद्याभवन
चौक वाराणसी - 0542-2420404
रु० 200/-

©he Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi-1
(INDIA)
Phone : 3076

प्रधान कार्यालय—
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन,
पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
104

KṚṢṆABHAKTI-KĀVYA MEṄ SAKHĪBHĀVA

(Sakhībhāva In Kṛṣṇa-Devotion-Poetry)

By

Dr. S'ARAṆABEHĀRĪ GOSWĀMĪ

M. A., Ph. D.
Department of Hindi :
Dayalsingha College, New Delhi.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1966

First Edition.
1966
Price. Rs. [redacted]

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Antiquarian Book–Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 3145

जिन्होंने

लेखक को साहित्य और साधना के संस्कार दिये

उन,

पूज्य पितृचरण स्व० आचार्य गोस्वामी रामनाथ जी शास्त्री

पूज्य पितृव्य स्व० आचार्य गोस्वामी रघुनाथ जी शास्त्री

तथा

पूज्यवर स्व० आचार्य गोस्वामी जयविहारीलाल जी

की पावन एवं पुण्य स्मृति को

श्रद्धा सहित

समर्पित

दो शब्द

ग्रंथरचना की पृष्ठभूमि

वृन्दावन रसभूमि है, रसिकों का केन्द्र है। सखीभावोपासना का यह प्रमुख गढ़ है। वृन्दावन नित्यविहार की भूमि होने के कारण उपासनीय है अतः रसिकजन रससाधना के लिये वृन्दावन में आकर निवास करते हैं। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में राधाकृष्ण के लीलाविलास को लेकर रस-साधना का संप्रदायतः व्यवस्थित रूप वृन्दावन में ही प्रकट हुआ। हरिदासी और हरिवंशी रसिकों का तो यह एकमात्र उपासनास्थल है ही, अन्य कृष्णभक्ति-संप्रदायों के सखीभावोपासकों के लिये भी वृन्दावन ही प्रमुख साधनाभूमि है। रसोपासना से संबंधित साहित्य-सामग्री का भी संभवतः वृन्दावन ही सबसे बड़ा भंडार है। आज भी यहां के वातावरण में उपासना और साहित्य का सौरभ समन्वित है। भाग्य से, प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक का जन्म वृन्दावन के ही एक ऐसे साधक परिवार में हुआ, जिसका रसोपासना से वंशानुक्रमागत सम्बन्ध रहा है।

बाल्यकाल से ही वृन्दावनीय साहित्य के प्रति लेखक की रुचि रही क्योंकि घर में भरी अनेक हस्तलिखित पुस्तकों का स्वाभाविक आमन्त्रण यही था। इसी साहित्यिक जिज्ञासा के कारण लेखक ने स्वतंत्र रूप से तथा ब्रज-साहित्य-मण्डल के तत्त्वावधान में वृन्दावन के विभिन्न मन्दिरों और निजी पुस्तकालयों की व्यापक छानबीन की और साथ ही मथुरा, राधाकुण्ड, गोवर्द्धन, बरसाना आदि के साहित्य-केन्द्रों का भी यथावसर अवलोकन किया। रसोपासना से संबंधित विषयों पर पत्रों में लिखने का क्रम भी आरंभ हुआ।

ग्रंथ का आयोजन

शोध का अवसर उपस्थित होने पर वृन्दावनीय उपासना की इस विशिष्ट प्रवृत्ति का अध्ययन प्रस्तुत करने की इच्छा स्वाभाविक रूप

से लेखक के मन में जाग्रत हुई। लखनऊ-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० दीनदयालु जी गुप्त से शोध-विषय पर वार्तालाप होने पर उनके सत्परामर्श के अनुसार 'हिन्दी कृष्णभक्ति-काव्य में सखीभाव' शीर्षक से इस अध्ययन का विधिवत् श्रीगणेश हुआ। प्रारंभ में विषय के व्यापक रूप की कल्पना लेखक को नहीं थी परन्तु क्रमशः अध्ययन करने पर अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत होता गया।

संप्रदायों का निगूढ़ रहस्य समझने और साहित्यसंग्रह करने के लिये लेखक ने विभिन्न सम्प्रदायों के विशिष्ट साधकों और विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया। हरिदासी संप्रदाय के आचार्य स्वामी जयविहारिनिदास, गो० व्रजवल्लभ जी, गो० मदनमोहन एवं गो० मगनलाल जी, राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य गो० ललिताचरण जी, गो० व्रजभूषणलाल जी, गो० रूपलाल जी, निम्बार्क संप्रदाय के आचार्य विद्वान् पं० किशोरदास जी, श्री व्रजवल्लभशरण जी, गौडीय संप्रदाय के साधक बाबा कृष्णदास जी, गो० यमुना वल्लभ जी, श्री छुट्टनभट्ट जी, वल्लभ संप्रदाय के विद्वान् ब्रह्मचारी बालकृष्ण जी, श्री द्वारकादास जी परीख, ललित संप्रदाय के श्री श्रीकिशोर जी, श्री लाडिली किशोर जी, प्रणामी-सम्प्रदाय के श्री कृष्णप्रियाचार्य जी, सूरत तथा चरणदासी सम्प्रदाय के सुकवि साधक श्री रूपमाधुरीशरण जी ने लेखक को उचित मार्गदर्शन, परामर्श और साहित्य-संकलन में साहाय्य प्रदान किया है। इनके अतिरिक्त स्व० गो० छबीलेवल्लभ, बाबा कन्हैयादास तथा बाबा विश्वेश्वरशरण जी आदि ने भी अमूल्य सहायता की है।

सखीभाव-विषयक साहित्यिक मान्यताओं के संबंध की अनेक साधनागत तथा साहित्यिक समस्याओं को सुलझाने के लिये लेखक ने अनेक नगरों का भ्रमण किया और विद्वानों के विचार संकलित किये। काशी में म० म० श्री गोपीनाथ जी कविराज, डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, श्री बलदेव जी उपाध्याय, श्री चन्द्रबली जी पाण्डेय, श्री राजबली जी पाण्डेय, लखनऊ में डा० दीनदयालु जी गुप्त, डा० भगीरथ जी मिश्र, दिल्ली में डा० नगेन्द्र, डा० विजयेन्द्र स्नातक, मथुरा में श्री प्रभुदयाल मीतल, श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी, श्रीकृष्णदत्त जी वाजपेयी (अब, सागर विश्वविद्यालय में इतिहास-विभाग के अध्यक्ष), जयपुर में श्री लाडिलीकिशोर जी, कलकत्ता में श्री शशिभूषणदास जी गुप्त, कानपुर में डा० मुन्शीराम जी शर्मा, पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा, आचार्य बृहस्पति एवं डा० विश्वनाथ जी गौड़ के महत्त्वपूर्ण विचारों से अवगत होकर लेखक ने लाभ उठाया है। बाबा विश्वेश्वरशरण जी,

श्री प्रभुदयाल मीतल तथा हाथरस के श्री प्रभुलाल गर्ग आदि से चित्र-संकलन में यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई है।

ग्रन्थ-रचना

उपर्युक्त अनेक सूत्रों से प्राप्त सामग्री के आधार पर इस ग्रंथ का लेखन आरंभ हुआ। प्राचीन भारतीय साहित्य—उपनिषद्, पुराण एवं तंत्रादि—की सामग्री का चयन भी हो चुका था अतः प्रस्तुत रूपरेखा के अनुसार कार्य की गति बढ़ी। उस समय अन्य वैष्णव संप्रदायों पर भी कुछ कार्य हो चुका था। राधावल्लभ संप्रदाय और रामभक्ति शाखा के रसिक-साहित्य पर कुछ ग्रंथ प्रकाश में आये। उक्त ग्रन्थों में कुछ ऐसी सामग्री भी दिखाई पड़ी, जिस पर लेखक कार्य कर चुका था परन्तु ग्रंथों में उसके प्रकाशित हो जाने पर उन अध्यायों को छोड़ देना ही उचित समझा गया। ग्रन्थ के प्रायः पूर्ण होने पर डा० गोपालदत्त का 'स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य' विषयक शोध-प्रबन्ध भी प्रस्तुत हुआ। यद्यपि ग्रंथ का अभी मुद्रण नहीं हुआ है, फिर भी उसकी पांडुलिपि लेकर लेखक ने उपर्युक्त ग्रंथ की उपलब्धियों को आधार बना कर विशेषकर स्वामी हरिदास जी की जीवन-सम्बन्धी गवेषणाओं का खंडन या मंडन किया है। लेखक का इस ग्रंथ की उपलब्धियों से पर्याप्त मतभेद भी है।

शोध-दृष्टि

विभिन्न वैष्णव संप्रदायों का यह अध्ययन अनेक रूपों में तुलनात्मक अध्ययन हो गया है। प्रत्येक संप्रदाय किसी न किसी भाव-दृष्टि से अपने को ही उत्कृष्ट समझता है, अतः तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने में गुरुतर दायित्व का बोझ आ पड़ता है। भाव-क्षेत्र में समालोचना पसंद नहीं की जाती और अध्ययन समालोचना चाहता है। ऐसी स्थिति में अनेक बार सत्य का कथन करना भी कठिन हो जाता है। इस प्रवन्ध में लेखक को अपने-अपने क्षेत्र में सभी संप्रदायों की श्रेष्ठता मान्य है फिर भी तथ्यपरक निष्कर्षों में उसे जो कुछ कहना पड़ा है, उसके लिये वह क्षम्य है।

प्रबंध की प्रस्तुत रूपरेखा

प्रबंध की प्रस्तुत रूपरेखा इस प्रकार है। यह ग्रन्थ सिद्धान्त और साहित्य दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में विषयप्रवेश नामक प्रथम

अध्याय में सखीभाव का पद-पदार्थ तथा गोपीभाव और सखीभाव की भूमिकाओं का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में सखीभावोपासना के आधारभूत तात्त्विक उपादानों तथा उसकी मूल विचारधारा को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। तृतीय अध्याय में गोपीतत्त्व और सखीतत्त्व पर पुराण एवं संप्रदायों को आधार बना कर विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय में उपास्य तत्त्व का विस्तृत विवेचन है। पंचम अध्याय में सखीभाव की उपासना के निदर्शन-हेतु सखीसंप्रदाय की उपासना-पद्धति का संयोजन किया गया है।

प्रबंध के द्वितीय भाग में सखीभाव-विषयक हिन्दी-साहित्य की सामग्री का परिचय और समीक्षा है। प्रथम अध्याय में सखीभाव-विषयक साहित्य की सामान्य आधारभूमि का निर्देश कर रस-परिपाटी का संक्षिप्त निर्देश है। इसके पश्चात् द्वितीय अध्याय से लेकर नवम अध्याय तक क्रमशः सखी-संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय, गौड़ीय संप्रदाय, वल्लभ संप्रदाय, ललित संप्रदाय, प्रणामी संप्रदाय तथा शुक संप्रदाय के सखीभावोपासकों के आवश्यक जीवन परिचय के साथ ही, उनके उपासना-सिद्धान्त का परिचय एवं काव्य की समीक्षा की गई है। इस अध्ययन में लगभग १५० कवियों का अधिक अथवा संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा सका है। ग्रंथ का कलेवर बढ़ता देखकर अनेक परिचयों को अत्यन्त संक्षिप्त कर देना पड़ा है। अंत में उपसंहार शीर्षक में ग्रंथ की उपलब्धियों एवं मूल्यांकन पर विचार किया गया है। परिशिष्ट में विभिन्न सखीभावोपासक संप्रदायों के तिलक, गुरुपरंपरा अथवा वंशपरंपराओं तथा सहायक साहित्य का उल्लेख किया गया है।

आभार-स्वीकार

जिन विद्वान् एवं साधकों का नामोल्लेख पीछे किया गया है, उन सभी के प्रति लेखक अपना हार्दिक आभार प्रकट करता है। अनेक नाम ऐसे भी हैं, जिनका उल्लेख होना आवश्यक होने पर भी नहीं हो सका है, उनके प्रति भी लेखक विनीत है। जिन विद्वानों की पुस्तकों अथवा लेखों का उद्धरण के लिये इस ग्रंथ में उपयोग किया गया है, उन सबके प्रति भी लेखक कृतज्ञता-ज्ञापन करता है। प्रस्तुत प्रबंध के शोध-निर्देशक डॉ० देवकीनन्दन जी श्रीवास्तव, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय का शोध के प्रति जो संतुलित और वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, उससे इस

प्रबंध को व्यवस्थित करने में अत्यधिक सहायता मिली है। यही नहीं, डा० श्रीवास्तव के सखीभावोपासना के निकट संपर्क में रहने के कारण विषय के गूढ़ प्रतिपादन में उनके अनुभवों से भी लेखक को बहुमूल्य मार्गनिर्देश प्राप्त हुआ है। उनके प्रति शब्दों से कृतज्ञता प्रकट करना संभव नहीं है।

प्रस्तुत प्रबंध के मुद्रण का कार्य सन् १९६१ में ही आरंभ हो गया था। इस अवधि में शोध-प्रबंध में निर्देशित अनेक विषयों पर आगे भी कार्य हुआ है। ललित-संप्रदाय और उसके साहित्यकारों का परिचय हिन्दी-जगत् को पहली बार इसी शोध-प्रबंध से मिला था परंतु अब; लेखक के निर्देशन में ही 'श्री वंशीअलि जी का संप्रदाय (ललित संप्रदाय) सिद्धान्त और साहित्य' शीर्षक शोध-प्रबंध लिखने पर डा० बाबूलाल गोस्वामी को पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हो चुकी है। प्रणामी एवं चरणदासी संप्रदायों पर भी आगे कार्य हो रहा है। निम्बार्क संप्रदाय, गौड़ीय संप्रदाय तथा वल्लभ संप्रदाय पर भी अभी आगे विस्तार से कार्य करने की आवश्यकता है, यद्यपि इन संप्रदायों पर कुछ ग्रंथ लिखे भी गये हैं। ग्रंथ में निर्देशित अनेक भक्त-कवियों पर स्वतंत्र रूप से भी कई शोध-प्रबंध लिखे गये हैं, आगे और भी कार्य की गुंजाइश है।

प्रस्तुत ग्रंथ कृष्णभक्ति साहित्य की उस मूल दृष्टि को प्रोद्भासित करता है, जो विगत अनेक शताब्दियों में सहस्रशः भक्तजनों का निगूढ़ मर्म रहा है। इस दृष्टि को सही रूप में स्वीकार किये बिना रसिक-साहित्य की आत्मा का उद्घाटन नहीं हो सकता। सखीभाव ही वह जीवन-दृष्टि है। यह दृष्टि सभी संप्रदायों के भक्ति-साहित्य में गंभीरता से अनुस्यूत रही है, इस तथ्य के अनेक गंभीर कारण हैं। इस दृष्टि के साहित्य की गहनता और व्यापकता का परिचय देना ही शोध-ग्रंथ का प्रमुख विषय रहा है। आशा है कि अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में यह ग्रंथ समर्थ होगा

वृन्दावनीय उपासना के अधिकारी विद्वान् डा० विजयेन्द्र स्नातक जी ने प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका लिख कर इस प्रयत्न को गौरवान्वित किया है। लेखक उनका हृदय से आभारी है। ग्रंथ के प्रकाशन से पूर्व ही

प्रबंध समिति मंदिर श्री बाँकेबिहारी जी महाराज, वृन्दावन की ओर से इस पर पाँच सौ रुपये की पुरस्कार-राशि प्रदान की गई अतः लेखक उक्त प्रबंध-समिति और उसके सदस्यों का भी कृतज्ञ है। यह तो श्री बाँके बिहारी जी महाराज का ही प्रसाद है, उन्हीं को अर्पित है।

दयालसिंह कालेज, नई दिल्ली
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
दिनांक ५ अगस्त १९६६

विनीतः
शरणबिहारी गोस्वामी

भूमिका

ब्रज के कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों की उपासना-पद्धति का मूलाधार 'रस' है, जिसे ब्रजरस, उज्ज्वल रस, रसोवासना आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। दार्शनिक शब्दावली में इस रस-दर्शन के विधायक तत्त्व भी अन्य दर्शनों से पृथक् 'प्रेम तत्त्व' पर आश्रित हैं। ब्रजभक्ति के प्रवर्त्तक महानुभावों का ध्यान दार्शनिक दृष्टि से वेदान्त के व्याख्यान पर न होकर उसके तात्त्विक ऐक्य पर केन्द्रित था, इसलिए दर्शन की जटिलता से बच कर इनका ध्यान मुख्यतः प्रेम और प्रपत्ति पर ही रहा। यही कारण है कि साम्प्रदायिक धरातल पर पृथक् होने पर भी 'राधाकृष्ण' के उपासना-सूत्र द्वारा ब्रज के भक्ति-सम्प्रदाय एक सूत्र में अनुस्यूत लगते हैं।

ब्रजभक्ति के उन्नायकों में महाप्रभु कृष्ण चैतन्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, स्वामी हरिदास और गो० हितहरिवंश का विशिष्ट स्थान है। इनमें महाप्रभु कृष्ण चैतन्य के अतिरिक्त सभी आचार्यों का ब्रज-भूमिवास निश्चित है। वल्लभाचार्य भी गोवर्धन में कुछ समय तक रहे थे और वहां रहकर उन्होंने लीलागान की परम्परा स्थापित की थी। निम्बार्काचार्य का समय अनिर्णीत होने पर भी यह निर्णीत है कि दाक्षिणात्य होने पर भी उनका अधिक समय ब्रज में ही व्यतीत हुआ था। स्वामी हरिदास और हितहरिवंश तो अपनी युवावस्था में ही वृन्दावन धाम में आ गये थे और आजीवन यहीं रहे। फलतः इन सभी महात्माओं की भक्ति-पद्धति में ब्रजरस की प्रधानता बनी रही और इसी को उन्होंने अपनी भक्ति का मेरुदण्ड बनाया।

प्रेमलक्षणा भक्ति या रसोपासना के मूल बीज का संधान करने वाले विद्वान् उसे वैदिक वाङ्मय से खोजने का प्रयत्न करते हैं किन्तु

इस रसभक्ति के व्याख्याताओं में नारद और शांडिल्य को सहज ही में स्थान मिलता है। उनके भक्तिसूत्रों में गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण वर्द्धमान, विच्छेदरहित, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, केवल अनुभवैकगम्य, सांसारिक प्रेम से पृथक् कोटि के प्रेम को मुख्य स्थान प्राप्त है। इस प्रेम को पाकर प्रेमी केवल प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है, और प्रेमका ही चिन्तन करता है। प्रेम को इस परात्पर भूमि पर अवस्थित कर देने के पश्चात् उसे भक्ति का साध्य और साधन मान लेना ही इस मार्ग की विशेषता है, जो अन्यत्र कहीं लक्षित नहीं होती।

माधुर्यभाव की इस आह्लादमयी प्रेमाभक्ति को स्वीकार करने वाले ब्रज के भक्ति-सम्प्रदायों में राधाकृष्ण के माध्यम से जो विशद विस्तार हुआ वह रूपभेद से ही समझना चाहिये। मूलतः इन सभी सम्प्रदायों की तात्त्विक दृष्टि बहुत भिन्न नहीं है। वल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय में माधुर्यभाव का वात्सल्य पक्ष प्रारम्भ में स्वीकार किया था किन्तु गुसाईं विट्ठलनाथ ने इसमें परिवर्तन किया और 'शृङ्गारमण्डन' ग्रन्थ लिखकर अपनी भक्ति को रससिक्त बना दिया। चैतन्य मत के व्याख्याता षष्ट् गोस्वामियों ने भी-अपने ग्रंथों में इसी पद्धति को शास्त्रीय कसौटी पर स्थापित किया। निम्बार्क मत में श्री भट्ट और श्री हरिव्यास देवाचार्य की वाणियों में इसी प्रेमतत्त्व को पल्लवित किया गया है। गोस्वामी हितहरिवंश का सम्प्रदाय भी शास्त्र और परम्परा से पृथक् होकर प्रेमतत्त्व पर ही अपनी आस्था व्यक्त करता है। स्वामी हरिदास ने सखी या सहचरी को रस-क्रीड़ाओं के दर्शन का अधिकारी बना कर जीव की मुक्ति का नया द्वार खोल दिया और उनकी शिष्य परम्परा के अष्टाचार्यों ने बड़ी सटीक शैली में इस सखीभाव का वर्णन किया।

नित्यविहार की कल्पना ने ब्रजभक्ति को अन्य भक्ति-पद्धतियों से सर्वथा पृथक् कर दिया है। नित्यविहार या निकुंजलीला की कल्पना ने राधा और कृष्ण के अतिरिक्त दो नये विधायक तत्त्व प्रस्तुत किये, जो पहले किसी भक्तिपद्धति में नहीं थे। ये दो तत्त्व हैं—वृन्दावन और सखी। वृन्दावन का वर्णन तो पुराणों में तथा अन्य संस्कृत काव्यों में प्रचुर मात्रा में है किन्तु लौकिक धाम वृन्दावन

का जो स्थान नित्यविहार के कारण बना वह पहले नहीं था। सखी या सहचरी से पहले गोपी का वर्णन था किन्तु गोपी भाव में वह भावना नहीं थी जो स्वामी हरिदास और हितहरिवंश की सखी या सहचरी में है। सखीभाव भक्ति के क्षेत्र का एक अनूठा भाव है जिसकी समता या तुलना किसी अन्य भाव या स्वरूप से सम्भव नहीं है।

भक्तिक्षेत्र में अनुसन्धान करने वाले विद्वानों ने सखाभाव का संधान तो जीव और ईश्वर के सम्बन्ध-निरूपण में मुण्डकोपनिषद् में किया है और "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" आदि में परमात्मा को जीवात्मा का सखा ठहराया गया है किन्तु सखीभाव का वर्णन पहले कहीं नहीं देखा गया। प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध निरूपित करते समय प्रकृति को योषिता अर्थात् नारी रूप में सांख्य दर्शन में अङ्कित किया गया है। इसके आधार पर पत्नीभाव आदि स्थापित करने की चेष्टा हुई किन्तु पत्नीभाव में स्वसुख कामना को ग्रहण करने के कारण ब्रज के रसिक भक्तों ने सखीभाव की स्वतन्त्र रूप से कल्पना की और सखी को ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा, मात्सर्य आदि दुर्गुणों से सर्वथा दूर रख कर उसका निरूपण किया।

सखीभाव की कल्पना के बिना नित्यविहार का स्वरूप खड़ा करना कठिन है। राधाकृष्ण की प्रेमक्रीड़ा को निरन्तर बनाये रखने के लिए एक ऐसे सहायक की आवश्यकता है जो किशोर और किशोरी को प्रेमलीला के लिए सतत प्रेरित करे। यह कार्य सखी द्वारा ही सम्पन्न होता है। सखी प्रेमलीला का तटस्थ रूप से आस्वादन करती है और राधाकृष्ण की लीलाओं की साक्षी होती है। वस्तुतः समस्त नित्यविहार प्रेम का ही प्रसार या व्यापार है। राधाकृष्ण भी प्रेम के रूप हैं, सखियां भी प्रेममयी हैं और श्रीधाम वृन्दावन भी प्रेमरससागर है। अतः सखीभाव की कल्पना करते समय ब्रज के महात्माओं के सामने प्रेम के प्रतिफलित और बिम्बित होने की समस्या रही होगी। इसी समस्या के समाधान के लिए उन्होंने नित्यविहार के चार उपादान माने तथा सखीभाव की स्थापना की। सखियों का प्रेम मत्सरभाव से न होकर पुत्र, मित्र, पति और आत्मवत् होता है आत्मवत् प्रेम में समर्पण की भावना तो उत्कट है किन्तु पतिरूप में कृष्ण से संभोगेच्छा नहीं है। संभोगेच्छा का निषेध करते हुए कहा

गया है कि सखीभाव धारण करने पर मन की स्थिति विशुद्ध उत्सर्गमयी हो जाती है। तटस्थ भाव से क्रीड़ाओं का आनन्द लेना ही सखीभाव की चरम सिद्धि है। वासनारहित प्रेम के उच्चासन पर इसीलिए सखीभाव को अवस्थित किया गया है कि उसमें निस्संग एवं मात्सर्यहीन होकर युगल की केलि-क्रीड़ाओं का आनन्द प्राप्त होता है।

इस सम्बन्ध में एक संदेह मन में होता है। पुरुष रूप में उत्पन्न होने पर जीवात्मा अपना पुरुषत्व खोकर सखी रूप में स्त्रीत्व क्यों ग्रहण करे? वस्तुतः यह संदेह भाव को अन्यथा समझने ने कारण ही होता है। बहिरंग वेशभूषा से सखीभाव सिद्ध नहीं होता; जो पुरुष स्त्री-रूप धारण कर सखीभाव की सिद्धि समझता है वह इस भाव की मर्यादा को नहीं समझता। सखीभाव एक मानस स्थिति है, मनोदशा है, जिसमें आत्मसुख विसर्जन कर जीवात्मा अपने को राधाकृष्ण की सहज सखी समझ कर अपनी इष्ट सिद्धि केवल उनकी नित्य लीलाओं के दर्शन में मानती है और कृतार्थ होती है उनके प्रेम को उद्दीप्त होता हुआ देखकर।

व्रज साहित्य में सखीभाव के साथ ही गोपीभाव का वर्णन प्रचुर मात्रा में है। कृष्ण चैतन्य के सम्प्रदाय में गोपीभाव का बड़े विस्तार के साथ वर्णन हुआ है और गोपियों की विभिन्न दशाओं का वर्णन करने के बाद एक महाभाव स्वीकृत हुआ है। पुराणों में भी गोपियों को भक्ति के प्रसंग में अनुकरणीय ठहराया गया है और उसी संदर्भ में गोपीभाव की भी चर्चा है। साधारण पाठक के सामने यह प्रश्न है कि स्वामी हरिदास वर्णित सखीभाव और चैतन्य सम्प्रदाय का गोपीभाव पृथक्-पृथक् है या एक ही विचारधारा के दो नाम हैं। इस जटिल प्रश्न को समझने के लिए दर्शन, पुराण और वाणी ग्रंथ सभी का आश्रय लेना होगा। श्रीकृष्ण के नित्य परिकर में गोपियों को स्वीकार करने वाले यह कहते हैं कि गोपियाँ गोलोक से लीला के निमित्त अवतरित हुई हैं। उन्हें कृष्ण से सर्वथा पृथक् नहीं समझना चाहिए। वे कृष्ण का अंश हैं अथवा कृष्ण की शक्तियां हैं। इसी प्रकार गोपियों के विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएं भक्तिक्षेत्र में फैली हुई हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में तो गोपियों को बहुत ही श्लाघ्य कोटि में रखा गया है और श्रीकृष्ण की रासलीला

का समस्त श्रेय गोपियों की आभ्यन्तर प्रेरणा को ही प्राप्त है। श्रीमद्भागवत में गोपीप्रेम से बढ़कर और किसी प्रेम को स्थान नहीं है।

गोपियों के स्थान और महत्त्व में तारतमिक रूप से कोटियां भी चैतन्य सम्प्रदाय में स्थिर की गई हैं। राधा और चन्द्रावली को प्रधान गोपिका बताकर उनका स्थान भी उच्च बताया गया है। स्वकीया-परकीया की दृष्टि से भी गोपियों के स्वरूप पर विचार हुआ है। कहने का तात्पर्य यह कि गोपीभाव को चैतन्य सम्प्रदाय में समर्पण और श्रद्धा का मुख्यभाव माना गया है और उपासना के लिए गोपीभाव की स्वीकृति चरमोत्कर्ष वाली है। इसी गोपीभाव को सखीभाव से भी व्यवहृत किया गया है और इन दोनों कोई भेद नहीं माना है। 'चैतन्यचरितामृत' के प्रकरणों में सखी और गोपी को पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते देखकर साधक के मन में यह प्रतीति होना स्वाभाविक है कि ये दोनों भाव समानधर्मा हैं। किन्तु स्थिति इससे भिन्न है। सखीभाव का तात्पर्य गोपीभाव से सर्वथा भिन्न है, और सखीभाव न तो भिन्न-भिन्न नामों पर आधृत है और न किसी भाव को सर्वोच्च रूप से स्वीकार करता है। गोपीभाव मानने वाले भक्त गोपियों के नाम रूपमंजरी, रसमंजरी, विलासमंजरी आदि मानते हैं, और अन्तिम भाव—महाभाव में गोपीभाव की चरम परिणति देखते हैं। यह स्थिति सखीभाव की उपासना-पद्धति में स्वीकार नहीं की जाती।

व्रज के अन्य सम्प्रदायों में भी गोपी को स्थान मिला है किन्तु उनमें गोपीभाव का ऐसा उत्कर्ष नहीं है, जैसा चैतन्य मत में है। राधावल्लभ, निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदाय की स्थिति कुछ भिन्न है। गोपीभाव की भूमि संयोग-वियोग की भूमि है, जिसमें विरह-मिलन दोनों समान रूप से आते-जाते रहते हैं किन्तु सखीभाव में केवल नित्य संयोग ही रहता है, पलभर का वियोग भी यहाँ स्वीकार्य नहीं है। गोपीभाव मानने वाले श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीलाओं से बाहर, द्वारका और मथुरा में भी लीलाएं मानते हैं। गोपियों का विरह-वर्णन तो यहां तक प्रसिद्ध हुआ कि एक समीक्षक ने गोपियों को विरह-शूर ठहराकर उनके विरह में वीर रस तक देख लिया। कहने का तात्पर्य यह कि गोपीभाव को सखीभाव के साथ तादात्म्य

करके नहीं देखना चाहिए। ये दोनों भाव पृथक् रूप, दशा और बोध वाले हैं।

वस्तुतः सखीभाव की उपासना को अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय भक्तप्रवर स्वामी हरिदास जी को है। नित्यविहार का वर्णन करते हुए उन्होंने निकुंज बिहारी कृष्ण की लीलाओं के दर्शन के लिए एकमात्र अधिकारी सखी को माना और सखीभाव को धारण करने वाले जीव ही इस उपासनापद्धति के अधिकारी बने। लीलारत युगल दम्पति के चरण पलोटने का सुख प्राप्त करने वाली सखी मद-मात्सर्य-ईर्ष्या-द्वेष-विहीन होकर तत्सुखीभाव से जो समर्पण करती है, वह कहीं और नहीं देखा जा सकता, इसीलिए स्वामी जी के मत में सखीभाव धारण करना सरल होते हुए भी अत्यन्त कठिन है। केवल बाह्याचार से सखीभाव सुलभ नहीं होता, यह तो मन की सबसे अधिक संयमपूर्ण स्थिति में ही सम्पन्न हो सकता है। ज्यों-ज्यों सखीभाव के अन्तरंग में पैठा जाता है, त्यों-त्यों इसके गूढ़ाशय का मर्म विदित होता है और साधक के अहंकार-दम्भ की बेड़ियाँ कटने लगती हैं। सखीभाव में डूबना आत्मभाव में लीन होना ही है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी ने केवल वाणी-ग्रंथों के आधार पर ही सखीभाव को स्थापित नहीं किया है वरन् सखीभाव की वृन्दावनीय परम्परा में पूर्णतया अवगाहन कर उसका मर्मोद्घाटन किया है। गोस्वामी शरणबिहारी जी स्वामी हरिदास जी की वंशपरम्परा में हैं। उनके परिवार में सखीभाव की उपासना को मान्यता मिलती रही है और आज भी उनके परिवार के ज्येष्ठ सदस्य इस उपासना के भक्त हैं। इस ग्रंथ को पढ़ने पर मुझे लगा कि प्रतिपाद्य विषय का साक्ष्य लिखित प्रमाण तो हैं ही किन्तु कुछ ऐसा भी इसमें सम्पृक्त है, जो केवल कागज और स्याही के अक्षरों से नहीं, मन पर अंकित अक्षरों से लिखा गया है।

'कृष्णभक्तिकाव्य में सखीभाव' ग्रंथ को पढ़ने पर पाठक को केवल सखीभाव का ही परिचय नहीं मिलता वरन् प्रकारान्तर से हमें ब्रजभक्ति का सम्पूर्ण परिचय मिल जाता है। सखीभाव की स्थापना के लिए उसके उद्भव और विकास से प्रारम्भ कर डॉ० गोस्वामी ने उसके क्षेत्र, मर्यादा, विस्तार आदि पर बड़ी व्यापक दृष्टि से विचार

किया है। अन्त में सखीभाव से सम्बद्ध साहित्य का भी मूल्यांकन है, जो साहित्य में रुचि रखने वालों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। मैं तो यह कल्पना नहीं कर सकता था कि सखीभाव का सैद्धान्तिक विवेचन करने के बाद साहित्यिक सौष्ठव पर भी उसी समर्थ शैली से कुछ लिखा जा सकता है किन्तु इस ग्रंथ को पढ़कर स्पष्ट हुआ कि सखीभाव ने इतने सन्त-महात्माओं को प्रभावित किया और इतना श्रेष्ठ साहित्य इस भाव को स्वीकार कर लिखा गया। इस ग्रंथ के अनुशीलन से पाठक के समक्ष व्रजभक्ति का सर्वांगीण चित्र अपने पूरे परिकर के साथ प्रस्तुत हो जाता है।

डॉ० गोस्वामी विद्याव्यसनी, कारयित्रीप्रतिभासम्पन्न वैष्णव भक्त हैं। उनके पास वंशानुगत भक्ति-भावना का सम्बल तो है ही, उनकी लेखनी में भी विषय-प्रतिपादन की पूरी सामर्थ्य है। इस ग्रंथ में उनकी स्थापनाएं तर्क-प्रमाण-सम्मत होने के साथ उपादेय हैं। शोध की वैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्वाह करते हुए भी उन्होंने अपने ग्रंथ को नीरस और दुरूह नहीं होने दिया है। डॉ० गोस्वामी भविष्य में भी हिन्दी भक्ति-साहित्य की सेवा में निरत रहेंगे, इस इच्छा के साथ मैं उनके इस ग्रंथ का स्वागत करता हूँ।

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
दिनांक ३–८–६६

—विजयेन्द्र स्नातक

विषय-सूची

प्रस्तावना २९–६४

विषय के अध्ययन के इतिहास की रूपरेखा। प्रो० एच० एच० विल्सन, विवेचन, श्री ए० बार्थ, विवेचन, श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर, विवेचन, डा० ए० जी० ग्रियर्सन, विवेचन, श्री एफ० एस० ग्राउज, श्री जे० एन० फर्कुहर, विवेचन, श्री एफ० ई० के, विवेचन, मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, डा० सुशील कुमार डे, डा० शशिभूषण दासगुप्त, डा० दीनदयाल गुप्त, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री बलदेव उपाध्याय, डा० हरवंशलाल शर्मा, श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव', डा० भगवती प्रसाद सिंह, डा० विजयेन्द्र स्नातक, गो० ललिताचरण, डा० गोपालदत्त शर्मा।

भारतीय-रस-साधना और सखीभावोपासना, सखीभाव : लिंगभेद से विवर्जित, रससाधनाओं के अध्ययन के लिये आवश्यक दृष्टिकोण।

प्रथम भाग

सिद्धान्त पक्ष

प्रथम अध्याय : विषय-प्रवेश ३–४२

धर्म का अधिष्ठान, धर्माचरण की दिशाएं, धर्म और उपासना, उपासना और भक्ति, कृष्णोपासना के विविध रूप, लीलाओं का आधार, प्रेम ही निकष, नित्यलीला, गोपीभाव और सखीभाव, सखीभाव : पद-पदार्थ, सखीभाव क्यों, उपनिषद् में सखाभाव, समर्पण की साध्यता, दार्शनिक प्रभाव, गोपीभाव की उपासना से भक्तों को गोपी-देह की प्राप्ति।

द्वितीय अध्याय : सखीभाव की उपासना की पृष्ठभूमि और उपादान ४३–१३५

राजनीतिक परिस्थिति, सामाजिक परिस्थिति, धार्मिक परिस्थितियाँ, निम्बार्क संप्रदाय, श्री निम्बार्क का समय, श्री निम्बार्क के ग्रंथ, श्रीकृष्णस्तवराज; प्रपन्न कल्पवल्ली, मंत्र रहस्य षोडशी, दशश्लोकी अथवा वेदान्त कामधेनु, प्रातःस्तव,

लघुस्तवराज, श्री निम्बार्क विक्रान्ति, अन्य ग्रंथ, क्रम-दीपिका, सिद्धान्त-रत्नांजलि, माधुर्य भाव की भक्ति, प्रथम प्रवाह, द्वितीय प्रवाह। इस काल के उपनिषद् ग्रंथ, पुराण ग्रंथ। लीलातत्त्व, लीलाभेद, वहिरंगलीला, अन्तरंगलीला, पौराणिक अवतारवाद और लीलातत्त्व, वैष्णवों का लीला-दृष्टिकोण, लीला का अध्यात्म पक्ष और उसका सहज स्वरूप। प्रेरणा-स्रोत के रूप में तंत्र-साधना। शैव तंत्र, शाक्त तंत्र, बौद्ध तंत्र, वैष्णव तंत्र, सखीभावोपासना और तंत्र-ग्रंथ। साहित्य-ग्रन्थ और सखीभाव। लक्षणग्रन्थों में सखी, साहित्य-ग्रंथों में शृंगार-लीला और सखी। कामशास्त्रीय प्रभाव का आधार।

तृतीय अध्याय : गोपी तत्त्व के विविध रूप और सखी तत्त्व १३६–२१४

सखीभाव : दो भूमिकाएं, 'गोपी' शब्द, गोपीतत्त्व, श्रीमद्भागवत में गोपीप्रेम, एक विशिष्ट गोपी—'राधा', ब्रज की गोपिकाएं, संख्या और नाम, वर्गीकरण, गौड़ीय संप्रदाय में गोपी-स्वरूप, निम्बार्क संप्रदाय में गोपी-स्वरूप, वल्लभ संप्रदाय में गोपी-स्वरूप, राधावल्लभ संप्रदाय में गोपी-स्वरूप, गोपीतत्त्व और सखीतत्त्व की विभेदभूमि, उपासना का मूल दृष्टिकोण, क्षेत्र की विभेद-भूमि, उपास्य की भिन्नता, लीलाओं की भिन्नता, स्वसुख-तत्सुख का निकष, स्वकीया-परकीया का भेद, सखीतत्त्व के विभिन्न रूप, स्वामी हरिदास के सखी संप्रदाय का सखीतत्त्व, सखी के पर्याय, नाम, संख्या, माता-पिता, वयस्, वर्गीकरण, सखियों का शृङ्गार।

चतुर्थ अध्याय : सखीभाव का उपास्य तत्त्व २१५–३४२

उपास्य स्वरूप, पुरुषविध ब्रह्म, नित्य युग्म रूप, राधा कृष्ण का स्वरूप-रमणात्मक नित्य रूप, सखीभाव के उपास्य नित्य दंपती।

श्री राधा। राधा शब्द की व्युत्पत्ति, राधा के नाम, श्री राधा के विभिन्न रूप, श्रीकृष्ण की प्रेयसी सामान्य नारी राधा, भक्त के रूप में राधा, ज्योतिष तत्त्व के रूप में राधा, योग तत्त्व के रूप में राधा, शिव के अवतार-रूप में राधा, सांख्य की प्रकृति के रूप में राधा, शक्ति रूप में राधा, जगत्-उत्पादिका शक्ति के रूप में राधा, कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति के रूप में राधा, प्रेम तत्त्व के रूप में राधा, श्रीमद्भागवत में राधातत्त्व, गीत-गोविन्द में राधातत्त्व, ब्रजभक्ति संप्रदायों में श्री राधा, गौड़ीय संप्रदाय में श्री राधा, निम्बार्क संप्रदाय में राधा, वल्लभ संप्रदाय में राधा, ब्रजभक्त कवियों के काव्य में श्री राधा, सखीभाव की उपास्या श्री राधा, नाम, नित्य विग्रहवती, रूप—सौन्दर्य, गुण—आगरी,

राधा-प्राधान्य। श्री निकुञ्जविहारी श्रीकृष्ण, श्री कुंजविहारी, नाम, विग्रह, ध्यान। सहचरी। नित्य वृन्दावन धाम। धामतत्त्व, वैष्णवधर्म और धाम, वैकुण्ठ, गोलोक, व्रज, वृन्दावन, वृन्दावन के विभिन्न रूप, बृहत्तर वृन्दावन और निजधाम वृन्दावन, प्रकट वृन्दावन और अप्रकट वृन्दावन, आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक वृन्दावन, वनवृन्दावन-मनवृन्दावन और नित्य वृन्दावन, निर्गुणधाम वृन्दावन, सखीभाव की उपासना में नित्य वृन्दावन, वृन्दावन की स्वरूपशोभा, वृन्दावन की निकुंजें, महल, नित्य वृन्दावन की स्थिति,

नित्य विहार। प्रेम और रस, रसलीला और रास लीला, सौन्दर्य, प्रेम, प्रेम और काम, प्रेम में मिलन और विरह, युगलविहार।

पंचम अध्याय : सखी-संप्रदाय की उपासना-पद्धति ३४४-४००

उपासना क्यों, सखीभाव की उपासना का दार्शनिक आधार, सखीभाव केवल अनन्या भक्ति का मार्ग, उपासना मार्ग में विधिनिषेध, सामाजिक विधियों का निषेध, जाति, वेदोक्त कर्मकाण्ड, वाक्यज्ञान अथवा पाण्डित्य, कर्मठता, तीर्थ, ईश-प्राप्ति के अन्य साधन, शालग्रामपूजा, एकादशीव्रत, प्रेमा भक्ति, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य, भक्ति का आरंभ गुरु, गुरुप्रदत्त वेशभूषा, करुवा, रज, कूबरी-मधुकरी, आचार्य, चर्या, वृन्दावन-वास, यमुनास्नान, दर्शन, प्रसादग्रहण, सत्संग, वाणी पाठ, नाम-जप, सेवा, प्रकट सेवा, भाव-सेवा, नित्यविहार की उपासना, दिव्यसिद्ध देह, उपासक की दशा, सखीरूप में सेवा।

द्वितीय भाग

साहित्य-पक्ष

प्रथम अध्याय : साहित्य-विचार ४०३-४०९

सखीभाव संबंधी साहित्य, साहित्यिक वैशिष्ट्य, रस-परिपाटी।

द्वितीय अध्याय : सखी-सम्प्रदाय के प्रमुख कवि और उनका काव्य ४१०-५१३

स्वामी हरिदास जी का जीवन-परिचय, स्वामी हरिदास जी के पिता, माता, भाई, जाति, वंशज, पत्नी, जन्मस्थान, स्वामी जी के गुरु, स्वामी जी का संप्रदाय, स्वामी हरिदास जी का समय-संवत्, स्वामी हरिदास जी का व्यक्तित्व, स्वामी हरिदास जी की रचनाएं, टीकाएं, प्रकृतिवर्णन, रूपचित्रण, प्रेम-व्यंजना, रसव्यंजना, अभिव्यंजनाशैली, अलङ्कार-विधान, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, भाषा-शैली, व्यंजनाशक्ति, भाषा की परीक्षा, मुहावरे, रचना-शैली। गोस्वामी श्री जगन्नाथ जी, श्री बीठल विपुल जी, काव्य-समीक्षा, अभिव्यंजना-

शैली, अलङ्कार-विधान, भाषा, रचनाशैली, श्री बिहारिनिदास जी, व्यक्तित्व, रचनाएं, सैद्धान्तिक रचनाएं, रस-संबंधी रचनाएं, श्री नागरीदास जी तथा श्री सरसदास जी, काव्य-समीक्षा, श्री नरहरिदास जी, स्वामी रसिकदास जी, रसिकदास जी का साहित्य, बनीठनी जी, श्री पीताम्बरदास जी, किशोरदास जी, श्री ललितकिशोरीदास जी, साहित्य, श्री ललितमोहिनीदास जी, श्री भगवतरसिक जी, चरणदास जी, शीतलदास जी, सहचरिशरण जी, श्री रूपसखी जी, गोस्वामी बैन जी, गोस्वामी नवनागरीदास जी, गोस्वामी नन्दकिशोर जी, गोस्वामी केशवदेव जी, गोस्वामी जगदीश जी, गोस्वामी वंशीधर जी, गोस्वामी निधिवनदास जी, गोस्वामी रामनाथ जी शास्त्री, गोस्वामी जयविहारी जी, गोस्वामी छबीलेवल्लभ जी।

तृतीय अध्याय : राधावल्लभ संप्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि
५१४–५६०

श्री राधावल्लभ संप्रदाय, श्री हितहरिवंश गोस्वामी, व्यक्तित्व, काव्य-परिचय, अभिव्यक्ति, श्री हरिराम व्यास, संपर्क, रचनाएं, श्री दामोदरदास जी सेवक, स्वामी चतुर्भुजदास जी, नेही नागरीदास जी, श्रीलालस्वामी, कल्याण पुजारी जी, श्री ध्रुवदास जी, जीवन-परिचय, काव्यसमीक्षा, दामोदर स्वामी, सहचरिसुख जी, अनन्य अलि जी, श्री रसिकदास, श्री हित अनूप और श्री वंशीधर, रानी बख्त कुंवरि 'प्रियासखी', टीकाकार, श्री चंद्रसखी जी, गोस्वामी रूपलाल जी, चाचा वृन्दावनदास जी, काव्य-गरिमा, श्री चंद्रलाल गोस्वामी।

चतुर्थ अध्याय : निम्बार्क संप्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि
५६१–६०७

निम्बार्क संप्रदाय का मूल उपास्य भाव और सखीभाव, श्री भट्ट जी, जाति और जन्मस्थान, समय, रचनाएं, विषय-वस्तु, श्री हरिव्यासदेवजी, रचनाएं, श्री परशुरामदेव जी, श्री रूपरसिकदेव जी, श्री वृन्दावनदेव जी, श्री घनानंद जी, श्री गोविन्ददेव जी, रानी बांकावती जी 'ब्रजदासी', बाई सुंदरिकुंवरि जी, छत्र कुंवरि जी, श्री गोविन्दशरण देव, श्री रसिक गोविन्द जी, श्री कृष्णदास जी, श्री सुंदर सखी, श्री किशोरीदास जी, पं० दुर्गादत्त जी, श्री सुदर्शनदास जी, गोस्वामी किशोरीलाल जी, श्री माधवदास जी अलीमाधुरी।

पंचम अध्याय : गौड़ीय संप्रदाय : प्रमुख सखीभावोपासक कवि
६०८–६४५

गौड़ीय संप्रदाय का मूल उपास्य भाव और सखीभाव, श्री गदाधर भट्ट जी, श्री सूरदास मदनमोहन जी, श्री रामराय जी, श्री वल्लभ रसिक जी, भगवत

मुदित जी, श्री चंद्रगोपाल जी, श्री राधिकानाथ जी, श्री माधुरीदास जी, श्री गौरगणदास जी, श्री ब्रह्मगोपाल जी, श्री मनोहरदास जी, श्री प्रियादासजी, 'रसजानि' वैष्णवदास जी, श्री वृन्दावनदास जी, श्री ललितकिशोरी और ललितमाधुरी, श्री सुबलश्याम जी, श्री रामहरि जी, श्री गुणमंजरीदास जी, श्री लालबलवीर जी।

षष्ठ अध्याय : वल्लभसंप्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि ६४६-६८८

वल्लभ संप्रदाय का मूल उपास्यभाव और सखीभाव, कुम्भनदासजी, महाकवि सूरदास जी, परमानन्ददास जी, कृष्णदास जी, गोविन्दस्वामी जी, छीत स्वामी जी, चतुर्भुज दास जी, नन्ददास जी, विष्णुदास जी छीपा, श्री दामोदरदास हरसानी, श्री गोपालदास जी, श्री लालदास जी, गंगाबाई 'विट्ठल गिरिधरन,' श्री पर्वतसेन, श्री जन भगवान, श्री धौंधी, राजा आसकरन, श्री चतुर विहारी, श्री हरिनारायन श्यामदास, श्री मुरारीदास जी, श्री कृष्णजीवन लछीराम, गो० गोकुलनाथ जी, श्री हरिराय जी, श्री जगन्नाथ कविराय, श्री द्वारकेश, श्री नागरीदास जी।

सप्तम अध्याय : ललितसंप्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि ६८९-७०६

संप्रदाय, श्री वंशीअलि जी, सिद्धान्त और उपासना, काव्य-गरिमा, किशोरी अलि, सिद्धान्त और उपासना, रचनाएँ, श्री अलबेली अलि, श्री रतन अलि, श्री रंगीलीदासी, श्री संकेत अलि, श्री वल्लभ अलि, श्री जनहरि अलि।

अष्टम अध्याय : प्रणामी संप्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि ७०७-७२२

निर्गुणोपासक या सगुणोपासक, संप्रदाय का नाम, प्राणनाथ जी की गुरु-परंपरा और गुरु, श्री प्राणनाथ जी, रचनाएं, सिद्धान्त, विभिन्न लोक और परब्रह्म धाम, श्रीधाम वर्णन, श्री राज एवं श्यामा और सखियां, श्रीकृष्ण की अवतारकालीन लीलाओं का स्वरूप, प्राणनाथ जी का सखीरूप, उपासना का स्वरूप, साहित्यिक मूल्यांकन, अन्य रचनाकार, श्री मुकुंददास जी, महाराज छत्रसाल, श्री भूषणदास जी।

नवम अध्याय : शुक संप्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि ७२३-७४५

संप्रदाय का नाम, परिस्थितियाँ, संप्रदाय का स्वरूप; स्वामी चरणदास

जी, सखी-रूप, रचनाएं, सिद्धान्त, वृन्दावन धाम, श्री राधाकृष्ण, सखीगण, काव्य-गरिमा, परंपरा, श्री रामसखी जी, श्री रामरूप जी गुरुभक्तानंद, श्री जुगतानन्द जी, श्री आत्माराम जी, श्री जोगजीत जी, सहजोबाई जी, दयाबाई, श्री गुरुछौना जी, श्री अगमदास जी, मनमोहनदास जी, श्री सरस माधुरी जी, श्री रूपमाधुरी जी ।

उपसंहार ७४६–७५०

परिशिष्ट १—सखीभावोपासक संप्रदायों के तिलक ७५१–७५४

परिशिष्ट २—परंपराएं ७५५–७६६

परिशिष्ट ३—सहायक साहित्य ७६७–७८८

चित्रसूची

	पृष्ठ
स्वामी हरिदास जी, प्राचीनतम प्राप्त चित्र (प्रस्तावना)	६५
श्री निम्बार्काचार्य	५४
श्री विष्णुस्वामी	८३
निधिवन निकुंज	३०७
निधिवन में प्रिया-प्रियतम का रंगमहल	३०८
श्री बिहारी जी का प्राकट्यस्थल	३०९
निधिवन का समाधि द्वार	३१०
बांकेबिहारी जी का मन्दिर, वृन्दावन	३७२
स्वामी हरिदास जी, भारत कला भवन का चित्र	४११
स्वामी हरिदास जी, प्रचलित चित्र	४१६
स्वामी हरिदास जी, कलकत्ता आर्ट गैलरी	४२८
स्वामी जी, प्रिय प्रियतम के सामने	४२९
स्वामी जी की समाधि, निधिवन	४३०
स्वामी जी, हरिवंश जी, व्यास जी	४३२
स्वामी हरिदास जी का हस्तलेख, उज्जैन से प्राप्त	४३७
स्वामी हरिदास जी, तानसेन और अकबर	४३९
स्वामी हरिदास जी का एक प्राचीन चित्र	४४०
विहारिनिदास जी का प्राचीन चित्र	४७८
गो० जयविहारी जी	५१२
श्री हित हरिवंश गोस्वामी	५१६
श्री राधावल्लभ जी का प्राचीन मन्दिर	५१७
श्री राधावल्लभ जी महाराज	५१९
श्री रूपलाल जी, चाचा जी एवं अन्य रसिकगण	५५१
श्री श्रीभट्ट जी	५६३
श्री भट्ट जी, पूजा की मुद्रा में	५६४
श्री हरिव्यासदेव जी	५६९
श्री वृन्दावनदेव जी एवं अन्य रसिकगण	५८२
श्री घनानन्द जी	५८४
श्री गोविन्दशरण देव जी	५९४

	पृष्ठ
मदनमोहन जी का मन्दिर	६१५
श्री सनातन गोस्वामी	६१६
ललित निकुंज	६४०
श्री विट्ठलनाथ जी तथा कुंभनदासजी, सूर, परमानन्द जी आदि	६४६
गोसाईं विट्ठलनाथ जी तथा अष्ट सखा	६५१
महाकवि सूरदास जी	६५६
श्री हरिराय जी	६८३
श्री नागरीदास जी	६८६
श्री वंशी अलि जी	६९०
श्री प्राणनाथ जी	७१०
पालकी में श्री प्राणनाथ जी एवं साथ में अन्य भक्त गण	७११
श्री चरणदास जी और शुकदेव जी	७२६
रूपमाधुरीशरण जी	७४४
तिलक-चित्र	७५१

◆

प्रस्तावना

वैष्णव रस-साधकों ने भगवान् की उपासना विभिन्न संबंध-भावों से की है। भगवान् की माधुर्य मूर्ति की कान्ताभाव से उपासना को इन भावों में प्रमुख स्थान दिया जाता है। उपासना के इन्हीं संबंध-भावों में सखीभाव भी, उपासना का एक विशिष्ट भाव है। यदि राधाकृष्ण के लीलागान-संबंधी साहित्य का समुचित परिशीलन किया जाय तो ज्ञात होगा कि उपासना का यह भाव साधकों की दृष्टि में कान्ताभाव से भी अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली रहा है। वस्तुतः यह भाव कान्ताभाव का ही परिष्कृत रूप है। मध्यकाल में जहां अकेले कृष्ण के स्थान पर राधाकृष्ण की युगल मूर्ति की उपास्यरूप में प्रतिष्ठा रही है, वहां उपासक के लिये सखीभाव के अतिरिक्त और कोई भाव युगल-लीला-रस का आस्वादन करा सकने में असमर्थ ही है, ऐसा विश्वास रहा है। इसीलिये कृष्णभक्ति-साहित्य में सखीभाव से की गई उपासना का साहित्य विपुल मात्रा में प्राप्त है। बाद में राम-भक्ति-धारा में भी कृष्ण-भक्ति के प्रभाव से इस भाव की उपासना का प्रवेश हुआ और वहां भी सियाराम के लीला-रस-साहित्य की प्रभूत रचना हुई। राम-भक्ति-धारा के इस रस-साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान गया है, परन्तु कृष्णभक्तिधारा का यह रस-साहित्य प्रायः उपेक्षित ही रहा आया है। अभी तक इसका विस्तार से न तो स्वरूप-विवेचन ही हुआ है, न इसके स्रोत और उपादानों का ज्ञान ही साहित्यक्षेत्र में विस्तीर्ण हो सका है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी दिशा में किया गया एक प्रयास है।

विषय के अध्ययन के इतिहास की रूपरेखा

ऐसा तो नहीं हो सकता था कि इस उपासना और साहित्य की ओर शोधकर्ताओं की दृष्टि ही न जाती परन्तु भारतीय धर्म का आलोड़न करने वाले विदेशी विद्वानों की दृष्टि इधर जाने पर भी उनके सखीभाव से सम्बन्धित उल्लेखों में अत्यधिक भ्रान्तियां हुई हैं। इस देश के अनेक विद्वानों ने भी इस उपासना को विदेशियों की ही भांति स्त्रैण और वैष्णवधर्म के पतन का प्रतीक माना है। विदेशी एवं एतद्देशीय विद्वानों ने 'सखीभावाज़' (Sakhi

Bhawas) शीर्षक से सखीभावोपासक हरिदासी संप्रदाय की ओर इंगित किया है, ऐसा ज्ञात होता है। सखीभाव से संबंधित इन समस्त उल्लेखों का विवरण प्रस्तुत करते हुए उनकी भ्रान्तियों का निराकरण करने का यत्न यहां किया जा रहा है।

प्रो० एच० एच० विल्सन

प्रोफेसर एच० एच० विल्सन, एम० ए०, एफ० आर० एस० ने अपने ग्रन्थ 'ए स्केच आफ दि रिलिजस सेक्ट्स आफ दि हिन्दूज़' तथा 'हिन्दू रिलिजन्स' में सम्भवतः सर्वप्रथम, वैष्णव धर्म के अन्तर्गत अनेक संप्रदायों के साथ ही 'सखीभावाज़' पर विचार किया है। उन्होंने लिखा है—"यह संप्रदाय भी राधाकृष्ण को उपास्य मानने वालों की एक प्रशाखा है, जो विशेषकर राधावल्लभियों की शाखा से ही निकली जान पड़ती है। कृष्ण की शक्ति के रूप में राधा ही उनकी विशिष्ट उपास्या हैं, अतः उनकी उपासना उपहासास्पद एवं अरुचिपूर्ण है। अपने को राधा की सखी के रूप में प्रदर्शित करने के लिए, उनके अनुयायी अपने लिंग के पूर्ण विपरीत, स्त्रीजनोचित वेशभूषा धारण करते हैं। केवल वस्त्र और आभूषण ही नहीं, उनके तौर तरीके और वृत्ति भी स्त्रियों जैसी ही होती है। उनका यह असंगत आचार-ग्रहण, स्पष्टतः हिन्दू-विश्वासों के अनुसार भी समाज द्वारा आदृत नहीं है। तदनुसार सखीभावोपासक अधिक प्रसिद्ध नहीं हैं। वे संख्या में भी कम हैं। वे यथावसर भिक्षुकों का जीवन व्यतीत करते हैं और बहुत कम देखने में आते हैं। यह कहा जाता है कि वे जयपुर; में थोड़े-बहुत बनारस में, तथा कुछ-एक बंगाल में मिलते हैं।"[१]

---

[१] Sakhi Bhavas. This sect is another ramification of those which adopt Krishna and Radha for the objects of their worship and may be regarded as more particularly springing from the last named stock, the Radha Vallabhis. As Radha is their preferential and exclusive divinity, their devotion to this personification of the Shakti of Krishna is ridiculously and disgustingly expressed. In order to convey the idea of being as it were her followers and friends a character obviously incompatible with the difference of sex, they assume the female garb and adopt not only the dress and ornaments, but the manners and occupations of women : the preposterous nature of this assumption is too apperent, even to Hindu superistition, to be regarded

विवेचन

प्रो० विल्सन के इस विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि वे स्वामी हरिदास जी के सखी-संप्रदाय के संबंध में ही अपना मत व्यक्त कर रहे हैं। यह सत्य है कि सखी-संप्रदाय को राधावल्लभ संप्रदाय का निकटवर्ती समझा जाता है। प्रो० विल्सन ने तो उसे राधाकृष्ण का उपासक संप्रदाय मानते हुए राधावल्लभ संप्रदाय से ही उत्पन्न माना है। यह ठीक है कि ये दोनों संप्रदाय राधाकृष्ण के उपासक हैं और इनके सिद्धांतों में बहुत-कुछ समानता भी है, परंतु यह कहना कि सखी-संप्रदाय का जन्म राधावल्लभ संप्रदाय से हुआ है, उचित नहीं है। प्रो० विल्सन ने सखीभाव-संप्रदाय का स्पष्टतया कोई आचार्य न लिखकर भी बड़ी भ्रान्ति बनी रहने दी है। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें स्वयं व्यक्तिगत रूप से इस संप्रदाय का कोई परिचय नहीं था। स्वामी हरिदास के संप्रदाय के लोग न तो प्रधानतया जयपुर में रहते हैं, न बनारस में, न बंगाल में। इसी प्रकार उनका यह कथन कि इस संप्रदाय के लोग स्त्रियों जैसी वेशभूषा और आभूषण धारण करते हैं, तथा वैसी ही उनकी वृत्ति और आचरण भी हैं, नितान्त भ्रान्तिजन्य है। उनकी उपहासास्पद समीक्षा भी इस सम्प्रदाय के प्रामाणिक ज्ञान के अभाव कारण है।

प्रो० विल्सन ने जिन बातों का उल्लेख किया है, वे बातें किस संप्रदाय में पूरी तरह घटित होती हैं, हम नहीं कह सकते। जहां तक हमारा ज्ञान है, इस प्रकार का कोई संप्रदाय कृष्ण-भक्ति-क्षेत्र में नहीं है। अवश्य ही ऐसे साधकों के कुछ वर्णन भक्तमाल आदि ग्रंथों में मिल जाते हैं, जिनके संबंध में कहा गया है कि वे आवेशवश कभी-कभी स्त्रीजनोचित वस्त्र धारण कर लेते थे, परंतु जिस भावना को लेकर श्री विल्सन ने इस संबंध में लिखा है, वह तथ्यपूर्ण नहीं है। जयपुर, बनारस और सुदूरवर्ती बंगाल इन सभी क्षेत्रों में स्त्रीवेश धारण करने वाला कोई एक ही संप्रदाय निश्चित रूप से नहीं है। यह

---

with any sort of respect by the community, and accordingly the Sakhi Bhavas are of little repute and very few in number : they occasionally lead a mendicant life, but are rarely met with: it is said that the only where they are to be found, in any number, is Jaypur : :there are few at Benaras and a few in Bengal.

'A Sketch of the Religious Sects of the Hindus. Prof. H. H. Wilson. Ed. by Dr. Reinhold Rost. London. 1862. p. 177.

भी हो सकता है कि उन्हें बताने वाले व्यक्तियों ने सखीभाव-संबंधी कल्पित कथाओं की चर्चा उनसे की हो, उसी को सखीभाव के साथ जोड़कर उन्होंने लिख दिया हो। यह हो सकता है कि जयपुर में श्री वंशीअलि जी अथवा चरणदास जी के संप्रदायों के, बनारस में रामभक्त संप्रदाय के कुछ उपासक और बंगाल में श्री चैतन्य संप्रदाय के ऐसे कुछ उपासक उस समय रहते हों, जिनका उल्लेख वे सखीभाव के साथ कर गये हैं। जो हो, उनके इस उल्लेख से, निश्चित रूप से, भारी भ्रम फैला है। स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय में स्त्री-वेशभूषा का धारण करना विहित नहीं है। अतः प्रो० विल्सन के इस कथन को इस संप्रदाय के साथ कथमपि नहीं जोड़ा जाना चाहिये।

श्री ए० बार्थ

'दी हिन्दू रिलीजन्स आफ इण्डिया' के विद्वान् लेखक श्री ए० बार्थ ने भी राधावल्लभियों और सखीभावभावितों का एक साथ वर्णन किया है। वे कहते हैं—"राधावल्लभीय, जिनका समय सोलहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है, कृष्ण की उपासना राधा के प्रिय होने के कारण ही करते हैं और वैसे ही सखीभावोपासक हैं, जो अपने को राधा की सखी मानते हैं और वेशभूषा, व्यवहार और मनोवृत्ति भी स्त्रियों जैसी ही रखते हैं। ये दोनों संप्रदाय वास्तव में वैष्णव-शाक्त हैं, जिनमें हम अनेक व्यक्तियों तथा चैतन्य, वल्लभ और रामानन्द के अनुयायी संप्रदायों को भी रख सकते हैं। ये भी शैव-शाक्तों की भाँति वाममार्गीय साधनाएँ करते हैं, जिन्हें वे अत्यन्त गोपनीय रखते हैं।"[1]

---

[1] "Such, moreover are the Radhavallabhis who date from the end of the sixteenth century and worship Krishna, so far as he is the lover of Radha and the Sakhibhavas, "those who identify themselves with the friend" (fem.) that is to say, with Radha, who have adopted the costume, manners and occupations of woman. These last two sects are in reality Vaishnavite Caktas among whom we must also rank a great many individuals and even entire communities of the Caitanyas, the Vallabhacharyas and the Ramanandis, like the Caivite Caktas they have observences of the left hand, which they keep secret."

'The Hindu Religions of India'—A. Barth. Trans. by Rev. J. wood, London, 1891, p. 236

विवेचन

श्री ए० वार्थ की सूचनाओं का अधिकांश प्रो० विल्सन से मिलता-जुलता ही है। उन्होंने भी सखी-संप्रदाय की चर्चा करते हुए, उसे स्त्रैण और उपहासास्पद माना है। परन्तु श्री विल्सन से भी आगे जा कर वे इस साधना-पद्धति को वाममार्गीय बताते हैं। संभवतः इस दिशा में 'वैष्णव-शाक्त शब्द' का प्रयोग उनके द्वारा नवीन ही हुआ है। साधारणतया सखीभाव की वास्तविक रसभूमि से अपरिचित अनेक व्यक्तियों को इन संप्रदायों के संबंध में जो भ्रम हो जाया करता है, वही श्री वार्थ को भी हुआ है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सखीभाव के इन संप्रदायों में शाक्तों जैसी वामाचार की क्रियाएं किंचिन्मात्र भी नहीं है, न राधा को यहां शाक्तों की उपास्या शक्ति-रूप में देखा ही जाता है। यहां श्रीराधा कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं। सखी-संप्रदाय में तो उनके आह्लादिनी शक्ति-रूप की भी मान्यता नहीं है। इस क्षेत्र की उपासना असित सौन्दर्य, माधुर्य और प्रेममयी है अतः शक्तिभाव की मान्यता इस रस में बाधक मानी जाती है।

अपने विवेचन में एक बात अवश्य श्री वार्थ ने स्पष्ट करदी है। उन्होंने अनेक संप्रदायों के सखीभावोपासकों को एक साथ मिला नहीं दिया है अपितु अनेक व्यक्तिगत साधकों के साथ ही चैतन्य, वल्लभ और रामानन्द मतों के साधक भी स्त्रीभाव की साधना करते हैं, ऐसा उन्होंने स्पष्ट संकेत दे दिया है। प्रो० विल्सन ने इन विभिन्न संप्रदायों के केन्द्रों को, सखीभावोपासकों के केन्द्र के रूप में लिखकर भ्रान्ति उत्पन्न कर दी थी।

श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर

श्री भाण्डारकर प्रसिद्ध भारतीय विद्वान हैं, जिन्होंने भारतीय धर्म के शोध में अनेक ग्रंथों की रचना की है। उनका 'वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टिम्स' नामक ग्रंथ भारतीय धर्म-साधनाओं पर प्रकाश डालने वाली महत्वपूर्ण रचना है। इनके पश्चात् लिखने वाले विदेशी विद्वानों ने भारतीय धर्म के संबंध में इस रचना का पर्याप्त उल्लेख किया है। परन्तु खेद की बात है कि सखीभाव के संबंध में श्री भांडारकर जी भी सही बात नहीं कह पाए हैं। उलटे उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों से भी दो पग आगे बढ़ कर इस संप्रदाय की आलोचना की है। उन्होंने इस भाव का परिचय ही 'वैष्णव मत का अपकर्ष' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। वे कहते हैं—

"श्री कृष्ण से भी ऊपर राधा की उपासना ने एक ऐसे संप्रदाय को जन्म दिया है, जिसके अनुयायी स्त्रियों जैसी वेशभूषा धारण करते हैं। उनके जैसे साधारण व्यवहार करते हुए वे अपने को मासिक धर्म से भी प्रभावित मानते हैं। उनके वेश और कार्य इतने अरुचिकर होते हैं कि वे प्रायः जनता में दिखाई नहीं देते और संख्या में भी कम हैं। उनका लक्ष्य है राधा का किंकरीत्व अथवा सखीत्व प्राप्त करना और वे अपने को संभवतः सखीभावी कहते हैं। यह दिखाने के लिए उनकी ओर लक्ष्य करना आवश्यक है कि जब स्त्री-तत्त्व को प्रतीक मान कर उसे उपासनीय बनाया जाता है, तब ऐसे घृणित दुराचार अवश्य ही उत्पन्न हो जाते हैं। 'त्रिपुर सुन्दरी' के रूप में दुर्गा की उपासना का ठीक यही परिणाम हुआ है।'[1]

विवेचन

स्पष्ट है कि डा० भाण्डारकर ने सखीभावोपासकों के संबन्ध में अपने जिन विचारों को व्यक्त किया है, वे उनकी दृष्टि में धर्म-भ्रष्टता के द्योतक हैं। उपासना में स्त्री-तत्त्व की महत्ता उनकी दृष्टि में सदैव पतन की ओर ले जाने वाली है। श्री भांडारकर का यह विचार सापेक्ष्य दृष्टि से कुछ परिस्थितियों में सत्य हो सकता है, परन्तु अपकर्ष का कारण केवल स्त्री-तत्त्व की प्रमुखता

---

1. **Debasement of Vaishnavism.**

The worship of Radha, more prominently even than that of Krishna has given rise to a sect, the members of which assume the garb of women, with all their ordinary manners and affect to be subject even to their monthly sickness. Their appearance and acts are so disgusting that they do not show themselves very much in public and their number is small. Their goal is the realisation of the position of female companions and attendants of Radha, and hence probably assume the name Sakhibhávas (literaly, the condition of companions). They deserve notice here only to show that when the female element is idolised and made the object of special worship, such disgusting corruptions must ensue. The worship of Durga in form of Tripur Sundari has led to the same result."

Vaishnavism, Shaivism and other Minor Religious systems, 1913, p. 86.

नहीं होता, अन्य अनेक कारण हो सकते हैं। फिर कहा जाचुका है कि स्वामी हरिदास जी के सखी-संप्रदाय में स्त्रियोचित वेशभूषा आदि का धारण सर्वथा नहीं होता। परन्तु जो भावुक लोग ऐसा धार्मिक विचारों से प्रेरित होकर करते भी हैं, वे निश्चित रूप से निन्दनीय नहीं ठहराये जा सकते। दोषी वे हैं जो केवल प्रदर्शन के लिए और दूसरे लोगों को मिथ्या आडंबर दिखाने के लिए ऐसा आचरण करते हैं परन्तु ऐसे कपटी लोग और क्या-क्या नहीं करते? अतः उनके कारण प्रेम-माधुर्य की देवी श्री राधा की पूजा किसी पाप का कारण बन गयी है, ऐसा मानना उचित नहीं कहा जा सकता। मासिक धर्म पालन करने वाली बात कभी-कभी उद्धरणों के रूप में सुनने में आई तो है परन्तु वे स्थल, ऐसा लगता है कि भांडारकर जी के ग्रन्थ से ही न लिये गये हों।[1] कम से कम सखी-संप्रदाय में यह बात बिलकुल नहीं है, उसके साहित्य और साधना का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति यह कह सकता है।

डॉ० ए० जी० ग्रियर्सन

"ऐनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड ऐथिक्स" में प्रो० विल्सन, श्री ए० बार्थ एवं श्री भाण्डारकर की सूचनाओं के आधार पर डॉ० ग्रियर्सन ने सखीभाव के संबंध में विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है ये (सखी-भावी) राधावल्लभियों की एक शाखा है, संख्या में थोड़े हैं और अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। वे कृष्ण की प्रेयसी राधा को ही सर्वोच्च मान कर उपासना करते हैं। वे राधा को कृष्ण की शक्ति मानते हैं। जो व्यक्ति राधा के सखीत्व की धारणा करता है, वह अपने सखीत्व की पुष्टि के लिए स्त्रियों की वेशभूषा उनकी जैसी वृत्ति और व्यवहार के साथ ही मासिक-धर्म-पालन का भी आचरण करता है। उनका लक्ष्य है कि वे भविष्य में वास्तविक सखी-रूप प्राप्त करें और तब श्रीकृष्ण की प्रियता का आनन्दलाभ करें। ये लोग बड़े बदनाम हैं और जनता में अपने आप को प्रकट नहीं करते। विल्सन के अनुसार वे जयपुर, बनारस और बंगाल में भी पाये जाते हैं। इनमें से कुछ घूमते

---

[1] ये स्थल डा० ग्रियर्सन ने तो भाण्डारकर से लिये ही हैं। देखिये, अगली टिप्पणी।

फिरते भिक्षुक भी होते हैं। ऐसा लगता है कि वे सत्रहवीं शताब्दी में बहुसंख्या में थे।"[1]

विवेचन

डॉ० ग्रियर्सन अपने प्रस्तुत विवरण में जो तथ्य दिये हैं, वे इस प्रकार माने जा सकते हैं—

१. सखीभावी राधावल्लभियों की एक शाखा हैं।
२. वे संख्या में थोड़े हैं, और महत्वपूर्ण नहीं हैं।
३. वे राधा को कृष्ण की शक्ति मानते हैं।
४. अपने सखी-रूप को पुष्ट करने के लिये वे स्त्रियों जैसी वेशभूषा-धारण और अन्य आचरण करते हैं।
५. वे कुख्यात हैं और समाज में नहीं आते।
६. सत्रहवीं शताब्दी में उनकी संख्या अधिक थी।

जैसा कहा जा चुका है कि डॉ० ग्रियर्सन के ये निष्कर्ष अपने नहीं हैं। ये पूर्वोल्लिखित विद्वानों के ही मत हैं और उनका विवेचन हम यथास्थान कर चुके हैं। एक दो बातें अवश्य यहां ध्यान देने योग्य हैं। श्री ग्रियर्सन ने सखीभावियों को कुख्यात कहा है, वह किस कारण से, यह ज्ञात नहीं

---

[1] **Sakhi Bhavas.**

"The Sakhi-Bhavas are a branch of the Rrdhavallabhis, small in number and of little importance. They carry to extreme the worship of Radha, Krishna's mistress, whom they look upon as his Sakti or energic power. The man assume the character of Radha's Sakhis or girl-friends and to enforce the idea of the change of sex, assume female garb with all women's manners and customs, even pretending to be subject to the catamania. Their aim is to be accepted as genuine Sakhis, in a future life, and thus to enjoy a share of Krishna's favours. They are of ill repute and do not show themselves in public. According to Wilson, they are to be found in Jaipur and Benaras and also in Bengal. Some of them also are wandering mendicants. They appear to have been numerous in the 17th Century." "Encyclopedia of Religion and Ethics". Editor, James Hastings. Vol. XI p. 97

होता। डॉ० विल्सन ने उन्हें अप्रसिद्ध (Little repute) लिखा था, संभवतः उसी को थोड़ा और बढ़ा कर उन्होंने उन्हें कुख्यात (Ill repute) लिख दिया है। डॉ० ग्रियर्सन की यह बात प्रायः तथ्यपूर्ण नहीं है। समाज में सच्चे भक्तों की सदैव मान्यता रही है, चाहे वे किसी वेश में क्यों न रहते हों। अतः डॉ० ग्रियर्सन की यह आलोचना निराधार ही है। दूसरी बात डॉ० ग्रियर्सन ने महत्त्वपूर्ण लिखी है और वह कि सत्रहवीं शताब्दी में इनकी संख्या अधिक थी। इस बात का उल्लेख "दबिस्तान" से श्री बार्थ ने भी अपने ग्रंथ की पादटिप्पणी में किया है।[1] श्री ग्रियर्सन ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सामग्री का दर्शन स्वयं भी किया था अतः सत्रहवीं शताब्दी के भक्त-कवियों के सखीभावी नाम उन्हें अधिक दिखाई दिये होंगे। अतः उनका यह उल्लेख अपनी सूचनाओं से भी पुष्ट ज्ञात होता है।

श्री एफ० एस० ग्राउज़

'मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मैम्वायर' के विद्वान् लेखक श्री एफ० एस० ग्राउज़ सन् १८७२ से १८८७ तक मथुरा के कलक्टर रहे।[2] इन्होंने ही सर्वप्रथम वृन्दावन के संप्रदायों का विस्तारपूर्वक विवरण अपने ग्रन्थ में दिया। स्वामी हरिदास के सखी-संप्रदाय, राधावल्लभीय संप्रदाय, एवं गौडीय-संप्रदाय के संबंध में महत्त्वपूर्ण सामग्री का संग्रह इसमें हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन्होंने इन संप्रदायों पर अच्छा विचार किया है परन्तु स्वामी हरिदास जी के प्रसंग में उनके सिद्धान्त पर गम्भीर विवेचन नहीं किया गया है।[3]

श्री जे० एन० फर्कुहर

श्री फर्कुहर का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एन आउट लाइन आफ दि रिलिजस लिटरेचर आफ इण्डिया' भारतीय धार्मिक साहित्य के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालता है। वैष्णव संप्रदायों के संबंध में भी उन्होंने लिखा है। हरिदासी संप्रदाय के संबन्ध में उन्होंने थोड़ा सा परिचय प्रस्तुत किया है। संप्रदाय के सिद्धान्तों के विषय में यहां भी कुछ नहीं लिखा गया है। भ्रान्तिवश वे यह उल्लेख अवश्य कर गये हैं कि स्वामी हरिदास की शिक्षाएं श्री चैतन्य से

---

[1] दी हिन्दू रिलिजंस आफ इण्डिया, पृ० २२६।

[2] ब्रज का इतिहास, श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, पृ० २२४

[3] देखिये, श्री ग्राउज़ का ग्रन्थ मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मैम्वायर, पृ० २१७

बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।[1] इस भ्रान्ति का कारण संभवतः चैतन्य संप्रदायी यवन हरिदास को स्वामी हरिदास के साथ एक मान लेना ही हो सकता है अन्यथा स्वामी हरिदास के संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय के सिद्धान्तों में ऐसा साम्य नहीं है।

राधावल्लभ संप्रदाय के सिद्धान्त का विवेचन भी श्री फर्कुहर ने अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। उपासना में राधा की प्रधानता को देखकर उन्होंने भी राधावल्लभ संप्रदाय को शाक्त मान लिया है।[2] यह भी भ्रान्ति ही है।

श्री फर्कुहर ने वल्लभ संप्रदाय के संबन्ध में उसके गोपीभाव की चर्चा की है। उन्होंने कहा है कि इस संप्रदाय के साधक गोलोक में श्री कृष्ण के साथ क्रीडा करने के लिए गोपी होने की कामना करते हैं। महाराज (संप्रदाय के गुरु) की पूजा में स्त्रियां उन्हें साक्षात् गोपीप्रिय श्रीकृष्ण मान कर आराधना में प्रवृत्ति होती हैं, अतः यदि महाराज पापिष्ठ हुए तो स्त्रियों का खतरे में हो जाना स्वाभाविक है। अनेक अवसरों पर ऐसी अनैतिकता के प्रसंग आये हैं। उनके सूचनादाता के अनुसार ऐसी घटनाएं १८ वीं शताब्दी में हुई हैं। परंतु उसने उन्हें विश्वास दिलाया है कि ऐसी बातों के लिये साहित्य में कोई आधार नहीं है।[3]

गोपी-भाव के संबन्ध में श्री फर्कुहर ने संतुलित विचार प्रकट किये हैं परन्तु कुछ चरित्रहीन व्यक्तियों के कारण घटित हो जाने वाली घटनाओं का

---

1. An Outline of the Religious Literature of India, J. N. Farquhar. p. 318

2. "They are Shaktas, placing Radha above Krishna". The same p. 318

3. "...Whether they be men or women, they look forward to becoming Gopis and sporting with Krishna in Goloka. In worshipping the Maharaja, women show their devotion upon him as being actually Krishna, the darling of Gopis. Hence when the Maharaja is a vicious man, they are in the utmost danger. There has been a great deal of immorality in certain cases. According to my informant, these abuses arose in the eighteenth century. He assures me that there is no basis for them in the literature."

'An Outline of the Religious Literature of India' by J. N. Farquhar. M. A. p. 315.

कितना दुष्प्रभाव पड़ सकता है, यह द्रष्टव्य है। भ्रष्टाचार के ये उदाहरण साधनाहीन दशा के द्योतक हैं। संप्रदाय के मूल सिद्धान्तों से इनकी कोई संगति नहीं बैठती। सभी प्रपत्तिवादी संप्रदायों में गुरु का स्थान भगवान् के समान ही माना जाता है। प्रत्यक्ष रूप में भक्त उसी को अपनी भावनाएं समर्पित करता है। ऐसे में यदि गुरु चरित्रहीन हुआ तो निश्चित रूप से पापाचार फैलता है। इसमें दोष गोपीभाव का नहीं है, गुरु के चरित्र का है। वल्लभ-संप्रदाय की ये घटनाएं व्यक्तिगत हैं, उनका संप्रदाय के सिद्धान्तों से कोई संबंध नहीं है। श्री फर्कुहर ने अपने को इस संबंध में आश्वस्त कर लिया है कि इन घटनाओं के लिए संप्रदाय का साहित्य उत्तरदायी नहीं है।

श्री फर्कुहर के अतिरिक्त अन्य अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी वल्लभ-संप्रदाय की इन घटनाओं की समालोचना की है और उन्होंने जाने-अनजाने राधा की उपासना या सखीभाव को ही इसका दोषी ठहराया है। 'इण्डिया एण्ड इट्स फेथ्स, के लेखक ने इस घटना का उदाहरण देकर इन संप्रदायों को वैष्णवों की निम्नकोटि में स्थान दिया है।[1]

श्री एफ० ई० के

श्री एफ० ई० के का ग्रंथ 'ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर' हिन्दी-साहित्य का सामान्य इतिहास-ग्रन्थ है। इसमें भी संक्षेप में वैष्णव-संप्रदायों का परिचय कराया गया है। सखी-संप्रदाय का संक्षिप्त परिचय देते

---

1. "The former and lower tendencies are seen in severl Vaishnavite sects, some of them centre their worship particularly on Radha, who in the later sectarian works is represented as Krishna's favourite mistress. In their worship of the passionate pair these Vaishnavites regard sexual passion as the type of divine love and as the means of enter into communion with the deity. The climax of this 'religious' filth was attained by the sect founded about 1500 by Vallabha and still existing in parts of India. This man not only preached the doctrine of divine union by means of sexual passion indicated above, but succeded in persuading his many followers that he and all his male descendants were incaranations of Krishna. I cannot detail here the unspeakably vile practices to which this led, but some of them may be imagined : and the reader can find them exposed at length in "The History of Maharajas "which reports the findings at the famous Bombay Libel suit in 1860."—India and its Faiths. James Bissett, p. 58.

हुए इन्होंने भी फर्कुहर की भांति इनके सिद्धान्त को चैतन्य-मत के समीप बताया है।[१]

कृष्णभक्ति-संप्रदायों पर सामान्य टिप्पणी के रूप में 'के' ने कुछ बातें महत्त्व की कही हैं और गोपीभाव के दृष्टिकोण को अधिक सहृदयता से प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि "कृष्णभक्ति-साहित्य का अधिकांश कृष्ण और गोपियों अथवा राधा और कृष्ण की क्रीड़ाओं से संबंधित है। भक्ति के आचार्यों ने इन कथाओं पर प्रकाश डाला है। कृष्ण उनके लिए परम दैवत हैं। राधा और गोपियां जीवों की प्रतिनिधि हैं, विशेषकर राधा जो श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व समर्पित करने लिए उद्यत है।" उनका कथन है "इस प्रकार का साहित्य अत्यन्त अलंकृत और वासनाप्रधान कल्पनाओं का आलंबन करके लिखा गया है। परन्तु ये सभी मधुर भाव के भक्त कवि, सच्चे धार्मिक और दुर्वासनाओं से पूर्णतया विमुक्त व्यक्ति थे। परन्तु इस प्रकार के साहित्य का दुष्परिणाम भी देखा गया है।"[२]

विवेचन

डा० के ने राधा और कृष्ण अथवा गोपी और कृष्ण के प्रेम को भक्त और भगवान् अथवा आत्मा और परमात्मा के बीच का प्रेम माना है। अनेक

---

1. 'A History of Hindi Literature'—F. E. Key. 1920. p. 77.

2. "A great deal of the poetry connected with the Krishnaite cult deals with the amours of Krishna with the Gopis (Milkmaids) of Braj and especially with Radha. The great Hindu teachers of Bhakti threw a mysterial glamour over the stories. Krishna was to them the Supreme Deity. Radha and other Gopis stood for human Souls, of whom Radha especially typified the devotee, ready to offer her wholeself in devotion to God. In the literature connected with this from of Bhakti movement, the writers often use the most erotic language and sensuous imaginery to discribe the souls devotion—Yet the writers of these lyrics of passionate devotion were often men of real religious earnestness, quite free from any impure motives in composing them—That literature of this kind has, however, a very dangerous tendency has too often been shown in the history of the Krishna movement."

"A History of Hindi Literature"—F. E. Key. 1920. p. 79,

विद्वान् श्रीकृष्ण की लीलाओं को इसी प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हैं। के ने राधा की उपासना को गर्हित न मानकर सर्वस्वार्पण का प्रतीक माना है। दूसरी बात जो के ने साहसपूर्वक कही है, वह है इन उपासकों के व्यक्तित्व की चारित्रिक श्रेष्ठता के संबंध में। उनके इस कथन से इस संप्रदाय के व्यक्तियों की कुख्याति की बात समाप्त हो जाती है। इस प्रकार के का दृष्टिकोण इस साहित्य और उपासना के संबन्ध में अधिक संतुलित दिखाई पड़ता है।

मिश्रबन्धु

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों में मिश्रबन्धुओं का स्थान महत्त्व का है। उनका इतिहासग्रन्थ 'मिश्रबंधुविनोद' आज भी हिन्दी के कवियों के संदर्भ के लिए अतीव उपयोगी है

स्वामी हरिदास जी द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय को इन्होंने "टट्टीवाली वैष्णव संप्रदाय" लिखा है,[1] जो ऐतिहासिक भ्रान्ति है। स्वामी हरिदास जी के लगभग २०० वर्ष बाद इस संप्रदाय की एक उपशाखा का नाम 'टट्टी संप्रदाय' पड़ा क्योंकि इस सम्प्रदाय के महन्त बांस की टट्टियों से घिरे एक घेरे में आकर रहे थे।[2] संप्रदाय के सिद्धान्तों के संबंध में अन्य संप्रदायों के साथ ही इनकी सखीभाव की उपासना बताकर मिश्रबन्धुओं ने अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कथन है—

"शृङ्गार भाव की भक्ति में प्रायः भक्त-जन अपने को प्रिया जी की सखी समझते हैं। हरिदास जी, हित हरिवंश जी, चैतन्य महाप्रभु की भक्ति इसी सखीभाव की थी। जितने भक्तों के नामों के साथ 'अली' नाम लगा है, उन सबकी भक्ति सखीभाव की प्रसिद्ध है। सखीभाव का तात्पर्य यह है कि केवल ईश्वर पुरुष है और सब भक्त उसके आश्रित हैं, सो उनमें स्त्रीभाव है······ कृपानिवास, अग्रदास, नाभादास आदि का भी सखीभाव था···वैष्णव संप्रदाय की रामानन्दी शाखा में दास भाव मुख्य है और वल्लभीयमें वात्सल्य, शेष संप्रदायों में सखीभाव का प्राधान्य है"।[3]

स्पष्ट है कि सखीभाव के उपासकों में स्वामी हरिदास को प्रथम रखकर

---

[1] मिश्रबन्धु विनोद, मिश्रबन्धु, प्रथम भाग, लखनऊ, १९८६ वि० पृ० ११२, २८८

[2] सर्वेश्वर, वृन्दावनांक, चैत्र, २०१३, स्वामी ललितकिशोरी देव, पृ० २४७ वृन्दावन।

[3] मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, लखनऊ, १९८६, पृ० २५८.

मिश्रबन्धुओं ने उन्हें प्रधानता दी है। सखीभाव के अन्य संप्रदायों का नामोल्लेख भी किया है। रामभक्ति संप्रदाय के कुछ सखीभावोपासकों के नाम भी गिना दिये हैं। सखीभाव का थोड़ा अर्थ समझाने का भी प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि रामानन्दी शाखा में दासभाव मुख्य है और वल्लभीय में वात्सल्य, यह ठीक है परन्तु इनमें सखीभाव की उपासना भी है। कृपानिवास, अग्रदास आदि सभी रामानन्दी वैष्णव हैं। वल्लभ संप्रदाय के सखीभावित भक्तों का भी परिचय इस प्रवंध के दूसरे भाग में मिलेगा।

मिश्रबन्धुओं ने स्वयं ब्रज-साहित्य की छानबीन की थी अतएव अनेक प्रकार की भ्रान्तियों के होते हुए भी मिश्रबन्धुओं के ये विचार अपने ही हैं, किसी अंग्रेज लेखक से उधार लिए हुए नहीं अतः उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रथम बार हिन्दी में आलोचनात्मक उच्चस्तरीय प्रवृत्ति को जन्म दिया। मर्यादावादी दृष्टिकोण के प्रति प्रवल आग्रह होने के कारण वे लोकरक्षक राम के चरित्र के ही अधिक पक्षपाती रहे, लोकरञ्जक कृष्ण के चरित्र को वे उतना गौरवशाली न मान सके। फिर माधुर्यभाव की उपासना के पक्ष में तो वे होते ही कैसे? प्रेमलक्षणा भक्ति को वे अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाने वाली मानते हैं। उनका कथन है—

"वैष्णवों की कृष्णभक्ति-शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली, फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई"।[1]......"भक्ति के क्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य भाव का रास्ता खुला। इसके प्रचार में दक्षिण के मन्दिरों की देवदासी प्रथा भी बहुत सहायक हुई"।[2]..."रहस्यवादी सूफियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, जिनकी उपासना भी माधुर्य भावकी थी"।[3]

शुक्लजी ने माधुर्य-भावना के कारणों की शोध करते हुए देवदासीप्रथा और सूफियों की प्रेमभावना को उसके मूल में माना है। सूफी-मत का पूर्ण प्रभाव उनकी दृष्टि में चैतन्य और सखीभाव के सम्प्रदायों पर था, अतः नागरीदासजी आदि प्रेममत्त कवियों की आलोचना करने से वे नहीं चूके। एक ओर तो वे

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग, १९९७, पृ० ८०

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग, १९९७, पृ० १९२

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग, १९९७, पृ० १९३

कृष्णभक्त सम्प्रदायों की इसी आधार पर कूट आलोचना कर रहे थे, दूसरी ओर जब कृष्णभक्त सखीसम्प्रदायों के आधार पर उन्हें रामभक्तों में भी सखी-संप्रदाय दिखाई दिये तब तो वे उन पर उबल ही पड़े। उनका कथन है—

"इधर आकर कृष्णभक्ति-शाखा का प्रभाव बहुत बढ़ा। विषय-वासना की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण कुछ दिनों से रामभक्ति-मार्ग के भीतर भी श्रृङ्गारी भावना का अनर्गल प्रवेश होरहा है''''''स्त्रीवेश धारण करके पति लालसाहब से मिलने के लिए सोलह श्रृङ्गार करना, सीता की भावना सपत्नी रूप में करना आदि इसके लक्षण हुए'''उन्होंने (जीवाराम ने) "पति-पत्नी भाव" के स्थान पर 'सखीभाव' रखा और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखीशाखा' रखा। इस सखीभाव की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मणकिला, अयोध्या वाले युगलानन्यशरण ने किया"।[1]

"भगवान् राम के दिव्य पुनीत चरित्र के कितने घोर पतन की कल्पना इन लोगों के द्वारा हुई है, यह दिखाने के लिए इतना बहुत है। लोक-पावन आदर्श का ऐसा वीभत्स-विपर्यय देख कर चित्त क्षुब्ध हो जाता है"[2]

कृष्णभक्ति-शाखा के सखी-संप्रदाय के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने उतना नहीं कहा है, जितना रामभक्ति-संप्रदाय के सखीभावोपासकों के सम्बन्ध में। इसे शुक्ल जी की रामभक्ति संप्रदाय पर कृपा ही समझनी चाहिये क्योंकि उन्होंने जिस साहित्य की ऐसी कटु आलोचना की और साहित्यिकों को उधर भटकने से मना भी कर दिया,[3] तो इतना ही पता पाकर अन्वेषकगण उधर देखने के लिए उत्सुक हो गये। इधर के सखीभाव की आलोचना न होने के कारण इधर भी ऐसा कुछ महत्त्वपूर्ण है, यह साहित्यिकों को ज्ञात ही नहीं हो सका। लेखक इसे शुक्ल जी के इङ्गित का ही परिणाम मानता है कि रामभक्ति के सखीभाव पर, जो कृष्णभक्ति सखी-संप्रदाय से बहुत परवर्ती है, दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। जहाँ तक शुक्ल जी के आरोपों का प्रश्न है, उनकी समालोचना डॉ० भगवती प्रसादसिंह अपने ग्रंथ 'रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय'

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, वही, पृ० १८४–१८५।

[2] वही, पृ० १८६, १८७।

[3] वही, पृ० १४१, संस्करण ११ संवत् २०१४।

में विस्तार से कर चुके हैं।[1] यह बात स्पष्ट है कि शुक्ल जी की यह आलोचना भक्ति के लोक-संग्राहक रूप को ही अधिक उपयोगी मानने के कारण है।

डॉ० श्यामसुन्दर दास

अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य' में डॉ० श्यामसुन्दर दास ने स्वामी हरिदास एवं हितहरिवंश जी आदि के संप्रदायों का परिचय सामान्य रीति से कराया है,[2] परन्तु 'कबीर ग्रन्थावली' की भूमिका में वे भी सखी-सम्प्रदाय को लेकर बहुत ही क्षुब्ध हुए हैं। वे लिखते हैं—

"सखी-सम्प्रदाय ने मनुष्यों को सचमुच स्त्री मान कर और उनके नाम भी स्त्रियों जैसे रख कर और यहाँ तक कि उनसे ऋतुमती स्त्रियों का अभिनय कराकर माधुर्य भाव के रहस्यवाद को वास्तववाद का रूप दे दिया है। रहस्यवाद के वास्तववाद में पतित हो जाने के कारण ही सदुद्देश्य से प्रवर्तित अनेक धर्म-संप्रदायों में इन्द्रिय-लोलुपता का नारकीय नृत्य देखने में आता है।"[3]

बाबू श्यामसुन्दर दास जी का यह क्षोभ, कह नहीं सकते, कृष्णभक्तों पर है या रामभक्तों पर? उनके ये उपासना-सम्बन्धी आरोप प्रायः कल्पित हैं अथवा पूर्ववर्ती अंग्रेज-लेखकों के ग्रन्थों से लिए गये उद्धरणमात्र हैं, ऐसा प्रतीत होता है। यदि भावलोक के अनन्त सौन्दर्य की अनन्त सीमाओं का भारतीय दृष्टि से विचार किया जाता तो इन आरोपों के लिये दास जी को अधिक आधार न प्राप्त होता, ऐसा हमारा विश्वास है। जहां तक इन्द्रिय-लोलुपता के नारकीय नृत्य का प्रश्न है, वह सब दूर से कल्पित 'बीभत्स विपर्यय' मात्र है, सत्यांश इसमें बहुत ही कम है।

डॉ० सुशील कुमार डे

वैष्णव-संप्रदायों के सम्बन्ध में अलग-अलग भी जहाँ कार्य हुआ है, वहां भी सखीभाव के सम्बन्ध में कुछ चर्चा आ गई है। बंगला के वैष्णव-साहित्य का मन्थन वहाँ के विद्वानों ने बड़ी सहृदयता से किया है। डॉ० डे का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बंगाल' में गौड़ीय

---

[1] रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, डॉ० भगवती प्रसादसिंह, बलरामपुर, २०१४, पृ० १२, १७।

[2] हिन्दी साहित्य, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १८१।

[3] कबीर ग्रन्थावली, श्यामसुन्दर दास, पृ० ६३।

भक्ति-पद्धति के आधार पर लेखक ने शास्त्रीय दृष्टि से सखीभाव के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—

"श्रीकृष्ण और उनके परिकर का ध्यान और स्मरण साधक अथवा सिद्ध के द्वारा व्रजलोकानुसारतः अर्थात् व्रजवासियों के अनुसार किया जाता है। इसमें वही भाव प्राप्त करने की लालसा रहती है। इस मार्ग का प्रत्येक पथिक एक विशेष भाव (राधा-भाव अथवा सखी-भाव) का धारण करता है और उसी विशिष्ट कृष्णप्रिया के लीला, वेश और स्वभाव के अनुसार अपने को ढालता है और उसी आनन्द में मत्त रहता है।[1]

लेखक ने राधाभाव अथवा सखीभाव की इस साधना को साधन-भक्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इसी स्थल की पाद-टिप्पणी में लेखक ने गौड़ीय गोस्वामियों को श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'राग-वर्त्म-चन्द्रिका' के आधार पर विभिन्न सखियों का अवतार भी बताया है।[2]

एक अन्य स्थान पर सखी की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए लेखक ने बहुत ही प्रामाणिक विचार अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किये हैं। उनका कथन है कि "चैतन्यमत के रस-शास्त्र में सखी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना सखी के राधाकृष्ण की आनन्दमयी प्रेमलीला सम्पादित ही नहीं हो सकती। लीला में प्रवेश भी सखियों अथवा उनके भाव-साधकों के अतिरिक्त और किसी का नहीं हो सकता। इसीलिए भावुक भक्त गोपीभाव धारण कर रातदिन श्रीकृष्ण की विभिन्न प्रेमलीलाओं का चिन्तन करता रहता है।"[3]

---

[1] "It consists of devoted meditations or recollections of Krishna and his dear ones, as Sadhaka or as a Siddha, following the ways of Vraj Loka, with a desire to realise the same state of feeling. One desirous of this way of realization will adopt the particular Bhava (i. e. Radhabhava, Sakhibhava etc.) of the particular favourite of Krishna according to his or her Lila, Vesh and Swabhava and live in the ecstacy of that various enjoyment."

'Early History of Vaishnava Faith and movement in Bengal'
—Sushil Kumar Dey. M. A. D. Lit. pp. 130–131

[2] 'Early History of the Vaishnava Faith and Movement in Bengal'
—S. K. Dey, M. A., D. Lit., Foot-note 2. p. 131.

[3] "The Sakhi is an important person in the Ras-Sastrik and theology of Chaitanyaism. Without her the blissful erotic sport of Krishna and Radha is not nourished, not does it expand. No one

डॉ० शशिभूषण दासगुप्त

“वंगाल के अन्य अनेक विद्वानों की भांति डॉ० दासगुप्त ने अपने ग्रन्थ 'आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स' में गौड़ीय सम्प्रदाय पर विचार करते हुए सखी-भाव पर भी विचार किया है। उनकी दृष्टि में, “श्री चैतन्य देव का, स्वयं का भाव राधाभाव था। यह अपूर्व वस्तु थी, जिसे चैतन्यदेव ने अपने उपदेश से नहीं अपने आंसुओं और अपने प्रेम-व्यापार से सिद्ध किया था।”[1] परन्तु “वंगाल के वैष्णव कवियों का भाव चैतन्य का भाव न होकर सखीभाव था। जयदेव, विद्यापति और चंडीदास का भी यही भाव था कि वे राधाकृष्ण की सखी बनें। वे कभी स्वयं का श्रीकृष्ण के साथ रमण नहीं चाहतीं, अपितु अप्राकृत वृन्दावन में राधाकृष्ण की मिलनलीला को अपने नेत्रों से देखने के लिए वे निरन्तर व्याकुल रहती हैं।”[2] राय रामानन्द और चैतन्य की चर्चा

---

has access to the sport except the privileged Sakhis and those devotees, who intimate (through Raganuga mode) their attitude. Hence the devotional fancy of the faithful Vaishnava adopts the way of the Gopis and thinks on the sports, day and night, manifested in various erotic poems." Early History of the Vaishnava Faith and Movement in Bengal. p. 158.

1. "His (Chaitanya's) dominating religious attitude was Radhabhava or the love attitude of Radha towards Krishna. This Radhabhava or the religious attitude of the devotee towards God as the attitude of the most unconventional romantic love of a woman towards her beloved, may be recognised as the fundamental tone of the religion preached by Chaitanya, not so much by sermons and teachings, as by his tears and frequent love trances."

"Obscure Religious Cults"—S. B. Dasgupta, Calcutta, p. 145.

2. "The religious attitude of the Vaishnava poets of Bengal as represented in the innumerable love-lyrics composed by them, was not, however, exactly the same as that of Chaitanya. The attitude of the poets was Sakhibhava rather than Radhabhava…but the poets headed by Jaideva, Chandidasa and Vidyapati placed themselves rather in the position of the Sakhis or the female companion of Radha and Krishna, who did never long for their union with Krishna—but ever longed for the oppurtunity of witnessing from a

में राय रामानन्द ने सखीभाव को ही उत्कृष्ट मार्ग बताया है।[1] तात्त्विक दृष्टि से जीव को तटस्था शक्ति माना गया है अर्थात् वह प्रकृति है अतएव पुरुषाभिमान को दूर करके ही वह अन्तर्लीला में प्रविष्ट हो सकता है, वह भी राधा अथवा कृष्ण होकर नहीं, एक सखी होकर।[2]

अपने मूल बँगला ग्रन्थ 'श्री राधार क्रम-विकास' अथवा उसके हिन्दी-अनुवाद 'श्रीराधा का क्रम-विकास' में भी विद्वान् लेखक ने राधाभाव को जीव के लिए संभव नहीं माना है, सखीभाव ही संभव है। वे कहते हैं—

"राधिका के कृष्ण की श्रेष्ठ भक्त होने पर भी और राधिका के अन्दर से ह्लादिनी शक्ति भक्ति-रस के रूप में प्रवाहित होने पर भी राधिका स्वरूपत्व-प्राप्ति या राधा के भाव से कृष्ण की सेवा जीव के लिए कभी संभव नहीं है। हम इसीलिए जीव के सखीभाव की साधना की बात सुनते हैं।"[3] सखी का महत्व और उनका प्रेमलीला में स्थान, यह भी लेखक ने अन्यत्र दिखाया है।[4]

साधारण रीति से इस ग्रन्थ में 'हरिदासी-सम्प्रदाय या सखी-सम्प्रदाय' का भी उल्लेख किया गया है। इस सम्प्रदाय की विशेषता इसकी सखीभाव की साधना-पद्धति में बताई गई है। सम्प्रदाय की उपासना के सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं लिखा गया है।[5]

डॉ० दीनदयाल गुप्त

डॉ० दीनदयाल गुप्त का वैष्णव-सम्प्रदायों का अध्ययन गंभीर और व्यापक है। उनका शोधग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' वल्लभ

---

distance, the eternal love making of Radha and Krishna in the Supernatural land of Vrindavan."

"The Obscure Religious Cults"—S. B. Dasgupta, Calcutta, p. 145.

[1] "It is to be noted that in the religious discourse which took place between Shri Chaitanya and Raya Ramanand, the later stressed Sakhibhava as the best means for realizing divine love."

'The Obscure Religious Cults"—S. B. Dasgupta, Cal. p. 146.

[2] "The Obscure Religious Cults"—S. B. Dasgupta, Cal. p. 146.

[3] श्री राधा का क्रम-विकास, डा० शशिभूषण दासगुप्त, वाराणसी, १९५६, पृ० २३७।

[4] वही, पृ० २१८, २१९।

[5] देखिये, वही ग्रंथ, पृ० २९२।

सम्प्रदाय के सम्बन्ध में तो आधिकारिक ग्रन्थ है ही, अन्य वैष्णव संप्रदायों के लिये भी संदर्भग्रन्थ का काम देता है। अपने इसी ग्रंथ में 'स्वामी हरिदास का हरिदासी अथवा सखीसंप्रदाय' शीर्षक में गुप्त जी ने इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की है। इस सम्प्रदाय का स्वरूप-परिचय देते हुए वे कहते हैं कि 'यह सम्प्रदाय भी भक्तिमार्ग का एक साधन-मार्ग है और अपने आरम्भिक काल में वेदान्त के किसी वाद अथवा किसी अन्य सिद्धान्त का प्रचारक मत नहीं था। स्वामी हरिदास जी ने राधाकृष्ण की युगल-उपासना का केवल सखीभाव से प्रचार किया।[1]

डॉ० गुप्त का यह मत ठीक ही है कि यह सम्प्रदाय अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति वेदान्त-वाद-विवादी नहीं है। जो लोग इस सम्प्रदाय के आरम्भिक सिद्धान्तों को 'भेदाभेदवाद' आदि सिद्धान्तों के अनुकूल ठहराने का यत्न करते हैं,[2] उनके लिये डॉ० गुप्त की सम्मति मार्गदर्शक है। उपासना-मार्ग में इन्होंने केवल सखीभाव अपनाया है, यह सूचना भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सखीभाव तो समस्त वैष्णव सम्प्रदायों में प्राप्त है परन्तु केवलमात्र उसी एक भाव के प्रति अनन्य निष्ठा केवल इसी सम्प्रदाय में है। इसीलिए यह भावसंप्रदाय सखीभाव का प्रमुख प्रतिनिधि सम्प्रदाय माना जाता है।

सखीभाव का तात्त्विक विश्लेषण भी डॉ० गुप्त ने प्रसंगवश किया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के गोपीभाव की सामान्य चर्चा उन्होंने की है परन्तु उसकी उपासना में सखीभाव का अंश भी उन्होंने विश्लेपित किया है। अष्टछाप के कवियों पर वे इस दृष्टि से स्वामी हरिदास का ही प्रभाव मानते हैं। वे लिखते हैं—"अष्टछाप भक्तों के समकालीन श्री स्वामी हरिदास जी ने भी युगल लीलाओं की उपासना सखीभाव से करने का उपदेश दिया था। इन दोनों संप्रदायों की छाया, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वल्लभ संप्रदाय पर भी पड़ी, जिसके फलस्वरूप अष्टछाप-काव्य में हमें सखीभाव से की गई युगल-

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डॉ० दीनदयाल गुप्त, प्रयाग २००४, पृ० ६८, ६९।

[2] देखिये, स्वामी हरिदास जी के अष्टादश सिद्धान्तों के पदों की टीका, मथुरा, १९८५।

भक्ति के पद भी एक बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रकार के पद समान भाव से आठों कवियों में उपलब्ध हैं।"[1]

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

वैष्णव-संप्रदायों के सहृदय समालोचक डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने अनेक ग्रन्थों में वैष्णवों के माधुर्यभाव पर विचार किया है। सखीभाव के संप्रदायों के ऐतिह्य और सिद्धान्त, दोनों की, उनके ग्रन्थों में संक्षिप्त समीक्षा हुई है।

'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में सखीभाव-सम्प्रदाय को श्री द्विवेदी जी ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का एक उपसंप्रदाय लिख दिया था,[2] परन्तु अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य' में इन्होंने अपनी उस भूल को स्वीकार कर दूर कर दिया।[3] राधावल्लभ सम्प्रदाय को भी उन्होंने सखीभाव अथवा किंकरी भाव का उपासक लिखा है,[4] जो ठीक ही है। अलग से भक्ति-साहित्य के सामान्य पर्यालोचन में भी उन्होंने सखीभाव और उसके उपासक सम्प्रदायों पर प्रकाश डाला है। उनका कथन निम्न प्रकार है—

"१७ वीं शताब्दी के बाद के भक्ति-साहित्य में सखीभाव की साधना का प्राधान्य हो गया। इस काल के तीन शक्तिशाली सम्प्रदायों ने इस भाव-धारा को प्रोत्साहित किया—

१. चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय, २. गोस्वामी हितहरिवंश द्वारा संस्थापित राधावल्लभीय सम्प्रदाय, और ३. गोस्वामी हरिदास द्वारा पोषित टट्टी-सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों द्वारा प्रचारित भक्ति-सिद्धान्तों में आत्म-समर्पण का वेग है और यह आत्म-समर्पण स्त्रीरूप में सबसे अधिक अभिव्यक्त होता है। स्त्री आत्म-समर्पण का प्रत्यक्ष विग्रह है। आगे चलकर भक्तों ने इस भाव को बड़ी सरस और मधुर भाषा में व्यक्त किया है। इसका प्रभाव रामभक्ति शाखा पर भी पड़ा है। वृन्दावन की भाँति अयोध्या भी सखी-सम्प्रदाय के भक्तों का केन्द्र बन गई। १८ वीं शती

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डॉ० दीनदयाल गुप्त, प्रयाग २००४, पृ० २३८।

[2] हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५४।

[3] हिन्दी साहित्य, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १९६।

[4] वही, पृ० १९७।

के साहित्य में सखीभाव की साधना में आंतरिक प्रेमनिवेदन की भावना के साथ ही साथ बाह्य उपकरणों में स्त्री-भाव का अनुकरण प्रवेश करने लगा और भक्तों ने कई बार केवल स्त्री-नाम ही नहीं ग्रहण किया, स्त्रियों की वेशभूषा और हावभाव का अनुकरण भी आरम्भ किया। यह बात साधन-पक्ष के ह्रास की ओर इंगित करती है। इससे प्रकट होता है कि आंतरिक प्रेमदर्शन की शक्ति क्षीण हो आई है और वह अपनी यथार्थ अभिव्यक्ति के लिये बाह्य उपकरणों का सहारा लेना चाहती है। यह आश्चर्य की बात है कि रामभक्ति-शाखा में यह बात अधिक स्पष्ट हुई है।"[1]

श्री द्विवेदी जी ने संक्षेप में सखीभावोपासना के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसके ह्रास पक्ष पर भी लगे हाथ कुछ कह दिया है। इन समालोचनाओं की चर्चा पहले की जा चुकी है, अतः यहां उन बातों को दुहराना पिष्टपेषण मात्र होगा।

पं० बलदेव उपाध्याय

श्री उपाध्याय जी ने 'भागवत-सम्प्रदाय' नामक अपने ग्रन्थ में सखीभाव के सम्प्रदायों पर विस्तार से विचार किया है। 'सखी-संप्रदाय' शीर्षक के अन्तर्गत हरिदासी सम्प्रदाय का उल्लेख श्री उपाध्याय जी ने किया है परन्तु उसे निम्बार्क-सम्प्रदाय की एक शाखा मानने की भ्रांति उन्हें भी हो गई है[2] यद्यपि उन्होंने स्वयं लिखा है—"इस सम्प्रदाय के वैष्णवों ने वेदान्त के किसी विशिष्ट वाद के प्रचार में अपना समय नहीं लगाया, प्रत्युत वृन्दावनचंद्र की सखीभाव से उपासना ही उनके साधन का एकमात्र लक्ष्य था।"[3] निम्बार्क सम्प्रदाय को उन्होंने माधुर्यभाव का उपासक माना है[4] और वल्लभ सम्प्रदाय को वात्सल्यभाव का।[5] राधावल्लभ सम्प्रदाय को भी सखीभाव का उपासक मानकर उन्होंने उसके सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है।[6] इन सब के साथ ही उक्त ग्रंथ के "वैष्णव-साधना' नामक परिच्छेद में उन्होंने 'गोपीभाव', 'रस साधना' और

---

[1] वही, पृ० २१२।

[2] भागवत संप्रदाय, पं० बलदेव उपाध्याय, काशी, २०१०, पृ० ३५१।

[3] वही, पृ० ३५१, ३५२।

[4] वही, पृ० ३४८।

[5] वही, पृ० ३९१।

[6] वही, पृ० ४४२,४४७।

'उपास्य तत्त्व' शीर्षकों में गोपीभाव पर अपने गम्भीर विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने गोपीभाव के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि 'गोपीभाव रस-साधना की उच्चतम कोटि का नाम है...गोपीभाव स्त्री-सुलभ वाह्यवेश के ऊपर आश्रित नहीं होता प्रत्युत एक उदात्त आंतरिक भाव की संज्ञा है।'[१] गोपीभाव के अन्य आवश्यक तत्त्वों पर भी इन प्रकरणों में विचार हुआ है। इतना अवश्य है कि गोपीभाव और सखीभाव का जो अन्तर स्वामी हरिदास जी के संप्रदायानुसार है, वह स्पष्ट नहीं हो सका है।

डॉ० हरवंशलाल शर्मा

'सूर और उनका साहित्य' नामक अपने समीक्षा-ग्रंथ में डॉ० शर्मा ने सखी-संप्रदाय का भी उल्लेख किया है, यद्यपि कोई सर्वथा नवीन बात इसके सम्बन्ध में उन्होंने नहीं कही है।[२] डा० भांडारकर द्वारा सखीभाव की जो आलोचना की गई है, उसे इन्होंने हरिदासी संप्रदाय और राधावल्लभ-संप्रदाय की आलोचना-भूमि में रखा है। उन्होंने मधुर भक्ति की चर्चा करते हुए गोपीभाव पर अन्यत्र भी प्रकाश डाला है और उसे वृन्दावन के सम्प्रदायों का प्रभाव माना है।[३]

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार

'कल्याण' के यशस्वी संपादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार की धार्मिक साहित्य में अच्छी गति है। गोपीभाव सम्बन्धी एक छोटी पुस्तिका 'गोपी-प्रेम' नाम से लिखकर उन्होंने गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित कराई है। गोपियों के स्वरूप-दर्शन के लिए यह छोटी सी पुस्तिका काम की वस्तु है, जिससे सखी-भाव की आधार-भूमि की कुछ झलक मिल जाती है।

श्री भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'

श्री 'माधव' का ग्रन्थ 'रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना' विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से वि० २०१४ में प्रकाशित हुआ है। यह सर्वप्रथम प्रयत्न है जब कि रामभक्ति-काव्य के सखीभावात्मक अंश का स्वतंत्र रीति से अध्ययन किया गया है।

---

[१] वही पृ० ६३२।

[२] सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, अलीगढ़, २०१५ वि० पृ० १५२, १५३।

[३] वही, पृ० ३६५।

रागमयी भक्ति और मधुर रस के सम्बन्ध में विद्वान् लेखक ने विस्तार से विचार किया है। लीला-प्रवेश की विभिन्न स्थितियों का भी शास्त्रीय विचार किया गया है। इसमें सखीभाव के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला गया है वह अधिकांश में कृष्णभक्ति साहित्य के आधार पर ही है। श्री रूपगोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'उज्वल नीलमणि' की पूरी छाप इस ग्रन्थ के विवेचन पर है। सखीभाव के अध्ययन के लिये यह ग्रंथ महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है।

डॉ० भगवती प्रसादसिंह

डॉ० भगवती प्रसाद सिंह का ग्रन्थ 'रामभक्ति में रसिक-संप्रदाय' रामभक्ति-काव्य के सखीभाव के अध्ययन के लिये दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो सं० २०१४ में बलरामपुर से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ की भूमिका विद्वद्वर महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज ने लिखी है, जो स्वयं रस-साधनाओं के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण संकेत प्रस्तुत करती है।

इस ग्रन्थ के पांच अध्यायों में विषय की समुचित आलोचना को पूर्ण प्रश्रय मिल गया है। रामभक्ति के शृङ्गारिक सम्प्रदायों के ऐतिह्यगत परिचय के साथ ही उनके सिद्धान्तों की समीक्षा भी विस्तार से की गई है। 'संप्रदाय और साधना' नाम का तीसरा अध्याय रामभक्ति में रसिक-भावना का विस्तार से परिचय देता है। इसी में सखीभाव का भी उल्लेख है। इतना तो लेखक ने स्पष्ट रूप से माना ही है कि रामभक्ति में रसिकता कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों के प्रभाव से आई है। आगे भी इन दोनों संप्रदायों में बराबर सम्बन्ध बना रहा। रामभक्त महात्मा मोहनरसिक ने स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के एक अनन्य भक्त भगवतरसिक जी से रासध्यान सीखा था,[1] ऐसे उद्धरण भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में दिये हैं। लेखक ने रामकथा में रसिक-भावना के विकास को बहुत पहले से ढूंढ कर भी नवीन सामग्री का परिचय दिया है।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

कृष्णभक्ति-मार्ग का राधावल्लभ सम्प्रदाय भी सखीभावोपासना का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है। 'राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' नामक विशाल शोधग्रन्थ की रचना कर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने इस सम्प्रदाय का प्रथम बार स्वतन्त्र रीति से अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ से राधावल्लभ सम्प्रदाय और उसके उपासना-पक्ष पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस ग्रंथ

---

[1] रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० १३६।

के 'नित्यविहार के विधायक तत्व' और इसके पूर्व का 'भक्ति-सिद्धान्त-विवेचन' सखीभाव के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक ज्ञान कराते हैं। प्रेम-तत्त्व की मीमांसा, सम्प्रदाय में विरह और मान का स्वरूप, नेम और प्रेम इत्यादि सूक्ष्म विषयों की व्यंजना के साथ ही श्रीकृष्ण, राधा, सहचरी और वृन्दावन इन चारों रस-विधायक तत्त्वों की ऐतिहासिक और तात्त्विक समीक्षा की गई है। सखीभाव और गोपीभाव की पृथकता पर लेखक ने पहली बार प्रकाश डाला है।

डॉ० स्नातक ने रसिक संप्रदायों के ऐतिह्य की दृष्टि से राधावल्लभ-संप्रदाय और सखी-संप्रदाय का अन्य वैष्णव चतुस्संप्रदायों से पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध किया है। बहुत समय से इन संप्रदायों को किसी न किसी संप्रदाय के साथ नत्थी करने का प्रचलन सा था, उस विचार को स्नातक जी ने परिश्रम और युक्तिपूर्वक ध्वस्त कर दिया है। इसी प्रकार, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अनेक विद्वान् भ्रान्तिवश सखी-संप्रदाय को राधावल्लभ-संप्रदाय से निकला हुआ मानते हैं, इस विचार का भी लेखक ने पूर्णतया खंडन कर दिया है।[1]

साहित्यिक दृष्टि से राधावल्लभीय रसिकों की वाणी की समीक्षा भी लेखक का महत्वपूर्ण कार्य है। इन सभी दृष्टियों से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय बन गया है।

डॉ० स्नातक के इस ग्रंथ की भूमिका डॉ० दीनदयाल गुप्त ने लिखी है, जो सखीभाव के सम्बन्ध में उनके उपयोगी विचारों को जानने का अवसर प्रस्तुत करती है।

गोस्वामी ललिताचरण

राधावल्लभ-संप्रदाय के सम्बन्ध में उसी संप्रदाय के आचार्य एवं परम भावुक साधक श्री ललिताचरण गोस्वामी ने 'श्री हितहरिवंश गोस्वामी: संप्रदाय और साहित्य' नामक ग्रंथ लिख कर वृन्दावन से प्रकाशित कराया है। राधावल्लभ संप्रदाय के अध्ययन में यह महत्वपूर्ण दूसरी कड़ी है।

इस ग्रन्थ का लेखन ऐतिह्य आदि की दृष्टि से इतना नहीं हुआ है, जितना सम्प्रदाय के उपासना-तत्त्वों के सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से हुआ है। उसी वातावरण और साहित्य के संपर्क में निरन्तर पलनेवाले गोस्वामी जी ने संप्रदाय के जीवन-प्रद सिद्धान्तों के वास्तविक मूल को समझा है, इसमें सन्देह नहीं है।

प्रमाण, प्रमेय, उपासना-मार्ग और साहित्य इन चार खंडों में विभाजित

---

[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० स्नातक, दिल्ली, पृ० ७७

उनका ग्रन्थ सखीभाव की राधावल्लभीय उपासना के अनेक रहस्यमय अंगों पर प्रकाश डालता है। लेखक ने प्रारम्भ में ही प्रेम के सूक्ष्म रूप का विवेचन किया है, जिससे उनकी साधना-परायणता का परिचय मिलता है। श्री हरिवंश जी की प्रेम-पद्धति और उसके चारों अङ्गों की विवृति लेखक ने अपनी सादी परन्तु सारगर्भित शैली में प्रस्तुत की है। स्थान-स्थान पर उन्होंने रसिकों की वाणियों के प्रामाणिक उद्धरण भी दिये हैं, इनमें स्वामी हरिदास जी और विहारिनदास जी की वाणियों का भी उपयोग किया गया है।

उपासना के विभिन्न स्तरों और भेदों को भी लेखक ने समझाया है। सखियों के स्वरूप और उनकी भावना का भी परिचय इस ग्रंथ में दिया गया है। राधावल्लभीय सिद्धान्त को समझने के लिए यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी है, साथ ही सखीभाव के स्वरूप-विवेचन के लिए भी इस ग्रन्थ का विशिष्ट महत्व है।

डॉ० गोपालदत्त शर्मा

'स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य' शीर्षक से प्रस्तुत किया गया डॉ० गोपालदत्त शर्मा का शोध-प्रबन्ध चिर प्रतीक्षित था, लेखक ने इसकी पांडु-लिपि का पर्यालोचन किया है। ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय पृष्ठभूमि के रूप में वृन्दावन के भौगोलिक निर्णय एवं विभिन्न संप्रदायों के परिचय से संबंधित है। दूसरे अध्याय में संप्रदाय के महात्माओं द्वारा प्रस्तुत इतिहास-सामग्री का परिचय है। तीसरे अध्याय में वाणीकर्ता महात्माओं के जीवन-परिचय लिखे गये हैं। चौथे अध्याय में भक्ति-सिद्धान्त, पाँचवें में उपासनीय रस और छठे में काव्य-समीक्षा की गई है। परिशिष्ट में निंबार्क संप्रदाय के संबंध में परिचय कराया गया है।

निष्कर्ष—सखीभाव के अध्ययन के इतिहास की जो रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, उससे ज्ञात होता है कि विदेशी विद्वानों ने अन्य धर्म-सम्प्रदायों के साथ ही इस उपासना-मार्ग की ओर भी लक्ष्य किया था परन्तु उसके सम्बन्ध में उनमें से किसी का भी प्रत्यक्ष परिचय नहीं था। इसीलिए उन्होंने संभवतः जो कुछ इधर उधर से सुना, उसी पर अपनी धारणा बना ली थी और उसके प्रति अपना हेय भाव प्रकट किया था। इसी वातावरण में सखीभाव के अनुयायियों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

एतद्देशीय विद्वानों ने भी प्रसंगवश इस सम्बन्ध में लिखा। उनमें से जो

विदेशी लेखकों के उल्लेखों पर निर्भर रहे, वे उसी प्रकार से सखीभाव के सम्प्रदायों की कटु आलोचना करते रहे परन्तु दूसरे विद्वान्, जिन्होंने बहुत निकट से इस उपासना-शैली की भाव-भूमि को देखा, वे इसके विरोधी नहीं बने। यहां के विद्वानों का एक वर्ग वह भी है, जो पूर्णतया मर्यादावादी और आदर्शवादी रहा है तथा जिसकी दृष्टि सदैव लोकपक्ष पर केन्द्रित रही है। सामाजिक जागरण के युग में यह बात स्वाभाविक भी थी। पं० रामचन्द्र शुक्ल अथवा बाबू श्यामसुन्दर दास आदि ने इसी मनोवृत्ति के कारण इस उपासना को हीन भाव से देखा और इसकी निन्दा की है।

प्राचीन धर्म और संस्कृति को समझने की भावना ज्यों-ज्यों देश में बढ़ती गई और प्राचीन आचारों को मनोवैज्ञानिक समवेदना के साथ देखने का दृष्टिकोण पुष्ट होता गया, साहित्यिक समालोचना के नाते इन उपेक्षित विषयों का अध्ययन भी अधिक स्वस्थ रूप में किया जाने लगा। सखीभाव-संबंधी संप्रदायों पर अनेक शोधग्रन्थ लिखे जाने लगे और उसके सिद्धान्तों को उपादेय रूप में रखा जाने लगा। विभिन्न संप्रदायों के जो अलग-अलग अध्ययन प्रस्तुत हुए, उसमें सखीभाव की ओर भी शोधकर्ताओं का ध्यान गया है और इन थोड़े से दिनों के अन्दर ही इस विषय पर बहुत सी महत्वपूर्ण सामग्री सामने आई है। परन्तु सभी वैष्णव-संप्रदायों में सखीभाव उनकी मूलधारा नहीं है, अतएव इनसे संबंधित ग्रंथों में इस संबंध में प्रासंगिक विचार ही व्यक्त हो सके हैं अथवा उनका क्षेत्र वह सम्प्रदाय विशेष ही रहा है। स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जो कार्य हुआ है, वह महत्वपूर्ण होते हुए भी रस-विवेचन की दृष्टि से उतना विशद नहीं है और तुलनात्मक दृष्टि का तो उसमें सर्वथा अभाव ही है। सखीभाव के तुलनात्मक अध्ययन की विशद विवेचना अभी तक अपेक्षित ही थी।

विवेचित ग्रंथों में सखीभाव की उपासना का जो सत्पक्ष है, उसका उपयोग और समालोचन तो इस ग्रन्थ में आगे होगा ही परन्तु सखीभाव की उपासना के संबंध में जो आरोप लगाये जाते हैं, उन पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। इन आरोपों की चर्चा पीछे विस्तार से हो चुकी है और हमारी समझ में सखीभाव की उपासना की हीनता की मान्यता केवल इस बात पर निर्भर है कि यह उपासना भारतीय धर्ममत के अनुकूल न होकर प्रतिकूल है। हम यही दिखाना चाहते हैं कि यह उपासना भी ठीक उसी प्रकार से उतनी ही विशुद्ध है, जितनी वेद और उपनिषदों की उपासना है। सखीभाव के

उपासकों के पुनीत चरित्र इस संबंध में हमारी सभी भ्रांतियों को दूर कर सकते हैं।

भारतीय रस-साधना और सखीभावोपासना

भारतीय वाङ्मय में वेद और उपनिषद् श्रुति के नाम से जाने जाते हैं। समस्त वैष्णव आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रस्थापना इन्हीं वैदिक और औपनिषदिक श्रुतियों के आधार पर की है। श्रुति-विरुद्ध आचरण को भारत में कभी श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखा गया है अतः प्रत्येक धर्म-प्रचारक अपने मत का मण्डन प्रायः श्रुतियों के आधार पर ही करता आया है। सखी-संप्रदाय के पुरस्कर्ताओं ने अपने मत को वेदों के अनुकूल भी माना है और प्रतिकूल भी। ये बाह्य धर्माडम्बरों के विरोधी हैं परंतु वेदों के तात्त्विक व्याख्यान का आनुकूल्य मानते हैं। अवश्य ही सखी-संप्रदाय में 'भाष्य' जैसी पुस्तकें नहीं हैं, परन्तु अपने सिद्धान्त-विवेचन में उन्होंने अपनी उपासना को वेदों का सार ही बताया है। श्री विहारिनदास जी कहते हैं—

बेदनि कह्यौ सो हम कियौ, लोगन कौ मत छांटि।
बिहारी दास अनन्य रस, कहत सभा मैं डांटि।[1]

विहारीदास जी के इस कथन को कसौटी पर परखने के लिए आगे श्रुतियों और सखीभाव की उपासना का साम्य प्रदर्शित किया जा रहा है।

उपनिषद् परमात्म तत्त्व को रस कहते हैं 'रसो वै सः'[2]। उसी रस-रूप की लीला-प्राप्ति सखीभावोपासक का लक्ष्य है। उपनिषदों में परब्रह्म को रस रूप बताने के पश्चात् कहा गया है कि वह रस स्वरूप होते हुए भी रस की प्राप्ति कर आनन्दित होता है 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'[3] रस रूप परमात्मा रस की चाह क्यों करता है और कैसे उसकी प्राप्ति होती है, इसका विवेचन वहां नहीं किया गया है। अवश्य ही इसका पूरा सूत्र हमें बृहदारण्यक में मिल जाता है। वहां कहा गया है कि वह अकेला रमण नहीं कर सकता इसलिए द्वितीय की इच्छा करता है और अपने को दो भागों में विभक्त कर लेता है।[4] रस के लिए रस-रूप ब्रह्म दो रूपों में विभक्त होता है और यही

---

[1] श्री बिहारिनदास जी की साखी, ४२५।

[2] तैत्तिरीयोपनिषद् २, ७।

[3] तैत्तिरीयोपनिषद् २, ७।

[4] बृहदारण्यकोपनिषत् १।४।३।

औपनिषदिक भावना, एक ही रस के दो रूप राधा और कृष्ण के रूप में सखीभाव के उपास्य बनकर प्रतिष्ठित हैं। उपनिषद् के इन सूत्रों में ही वैष्णव-रस-साधना की मूल प्रेरणा विद्यमान है। वहां परमात्मा का जो रस-रूप केवल इङ्गित से बताया गया है, उसी को इन रस-साधकों ने अपनी अनुभूति से प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है।

रस-रूप ब्रह्म का स्वभाव क्रीडा है। विलास के लिए युग्म अनिवार्य है। इतना ही नहीं, भोक्ता और भोग्य इन दो रूपों को परस्पर प्रेरित और चालित करने के लिए रस की इच्छा-शक्ति का भी स्वरूपगत होना आवश्यक है। अन्यत्र ब्रह्म की इन तीनों स्थितियों पर उपनिषद् में प्रकाश डाला गया है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा,
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।[1]

भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता इन तीनों रूपों में यह ब्रह्म सर्वत्र त्रिविध है। वस्तुतः प्रेरिता अथवा क्रीड़ा की इच्छा-शक्ति ही रस-साधकों का 'सखी' रूप है। यह प्रेरक इच्छा-रूप लीलामय ब्रह्म का अपना एक रसमय 'द्रष्टा' रूप है। अपने दो रूपों से विलास की तल्लीनता और तटस्थ अथवा साक्षी रूप से उस विलास का निर्लिप्त आनन्द वह ब्रह्म ही प्राप्त करता है। जिस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय अथवा कर्ता, कार्य और क्रिया ये तीनों एक ही तत्व के त्रिविध रूप हैं, उसी प्रकार द्रष्टा, दर्शन और दृश्य ये तीनों भी विशुद्ध ब्रह्म के ही रूप हैं।[2] आगे हम 'सखी' तत्व का विस्तार से परिचय प्राप्त करेंगे, तब देखेंगे कि सखी रस-ब्रह्म की लीला का एक अनिवार्य अंग है और वह रस-रूप परमात्मा का ही एक अंश है। मधुर रस का उपासक रसतत्व की अन्तरंग लीला का सखी-रूप में दर्शक या आनन्दभोक्ता होना ही अपना चरम साध्य मानता है। वह सखियों के साथ निकुञ्ज-रंध्रों से रस-लीला का दर्शन कर जीवन-साफल्य समझता है।[3]

सखीभाव की उपासना नारकीय भोग की उपासना नहीं है, जैसा कि कुछ आलोचकों ने लिखा है। अपितु यह उपासना विषयोपभोग से पूर्ण

---

[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् १। १२।

[2] ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं, कर्ता कार्यं क्रिया तथा।
द्रष्टा च दर्शनं दृश्यं सर्वं ब्रह्मैव केवलम्। पद्मपुराण से अथर्ववेद संहितोपनिछच्छतकम्, महेश्वरानंदगिरि पृ० ४८६-४८७ पर उद्धृत।

[3] बयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० २१६

अनासक्त हृदय में ही प्रतिष्ठित हो सकती है। सखीभाव का उपासक संसार के समस्त विषयों को हेय मान कर उसी परमात्म तत्व की उपासना में लीन रहता है। उपनिषदों के नचिकेता का उदाहरण भी ऐसा ही है।

नचिकेता के शब्द भारतीय साधना का विषयोपभोग के प्रति वैराग्य की आस्था का प्रदर्शन करते हैं।[1] सखीभाव का उपासक भी लौकिक विषयों के प्रति वैराग्य को अपनी उपासना का प्रथम सोपान मानता है।

स्वामी हरिदास कहते हैं—'जब तक जीवित है, हरि को भज और सब विषयों का त्याग करदे। इस चार दिन की हलचल में से तू क्या लाद ले जायगा। तू माया, गुण और यौवन के मद में सब कुछ भूला हुआ है इसीलिये सब कुछ चौपट हो रहा है।'[2]

श्रीहित हरिवंश जी कहते हैं—'इस सब प्रपंच को छोड़ दे, यह सभी काल-व्याल का भोजन है।[3]

संसार की असारता दिखाते हुए भक्त-कवि व्यास जी कहते हैं—'कौन नहीं गया है और किसे नहीं जाना है। भक्ति बिना यह संसार असार ही है। जो हरि विमुख हैं वे आत्मघाती नर नरक में ही जायेंगे।'[4]

वे कहते हैं—'काल क्षण-क्षण तन-मन को ग्रस रहा है। राजसभा में खड़ा होकर तू अब भी गाल कूट रहा है। सैकड़ों चेटक करते हुए भी, लोभ में पड़ कर चालें चलते हुए भी तेरा पेट नहीं भरता। बाजीगर के बन्दर की तरह

---

[1] श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते॥ कठोपनिषद् १।२६

[2] जौलों जीवै, तौलौं हरि भज रे,और बात सब बाद।
द्यौस चारि के हलाभला में कहा लेयगौ लाद।
माया मद, गुनमद, जोवनमद भूल्यौ नगर विवाद।
कहि हरिदास लोभ चरपट भयौ काहे की लगै फिराद।
अष्टादश सिद्धान्त के पद, १७

[3] श्री हित हरिवंश प्रपंच-बंच सब काल-व्याल कौ खायौ।
यह जिय जानि स्याम-स्यामा-पद-कमल-संगी सिर नायौ।
हित चतुरासी, ५९

[4] को को न गयौ, को को न जैहै।
इहि संसार असार भक्ति बिनु, दूजौ और न रैहै।
हरि-बिमुख नर आतमघाती, नरक परत न अघैहै। इत्यादि
भक्त-कवि व्यास जी, पद सं० ११३

घर-घर भटकता हुआ क्या तू बेहाल नहीं हो गया है। पुत्र-दारा के विरस स्नेह को क्या तू छाल को चाटने वाली गाय की तरह नहीं भोग रहा है ?"[1]

सखीभावोपासकों में सांसारिक वस्तुओं के प्रति उपेक्षा के ऐसे ही तीव्र भाव मिलते हैं। यही उनका जीवन भी था। कंचन-कामिनी के प्रति पूर्ण विरक्ति बिना उपासक इस क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकारी ही नहीं है। इन महानुभावों के दिव्यातिदिव्य जीवन का उदाहरण स्वामी हरिदास जी के जीवन को देख कर लगाया जा सकता है। कलुष स्वयं जहाँ आकर पुनीत हो जाता है, उन जीवित विदेहों की उपासना को कोई विषयों की नारकीय उपासना कहने की सामर्थ्य भी कैसे कर सकता है ? श्री हरिराम व्यास के शब्दों में स्वामी हरिदास जी के जीवन की एक झलक देखिये—

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।
श्री कुञ्जविहारी सेये बिनु जिन छिन न करी काहू की आस।
सेवा सावधान अति जान, सुघर गावत दिन रस रास।
ऐसौ रसिक भयौ ना व्हैहै भूमंडल आकाश।
देह विदेह भये जीवत ही, बिसरे विस्व-विलास।
श्री वृन्दावन रज तन-मन भजि, तजि लोक-वेद की आस।
प्रीति रीति कीनी सब ही सों, कियौ न खास-खवास।
अपनौ व्रत हठि ओर निबाह्यौ, जब लगि कंठ उसास।
सुरपति, भूपति, कंचन, कामिनि, जिनकें भायें घास।
अब के साधु 'व्यास' हम हू से, सहत जगत उपहास।[2]

सखीभाव की उपासना बाह्याचार, प्रदर्शन अथवा आडम्बर से सर्वथा रहित भावोपासना है। उपनिषदों का उपासना-रूप भी यज्ञादिक कर्मकाण्ड के ऊपर भाव-साधना का ही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् भगवान् को भावग्राह्य कहता है।[3] कठोपनिषद् के अनुसार 'वह है' ऐसा निश्चय कर प्रभु भाव द्वारा उपासनीय है।[4]

---

[1] छिनु-छिनु ग्रसत तनहिं मन काल।
अजहूँ चेत चरन गहि हरि के, आयौ है कलि-काल। इत्यादि
भक्त-कवि व्यास जी पद सं० ११६

[2] भक्त-कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, मथुरा। पद सं० १२ पृ० १९४

[3] श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१४

[4] कठोपनिषद् २।१३

भावोपासना के सम्बन्ध में 'मुण्डकोपनिषद्' में एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया गया है। वहां कहा गया है कि 'महान् धनुष को लेकर, उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया बाण उस पर चढ़ाये, फिर भावपूर्ण चित्त के द्वारा उस बाण को खींच कर परम अक्षर को लक्ष्य मान कर वेधे।[1]

यह भाव ही सखीभाव की उपासना में प्रधानता ग्रहण किये हुए है। उपासना की भावावस्था में उपासक के हाथ पैर तक नहीं हिलते। वह बाह्य ज्ञान से शून्य होकर केवल अपने उपास्य में अपने चित्त को समाहित किये रहता है।

सखीभाव की उपासना में उपासक का अपना पुरुषार्थ कुछ भी नहीं होता वह सर्वदा भगवान् की कृपा पर अवलम्बित रहता है। उसकी कृपा के बिना उसको पाया नहीं जा सकता, ऐसा उपनिषद् भी कहते हैं।[2]

श्री नित्य-विहारी की कृपा और भाव-साधना के क्रम से उपासक सखी-भाव की स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह आत्माराम और आत्मक्रीड़ हो जाता है। नित्य लीला-विलास में लीन हुआ उपासक अपना नाम-रूप छोड़कर उसी आनन्द का एक अंग बन जाता है। उपनिषदों में भी जीव की, अपने नाम-रूप को छोड़ कर परम पुरुष में मिलने की बात कही गई है।[3]

सखीभाव : लिंगभेद से विवर्जित

जो लोग सखीभावोपासकों के स्त्री-रूप के आलोचक हैं, उनसे एक निवेदन तो यह है कि इन संप्रदायों में साधक स्त्रीवेश धारण नहीं करते, कोई व्यक्तिगत रूप से ऐसा आचरण करता हो तो दूसरी बात है। हाँ, सखी का भाव-धारण करने में भक्त को भावदेह स्त्री जैसी प्राप्त होती है। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह जीव अपने विशुद्ध रूप में न तो स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक है। यह जीवात्मा तो जैसा-जैसा शरीर धारण करता है,

---

[1] धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षर सोम्य विद्धि।
मुण्डकोपनिषद् २।२।३

[2] नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्येष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।
मुण्डकोपनिषद् ३।२।३

[3] यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मुण्डक० ३।२।८

वैसा-वैसा ही नाम-रूप होता है । उपनिषदों में.यह बात बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कही गई हैं—

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ।[1]

'महाभारत' में भी यही बात दुहराई गई है ।[2] पारमार्थिक दृष्टि से न तो जीव स्त्री, पुरुष आदि है और न ईश्वर ही । 'देवी-भागवत' में यही बताया गया है ।[3]

सखीभाव का उपासक भी अपने लौकिक कर्मों में अनासक्ति बरतता हुआ उपासना द्वारा अपने मूल रूप को प्राप्त करना चाहता है, जहाँ वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक । उसे प्रारम्भ से ही, अपने स्त्रीत्व या पुरुषत्व की जो भी सीमाएँ हैं, उनको छोड़ देना पड़ता है । यदि लौकिक पुंभाव हृदय से न छूटे, कलत्रादि का ध्यान रहे तो सखीभाव का बीज जम ही नहीं सकता । श्री रसिकदास जी का कथन है—

पुरुष-भाव छूटे नहीं, मन में बस रही जोय ।
सखीभाव तब जानिये, निर्विकार तन होय ।[4]

चित्त की यह निर्विकार अवस्था लौकिक सम्बन्धों से सर्वथा परे है । नित्य-विहार में राधा की सहचरी के रूप में उपासक जिस दिव्य भाव का धारण करता है वह अवश्य ही स्त्री-भाव है परन्तु लोक का नहीं, वह दिव्यतिदिव्य है । वह सखीभाव स्त्री-भाव होते हुए भी लोक के लिंग-भेदों से सर्वथा विवर्जित है । स्त्री, पुरुष या नपुंसकों की गति उस दिव्य प्रदेश में नहीं है, ये लोक के भाव तो खद्योत के समान हैं, परन्तु सखीभाव स्वयं में सूर्य के समान है । श्री किशोरदास जी ने अपनी वाणी में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

त्रिया पुरुष की गम नहीं, हीज चीज कहा होत ।
सखीभाव इनते परैं, सो रवि, सब खिद्दोत ।[5]

---

[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१०

[2] न स्त्री न पुमान् नापि न नपुंसकं च, न सन्नचासत सदसच्च तन्नः
महाभारत । शान्तिपर्व २०१।२७

[3] नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं न क्लीवं सर्गसंक्षमे । देवी-भागवत १।९ (कवच)

[4] रसिकदास की वाणी, साखी सं० १४

[5] सिद्धान्त-सरोवर, किशोरदास, सं० ६३८

स्पष्ट है कि जब तक उपासक के हृदय में लौकिक पुरुषाभिमान है वह कभी लीला के इस दिव्य क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकता।[1] यह सखी-संप्रदायों की भूमिका में सर्वमान्य तथ्य है। लौकिक स्त्री का भाव भी सखी-भाव में नहीं है, यह भी स्पष्ट किया जा चुका है। परन्तु सखीभाव को लौकिक नारी-भाव मान कर ही लोग सखीभाव की आलोचना किया करते हैं। वास्तव में लौकिक दृष्टि से सखीभाव चित्त की निर्विकारात्मक अवस्था है। वहां लौकिक अभिमान अथवा वासनाओं का नाम-निशान भी नहीं है। ध्रुवदास जी कहते हैं कि सखीभाव में स्त्री के तन का जो भाव है, वह युगल की सेवा के लिए है। चाहे पुरुष हो या स्त्री, उसे अपना लौकिक लिंग अभिमान छोड़कर पुनः सेवा के लिए स्त्रीभाव धारण करना होगा। उसके विना वहां किसी की भी पहुंच नहीं हो सकती और जिन्होंने उस परम दिव्य सखीभाव को प्राप्त कर लिया है, उनकी चरणरज मस्तक पर लगाने योग्य है।[2]

सखीभाव की उपासना क्यों अपनाई गई है, इसके ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक कारणों की चर्चा आगे की जायगी, यहां इतना ही कह देना पर्याप्त है—कि रसोपासकों ने सखीभाव को ही अन्य सब भावों का मुकुटमणि ठहराया है।[3] उससे परे उपासना का और कोई भाव नहीं है, ऐसी उनकी मान्यता है।[4]

यद्यपि सखीभावोपासक संप्रदायों में स्त्री के बाह्य रूप-धारण का विधान कहीं नहीं है, फिर भी कुछ महापुरुष ऐसे हो सकते हैं जिनका अन्तःकरण

---

[1] उलटि लगै मन स्याम सों, प्रियाभाव ह्वै जाइ।
सखीभाव तब जानियै पुरुष-भाव मिटि जाइ॥
रसिकदास की वाणी, साखी, सं० १३२

[2] तिय के तन कौ भाव धरि, सेवा हित शृंगार।
जुगल महल की टहल कौ, तब पावै अधिकार।
नारी किंवा पुरुष हो, जिनके मन यह भाव।
दिन दिन तिनकी चरन-रज, लै लै मस्तक लाव।
भजन सत लीला, ध्रुवदास, पृ० ७५

[3] सब भावन कौ मुकुटमणि सहचरि भाव अनूप।
किशोरदास और न निकट सखीभाव तद्रूप॥
सिद्धान्त सरोवर, किशोरदास, साखी ६३६

[4] वही, साखी सं० ६३५

पूर्णतया सखीभावाविष्ट हो गया हो और बाह्य रूप से भी वे उसी स्वरूप को धारण करते हों। ऐसे कुछ पहुंचे हुए महात्माओं के संबंध में हमें ध्रुवदास जी की 'भक्तनामावली' से ज्ञात होता है कि वे शरीर को उसी भाव से अलंकृत करते थे। महापुरुष नन्दन और कृष्णदास के सम्बन्ध में ध्रुवदास जी ने लिखा है—

महापुरुष नन्दन भये, करि तन सकल सिंगार।
सखी-रूप चिंतत फिरैं, गौर स्याम सुकुमार।
तथा
कृष्णदास हुते जंगली, तेऊ तैसी भांति।
तिनके उर झलकत रहे, हेम नील मनि कांत।[1]

परन्तु ऐसे महात्मा चाहे जो रूप रखें, वे लोक में कल्याण का मार्ग ही प्रशस्त करते हैं। समाज का अकल्याण पाखण्डियों से ही होता है, सत्पुरुषों से नहीं। इन महात्माओं की ऐसी अवस्थाएं भक्ति-रस के भावोन्माद की ही विशेष दशाएं हैं, जिनका अपना मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। मतवाली मीरा प्रेम के आवेश में अपने प्रियतम को पुकारती-पुकारती वृन्दावन आ पहुंची, लोक-लाज पीछे रह गयी। श्री चैतन्यदेव भाव-विभोर हो 'कृष्ण'-'कृष्ण' की रट लगाते हुए नाच उठते थे। भारत में ऐसे भाव-साधकों की कभी कमी नहीं रही। कुछ दिन पूर्व ही, परमहंस रामकृष्ण देव की जब भाव-समाधि लग जाती थी, तब वे अनेक लोक-विलक्षण कार्य करते थे। परन्तु फिर, ध्यान रखना चाहिए कि भावसाधना का यह रूप भी उपासना का ऐकांतिक रूप है, जिसे अधिकाधिक गोप्य रखने का विधान प्रत्येक संप्रदाय में है।

जिन लोगों ने सखीभाव की उपासना को स्त्रैण उपासना माना है, वे वास्तव में अज्ञान में ही हैं। उपासक तो अपनी साधना को सिंहिनी का दूध मानता है जो या तो उपासक-रूपी स्वर्णपात्र में टिक सकता है या श्री प्रिया जी के कृपाविष्ट भावुक के हृदय में। अन्य सभी के लिए इस परम रहस्यमय नित्यविहार पर परदा ही पड़ा है।[2]

---

[1] बयालीस लीला, ध्रुवदास जी, पृ० ३३

[2] संप्रदाय नवधा भगति वेद सुरसरी नीर।
ललिता सखी उपासना ज्यों सिंहिन कौ छीर।
ज्यों सिंहिन कौ छीर, रहै कुंदन के वासन।
कै बच्चा पेट और घट करै बिनासन।

रस-साधना वीर्यंवती साधना है, उससे बड़ा और पुरुषार्थ नहीं है फिर भी यदि कोई उस पर अनजाने आरोप लगाता है तो उसे या तो दृष्टिदोष है अथवा पूर्वग्रहों का दुष्परिणाम ही कहा जा सकता है।

समस्त धार्मिक संप्रदायों के अध्ययन करने वालों के लिये हम एक विदेशी विद्वान के स्वर में स्वर मिला कर कहना चाहते हैं—"और याद रखो कि जो धर्म को जानता नहीं, वह उसके रहस्य को समझ नहीं सकता, तथा जो उपासक वृत्ति लेकर वहाँ गया नहीं है, वह धर्म को जान नहीं सकता। जब तक उपास्य-भावना का अभाव होता है, चाहे धर्म का कोई स्वरूप क्यों न हो, चाहे कोई कितनी ही विद्वत्ता से धर्म में रुचि क्यों न लेता हो परन्तु धर्म अथवा धर्म का ज्ञान, ये दोनों अपनी ही इच्छानुसार शोध-समालोचना के विषय नहीं बनाये जा सकते। हमें नहीं भूलना चाहिए कि हमारा विषय उस रहस्यमय प्रवृत्ति से सम्बन्धित है, जो जीवन के पवित्र स्रोतों का संरक्षण करती है।" अत:—

अपने पैरों से अपने जूतों को उतार कर अलग रख दो, क्योंकि वह स्थान जहां तुम खड़े हो एक पवित्र भूमि है।[1]

* * *

भगवत नित्यविहार परे सबही के परदा।
रहें निरंतर पास रसिकवर सखी-संप्रदा।

अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवत रसिक, पृ० ४६

[1] And remember, lastly, that no one can understand religion who does not know it, and that no one can know it who does not live in the spirit of a worshipper. When the spirit of the worship is absent, there may be the form of religion; there may be intelligent interest in religion; but religion itself, and knowledge of religion there can not be. Let us investigate and criticise and speculate as freely as we will; but let us not forget that our subject is the mysterious instinct which guards the sacred founts of life. "Put off thy shoes from thy feet, for the place whereon thou standest is holy ground."

"Truth and Falsehood in Religion". by William Ralph Inge, M. A. D. D. London. 1907. pp. 33, 34.

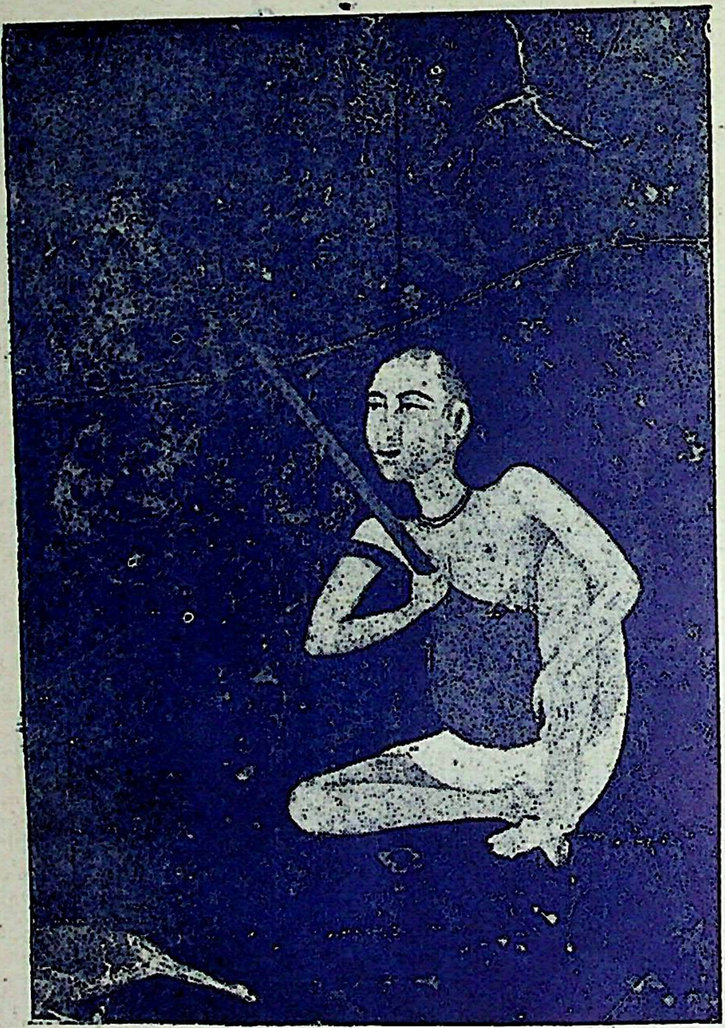

स्वामी हरिदास जी

(प्राचीनतम प्राप्त चित्र)

कृष्णभक्ति-काव्य में सखीभाव

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

धर्म का अधिष्ठान

मानव-सभ्यता के विकास में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[1] धर्म ही मानव-समाज के जीवन का केन्द्र रहा है । उस प्राचीन समय में भी, जो इतिहास की दृष्टि से बाहर है, धर्म ही मानव की प्रमुख प्रेरणा थी ।[2] अपनी आरंभिक अवस्था में ही मनुष्य ने प्रकृति के विभिन्न व्यापारों में विशिष्ट शक्तियों की स्थिति मान ली थी।[3] क्रमशः पूजा की प्रतिष्ठा हुई ।[4] आधिभौतिकता में आधिदैविक विश्वास उत्पन्न हुए और विकास की एक विशेष सीमावधि के अनन्तर उसमें आध्यात्मिकता का भी समावेश हुआ । धर्म का वास्तविक अधिष्ठान इसी आध्यात्मिक शक्ति की अनुभूति है।[5]

भारतीय साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है । इसीलिए धर्म की परिभाषाएँ भी विविध हैं । साधारणतः वस्तु के स्वभाव अथवा लक्षण को धर्म कहते हैं।[6] जो सबको धारण करता है, उसे ही धर्म

---

[1] नीति विज्ञान, गोवर्द्धनलाल, १९२३, पृ० २०

[2] नीति विज्ञान, गोवर्द्धनलाल, १९२३, पृ० २०

[3] See, 'Vedic Deities; in 'Heritage of India' by Prof. Max Muller, Calcutta, 1951

[4] Thus began the process of myth-making, and at a later stage men came to worship. 'The Soul of India' by George Howells, Lond. 1913, p. 272.

[5] Religion is the experience of the Holy.—'Sociology of Religion' by Joa Chim Wach, London. 1947. p 13. also see, 'The Idea of the.Holy' by Rudolf Otto, trans. J. W. Harvey Oxford, 1925.

[6] स्वलक्षणधारणाद् धर्मः (संकलित)

कहा जाता है। धर्म से ही समस्त प्रजा का धारण होता है।[१] कहीं सदाचार को धर्म कहा गया है[२] और कहीं परोपकार को ही सबसे बड़ा धर्म माना गया है।[३] सदाचार के विभिन्न अंग जैसे अद्रोह[४] अथवा अहिंसा, सत्यभाषण, क्षमा आदि को भी प्रधान धर्म कहा गया है।[५] जीवन के विभिन्न नियमों से लेकर ईश्वरोपासना संबंधी समस्त विधि-विधान धर्म के ही अंग कहे जाते हैं। इस दृष्टि से भारतीय धर्म अनेक विश्वासों, पूजाविधानों एवं ज्ञान की विभिन्न राशियों का एक समुच्चय है।[६] इस उदात्त धर्म का अनुसन्धान ही भारत का इतिहास है। भारत का प्राचीन साहित्य आज भी संसार के लिये प्रमुख रूप से धर्म के अध्ययन की अमूल्य राशि सुरक्षित किये हुए है।[७]

धर्माचरण की दिशाएँ

अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का साधक धर्म है,[८] अथवा कहा जा सकता

---

[१] धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
महाभारत, शान्ति पर्व, १०९,११

[२] आचारलक्षणो धर्मः संतस्त्वाचारलक्षणाः।
आगमानां हि सर्वेषां, आचारः श्रेष्ठ उच्यते॥
महाभारत, अनु० पर्व, १०४,९

[३] 'The doing good to others is the highest Dharma.'–'Shakti and Shakta' by Sir John Woodroffe, Madras. 1951. p. 465.

[४] अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः। महाभारत, शान्ति पर्व, २१,११

[५] महाभारत, शान्ति पर्व, २१५,६.७।

[६] The Hindu Religion is a term, that has been hitherto employed in a collective sense to designate a faith and worship of an almost endlessly diversified description.'–Essays and Lectures Chiefly on the Religions of Hindus. by H. H. Wilson M. A., F. R. S., p. 1

[७] 'Although there is hardly any department of learning which has not received new life from the ancient literature of India, yet nowhere is the light that comes to us from India so important, so novel, and so rich as in the study of religion and mythology. 'Lessons in the Vedas' Lecture in 'Heritage of India' by. F. Max Muller, 1892, p. 38.

[८] १ 'यतोऽभ्युदयनिश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।' कणाद, वैशेषिक १.२
२ 'धर्मं एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।' महाभारत-शांतिपर्व २९०.६

है कि धर्माचरण की ये दो दिशाएँ हैं। अभ्युदय का अर्थ है इहलौकिक उन्नति और निःश्रेयस का तात्पर्य आमुष्मिक कल्याण से है। एक का संबंध व्यक्ति और समाज के बीच के सदाचार से है और दूसरे का किसी महती आध्यात्मिक शक्ति से।[१] पहला धर्म का सामाजिक पक्ष है तथा दूसरा सीधा ईश्वर से संबंधित है। यों प्रत्येक धर्म एक ही समय में व्यक्तिगत और सामाजिक कृत्य है,[२] फिर भी धर्मसाधनाओं की अंतरतम अवस्थाओं में साधना का रूप बहुत कुछ व्यक्तिगत ही हो जाता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति को लेकर धर्माचरण के दो मार्ग हैं।[3] प्रवृत्ति पुनरावृत्ति का कारण होती है परन्तु निवृत्ति धर्म की परमा गति है।[४] आन्तरिक साधना करने वाले साधक प्रायः निवृत्ति-प्रधान ही होते हैं।[५] वास्तवमें भावसाधना का उच्चातिउच्च रूप व्यक्तिगत ही हो सकता है। संसार से विरक्ति धर्मसाधना का प्रथम सोपान है, परन्तु यहीं यह ध्यान रखना आवश्यक है कि निवृत्ति का अर्थ वस्तुओं के प्रति आसक्ति के निरोध से है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का जैसा सुन्दर सामंजस्य हमें गीता में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। वस्तुतः अन्तर और बाह्य भिन्न होते ही नहीं[६] फिर भी यह सत्य है कि भारतीय साधना प्रत्यक्ष के पीछे सर्वदा परोक्ष का अनुसन्धान करती आई है। इस दृश्यमान् जगत के पीछे किसी अनंत सत्ता की जिज्ञासा ही धर्म का आधार

---

[१] 'It will, I think, be advisable to classify the various manifestations of their conduct and mentality under two general heads: (1) Their trancedental relations, attitude towards the Supernatural powers, their religious beliefs and practices. (2) Their human relations. i. e. their morality. 'Lectures on Comparative Religions' by Arthur Anthony Mac. M. A. Calcutta, 1925, p. 18

[२] 'Each religion act is always simultaneously an individual and a social act,'–Sociology of Religion, by Joa chim Wach, London, 1947 p. 29

[3] महाभारत, शान्ति पर्व, २१७.२,३

[४] महाभारत, शान्ति पर्व, २१७.४

[५] महाभारत, शान्ति पर्व, २१७.५

[६] यदन्तरे तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्–अथर्व० २.३०.४।

है ।[1] सीमा और ज्ञान से परे जो अज्ञात और अज्ञेय है, उसी को ज्ञान और अनुभव का विषय बनाना धर्म की दिशा है ।[2] कुछ पाश्चात्य विद्वान् किसी अनुकूल, भावमय शक्तिशाली सत्ता के साथ संबंध के विश्वास को धर्म कहते हैं ।[3]

धर्म और उपासना

प्रारंभिक काल से ही भारत में, आत्मा का स्वरूप जानने का प्रयत्न किया गया है ।[4] उसी आत्मा को जानकर सब कुछ जान लिया जाता है, ऐसा यहां के ऋषियों का विश्वास है ।[5] उसी आत्मा को चिन्तन के माध्यम से समझने का नाम ज्ञान और श्रद्धा एवं विश्वास द्वारा ग्राह्य करने के प्रयास का नाम उपासना है । ज्ञान बुद्धि से संबंधित है और उपासना श्रद्धा और विश्वास पर अवलंबित है।[6] कर्म प्रवृत्तिमूलक है और ज्ञान एवं उपासना निवृत्तिमूलक। ये ही तीनों वेदत्रयी के विषय हैं । कर्म, ज्ञान और उपासना इन तीनों का संबंध क्रमशः कर्तृत्व, विचार और संवेदना, मानवको इन तीन प्रवृत्तियों से है । भारतीय साधना इन तीनों का समन्वय करती हुई चली है, परन्तु इनके

---

[1] 'Prof. Max Muller has maintained that the principle of religion lies in the consciousness of the infinite. This consciousness is, he asserts, the opposite counterpart to the consciousness of finite.'–'The Evolution of Religion' by Edward Caird, Glasgow. 1907. Vol. I, p. 89

[2] 'Mr. Spencer also asserts that the proper object of religion is the infinite of unconditioned. And he maintains further that this infinite or unconditioned, though in itself unknown and unknowable, is yet involved or presupposed in all that we know.' The same, p. 92

[3] See. 'Origin and Evolution of Religion' by Ablert Churchwan. Lond. 1924.

[4] आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो—
बृहदारण्यक २,४,५

[5] एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्—
श्वेताश्वतर १.१२

[6] भारतीय साधना और सूर-साहित्य, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ४

समन्वय में भी विभिन्न समयों में इनमें से किसी विशिष्ट प्रवृत्ति की प्रधानता रही है अतः एक दूसरे के अपरिहार्य अंग होते हुए भी विभिन्न साधनाओं को कर्म, ज्ञान और उपासना के नाम से पुकारा जाता है।[1]

कर्मकाण्ड की प्रधानता वैदिक साहित्य में देखी जा सकती है। क्रमशः कर्म के बंधन शिथिल होते गये, मानव की बुद्धि सूक्ष्म को जानने का प्रयत्न करने लगी और उपासना द्वारा परमतत्व की प्राप्ति का यत्न हुआ। वेदों के ब्राह्मण-भाग में ये दोनों ही हैं। उपनिषद् ज्ञान प्रधान हैं परंतु उन्हीं के अंदर उद्गीथ उपासना,[2] दहर[3] और मधुविद्या[4] जैसे अंतरंग साधनाओं के प्रकरण भी सन्निहित हैं। उपनिषद् का एक अर्थ रहस्य भी है।[5] यह 'रहस्य' शब्द इन रहस्यमय साधनाओं की ओर ही इङ्गित करता है। औपनिषद उपासना में वैष्णव भक्ति के बीज विद्यमान हैं।

उपासना और भक्ति

'उपासना' भारतीय धर्म साहित्य का अत्यंत प्राचीन शब्द है। 'संस्कृत कोशों में 'उपासनम्' तथा 'उपासना' ये दो शब्द मिलते हैं। उपासनम् शब्द 'उप' उपसर्ग, 'असु क्षेपणे' धातु से अधिकरण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने से बनता है, जिसका अर्थ होता है, उपासक द्वारा शश्वत् अपने आप को उपास्य के समीप प्रक्षेप करना, इसी प्रकार 'आस् उपवेशने' धातु से युच् प्रत्यय करके उपासना शब्द की सिद्धि होती है, जिसका अर्थ है उपास्य की उपासक द्वारा समीप से सेवा। इस प्रकार 'उपासन' और 'उपासना' दोनों ही शब्द उपास्य के सामीप्य के सूचक होते हैं। उपासन में उपासक की कर्तव्यता शक्ति का अभाव होता है पर उपासना में कर्तव्य से ओतप्रोत उपासक की सेवा प्रधान है,[6] दोनों में उपासक की उपास्य के साथ निकटता ही अभिव्यंजित होती है।

---

[1] देखिये, भारतीय साधना और सूर साहित्य, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ४

[2] देखिये, छांदोग्य उपनिषद्। [3] वही। [4] वही, बृह० और तैत्तिरीय०

[5] 'उपनिषदों की श्रेष्ठता, ले० श्री अभिनवसच्चिदानन्दजी, कल्याण, उपनिषदंक, पृ० १४

[6] 'उपासना तथा उपास्य का स्तरक्रम, ले० नागेश जी उपाध्याय, प्रेमसंदेश, उपासनांक, पृ० १८

व्यापक अर्थ में उपासना शब्द के अंतर्गत कर्म, ज्ञान, भक्ति इन सभी पद्धतियों का समावेश हो सकता है। इस दृष्टि से भारतीय उपासना के तीन मार्ग कहे जा सकते हैं—भक्ति मार्ग, ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग[1] परंतु परवर्ती साहित्य में उपासना और भक्ति प्रायः पर्यायवाची हो गये हैं। यही नहीं उपाय, साधना, निष्ठा, योग, भक्ति, सेवा, प्रपत्ति तथा उपासना इन सबका प्रायः एक ही अर्थ माना जाता है।[2] प्रायः वैदिकी उपासना को उपासना के नाम से और पौराणिक उपासना को भक्ति के नाम से पुकारा जाता है।[3] परमात्मा से निकट संबंध उपस्थापित करना ही उपासना है।[4] भक्ति का तात्पर्य भी भगवान् में ममत्व बुद्धि स्थापित करना ही है।[5] दोनों में ही संबंध भाव का प्राधान्य है। साधारणतया दोनों का प्रयोग समान अर्थों में किया गया है।[6]

उपास्य के स्वरूप के अनुसार ही उपासक का भाव होता है। भक्ति का रूप इसी संबंध-भाव के आधार पर निर्मित होता है। भारतीय साधना में संबंधभाव के विकास की कथा आश्चर्यमय अध्ययन की वस्तु है। उसी प्रकार उसके साथ उपास्य, भजनीय अथवा इष्ट के रूपविकास की कथा भी कुतूहलपूर्ण है।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में वैदिक युग बहुदेवतावाद का युग था।[7] यह सत्य है कि वेद मन्त्रों में हमें वरुण, इन्द्र, सूर्य, अग्नि, अश्विन, मरुत, पितृगण

---

[1] योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोऽपायोऽन्योस्ति कुत्रचित् ॥ श्रीमद्भागवत ११.२०.६

[2] तथा [3] 'उपासना की आवश्यकता', संपादकीय, प्रेम संदेश,
उपासना अंक, वृन्दावन, पृ० १,२

[4] 'उपासना विवेचन' पं० माधव प्रसाद शास्त्री, प्रेमसंदेश,
उपासना अंक, पृ० १०

[5] अनन्य ममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदैः ॥
पांच रात्र से—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु पृ० ११५ पर उद्धृत

[6] डा० मुंशीराम शर्मा ने अपने 'भक्ति का विकास' नामक ग्रन्थ में ६६३ पृ० की पादटिप्पणी में लिखा है—'पुष्टिमार्ग में उपासना और भक्ति पृथक् पृथक् हैं—आचार्य शंकर, मध्व और रामानुज दोनों को एक ही समझते हैं।

[7] 'The Rik is polythestic' 'The Crown of Hinduism' J. N. Farquhar. 1915. pp. 72–73.

इत्यादि देवताओं की भावपूर्ण उपासना के दर्शन होते हैं।[१] परंतु यह बहुदेववाद न होकर वास्तव में एक ही ब्रह्म के अनेक रूपों की उपासना है। निरुक्तकार यास्क ने दैवतकांड में इसे असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर दिया है। वहां कहा गया है—

> महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
> एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति ॥[२]

अर्थात् उसी एक देवता की अनेक रूपों में विविध प्रकार से स्तुति की जाती है। उसी एक देवता के अन्य सब देवता अंग मात्र हैं। स्वयं ऋक् और अथर्व के मन्त्र 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' का स्वर निश्चित रूपसे भारतीय ऋषियों के व्यापक ब्रह्मदर्शन की अभेद दृष्टि का स्पष्ट परिचायक है।[३]

शक्ति के प्रतीक माने जाने वाले इन देवताओं का दिव्य स्वरूप और आकार प्रकार बहुत कुछ स्पष्ट हैं। 'पुरुष सूक्त' में उस ईश्वर को सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष और सहस्रपात् बताया गया है।[४] पुरुष रूप में ब्रह्म की कल्पना भारतीयों के लिए निश्चित रूप से वैदिक कालीन ही है।[५] परंतु अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर ही उपासना का स्वरूप पूर्णतया निखर सका, यह सत्य है। विष्णु की परमदैवत रूप में प्रतिष्ठा वेदों में हुई और उसके पश्चात् तो वे ब्रह्म के पर्यायवाची ही हो गये।[६] उपनिषदों के ब्रह्म की तात्त्विक और ज्ञानगम्य निर्धारणा के अनन्तर अगले महाकाव्य और पौराणिक युग में देवताओं में विष्णु को ही सर्वोपरि स्थान मिला।[७]

---

[१] 'Imperial Gazettier of India' Vol. I, 1909. pp 404–6.

[२] निरुक्त ७.४.८,९

[३] ऋक् १.१६४.४६ तथा अथर्व० ९.१०.२८

[४] पुरुष सूक्त, ऋक्-संहिता १०.९.१७

[५] 'Imperial Gazettier of India' Vol. I, 1909. p. 404.

[६] 'The name of Vishnu and his cult go back to Vedic times. + + sometimes He is conceived as the Infinite Spirit.' India and its Faiths by James Bisset Pratt. Ph. D. London. 1916. p. 50.

[७] 'In the epic poetry, on the contrary, in the Maha Bharat Vishnu is in full possession of this honour. 'The Religions of India' by A. Barth. 1891. p. 166.

संभवतः वीर-पूजा के विकास-क्रम की धारा जब विष्णु के आध्यात्मिक विकास-क्रम-धारा में मिली तो पुरुष और ईश्वर का सच्चा संयोग हुआ। अवतार की सच्ची सिद्धि तभी हुई। महाभारत काल में श्रीकृष्ण को विष्णु का अंश माना गया और अंत में श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम के पूर्ण स्वरूप स्वीकृत किये गये।[1] विष्णु के समस्त अवतारों में श्रीकृष्ण को ही सर्वप्रमुखता प्राप्त हुई।[2]

मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति को पूर्णतया संतुष्ट कर देने की शक्ति श्रीकृष्ण के चरित्र में थी, इसीलिये भागवत धर्म, श्रीकृष्ण की उपासना को केन्द्रित कर, संपूर्ण भारत में शीघ्र ही प्रचारित हो गया। इसमें संदेह नहीं कि जितने अधिक रूपों में श्रीकृष्ण की उपासना भारत में होती आई है, उतने अधिक रूपों में अन्य किसी देवता की नहीं हुई। श्री राधा के आविर्भाव के पश्चात् तो कृष्णोपासना पूर्णतया अंतरंग साधनाओं का भी विषय बन गई।

कृष्णोपासना के विविध रूप

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल का जिस समय उदय हुआ, उससे बहुत पहले ही श्रीकृष्ण की उपासना अपने अनेक रूपों में समस्त भारत में पल्लवित-पुष्पित हो चुकी थी। एक ऐसी आधारभूमि बन चुकी थी, जो एक बहुत बड़े भक्ति-आंदोलन के लिए पूर्णतया समर्थ थी, इसीलिए भक्तिकाल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साहित्य श्रीकृष्णोपासकों द्वारा निर्मित हुआ। कमनीय किशोर मूर्ति श्रीकृष्ण ही व्रज-भक्ति के उपास्य थे। उन मूर्तिमान् शृङ्गार श्रीकृष्ण की नित्य-रसमयी लीलाओं की नित्यसंगिनी सौन्दर्य, माधुर्य की सीमा श्रीराधा भी उपास्य के आसन पर विराजमान थीं। सामान्य रूप से उस युग में श्रीराधा-

---

[1] 'At the same time there comes into view, a hero, a man-god Krishna who is declared to be an incarnation of his divine essence. There is connection between the attainment of supremacy by Vishnu and his identification with Krishna. 'The Religions of India' p. 166.

[2] 'He (Krishna) was accepted as the chief Avatar of the Supreme Being, and in fact as quite identical with Him (Vishnu).

'India and its Faiths' by James Bissett. Lon. 1916. p. 53.

कृष्ण की उपासना ही युग-धर्म थी । इन दोनों की प्रेमलीलाओं का आश्रय कर, अपने युग के पूर्ववर्ती रसिक जयदेव, विद्यापति आदि का अनुगमन करते हुए कोटि-कोटि भक्त और रसिकजन रसलीलाओं का गान कर भाव-विभोर हो उठे। लीलाओं के उस अगाध प्रेमसिंधु में निमज्जित इन उपासकों ने जब उस अनुपम माधुर्य को, लोकोत्तर लावण्य को, परम प्रेमोल्लास को अपने गद्‌गद् हृदय से वाणी का विषय बनाया तो उससे संपूर्ण साहित्य सरस हो उठा और सरस्वती भी धन्य हो गई।

वैष्णव धर्म का यह आंदोलन विभिन्न संप्रदायों और उपसंप्रदायों का आश्रय करके बढ़ रहा था अतएव संप्रदायों के अपने संस्कारों और सिद्धान्तों के अनुसार उपास्य की एकता होते हुए भी आन्तरिक मान्यताओं में विविधता थी। भावना के इस वैविध्य ने उपास्य के विभिन्न रूपों को साहित्य में प्रस्तुत किया। इससे साहित्य में भी जीवन की विभिन्न रमणीय छवियां अंकित हो सकीं।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में कृष्णोपासना के जो प्रचलित रूप थे, उनके अनेक प्रकार थे। भक्तों की भावना, उपासना और इष्ट के विभिन्न लीला-रूपों के अनुसार कृष्णोपासना को अनेक कोटियों में प्रस्तुत किया जा सकता है। ये प्रकार विवेचन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित माने जा सकते हैं—

१. समस्त अवतारों के साथ श्रीकृष्ण की सामान्य भाव से उपासना।

२. अवतारों को सामान्यतः मानते हुए भी श्रीकृष्ण की विशिष्ट रूप में शान्तभाव से उपासना।

३. श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानकर उनकी दास्यभाव से उपासना।

४. श्रीकृष्ण के बाल रूप की वात्सल्य भाव से उपासना।

५. श्रीकृष्ण को सखा मान कर सख्य भाव से उपासना।

६. श्रीकृष्ण की रुक्मिणी, सत्यभामा आदि महिषियों के साथ द्वारिका-लीला के अनुसार उनकी दास्यभाव से उपासना।

७. श्रीकृष्ण को पति मान कर पत्नीभाव से उपासना।

८. श्रीराधाकृष्ण की गोपीभाव से उपासना।

९. व्रजभाव की उपासना करते हुए गोलोक अथवा वृन्दावनबिहारी की भी उपासना।

१०. सखीभाव की उपासना करते हुए राधाकृष्ण को व्रज का स्वीकार करना।

११. सखीभाव की उपासना के साथ व्रजलीलाओं का भी गायन।

१२. अमिश्रित रूप से नित्य लीलाविहारी 'रसिक रसिकनी' के नित्य विहार की सखीभाव द्वारा उपासना।[1]

लीलाओं का आधार

कृष्णोपासना के उपर्युक्त वर्गीकरण को श्रीकृष्णलीला के सैद्धांतिक आधार की निश्चित धारणा के बिना स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा सकता! लीला तत्त्व का तात्त्विक विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे, परंतु यहां लीला का सामान्य वर्गीकरण देख लेना अप्रासंगिक न होगा।

श्रीकृष्ण के स्वरूप में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि वे स्वयं परात्पर तत्त्व हैं। साथ ही पौराणिक दृष्टि से वे विष्णु के चतुर्व्यूहात्मक अवतार भी हैं।[2] उनका एक धाम, जिसे गोलोक कहा जाता है, उनका नित्य लीला का क्षेत्र है तथा द्वापर में भक्तों के सुख के लिये जो उन्होंने प्रकट लीलाएं की थीं, उनका क्षेत्र व्रज-वृंदावन है। नित्य अवतारी परम रस-रूप श्रीकृष्ण की नित्य लीलाओं को नित्य लीला अथवा अप्रकट लीला कहा जाता है।[3] अप्रकट लीलाओं में लीलारस की पूर्णता मानी जाती है। श्रीकृष्ण की अवतारकालीन लीलाओं को प्रकट लीला कहा जाता है। कुछ संप्रदाय प्रकट लीला को अधिक महत्त्व देते हैं परंतु कुछ की दृष्टि में प्रकट लीलाओं में पूर्ण रसाभिव्यक्ति संभव नहीं है।[4] प्रकट लीला को निमित्त लीला भी कहा जाता है और नित्यलीला को इससे परे समझा जाता है।[5]

नित्यलीला उपासकों की अंतरंग साधना का विषय है इसलिए विभिन्न संप्रदायों में इसके विभिन्न रूप हैं। किन्हीं वैष्णवों की दृष्टि में गोलोक ही सर्वोपरि धाम है, कोई उसे गुप्त चन्द्रपुर, तथा अधिकांश इसे नित्य वृन्दावन

---

[1] इस प्रसंग में देखिये, लेखक का एक लेख 'सखीभाव, उपासना और संप्रदाय' मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ, कानपुर, १९५८, पृ० १८९

[2] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ४०४

[3] हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, पृ० ७६

[4] सिद्धांत सरोवर, किशोरदास, साखी ६४४। [5] वही ५७०,।

कहते हैं।[1] कुछ उपासक नित्यधाम में भी श्रीकृष्ण की बाल, सखा आदि रूपों की उपासना मानते हैं परंतु नित्य वृन्दावन की लीलाओं की उपासना का अंतिम रूप राधाकृष्ण की नित्य शृङ्गारलीलाओं में ही पर्यवसित है।

श्रीकृष्ण की प्रकट लीलाओं का वर्णन पुराणों में विस्तार से हुआ है। श्रीकृष्ण के जीवन-काल को तीन भागों में बांट कर इसे तीन रूपों में देखा गया है। इनमें ब्रजलीला, मथुरा-लीला और द्वारिका लीला हैं। ब्रज-लीलाओं में श्रीकृष्ण की बाल लीलाएं आती हैं, साथ ही वृन्दावन में हुई गोपियों और राधा के साथ उनकी रसमयी क्रीड़ाएं भी इसी का अंश हैं। वृन्दावन की ये रसमयी लीलाएं परम माधुर्यमयी एवं प्रेममयी होने के कारण रस दृष्टि से श्रेष्ठतम मानी जाती हैं। मथुरा-लीला और द्वारिका-लीला में क्रमशः माधुर्य के स्थान पर ऐश्वर्य ही अधिक प्रकाशित होता है।[2] वृन्दावनीय उपासना में माधुर्य भाव का ही एक मात्र प्रयोजन है, वैभव और ऐश्वर्य का वहां तनिक भी महत्त्व नहीं है।[3]

वर्गीकरण में उपासना के जो प्रमुख भाव हैं, उनको भक्ति-रस के भाव रूप में वैष्णव रस-शास्त्रियों ने प्रस्तुत किया है। ये उपासना के भाव हैं, शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता।[4] ये भक्ति के स्थायी भाव हैं,

---

[1] देखिये इस ग्रन्थ का संवंधित प्रकरण।

[2] 'ऐश्वर्य से अभिप्राय है जगत का कर्तृत्व, जो उनकी स्वातंत्र्य शक्ति से उन्मीलित होता है। भागवत संप्रदाय, श्री वलदेव उपाध्याय, पृ० १२१

ऐश्वर्य से सामर्थ्य समुच्चयों का वोध होता है। 'भग' भी ऐश्वर्य का ही पर्याय है। ६ भगों में ऐश्वर्य प्रधान है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ विष्णु पुराण, ६.५.७४

माधुर्य, चेष्टादि की स्पृहणीयता को कहते हैं। व्यापक अर्थ में ऐश्वर्य के स्थान पर प्रेम का अधिकाधिक प्रकाशन ही माधुर्य कहा जाता है।

[3] वैभव सव ऐश्वर्यता ठाढी सेवत दूरि।
परसन पावत कवहुं नहिं, श्रीवृंदावन धूरि॥
नेह मंजरी, वयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० २३३

[4] हरिभक्तिरसामृतसिंधु, काशी, पृ० ३१५, ३२५, ३६४, ३९५, ४२६

इन्हीं का परिपाक होने पर ये शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल और मधुर रस कहलाते हैं।[1] इसमें मधुर रस के अंतर्गत और भी सूक्ष्म प्रकार हो सकते हैं। सखीभाव इसी का एक सूक्ष्म उपासना-भेद है। लीलाओं के उपास्य और भाव के अनुसार उपासनाओं का तारतम्य इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

अप्रकट लीला, नित्य वृन्दावनधाम की नित्य लीला।

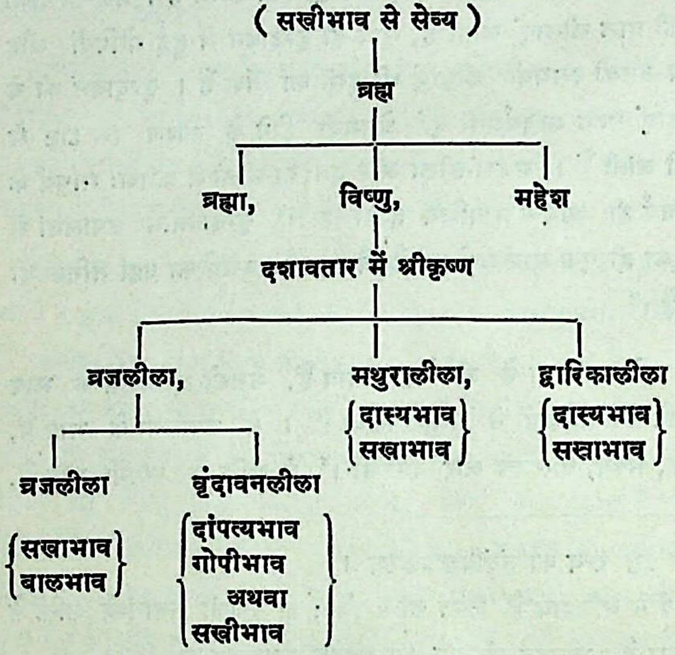
(सखीभाव से सेव्य)
ब्रह्म
ब्रह्मा,
विष्णु,
महेश
दशावतार में श्रीकृष्ण
व्रजलीला,
मथुरालीला,
दास्यभाव
सखाभाव
द्वारिकालीला
दास्यभाव
सखाभाव
व्रजलीला
सखाभाव
बालभाव
वृंदावनलीला
दांपत्यभाव
गोपीभाव
अथवा
सखीभाव

लीला के उपर्युक्त रूप को महाकवि सूरदास जी की रचना सूरसारावली के अनुसार देखा जा सकता है। पहले उन्होंने नित्यविहार का वर्णन किया है।[2] उसी बीच होली खेलने की इच्छा के रूप में सृष्टिविस्तार किया।[3] हरि पुरुष

---

[1] मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयाश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः॥
हरिभक्ति रसामृतसिंधु, काशी, पृ० ३०९

[2] जहां वृन्दावन आदि अजिर, जहां कुंज लता विस्तार।
तहां विहरत प्रिया प्रीतम दोऊ, निगम भृंग गुंजार॥
सूर सारावली, मीतल, छं० २

[3] खेलत खेलत चित में आई, सृष्टि करन विस्तार। सूर सारावली, छं० ५

ही ब्रह्म है।[1] उसी से गुणावतार होते हैं। विष्णु अनेक अवतार लेते हैं।[2] श्रीकृष्ण उन्हीं के अवतार हैं।[3] उनमें चतुर्व्यूहात्मक और रसात्मक दोनों प्रकार के रूप सम्मिलित हैं।[4] फिर कृष्ण की तीनों प्रकार की लीलाएं विस्तार से वर्णित हैं।[5] अंत में पुनः वृन्दावन के नित्यविहार की चर्चा है।[6]

सखीभाव की उपासना का मूल चेत्र अप्रकट लीला से संबंधित है, यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिये। परन्तु प्रकट लीला के गोपीभाव को भी किन्हीं स्तरों पर सखीभाव के नाम से अभिहित किया जाता है। पारिभाषिक अर्थों का सहारा ही हमें लीलाओं का स्वरूप समझाने में सहायक हो सकता है, अन्यथा पग पग पर भटक जाने की आशंका है। प्रकटलीला में गोपीभाव सर्वोपरि है परंतु सखीभाव उससे भी परे है, ऐसी रसिकों की मान्यता है।

विभिन्न लीलान्तरों की उपासना को हम वैष्णव संप्रदायों के साथ विशिष्ट रूपों में विद्यमान देखते हैं। वल्लभ संप्रदाय में वात्सल्य और सख्य की प्रधानता है। चैतन्य संप्रदाय में प्रमुखतः दांपत्यभाव या गोपीभाव है। महाराष्ट्र के वारकरी जैसे संप्रदायों में शान्त और दास्य की उपासना है। मीरा की उपासना में पति-पत्नी-भाव है। निंबार्क संप्रदाय में गोपीभाव है। राधावल्लभ संप्रदाय में प्रमुख रूप से सखीभाव की उपासना है, जो गोपीभाव से संलग्न है। स्वामी हरिदास जी के सखी संप्रदाय में अमिश्र सखीभाव की उपासना है। यह संप्रदाय नित्यलीलाओं का उपासक है, व्रजलीला का ये

---

[1] अपने आप करि प्रगट कियौ है, हरी पुरुष अवतार ॥
सूर सारावली, छं० ५

[2] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ४०२
सूर ने नारायण से ब्रह्मा का होना लिखा है। संक्षेप करने के कारण ही ऐसा हुआ है।

[3] सूर ने विष्णु न कह कर अवतारों को कृष्ण का अवतार ही माना है।
सूर० सारा० छं० ३६

[4] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त पृ० ४०४

[5] सूर सारावली, मीतल पृ० ३० से ७० तक।

[6] सूर सारावली, छं० १०९६ से १०९९।

रसिक वर्णन भी नहीं करते। इसे ही रसिक रसमयी विशुद्ध सखीभाव की उपासना कहते हैं।[1]

प्रेम ही निकष

उपासनाओं का जो वर्गीकरण हमने पीछे प्रस्तुत किया है, उसको बहुत कुछ अंशों में ध्रुवदास जी का समर्थन भी प्राप्त है। ध्रुवदास जी प्रेम को सर्वोपरि मानते हैं और प्रेम में अनन्यता सबसे बड़ी वस्तु है। वे रसिक भक्तों के संबंध में कहते हैं—'ते भक्त कैसे हैं। छांड़ि रसिक रसिकनी जू के प्रेम रस विहार विना और बात कछू रुचत नाहीं। तिनकी दृष्टि में और रस कछु न आवै। तेहि रस के बल सब ते बेपरवाह रहत हैं।'[2]

अन्य सामान्य भक्तों के एवं अनन्य रसिकों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—'एक भक्त ऐसे हैं, सब अवतार लीला गावत हैं। कछू भेद नाहीं। ते ऐश्वर्य महात्तम ज्ञान लिये हैं। एकनि के इष्ट धर्म है, ये उन तें सरस कहिये। काहें तें जु इहां सनेह पाइयत हैं। इष्ट कहिये सनेही सों। तातें सनेही कों छांड़ि दूसरी ठौर मन न चलै, जो चलै तौ सनेही नाहीं……और जहां ताईं भक्त जनक, उद्धव, सनकादिक और लीला द्वारिका मथुरा आदि तिन सबनि पर अति गरिष्ट सर्वोपरि व्रजदेविन कौ प्रेम है। ब्रह्मादिक तिनकी पद-रज वांछित हैं। तिनके रस पर महा रस अति दुर्लभ श्रीवृन्दावनेश्वरी श्रीवृन्दावनचंद आनन्दघन उन्नति नव किशोर सबके चूडामनि तिन प्रेम मई निकुंज माधुरी विलास ललिता विसाखा आदि इन सखियनि के प्रान अधार यह हैं। इन सखियनि को प्रेम सर्वोपरि जानो, या पर और सुख न और रस… इनकौ प्रेम समुझनौ अति कठिन है।'[3]

ध्रुवदास जी के इस उद्धरण से विभिन्न उपासना-प्रकारों के विवरण के साथ ही हमें उपासना के दो प्रमुख रूप भी मिल जाते हैं। एक ओर तो वे भक्त-संप्रदाय हैं, जो श्रीकृष्ण की अवतारकालीन लीलाओं को लेकर चले, दूसरी

---

[1] सषीभाव के मुकुट मणि, श्री स्वामी हरिदास।
किसोरदास तिन निर्मयौ, नित्यविहार उपास॥

सिद्धांत सरोवर, साखी ६४७

[2] सिद्धांत विचार लीला, बयालीस लीला। ध्रुवदास पृ० ४९

[3] सिद्धांत विचार लीला, बयालीस लीला। ध्रुवदास, पृ० ४९.५०

ओर वे हैं, जो नित्य लीलाओं के उपासक हैं। इन दोनों उपासनाओं के बाह्य रूप में बहुत कुछ एकता होते हुए भी प्रेम तत्त्व के प्रकाश में पर्याप्त भिन्नता है। प्रेम की विशुद्धता और माधुर्य का अखंड आस्वाद ही इन उपासनाओं की श्रेष्ठता का निकष भी है। इसीलिये हम श्रीकृष्ण की अवतारकालीन लीलाओं की उपासना का पर्यवसान नित्यलीला में ही देखते हैं। बालकृष्ण के उपासक भी अंत में चरम लक्ष्य के रूप में वृन्दावन में राधाकृष्ण के नित्यविहार की उपासना में तन्मय होते हैं।

प्रेम का अंतिम स्वरूप मधुर रस में ही पर्यवसित होता है।[1] लोक में भी हम देखते हैं कि दाम्पत्य रति अन्य समस्त रतियों में सबसे अधिक व्यापक और बलवती है। उसका स्थायित्व, उसकी गहनता और उसका आस्वाद सभी से विलक्षण है। इसी प्रकार भक्ति में भी दास्य, सख्य, वात्सल्य से भी ऊपर दाम्पत्य प्रेम ही जाता है। 'नारद भक्ति सूत्र' में गोपियों के प्रेम को ही आदर्श माना गया है।[2] नित्य वृंदावन का सखीभाव ही इसके ऊपर जाता है अन्यथा लोक में तो व्रजगोपियों से ऊपर और किसी का प्रेम है ही नहीं।[3]

नित्यलीला

नित्यलीला में रसास्वादन अनवरत और अखंड रहता है। वहां माधुर्य की छटा प्रतिक्षण अधिक माधुर्यमयी होती जाती है।[4] प्रेमास्वाद क्षण भर के लिये भी न्यून नहीं हो पाता, जब कि अवतार-लीलाओं में श्रीकृष्ण को माता-पिता, सखा अथवा संसार के प्रति समस्त कर्तव्य निभाने पड़ते हैं। वहां माधुर्य भाव की एकरसता इसीलिए नहीं रह पाती। इस कर्मक्षेत्र में नित्य वृन्दावन की वह अमित माधुरी कहां प्रकट हो सकती थी, जिसका समुद्र नित्यलीला में निरन्तर लहराता रहता है।[5] कहा जा चुका है कि इन दोनों

---

[1] भक्ति का विकास, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० १३०

[2] नारद भक्ति सूत्र, २१।

[3] सिद्धांत विचार लीला। ध्रुवदास, पृ० ५०

[4] छिनछिन वन की छवि नई, नवल युगल के हेत।
वृन्दावन सत लीला, ध्रुवदास, पृ० १५

[5] प्रेमसिंधु वृन्दाविपिन, जाको अंत न आदि।
जहां कलोलत रहत नित, युगलकिसोर अनादि॥
वृन्दावन सत लीला, ध्रुवदास पृ० २३

लीलाओं के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं । गोपी और सखी दोनों के भावक्षेत्र को भी इसी आधार पर भिन्न समझना चाहिये ।

श्री प्रिया-प्रियतम के नित्य लीलाधाम वृन्दावन में सखियों अथवा उनका भाव धारण करने वाले के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश संभव नहीं है। उस नित्य लीलाक्षेत्र का तो सखीभाव ही एक मात्र मार्ग है, अन्य भक्तिभाव भी वहां प्रविष्ट नहीं हो पाते ।[1]

इस नित्य विहार की रसभूमि में ऋषि, मुनियों का गमन नहीं है । साक्षात् शिव और विष्णु भी वहां पहुंचने के लिये ललचाते हैं परंतु उनके मन का प्रवेश भी वहां नहीं हो पाता ।[2] यही नहीं अवतार-स्वरूप से व्रज में रहने वाले राधाकृष्ण भी उस नित्यविहार के लिये बिललाते रहते हैं,[3] अन्य की तो बात ही क्या ? इसीलिए कहा जाता है कि उस युगल-केलि-रस-पान के निमित्त केवलमात्र सखीभाव की उपासना ही एकमात्र साधन है ।

गोपीभाव और सखीभाव

ऊपर कहा जा चुका है कि लीला की नित्य और नैमित्तिक अथवा प्रकट और अप्रकट दो भूमियां हैं । इन दोनों भूमियों को हम अलग-अलग सखीभाव और गोपीभाव से संबंधित पाते हैं । नित्यलीला के भी स्वरूपतः दो भेद पाते हैं । कुछ संप्रदायों में नित्यलीला को प्रकटलीला की अनुसारिणी माना जाता है । जिस प्रकार गोप, गोपी आदि के साथ श्रीकृष्ण ने व्रज में लीला की थी, उसी प्रकार की लीला नित्यधाम गोलोक में भी बराबर चलती रहती है । इन संप्रदायों में पौराणिक दृष्टि से श्रीकृष्ण-चरित्र का घटना-विश्लेषण किया जाता है । दूसरी ओर नित्यविहार के वे उपासक हैं, जो परात्पर तत्त्व 'रस' अथवा 'प्रेम' को मानते हैं । उनके यहां न तो अन्य लोकों की चर्चा है, न

---

[1] सांत, दास्य अरु सख्य हू, वात्सल्य तहां न जात ।
किसोरदास सहचरि निकट, संतत सुख दरसात ॥
सिद्धान्त सरोवर, किशोरदास, ६३७

[2] शिव श्रीपति जद्दपि ललचाहीं । मन प्रवेस तिनहूं को नाहीं ।
नेहमंजरी लीला, ध्रुवदास, पृ० २३२

[3] यद्यपि राधाकृष्ण वसत व्रज बिनु विहार बिललात······
बिहारिनदास, सिद्धान्त के पद, सं० १४२

उनका तारतम्य है। उनके लिये वृन्दावन की समता का कोई और लोक है ही नहीं। वहीं वह 'रस' तत्त्व नित्य ही अपने दो रूपों में क्रीड़ापरायण है। उनके लिये नित्यलीला शाश्वत सत्य के रूप में अधिष्ठान ग्रहण करती है। वे जन्म-कर्मादि से परे उस शाश्वत, परात्पर तत्त्व को ही पुराण-निरपेक्ष दृष्टि से देखते हैं, अतएव उनके लिये भगवान् का ऐश्वर्य ही नहीं, गोपियों का विलास भी, पीछे छूट जाता है।[1] सत, रज, तम से परे उस दिव्य वृन्दावन की लीला ही उनके लिये उपास्य है, और कहीं उनका मन विचलित होकर भी नहीं पहुंचता। यह अनन्यता ही उनकी विशेषता है।[2]

क्षेत्रों की भिन्नता होते हुए भी गोपीभाव और सखीभाव का अन्तर पुनः समझना होगा। इनके तात्त्विक रूप का विश्लेषण आगे किया जायगा, यहां उसका उपासना क्षेत्र ही स्पष्ट किया जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि 'गोपी' और 'सखी' दोनों शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के लिए व्यापक रूप में प्रचलित है जिससे अनेक संप्रदायों के सम्मिलित अध्ययन में भारी भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। व्रजलीलाओं के उपासकों के यहां गोपीभाव और सखीभाव प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि उनके लिये व्रज अथवा गोलोक में भी लीलाधारिणी शक्ति गोपियां ही हैं। वहां गोपी ही सखी हैं। इनके संबंध में दो प्रकार की धारणाएं उन उपासकों में हैं। कुछ इन गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ अंग-संग होना भी मानते हैं, परंतु दूसरे गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का विहार स्वीकृत नहीं करते। उनके यहां गोपियां राधा की सखीमात्र हैं। वे श्रीराधाकृष्ण के लीला-रस से ही आनन्दित होती हैं। ये दूसरे प्रकार के उपासक ही वास्तव में सखीभाव के अधिक निकट हैं। इन गोपियों के स्वकीया, परकीया आदि के भी और अनेक भेदोपभेद हो जाते हैं और इस जटिलता में राधाकृष्ण का लीलाविलास आच्छादित रह जाता है। इधर, स्वामी हरिदास जी के सखी-संप्रदाय में केवल सखीभाव की ही उपासना है,

---

[1] ईश्वर अक्षर सार सुख, गोपिन मध्य विलास।
किसोरदास इनके परे, नित्यविहार उपास॥
सिद्धांत सरोवर, साखी सं० ९७८

[2] और भाव जिनके नहीं, युगल विहार उपास।
सुनि ध्रुव मन वच कर्म के, ह्वै रहु तिनको दास॥
मन शिक्षा लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० ११

जिनका केवल एक ही रूप है कि वे राधा और विहारी जी की नित्य सहचरी हैं। नित्य होने से उनके जन्म-जन्मान्तर के वृत्तांत और उनका गोपी होना भी सिद्ध नहीं होता। अतः यहां गोपी और सखी इन दोनों में तात्विक अंतर है। इनका सखीभाव गोपीभाव से एकदम भिन्न प्रकार की वस्तु है। इन दोनों मान्यताओं को एक साथ मिलाकर देखने से हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-काव्य का मधुर रस संबंधी अधिकांश भाग सखी-भाव के अन्तर्गत आ जाता है। जहां वात्सल्य है, वहां भी यशोदादि की आनुगत्यमयी भावना धारण करनी होती है, यशोदा एवं गोकुल की अन्य वृद्धाएं सभी गोपियां थीं अतः यह भी गोपीभाव के अन्तर्गत आ जाता है। गोपियों का मधुरभाव तो सीधा इसके अंतर्गत आ ही जाता है। वैष्णव-भक्ति के प्राण अथवा चरमलक्ष्य रासलीला को भी इस दृष्टि से सखीभाव के अंतर्गत ही समझना होता है, अतः सखीभाव शब्द के प्रयोग करने से पहले यह देख लेना होगा कि यह शब्द किस संप्रदाय से, किन भावों से संबंधित है। अपने वास्तविक और विशुद्ध रूप में सखीभाव का प्रयोग स्वामी हरिदास के सखी-संप्रदाय में ही होता है अतः उनकी उपासना को विशुद्ध सखीभाव की उपासना कहना उचित ही है। यही नहीं, जिस प्रकार संत-साधकों के अग्रणी कबीर हैं, उसी प्रकार सखीभाव के पुरस्कर्ता और उपदेष्टा तथा केवल उसी के अनुसार उपासना करने वाले स्वामी हरिदास जी हैं अतः इन उपासनाओं का केन्द्र, इस दृष्टि से, उन्हीं का व्यक्तित्व और संप्रदाय बन जाता है।

प्रत्येक संप्रदाय की विचारधारा और तदनुसार उसकी उपासनाशैली विभिन्न प्रभावों से परिवर्तित भी होती रहती है। यह साधना का क्रमिक विकास होता है। हम देखते हैं कि स्वामी हरिदास जी की उपासना शैली का प्रभाव शीघ्र ही अन्य वैष्णव संप्रदायों पर पड़ा और सखीभाव ही कृष्णभक्ति-धारा का प्रमुख उपास्यभाव बन गया। अन्य संप्रदायों के उपासकों में दो प्रकार के साधक देखने में आते हैं। एक तो वे हैं, जिन्होंने अपने संप्रदाय के अन्य भावों को अपनाते हुए भी सखीभाव की उपासना को मान्यता दी। दूसरे प्रकार के साधक वे हैं, जिन्होंने अपने संप्रदाय के मूल उपासनाभावों को एकदम छोड़ दिया और केवल मात्र सखीभाव से ही उन्होंने उपासना की। ये प्रायः स्वामी हरिदास जी के सिद्धांतों का ही अनुकरण करके चले, यद्यपि अनेक बातों में इनकी अपनी उपासना में अंतर भी रहा। इस प्रकार

हिन्दी-साहित्य के कलेवर में सखीभाव से उपासना करने वाले साधकों का साहित्य सखीभाव के इन तीन रूपों को लेकर चला है। ये हैं:—

१. स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के विशुद्ध सखीभाव के उपासक।

२. गोपीभाव को ही सखीभाव के विभिन्न रूपों में मान कर उपासना करने वाले उपासक।

३. अन्य संप्रदायों के उपासक जिन्होंने सखीभावानुसार केवल नित्य-विहार की लीलाओं का ही गान किया है।

ये तीनों ही सखीभाव के इस अध्ययन के क्षेत्र हैं। इस विषय-प्रवेश के अध्याय को समाप्त करने से पहले सखीभाव के संबंध में, प्रारंभिक परिचय के रूप में, इस शब्द और साधना पर भी विचार अपेक्षित है।

सखीभाव : पद-पदार्थ

'सखी-भाव' पद में दो शब्द हैं। दोनों ही शब्द साधारण हैं, जिनका अर्थ कठिन नहीं है। 'सखी' शब्द संस्कृत के 'सखिन्' से बनता है। पुंल्लिंग में कर्ताकारक के एक वचन में 'सखा' शब्द सिद्ध होता है, इसी का स्त्रीलिंग सखी है। इसका अर्थ है 'मित्र'। हिन्दी में भी सखी का तात्पर्य है सहेली, सहचरी आदि।

'भाव' शब्द का सामान्य अर्थ है सत्ता या स्थिति। जो होता है, वही भाव है—'भवतीति भावः'। इस शब्द का विशेष अर्थों में प्रयोग बहुविध है। वस्तुओं के सामान्य मोल-भाव से लेकर, साहित्य के निर्विकार चित्त की प्रथम विक्रिया का वाचक भाव[1], मनोविज्ञान के क्षेत्र में दुःख-सुख की चेतन अनुभूति का भाव[2], और दर्शन में भाव-अभाव की अनेक व्याख्याओं का पर्याय[3], सभी अर्थों में इसका प्रयोग है। वैष्णव-भक्ति-शास्त्रियों के अनुसार शुद्ध सत्त्व से विशिष्ट, प्रेम सूर्य की किरण के समान, विभिन्न भगवद्रुचियों

---

[1] निर्विकारात्मके चित्ते भावो प्रथम विक्रिया।

साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, बंबई, पृ० १२८

[2] सामान्य मनोविज्ञान, रामप्रसाद पाण्डेय, पृ० २४१

[3] बादरि और जैमिनि के भाव-अभाव के स्वरूप में ब्रह्म की व्याख्या, ब्रह्मसूत्र ४. ४. १०, १

से उत्पन्न चित्त की मसृणता ही भाव है ।[1] प्रेम की प्रथमावस्था भी भाव कही गई है ।[2]

सखीभाव में जो 'भाव' शब्द है, वह वैसा मनोवैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय परिभाषा का भाव नहीं है । यह मानस की प्रथम विक्रिया भी नहीं है । वस्तुतः यह भाव अपने मूल स्वरूप के दर्शन की स्वतः की अनुभूति और स्वीकृति है । यदि परिभाषाओं के अनुसार देखा जाय तो 'भगवत्संबंधी रुचियों द्वारा उत्पन्न चित्त की मसृणता' यह सखीभाव के स्वरूप को कुछ स्पष्ट कर सकता है । रुचि के अनुसार भगवान् से संबंधस्थापन कर मन, प्राण, बुद्धि में उसे ही पूर्णतया बसा लेना भावधारण है । जिस संबंध से ईश्वर को देखा है, उसी संबंध में चित्तवृत्तियों की पूर्ण परिणति, यही भाव-धारण का स्वरूप है । विशिष्ट अर्थ में उपासक का अपना मूल रूप 'सखी' का ही रूप था, पुनः उसकी नित्य लीला में प्रवेश पाने की अभिलाषा से मूल रूप के धारण द्वारा उसकी सेवा की सतत आकांक्षा ही इस भाव की मूल भित्ति है ।

भावों की व्याख्या करते समय भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में भाव की व्युत्पत्ति 'भू करणे' से बताई है और 'भावित' अथवा 'वासित' हो जाना ही भाव माना है । 'भावित' और 'वासित' में पूर्णतया व्याप्त्यर्थ है, जैसे हम लोक में गन्ध या रस से वस्तुओं को भावित देखते हैं ।[3] भाव के साथ जो भावित या वासित का स्वरूप है, वह मुख्य वस्तु है । वासित से बसा हुआ, रग-रग में भिदा हुआ, ऐसा अर्थ निकलता है । सखीभाव में भी सखी की भावना उपासक के मन, प्राण, चित्त में पूर्णतया भावित हो जाती है, उपासक उसमें भावित हो जाता है । वह अपने को सम्पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण-प्रिया

---

[1] शुद्धसत्त्व विशेषात्मा, प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ।।
हरिभक्ति रसामृतसिंधु, रूप गोस्वामी, काशी, पृ० १००

[2] प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते ।
हरिभक्ति रसामृत सिंधु, पृ० १०२

[3] भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितंकृतमित्यनर्थान्तरम् ।
लोकेऽपि च सिद्ध्यहोह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति
तच्च व्याप्त्यर्थम् ।। भरत, नाट्यशास्त्र, अध्याय ७

श्रीराधा अथवा युगल की सखी मानता है। उसका यह मानना केवल उसके बौद्धिक धरातल तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसकी समस्त चित्तवृत्तियां भी इसी भाव में बस जाती हैं। यह भाव न केवल बौद्धिक है और न केवल हृदय का सत्व मात्र। यदि यह भाव केवल बौद्धिक ज्ञान तक ही सीमित रहे तो ऊपर से ग्रहण की हुई आरोपित वस्तु होगी और यदि रति भाव जैसी चित्त-विक्रिया मात्र इसे माना जाय तो भी सामान्य मनोविज्ञान की मूलवृत्ति न होने के कारण यह उचित न होगा। 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' में भक्ति के भावों पर विचार करते हुए श्री चन्द्रबली पांडेय ने इन भावों को रतिभाव से सर्वथा भिन्न माना है। वे कहते हैं:—

"माधुर्य भाव क्या, सभी भक्ति भावों के विषय में हमारा कहना हैं कि भक्ति-भावों में जो भाव का अर्थ लिया जाता है, वह रति भाव के भाव अर्थ से सर्वथा भिन्न है। उपासना के क्षेत्र में जिन भावों का नाम लिया जाता है, उनमें उस बुद्धि के भावों का विचार होता है, जो उपास्य एवं उपासक का संबंध स्थापित करती हैं···उसका यह भाव उसके संबंध का भाव है, कुछ हृदय की सत्त्ववृत्ति का कदापि नहीं"।[1]

पाण्डेय जी के उपर्युक्त मत से हम पूर्णतया सहमत नहीं हैं। यह सत्य है कि साधारणतः इन भावों का आगमन प्रथम अवस्था में बुद्धि के माध्यम से ही होता है, परंतु भावना के निरंतर अभ्यास द्वारा साधक की चित्तवृत्तियां उसमें इतनी अधिक बस जाती हैं कि वे सत्त्ववृत्ति के साथ भी एकाकार हो जाती हैं। यह सत्य है कि यह भाव स्वयं में सत्त्व वृत्ति नहीं है परंतु उपासना की सिद्ध दशाओं में इस भाव की सीमाएं बुद्धि और हृदय दोनों को आत्मसात् कर लेती हैं।

इस प्रकार 'सखीभाव' के अंतर्गत 'भाव' शब्द के अर्थ से परिचित हो जाने के पश्चात् सखी की विशिष्ट मर्यादाओं को समझना आवश्यक है। यद्यपि संपूर्ण उपासना-पद्धति के विवेचन के अभाव में 'सखी' के निजी स्वरूप का पूर्ण परिचय नहीं मिल सकता, फिर भी यहां संक्षेप में सखी के सामान्य उपासनागत स्वरूप का निर्देश किया जाता है।

सभी संप्रदायों में भगवान् की उपासना उनकी 'भगवत्ता' के कारण की

---

[1] तसव्वुफ अथवा सूफीमत, चंद्रबली पांडेय, पृ० ११५

जाती है।[1] उनकी अनन्त शक्ति और विविध ऐश्वर्य ही उपासक को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उनका 'भगवान्' नाम ही षाड्गुण्य पर निर्भर है।[2] ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज गुणों से युक्त होने के कारण ही उपासक भगवान् को प्राप्त करना चाहता है। जीव अल्प ऐश्वर्यादि संपन्न है, माया के वशीभूत है अतः अपने कल्याण की कामना करता हुआ वह भगवदुपासना में प्रवृत्त होता है। उनके अमित वीर्य, तेज और ऐश्वर्यादि के सम्मुख वह नतमस्तक रहता है। श्रद्धापूर्वक अपनी हीनता प्रदर्शित करते हुए जीव उस परब्रह्म का दास बनना चाहता है। जो भी हो, इस उपासना के मूल में मनोवैज्ञानिक तत्त्व 'भय' ही किसी न किसी प्रकार छिपा रहता है।

वैष्णवोपासकों ने क्रमशः शक्ति के माध्यम को क्षीण करते हुए, प्रेम को ही अपना माध्यम बनाया है। ज्ञान, शक्त्यादि गुण भगवान् के सामान्य गुण हैं, उनकी यह सामान्य गरिमा है। भगवान् का वास्तविक रूप तो उनका प्रेमस्वरूप है। प्रेम के द्वारा ही उनको पाया जा सकता है। प्रेम को परतत्त्व मान कर उसी को परमाराध्य माना गया। परंतु प्रेम तो नित्य है, साथ ही दो के बीच अवस्थित रहता है। प्रेम के प्रकाशन के लिये दो की सत्ता होना अतीव आवश्यक है। अतएव प्रेम के वास्तविक स्वरूप-साधकों को प्रेम-स्वरूप आराध्य के दर्शन श्रीराधाकृष्ण में हुए। कृष्ण और श्रीराधा परस्पर भोक्ता और भोग्य हैं, वे नित्य ही परस्पर नित्य नवीन प्रेम का आस्वादन करते हैं। यही उनकी नित्य प्रेमलीला है।

प्रेम का गुण है क्रमशः अद्वय हो जाना। दो को पूर्णतया एक में विलीन

---

[1] श्रीमद्भागवत में उस परमतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहा गया है। 'भगवान्' उस तत्त्व की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ भागवत १. २. ११

मूले तु क्रमाद्वैशिष्ट्यद्योतनाय तथा विन्यासः। भगवत्संदर्भः, जीवगोस्वामी, पृ० ४९

[2] ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य वीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

विष्णु पुराण, ६, ५. ७९

कर देना।[1] जिन दो के बीच प्रेम रहता है, वह युग्म सर्वदा एक हो जाने के लिये ही लालायित रहता है। परंतु दो के एक हो जाने पर प्रेम क्रीड़ाशील नहीं रह सकता। अतएव प्रेम अपनी क्रीड़ा को बनाये रखने के लिये अपने को एक तीसरे रूप में और प्रकट करता है, जिसका कार्य होता है, युग्म को प्रेम की लीला के लिये प्रेरित करना, उन्हें प्रेम की गहन अचेतना में से पुनः सावधान कर 'अद्वय' को 'क्रीड़ा' के लिये दो बनाये रखना, उस प्रेमलीला का तटस्थ रूप से आस्वादन लेना और प्रत्येक समय भोक्ता, भोग्य की अनंत लीलाओं का साक्षी बने रहना। तात्पर्य यह है कि केलि की एकतारता को प्रति पल बढ़ाने वाला ही प्रेम का एक और स्वरूप होता है, जिसके बिना प्रेमलीला का चलना असंभव ही है। हम कह चुके हैं, रसिकों ने श्रीराधाकृष्ण को ही प्रेम का मूल स्वरूप युग्म माना है, अतः उनकी प्रेमलीला में प्रेम का यह तीसरा अनिवार्य रूप 'सखी' का ही होता है। सखी प्रेमलीला की एक आवश्यक और अभीष्ट तृतीय अभिव्यक्ति है।[2] नित्य वृन्दावन में होने वाली नित्यलीला बिना सहचरीगण के कथमपि नहीं चल सकती।[3] प्रेम, लीला के लिये एक चतुर्थ स्वरूप और धारण किये है ओर वह है, नित्य लीला का धाम-रूप। वही चिद्घन तत्त्व इस समग्र लीला-स्वरूप को धारण करने के लिये लीलास्थल नित्य वृन्दावन के रूप में प्रकट है।[4] अतः रसिकों ने प्रेम के इन चार पक्षों की एक अन्विति में प्रेमलीला को पूर्ण माना है।[5]

प्रेम को ही परम तत्त्व मान लेने पर, दिव्य प्रेमलीला में प्रवेश करने के लिये, प्रेमी उपासक का व्याकुल हो उठना नितान्त स्वाभाविक है। जो परम तत्त्व है, वही प्राप्तव्य है। इस लीला में प्रवेश कैसे किया जाय? उसका

---

[1] भक्ति का विकास, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० ९९

[2] देखिये, चैतन्य चरितामृत, मध्य खंड, ८

[3] वही।

[4] श्रीवृन्दावन चिद्घन कछु छवि बरनि न जाई।
कृष्ण ललित लीला के काज, धरि रह्यौ जड़ताई॥ रासपंचाध्यायी, नंददासग्रंथावली, पृ० २

[5] सुधर्म बोधिनी, लाड़िलीदास, वृन्दावन, पृ० ६, ७, ८

एकमात्र मार्ग है—सखीभाव की उपासना।[1] श्री प्रिया-प्रियतम की नित्य सखी के रूप में भावना कर, सखियों के मार्ग से ही जब रसिक उपासना करता है तो श्रीराधा कृपा कर उसे अपनी सहचरी बना लेती हैं। यही सखीभाव की उपासना का चरम फल है।

सामान्य शाब्दिक अर्थ में सखीभाव मित्रभाव माना जा सकता है परंतु केवल ऐसा नहीं है। उपासना-क्षेत्र में जो सखी और युगल का संबंध है, वह समस्त संबंधात्मक मनोभावों का प्रतिनिधि है। 'सुधर्म बोधिनी' में कहा गया है कि सखियां युगल को चार भावों से लाड़ लड़ाती हैं। ये हैं, पुत्रवत्, मित्रवत्, पतिवत् और आत्मवत्।[2] प्रथम तीनों वात्सल्य, सख्य और मधुर भाव हैं, जो इसी क्षेत्र से संबंधित हैं। आत्मवत् शब्द इसमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रीति किसी एक भाव में न रहकर आत्मप्रेम की भांति सहज और अनन्त हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में वात्सल्य, सख्यादि भाव भी सामान्य कोटि के नहीं हैं। ये सब माधुर्य के ही अंतर्गत आयेंगे। कृष्णदास कविराज ने कहा है कि दास्य, सख्य, वात्सल्य ये सब उपासना के क्रमशः विकसित भाव हैं परंतु ये सब क्रमशः अपने अगले भाव के साथ समन्वित होते चलते हैं। जिस प्रकार आकाशादि पंचभूत के समस्त गुण पृथिवी तत्त्व में समन्वित रहते हैं, उसी प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि के गुण और स्वाद क्रमशः समन्वित होते हुए 'माधुर्य' में अवस्थित रहते हैं।[3]

---

[1] सखियनि सरन भाव धरि आवै।
सो या रस के स्वादहिं चाखै॥
सुखमंजरीलीला, बयालीसलीला ध्रुवदास, पृ० २१६

[2] पुत्र, मित्र, पति, आत्मवत्, उज्ज्वल तत्सुख प्रीति।
सुधर्म बोधिनी, लाड़िलीदास, वृन्दावन, पृ० २४

[3] पूर्व पूर्व रसेर गुण पर पर हय।
दुइ तिन गणने पंच पर्यन्त बाडय।
गुणाधिक्य स्वादाधिक्ये बाडे प्रीति रसे।
शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य गुण मधुर ते वैसे।
आकाशेदेर गुण येमन पर पर भूते।
दुइ तिन गणने बाडे पंच पृथिवी ते।
श्री चैतन्य-चरितामृत, कृष्णदास कविराज, मध्यलीला, ८ म परिच्छेद

किशोरदास भी कहते हैं कि "सखीभाव का प्रवेश शांत आदि सभी भावों में हो सकता है, परंतु इन भावों का प्रवेश सखीभाव में लेशमात्र भी संभव नहीं है"।[१]

'सुधर्म बोधिनी' में जो पतिवत् भाव है, विशुद्ध सखीभाव में उसे कान्ताभाव नहीं समझना चाहिये। श्रीकृष्ण के साथ सखियों का पतिभाव कदापि नहीं है। किसी भी स्थिति में संभोगेच्छा सखियों में नहीं है। उनका स्वरूप ही 'द्रष्टा' का स्वरूप है। व्रज की गोपियों में ध्रुवदास जी ने इसी संभोगेच्छा के कारण सकामता मानी है और सखियों को उन्होंने इसीलिए गोपियों से ऊपर माना है कि उनमें सकामता नहीं है।[२] सखीभाव मधुरभाव का भी अतिक्रमण कर आगे पहुंचने वाला भाव है। इन सखियों की प्रेम-प्रीति का पोषण निज रति द्वारा न होकर श्री राधा और विहारी की परस्पर रति द्वारा होता है। वासना-रहित प्रेम का केवल एक ही उदाहरण प्राप्त हो सकता है, और वह है मधुर रस के इस क्षेत्र में सखीभाव। इसीलिए सखी-संप्रदाय के उपासकों ने इनके उपास्य रस को 'महा-मधुर-रस' की संज्ञा दी है। इस महामधुर रस के परे और कोई भी रस नहीं है।[3]

सखीभाव क्यों ?

भगवान् की उपासना के अनेक भाव हो सकते हैं, फिर उपासक एक कष्टकर पंथ को स्वीकार कर सखीभाव की ओर क्यों अग्रसर होता है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि उपासक यदि पुरुष हो तो उसके लिये सखीभाव एक विपरीत आचरण जैसा प्रतीत होता है। इस उपासना को स्त्रैण मानने वालों की चर्चा प्राक्कथन में की जा चुकी है और कहा जा चुका है कि विषय का अपेक्षित अध्ययन और उसके प्रति यथेष्ट जागरूकता का अभाव ही प्रायः ऐसे प्रश्न उत्पन्न करता है। सखीभाव

---

[१] सांति दास्य साख्यादि मधि, सहचरि करत प्रवेस।
सखीभाव को यह सवै, किंचित लहैं न लेस॥
सिद्धान्त सरोवर, किशोरदास, साखी १०४

[२] गोपिनु के सम भक्त न आहीं, उद्धव विधि तिनकी रज चाहीं।
तिन मन कछू सकामता आई, तातें बिच अंतर परचौ माई॥
आनंदलतालीला, बयालीसलीला, ध्रुवदास, पृ० २७३

[३] सिद्धांत विचार लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० ४९

को अंतरंग भाव के रूप में न देख कर एक मात्र बहिरंग वेशभूषा आदि की कल्पना ही ऐसे आलोचकों द्वारा गृहीत होती है। जहां तक साधना के कष्टकर होने का प्रश्न है वह योग्य गुरु और साधक की अपनी मनोदशा पर निर्भर है। सखीभावोपासकों का तो यह कथन है कि यह उपासना अत्यंत सहज और सरलतम है, साथ ही इसका निर्वाह कठिनतम भी है, यह भी उन्हीं का कथन है। प्रेम-पंथ में यही बात होती है। ब्रजभाषा के गौरवान्वित कवि घनानन्द की रचनाएं इस तथ्य की सुंदर उदाहरण हैं।[1] फिर उस नित्य वृन्दावन में पहुंचने का मार्ग भी तो एक ही है, उसी पर साधक को चलना है। पंथ प्रेम का है, तलवार की धार तो है ही, पर जिन पर कृपा हो जाती है, वे इसे सरलता से पार भी कर जाते हैं। उपासक ने सखीभाव क्यों अपनाया, इसका तात्त्विक विकासदृष्टि से विवेचन तो आगे करेंगे, यहां उसका सामान्य विकास-क्रम परिलक्षित किया जा रहा है। उपास्य के स्वरूप और तदनुकूल संबंध भावना ही सखीभाव की पृष्ठभूमि है, जिसका निर्माण भारतीय भक्तिधारा के प्रवाह में क्रमशः संभव हो सका है।

उपनिषद् में सखाभाव

वेदों में ही आत्मा और परमात्मा के सखाभाव के उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं। वैदिक भक्ति का विवेचन करते हुए डा० मुंशीराम शर्मा कहते हैं कि 'भक्ति साधना में यह सर्वोच्च कोटि की भाव-स्थिति मानी गई है'। उनका यह भी कथन है कि 'जो हृदय विकारों से विहीन, प्रपंच से पृथक् और राग से रहित हो चुका है, वही प्रभु के सखाभाव को प्राप्त करता है।'[2]

उपनिषदों में इस सखाभाव का पर्याप्त विस्तार मिलता है। मुण्डकोपनिषद् के तृतीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में सर्वप्रथम मंत्र है:—

---

[1] अति सूधौ सनेह को मारग है, जहां नैंकु सयानप वांक नहीं।
सुजानहित, घनानंद ग्रंथावली, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, २००९, पृ० ८६

तथा

बिछुरें मिलें मीन पतंग दसा कहा मो जिय की गति कों तरसै।
वही पृ० ७८

[2] भक्ति का विकास, डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० १६२

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

अर्थात् एक साथ रहने वाले, परस्पर सखाभाव रखने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं । उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के कर्मरूप फलों का स्वाद लेता है, दूसरा न खाता हुआ, उन्हें देखता रहता है ।

अवश्य ही परमात्मा जीवात्मा का सुहृद् है । जीवात्मा शरीर में ही आसक्त होकर विषयों में निमग्न रहता है । असमर्थतारूप दीनता का अनुभव करता हुआ मोहित होकर वह शोक-ग्रस्त रहता है । परंतु जब वह परमेश्वर को और उसकी महिमा को प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह शोकरहित हो जाता है । यह बात इससे अगले मंत्र में कही गई है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

तात्पर्य यह है कि विशुद्ध रूप में जीवात्मा परमात्मा का सखा है । विषयों का भोग करने के कारण जीव बहिर्मुख होकर दुःख प्राप्त करता है । यदि वह परमात्मा का सुहृद् रूप से चिन्तन करता हुआ निर्विषय हो जाय, तो वह समस्त प्राणियों के प्राण परमेश्वर को जानने वाला निरभिमान होकर उसके प्रीत्यर्थ कर्म करता हुआ अन्तर्यामी परमात्मा के साथ क्रीड़ा एवं रमण करता है । इसके चौथे मंत्र में यही बताया गया है :—

प्राणोह्येषः यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड़ आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥

उपनिषदों में बताये हुए इस रूप का पूर्ण प्रस्फुटन हम सखीभाव में पाते हैं । सखीभाव का उपासक परमात्मा को अपना सुहृद्, कृपालु समझता हुआ, सांसारिक विषयों में निर्विषय होता हुआ, अपने जन्म, कर्म, देह, लिंग आदि का अभिमान छोड़ कर उस परमात्मा परम प्रेम के साथ नित्य आत्मक्रीड़ हो जाता है । सखी का स्वरूप भी इसी प्रकार पूर्ण निर्विषय और निष्काम है ।

सखाभाव से सखीभाव का होना उपासना के विकासक्रम में अन्तर्निहित है । स्पष्ट है कि उपनिषदों में एक ओर परमात्मा का जो शान्त और निश्चल रूप है, वहां जीवात्मा की मान्यता सखाभाव से ही उचित है । परंतु जहां

'रसो वै सः' द्वारा परमात्मा के रस स्वरूप की ओर इंगित है, वही क्रमशः कृष्णपरक वैष्णव-साहित्य और दर्शन में विकसित होकर श्री राधाकृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। राधाकृष्ण के नित्यविलासमय प्रेमस्वरूप की उन्मुक्त उपासना सखाभाव से नहीं हो सकती। नित्य अंतरंग दम्पति-लीलाओं में लोक के उदाहरण से भी देखा जा सकता है कि वहां सखा का प्रवेश न होकर सखियों का प्रवेश ही संभव होता है। सखीभाव ही उस रसलीला को प्राप्त कर सकने वाला एकमात्र भाव है। सखी भी युगल दम्पति की सुहृद् है परंतु उसका रूप सखी-रूप ही है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जा चुका है कि यह सखी रूप, वास्तव में स्त्री-रूप नहीं है। यह भावोपलब्धि है, स्त्री-पुरुष के लिंग-भेद से विवर्जित और ऊपर।[1]

समर्पण की साध्यता

उपासना का मूल भगवान् के प्रति समर्पण है। समर्पण का उदाहरण नारी है। इस क्षेत्र में पुरुष उसका प्रतिद्वंद्वी नहीं हो सकता। पुरुष में अहंकार की भावना स्वाभाविक ही है। पुरुष पौरुष है, जो महत्त्व के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है, समर्पण के लिये तो अन्ततः नारीत्व ही समर्थ है। भक्ति के क्षेत्र में इसीलिए जहां-जहां भी माधुर्य और ममता की प्रधानता हुई है, वहां-वहां सर्वत्र नारी-भाव ही अपनाया गया है। कान्ताभाव की उपासना प्रायः सभी देशों में प्रचलित है। प्रेमस्वरूप परमात्मा के प्रति प्रेम द्वारा समर्पण की उत्तरोत्तर भावना ने भक्त को स्त्री-भाव की ओर प्रेरित किया है। एक पाश्चात्य साधक न्यूमैन आग्रहपूर्वक कहते हैं :—

'यदि जीव आत्मानन्द प्राप्त करता हुआ अग्रसर होता चला जाय, तो इसे स्त्री बनना पड़ेगा। हां, स्त्री, मनुष्यों में चाहे यह कितना ही बड़ा मर्द क्यों न हो'।[2]

---

[1] श्रीराधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य।
डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २१९

[2] 'If this soul is to go into higher spiritual blessedness, it must become a woman. Yes, however, manly you may be among men.'
उद्धृत, मैथिल कोकिल विद्यापति, व्रजनंदनसहाय, पृ० ४०

दार्शनिक प्रभाव

सांख्य के प्रकृति और पुरुष की मान्यता ने भी साधक को योषिता-भाव की ओर बढ़ाया है। केवल परमेश्वर पुरुष है, शेष समस्त संसार प्रकृति-रूप है, यह धारणा भी बलवती होती गई है। शिव-शक्ति की विवेचना ने भी नारी-भाव को बढ़ाने में सहयोग दिया है। इससे भी परमात्मा में पतिभाव रखने का विचार पुरस्सरित हुआ है। इस भावना का व्यापक प्रतिफलन हम भक्ति-प्रतिपादक ग्रंथों तथा अनेक महात्माओं की वाणियों में पाते हैं। विष्णुपुराण में कहा गया है कि वासुदेव ही साक्षात् पुरुष हैं, शेष समस्त जगत् स्त्री ही है :—

> स एव वासुदेवोऽयं साक्षात्पुरुष उच्यते।
> स्त्रीप्रायमितरस्सर्वं जगद्ब्रह्म पुरस्सरम्॥[1]

निर्गुनिये महात्मा कबीर भी यही बात कहते हैं :—

> एक अंड उङ्कार तें सब जग गया पसार।
> कहहिं कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भतार॥[2]

भक्तवर ध्रुवदास जी का भी यही कथन है :—

> एकै पुरुष किसोर है, दूजौ नाहिंन कोइ।
> जाकी इच्छा सहज ही यह कौतुक सब होइ॥[3]

पहले सामान्य नारी-भाव, फिर पत्नी भाव, यह विकास का मनोवैज्ञानिक क्रम है परंतु पत्नी-भाव में जो स्वसुख की कामना सहज ही आ जाती है, वह साधना के सात्त्विक विकास में बाधक हो सकती है। दूसरे पुरुष-रूप परमेश्वर के साथ तो पत्नी-भाव की संगति बैठ भी जाती है, परंतु जहां उपास्य युगल-स्वरूप हो, वहां पत्नी-भाव ग्रहण करने की ओर प्रायः प्रवृत्ति नहीं होती। वह संबंध की सकामता हटाता है और श्रीराधा के समकक्ष होने का कभी विचार भी नहीं करता। ऐसी स्थिति में स्त्रीभाव सखीभाव के रूप में ही रहता है और संपूर्ण सेवा और लीलास्वाद इसी भाव से संपन्न होता है।

---

[1] संकलित।

[2] कबीर का रहस्यवाद, रामकुमार वर्मा। पृ० २६.

[3] वृहद् बावन पुराण लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० ४५

गोपीभाव की उपासना से भक्तों को गोपी-देह की प्राप्ति

सिद्धान्त-कथन को व्यावहारिक और ऐतिहासिक रूप में प्रस्तुत करने का कार्य पुराणों ने किया है। इसके लिये कथा-शैली का आश्रय लिया गया है। ऐसे अनेक पुराण एवं तंत्र-ग्रंथ हैं, जिनमें गोपीभाव की उपासना करने वाले अनेक ऋषियों और भक्तों की कथाएं हैं। इन्होंने अपनी साधना के फलस्वरूप कृष्णावतार के समय गोपी-देह प्राप्त की थी। इन्हीं ग्रंथों के आधार पर श्री रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि, नामक अपने ग्रंथ में गोपियों के वर्गीकरण में मुनि, पौराणी तथा औपनिषदी भेद किये हैं।[1] श्री रूप एवं जीव आदि गौड़ीय गोस्वामियों ने पद्म-पुराण, बृहद्वामन पुराण आदि के अनेक उद्धरण भी दिये हैं। इससे इन स्थलों की प्राचीनता भी सिद्ध होती है। श्रीरूप गोस्वामी ने 'हरिभक्ति-रसामृतसिंधु' में तथा जीव गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' की टीका में पाद्मोत्तर खण्ड के जो श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें बताया गया है कि रामावतार के समय दण्डकारण्यवासी ऋषियों ने राम के अपूर्व सौन्दर्य को देख कर, उनके साथ रमण की कामना की। वे सभी स्त्रीत्व को प्राप्त होकर गोकुल में उत्पन्न हुए। काम-संबंध से श्रीकृष्ण को प्राप्त कर वे भवसागर से मुक्त हुए। श्लोक हैं—

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम् ॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ताः भवार्णवात् ॥[2]

ये श्लोक प्राप्त पद्मपुराण के उत्तरखण्ड की अध्याय २४५ के १६४, १६५ के क्रम में प्राप्त हैं। परन्तु पद्म-पुराण के पाताल-खण्ड के ७२वें अध्याय में हमें इस प्रकार के वर्णन बहुत ही विस्तार से प्राप्त हो रहे हैं। यह पूरा अध्याय लिखा ही इस दृष्टिकोण से गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसमें ऋषियों द्वारा गोपी-देह की प्राप्ति के वर्णन बहुत विस्तृत हैं। यह बात ध्यान देने की है कि इनमें आये ऋषियों के नाम प्रायः वे ही हैं, जो नाम उपनिषदों में भी पाये जाते हैं। नीचे ऐसे ऋषियों के उदाहरण दिये जा रहे हैं :—

---

[1] उज्ज्वल नीलमणि, श्रीरूप गोस्वामी, बंबई, १९३२, पृ० ६५-६६

[2] उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ६४ की टिप्पणी, हरिभक्तिरसामृत सिंधु, पूर्व० लहरी २, पृ० ९७

उग्रतपा नाम के एक दृढ़व्रत मुनि थे। उन्होंने वर्षों तक अग्नि-तप किया। पंचदशाक्षर मंत्र का जप किया। काम-मंत्र का संपुट लगाया। 'कृष्णाय स्वाहा' यह पद उसके साथ था। पीतांबर धारण किये, मुरलिका लिये, रासोन्मत्त श्यामल कृष्ण नवयौवन संपन्न अपनी प्रिया का हाथ पकड़ कर खींच रहे हैं, इस प्रकार का ध्यान सौ कल्पों तक करते हुए अंत में अपना शरीर छोड़ा। वह मुनि सुनंद नामक गोप की कन्या सुनंदा के रूप में उत्पन्न हुए।[1]

एक दूसरे मुनि सत्यतपा थे। उन्होंने सूखे पत्ते खाकर 'रत्यंत काम बीज' से संपुटित कर दशाक्षर मंत्र का जप किया। चित्रवेशधारी हरि का ध्यान करते हुए अन्त में अपना शरीर छोड़ा। ये महामुनि सुभद्र नामक गोप की भद्रा नामा कन्या हुए, जिनके पृष्ठतल में सुंदर व्यजन दिखाई देता है।[2]

---

[1] तदेकाग्रमनाभूत्वा शृणु देवि वरानने।
आसीदुग्रतपा नाम मुनिरेको दृढ़व्रतः॥ १॥
साग्निकोह्यग्निभक्ष्यश्च चचारात्यद्भुतं तपः।
जजाप परमं जाप्यं मंत्रं पंचदशाक्षरम्॥ २॥
काममंत्रेणपुटितं कामं कामवरप्रदात्।
कृष्णायेतिपदं स्वाहा सहितं सिद्धिदं परम्॥ ३॥
दध्यौ च श्यामलं कृष्णं रासोन्मत्तं वरोत्सुकम्।
पीतपट्टधरं वेणुं करेणाधरमर्पितम्॥ ४॥
नवयौवनसंपन्नं कर्षन्तं पाणिना प्रियाम्।
एवं ध्यानपरः कल्पशतान्ते देहमुत्सृजन्॥ ५॥
सुनंदनाम गोपस्य कन्याऽभूत्स महामुनिः।
सुनंदेति समाख्याता या वीणां बिभ्रती करे॥ ६॥

पद्म-पुराण, पाताल खण्ड, अध्याय ७२

[2] मुनिरन्यः सत्यतपा इतिख्यातो महाव्रतः।
स शुष्कपत्रं भुंक्ते यः प्रजजाप परं मनुम्॥ ७॥
रत्यंतं कामबीजेन पुटितं च दशाक्षरम्।
सप्रदध्यौ मुनिवरश्चित्रवेषधरं हरिम्॥ ८॥
त्यक्त्वा त्यक्त्वा स वै देहं तपसा च महामुनिः॥ ११॥
सुभद्रनाम्नो गोपस्य कन्या भद्रेति विश्रुता॥ १२॥

हरिधामा नामक महामुनि ने घोर तपस्या करते हुए दिन भर में केवल एक पत्र का भोजन किया । 'विंशत्यर्ण' शीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाले मंत्र का उन्होंने जप किया । तब दशाक्षर मंत्र का जप किया । सुरम्य वृन्दावन में माधवी-मंडप में स्थित श्री कृष्ण का वे ध्यान करते थे । अनेक देहों का त्याग करते हुए तीन कल्पों के पश्चात् वे मुनि रंग नामक गोप की शुभलक्षणा रंगवेणी नाम की कन्या हुए, ये चित्र कर्म में निपुण हैं ।[1]

एक ब्रह्मवादी मुनि जावालि थे । एक योगी से उन्होंने कृष्णपूजा की विधि सीखी । पतिभाव से श्रीकृष्ण की उपासना की । एक पैर से खड़े होकर उन्होंने अत्यन्त दुष्कर तप किया । परम भाव से उन्होंने श्रीकृष्ण का ध्यान किया जो विचित्र गतिलीला से व्रज की वीथियों में विचरण करते थे । उनके मधुर पदविन्यास से नूपुरों की मधुर ध्वनि होती थी । अधरों से अधरों का चुम्बन करते हुए, मनोज्ञ कलालापों से व्रजरामाओं के तन और मन दोनों का वे श्रीकृष्ण हरण करने वाले थे, नीवी-बंधन श्लथ कर वे व्रजयुवतियों का आलिंगन करते थे । दिव्य माल्यांबरधारी और दिव्य गंधानुलेपन करने वाले वे श्रीकृष्ण अपनी श्यामल तनुकांति से तीनों लोकों को जीतने वाले थे । इस प्रकार उस जगदुपास्य की उन्होंने उपासना की । अन्त में नौ कल्पों के पश्चात् वे गोकुल में प्रचंड नामक गोप की चित्रगंधा नाम की कन्या के रूप में उत्पन्न हुए । वे अपने अंग की दिव्य विविध गंधों से दशों दिशाओं को मुग्ध करती थीं ।[2]

यस्याः पृष्ठतले दिव्यं व्यजनं परिदृश्यते ।। १३ ।।

पद्म-पुराण, पाताल खण्ड, अध्याय ७२

[1] हरिधामाभिधानस्तु कश्चिदासीन्महामुनिः ।। १३ ।।
सोऽप्यतप्यत्तपः कृच्छ्रं नित्यं पत्रैकभोजनम्,
आशुसिद्धिकरं मंत्रं विंशत्यर्णं प्रजप्तवान् ।। १४ ।।
ततो दशाक्षरं पश्चान्नमोयुक्तं स्मरादिकम्,
दध्यौ वृन्दावनेरम्ये माधवी मंडपं प्रभुम् ।। १६ ।।
स मुनिश्च बहून्देहांस्त्यक्त्वा कल्पत्रयान्तरे ।। १९ ।।
सा रंगनाम्नो गोपस्य कन्याभूच्छुभलक्षणा,
रंगवेणीतिविख्याता निपुणा चित्रकर्मणि ।। २० ।।

पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७२

[2] ब्रह्मवादी मुनिः कश्चिज्जावालिरिति विश्रुतः ।। २१ ।।

कुशध्वज नामक ब्रह्मर्षि के दो सुपुत्र थे, जिनके नाम थे शुचिश्रवा और सुवर्ण। उन्होंने ऊर्ध्वपाद हो कर घोर तप किया। 'ह्रीं हं स' के पुट से उन्होंने त्र्यक्षर मंत्र का जप किया। गोकुल में दस वर्ष के बालक कंदर्प के समान रूप वाले श्रीकृष्ण का ध्यान किया। वे दोनों सुवीर नामक गोप की कन्या हुए, जिनके हाथों में सारिकाएँ सुशोभित हैं।[1]

जटिल, जङ्घपूत (जंजपूक), घृताशी और कर्बु ये चार निस्पृह ऋषि भी अत्यन्त धन्य हैं, जिन्होंने केवल भाव के द्वारा ही श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त किया। उन्होंने जल में खड़े होकर तप किया। तीन कल्प के उपरान्त वे शुभलक्षणा रमणियों के रूप में गोकुल में उत्पन्न हुए।[2]

पतित्वाचरणे तस्याः कृष्णोपासाविधिं शुभम् ॥ ३४ ॥
ततोऽतिदुश्चरं चक्रे तपोविस्मयकारकम्,
एकपादस्थितः सूर्यं निर्निमेषं विलोकयन् ॥ ३६ ॥
दध्यौ परमभावेन कृष्णमानंदरूपिणम् ॥ ३७ ॥
चरंतं व्रजवीथीषु विचित्रगतिलीलया,
ललितैः पादविन्यासैः क्वणयन्तं च नूपुरम् ॥ ३८ ॥
श्यामलाङ्गप्रभापूरैर्मोहयंतं जगत्त्रयम्,
स एवं बहुदेवेन समुपास्य जगत्पतिम् ॥ ४२ ॥
नवकल्पान्तरे जाता गोकुले दिव्यरूपिणी,
कन्या प्रचंडनाम्नस्तु गोपस्यातियशस्विनः ॥ ४३ ॥
चित्रगंधेति विख्याता कुमारी च शुभानना,
निजांगगन्धैर्विविधैर्मोदयन्ती दिशोदशः ॥ ४४ ॥

पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७२

[1] मुनिः शुचिश्रवा नाम सुवर्णो नाम चापरः ।
कुशध्वजस्य ब्रह्मर्षे पुत्रौ तौ वेदपारगौ ॥ ५५ ॥
ऊर्ध्वपादौ तपो घोरं तेपतुस्त्र्यक्षरं मनुम् ।
ह्रीं हं स इति कृत्वैव जपंतौ यत मानसौ ॥ ५६ ॥
ध्यायन्तौ गोकुले कृष्णं बालकं दशवार्षिकम् ।
कंदर्पसमरूपेण तारुण्यललितेन च ॥ ५७ ॥
सुवीरनामगोपस्य सुते परमशोभने ।
ययोर्हस्ते प्रदृश्येते सारिके शुभरागिणि ॥ ५९ ॥

पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७२

[2] जटिलोर्जंघपूतश्च घृताशीकर्बुरेव च ।

पूर्व कल्प में दीर्घतपा मुनि व्यास हुए। उनके पुत्र शुक नाम से प्रसिद्ध हैं। शुक ने साधना कर श्रीकृष्ण का प्रियात्व प्राप्त किया। श्रीहरि ने उन प्रिया-रूप से कहा तुम मेरी प्रियतमा हो, सदैव मेरे ही पास रहो।[1]

श्वेतकेतु का पुत्र वेदवेदांग में पारग था, सब कुछ त्याग कर उसने भी तप किया। वह दो कल्प पश्चात् गोकुल में गोपी रूप में उत्पन्न हुआ।[2]

चंद्रप्रभ नामक एक राजर्षि थे। श्रीकृष्ण की कृपा से उनके पुत्र हुआ। पुत्र का नाम चित्रध्वज रखा गया। वह वचपन से ही वैष्णव था। राजा ने अपने पुत्र को बारह वर्ष का हो जाने पर ब्राह्मणों से अष्टादशाक्षर मंत्र दिलवा दिया। मंत्राभिषिक्त जलों से अभिसिक्त होकर उस शिशु ने पिता को प्रेम-पूर्वक प्रणाम किया और श्वेत वस्त्र धारण कर लिये। वह उपासना करने लगा, स्वप्न में उसने सुन्दरियों से निषेवित श्रीकृष्ण का दर्शन किया। चुम्बनाश्लेषादि को देखकर वह सलज्ज आनतमुख हो गया। तब श्रीकृष्ण ने सुन्दरियों को आज्ञा दी कि वे उसको आत्मस्वरूपवत् कर लें। ऐसा ही किया गया। श्रीकृष्ण ने उसके साथ विहार किया और उसका नाम चित्रकला रखा। चित्रध्वज पुनः जब प्रबुद्ध हुआ तो उस आनन्द का स्मरण कर बहुत रोने लगा। कल्प

चत्वारो मुनयो धन्या इहामुत्र च निःस्पृहाः ॥ ६० ॥
केवलेनैवभावेन प्रपन्ना वल्लवीपतिम्।
तेपुस्ते सलिले मग्ना जपंतो मनुमेव च ॥ ६१ ॥
कल्पत्रयांते जातास्ते गोकुले शुभलक्षणाः ॥ ६४ ॥

पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७२

यह प्रसंग 'कालिका तंत्र' और 'संमोहन तंत्र' में भी उद्धृत है।

[1] मुनिर्दीर्घतपा नाम व्यासोऽभूत् पूर्वकल्पके ॥ ६६ ॥
तत्पुत्रशुक इत्येव मुनिः ख्यातोवरः सुधीः ॥ ६७ ॥
उवाच तं प्रियारूपं लब्धवन्तं शुकं हरिः।
त्वं मे प्रियतमा भद्रे सदा तिष्ठ ममांतिके ॥ ७५ ॥

पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७२

[2] श्वेतकेतोः सुतः कश्चिद् वेदवेदांगपारगः।
सर्वमेव परित्यज्य प्रचंडं तप आस्थितः ॥ ८७ ॥
सोऽपि कल्पद्वयेनैव सिद्धोऽत्र जनिमाप्तवान् ॥ ९१ ॥
सेयं बालायते पुत्री कृशांगी कुड्मलस्तनी।

पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अध्याय ७२

के अन्त में शरीर छोड़कर वह महामुनि वीरगुप्त नामक गोप की दुहिता चित्रकला हुआ, जिनके स्कन्ध पर सप्तस्वरविभूषिता विपंची सुशोभित है ।[1]

---

[1] आसीच्चंद्रप्रभो नाम राजर्षिः प्रियदर्शनः ।
तस्य कृष्णप्रसादेन पुत्रोभून्मधुराकृतिः ।।
चित्रध्वज इति ख्यातः कौमारावधि वैष्णवः ।
स राजा स्वसुतं सौम्यं सुस्थिरं द्वादशाब्दिकम् ।।
आदेशयर्न् द्विजान् मंत्रं परमष्टादशाक्षरम् ।
अभिषिच्यमानः स शिशुर्मन्त्रामृतमयैर्जलैः ।।
तत्क्षणे भूपति प्रेम्णा नत्वोदश्रुप्रकल्पितः ।
तस्मिन्दिने स वै वालः शुचिवस्त्रधरः शुचिः ।।
अथाप परमां विद्यां स्वप्नं च समपश्यत ।
आसीत्कृष्णप्रतिकृतिः पुरतस्तस्य शोभना ।।
दक्षसव्यगताभ्यां च सुन्दरीभ्यां निषेविताम् ।
वर्धयन्तीं तयोः कामं चुम्बनाश्लेषणादिभिः ।।
दृष्ट्वा चित्रध्वजः कृष्णं तादृग्वेषविलासिनम् ।
अवनम्य शिरस्तस्मै पुरोलज्जितमानसः ।।
अथोवाच हरिर्दक्षः पार्श्वगां प्रेयसीं हसन् ।
सलज्जं परमं चैनं स्वशरीरासनागतम् ।।
निर्म्मायात्मसमं दिव्ययुवतीरूपमद्भुतम् ।
चिन्तयस्वशरीरेण ह्यभेदं मृगलोचने ।।
चित्रध्वजां त्रपाभंगिस्मितशोभां मनोहराम् ।
प्रेम्णा गृहीत्वा करयोः सा तामपहरन्मुदा ।।
अथ प्रीत्योपगूढ़ा सा कृष्णेनानन्दमूर्तिना ।
यावत्सुखाम्बुधौ पूर्णस्तावदेवावबुध्यतः ।
चित्रध्वजो महाप्रेमविह्वलः स्मरतत्परः ।।
तमेव परमानन्दं मुक्तकण्ठोरुरोद ह ।
कल्पान्ते देहमुत्सृज्य तपसैव महामुनिः ।।
वीरगुप्ताभिधानस्य गोपस्य दुहिता शुभा ।
जाता चित्रकलेत्येव यस्याः स्कन्धे मनोहरा ।।

इसी प्रकार पुण्यश्रवा मुनि अंत में लवंगा नामक गोपी हुए।[1] और भी अनेक मुनियों के विषय में ऐसे उल्लेख यहां प्राप्त होते हैं।

पद्म-पुराण, पाताल खण्ड के ७४ वें अध्याय में अर्जुन के गोपी होने की कथा भी विस्तार से वर्णित है। अर्जुन ने भगवान् से उनकी रहस्यलीला के दर्शन करने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार अर्जुन ने अधिष्ठात्री देवी की अर्चना की, तत्काल उसे दिव्यलोक की प्रतीति हुई। यहां गोलोक का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। सहस्रों सखियां वहां विचरण कर रहीं थीं। अर्जुन भी सखी रूप होगया, तभी उसने नित्य-वृन्दावन में युगल के दर्शन किये। बाद में उसे भी भगवान् के साथ पूर्ण संयोग रस का अनुभव हुआ। उस अर्जुनी नाम की सखी को मदनावेश से विह्वल देखकर हृषीकेश हरि ने वनान्तर में ले जाकर यथाकाम रमण किया :—

समालोक्यार्जुनीयाऽसौमदनावेशविह्वला।
ततस्तां च तथाज्ञात्वा हृषीकेशोऽपि सर्ववित्।
तस्याः पाणिं गृहीत्वैव सर्वक्रीड़ा वनान्तरे।
यथाकामं रहो रेमे महायोगेश्वरो विभुः[2]॥

इसी खण्ड में आगे ७५ वें अध्याय में नारद जी के सखीभाव की प्राप्ति की विस्तृत कथा है। उन्होंने भी श्रीकृष्णलीला के गोलोक धाम को देखने की इच्छा प्रकट की। आज्ञानुसार सरोवर में स्नान करने पर उन्हें गोपी-रूप मिला और भगवान् के दिव्यलोक का दर्शन हुआ। गोलोक का अत्यन्त दिव्य वर्णन इस अध्याय में भी किया गया है। सखियों से नारद का परिचय भी हुआ है और अंत में उनके साथ भी भगवान् ने रमण किया। श्रीराधा के पूछने पर श्रीकृष्ण ने बताया कि ये मेरी नारदरूपा प्रकृति हैं। बाद में पुनः श्रीकृष्ण की आज्ञा से सरोवर में स्नान कर उन्होंने अपने नारद-

---

विपंची दृश्यते नित्यं सप्तस्वरभूषिता॥
पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अ० ७२, श्लोक ९५ से १२६ तक।

[1] देखिये, वही अध्याय, श्लोक १२८ से १५२ तक।

[2] पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७४, श्लोक १९०, १९१। संपूर्ण अध्याय पठनीय है।

रूप को प्राप्त किया।[1] श्रीकृष्ण, राधा और ललिता देवी के तात्त्विक रूप की भी व्याख्या यहां विस्तार से की गई है।[2]

इसी के ७७ वें अध्याय में श्रुतियों द्वारा गोपी-देह-प्राप्ति के उल्लेख हैं। इस ग्रंथ में स्पष्ट रूप से सखीभाव अथवा गोपीभाव धारण का उपदेश दिया गया है।

यह उपदेश है कि श्रीराधाकृष्ण की अहर्निश सेवा सखीभाव से ही करनी चाहिये :—

कृष्णप्रिया सखीभावं समाश्रित्य प्रयत्नतः
तयोः सेवां प्रकुर्वीत दिवानक्तमतन्द्रितः।[3]

इस ग्रंथ के अनुसार श्रीकृष्ण की स्वयं प्रतिज्ञा है कि मैं गोपीभाव के अतिरिक्त अन्य किसी भाव से प्राप्त नहीं हो सकता :—

सकृदावां प्रपन्नो य उपास्ते त्यक्तसाधनः
गोपीभावेन देवेश स मामेति न चेतरः॥[4]

वृहद्वामन पुराण में भी श्रुतियों की गोपीत्व-प्राप्ति की बात कही गई है।

---

[1] केवलं सच्चिदानन्दः स्वयं योषिन्मयं प्रभुः॥ ४०॥
योषिदानन्द हृदयो दृष्ट्वा मां प्राब्रवीन्मुहुः॥
समागच्छ प्रिये कान्ते भवत्या मां परिरंभय॥ ४१॥
रेमे वर्षप्रमाणेन तत्र चैव द्विजोत्तम।
तदोक्तं रमणेशेन तां देवीं राधिकां प्रति॥ ४२॥
इयं मे प्रकृतिस्तत्र चासीन्नारद रूपधृत्॥ ४३॥
ततो निमज्जनादेव नारदोऽहमुपागत॥ ५०॥
पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अध्याय, ७५

[2] अहं च ललितादेवी राधिकाया च गीयते।
अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः।
सत्यं योषित्स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी।
अहं च ललितादेवी पुंरूपाकृष्णविग्रहा।॥
पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अध्याय, ७५, श्लोक ४४–४६

[3] पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अध्याय ८२, श्लोक ४९

[4] पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अध्याय ८२, श्लोक ८२

इसे भी गौड़ीय गोस्वामियों ने अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है,[1] श्री ध्रुवदास जी ने भी 'वृहद्वामन पुराण की भाषा-लीला' में श्रुतिकन्याओं का उल्लेख किया है :—

और तियनि में गनहु जिन, ये श्रुति कन्या आहि।
कियौ अधीन पिय साँवरौ, प्रेम चितवनी जाहि॥[2]

निगमों ने कान्ताभाव से श्रीकृष्ण की प्रार्थना की और वे गोपीस्वरूप बने, यह भी यहां कहा गया है :—

निगमनि सोच विचार के यह ठहराई चित्त।
भजन ताहि कौ कीजिये, इकरस रहै जु निंत्त।
काम वासना बढ़ी उर, यह उपजी अति आइ।
खेलैं ऐसे रूप संग वनिता को तन पाइ॥[3]

महाकूर्म पुराण में सनकादिकों द्वारा भी स्त्रीभाव से वासुदेव की उपासना का वर्णन मिलता है :—

अग्निपुत्राः महात्मानस्तपसास्त्रीत्वमापिरे।
भर्तारं च जगद्योनिं वसुदेवात्मजं विभुम्॥[4]

राधाकृष्ण की रासलीला को देखने के लिये शिव द्वारा गोपीवेश धारण करने की बात भी पुराण में आई है। पार्वती द्वारा अनुमोदित शिव गोपी-रूप धारण कर रासक्षेत्र वंशीवट पर पहुँचे। तब श्रीकृष्ण ने कहा—'आओ गोपीश्वर,' श्रीकृष्ण ने उन्हें पहचान लिया। तभी से शिव गोपीश्वर कहलाये :—

---

[1] कन्दर्प कोटि लावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि न।
कामिनीभावमासाद्यस्मरक्षुब्धान्यसंश्रयम्।
यथा तल्लोकवासिन्यः कामतत्वेन गोपिकाः॥
भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनिनस्तथा।
श्रीकृष्णवाक्यम्
दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः।
मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हसि॥
उज्वलनीलमणि, पृ० ६६, ६७ टीका में उद्धृत

[2] वृहद्वामन पुरान की भाषा लीला, बयालीस लीला, पृ० ४१

[3] वृहद्वामन पुरान की भाषा लीला, बयालीस लीला, पृ० ४१

[4] हरिभक्ति रसामृत सिंधु, पूर्व विभाग, लहरी २, पृ० ९८ पर उद्धृत।

रहस्ये क्रीडनं वीक्ष्य श्रुत्वा च पार्वतीरितम् ।
वेशात्मानं वंचयित्वा शिवो गोपीश्वरोऽभवत् ॥[१]

विभिन्न तंत्रों में भी सखी-भाव की साधना का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। 'कृष्णयामल' में कहा गया है कि निस्पृह सखीभाव द्वारा ही युगल की सेवा का अधिकार प्राप्त होता है :—

युग्मपूजाधिकारीस्यात्सखीभावार्थं निःस्पृहः ।[२]

सनत्कुमारों ने भी कहा है कि राधाकृष्ण की पूजा में सखीभाव ही समर्थ है :—

ध्यानाधिकारोऽशक्तस्य सर्वेषां तु च सर्वतः ।
राधाकृष्णपूजने वै सखीभावो हि सर्वकृत् ॥[3]

श्रीनारद के वचन हैं कि राधाकृष्ण की सेवा सखीभाव से ही करनी चाहिये :—

विधित्सेत सर्वसेवासुभयो कृष्णराधयोः ।
भवेत्सखीभावनो हि सर्वकर्मणि स प्रभुः ॥
संभूय युवतीभावो भावनयैव मानसे ।
श्रीमत्योः कृष्णराधयोः परमं धाम चिन्तयेत् ॥[४]

श्रीनारद के सखीतनु धारण की बात पुनः 'सम्मोहन तंत्र' में दुहराई गई है :—

इमास्ता पुरतो रम्याः उपविष्टा नतभ्रुव ।
वृन्दायूथे हि भावयेन्नारदं च सखीतनुम् ॥[५]

रास-सर्वस्वकार राधाकृष्णदास ने 'गौतमीय तंत्र' से सखीभाव संबंधी राधाकृष्ण की पूजा के श्लोक उद्धृत किये हैं।[६] 'गौतमीय तंत्र' के कुछ संस्करणों में ये श्लोक मिलते हैं, परंतु कुछ संस्करणों में ऐसे श्लोक ठीक इसी रूप में पूरे-पूरे नहीं मिलते। इन श्लोकों में सखी-भाव की उपासना का पूरा रूप खिल रहा है।

---

[१] राधा रहस्य प्रकाशिका, संकलयिता हंसदास, वृन्दावन, पृ० १ पर उद्धृत।

[२] राधा रहस्य प्रकाशिका में कृष्ण यामल से उद्धृत, पृ० ४

[३] वही, कृष्णयामल से उद्धृत, पृ० ४

[४] वही, कृष्णयामल से उद्धृत, पृ० ४

[५] वही, सम्मोहन तन्त्र से उद्धृत, पृ० ४

[६] रास सर्वस्व, राधाकृष्णदास, पृ० २६

'रुद्रयामल ग्रंथ' भी इस संबंध में द्रष्टव्य है। वहां भी सखीभाव उपासना की पद्धति पूर्ण रूप से वर्णित है। इसके अनुसार अपने और गुरु दोनों को सखी-रूप में प्रातःकाल उपासना के लिए स्मरण करना चाहिये :—

तलो इष्ट गुरुं ध्यात्वा शिरसा प्रणमेन्मुहुः।
आत्मानं च गुरुं चापि सखी रूपं पुनःस्मरेत् ॥[1]

सखी-भाव के विना राधाकृष्ण के स्मरण, गुणकीर्तन अथवा पूजन में अन्य किसी का भी अधिकार नहीं है :—

सखीभावं विना नैव स्मरणे गुणकीर्तने।
पूजने वा तयोर्देवि कथंचिदधिकारिता ॥[2]

समस्त यामल इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

'सनत्कुमार संहिता' सखीभाव का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। युगल ध्यान, वृन्दावन का वर्णन तथा उपासना के अन्य विस्तार इसमें विद्यमान हैं। ब्रह्म संहिता, वृहद्गौतमीय तंत्र, आदि अन्य ऐसे अनेक तंत्र हैं, जिनमें सखीभाव की उपासना का दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है।

इन समस्त ग्रंथों का काल-निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है, इनमें से कुछ तो अवश्य ही भक्तिकाल के आरंभ में निर्मित हुए हैं परंतु इनमें से अधिकांश ऐसे भी हैं, जिनका निर्माण सखीभाव की उपासना के प्रचार के वाद हुआ है। अनेक ग्रंथों में प्रक्षिप्त अंश भी वाद में जोड़े गये हैं। इस वात का अनुमान किया जा सकता है कि स्वामी हरिदास जी द्वारा सखीभाव की उपासना प्रचारित होने के पश्चात् भी इस प्रकार के ग्रंथ अधिकाधिक लिखे गये। परंतु एक वात स्पष्ट है कि इन ग्रंथों में अभिव्यक्त सखीभाव का रूप बहुत कुछ तांत्रिक है, जब कि स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय में तंत्र-पद्धति को कोई महत्व नहीं दिया जाता। उनका सखीभाव विधि-विधान से परे केवल भाव-जगत् की वस्तु है। इन ग्रंथों के उद्धरणों से हम सखीभाव की साधना के विस्तार का अनुमान कर सकते हैं। सखी-संप्रदाय के रूप और इन ग्रंथों के सखीभाव का अंतर इस ग्रंथ के उपास्य तत्व का विवेचन पढ़कर समझा जा सकता है।

* * *

---

[1] रुद्रयामल में पार्वती जी का कथन, श्लोक ४ [2] वही, श्लोक सं० ६

द्वितीय अध्याय

सखीभाव की उपासना की पृष्ठभूमि और उपादान

सखीभाव को ही उपासना का एकमात्र मार्ग मान कर चलने वाले संप्रदायों की स्थापना का काल विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्धं है। वस्तुतः सखी-संप्रदाय के उद्भव का समय सं० १५६५ के लगभग मानना उपयुक्त होगा, क्योंकि उस समय तक सखीभावोपासना के प्रमुख प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी वृन्दावन आ चुके थे और उनके चारों ओर उपासकों का समूह भी एकत्र होने लगा था।[1] श्री राधावल्लभ संप्रदाय की स्थापना कुछ वर्ष उपरान्त अर्थात् सं० १५९१ वि० में हुई। श्री हित हरिवंश जी का प्रथम वृन्दावन-आगमन-काल १५९० वि० है और उन्होंने श्री राधावल्लभ जी का प्रथम पाटोत्सव सं० १५९१ वि० में ही किया।[2]

वैष्णव-साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि स्वामी हरिदास और श्री हित हरिवंश जी की विलक्षण प्रेममयी उपासना-पद्धति का प्रभाव बहुत शीघ्र ही अन्य संप्रदायों पर दिखाई देने लगा। सखीभाव की विचार-पद्धति ने बहुत शीघ्र ही अपनी जड़ें जमा लीं। इस उपासना के प्रसार में जो इतनी शीघ्रता हुई, उसका एक प्रबल कारण यह ज्ञात होता है कि उस समय का भक्ति-आन्दोलन कदाचित् ऐकान्तिक प्रेम के निगूढ़तम मर्म को ढूंढ़ने में लगा था और वह उसे सखीभाव के रूप में प्राप्त हुआ। सभी संप्रदायों में भक्ति-भावना के इस साम्य का कारण भी भक्ति-आन्दोलन की भूमिका में देखा जा सकता है। इस भूमिका का ही स्पष्ट दर्शन कराना हमारा लक्ष्य है।

भक्ति के विकास पर लिखने वाले विद्वानों ने अपने ग्रंथों और प्रबंधों में वैदिक काल से लेकर भक्तिकाल तक का स्वरूप-दर्शन कराया है।[3] हम यहां इतने विस्तार में जाना आवश्यक नहीं समझते, हमारी दृष्टि में सोलहवीं

---

[1] प्रस्तुत निबंध का द्वितीय भाग, द्वितीय अध्याय देखिये।

[2] राधावल्लभसंप्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक पृ० १११

[3] देखिये, भक्ति का विकास, डॉ० मुंशीराम शर्मा तथा उन्हीं का भारतीय साधना और सूर साहित्य आदि।

शताब्दी से पूर्व की चार पांच शताब्दियों का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन ही इस भूमिका को स्पष्ट कर सकता है।

आलोच्य चार-पांच शताब्दियों में उत्तर भारत की जो राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दशा थी, उसने सखीभाव के स्वरूप-विकास में पर्याप्त योगदान किया है। पृष्ठभूमि के रूप में इन्हीं परिस्थितियों को देखना उचित होगा। साथ ही इस काल में जो विभिन्न विचारक, उपासक एवं शास्त्रज्ञ हुए हैं, उनकी विचारधाराओं और चिन्तनशैलियों से पुष्ट होकर सखीभाव को अपना शास्त्रीय रूप प्राप्त हुआ है। इन तत्वों का अध्ययन भी सखीभाव के उपादान-तत्वों के रूप में किया जा सकता है। सखीभाव की सिद्धि में जो भावात्मक और प्रतिक्रियात्मक अंश हैं, उनके अध्ययन के लिए भी इस काल का विशिष्ट परिचय अपेक्षित है।

जिस युग पर विचार करने हम जा रहे हैं, उस युग का एक निश्चित नाम हमारे पास नहीं है। यदि हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन पर दृष्टिपात करें, तो हमारा आलोच्य समय वीर-गाथा-काल के साथ भक्तिकाल का पूर्वभाग जोड़ने पर आता है। परंतु वीर-गाथा-काल अथवा चारण-काल नाम हिन्दी-साहित्य के रचित ग्रंथों अथवा उनके कर्ताओं के नाम के कारण भले ही ठीक हो, भारतीय धर्म-साधनाओं की प्रवृत्ति की सूचना हमें इससे नहीं मिलती। कुछ विद्वानों ने अंगरेजी के मिडिल एजेज (४७६ ई० से १५५३ ई० तक) के आधार पर इस विस्तृत काल को मध्ययुग कहा है।[1] परंतु यह मापदंड भी भारतीय जीवन की इस काल की मनोवृत्ति, साधना और चिन्तन को भली भांति स्पष्ट नहीं करता। जिन लोगों ने भारतीय धर्म-साधना एवं तत्संबंधित रचनाओं के आधार पर विचार किया है, उन विद्वानों ने ग्यारहवीं शती के बाद के इस युग को 'टीका काल'[2] अथवा 'निबंध ग्रंथों की परंपरा' का युग कहा है।[3] परंतु वैष्णव धर्म की विशेष दृष्टि से देखने पर इस युग को हमारी सम्मति में 'चतुस्संप्रदायोद्भवकाल' कहना अधिक उचित होगा। विद्वानों के अनुसार श्री रामानुज का जन्म सं० १०७४ है,[4] मध्व का

---

[1] मध्यकालीन धर्म साधना, डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, प्रयाग, पृ० १०

[2] हिन्दी साहित्य, डा० द्विवेदी, १९५५, पृ० १००

[3] हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० द्विवेदी, पृ० १२

[4] भागवत संप्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २०३

जन्म सं० १२५६[1] और निम्बार्क का १२१९ के[2] लगभग माना जाता है। विद्वानों का विश्वास है कि विष्णुस्वामी भी इसी युग की विभूति थे। डा० भाण्डारकर इनका समय तेरहवीं शताब्दी का आरंभिक काल मानते हैं।[3] श्री सुशील कुमार दे ने इन चारों संप्रदायों को १२ वीं शताब्दी के आसपास उत्थित माना है।[4] शंकराचार्य के मायावाद के निराकरण में खड़े होकर वैष्णवों के इन चारों संप्रदायों ने उत्साहपूर्वक जनता में भक्ति का प्रचार किया। इन संप्रदायों द्वारा प्रचारित जीवन-पद्धति और साधना के भावों ने अपने अपने ढंग से सखीभाव की आधारभूमि निर्मित की है। इसीलिए इस काल का विशेष महत्व है। परंतु इन संप्रदायों की भक्ति-पद्धति देखने से पूर्व हम भक्ति-केन्द्र मथुरा-वृन्दावन के विशिष्ट संदर्भ में उत्तर भारत की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति का अध्ययन करेंगे।

राजनीतिक परिस्थिति

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि भक्ति-आन्दोलन के मूल में राजनीतिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योग है। इस्लाम के आक्रमण और राज्य-स्थापना ने हिन्दुओं को हताश कर दिया था और ऐसी जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या हो सकता था।[5] दूसरी ओर आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का दावा है कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है।[6] दोनों वक्तव्यों में समन्वय की

---

[1] वही, पृ० २२१ [2] वैष्णविज्म शैविज्म आदि, भांडारकर, पृ० ८७

[3] भागवत संप्रदाय पृ० ३६८ पर टिप्पणी सहित उद्धृत

४. This must have led to a vigorous revival of Vaishnavism in the subsequent centuries, and about the 12th century A. D. we have four Sampradayas or schools of thought in which the Vaishnava movement divided itself. These are the well known Sri, Brahma, Rudra and Sanakadi Sampradyas associated respectively with the name of Ramanuja, Madhva, Vishnuswami and Nimbark. 'Early history of Vaishnava Faith and Movement in Bengal', Dr. S. K. Dey, Calcutta p 2.

[5] हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल जी, पृ० ७२

[6] हिन्दी साहित्य की भूमिका, द्विवेदी जी, पृ० २

गुंजाइश है, फिर चाहे वास्तविक मान्यता रुपये में आधी-आधी हो या बारह आने, चार आने।

महमूद गजनवी के आक्रमण ११ वीं शती के प्रथम चरण में आरंभ हुए थे। निस्संदेह उत्तर-भारत के राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन को इन्होंने एकबारगी भारी ठेस पहुंचायी थी। मंदिरों को तहस-नहस करके लाखों को तलवार की धार उतार कर महमूद ने जिस इस्लामी जोश का आदर्श आक्रमणकारियों के सम्मुख रखा, वह एक प्रकार से विदेशी आक्रान्ताओं और शासकों का बहुत समय तक सामान्य आचार बना रहा। महमूद गजनवी ने सं० १०७४ में मथुरा के सुप्रसिद्ध केशवदेव के विशाल मंदिर को ध्वस्त कर दिया।[1] महाराज कूलचन्द्र ने उसकी रक्षा में अपने प्राण दे दिये परंतु वे उस दुर्भाग्य को रोक न सके।[2] वैष्णवों के इस प्रधान केन्द्र को ध्वस्त कर महमूद ने वैष्णवों को अवश्य ही फिर से सोचने के लिए प्रेरित किया होगा।

उत्तर भारत के राजाओं में एकता का अभाव था। इस प्रदेश में उस समय कोई भी ऐसा विशिष्ट व्यक्तित्व संपन्न धार्मिक पुरुष न था, जो राजाओं को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाकर एकत्र कर सकता। परिणामतः वीरता होते हुए भी निरन्तर पराजयों का मुख ही उन राजाओं को देखना पड़ा। शहाबुद्दीन गोरी द्वारा तराइन की लड़ाई में पृथ्वीराज की मृत्यु हुई और कुतुबुद्दीन एबक को भारत का प्रशासन मिला। वि० सं० १२६३ से लेकर सं० १५८३ वि० तक दिल्ली को राजधानी बना कर गुलाम वंश (१२६३ से १३४७ वि०), खिलजी वंश (१३४७ से १३७७ वि०), तुगलक वंश (१३७७ वि० से १४७० वि०), सैयद वंश (१४७० से १५०८ वि०) तथा लोदी वंश (१५०८ से १५८३ वि० तक) ने शासन किया।[3] मथुरा क्षेत्र दिल्ली के साथ ही लगता है, अतः इन शासकों का प्रायः मथुरा पर भी अधिकार रहा और समय समय पर वे उसका विध्वंस करते रहे। यह इतिहास एक प्रकार से लूटमार, भय, कष्ट, ध्वंस और मृत्यु से भरा है। अलाउद्दीन ने मथुरा में मंदिरों के स्थानों पर मसजिदें बनवाईं[4]। सिकन्दर लोदी ने विजयपाल द्वारा पुनर्निर्मित केशवदेव

---

[1] ब्रज का इतिहास, श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, मथुरा, पृ० १२९

[2] देखिये, जन्मभूमि, लेखक का काव्यग्रंथ, प्रका० मथुरा २००९, पृ०४३-४४

[3] भारतीय इतिहास से संकलित

[4] ब्रज का इतिहास, श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, मथुरा, पृ० १३८

के विशाल मंदिर को पुनः गिरवा दिया। मंदिर पूरी तरह नष्ट कर दिये गये। मूर्तियां तोड़ कर कसाइयों को, मांस तौलने के लिये दे दी गईं। हिन्दू अपने बाल और दाढ़ी नहीं मुड़वा सकते थे। किसी भी प्रकार का धार्मिक कृत्य करने से वे वंचित कर दिये गये थे, यहां तक कि यमुना-स्नान करना भी उनके लिये निषिद्ध था[1]। हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट करना तथा मूर्तियों को तोड़ना तो सभी सुलतानों ने एक नियम सा बना लिया था[2]।

इन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव धर्म और जीवन पर पड़ना आवश्यक था। धर्म का मूल रूप इस समय आत्म-रक्षात्मक रहा। विधि-विधानों के पालन पर प्रतिबंध होने के कारण प्रतिक्रियास्वरूप उनका महत्व बढ़ गया। स्मृतियों, निबंध-ग्रंथों एवं संप्रदायों ने धार्मिक जनता को आचारों में कस दिया। वैष्णव-जीवन में जो अनेक विधि-निषेध हैं, वे इस युग के प्रतिबंधों के आत्मिक विरोध के प्रतीक हैं। मन्दिर यद्यपि नित्य टूटते थे परन्तु जनता की भावना उनके प्रति दृढ़ ही होती जाती थी। तात्पर्य यह है कि इस विरोध में धार्मिक जीवन और अधिक संगठित हो रहा था और उस समय के लिए आकुल था जब उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हो सके। अकबर के राज्यकाल में समय मिलते ही मंदिर-स्थापना एवं व्यवस्था के रूप में उसने अपने आपको बहुत थोडे ही समय में पूर्ण प्रकट कर लिया। हमारा विश्वास है कि हिन्दुओं का मूर्ति-पूजा एवं बाह्य आचारों के प्रति जो आग्रह था, वह इन अत्याचारों के कारण बढ़ा ही, घटा नहीं।

तत्कालीन राजनीतिक भय और निराशा से बचने के लिये भारतीय विचारकों और धर्मगुरुओं ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर संबंध के स्थान पर व्यक्ति और भगवान् के संबंध पर अधिक बल दिया। इससे हर व्यक्ति अपने आप में सुदृढ़ बना रहा। संसार दुःखों से भरा है, इसका अनुभव उस विदेशी प्रभुत्व के काल में पूर्णतया होता था। अतः भगवान् के साथ निजी संबंध की भावना ने ऐकांतिक प्रेम-धर्म को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया। उपासक भाव-क्षेत्र में भगवान्

---

[1] हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि मोहम्मडन पावर इन इण्डिया, ब्रिग्ज, भाग १, पृ० ५८९

[2] दिल्ली सल्तनत, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृ० ३६८

के उस दिव्य वैकुंठ धाम का दर्शन कर सकता था, जिसके समक्ष संसार की बड़ी से बड़ी सत्ताएं तुच्छ थीं। ऐसे साधकों के सम्मुख न राज्य का लोभ कुछ वस्तु थी, न उसका भय। वे निर्द्वन्द्व हो अपनी अन्तस्साधनाओं की सिद्धि में लगे थे। इन्हीं साधनाओं में भगवान् से सामीप्य की भावना रखने वाले भक्तों के भाव-जगत में सखीभाव की आवश्यक भूमिका पल्लवित हो रही थी।

विचित्र बात यह है कि जिस वर्ष (१०७४ सं०) महमूद गजनवी ने मथुरा का प्रसिद्ध कृष्ण-जन्म-भूमि मन्दिर तोड़ा, उसी वर्ष मन्दिरों के रक्षक, भक्ति-आन्दोलन के प्रथम आचार्य रामानुज का जन्म हुआ। पठान-वंश का शासक सिकन्दर लोदी, जो वैष्णव धर्म के लिए सबसे अधिक घातक बादशाह सिद्ध हुआ, उसी के समय के आसपास भारतीय धर्म के रक्षक अनेक महात्माओं का जन्म हुआ। सिकन्दर लोदी ने सं० १५४६ से १५७४ तक शासन किया[१]। इसी के निकट महाप्रभु वल्लभाचार्य (सं० १५३५)[२], और उनके प्रिय शिष्य सूरदास (१५३५)[३], कुंभनदास (१५२५)[४], परमानन्ददास (१५५०)[५] तथा कृष्णदास ने (१५५२)[६] में जन्म लिया। श्री चैतन्य महाप्रभु सं० १५४२ में अवतरित हुए[७]। उनके पार्षद श्री सनातन गोस्वामी सं० १५२८ में[८] तथा श्री रूप गोस्वामी सं० १५३४[९] में जन्मे। जीव गोस्वामी का जन्म १५७५ में[१०] हुआ। इसी बीच स्वामी हरिदासजी का जन्म सं० १५३५ में हुआ[११]। श्री हित हरिवंश जी

---

[१] सुल्तानेट आफ देहली, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृ० २६७

[२] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, भाग १, पृ० २१२

[३] वही भाग १, पृ० २१२

[४] वही भाग १, पृ० २४२

[५] वही भाग १, पृ० २२९

[६] वही भाग १, पृ० २५४

[७] श्री श्री गौड़ीय वैष्णव साहित्य, बंगला ग्रंथ, नवद्वीप, पृ० ३५

[८] वही पृ० ४६

[९] वही पृ० ४६

[१०] वही पृ० ४६

[११] देखिये, इस ग्रंथ का द्वितीय भाग द्वितीय अध्याय

१५५९ में उत्पन्न हुए[1]। हरिराम जी व्यास का जन्म सं० १५६७ है[2] तथा मीराबाई का जन्म १५५५ में हुआ[3]। ये ही नहीं सिकन्दर लोदी की जन्म और मृत्यु की तिथियों के बीच भारत के ऐसे और इतने महात्माओं का जन्म हुआ, जितने अन्य किसी काल में एक साथ शायद ही जन्मे हों। सहज आस्तिक-बुद्धि-संपन्न व्यक्ति को ऐसा लगेगा कि भगवान् ने गीता में जो 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की परिस्थिति में 'संभवामि युगे युगे' की प्रतिज्ञा की थी, उसी को पूरा करने के लिए वे अपनी अनेक शक्तियों या परिकरों के रूप में इस धर्मग्लानि के समय अवतरित हुए। यह सत्य है कि उनके इन भक्तों द्वारा साधुओं का पूर्ण परित्राण हुआ और भक्ति की पावन गंगा समस्त देश में लहरा उठी। यदि आज के वैज्ञानिक बुद्धिवादियों की भाषा में कहें तो भी कह सकते हैं जिस वस्तु का जितना अधिक दमन किया जायगा, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होगी। भक्तिकाव्य की आत्मा भले ही अपने आप में परिस्थिति-निरपेक्ष हो परन्तु यह सत्य है कि उसकी तीव्रता ने भारतीयों के हृदय से एक बार तो समस्त निराशा और भय को दूर कर आनन्द का संचार कर दिया।

प्रसिद्ध मुगल शासक अकबर इस भक्ति-आन्दोलन के प्रमुख समय में दिल्ली का बादशाह था। अन्य शासकों की अपेक्षा उसकी नीति भारतीय धर्म के प्रति उदार थी[4]। उसके राज्य-काल में हिन्दू धर्म एवं आचार-विचार बहुत कुछ आतंक से मुक्त रहे फलतः इन महापुरुषों के नेतृत्व में समस्त धर्मभाव संगठित हो गये और अपने विभिन्न रूपों द्वारा जन-कल्याण का मार्ग उन्होंने प्रस्तुत किया। प्रेम-धर्म पर आधारित भाव-साधना की पूर्णतम अभिव्यक्ति 'सखी संप्रदाय' के रूप में हुई, जिसका मूल केन्द्र दिव्य प्रेम ही था।

यह बात प्रसिद्ध है कि स्वामी हरिदास जी का दर्शन करने के लिए स्वयं सम्राट् अकबर वृन्दावन आया था। स्वामी हरिदास जी ने उसे कृपाकर

---

[1] गो० हित हरिवंश जी : संप्रदाय और साहित्य, श्री ललिताचरण गो०, पृ० ३८

[2] भक्त कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, मथुरा, पृ० ९३

[3] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, श्री परशुराम जी चतुर्वेदी, पृ० ९१

[4] दि रिलीजस पालिसी आफ दि मुगल एम्परर्स, श्रीराम शर्मा, १९४०, पृ० २७

दिव्य वृन्दावन का दर्शन कराया। अकबर ने भी बिना किसी दुराव के स्वामी हरिदास के धर्म-रूप का साक्षात्कार किया और नटनागर के दर्शन किये। विहारिनदास जी ने इस संबंध में अनेक स्थानों पर स्पष्ट संकेत दिये हैं[1]।

जो हो, राजनीतिक परिस्थिति की अकबरकालीन शान्ति ने संप्रदायों के संगठन को महत्त्वपूर्ण अवसर दिया, जिससे भक्ति लोकधर्म की संजीवनी शक्ति के रूप में व्यापक प्रसार पा सकी।

सामाजिक परिस्थिति

हिन्दू समाज की रचना की विशेषता उसकी वर्ण-व्यवस्था में निहित है। प्रारंभ में यह कर्म एवं गुण पर आधारित थी[2], परन्तु बाद में यह 'जन्मना' ही हो गई। आलोच्य शताब्दियों में जो बलात् धर्म-परिवर्तन की बाढ़ आई, उसने जातियों और उप-जातियों को और भी संगठित कर दिया। रक्षा के कोट को अभेद्य बनाने के लिए अनेक जातिगत आचारों को रूढ़ कर दिया गया। स्मृतियों ने जो व्यवस्थाएं दीं, उनका पालन आवश्यक हो गया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए नियम निर्धारित कर दिये गये। इन कठोर व्यवस्थाओं ने तात्कालिक लाभ भी दिखाया और हिन्दू जाति की रक्षा भी इनसे हुई[3]। समाज-बहिष्कार के भय से सहसा किसी को कोई धर्म या समाज-विरोधी कार्य करने का साहस न होता था परन्तु धीरे-धीरे इन रूढ़ियों का कुप्रभाव भी दिखाई देने लगा। जिन रूढ़ियों ने परकीय धर्म से समाज की रक्षा की थी, वे ही अब परस्पर विभाजक बन गईं। ऊँच-नीच के भेद और दृढ़ हो गये। वर्ण व्यवस्था के रूढ़ ढाँचे के प्रति रूढ़ बुद्धि होने के कारण समाज में निर्जीवता-सी आने लगी।

धार्मिक प्रचारकों ने भगवान् की भक्ति के दो मार्ग सुझाये, निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग। जगत् को छोड़कर भगवत्साधना और जगत में रह कर भगवत्साधना। एक कर्म और मन दोनों से निवृत्त थे, दूसरे कर्म करते हुए भी मन से निवृत्त थे। कबीर जैसे आत्म-ज्ञानियों ने समाज

---

[1] धर्मरूप अकबर प्रगट तहां न कछू दुराव,
भीतर बाहर तें लहै नटनागर को भाव ॥ साखी, बिहारिनि दासजी सं० १७६

[2] चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । श्रीमद्भगवद्गीता, ४-१३

[3] एन एडवान्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, मजूमदार, राय चौधरी, लन्दन, पृ० ४०३

को प्रवृत्तिगत रूढ़ियों से मुक्त होने का उपदेश दिया। वे सामाजिक संबंधों में आडंबर बिलकुल भी पसंद न करते थे अतः पूजा के बाह्य मंदिर आदि आधार जो अब सामाजिक जीवन के केन्द्र भी बन चुके थे, कबीर आदि द्वारा ढोंग ठहराये गये, दूसरी ओर स्मार्त पंडित उन व्यवस्थाओं को बनाये रखने का प्रस्ताव कर रहे थे। तत्कालीन समाज के मन को इस अन्तःसंघर्ष ने क्षुब्ध कर रखा था। राजनीतिक पराजय, पीड़ा और आत्मग्लानि से बचने के लिये, सामाजिक अस्तव्यस्तता, रूढ़िवाद और आदर्शहीनता से छुटकारा पाने के लिये व्याकुल जन-समाज त्राण अथवा शान्ति पाने के लिये लालायित हो उठा था। आवश्यकता थी शान्ति की, जिसके लिये अनेक धार्मिक, सामाजिक आन्दोलन हिन्दू-समाज के अन्दर खड़े हो गये थे। किसी ने रूढ़ियों को तोड़ने पर बल दिया, किसी ने उनके पालन पर, किसी ने समाज के समक्ष आदर्श पुरुष खड़ा करने की चेष्टा की, किसी ने उसके सामने पूजा-पद्धति का अम्बार लगाने का यत्न किया। यदि इसी पृष्ठभूमि में देखा जाय तो सखीभाव के उपासकों ने इस विचित्र और भयंकर परिस्थिति की नीरसता को पूर्ण सरसता में परिणत कर देने के लिये भगवदुपासना के माध्यम से अहैतुक विशुद्ध प्रेम का आदर्श जन-समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रेम-रूप का दर्शन करने के लिये एक बार जो लालायित हो उठता था वह प्रत्येक दृष्टि से अभेद्य हो जाता था। इस्लाम और अन्य कितने भी धक्के उसे कहां डिगा सकते थे? यह अहैतुक विशुद्ध प्रेम-भावना उस समय की आवश्यकता थी, इन उपासकों द्वारा किन्हीं अंशों में उसकी पूर्ति हुई।

सखीभाव के साधकों ने सामाजिक रूढ़ियों का विरोध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं किया, परंतु उन्होंने उन रूढ़ियों पर से ध्यान हटा कर भाव-शुद्धि की ओर मन लगाने का सन्देश अवश्य दिया। जिसके हृदय में प्रभु के प्रति सच्चा प्रेम है, वह यदि शूद्र भी हो तो इन लोगों के लिये किसी भी विप्र से बढ़ कर पूज्य है।[1]

सखीभाव की उपासना में भगवान् के प्रति जो संबंध-भाव है, उसकी सत्ता सामाजिक संबंधों के प्रकाश में देखी जा सकती है। प्रेम के जिस विशुद्ध रूप को यहां उपास्य बनाया गया है, उसका आरंभिक स्थल यह दृश्य जगत् ही है। जगत् के विकृत प्रेम के दुःखमय अनुभवों ने ही प्रेम के आनन्दमय रूप का दर्शन इन साधकों को कराया है। जगत् की परस्पर सामाजिक

---

[1] व्यास वाणी, साखी २०

विशृङ्खलता और विषय-प्रवृत्ति ने इन साधकों को साधना की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा और तीव्रता प्रदान की है। इस आधार से सखीभाव के साहित्य की विस्तृत विवेचना स्वतंत्र रूप से की जा सकती है, यहाँ केवल इंगित मात्र ही किया जा सका है।

धार्मिक परिस्थितियाँ

भारत के राजनीतिक संघर्ष का, जिसका अभी हमने कुछ विवरण दिया है, प्रत्यक्ष स्वरूप धार्मिक ही था। शासक और शासित का संघर्ष इस्लाम और हिन्दूधर्म का संघर्ष था। हिन्दू धर्म के अन्दर भी अनेक संप्रदाय थे, जिनमें परस्पर वैमनस्य भी था। यहाँ वैष्णव थे, शाक्त थे, शैव थे, बौद्ध धर्म के अनेक अवशिष्ट संप्रदाय भी बदले-बिखरे रूपों में चल रहे थे। कुछ सगुण-मार्गी थे, दूसरे निर्गुण-पंथी, कुछ भक्ति-मार्गी थे, कुछ ज्ञान-मार्गी, कुछ कर्म-मार्गी, कुछ हठयोगी और कुछ तांत्रिक। तात्पर्य यह है कि यहाँ विभिन्न विश्वास और साधनाएं फल-फूल रही थीं। इनमें परस्पर संघर्ष भी था और कभी-कभी परस्पर निकट आने की भावना भी देखी जाती थी।

भारत में धर्म और दर्शन का महत्वपूर्ण संबंध रहा है। वैष्णवों के अन्दर जो चार संप्रदाय उठ खड़े हुए, उनमें साधन की दृष्टि से इतनी भिन्नता नहीं थी, जितनी दार्शनिक प्रतिपादन की दृष्टि से। सखीभाव का संबंध प्रमुखतः वैष्णव-संप्रदायों से ही रहा है, अतः उत्तरी भारत में इन संप्रदायों की तत्कालीन स्थिति का विवेचन यहाँ आवश्यक होगा।

कहा जा चुका है कि दक्षिण के चार विद्वान् आचार्यों द्वारा १२वीं शताब्दी के आसपास चार वैष्णव संप्रदायों की प्रतिष्ठा हुई। इनमें रामानुज का प्रधान प्रभाव-क्षेत्र दक्षिण ही रहा। नाभा जी के अनुसार इन्हीं की परंपरा में स्वामी रामानंद जी हुए।[1] कबीर कहते हैं कि द्राविड़ में उत्पन्न भक्ति को ये ही उत्तर भारत में लाये।[2] यह बात रामानन्दीय भक्ति के संबंध में ही सत्य हो सकती है, भक्ति के व्यापक क्षेत्र के लिये नहीं, वस्तुतः भक्ति के अन्य तीन संप्रदायों का प्रारंभ से ही उत्तर भारत से संबंध रहा है। माध्व संप्रदाय का प्रचार क्षेत्र उड़ीसा और बंगाल रहा है, विष्णु स्वामी संप्रदाय का संबंध महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और पंजाब से रहा है, कांकरौली और कामवन में

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, रूपकला संस्करण पृ० २८७, २८८

[2] भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द, सत्य कबीर की साखी, १५.१

विष्णु स्वामी के मठों की चर्चा फर्कुहर ने भी की है।[1] महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि को नाभा जी ने विष्णु स्वामी मतावलम्बी बताया है[2] फिर भी आज विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अध्ययन के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। यह माना जाता है कि वल्लभाचार्य जी विष्णुस्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे परंतु उनके संप्रदाय में से भी आज विष्णुस्वामी संप्रदाय की मूलधारा का पता चलाना अत्यन्त कठिन है। वैष्णवाचार्यों में अन्तिम श्री निम्बार्क के संबंध में कहा जाता है कि उनका संबंध भी आरंभ से ही उत्तरभारत से रहा है। किंवदन्ती है कि वे ब्रज के एक स्थान 'निम्बग्राम' (आजकल नीमगांव) में आकर रहे थे तथा राधाकृष्ण की उपासना का प्रथम श्रेय भी उन्हीं को है।[3] यदि यह सत्य हो तो उत्तर भारत के वैष्णव धर्म का उस समय का रूप-दर्शन हमें इस संप्रदाय के साहित्य-विवेचन से हो सकता है। कुछ व्यक्ति सखी संप्रदाय को भी निम्बार्क संप्रदाय की ही एक शाखा मानते हैं और उनका विचार है कि सखीभाव की उपासना निम्बार्क संप्रदाय में पहले से ही चली आ रही है। परंतु हमारा निष्कर्ष उपर्युक्त तथ्यों के विपरीत है। श्री निम्बार्क न तो राधाकृष्ण के प्रथम उपासक ही थे और न सखीभाव की उपासना इस संप्रदाय में स्वामी हरिदास के प्रादुर्भाव से पूर्व विद्यमान थी। इस दृष्टि से निम्बार्क संप्रदाय पर विस्तार से विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। आगे हम इस संप्रदाय के ऐतिह्य और साहित्य पर विचार करेंगे।

निम्बार्क संप्रदाय

श्री निम्बार्क का समय

निम्बार्क संप्रदाय के श्रद्धालु अनुयायी श्री निम्बार्काचार्य का आविर्भाव-काल द्वापर के अन्त में मानते हैं,[4] जबकि आधुनिक शोधकर्ताओं ने

---

[1] एन आउटलाइन अफ़ रिलिजस लिटरेचर आफ इण्डिया, जे० एन० फर्कुहर, पृ० ३०४

[2] नाभा जी, भक्तमाल, रूप पृ० १७८

[3] स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, डॉ० गोपाल दत्त शर्मा, (अप्र०) पृ० ४३

[4] युगल शतक, भूमिका, श्री ब्रजवल्लभ शरण जी, वृन्दावन, पृ० १

उनका समय १२वीं या १३वीं शताब्दी निश्चित किया है। डा० रमा बोस उन्हें १६वीं शताब्दी के मध्य में उत्पन्न हुआ मानती हैं।[1] श्री भाण्डारकार ने उनका समय १२१९ वि० निश्चित किया है।[2] कालक्रमानुसार विचार करने से यही सं० ठीक भी बैठता है। इसका एक पुष्ट आधार यह भी है कि श्री निम्बार्काचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य २।२।११ के सूत्र पर

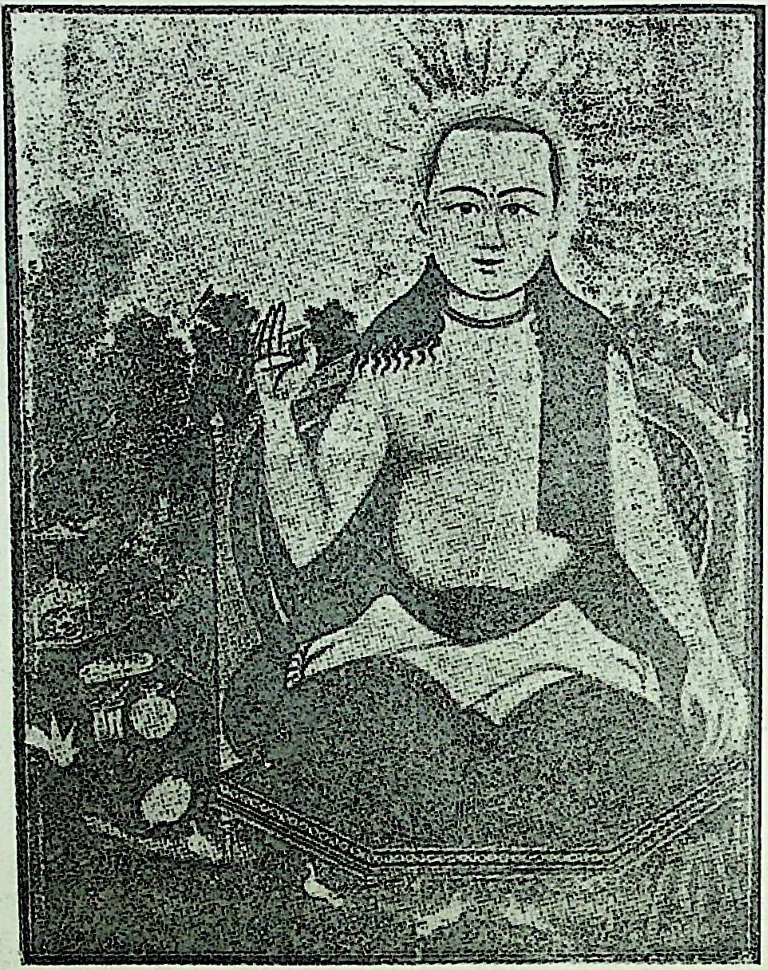

श्री निम्बार्काचार्य का सम्प्रदाय में प्रचलित चित्र

---

[1] निम्बार्क भाष्य का अंगरेजी अनुवाद, रा० ए० सोसाइटी द्वारा प्रका० ग्रं १ पृ.२

[2] वैष्णविज्म शैविज्म आदि, भांडारकर, पृ० ८७

श्री रामानुजाचार्य के भाष्य की छाया स्पष्ट है ।[1] अपना भाष्य लिखते समय निम्बार्क रामानुज से अवश्य ही परिचित थे । यही नहीं रामानुज के शक्तितत्व के अनुरूप ही निम्बार्क ने भी शक्तितत्व का विवेचन किया है ।[2] श्री बलदेव उपाध्याय निम्बार्क संप्रदाय को वैष्णव-संप्रदाय में प्राचीनतम मानते हुए भी[3] निम्बार्काचार्य को यादव (उन्हीं के अनुसार ११वीं शताब्दी का अन्तिम भाग)[4] से १७० वर्ष पश्चात् उत्पन्न माना है ।[5] इससे भी भाण्डारकर द्वारा निश्चित समय ही उपयुक्त ठहरता है । यही समय अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में मान्य है ।

श्री निम्बार्क के ग्रंथ

किसी भी विचारधारा और उसके ऐतिह्य का प्रतिपादन तत्संबंधी ग्रंथों के आधार पर होता है, अतः सर्वप्रथम इस संप्रदाय के प्रामाणिक ग्रंथों के संबंध में विचार करना ही अधिक समीचीन होगा ।

वैष्णव संप्रदायों के अध्येता जानते हैं कि प्रामाणिक आधार प्राप्त न होने पर भी प्रायः संप्रदायों के उत्साही प्रचारक विद्वानों द्वारा प्राचीन विद्वानों के न जाने कितने ग्रंथ खोज लिये जाते हैं (रच लिये जाते हैं) । रामानुज, रामानंद, मध्व, विष्णुस्वामी, निम्बार्क सभी के संप्रदायों के संबंध में यही बात है । रामानन्द संप्रदाय के संबंध में शुक्ल जी का कथन है·····"कुछ नये ग्रंथ रचे जाकर रामानंद जी के नाम से प्रसिद्ध किये गये हैं, जैसे ब्रह्मसूत्रों पर आनन्द भाष्य और भगवद्गीता भाष्य, जिनके संबंध में सावधान रहने की आवश्यकता

---

[1] 'निम्बार्काचार्य का समय' नामक लेख, ले० श्री सुदर्शन सिंह चक्र, उषा, मासिक, १९५२ अक्टूबर

[2] इस परब्रह्म श्रीकृष्ण की विविध शक्तियों के संबंध में निम्बार्क ने अपने प्रसिद्ध ब्रह्मसूत्र के भाष्य वेदान्त पारिजात सौरभ नामक ग्रंथ में जो कुछ लिखा है, वह एक प्रकार से रामानुजाचार्य के विवेचन के ही अनुरूप है···वे रामानुजाचार्य के बाद हुए थे ।
श्रीराधा का क्रम विकास, श्री शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १८०, १८१

[3] यह संप्रदाय वैष्णव संप्रदायों में प्राचीनतम प्रतीत होता है । भागवत संप्रदाय, पृ० ३१६

[4] भागवत संप्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ३३८,

[5] वही, पृ० ३३९

है।"[1] विष्णुस्वामी के संबंध में डा० स्नातक कहते हैं, "जो कुछ ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, वे भी असंदिग्ध रूप से विष्णुस्वामी रचित प्रतीत नहीं होते।"[2] यही स्थिति सर्वत्र है। इसीलिये इस प्रसंग में सावधानी से निम्बार्क संप्रदाय के ग्रंथों के अनुशीलन और उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा की आवश्यकता है। यहां विशुद्ध रूप से दार्शनिक ग्रंथों पर विचार करना उतना आवश्यक नहीं है, जितना संप्रदाय के भक्ति-भावना संबंधी ग्रंथों की आलोचना की आवश्यकता है।

श्री बलदेव जी उपाध्याय ने अपने ग्रंथ भागवत-संप्रदाय में श्रीनिम्बार्क के ५ प्राप्त और ३ अप्राप्त ग्रंथों का उल्लेख किया है। प्राप्त ग्रंथ हैं :—

१. दशश्लोकी, इसी का नाम वेदान्त कामधेनु भी है।

२. पारिजात सौरभ, ब्रह्मसूत्र का नितान्त अल्पकाय भाष्य।

३. श्रीकृष्णस्तवराज।

४. मन्त्ररहस्य षोडशी। और

५. प्रपन्न कल्पवल्ली।

उनके अप्राप्त ग्रंथ हैं...१. प्रपत्ति चिन्तामणि, २. सदाचार प्रकाश और ३. गीता वाक्यार्थ।[3]

वि० सं० १९८९ में प्रकाशित 'श्रीब्रह्मसूत्रम्' की भूमिका में निम्बार्क संप्रदाय के उत्साही प्रचारक श्री कल्याणदास ने उपर्युक्त सात नाम दिये हैं परंतु श्रीकृष्णस्तवराज के स्थान पर वहां 'प्रातःस्तवम्' और जोड़ दिया गया है। यहां सूचना दी गई है कि इनमें से केवल वेदान्त पारिजात सौरभ, दशश्लोकी और रहस्य षोडशी ही प्राप्त हैं, शेष ग्रंथ अप्राप्त हैं।[4] निम्बार्क संप्रदाय के वर्तमान विद्वान् श्री व्रजवल्लभ शरण जी ने वि० सं० २००९ में प्रकाशित 'युगल शतक' की भूमिका में श्रीनिम्बार्क के अलब्ध ग्रंथ श्री उपाध्याय जी के अनुसार ही माने हैं, परंतु उन्होंने भी कृष्णस्तवराज की जगह श्रीकृष्ण प्रातःस्मरण स्तोत्र ही रखा है। (सं० १९८९ तक ग्रंथ अलब्ध था, अब प्राप्त हो गया) हम इन्हीं ग्रंथों की थोड़ी विशद समीक्षा करना चाहते हैं।

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, शुक्ल जी, १९५७, पृ० १४४

[2] राधावल्लभ संप्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य, डा० स्नातक, पृ० ४८

[3] श्री भागवत संप्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१८, ३१९

[4] श्री ब्रह्मसूत्रम्, प्र० कल्याणदासजी, वृन्दावन, भूमिका पृ० ७

'वेदान्त पारिजात सौरभ' श्री निम्बार्क का दार्शनिक ग्रंथ है, वह निम्बार्क कृत है, ऐसा सभी विद्वानों का विश्वास है अतः निम्बार्क के अन्य ग्रंथों की तुलनात्मक समीक्षा के लिये इस ग्रंथ को आधार बनाया जा सकता है।

श्रीकृष्णस्तवराज

श्रीकृष्णस्तवराज को श्री निम्बार्क कृत ग्रंथ सर्वप्रथम पं० किशोरदास जी ने बताया था परंतु आगे चल कर ग्रंथ के तृतीय संस्करण में उन्होंने स्वयं अपनी भूल मान ली। उन्होंने लिखा है। "मैंने इस तत्त्वसुधा (श्रीकृष्णस्तवराज की व्याख्या के प्रथम श्लोक की अवतरणिका तथा १म और २य संस्करण की भूमिका में एकमात्र वर्धमान में देखी हुई उक्त व्याख्या के अनुसार ही इसको आद्याचार्य श्री भगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्र विरचित लिखा था और इस ३य संस्करण की भूमिका में भी ऐसा ही रहने दिया है। इधर इस स्तवराज का अधिकाधिक अनुशीलन, इसमें प्रतिपादित सूक्ष्म विवेचन तथा आद्याचार्यचरण विरचित सूत्र वाक्यार्थ के साथ इसके विषयों का तुलनात्मक मिलान और मनन करने से स्वयम् मैं इस सिद्धान्त पर उपनीत हुआ हूँ कि यह 'स्तवराज' श्री|आद्याचार्य विरचित नहीं है।"[1] अभी हाल में निम्बार्क संप्रदाय के प्रमुख पत्र 'सर्वेश्वर' ने इसी ग्रंथ को अनुमान से श्री विलासाचार्यकृत बता दिया है।[2] इस ग्रंथ को कहीं न कहीं 'फिट' कर लेने का आग्रह ही सर्वेश्वर का यह उल्लेख ज्ञात होता है, अन्यथा प्रमाणों का इस संबंध में अभाव ही है।

प्रपन्न कल्पवल्ली

'प्रपन्न कल्पवल्ली' २७ श्लोकों का एक छोटा सा संकलन है। इसमें ५ श्लोक गुरु द्वारा भगवच्छरणागति मंत्र-ग्रहण के विषय में हैं। २ श्लोक गुरु और भगवान् के साथ संबंध स्थापन के प्रमाण स्वरूप, २ श्लोक गीता के, १ श्लोक नारद पांचरात्र का, २ श्लोक वाल्मीकीय रामायण के, १ श्वेताश्वतर उपनिषद् का एवं शेष शरणागति मंत्र हैं। वर्तमान प्राप्त 'नारद पांचरात्र' ग्रंथ को विद्वानों ने बहुत बाद की रचना माना है।[2] यह ग्रंथ १६वीं शताब्दी की रचना प्रतीत नहीं होता। अतएव यह संकलन बाद में ही किसी समय

---

[1] सविशेष निर्विशेष कृष्णस्तवराज, पं० किशोरदास, भूमिका, पृ० ४, ५

[2] श्री सर्वेश्वर, वृन्दावन धामांक, वृन्दावन, पृ० १९६

हुआ प्रतीत होता है। इस ग्रंथ का निम्बार्क कृत होने का कोई साधक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। इस ग्रंथ पर सुन्दर भट्टाचार्य कृत 'प्रपन्न सुरतरु मंजरी सौरभ' नाम की व्याख्या का अनुवाद शुकदेव नारायण सिंह द्वारा मूल सहित सं० २००६ में प्रकाशित किया गया है।

मन्त्र रहस्य षोडशी

इस ग्रंथ में मूल के केवल १६ श्लोक ही हैं। पं० रामचन्द्र दास के अनुसार इसमें अथर्ववेदीय गोपाल अष्टादशाक्षर मंत्र के पांच पदों का विस्तृत विवरण है।[१] इस ग्रंथ के प्रकाशन का उद्देश्य भूमिका-लेखक ने बताया है कि कुछ दिनों से इस संप्रदाय में श्री भगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्रोपदिष्ट इस मूल मन्त्र की दीक्षा की अनादि प्राचीन प्रणाली लुप्तप्राय हो जाने से एक वंशगोपाल नामक कल्पित मंत्र की कल्पना डाकोर जी की छपी 'खक्खड़ी मुक्तावली' में की गई है, उसी का आश्रय लेकर वंशगोपाल मंत्र की दीक्षा की रीति इस संप्रदाय के अधिकांश रमते साधुओं में प्रचलित हो गई है,[२] उन्हीं को मंत्र का ठीक स्वरूप-ज्ञान कराने के लिये ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। परंतु इस ग्रंथ की प्रामाणिकता के संबंध में कहीं भी कुछ नहीं लिखा गया है। ऐसा कोई आधार हमारे पास नहीं है, जिससे इस ग्रंथ को असंदिग्ध रूप से निम्बार्क कृत माना जा सके।

दशश्लोकी अथवा वेदान्त कामधेनु

श्री निम्बार्क के इस ग्रंथ के आधार पर ही उन्हें राधाकृष्ण की उपासना का प्रथम प्रचारक माना जाता है। निम्बार्क संप्रदाय की भक्ति के स्वरूप के लिये भी इसी ग्रंथ को प्रमाण रूप में मानने की परंपरा इस संप्रदाय में है अतः यह ग्रंथ समीक्षा की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जहां तक ग्रंथ के कर्ता का प्रश्न है, ग्रंथ के अपने स्वरूप से तो यह ज्ञात नहीं होता कि इस का कर्ता कौन है। संप्रदाय के बाहर भी अन्य ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि इसके कर्ता श्री निम्बार्क ही हैं।

दशश्लोकी का प्राचीनतम प्रामाणिक प्राप्त उल्लेख डा० आफ्रेक्ट द्वारा संपादित 'केटेलोगस केटेलोगोरम' में मिलता है। इसका सम्पादन काल १९४८ वि० है। इसके भाग १ पृ० २९६,२९७ पर निम्बार्काचार्य (व्यक्ति

---

[१] तथा [२] श्री मंत्र रहस्य षोडशी, वृन्दावन, १९६३ भूमिका पृ० १, २, ३

अथवा संप्रदाय ?) के ग्रंथों के नाम दिये हैं। ये नाम हैं—१. कृष्णस्तवराज, २. गुरु परम्परा ३. दशश्लोकी या सिद्धान्त रत्न ४. मध्व मुखमर्दन (?) ५. वेदान्त तत्त्वबोध ६. वेदान्त पारिजात सौरभ, ७. वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप और ८. स्वधर्माध्वबोध। ये सभी ग्रंथ निम्बार्क कृत नहीं माने जाते और न हैं ही। संप्रदाय के व्यक्ति भी इनमें से केवल दशश्लोकी को ही निम्बार्क कृत मानते हैं, शेष ग्रंथों को नहीं। परंतु 'दशश्लोकी' को किस आधार पर वे निम्बार्क की रचना मानते हैं, इसका कोई पुष्ट प्रमाण उनके पास भी सर्वथा नहीं है। यहां पर 'दशश्लोकी' का दूसरा नाम "सिद्धान्त रत्न" भी दिया है, जो प्रचलित नहीं है। इसी केटेलोग के प्रथम भाग में पृ० २४८ पर और द्वितीय भाग में पृ० २०५ पर पुनः 'दशश्लोकी' या 'सिद्धान्त रत्न' को निम्बार्क के नाम पर दिया है। इस पर 'वेदान्त रत्न मंजूषा' (पुरुषोत्तमाचार्य कृत) और हरिव्यास मुनि की टीकाएं (हिन्दी में) बताई गई हैं। इन प्रतियों का समय आदि इसमें नहीं दिया गया है।

इस 'केटेलोगस केटेलोगोरम' की सभी सूचनाएं यदि सत्य होतीं तो दशश्लोकी के संबंध में भी संदेह नहीं रहता परंतु अनेक स्थानों पर जो भूलें इस सूची में मिल जाती हैं, उनके कारण हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते। एक ही ग्रंथ और एक ही व्यक्ति के परस्पर विरोधी परिचय भी इस सम्पादन में प्राप्त होते हैं। प्रथम भाग पृ० १२६, १२७ एवं १३२ पर केशव भट्ट और 'क्रम दीपिका' के संबंध में ऐसी भूलें देखी जा सकती हैं। अतः दशश्लोकी या सिद्धान्त रत्न निम्बार्क की असंदिग्ध रचना है, ऐसी धारणा इस ग्रंथ से नहीं बनती। हां, यह संभव है कि उस समय तक यह ग्रंथ श्री निम्बार्क के नाम से प्रचलित हो गया हो।

एक बात और है कि इस ग्रंथ की जिस टीका को हरिव्यास देव कृत बताया गया है, वह टीका, ग्रंथ के अनुसार, हिन्दी में न होकर संस्कृत में मिलती है। इस संस्कृत-टीका का नाम "सिद्धान्त रत्नांजलि" है। इस टीका के संबंध में निंबार्क संप्रदाय के विद्वान् पं० किशोरदास जी का कथन है कि यह ग्रंथ विवादग्रस्त है।[1] इसलिये भी उक्त संपादन पर इस संबंध में पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता।

इस ग्रंथ का विषय-वस्तु की दृष्टि से परीक्षण करना भी आवश्यक है।

---

[1] श्री आचार्य परम्परा परिचय, पं० किशोरदास, वृन्दावन, पृ० १५

रचनाकार की किसी प्रामाणिक कृति को आधार मान कर अन्य रचनाओं में उसका साम्य देखा जा सकता है। इस दृष्टि से यदि दशश्लोकी की तुलना वेदान्त पारिजात सौरभ से की जाय, तो भी निराश होना पड़ता है।

'वेदान्त पारिजात सौरभ' अथवा उनके किसी अन्य ग्रंथ में इष्टदेव राधा या कृष्ण का नाम नहीं आया है। 'वेदान्त पारिजात सौरभ' में परब्रह्म के जो अनेक नाम हैं, उनमें रमाकान्त पुरुषोत्तम ही प्रधान रूप से व्यवहृत है।[1] एकाध स्थल पर वासुदेव शब्द का प्रयोग भी है[2] परंतु कृष्ण नाम बिलकुल भी नहीं है। इधर 'दशश्लोकी' में कृष्ण ही नहीं राधा का नाम भी है और दोनों का प्रायः वही स्वरूप है, जो हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के अधिक निकट है। कोई कहे कि 'सौरभ' दर्शन-ग्रंथ है, अतः उसमें उपास्य का नाम लेना उचित नहीं समझा गया तब उन महानुभावों को श्री निवासाचार्य कृत 'वेदान्त कौस्तुभ टीका' में निस्संकोच रूप से श्रीकृष्ण के नाम का प्रयोग देखना चाहिये। परन्तु श्री राधा का नाम इस ग्रन्थ में भी नहीं है। राधा-भक्ति के उदाहरण तो इस संप्रदाय में बहुत दूर तक नहीं मिलते। सौरभ एवं अन्य समस्त ग्रंथों के साथ 'दशश्लोकी' की यह मौलिक भिन्नता भी 'दशश्लोकी' को परवर्ती रचना सिद्ध करती है।

श्री पुरुषोत्तमाचार्य कृत दशश्लोकी की विस्तृत व्याख्या वेदान्त रत्न मंजूषा, छपी हुई प्राप्त है। उसमें दशश्लोकी में प्रयुक्त राधा शब्द के विभिन्न अर्थों को देखकर और भी आश्चर्य होता है। वहां 'अंगे तु' आदि श्लोक के प्रसंग में राधा का ही अर्थ लक्ष्मी, रुक्मिणी आदि किया गया है।[3] राधा का लक्ष्मी आदि के लिये प्रयोग राधा की प्रधानता सूचित न कर लक्ष्मी आदि की ही प्रधानता सूचित करता है।

संप्रदाय के श्रद्धालु भक्त चाहे जो कहें, वर्तमान काल के जिन विचारकों ने इस ग्रन्थ के संबंध में जो अपनी सम्मतियाँ दी हैं, उनके अनुसार भी यह रचना बहुत ही आधुनिक है। विद्वद्वर डॉ० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य' में इस रचना के निर्माण-काल के संबंध में लिखा

---

[1] श्री ब्रह्मसूत्रम्, वृन्दावन, १९८९ वि० पृ० १ आदि　[2] वही, पृ० १८

[3] अंग इत्यादिना। वयमुक्तलक्षणस्याघटघटनापटुतराचिन्त्यानन्तविचित्र शक्तिमतो भगवतः श्रीकृष्णस्य वामांगेनुरूपसौभगां लक्ष्मीं रुक्मिण्याख्यां सदास्मरेम। वेदांत रत्न मंजूषा, पृ० २४२

है—"१९वीं शताब्दी में रस रूपोपासना ने संप्रदाय को बहुत अधिक प्रभावित किया, और महावाणी नामक रस ग्रंथ का निर्माण हुआ और निम्बार्काचार्य के नाम से दशश्लोकी (सिद्धान्त रत्न) नामक ग्रंथ की भी रचना हुई ।"[1] श्री द्विवेदी जी के अनुसार तो यह रचना १९वीं शताब्दी की ठहरती है, फिर इसे निम्बार्क कृत मानते चला जाना कहां तक युक्तिसंगत है, इस पर विद्वज्जन विचार कर सकते हैं ।

जो विद्वान् आग्रहपूर्वक इस १० श्लोकों की रचना को निम्बार्क कृत मानते ही हैं और इस संप्रदाय से सखी-संप्रदाय का संबंध भी जोड़ते हैं, वे सखीभाव की उपासना का बीज भी इसी रचना में मानते हैं ।[2] इस संबंध में आगे विस्तृत विवेचन करेंगे, यहां भक्तिभाव के साधक श्री सुदर्शन सिंह जी का ही उद्धरण प्रस्तुत करते हैं । उनका कथन है 'अवश्य ही दशश्लोकी में श्रीराधा-कृष्णकी वन्दना है पर उससे मधुर भाव या सखीभाव-संप्रदाय को पोषण मिले, ऐसा कोई बीज उसमें नहीं है ।"[3]

प्रातःस्तव

श्री निम्बार्काचार्य के नाम से संबंधित 'प्रातःस्तव' का उल्लेख अभी हाल में ही होना आरंभ हुआ है । रसोपासना की दृष्टि से यह रचना 'दशश्लोकी' से भी अधिक मधुर भाव का पोषण करती है परंतु जब 'दशश्लोकी' ही श्री निम्बार्क के मूल ग्रंथों के साथ मेल नहीं खाती, तब इसकी तो चर्चा ही दूर है । यह रचना सखीभाव के पूर्ण प्रचार के पश्चात् लिखी गई ज्ञात होती है ।

श्री निम्बार्क के ग्रंथों के उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनका 'वेदान्त पारिजात सौरभ' ही एकमात्र प्रामाणिक ग्रंथ हो सकता है । अतः वे युगल उपासना के आदि प्रचारक न होकर द्वैताद्वैत-दर्शनवादी और वैधी भक्ति के पोषक ही माने जा सकते हैं । श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का भी यही मत है ।[4]

मधुर भक्ति के वास्तविक स्रोतों को ढूंढ़ने के लिये हमें इस संप्रदाय के

---

[1] हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, सं० १९५२ पृ०१९८, १९९

[2] स्वामी हरिदास का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, डॉ० गोपालदत्त शर्मा (अप्रकाशित) पृ० ४३

[3] उषा, मासिक, अक्तूबर, १९५२ में निबन्ध,

[4] हिन्दी साहित्य, द्विवेदी जी, पृ० १९८, १९९

अन्य ग्रंथों को भी देखना चाहिये। इस संप्रदाय के प्रमुख भक्ति-ग्रंथों की समीक्षा इसी दृष्टि से आगे की जा रही है।

लघुस्तवराज

श्री निवासाचार्य श्रीनिम्बार्क के शिष्य माने जाते हैं। 'लघुस्तवराज' इन्हीं की रचना बताई जाती है। परंतु इस रचना के नाम से ही ज्ञात होता है कि इस का नामकरण ही निम्बार्क के स्तवराज के अनुकरण पर हुआ है। श्रीकृष्णस्तवराज को जब संप्रदाय के विद्वान् ही निम्बार्क कृत नहीं मानते तो इसका भी श्री निवासाचार्य कृत होना संभव नहीं दिखाई देता। 'वेदान्त कौस्तुभ' के अतिरिक्त और कोई इनका ग्रंथ प्राप्त नहीं है।[1]

श्री निम्बार्क विक्रान्ति

यह ग्रंथ निम्बार्क के द्वितीय शिष्य औदुम्बराचार्य की रचना कहा जाता है। पहली बात तो यह है कि औदुम्बराचार्य कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं ज्ञात होते। दूसरे इस रचना में जो अनेक असंभव घटनाएं ऐतिह्य रूप में लिखी गई हैं, वे भी इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करती हैं। उदाहरण के लिये इसमें लेखक अपने लिये कहता है कि उसकी उत्पत्ति गूलर के फूल से हुई है,[2] तो इस रचना को प्रामाणिक मानने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

अन्य ग्रन्थ

'श्री आचार्य परंपरा परिचय' नामक पुस्तिका से हमें निम्बार्क संप्रदाय के आचार्यों के नाम और उनके ग्रंथों की सूची प्राप्त होती है। श्री पुरुषोत्तमाचार्य जो परंपरा में निम्बार्क से चौथे हैं, उनके पश्चात् ३०वें आचार्य केशव काश्मीरि भट्ट ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के निर्माता हैं, ऐसा जान पड़ता है। परंतु उनके ग्रंथों का विवेचन करने से पूर्व किन्हीं सदानन्द भट्टार्य प्रणीत 'निम्बार्काष्टोत्तर शतनाम' नामक ग्रंथ की चर्चा आवश्यक जान पड़ती है। इसमें विस्तार से श्रीनिम्बार्क का गुणगान किया है। जब हमने इस ग्रंथ को ध्यान से देखा तो ज्ञात हुआ कि यह ग्रंथ पूरी तरह से श्रीवल्लभाचार्य जी के सुपुत्र विट्ठलनाथ जी द्वारा रचित 'सर्वोत्तम स्तोत्र' की प्रायः दूसरी प्रति है।

---

[1] आचार्य परंपरा परिचय, पं० किशोरदास, वृन्दावन, पृ० ६

[2] श्रीनिम्बार्क विक्रान्ति, श्लोक ९०, ९१

उक्त दोनों ग्रंथ बहुत थोड़े परिवर्तन से आद्योपान्त एक हैं और सबसे बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि इस पर श्री हरिव्यास देव कृत 'प्रेम विवर्द्धिनी' टीका भी मिलती है। यह ग्रंथ अपने मूल रूप में लेखक के पास मुद्रित तथा हस्तलिखित दोनों रूपों में सुरक्षित है और निश्चित रूप से विट्ठलनाथ जी की ही सर्वमान्य रचना है।[1] अतः यह बात निश्चय रूप से कही जा सकती है कि 'निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम' और उसकी टीका दोनों ही मूल रूप में निम्बार्क संप्रदाय के ग्रंथ नहीं हैं, अपितु दोनों ही अप्रामाणिक रचनाओं के सुंदर उदाहरण हैं। इस ग्रन्थ की नकल में श्लोकों का क्रम भी बिलकुल वही है, यद्यपि श्लोकों की संख्या बदली हुई है। एक विशेष बात यह और है कि रचना में जो विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, वे श्री वल्लभाचार्य जी के लिये तो ठीक हैं, परंतु निम्बार्कानुयायियों के अनुसार ही श्री निम्बार्क के लिये वे ठीक नहीं हैं। नीचे हम कुछ श्लोक दोनों से उद्धृत कर रहे हैं, जिनका मिलान विज्ञ पाठक स्वयं कर लें।

सर्वोत्तम स्तोत्र

श्रीभागवत पीयूषसमुद्रमथनक्षमः।
तत्सारभूत् रासस्त्रीभावपूरित विग्रहः॥ १६॥
सान्निध्यमात्रदत्त श्रीकृष्ण प्रेमाविमुक्तिदः।
रासलीलैकतात्पर्यं कृपयैतत्कथाप्रदः॥ १७॥
स्वकीर्तिवर्धनस्तत्र सूत्रभाष्यप्रदर्शकः।
मायावादाख्यतूलाग्निर्ब्रह्मवाद निरूपकः॥ ३१॥

निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम

श्रीभागवत तात्पर्यं समुद्रमथने क्षमः।
वेदान्तसारवाक् सिन्धुतर्पिताखिल सेवकः॥ ११॥
सामीप्यभक्तदत्त श्रीकृष्णप्रेमाखिलेष्टदः।
कृष्णक्रीडारतो नित्यं दययैतत्कथाप्रदः॥ १२॥
स्वकीर्ति गीताभाष्येन्दुर्वेदभाष्यप्रदर्शकः।
मायावादाख्यतूलाग्निः कृष्णवाक्य निरूपकः॥ २६॥

निम्बार्क संप्रदाय के भक्त श्री निम्बार्क को श्री शंकराचार्य से पूर्ववर्ती मानते हैं, फिर वे शंकर के मायावाद (?) के तूल के लिये अग्नि के समान कैसे हो गये? वस्तुतः यह ऐसी नकल है, जो नहीं होनी चाहिये परंतु संप्रदाय के मोह में आकर जो सभी जगह की जाती है। संपूर्ण ग्रंथ इसी प्रकार उद्धरणीय है।

---

[1] देखिये 'केटेलोगस, केटेलोगोरम्' डा० आफ्रेक्ट, भाग २, पृ० १६८ तथा अन्य ग्रंथ

क्रम-दीपिका

केशव काश्मीरि भट्ट निम्बार्क संप्रदाय के प्रभावशाली आचार्य थे। उनके वनाये अनेक दर्शन ग्रंथ संप्रदाय के सिद्धान्त के लिये महत्वपूर्ण हैं। उनके दर्शन-ग्रंथों के अतिरिक्त पूजा-पद्धति का एक ग्रंथ 'क्रम-दीपिका' माना जाता है। इस क्रम-दीपिका ग्रंथ का प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस से हो चुका है। यह आठ पटलों में प्रकाशित है और इस पर श्री गोविन्द भट्टाचार्य कृत टीका भी संलग्न है।

परंतु यह क्रम-दीपिका ग्रन्थ हमें ज्यों का त्यों 'नारद पांचरात्र' के कलेवर में भी प्राप्त है। ऐसा ज्ञात होता है कि क्रम-दीपिका स्वतंत्र ग्रंथ न होकर 'नारद पांचरात्र' का ही एक भाग है। हम कह चुके हैं कि वर्तमान प्राप्त नारद पांचरात्र की प्राचीनता में हमें भी संदेह है परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ श्री केशव काश्मीरि भट्ट के समय में भी था या नहीं। जो हो, क्रम-दीपिका में सांप्रदायिक नियमानुसार गुरू-वन्दना आदि का अभाव देखकर यही शंका होती है कि यह ग्रंथ किसी दूसरे ग्रंथ का भाग तो नहीं है।

सिद्धान्त रत्नाञ्जलि

श्री हरिव्यास जी लिखित ग्रंथों की संख्या 'आचार्य परंपरा परिचय' में ५ वताई गई है। ये ग्रंथ हैं…१. सिद्धान्त रत्नाञ्जलि, दशश्लोकी की बृहद् टीका, २. निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम स्तोत्र की प्रेम विवर्द्धिनी नाम की टीका। ३. तत्वार्थ पंचक। ४. महावाणी और ५. पंच संस्कार निरूपणम्।[1]

इनमें से निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम का जाली ग्रंथ होना हम पिछले पृष्ठ में सिद्ध कर चुके हैं अतः उसकी यह टीका भी उसी कोटि में मानी जायगी। इनके अन्य ग्रंथों में दो ही विशेष महत्वपूर्ण हैं, 'सिद्धान्त रत्नाञ्जलि' और महावाणी। 'महावाणी' रस-ग्रंथ है, जिसके संबंध में विस्तृत विवेचन हम आगे ग्रंथ के द्वितीय भाग में करेंगे। यहां 'सिद्धान्त रत्नाञ्जलि' पर ही थोड़ा विचार किया जाता है।

'सिद्धान्त रत्नाञ्जलि' सिद्धान्त-ग्रंथ है और महावाणी रस-ग्रंथ। महावाणी में उपासना का चरम लक्ष्य सखीभाव की प्राप्ति है परंतु सिद्धान्त रत्नाञ्जलि में सखीभाव की चर्चा भी नहीं है। दोनों ग्रंथों में भक्ति के दो क्षेत्र अलग-

---

[1] श्री आचार्य परंपरा परिचय, पं० किशोरदास, वृन्दावन, पृ० १५, १६

अलग दिखाई देते हैं। इस ग्रंथ के रस-विवेचन पर श्री रूप गोस्वामी के भक्ति रसामृत सिंधु और उज्ज्वल नीलमणि की छाया स्पष्ट है। इस ग्रंथ के परवर्ती होने के प्रमाण इस ग्रंथ के अन्दर ही मिल जाते हैं। इसमें लिखा गया है कि 'गुरुओं का निरूपण करते हैं, जिनमें १२ आचार्य हैं, १८ भट्ट हैं और दास, देव आदि अनेक हैं।'[1] आचार्य–परंपरा के ही अनुसार १२ आचार्य देवाचार्य तक होते हैं और १८ भट्ट श्रीभट्ट तक। देव तो हरिव्यास जी ही सर्वप्रथम गिने जाते हैं और दासों की परंपरा तो परवर्ती है ही। तब अनेक दास–देवों से परिचित ग्रंथ का लेखक अवश्य ही हरिव्यास देव जी से बहुत परवर्ती कोई व्यक्ति है।

यहां तक हमने निंबार्क संप्रदाय के कुछ उन विशिष्ट ग्रंथों की समीक्षा की है, जिन पर निंबार्क संप्रदाय का भक्ति-भाव प्रतिष्ठित है परंतु इनमें से अधिकांश ग्रंथ संदिग्ध हैं। इस संप्रदाय में ही नहीं अन्यत्र भी ऐसी काट-छांट बहुत हुई है कि स्वमतानुकूल ग्रंथों का पूर्वजों के नाम पर निर्माण किया गया है और स्वमत-विरोधी तथ्यों को नोंच कर फेंक देने का प्रयत्न किया गया है। भक्तमाल की प्रियादास जी कृत प्रसिद्ध टीका में से निम्बार्क संप्रदाय के अनुयायियों ने श्री केशव भट्ट जी के ४ कवित्तों को उनकी हीनता का द्योतक मान कर निकाल दिया है। श्री रूपकला जी ने अपने संस्करण में इस बात पर स्पष्ट नोट दिया है।[2]

वास्तव में निम्बार्क संप्रदाय भी अन्य वैष्णव संप्रदायों की भांति एक दर्शन-प्रधान संप्रदाय ही था। इनकी भक्ति का रूप अधिकतर आचार-प्रधान ही रहा है। पूजा में तन्त्र-मन्त्रादि का प्रयोग, मुद्राओं का धारण, व्रत, उपवास, तीर्थ आदि की मर्यादाओं को मानते हुए ये भी चले थे। श्री निंबार्क संप्रदाय में वैधी भक्ति का रूप ही प्राचीन है। श्रीकृष्ण की रागानुगा मार्ग से उपासना इस संप्रदाय में बहुत परवर्ती है। श्रीराधा की उपासना इस संप्रदाय में सखीभाव की उपासना के प्रवर्तन के आस-पास के समय में

---

[1] अथान्वितो गुरुर्निरूप्यते द्वादशाचार्याः भट्टास्त्वष्टादशविधाः-दास देवादय-कस्त्वनेकधाः, ये कलौ भविष्यन्ति तेभ्यो यत्सकर्मशिक्षितं मूलविटप-दृष्टान्तेन कृष्णाय निवेदयेत्। सिद्धान्तरत्नाञ्जलि, हंसदास, ४८, पृ० २८१

[2] श्री केशव भट्ट के अनुयायियों ने कवित्त ८३३ से ८३६ तक के चार कवित्त निकाल दिये हैं। भक्तमाल, रूपकला संस्करण, पृ० ५६८

ही प्रारंभ हुई होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इस संप्रदाय में सखीभाव की उपासना का प्रचार स्वामी हरिदास जी के समय में ही हुआ है।

सांप्रदायिक क्षेत्रों से बाहर जो विद्वान् और भक्त थे, उनकी रचनाओं में विशेष रूप से सखीभाव-संबंधी सामग्री संकलित हो रही थी। उनके ही ग्रंथ इस भाव की भूमिका प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जिनका निश्चित रचना-काल तो नहीं दिया जा सकता परंतु वे इसी समय की रचनाएं हैं। इसमें से बहुत से साहित्य को १६वीं शताब्दी के वैष्णवाचार्यों ने अपना आधार बनाया है। ऐसे ग्रंथों का हम निम्नलिखित वर्गीकरण कर सकते हैं:—

१. भक्ति-ग्रंथ (इनमें पुराण भी सम्मिलित हैं।)
२. तंत्र-ग्रंथ
३. साहित्यिक ग्रंथ
४. काम-शास्त्र

दर्शन, भक्ति, तंत्र, साहित्य और कामशास्त्र इन सभी ने, भक्तिकाल में पूर्ण विकास धारण करने वाली, माधुर्य भाव की भक्ति पर आंशिक प्रभाव डाला है। अनेक पुराणों, उप-पुराणों एवं महापुराणों की रचना इसी युग में हुई और उन्होंने भक्ति भाव को सर्वाधिक प्रश्रय दिया। विभिन्न संहिताएं, उपसंहिताएं और बृहत् संहिताएं इसी काल में रची गईं, जिन्होंने भक्ति के साधन-प्रकार को सुदृढ़ किया। हम देखेंगे कि सखीभाव का स्वरूप अनेक अंशों में इन साधनाओं का आधार लेकर विकसित हुआ है। साहित्य में तो राधाकृष्ण पनपे ही हैं, उससे जिस लीला-भेद का निर्माण हुआ है, वही भक्तिकाल का उपजीव्य है। एक विशिष्ट प्रेम तत्त्व को लेकर साहित्य के माध्यम से ही राधा-कृष्ण का आविर्भाव साधना-क्षेत्र में हुआ है, ऐसी विद्वानों की दृढ़ धारणा है। काम-शास्त्र का आंशिक आधार भी इन लीलाओं में महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त ग्रंथों को आधार बना कर सखीभाव के उपादान तत्वों पर हम आगे विचार करने जा रहे हैं। हमारी दृष्टि में इन ग्रंथों के आधार पर भक्ति के जो दो प्रमुख परंतु सूक्ष्म भेद 'कान्ता-भाव' और 'सखीभाव' उत्थित हुए, उनकी संक्षिप्त विकास की रूपरेखा सर्वप्रथम प्रस्तुत करना चाहते हैं। इस युग की भक्ति का आधार है—भगवान का लीलातत्त्व। बिना लीलातत्त्व को समझे, इस भाव के स्वरूप को हृदयंगम करना संभव नहीं है, अतः

लीलातत्व पर विचार करना आवश्यक है। तत्पश्चात् तंत्र, साहित्य और कामशास्त्र संबंधी ग्रंथों की समालोचना कर उनमें सखीभाव के आधारभूत अंशों पर विचार किया जायगा। यही सब सखीभाव की पृष्ठभूमि और उपादान-तत्त्व हैं।

माधुर्य भाव की भक्ति

प्रथम प्रवाह

अपने इष्टदेव के प्रति उपासक की रति ही भक्ति है। यही रति उपासक के विभिन्न भावों का रूप धारण कर विविध होती है। दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव इस एक ही रति के विभिन्न रूप हैं। परन्तु रतिभाव का सम्पूर्ण आस्वादन माधुर्यभाव के अन्तर्गत ही सम्भव है। लोक में जो प्रबलतम आकर्षण काम पर आधारित रति के रूप में पति-पत्नी के सम्बन्ध में देखा जाता है, वह लोक की अत्यधिक आकर्षक वस्तु है। इसी लौकिक काम को दिव्य रूपान्तरित कर उसे उसी तीव्रता से प्रभु में नियोजित किया जाता है। भावुक मन ने सर्वत्र ही इस माधुर्य के भाव को अपनी उपासना की चरमावस्था में स्वीकृत किया है। विश्व के सभी धर्मों में माधुर्य भाव का यह स्वरूप पाया जाता है। पुराने कैथोलिक ईसाई भक्तों की साधना में भी यही माधुर्य भाव है। आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने लिखा है—"जिस प्रकार सूफी ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में करते थे, उसी प्रकार स्पेन, इटली आदि देशों के भक्त भी। जिस प्रकार सूफी हाल की दशा में उस माशूक से भीतर ही भीतर मिला करते थे, उसी प्रकार पुराने ईसाई भक्त-साधक भी दुलहनें बनकर उस दूल्हे से मिलने के लिये अपने अन्तर्देश में कई खण्डों के रङ्ग-महल तैयार किया करते थे। ईश्वर की पति-रूप में उपासना करने वाली सैफो, सेंट टेरेसा आदि कई भक्तिनें योरोप में हुई हैं[1]।

माधुर्य भाव के 'मादन' और 'माधुर्य' ये दो भेद भी कुछ विद्वानों ने किये हैं। श्री चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार ईश्वर को पत्नी मान कर पति भाव से की जानेवाली भक्ति को 'मादन' और उन्हें पति मान कर कान्ताभाव से की जानेवाली उपासना को 'माधुर्य' भाव कहा जाता है[2]। सूफियों में अधिकांश मादन भाव की उपासना है तथा भारतीय भक्तों में प्रायः माधुर्यभाव की ही

---

[1] जायसी ग्रन्थावली, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १५८

[2] तसव्वुफ अथवा सूफीमत, श्री चन्द्रबली पाण्डेय, पृ० ११५

उपासना पाई जाती है। माधुर्य भावोपासकों में वैष्णवों का स्थान सब से आगे आता है।

यों तो श्री कृष्ण के परम नयनाभिराम रूप के आलंबनत्व में प्रतिष्ठित होने पर ही माधुर्य भक्ति का पूर्ण रूप प्रस्फुटित हुआ है किन्तु मानव चित्त की यह स्वाभाविक भगवत्सम्बन्धी रति आदि काल से ही इस सम्बन्ध की स्थापना के लिये लालायित रही है। वैदिक काल में उपासकों को प्रभु का आत्मीय रूप स्पष्ट दिखाई दिया था और उन्होंने उस प्रभु से माता, पिता, पुत्र, बन्धु आदि के अनेक सम्बन्ध स्थापित किये थे। इन उपास्य सम्बन्धों में ही माधुर्य भाव अथवा कान्तासक्ति के उदाहरण हमें वेदों में प्राप्त हो जाते हैं।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में उपासक द्वारा अपनी वृत्तियों को प्रभु में विलीन कर देने के लिये, पति-पत्नी के बीच में रहने वाली भावना को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है :—

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उषतीरनूषत।
परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यंनशुन्ध्युमघवानमूतये[1]।

अर्थात् सुख का ज्ञान रखनेवाली, एक ही मार्ग में बढ़ने वाली प्रभु-प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियां आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं और जैसे स्त्रियाँ अपने पति का आलिङ्गन करती हैं, वैसे ही मेरी बुद्धियाँ ऐश्वर्यशाली पवित्र प्रभु का स्वरक्षा के लिये आलिङ्गन करती हैं।

एक और मन्त्र में यही कामना प्रकट की गई है।

सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्य दद्रुः॥
पतिं न पत्नीरुशती रुशन्तं स्पृशन्ति त्वां शव सावस्मनीषाः[2]।

अर्थात्, हे दर्शनीय देव, सनातनत्व की अभिलाषिणी और तुम्हारे अन्दर बस जाने की कामना करनेवाली मेरी बुद्धियाँ नवीन स्तोत्रों और नमन के द्वारा तुम्हारी ओर दौड़ रही हैं। हे सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु, ये बुद्धियाँ तुम्हारा वैसा ही स्पर्श करना चाहती हैं, जैसे कामनाशील पत्नी कामना युक्त पति का स्पर्श करती है[3]।

---

[1] ऋग्वेद १०. ४३. १. [2] वही, १. ६२. ११

[3] इन दोनों मन्त्रों के अर्थ डा० मुंशी रामजी शर्मा के अनुसार दिये गये हैं। देखिये उनका ग्रन्थ, भक्ति का विकास, पृ० १६३

इन वैदिक मन्त्रों में निश्चित ही माधुर्य भाव की तीव्रता व्यञ्जित होती है। ये तन्मयता के सुन्दर उदाहरण हैं।

उपनिषदों में देवविषयक पति-पत्नी-भाव के उदाहरण भरे पड़े हैं। इन ग्रन्थों में ऋषियों ने काम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए जगत् की उत्पत्ति उसी काम से मानी है[1]। उपासक पुरुष की उपास्य आत्मा के साथ काम की यही तीव्र अनुभूति निम्नलिखित मन्त्र में अभिव्यक्त की गई है :—

'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्[2]।'

—जिस प्रकार प्रिया से आलिङ्गन पाने पर व्यक्ति को न बाहर का ज्ञान रहता है, न अन्तर का, उसी प्रकार पुरुष परमात्मा से संयुक्त होकर न बाहर का ज्ञान रखता है, न अन्तर का।

उपनिषदों में मधुविद्या आदि के प्रकरणों में इन भावों के अनेक संकेत मिलते हैं। उपनिषद्रूपी गायों का साररूपी दुग्ध गीतामृत है।[3] श्रीमद्भगवद्गीता में पिता, पुत्र, सखा आदि के साथ ही उपासना के भावों में प्रिया-प्रिय के संबंध-भाव को भी स्थान दिया गया है :—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥[4]

—हे प्रणम्य, हे स्तुत्य, मैं अपने शरीर को आपके समर्पित कर प्रसन्न होने के लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव, जिस प्रकार पिता पुत्र को, सखा सखा को, और प्रिय प्रिया को सहन करता है, उसी प्रकार आप भी योग्य हैं।

वेद और उपनिषदों में माधुर्य भाव का बीज मिलता है परंतु पुराणों में उस भाव का साकार रूप भी खड़ा किया गया है। श्रीमद्भागवत में वृत्रासुर द्वारा की गई प्रभु-प्रार्थना में प्रिय-प्रिया की प्रीति का भी दृष्टान्त मिलता है :—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेवाध्युषितं विषण्णा मनोरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥[5]

अर्थात्, जिस प्रकार अजातपक्ष खगशावक माता को देखने के लिये

---

[1] तैत्तिरीय० २, ६. [2] बृहदारण्यकोपनिषद् ४. ३. २१

[3] सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ महाभारत, भीष्म पर्व

[4] श्रीमद्भगवद्गीता ११.४ [5] श्रीमद्भागवत ६.११.२६

उत्सुक रहते हैं, जिस प्रकार क्षुधार्त वत्स मातृस्तन्य के लिये लालायित रहता है, जिस प्रकार प्रिया-प्रिय के आलिंगन के लिये विषण्ण रहती है, उसी प्रकार हे अरविन्दाक्ष, मेरा मन भी सदैव आपके प्रति उत्सुक रहे।

ऐसे स्थल भागवत में अनेक हैं परंतु श्रीमद्भागवत की विशेषता इस पति-पत्नी भाव को गोपी-भक्ति के रूप में साकार खड़ा कर देने में है। भागवतकार ने गोपिकाओं के प्रेम का ही भाव-विभोर होकर गान किया है। यह निश्चित रूप से वैष्णव-धर्म के लिये एक महत्वपूर्ण घटना है। प्रेम के इस साकार रूप से लोक में मानो प्रेम का संबंध केवल उदाहरण न रह कर वास्तविकता में परिणत होने लगा; अप्रस्तुत न रहकर प्रस्तुत होने लगा। रतिभाव की पूर्ण परिणति हम श्रीमद्भागवत के रास-पंचाध्यायी-प्रसंग में देखते हैं।

शरद की शर्वरी में मुरली बजा कर गोपियों को वंशीवट पर बुला कर जब श्रीकृष्ण ने उनकी परीक्षा लेने के लिये लोक—धर्म का उपदेश दिया, तब गोपियों ने श्रीकृष्ण की जो प्रार्थना की, उसमें केवल लौकिक नायक के प्रति कामना मात्र नहीं है अपितु वह स्पष्ट ही भक्ति का रूप है और कान्ताभक्ति का सुंदर उदाहरण है। गोपियों के इस निवेदन में भक्त की भावना और कान्ताओं की आसक्ति युगपत् अभिव्यक्त हुई है। गोपियां कहती हैं :—

"हे धर्मविद् ! आपने जो कहा कि पति, पुत्र और बंधुओं की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म है, वह उपदेश आपके ही विषय में रहे, क्योंकि समस्त देहधारियों के प्रियतम बंधु और आत्मा तो आप ही हैं।"[1]

"हे अम्बुजाक्ष ! जिस समय लक्ष्मी जी को विष्णुरूप में कभी-कभी आनन्दित करने वाले आपके चरणों को हमने स्पर्श किया है और बनवासी तपस्वियों के प्रिय आपने हमें आनन्दित किया है, तभी से हमारे लिये अन्यत्र ठहरना कठिन हो गया है।"[2]

---

[1] य़त्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल वन्धुरात्मा॥
श्रीमद्भागवत १०.२९.३२

[2] यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमता वत पारयामः॥
श्रीमद्भागवत १०.२९.३६

"देवताओं की रक्षा करने वाले आप आदि पुरुष परमात्मा ही ब्रजमण्डल का भय और दुःख दूर करने के लिये प्रकट हुए हैं।"[1]

इन गोपियों ने अपना पति श्रीकृष्ण को ही माना था। वे श्रीकृष्ण की परम प्रेयसी थीं। महारास के प्रसंग में उनका यह चिर प्रेयसीत्व स्पष्ट हो जाता है। ये सभी भगवान् की शक्तिरूपा थीं, ऐसा भागवतकार का संकेत ज्ञात होता है।[2]

प्रेम-रस-माधुरी का प्रस्फुटन भागवत में पूर्ण रूप से हुआ है। अन्य पुराणों पर भी भागवत का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने में आता है। स्कन्द पुराण में प्रभास क्षेत्र में आईं षोडश सहस्र गोपियों के संबंध में कहा गया है कि वे श्रीकृष्णस्वरूपिणी हैं। उन्हीं की कलाएं हैं, उन्हीं की शक्तियां हैं।[3] अन्य पुराणों में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं। भागवत ने कान्ताभक्ति के रूप में गोपियों को आदर्श बनाया, वह साधना क्षेत्र के लिये सतत उदाहरण बन कर प्रतिष्ठित हो गया। भक्ति सूत्र में 'यथा व्रज-गोपिकानाम्' के रूप में इसी बात की घोषणा की गई है।[4] यह भी द्रष्टव्य है कि ये गोपियां परकीया थीं अतः आगे चलकर चैतन्य, सहजिया आदि संप्रदायों में परकीया भाव की उपासना भी यहीं से प्रेरणा लेकर चली। इस दृष्टि से भागवत का वैष्णव संप्रदायों पर पूर्ण प्रभाव है।

दक्षिण के साधकों में कई आळवार भक्त कान्ताभाव के उपासक हुए हैं। आंदाल ने कहा है—'…अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।'[5] प्रो० हूपर ने इन भक्तों की भावना को भागवत के अनुकूल ही ठहराया है।[6]

हमारे अलोच्य काल में भक्ति-साधना इन्हीं संस्कारों को लेकर पल्लवित हो रही थी। सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के भक्त प्रेमाभक्ति के माध्यम से उपासना करते थे। ईश्वर के सगुण-रूप में गृहीत होने पर ही संबंध-भाव की वास्तविक

---

[1] श्रीमद्भागवत १०.२९.४१ [2] श्रीमद्भागवत १०.३२.१०

[3] तस्यैताः शक्तयो देवि ! षोडशैव प्रकीर्तिताः ।
चन्द्ररूपी मतः कृष्णः कलारूपास्तु ताः स्मृताः ॥ स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, श्रीकृष्णसन्दर्भ पृ० ४३९ पर उद्धृत

[4] नारद भक्तिसूत्र सं० २१

[5] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १७८

[6] हाइम्स आफ आलवार्स, जे० एस० एम० हूपर, पृ० १८,

अभिव्यक्ति हो सकती है, निर्गुण मत में तो वह भाव मात्र ही रह जाता है। फिर भी कबीर आदि ने आत्मा और परमात्मा के मिलन के जो अंतरंग प्रेम-चित्र खींचे हैं, वे कान्ताभाव के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। कबीर के ऐसे पदों को रूपक भी कहा जा सकता है परंतु क्या संयोग की कामना-कल्पना और क्या विरह की घड़ियों में अकल्पनीय व्यथा का निवेदन ये दोनों ही पक्ष अनन्यता-पूर्वक कान्तात्व की सचाई के साथ ही प्रकट हुए हैं। इन रूपकों में कबीर का साधना-पक्ष भी साथ ही लगा हुआ है, जिससे कबीर आदि का प्रस्तुत भी स्पष्ट रहता है। सगुणवादियों के यहां रूपक अथवा समासोक्तियों की आवश्यकता नहीं होती। परंतु अप्रस्तुत के रूप में भी इन संत कवियों में माधुर्य भाव तीव्र रूप में व्यक्त हुआ है। कुछ विद्वान् इस माधुर्यभाव को सूफी साधकों का प्रभाव मानते हैं, परंतु वास्तव में यह वैष्णवों की भावना के ही अधिक निकट है।[१] कबीर की कान्तासक्ति की अनन्य भावना देखिये :—

मैं अबला पिउ पिउ करूं, निर्गुन मेरा पीव।
शून्य सनेही राम बिन, देखूं और न जीव ॥[२]

वियोग की तड़पन में इस तीव्रता को देखिये :—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ तलफ कैं भोर किया।
तन मन मोर रहँट अस डोलै, सून सेज पर जनम छिया ॥
नैन थकित भये पन्थ न सूझै, साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया[3] ॥

कबीर को अपने प्रियतम की सेज का स्मरण आनन्दकारक है, क्योंकि वही उसका परमानन्द के साथ विलास का स्थल है :—

अविनासी की सेज पर, केलि करैं आनन्द।
कहै कबीर वा सेज पर, विलसत परमानन्द[४] ॥

कबीर की रचनाएं श्रृङ्गार रस के उदाहरण में प्रस्तुत की जा सकती हैं,

---

[१] "इनमें सूफियों के प्रेम की पीर की अपेक्षा वैष्णव-सगुण-भक्ति के माधुर्य भाव का ही प्रधान प्रभाव मानना चाहिये।" 'संतमत में सगुणवाद के तत्व' नामक निबंध, लेखक श्री डा० देवकीनन्दन श्रीवास्तव, 'कबीर-सन्देश', काशी, मार्गशीर्ष, २०११, पृ० १४.१५

[२] सत्य कबीर की साखी, वें० प्रेस, १९७७, पृ० २७

[3] कबीर वचनामृत पृ० १४१ , [४] वही पृ. १४१

परन्तु उनका आध्यात्मिक अर्थ उनके साथ ही लगा है। इसीलिये उनकी कविता में श्रृङ्गार रस के स्थान पर शान्त रस ही प्रस्फुटित रहता है। एक उदाहरण पर्याप्त है :—

ए अंखिया अलसानी, पिया हो सेज चलो।
खम्भ पकरि पतङ्ग अस डोलै, बोलैं मधुरी बानी॥
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यौ, पिया बिना कुम्हलानी।
धीरे पांव धरौ पलँगा पर, जागत ननँद जिठानी॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक लाज बिछलानी[1]।

सन्त साहित्य में शैली और भावना के रूप में कान्ता भाव का प्रचुर प्रयोग हुआ है, यद्यपि उनमें पीछे आध्यात्मिक रूपकों की योजना बराबर प्रबल रूप में विद्यमान रहती है।

सूफी साधना तो इसी भाव को लेकर चली है। वहाँ कान्ता के स्थान पर चाहे आशिक हो, पर बात वही है। यों कान्ताभाव पर घटित होनेवाले अनेक सङ्केत हमें जायसी के 'पद्मावत' में मिलते हैं।

जायसी आदि से भी पहले सूफियों की सुहरवर्दी शाखा के अन्तर्गत एक ऐसा भी सम्प्रदाय था, जिसके अनुयायी कान्ताभाव से ही साधना करते थे। इसके प्रवर्तक का नाम मूसा सुहाग था, जो पहुँचे हुए फकीर माने जाते थे। इन्हीं सुहाग के नाम से इस सम्प्रदाय का नाम 'सुहगिया' सम्प्रदाय पड़ा। इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को 'सदा सुहाग' कहा करते हैं। 'सदा सुहाग' नाम से भी सम्प्रदाय के कान्तातत्त्व की पुष्टि होती है। कान्ताभाव की परम्परा में यह सम्प्रदाय ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। श्री परशुरामजी चतुर्वेदी ने इस सम्प्रदाय का परिचय 'सूफी काव्य संग्रह' की भूमिका में दिया है। सुहाग साहब की मृत्यु का समय सं० १५०६ बताया गया है[2]।

साधना का यह क्रम सूफियों में बराबर चलता रहा है। इन अन्तरङ्ग साधकों ने अपने मन्तव्य को लौकिक आवरण में रखा है। बाद का अधिकांश सूफी-साहित्य इसी रतिभाव को लेकर निर्मित हुआ है।

कान्ताभाव का स्वाभाविक रूप मीराबाई की साधना में देखने को मिलता है। उसने बचपन से ही गिरिधर गोपाल को अपना पति मान लिया था। साधना की दृष्टि से मीराबाई निर्गुण और सगुण के बीच खड़ी मालूम

---

[1] कबीर ग्रन्थावली, पद १६६.

[2] सूफीकाव्यसंग्रह, श्री परशुरामजी चतुर्वेदी, भूमिका पृ० ४२, प्रयाग १९५१

होती है। स्वयं स्त्री होने के कारण उनकी साधना में कान्ताभाव का रूप इन दोनों क्षेत्रों में सहज रूप में प्रस्फुटित हो सका है। मीरा के पदों में अनुभूति तत्व की सघनता है। श्री द्विवेदी जी ने निर्गुण और सगुण मार्ग के पदों में तीव्रता को मापते हुए मीरा की अनुभूति के विषय में लिखा है "वस्तुतः अध्यंतरित, अनभिज्ञानसिद्ध, सहज आत्मसमर्पण का वेग जितना सगुण मार्ग के भजनों में है, उतना निर्गुण मार्ग के भजनों में नहीं है।" वे आगे लिखते हैं "माधुर्य भाव के अन्यान्य भक्त-कवियों की भाँति मीरा का प्रेम-निवेदन और विरह-व्याकुलता अभिमानाश्रित और अध्यंतरित नहीं है, बल्कि सहज और साक्षात् सम्बन्धित है। इसीलिये इन पदों में जिस श्रेणी की अनुभूति प्राप्ति होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है[1]।"

सगुण धारा के भक्तों, निर्गुण धारा के सन्तों तथा सूफियों आदि सभी की साधनों का केन्द्रबिन्दु इन शताब्दियों में प्रेम-तत्व ही रहा है। इस प्रेम-तत्व की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति माधुर्यभाव में हुई है। कान्ताभाव को ही इसके लिये प्रायः स्वीकृत किया गया है। इसी प्रकार कान्ताभाव के तत्वों को लेकर सोलहवीं शताब्दी का आरम्भ हुआ।

इस समय के अनेक सम्प्रदायों ने कान्ताभाव से उपासना की, परन्तु इसी के साथ माधुर्य भाव का एक दूसरा रूप भी पल्लवित हो रहा था, जिसमें कान्ताभाव के अतिरिक्त एक विशेष दिशा को अपनाया गया था। माधुर्य भाव का यह विशिष्ट भाव ही बाद में सखीभाव के नाम से अभिहित किया गया है।

सखीभाव का उपास्य-तत्व युगल रूप है। यह युगल रूप हमारे धार्मिक साहित्य में उतना ही पुराना है, जितने ईश्वर के अन्य कोई रूप हो सकते हैं। आगे माधुर्य भाव के अन्तर्गत इस द्वितीय प्रवाह की चर्चा हम करेंगे, जो कान्ताभाव से तत्वतः भिन्न है और जो सखीभाव की आधारभूमि है।

द्वितीय प्रवाह

परब्रह्म का मिथुन रूप भारत के लिये अनादि है। वेदों के युग से लेकर परवर्ती सभी साधनों का अन्तिम सोपान इसी मिथुन तत्व की उपासना में प्रविष्ट होता है। भारत के सभी धर्म-मतों में यह युगल तत्व प्रतिष्ठित है। एक बङ्गीय विद्वान् का कथन है। "यह आदि युगल विश्वास शैव नहीं है,

---

[1] हिन्दी साहित्य, डा० हज़ारी प्रसाद जी द्विवेदी, पृ० १९५

शाक्त नहीं है, वैष्णव नहीं है, सौर-गाणपत्य नहीं है। यह वेदान्त नहीं है, सांख्य नहीं है, तन्त्र नहीं है। यह हिन्दू भी नहीं है, बौद्ध-जैन भी नहीं है, यह भारतवर्ष में सर्वत्र है, प्रायः सभी मतों में है, इसीलिये हम कहेंगे कि यह दर्शन सम्प्रदाय-निरपेक्ष रूप से भारतवर्ष का है[1]।"

इस मिथुन तत्त्व का उद्भव शक्ति और शक्तिमान् की भावना से हुआ है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में उसकी अपनी एक शक्ति होती है। अग्नि और दाहकत्त्व, दुग्ध और धावल्य आदि इसके उदाहरण हैं। पारमार्थिक रूप में जगत् के कारण परब्रह्म की भी इसी प्रकार समस्त शक्तियों की कारणभूता कोई मूल शक्ति है। इस शक्ति से ही शक्तिमान् क्रियाशील है। शक्ति की अलग से जितनी चर्चा हुई है, उसने शक्ति को शक्तिमान् से अलग एक विशेष रूपमें भी प्रतिष्ठित किया है, परन्तु वहाँ भी इन दोनों में कोई भेद नहीं है। पृथक् प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः वे एक हैं। एक ही में दो, परन्तु उनकी सर्वथा अद्वयता, यही शक्ति-शक्तिमान् का परस्पर सम्बन्ध है[2]।

हमारे यहाँ भगवान् की कल्पना प्रारम्भ में पुरुष रूपमें गृहीत हुई थी। मानव के समक्ष जो भी सर्वश्रेष्ठ है, वही उसका इष्ट है। तात्त्विक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ इष्टक्षेत्र के पहुँचकर महत् और महत्तम हो जाता है। शक्ति-समन्वित भगवान् का रूप ही हमारे लिये श्रेष्ठतम रूप था[3]।

परतत्त्व को स्थित्यंतर में नारी रूप में भी स्वीकृत किया गया है। कुछ विद्वान् विश्व-प्रपञ्च के लिये केवल मातृसत्ता को ही आवश्यक मानते हैं[4]। भगवान् के नारी-रूप की कल्पना, हो सकता है, मातृसत्ता-प्रधान युग की देन हो। जो हो भारत की धर्म साधनाओं का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जिन्होंने शक्ति को ही परात्पर तत्त्व माना है, वे भी किसी न किसी स्थिति में शक्तिमान् को भी मानते हैं। युगल रूप ही वास्तव में इस विश्व-प्रपंच का कारण हो सकता है। केवल एक रूप की सत्ता प्रधान भले ही हो, पर दूसरी सत्ता का विद्यमान रहना भी आवश्यक है। यह जगत् स्त्री-पुरुष तत्त्व से

---

[1] श्री राधा का क्रमविकास, श्री शशिभूषणदास गुप्त वाराणसी, पृ० ७२

[2] देखिये, 'उपनिषद् में युगल स्वरूप' नामक लेख, ले० अक्षयकुमार वन्द्यो०, कल्याण, वेदान्ताङ्क।

[3] योगदर्शन १, २४ में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है।

[4] कल्याण, वेदान्तांक, पृ० ४२३ पर उद्धृत हर्बर्ट स्पेन्सर की पंक्तियां।

उत्पन्न हुआ है और इसका स्वरूप भी स्त्री-पुंसात्मक है।[1] इसके विना विश्व की सत्ता और गतिशीलता का कारण और नियम भी हमारी वैज्ञानिक तुला पर प्रतिष्ठित नहीं हो पाता।

जो कुछ इस विश्व-प्रपंच में हो रहा है, यह सब उसी शिव-शक्ति अथवा प्रकृति-पुरुष का लीला-विलास है। शिव और शक्ति जब समान रूप से क्रियाशील होते हैं, तभी जगत् का सर्जन होता है। शक्तिमान् के विना शक्ति को आधार ही प्राप्त नहीं हो पाता और शक्ति के बिना शिव केवल 'शव' ही रहते हैं।[2] वे दोनों परस्पर सापेक्ष्य और एक दूसरे के अधीन हैं। दोनों दो रूप हैं परंतु अभिन्न हैं।[3]

वेदों में परब्रह्म और उनकी शक्ति का पूर्ण विकास प्रत्यक्ष गोचर है। श्रीसूक्त, पृथ्वीसूक्त आदि में देवी का स्वतंत्र जननी रूप वर्णित है परंतु वहीं श्री और विष्णु का संबंध भी अलक्षित नहीं है। विद्वानों का कथन है—"यह श्रीसूक्त केवल देवी का सूक्त नहीं है, इसमें विष्णु और श्री इन दोनों के मिथुन चिह्न वर्तमान हैं। इन दोनों के शुरू से ही अन्योन्याश्रित होने के कारण इनमें से किन्हीं के संबंध में सूक्त अन्योन्य प्रतिपादक हैं।"[4]

शक्ति-शक्तिमान् का स्वाभाविक स्वरूप पति-पत्नी के संबंध से अभिव्यक्त होता है। वेदों में ही हमें भगवान् के स्वरूप के इन दो अद्वय विभागों में पति-पत्नी के रूप की स्पष्ट कल्पना देखने को मिलती है। पुरुष-सूक्त में श्री और लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी बताया गया है :—

श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ।

उपनिषदों में यह मिथुन तत्व विस्तार से वर्णित है। पुरुष ब्रह्म ने आत्म-रमण की कामना से द्वितीय की इच्छा की और इस प्रकार वह एक से दो होकर पति-पत्नी हो गये। बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि में सृष्टि-विस्तार

---

[1] शक्ति-शक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवमिदं जगत् ३६
स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं स्त्रीपुंसात्मकमेव च। ३७ शिवपुराण, वायुसंहिता
उत्तर० अ० ४, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई

[2] देवी भागवत कवच १, ९

[3] शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः॥ कूर्मपुराण

[4] श्री राधा का क्रमविकास, श्री शशिभूषण दास गुप्त, पृ० १८

के इस मूल मिथुन तत्व का आधारभूत विवेचन है।[1] भगवान् और उनकी माया का भी यहां युगल रूप वर्णित है। माया को यहां प्रकृति और मायी को महेश्वर कहा गया है।[2]

उपनिषदों के इस मिथुन तत्व में वैष्णव, तंत्र, आदि सभी साधनाओं का आधार खोजा जा सकता है। प्रायः सर्वत्र इसी अद्वय युगल की नित्य लीलामयता की सिद्धि का प्रयत्न है और इसी में चरम सुख माना गया है।[3]

आगे चलकर वैष्णव साहित्य में भगवान् की शक्तियों का विशद विवेचन हुआ है। पांचरात्र मत में भगवान् और उनकी शक्तियों का पूर्ण एकत्व देखा जाता है। इस समय तक भगवान् और उनकी शक्तियों में कान्त-कान्ता का संबंध पूर्णतया स्थिर हो चुका था। 'जयाख्य संहिता' में कहा गया है कि "सूर्य के साथ रश्मियों और समुद्र के साथ ऊर्मियों के समान ही अपने समग्र ऐश्वर्य प्रभाव से कमला विष्णु के साथ नित्य अवस्थित हैं।"

सूर्यस्य रश्मयो यद्वदूर्मयश्चाम्बुधेरिव।
सर्वैश्वर्यप्रभावेण कमला श्रीपतेस्तथा ॥[4]

पांचरात्र संहिताओं में भगवान् की इन शक्तियों का विस्तार हुआ है। कहीं इन्हें भगवान् की क्रिया-शक्ति, कहीं भूति-शक्ति कहा गया है।[5] कहीं ये ही भोक्तृ-शक्ति और कर्तृ-शक्ति बताई गई हैं तथा अन्य अनेक भेद किये गये हैं। परंतु लौट-फिर कर विशेषणों के समवाय से पांचरात्र में शक्ति भगवान् की पत्नी के रूप में ही प्रतिष्ठित हुई है। 'विहगेन्द्र संहिता' के अनुसार श्री, भू और लीला भगवान् की ये तीन शक्तियां बताई गई हैं।[6] यहां द्रष्टव्य यह है कि पांचरात्र संहिताओं में वर्णित भगवान् की ये शक्तियां वैष्णव संप्रदायों

---

[1] देखिये, बृहदारण्यकोपनिषद् १, ४, ३ और छान्दोग्य उपनिषद् ६, २, १

[2] मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्। ४, १०

[3] देखिये, उपनिषद् में युगल का स्वरूप, लेख, ले० श्री अक्षयकुमार वन्द्यो०, कल्याण, उपनिषदंक, २००५

[4] जयाख्य संहिता, ६, ७८

[5] अहिर्बुध्न्य संहिता ३, २१ तथा सात्त्वत संहिता १३, ४८९

[6] विहगेन्द्र संहिता, अ० २

की उपासना में विष्णुपत्नी-रूप में गृहीत हुई हैं। श्री रामानुजाचार्य ने विष्णु के साथ श्री, भू और लीला इन तीन देवियों की प्रतिष्ठा की थी[1]।

शाक्त तंत्रों में यह मिथुन तत्व ही साधना का केन्द्र बना है। शैव तन्त्रों में भी यही मिथुन तत्व विद्यमान है। काश्मीरी शैव संप्रदाय के प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सामरस्य का सिद्धान्त इसी मिथुन के आत्मरमण की उपासना का पोषक है। तंत्रों का बौद्ध संस्करण भी शून्यता और करुणा अथवा प्रज्ञोपाय की युगनद्ध स्थिति में ही महासुख मान कर उसकी उपासना पर बल देता है। युगनद्ध की यह स्थिति शैव और शाक्तों के अद्वय मिथुन तत्व के ही अनुरूप है।[2]

सिद्धों, कापालिकों और नाथों में किसी न किसी प्रकार शिव-शक्ति की साधना ही प्रचलित है। इन सभी साधनाओं में उसी एक मिथुन तत्व को विभिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है। कौलों की साधना में इसी मिथुन तत्व को 'कुल' और 'अकुल' नाम से पुकारा जाता है। यहां 'कुल' का अर्थ है शक्ति और अकुल का शिव। इन दोनों का समरस ही कौलज्ञान है[3]। गोरख पंथियों अथवा उनके अनुयायी अन्य संप्रदायों ने इस मिथुन को सूर्य और चन्द्र के नाम से भी गृहीत किया है। यहां सूर्य है रजस् और चन्द्रमा है रेतस्, सूर्य शक्ति है और चन्द्रमा शिव है। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह के अनुसार इन दोनों के संगम से ही परम पद की प्राप्ति होती है।[4]

सहजिया बौद्धों की क्रम-परिणति बंगाल के सहजिया वैष्णव-संप्रदाय में हुई है। प्रज्ञा (नारी-तत्व) और (पुरुष-तत्व) का स्थान इनके यहां राधा और कृष्ण ने ग्रहण कर लिया है। आरोप साधना द्वारा प्रत्येक स्त्री राधा और प्रत्येक पुरुष अपने में कृष्ण तत्व का अनुभव करता है और तब दोनों के सम्मिलन में उसी मिथुन का सम्मिलन माना जाता है।[5]

---

[1] श्री राधा का क्रमविकास, श्री शशिभूषणदास गुप्त, पृ० ८४, ८५

[2] देखिये, युगनद्ध, अध्याय ३, प्रो० हरबर्ट वान गुन्थर, चौखम्भा काशी।

[3] विन्दुः शिवो रजो शक्तिर्विन्दुरिन्दु रजो रविः।
उभयो सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ।। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, पृ० ४१

[4] कुलं शक्तिरिव प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुले कुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ।। सौभाग्य भास्कर। पृ० ५३

[5] Obscure religious cults, शशिभूषण दास गुप्ता

उपर्युक्त सभी साधनाओं और वैष्णव-साधनाओं में मूल अन्तर यही है कि ये घट के अन्दर ही शिव और शक्ति की स्थिति मान कर किसी न किसी प्रकार काया साधना द्वारा ही उस आनन्द पद को प्राप्त करना चाहते हैं, जब कि वैष्णवों में मिथुन तत्त्व राधा-कृष्ण के रूप में साकार होता है और उपासक उसकी उपासना प्रेम भाव से करता है। इसीलिये योग-साधनाओं में ज्ञान और गुह्यता अधिक है जब कि वैष्णवों में प्रकट प्रेम ही उनकी साधना का केन्द्र-बिन्दु है।

वैष्णव-सिद्धान्तों का मूल स्रोत पुराण-साहित्य है। पुराण-काल में भगवान् और उनकी शक्तियों को केवल प्रतीक या तत्त्वात्मक शक्तिमात्र न मानकर उनके साकार रूप का ही वर्णन प्रायः किया गया है। अवतारवाद का इसके साथ घनिष्ठ संबंध है। पीछे इसका विवेचन विस्तार से किया जा चुका है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि संसार के स्वामी अनेक अवतार ग्रहण करते हैं और उनके साथ ही श्री या लक्ष्मी भी अवतरित होती हैं। वामनावतार में लक्ष्मी कमल से उत्पन्न हुईं, परशुराम के समय पृथ्वी बनीं और राम के साथ सीता तथा कृष्ण के साथ वही भगवान् की शक्ति रुक्मिणी होकर अवतरित हुईं[1]।

पुराणों में श्रीकृष्ण और गोपियों की कथा का अनेक प्रकार से विस्तार किया गया है। एक दृष्टि से गोपियां जीवस्थानीया हैं। गोपी और कृष्ण का मिलन आत्मा और परमात्मा का मिलन माना जाता है।[2] भक्तों के आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित गोपीतत्त्व की यह व्याख्या माधुर्यभाव के प्रथम प्रवाह से संबंधित है, जिसका विवरण हम पीछे दे चुके हैं।

गोपियों और भगवान् का दूसरा वास्तविक रूप है गोपियों का श्रीकृष्ण की नित्यकान्ता होना। जिस प्रकार भगवान् की अन्य शक्तियों के बीच पति-पत्नी भाव है, उसी प्रकार गोपियां भी भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य प्रियायें हैं। उन्हें स्थान स्थान पर लक्ष्मी का अंश कहा भी गया है।[3] गोपियों के वर्गीकरण में श्री रूप गोस्वामी ने नित्य-प्रिया गोपियों को साधन-सिद्धा गोपियों से भिन्न माना है। ये गोपियां ही वस्तुतः परब्रह्म श्रीकृष्ण के नित्यरूप के साथ नित्य लीला-विहारिणी हैं।

---

[1] विष्णु पुराण १, ९, १४४

[2] ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर, ले० एफ० ई० के, १९२०, पृ० ७९

[3] विस्तार के लिये देखिये इस प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय।

श्रीकृष्ण की उपासना पूर्ण ब्रह्म के रूप में गृहीत होने पर भी भारतीय धर्मसाधनाओं के अनुसार उसमें वह संपूर्णता उस समय तक न आ सकी, जब तक कि श्रीकृष्ण के साथ श्री राधा का दर्शन साधकों को नहीं हुआ। सहस्रों गोपियों और श्रीकृष्ण के मध्य प्रेम का वह स्वरूप स्पष्ट प्रकटित नहीं हो सकता था, जो अनिवार्यतः दो के बीच उत्पन्न होता है। श्रीमद्भागवत में गोपियों के बीच एक गोपी-विशेष का जो महत्त्व है, वह इसी तथ्य को लेकर है। शक्ति और शक्तिमान् के रूप की सहज समन्वित कल्पना युगल पर आधारित है और इसी प्रकार प्रेम तत्व भी स्वाभाविक रीति से दो के मध्य ही प्रकटित होता है अतः श्रीमती राधा का प्राकट्य इसी हेतु प्रेम-माधुर्य के संपूर्ण प्रकाशन के लिए हुआ था। अपनी आह्लादिनी शक्ति से समन्वित श्रीकृष्ण शीघ्र ही भारतीय धर्म के सनातन आराध्य युगल तत्व के स्थान पर अधिष्ठित हो गये। शक्ति-शक्तिमान् का पूर्ण विवेचन उनके स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थित हो गया अतः राधाकृष्ण एक ओर तो दार्शनिक दृष्टि से तत्व के रूप में प्रतिष्ठित हुए साथ ही दूसरी ओर प्रेम तत्व की संपूर्ण अभिव्यक्ति भी उनके स्वरूप में सिद्ध हुई।

वैष्णव संप्रदायों में राधा का स्थान उपासक या जीव का स्थान नहीं है। सभी वैष्णव संप्रदायों में विशुद्ध राधाभाव कभी जीव के लिए संभव नहीं माना गया है।[1] वे श्रीकृष्ण की नित्य कान्ता हैं अतः उन्हीं के समान उपास्या हैं। उपासना-ग्रंथों में कहा गया है कि जो राधा के बिना कृष्ण की आराधना करता है, वह पातकी है।[2]

एक बार राधा के श्री कृष्ण की नित्य-प्रिया के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर उन्हें पूर्व की विष्णु-शक्तियों से मिला दिया गया। वे लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा की कोटि में रखी गईं।[3] पांचरात्र ही क्या, मत्स्यपुराण, पद्म-पुराण, वाराह-पुराण आदि-पुराण आदि ग्रंथों में जहां राधा का उल्लेख है, वहां भी वे लक्ष्मी की अवतार अथवा अन्य देवियों की कोटि में ही वर्णित हैं।[4]

---

[1] श्री राधा का क्रमविकास, श्री शशिभूषणदास गुप्त, पृ० २३७

[2] गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजोः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत्पातकी शिवे। गोपालसहस्रनाम।

[3] लक्ष्मीः सरस्वती दुर्गा सावित्री राधिका परा। नारद पाञ्चरात्र

[4] श्री राधा का क्रमविकास, श्री शशिभूषण दास गुप्त, पृ० १११, ११२

पुराण और तंत्रों में राधा कृष्ण आद्य प्रकृति-पुरुष के रूप में भी चित्रित हैं[1], इन्हें ही शक्ति रूपा, माया रूपा और समस्त सृष्टि एवं ब्रह्मादि के देहधारण का आदि कारण बताया गया है।[2]

राधा को परदेवता मानने का यह क्रम पुराणों में देखा जा सकता है। क्रमशः राधा की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृत हुई है। इस दार्शनिक सर्वोच्चता की स्वीकृति ने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को भी उच्चातिउच्च स्थान प्रदान किया है।

राधा-कृष्ण के प्रेम-माधुर्यमय स्वरूप का विकास हमारे सम्प्रदायोद्भवकाल में ही शीघ्रता से सम्पन्न हुआ है। इसमें वैष्णव सम्प्रदायों के सहयोग के साथ ही साहित्य, पुराण और विभिन्न तन्त्र-ग्रन्थों का भी पर्याप्त सहयोग रहा है।

एक बात यहाँ और स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि माधुर्य-भाव की भक्ति का आधार केवल इतना ही नहीं है कि उपास्य का स्वरूप युगल स्वरूप है। युगल स्वरूप की उपासना दास्यादि भावों से भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में युगल उपासना होते हुए भी भक्ति दास्यादि रसों की ही होगी, मधुर रस की नहीं। मधुर रस की उपासना के लिए एकमात्र सखीभाव ही उपासक का भाव होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अथवा लोक-व्यवहार की दृष्टि से भी यही सत्य है कि किसी दम्पति की रसलीलाओं तक दासादि की गति नहीं होती। पति की यदि कोई दूसरी पत्नी भी हो, तब भी उसका प्रवेश रस-लीला में रसवर्द्धक नहीं हो सकता। वहाँ एकमात्र सखी का ही प्रवेश सम्भव है। वही अपनी सखी के सुख में सुखी हो सकती है और उससे अपने आपको धन्य मान सकती है। इसी प्रकार मधुर भक्ति के क्षेत्र में प्रिया-प्रियतम के केलि-कुञ्ज में केवल सखियों का प्रवेश ही सम्भव है। वास्तव में सखीभाव की उपासना ही युगल-केलि का वास्तविक रसास्वादन करा सकती है।

---

[1] ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्ण-जन्मखण्ड १५, ६६

[2] ब्रह्माविष्णुशिवादीनां देहधारणकारणम्।
चराचरं जगत्सर्वं यन्मायापरिरम्भितम्।

पद्मपुराण, पातालखण्ड, ७७, १६

श्रीरामानुजाचार्यजी के स्तोत्रों में माधुर्य भाव की भक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं परन्तु वहाँ लक्ष्मीनारायण का युगल स्वरूप होते हुए भी उपासक का लक्ष्य सखी तत्व की अवतारणा नहीं है अतएव मधुर रस का विशुद्ध स्वरूप वहाँ प्रस्फुटित नहीं हो पाता। रामानुज सम्प्रदाय में लक्ष्मी या श्री की पूर्ण मान्यता है और इस सम्प्रदाय का नाम भी श्री सम्प्रदाय है। उनके यहाँ श्री के साथ भू और लीला की अर्चना भी विष्णु-पत्नी के रूप में होती है। परन्तु श्री का विशिष्ट स्थान होते हुए भी इस सम्प्रदाय में, रामानुजादि के दार्शनिक ग्रन्थों में, श्री या लक्ष्मी का उल्लेख या दार्शनिक विवेचन बहुत ही कम है। वस्तुतः इस सम्प्रदाय में उपासक लक्ष्मी को माता मान कर ही चलता है। वहाँ लक्ष्मी का स्वरूप ही ऐसा है कि एक ओर लक्ष्मी नारायण की प्रेममयी पत्नी हैं तो दूसरी ओर वह जीवों पर अनन्त करुणा रखने वाली माता हैं। प्रारम्भ में इस सम्प्रदाय में लक्ष्मी को जीव कोटि में ही स्वीकृत किया गया था, यद्यपि परवर्ती आचार्य उन्हें विष्णु के समान ही मानते हैं[1]। निष्कर्ष यह है कि रामानुज सम्प्रदायानुयायी लक्ष्मी और नारायण के परस्पर पूर्ण मिथुन भाव को मानते हुए भी[2] उनमें मातृभाव ही रखते हैं। अतः इस सम्प्रदाय में शेष-शेषीभाव अर्थात् किंकर या दास्य भाव की ही स्थिति मानी जा सकती है[3]। श्री यामुनाचार्य के ग्रन्थ 'श्री स्तोत्र रत्न' में मधुर भाव की झलक प्राप्त होती है परन्तु वहाँ भी उपासक का भाव प्रधानतः दास्यभाव ही है, ऐसा प्रतीत होता है।

श्री मध्वाचार्य के माध्व या ब्राह्म सम्प्रदाय में भी लक्ष्मी-नारायण की ही उपासना है। मध्वमत में श्री हरि ही परात्पर तत्व हैं[4]। इस सम्प्रदाय के तात्विक विवेचन में भी लक्ष्मी को श्री विष्णु के समकक्ष स्थान प्राप्त नहीं है। लक्ष्मी की शक्ति को विष्णु की शक्ति से अनेक अंशों में न्यून माना गया है परन्तु अनादिकाल से लक्ष्मी का भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण लक्ष्मी भी नित्यमुक्ता हैं[5]। लक्ष्मी की स्थिति यहाँ भी बहुत कुछ रामानुज सम्प्रदाय के

---

[1] 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी' एस० एन० दासगुप्त ८, पृ० ८९

[2] तदेतत् सूक्ष्ममिथुनं परस्पर विचिह्नितम्।
आदावन्योन्यमिश्रत्वादन्योन्यप्रतिपादकम्॥ गद्यत्रय का वेंकटभाष्य

[3] भागवत सम्प्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २१७

[4] श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्वतः॥···भागवतसंप्रदाय, पृ. २२३

[5] मध्व सिद्धान्त सार, सू० २१५

ही अनुसार है, वे पूर्णतया भगवत् कोटि में नहीं मानी गई हैं। क्रमशः इस सम्प्रदाय में श्री मधुर रस की उपासना का विकास हुआ है और लक्ष्मी-नारायण अथवा राधा-कृष्ण आत्म-मिथुन के रूप में यहाँ चित्रित हुए हैं परन्तु दार्शनिक विवेचन में भगवान् के वाह्य लीला-विलास को ही उनका आत्म-रमण माना गया है[1]।

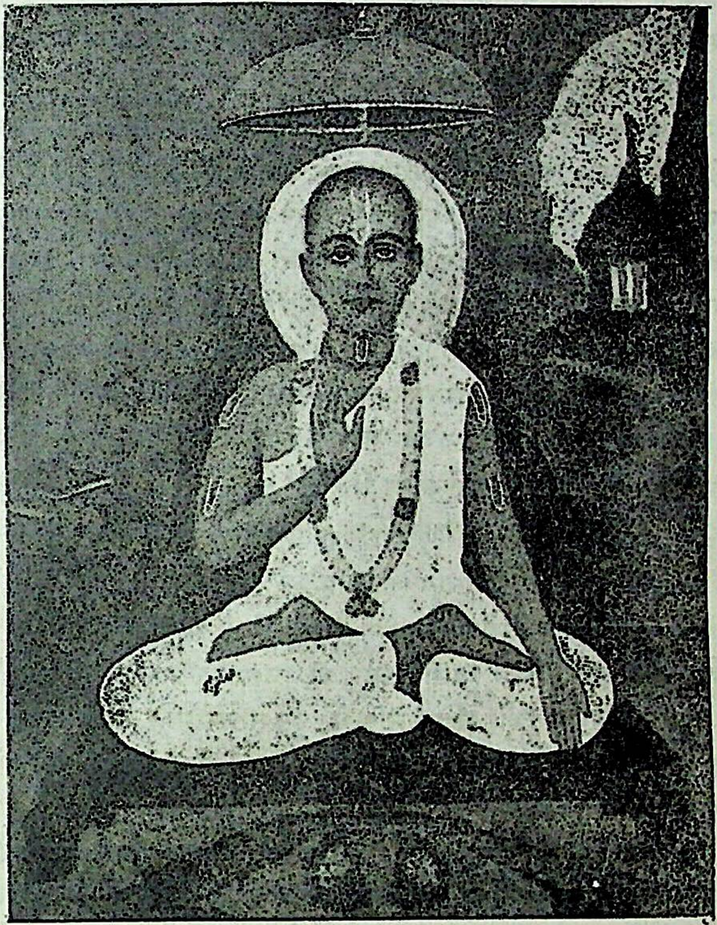

चित्र सं० ३

श्री विष्णुस्वामी जी का, सम्प्रदाय में प्रचलित, चित्र

रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी के ग्रन्थों का ......

---

[1] मध्व सिद्धान्त सार सू० २७

हमें नहीं है। कहते हैं, उनके सम्प्रदाय का पुनरुद्धार श्री वल्लभाचार्य ने किया है अतः माधुर्य भाव की भक्ति का वल्लभ सम्प्रदायी स्वरूप ही हमें प्राप्त होता है, जो स्वयं १६ वीं शताब्दी के पूर्व का नहीं है।

माधुर्य भाव की भक्ति के सम्बन्ध में निम्बार्क सम्प्रदाय का नाम महत्वपूर्ण माना जाता है। हमारी दृष्टि में, राधाकृष्ण की उपासना का जो स्वरूप निम्बार्क के नाम से प्रचलित होना बताया जाता है, वह निश्चित रूप से परवर्ती है। श्री निम्बार्काचार्य को जो उपासना-पद्धति परम्परा से प्राप्त हुई थी, उसका स्वरूप भी मध्व और रामानुज से मिलता जुलता था। कहते हैं कि उन्हें नारद जी ने श्री, भू और लीला सहित श्री कृष्ण की उपासना का उपदेश दिया था। श्री बलदेव जी उपाध्याय लिखते हैं "सुनते हैं कि इनके उपनयन संस्कार के समय स्वयं देवर्षि नारद ने उपस्थित होकर इन्हें गोपाल मन्त्र की दीक्षा दी और श्री, भू, लीला सहित श्रीकृष्णोपासना का उपदेश दिया[१]।" सम्भवतः परवर्ती काल में श्री, भू और लीला आदि देवियाँ ही रुक्मिणी, सत्यभामा और श्री राधा के रूप में परिवर्तित हो गईं। परन्तु यह बहुत बाद में हुआ क्योंकि इस सम्प्रदाय के एक विशिष्ट लेखक श्री पुरुषोत्तम प्रसाद ने भी अपनी प्रसिद्ध रचना 'अर्चिरादि पद्धति' में श्री, लीला और भू पति के रूप में ही श्रीकृष्ण का स्मरण किया है[२]।

ऊपर जिन सम्प्रदायों का विवेचन किया गया है, वे लक्ष्मी और नारायण की उपासना से क्रमशः सीता-राम और राधाकृष्ण की उपासना की ओर बढ़ रहे थे। सम्प्रदायों के आरम्भिक काल में वैष्णवों में जो विभिन्न आचार-विधान और विशद द्वैताद्वैतवादी दार्शनिकता थी, उसके स्थान पर प्रेमाभक्ति का प्रसार हो रहा था और माधुर्य भक्ति के इस पुरस्सरण में सर्वाधिक योग मिल रहा था विभिन्न पुराणों और संहिताओं का, जिनका विवेचन आगे हम प्रसङ्गानुसार करेंगे।

माधुर्यभाव की भक्ति के विकास में सम्प्रदायों के प्रसार-प्रचार के साथ ही अन्य धार्मिक साहित्य का जो महत्वपूर्ण योगदान है, उसकी ओर भी थोड़ा इङ्गित कर देना आवश्यक जान पड़ता है। विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं की

---

[१] भागवत सम्प्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१४

[२] श्रीकृष्णंमुक्तिदं वन्दे श्रीलीलाभूपतिं हरिम्
अर्चिरादिकमार्गोहि श्रुतिसूत्रैः प्रकाश्यते। मङ्गलाचरण 'अर्चिरादि पद्धति।'

चर्चा हम अलग से 'साहित्य ग्रन्थ और सखीभाव' शीर्षक के लिये छोड़कर यहाँ केवल धार्मिक ग्रन्थों पर ही विचार करेंगे ।

सम्प्रदायोद्भवकालः ११ वीं से १५ वीं शताब्दीः के आरम्भ में ही लीलाशुक या विल्वमङ्गल रचित ग्रन्थ 'कृष्ण-कर्णामृत' देखने को मिलता है । श्री चैतन्य महाप्रभु से बहुत समय पूर्व से ही इस ग्रन्थ का दक्षिण भारत में प्रचार था, वहीं से वे इसे और 'ब्रह्म संहिता' को अपने साथ लाये थे ।[1]

'कृष्ण कर्णामृत' ग्रन्थ को विद्वान साहित्यिक रचना-मात्र नहीं मानते । प्रबल धर्मानुराग की सुदृढ़ पीठिका पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है, विद्वानों की ऐसी मान्यता है । इस ग्रन्थ में दार्शनिक ऊहापोह भी नहीं है अपितु भगवान् के सौन्दर्य माधुर्य का गद्‌गद् चित्त से गाया हुआ गान है । कर्णामृत के श्रीकृष्ण वेणुवादनतत्पर गोपीसहस्रावृत किशोराकृति हैं । उन्हें कामावतारांकुर और श्रृङ्गार-रस सर्वस्व कहा गया है । वे व्रजवधूनयनांजनरञ्जित हैं, वल्लवी-कुचकुंकुम-पंकिलकर्ता और राधापयोधरोत्सङ्गशायी हैं । ग्रन्थकर्ता कवि की कामना है कि व्रजांगना के साथ अनङ्गकेलि करते हुए श्रीकृष्ण चिरकाल विराजमान रहें[2] । निश्चित ही इस ग्रन्थ में उपासना का जो भाव है वह मधुर भाव है तथा राधाकृष्ण की युगल उपासना के क्रम-विकास में इसका महत्त्व-पूर्ण स्थान है । श्री राधाकृष्ण की प्रेमलीला से सम्बन्धित एक श्लोक इस ग्रन्थ के दक्षिण भारतीय संस्करण के आधार से पादटिप्पणी में उद्धृत किया जा रहा है[3] ।

जयदेव के गीतगोविन्द की रचना १२ वीं शताब्दी में हुई थी । इस ग्रन्थ

---

[1] ब्रह्मसंहिता कर्णामृत दुइ पुथि पाइया ।
महा यत्न करि ताहा आनिला सङ्गे लाइया ॥
चैतन्य चरितामृत । मध्य लीला ९ म परिच्छेद

[2] देवास्त्रिलोकी सौभाग्यकस्तूरीमंकुराकुंरः ।
जीयाद्व्रजांगनानंग केलिलालितविभ्रमः ॥ कृष्ण कर्णामृत । श्लोक १०३

[3] राधाराधितविभ्रमाद्भुत रसं लालित्य रत्नाकरं,
साधारण्व पदव्यतीत सहज स्मेराननाम्भोरुहम् ।
आलम्वे हरिनीलगर्वगरुतां सर्वस्व निर्वापणं,
वालं वैणविकं विमुग्धमधुरं मूर्धाभिषिक्तं महः ॥
'कृष्ण कर्णामृत', तृतीय शतकम्, २

की मूल प्रेरणा अनेक विद्वान् धार्मिक न मानकर साहित्यिक मानते हैं[1]। इस प्रसङ्ग में हमारा कथन है कि विद्वानों को 'यदि विलासकलासु कुतूहलम्' के साथ ही 'हरिस्मरणे सरसो मनः' को भी महत्त्व देना चाहिये। अवश्य ही 'गीत गोविन्द' की रचना के पीछे उस युग का प्रबल धर्मानुराग छिपा हुआ है। परन्तु विद्वानों की धारणा के अनुसार हम इस ग्रन्थ का विवेचन 'साहित्य' सम्बन्धी शीर्षक में ही करेंगे।

इस काल के उपनिषद्-ग्रन्थ

उपनिषद्-ग्रन्थ भारतीयों के अति प्राचीन काल के ज्ञान के समुच्चय हैं। आजकल प्राप्त होने वाले उपनिषदों की संख्या पर्याप्त है और उनके अन्दर प्राप्त विभिन्नताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि ये सभी उपनिषद् समान रूप से प्राचीन नहीं हैं। कालक्रम की दृष्टि से विद्वानों ने उपनिषदों को चार वर्गों में विभाजित किया है। १. सबसे पुराने ईसवी सन् से ६०० वर्ष पहले के हैं, ये गद्य में लिखे गये हैं। इनमें बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय आदि हैं। २. दूसरी श्रेणी में कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक आदि हैं, जो पद्य में हैं। इनका सिद्धान्त विकासोन्मुख न होकर विकसित है। ३. तीसरी श्रेणी के हैं प्रश्न, मैत्रायणीय और माण्डूक्य आदि। इनकी भाषा पुनः गद्यमयी हो गई है परन्तु अपरिष्कृत नहीं है और ४. चौथी श्रेणी में परकालीन उपनिषद् हैं। संभवतया इनकी संख्या दो सौ के लगभग है[2]।

वैष्णव-उपनिषदों की रचना के निश्चित समय के सम्बन्ध में कुछ कहना बड़ा कठिन है परन्तु अभी तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर राधा और कृष्ण सम्बन्धी उपनिषद् परवर्ती माने जाते हैं। इनमें से अधिकांश का रचनाकाल 'सम्प्रदायोद्भवकाल' होना ही अधिक सम्भव है। ऐसे उपनिषदों को इस काल का मानने का कारण यह है कि इनमें से अनेक में पुराण और उपपुराणों तक का उल्लेख है, फिर भाषा और विषय की दृष्टि से भी ये अर्वाचीन ही प्रतीत होते हैं।

वैष्णव-माधुर्य-भाव की भक्ति को दार्शनिक आधारशिला देने वाले उप-

---

[1] श्री राधा का क्रम विकास, श्री शशिभूषण दास गुप्त, पृ० १४१

[2] उपनिषदों में औदार्य, निबन्ध ले० डा० पी० के० आचार्य, कल्याण, उपनिषदंक, पृ० ८७

निषद् राम और सीता तथा राधा और कृष्ण-सम्बन्धी हैं। गोपाल पूर्वतापनीय और उत्तर तापनीयोपनिषद् में कृष्ण के मधुर रूप का सुन्दर चित्रण है और उनकी मधुर लीलाओं की ओर भी सङ्केत है[1]। गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् को राधा सम्बन्धी विवरण-प्राप्ति का प्राचीनतम स्थल माना जाता है[2]। इसमें कृष्ण की रुक्मिणी आदि पटरानियों के भी वर्णन हैं। राधिकातापनीयोपनिषद् और राधिकोपनिषद् आदि तो व्रज की मधुर भाव की लीलाओं का स्पष्ट सङ्केत देते हैं। यहाँ एक स्थल पर कहा गया है—'कृष्णचन्द्र एकान्त में प्रेमार्द्र होकर जिनकी चरण-रज अपने मस्तक पर धारण करते हैं, प्रेम के कारण हाथ से गिरी वंशी और बिथुरी हुई अलकों का भी कृष्ण को ध्यान नहीं है, तथा श्रीकृष्ण सभी प्रकार से जिनके वशीभूत हैं, उन श्री राधिका को हम नमस्कार करती हैं'[3]। अतएव भाव के विकासक्रम को दृष्टि में रखते हुए इन उपनिषदों का यही रचनाकाल उपयुक्त जान पड़ता है। साथ ही यह अनुमान भी किया जा सकता है कि १६ वीं शताब्दी की मधुर रस की प्रबल भक्ति-भावना की नींव रखने में ये ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। अन्य उपनिषद्-ग्रन्थों में कृष्णोपनिषद्, पुरुषार्थबोधिनी उपनिषद् आदि द्रष्टव्य हैं।

इस काल के पुराण-ग्रन्थ

पुराणों की अष्टादश संख्या प्रसिद्ध है परन्तु ये मूल अष्टादश पुराण कौन-कौन है, इस सम्बन्ध में प्राप्त उल्लेखों में पर्याप्त मतभेद है[4]। ११ वीं शताब्दी तक पुराणों की रचना हो चुकी थी। सं० १०८७ में लिखे भारत-सम्बन्धी

---

[1] देखिये, गोपाल पूर्वतापनीयोपनिषद्, पञ्चम उपनिषद्, ९ से १७ तक।

[2] In what book she (Radha) first appeared is not yet known, but an Indian scholar (Radha Charan Goswami, Vrindaban) suggested to me that it may have been the Gopal Tapini Upanishad, which contains an account of Radha, and is reverenced by all Radhaworshipping sects.
An Outline of the Religious Literature of India.
By J. N. Farquhar, p, 237.

[3] राधिकोपषिद् ७.

[4] एन आउट लाइन आफ रिलिजस लिटरेचर आफ इण्डिया, फर्कुंहर, पृ० २३१

ग्रन्थ में अलबरूनी ने अठारह पुराणों के नाम गिनाये हैं, जिनमें भागवत भी एक है[1]।

कालान्तर में भी पुराणों की रचना होती रही और आज हमारे धार्मिक साहित्य में परवर्ती पुराण-ग्रन्थों की संख्या भी कम नहीं है।

सम्प्रदायोद्भवकाल के पुराणों में वैष्णव-भक्ति की दृष्टि से ब्रह्म-वैवर्त-पुराण का अत्यधिक महत्व है। अनेक विद्वान् इस पुराण को और भी बाद की रचना मानते हैं, जिसके लिये उनका तर्क है कि राधाकृष्ण सम्बन्धी उल्लेख होने पर भी इस पुराण का गौड़ीय गोस्वामियों ने उपयोग अथवा उल्लेख क्यों नहीं किया ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण अवश्य है परन्तु और भी ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं, जिनका उल्लेख गौड़ीय गोस्वामियों ने नहीं किया है, जब कि उनके समकालीन अन्य व्यक्तियों ने किया है। सम्भव है, कुछ ही समय पूर्व रचे गये ये पुराण सर्वत्र समान रूप से उस समय तक प्रचलित न हो पाये हों।

बृहद्वामन पुराण, बृहन्नारदपुराण, महाकूर्म पुराण, देवी भागवत, महा भागवत आदि अनेक पुराण-ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनकी रचना इसी काल की जान पड़ती है। पद्म-पुराण के पाताल खण्ड की रचना का समय यही सम्प्रदायोद्भवकाल ज्ञात होता है। इसी प्रकार स्कन्द-पुराण का वैष्णव-खण्ड भी इसी काल की कृति जान पड़ती है। इन सभी पुराणों में हमारे परिचित श्रीराधाकृष्णात्मक युगलतत्व विद्यमान हैं। उन्ही की लीला और महत्त्व से इन पुराण ग्रन्थों का अन्तस् स्निग्ध हो रहा है।

माधुर्य भाव की भक्ति के लिये युगल का स्वरूप जितना आवश्यक है, युगल की लीला भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। यह लीलातत्व भी भारतीय युगल मान्यता के उद्भव के साथ ही पूर्ण रूप से सम्बद्ध है। लीला के वैष्णव-स्वरूप को समझे बिना माधुर्य भक्ति का समझना सम्भव नहीं है। सखीभाव को समझने के लिये तो उस लीला को विशेष रूप से हृदयङ्गम करना होगा। इसी दृष्टि से अब हम भारतीय धर्म साधना के लीला तत्व का विचार करते हुए वैष्णवों के लीलातत्व की विशेषताओं का निर्वचन करेंगे।

---

[1] एन आउट लाइन आफ रिलिजस लिटरेचर आफ इण्डिया, फर्कुहर, पृ० २३२

लीलातत्त्व

'लीला' शब्द का सामान्य अर्थ है क्रीड़ा या खेल। लोक में भी लीला का प्रयोजन लीला के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। क्रीड़ा का उदय ही उस समय होता है, जब मनुष्य अपने अन्य समस्त व्यापारों से निवृत्त होकर केवल आनन्दकामी हो, अपने अल्हड़पन में अनासक्त चित्त से यों ही कुछ क्रिया करने लगता है। इसमें बाह्य उद्देश्य का अभाव परन्तु क्रीड़ा या खेल ही अभीप्सित रहता है। बालक की क्रीड़ामय निर्लिप्त मनोवृत्ति लीला का सुन्दर उदाहरण है। भगवान् की लीला भी बाह्य उद्देश्य से सर्वथा रहित स्वानन्दरूपिणी होती है। आचार्य वल्लभ ने अणुभाष्य में बताया है कि भगवान् की लीला का लीला को छोड़ कर अन्य कोई प्रयोजन नहीं है[1]। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की रासलीला को बालक द्वारा अपने ही प्रतिबिम्ब के साथ खेलने के समान बताया गया है[2]।

भगवान् के रूप और शक्तियां अनन्त हैं। उसी प्रकार उनकी लीला भी अनन्त हैं[3]। भक्तों का कथन है कि भगवान् की लीला का पार नहीं पाया जा सकता। यह ठीक भी है। अनन्त और असीम की सत्ता का ज्ञान सीमित और शान्त को हो भी कैसे सकता है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी उसकी लीला का पार नहीं पा सकते[4], फिर भी यदि प्रभु कृपा करे तो जीव को उसकी लीला का आनन्द प्राप्त हो सकता है[5]। उपासक का लक्ष्य भगवान् की लीला की प्राप्ति ही है।

---

[1] न हि लीलाया किंचित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्।
अणुभाष्य २.१.३३

[2] रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः
श्रीमद्भागवत १०.३३.१७

[3] जित तित देखौं तुम परिपूरन, आदि अनन्त अखण्ड।
लीला प्रगट देव पुरुषोत्तम, व्यापक कोटि ब्रह्माण्ड। सूर सारावली,
मथुरा, छं० ६८३।

[4] सिव विरञ्च सनकादि महामुनि, सेस सुरेस दिनेस।
इन सबहिन मिलि पार न पायौ, द्वारावती नरेस। सूर सारावली,
छं० ६८४

[5] यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्
मुण्डक, ३.२.३

प्रत्यक्ष और परोक्ष में जो कुछ भी सत्तावान् है, वह सब ब्रह्म का ही प्रतिरूप है, अंश है[1]। वह सब भगवान् की लीला का एक भाग मात्र है। अतः जगत् की प्रत्येक क्रिया भगवान् की ही लीला है।

भगवान् की लीला अनन्तविध है, अतः उपासकों ने अपनी अपनी पहुँच और स्थिति के अनुसार उसके विभिन्न रूपों को देखा और अनुभव किया है। विभिन्न पक्षों को भिन्न दृष्टियों से देखे जाने के कारण भक्तों ने लीला के वर्णन भी भिन्न रूप से किये हैं। यों भी विभिन्न व्यक्ति क्षेत्रों के अनुसार लीला के भिन्न रूप होते हैं। भगवान् की शक्तियां अनन्त हैं, अतः उन शक्तियों के माध्यम का क्रमशः निवारण करते हुए जहाँ भगवान् का विशुद्ध प्रेम माधुर्यमय रूप प्रकाशित होता है, वही भगवान् की अन्तरङ्ग लीला है। सर्वसामान्य रूप से प्रत्येक लीला में भगवान् के आनन्दांश की प्राप्ति भक्त को होती है, परन्तु जहाँ भगवान् स्वयं रस-रूप होकर भी रस की याचना करते हैं, प्रेम के भिखारी बनते हैं, वही भगवान् की लीला का परमानन्दमय रूप है। आनन्द की साधारण कोटियों के प्रकाशन और उसके सम्पूर्ण रूप की अभिव्यक्ति के कारण ही लीलाओं के अनेक भेदोपभेद होते हैं।

लीला-भेद

भगवान् की लीला के प्रमुखतया दो भेद माने जाते हैं। इनमें से एक को बहिरङ्ग लीला और दूसरी को अन्तरङ्ग लीला कहते हैं[2]। माया शक्ति के साथ सर्जनेच्छा का आश्रय कर जो नित्य लीला-क्रम है, उसी का नाम बहिरङ्ग लीला है। इस लीला का भौतिक क्षेत्र दृश्यमान जगत् है। स्वरूपभूता शक्तियों के साथ परब्रह्म की अहैतुक आनन्दमयी लीला अन्तरङ्ग लीला है। कहा गया है कि एक ही विष्णु अपने दो रूपों से सृष्टि का सञ्चालन और नित्यविहार लीला सम्पन्न करता है[3]। इन दोनों के लीलाओं के स्वरूप, कारण और महत्व में पर्याप्त अन्तर है, अतः दोनों को अलग-अलग देखना चाहिये।

---

[1] ब्रह्मैवेदं सर्वम्—नृसिंह तापिनी ३०-७-३.

[2] भागवत सम्प्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० १६९

[3] शृणुतेऽहं प्रवक्ष्यामि विष्णोः रूपं द्विधामतम्।
नित्यंविहार एकेन चान्येन सृष्टि एव हि। आदिपुराण १०.१६

बहिरङ्ग लीला

उपनिषद् कहते हैं, परब्रह्म ने एक से अनेक होने की कामना की '...एकोऽहं बहुस्याम् ।' एक से अनेक हो गये। यह ब्रह्माण्ड रच गया। कैसे रचा? शिव ने शक्ति का आश्रय लिया। दोनों के सङ्घट्ट से जगत उत्पन्न हुआ[1]। दृश्य जगत् वास्तव में शक्ति-शक्तिमान् का ही रूप है। शक्ति और शक्तिमान् ये दो ही पदार्थ हैं, जिनसे जगत् की उत्पत्ति हुई है[2]। यह जगत् स्त्री-पुंसात्मक है। शक्तिमान् शिव अथवा परब्रह्म हैं और शक्ति उनकी माया हैं। इन्हें ही प्रकृति और पुरुष भी कहा जाता है। पुराण का कथन है कि जगत् में जितने भी पुरुष हैं, वे सभी शङ्कर हैं और जितनी भी स्त्रियाँ हैं, वे सभी महेश्वरी हैं[3]।

मिथुनात्मक जगत् सर्वत्र इसी युग्म के कारण क्रियाशील है। जन्म-मरण, दिवा-रात्रि, जड़-चेतन, प्राण-रयि सर्वत्र यही युग्म हैं। इस समस्त विराट् की क्रिया उसी परमेश्वर का नित्य लीला-विलास है। वैज्ञानिक अनुसन्धाताओं के अनुसार इस जगत् के प्रत्येक कण में आकर्षण-विकर्षण का केन्द्र है। प्रत्येक अणु युग्म है, मिथुन से युक्त है। यह विलास प्रभु की ही लीला है।

परब्रह्म की इस विश्वलीला में भी आनन्द है। मिथुनात्मक संसार आकर्षण युक्त है। आनन्द का विभु रूप तो ईश्वर है परन्तु जगत् भी उसी का अङ्ग है। कहा गया है, समस्त जीव उसी आनन्द से उत्पन्न होते हैं, उसी के कारण वे जीवित रहते हैं और अन्त में उसी में सन्निविष्ट हो जाते हैं[4]। साधारणतया

---

[1] तन्त्रालोक, अभिनव गुप्त, ३-६७

[2] शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥ शिवपुराण, ५.६९.६.

[3] शक्तिशक्तिमदुत्थं तु शाक्तशैवमिदं जगत् । ३६
स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं स्त्रीपुंसात्मकमेव च । ३७
परमात्मा शिव प्रोक्तः शिवा मायेति कथ्यते । ३८.
पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी । ४०
शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी । ५४
शिवपुराण, वायु संहिता, उत्तर खण्ड, अ० ४

[4] आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तैत्तिरीय० ३.६.

जीव जगत् के स्वरूपानन्द में ही लिप्त रह जाते हैं, परमानन्द की ओर नहीं देखते।

भगवान् की बहिरङ्ग लीला अपने बाह्य रूप में नित्य नहीं है। जब वे चाहते हैं, सृष्टि को अपने में लय कर लेते हैं। शक्ति शक्तिमान् में विलीन हो जाती है। सृष्टि का यह क्रम विनाशोत्पत्ति-संयुक्त है[1]।

अन्तरङ्ग लीला

साधारणतया वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सभी दर्शन इस जगत् को देख कर ही प्रभु की लीला को देखते हैं। शिव-शक्ति का नित्य-विलास वे इस चराचर में देख कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। यदि वे अन्तरङ्ग लीला की बात भी कहते हैं तो जगत् की लीला के आध्यात्मिक अर्थ को लेकर ही। वास्तव में जगत् की वास्तविकता से परे वे जिस अन्तरङ्ग लीला तक दृष्टि दौड़ाते हैं, वह भी जगत् के कारण रूप में ही उनको दिखाई देती है। ऋषियों ने देव की निगूढ़ आत्म-शक्ति को निखिल के कारण रूपमें देखा है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् में कहा गया है कि ध्यानयोग में स्थित होकर उन ऋषियों ने परमात्मा की निगूढ़ और अचिन्त्य शक्ति का साक्षात्कार किया। वह अकेला ही काल से लेकर आत्मा तक सम्पूर्ण कारणों पर अधिष्ठित है[2]।

अन्तरङ्ग लीला प्रत्यक्ष से परे परोक्ष की लीला है, परन्तु उसे भी शक्ति के माध्यम से देखा जाना यह शक्तिवाद का अनिवार्य परिणाम है। वैष्णवों के अनेक सम्प्रदाय भी अन्तरङ्ग लीला को स्वरूपभूता शक्ति के माध्यम से देखते हैं परन्तु यह दृष्टि क्रमशः समाप्त होकर पूर्ण अहैतुकी लीला में पर्यवसित हो जाती है। शक्ति के माध्यम से देखी जाने वाली अन्तरङ्ग लीला सखीभावोपासकों की प्रेमलीला नहीं है। साधारण दार्शनिक मान्यताओं से भिन्न उसकी अन्तरङ्ग लीला की मान्यता केवल मात्र प्रेम के पारमार्थिक सिद्धान्तों पर आधारित है। इसका विवेचन ग्रन्थ के नित्यविहार के अंश में देखना चाहिये।

---

[1] तत्सर्वं प्राकृतं ज्ञेयं विनाशोत्पत्तिसंयुतम्। स्वच्छंद तन्त्र। १०.१२.६५.

[2] ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक।
श्वेताश्वतर उपनिषद्। १.३.

पौराणिक अवतारवाद और लीलातत्व

लीला वास्तव में पौराणिक तत्व है। परन्तु इसका मूल रूप उपनिषदों में प्राप्त होता है। सूक्ष्म विचार के द्वारा ऋषियों ने जगत् के माध्यम से उस परोक्ष सत्ता के विलास को जान लिया था। पुराणों ने ब्रह्म और उसकी शक्ति के इस तत्व को साकार और मांसल रूप प्रदान किया।

निर्गुण निराकार ब्रह्म सगुण साकार रूप में उपासकों के समक्ष आया तब विष्णु और लक्ष्मी का आधिदैविक रूप मानवीय मांसल रूप में दृष्टिगोचर हुआ। अवतारवाद सगुण साधना का मूल आधार है। आधिदैविक विष्णु लोक-कल्याण के लिये पृथ्वी पर अवतरित हुए। इस लोक-कल्याण के भी दो पक्ष हैं···१. साधुओं का परित्राण और २. दुष्कृतों का विनाश[1]। यह वस्तुतः लोकदृष्टि ही है। इसे भगवान् की बाह्य लीला के क्षेत्र में ही रखा जा सकता है।

भगवान् अपने प्रत्येक पूर्ण अवतार में धाम, लीला-परिकर सहित अवतरित होते हैं। शक्ति और शक्तिमान् का नित्य सम्बन्ध है, अतः भगवान् अपनी शक्तियों के साथ ही लोक में प्रत्यक्ष होते हैं। प्रत्येक अवतार के साथ ही उनकी शक्ति का पूजन भी सर्वत्र होता है। अवतारों का धराधाम पर किया गया कार्यादर्श उनकी लीला ही है, जिसका बहिरङ्ग हेतु है—धर्म-संस्थापना।

पुराणों में अवतारों का वर्गीकरण विभिन्न दृष्टियों से हुआ है। लोक-कल्याण के लिये अवतरित दशावतार पुराणों में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि ये दशावतार हैं। लीला के पूर्णत्व एवं अंशत्व के आधार पर पुनः आनुपातिक दृष्टि से इन अवतारों को वर्गीकृत किया गया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् के तीन रूप हैं···स्वयं रूप, तदेकात्म रूप और आवेश रूप। दशावतारों में भगवान् श्रीकृष्ण को स्वयं रूप माना गया है। मत्स्य, वाराह आदि तदेकात्म रूप हैं। ये भगवद्रूप होते हुए भी अवतार के समय रूप और आकार में भिन्न होते हैं। आवेश रूप अवतारों की श्रेणी अलग है। ज्ञान, शक्ति आदि द्वारा विभिन्न विशिष्ट जीवों के रूप में रहने वाले भगवान् उन रूपों में आवेश रूप होते हैं। नारद, शेष, सनकादिक इनके उदाहरण हैं[2]।

---

[1] परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ गीता। ४.७.

[2] भागवत सम्प्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० १७३.१७४.

पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार अवतारों के ये तीन भेद और हैं। पुरुषावतार निखिल सृष्टि के कारणभूत ब्रह्म को प्रथम पुरुष, समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त उसके अन्तर्यामी स्वरूप को द्वितीय पुरुष और समस्त प्राणियों के हृदयस्थ अन्तर्यामी ब्रह्म को तृतीय पुरुष कहा गया है। गुणावतार सत्, रज, तम गुणों से विशिष्ट विष्णु, ब्रह्मा और महेश हैं। लीलावतार लोक में लीला विशिष्ट के हेतु अवतरित चौबीस रूप हैं। सनकादि, शूकर, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, मत्स्य, कमठ, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि आदि नाम श्रीमद्भागवत के प्रथमस्कंध अध्याय ३ में गिनाये गये हैं। अन्य पुराणों में इन अवतारों को और भी उलटफेर के साथ गिनाया गया है।

यहाँ लीलावतार देवतिर्यङ्नरादि में विभिन्न रूपों में भगवान् का दर्शन है। सम्पूर्ण लोकों की रचना वे ही करते हैं। देवता, पशु पक्षियों आदि की योनियों में लीलावतार धारण कर वे ही विश्व का पोषण करते हैं[1]। कहा गया है कि भगवान् की लीला अमोघ है। वे लीला से ही इस संसार की रचना, पालन और संहार करते हैं। परन्तु इसमें वे लिप्त नहीं होते[2]। स्पष्ट है कि भगवान् की लोक-पालन-रक्षण की अवतारों के माध्यम से होने वाली ये विभिन्न लीलाएं, उनकी बाह्य लीलाएं ही हैं। भगवान् अपनी वैष्णवी माया के कारण इस सब विश्व की रचना आदि की लीलाएं करते हुए भी प्रकट रूप जगत् के वशीभूत नहीं होते। अर्थात् इस जगत् के परोक्ष में उनकी अन्तरङ्ग लीला भी हैं, जो इन बाह्य लीलाओं से परे हैं। भगवान् की बाह्य लीला का गुणगान करने से, उनके कथा-श्रवण से अन्तः करण का मैल कटता है और भगवान् में नैष्ठिकी भक्ति हो जाती है।

---

[1] तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव।
अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः॥ ३१॥
असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः।
स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुंक्तेभूतेषु तद्गुणान्॥ ३३॥
भावयत्येष सत्वेन लोकान्वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ् नरादिषु॥ ३४॥
श्रीमद्भागवत। १.२.

[2] स वा इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।
श्रीमद्भागवत १.३.३६

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का माधुर्यमण्डित रूप लीला की संपूर्णता को प्रकाशित करने वाला है। भारतीय धर्म साहित्य में हम श्रीकृष्ण का परब्रह्म के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान क्रमशः बढ़ता हुआ देखते हैं। गीत-गोविन्दकार ने उन्हें दशावतारों में भी नहीं गिनाया है[1], क्यों कि वे अवतारी हैं। क्रमशः परब्रह्म के पूर्णतम रूप में अधिष्ठित हो जाने पर श्रीकृष्ण की लोकातीत अन्तरङ्ग लीलाओं को लीलाओं का वास्तविक रूप समझा गया। उन्हीं अन्तरङ्ग लीलाओं के प्रकाशन के लिये श्रीकृष्ण का अवतार हुआ, ऐसा भक्त-आचार्यों को मान्य हुआ।

वैष्णवों का लीला-दृष्टिकोण

सगुणमतवादी वैष्णवों की साधना के प्रधान आलम्बन राम और कृष्ण रहे हैं। इनमें श्रीकृष्ण को विशेष प्राधान्य मिला है। वैष्णवों में प्रायः सभी ने श्रीकृष्ण के दो रूप माने हैं—१. गोलोकस्थ अवतारी रूप २. व्रजस्थ अवतार रूप। इन दोनों अवतारों में प्रथम नित्यविहार का रूप है और दूसरा जगत्प्रवृत्ति रूप[2]। गोलोक की लीलाओं को अन्तरङ्ग लीला तथा अवतारकालीन सामान्य लीलाओं को वाह्य लीला कहते हैं। अवतार समय की कुछ लीलाओं को श्रीकृष्ण की स्वधामवत् अन्तरङ्गलीला भी कहा जाता है।

वाह्य लीला को जगत् के माध्यम से भी वैष्णवों ने देखा है। समस्त संसार, उसका गतिचक्र श्रीकृष्ण की आरती है। सूरदास जी ने आरती के ही रूपक से इस विश्वलीला का सुन्दर परिचय दिया है[3]। विश्वलीला प्रभु की प्रत्यक्ष लीला है।

---

[1] गीतगोविन्द, प्रारम्भिक अष्टपदी।

[2] अहं वहामीह गतिं तदीया, रूपद्वयं नित्यमतोऽस्यविष्णोः।
एकेन नित्यं नियतो विहारस्तथा द्वितीयेन जगत्प्रवृत्ति॥ हंसविलास उ० ४७

[3] हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डांड़ी सहस फनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी।
रवि ससि ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी।
उड़त फूल उड़गन नभ अन्तर अञ्जन घटा घनी।

इसी विश्व-लीला को गति देने के लिये अवतार होते हैं। अतः उन अवतारों की लीला भी बाह्य लीला है। परन्तु श्रीकृष्णावतार बाह्य लीलाओं के साथ ही अन्तरङ्ग लीला का आनन्द प्रकट करने के लिये भी हुआ था। आनन्द की अनुभूति ही जिन लीलाओं का एकमात्र निष्कर्ष है, वे ही श्रीकृष्ण की अन्तरङ्ग लीलाएं हैं।

श्रीकृष्ण की लीलाओं को क्षेत्र के अनुसार तीन रूपों में बाँटा गया है। ये हैं, द्वारिका-लीला, मथुरा-लीला, और व्रज-लीला। इनमें लीला का बाह्य तत्व क्रमशः घटता जाता है। अतः सबसे सूक्ष्म लीला व्रजलीला मानी जाती है। व्रजलीला में वात्सल्य, सख्य, शृङ्गार आदि विनोद हैं। इन सबमें शृङ्गार-लीला भक्ति-रस की दृष्टि से अन्यतम है। व्रज-लीलाओं का हृदय वृन्दावन की शृङ्गार-लीलाएं हैं। परमानन्द के नित्य विलास का यह पृथ्वी पर अवतरण है। इसका निष्काम भाव से गान और उसकी प्राप्ति वैष्णवों का चरम लक्ष्य है। लीलाओं के इस आनन्द की प्राप्ति ब्रह्मानन्द से भी ऊपर है। श्री वल्लभाचार्य जी का कथन है कि ब्रह्मानन्द से निकालकर भजनानन्द में योजित करना ही लीलाओं का प्रमुख हेतु है[1]।

वैष्णवों ने भी भगवान् की शक्ति के विभिन्न रूपों को स्वीकृत किया है। सर्व प्रथम वे माया शक्ति को मानते हैं, जो ब्रह्म के साथ मिलकर बाह्य लीला का सम्पादन करती है। माया-शक्ति जड़ और बहिरङ्गा शक्ति है[2]। दूसरी स्वरूप-शक्ति है, यह चिच्छक्ति अन्तरङ्गा है[3]। स्वरूप शक्ति के तीन भेद हैं। भगवान् के सच्चिदानन्द गुणों के अनुसार यह सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी-तीन रूप की मानी जाती है। ह्लादिनी भगवान् की शक्ति का पूर्णतम रूप

नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर नर असुर अनी।
काल कर्म गुन और अन्त नहिं, प्रभु-इच्छा-रचनी।
यह प्रताप दीपक सु निरन्तर, लोक सकल भजनी।
'सूरदास' सब प्रगट ध्यान में, अति विचित्र सजनी।
सूर सागर, ना० प्र० सभा, पृ० १२३

[1] ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने।
लीलाया युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते।
सुबोधिनी टीका। रास प्रकरण का आरम्भ।

[2] भागवत सम्प्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० १६९

[3] वही पृ० १६९

है। वे ही श्रीराधा हैं। श्रीराधा और कृष्ण की नित्य अन्तरङ्ग लीला ही रस-रूप श्रीकृष्ण की आनन्दलीला है, जिसका कोई भी बाह्य प्रयोजन नहीं है।

वाह्य लीला में जो रमते हैं, वे क्रमशः अन्तरङ्ग लीला में प्रवेश पाने का यत्न करते हैं। अन्तरङ्ग लीला पूर्णानन्द लीला है। जब इस लीला में भक्त का प्रवेश हो जाता है, तब वह अपने जीव के नीचातिनीच रूप को छोड़ कर लीला-आनन्द का भागी होने के लिये साधना करता जाता है। वह लीलाओं को छोड़ और कुछ नहीं गाता। उन्हीं का चिन्तन और ध्यान करता है और अन्त में उन्हीं को प्राप्त करता है। महात्मा सूर ने जिस समय से लीलाभेद के इस तत्व को जाना, उस दिन से वे विनय की सामान्य भक्ति को छोड़, उससे ऊपर उठ, लीला-गान में मत्त हो गये।

श्रीवल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ।
ता दिन तें हरि लीला गाई एक लच्छ पद बन्द ॥[1]

लीला का अध्यात्म पक्ष और उसका सहज-स्वरूप

जो लोग ज्ञान-मार्ग के प्रतिपादक हैं, उन्हें लीलाओं के सहज स्वरूप को समझने में कठिनाई होती है। श्रीकृष्ण-लीलाओं के आध्यात्मिक अथवा प्रतीकार्थ लेकर ही वे उनको समझने का यत्न करते हैं। उनकी दृष्टि में लीलाएँ वास्तव में किन्हीं आध्यात्मिक क्रियाओं के रूपक मात्र हैं। लीलाओं के वास्तववाद पर उनका विश्वास नहीं जमता है।

आज के बुद्धिवादी युग में विशेष रूप से कृष्णलीलाओं की ऐसी ही परिभाषाओं को पसन्द किया जाता है। उन विद्वानों की दृष्टि में गोपियाँ आत्मा हैं, श्रीकृष्ण परमात्मा हैं[2]। श्रीकृष्ण और गोपियों का मिलन परमात्मा और आत्मा का मिलन है। रास अनेक मुक्त आत्माओं की परमात्मा के प्रति सर्वस्वार्पणमय प्रीति है। चीर-हरण लीला का प्रतीकार्थ भी प्रसिद्ध है[3]।

---

[1] सूर सारावली, सं० श्री प्रभुदयाल मीतल, मथुरा, छंद ११०२.११०३.

[2] The deeper significance undrlying the allegory is that Shri Krishna stands for the Over-Soul or the Supreme Spirit, whereas the virgins collectively represent the sentient human soul.

Among the Hindus By R. Manohar Lall, Canpur, 1933
Introduction, P. XXI.

[3] Among the Hindus. By R. Manohar Lall, Canpur Introduction P. XXI.

गोपियाँ आत्मा हैं, वस्त्र आत्मा के आवरण हैं उन्हें उतारे बिना परमात्मा का वास्तविक साक्षात्कार सम्भव नहीं है। श्रीकृष्ण ने जान-बूझकर गोपियों के चीर चुरा लिये थे और उन्हें समर्पण की अन्तिम सीमा का पाठ पढ़ाया था। प्रतीकार्थ की यह प्रवृत्ति यहाँ तक है कि श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं के भी ऐसे ही अर्थ लगाये गये हैं। श्रीकृष्ण गोपियों का माखन चुराते हैं, अर्थात् उनके सुकृतों को एकत्र करते जाते हैं। आदि।

हरि-लीला की यह व्याख्या श्रीकृष्णलीलाओं को संदेह की दृष्टि से देखे जाने वाले रूप की अपेक्षा अनेक अंशों में सन्तोषजनक और महत्त्वपूर्ण है। इससे चित्त का परिष्कार भी होता है, परन्तु सगुणमतवादी वैष्णवों की दृष्टि से हरि-लीला का यह अर्थ कदापि युक्तियुक्त नहीं है। यह आध्यात्मिक व्याख्या ज्ञानमार्गी कबीर आदि निर्गुनियाँ सन्तों के पदों के लिये उपयुक्त और उचित है परन्तु सगुणमतवादियों की लीला को कोरे ज्ञानमार्ग के प्रतिपादन की दृष्टि से देखा जाना उपयुक्त नहीं है। न तो श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं के प्रतीकार्थ निकालना सम्भव है और न आवश्यक ही है[1]। वस्तुतः यह प्रयास भक्तों की सहज निष्ठा से मेल भी नहीं खाता।

वैष्णवों ने लीला को सहज यथार्थ रूप में ही देखा है। 'लोकवत्तुलीला-कैवल्यम्' सूत्र के अनुसार लीला का लोकानुकूल वर्णन और ध्यान ही उनकी पद्धति है। अवतारवाद का मूल आधार तत्त्व को साकार रूप में देखना ही है। लीला भी उसी आधार पर फलती फूलती है। उसे पुनः तत्त्व के रूप में निराकार बना देना सगुणमतवाद के अनुकूल नहीं है। वैष्णव साधकों ने जो कुछ लीला का वर्णन किया है, वह उन्होंने अपने भाव-नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा है। ज्ञानमार्ग से जानने की अवस्था तक ही वे सीमित नहीं रहे हैं।

जो विद्वान् लीलाओं का लाक्षणिक रूप लेने की ओर प्रवृत्त होते हैं, उसका एक कारण यह भी है कि श्रीकृष्ण की लोक के समान दिखाई देनेवाली

---

[1] श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने ग्रन्थ महाकवि सूरदास के प्रतीक-योजना प्रकरण में लीला के दोनों रूप लिये हैं। 'जो लाक्षणिक अर्थ मानते हैं, उन्हें भी सुविधा है कि वे ऐसा कर सकते हैं परन्तु इसकी आवश्यकता नहीं है कि काव्य की स्वाभाविक गति में विक्षेप करने वाले किसी न किसी लाक्षणिक अर्थ को ग्रहण हीकरें।'

महाकवि सूरदास, पृ० १२८

[2] ब्रह्मसूत्र २.१.३३

शृङ्गार-लीलाओं का कोई समाधान उनके पास नहीं है और प्रतीकार्थ के रूप में वे आरोप द्वारा अन्य अर्थ निकाल कर अनेक आरोपों से बच जाते हैं। परन्तु वैष्णव-दृष्टि इन लीलाओं को काम-क्रीड़ा मानती हुई भी उन्हें लौकिक काम से युक्त नहीं मानती। उसकी बुद्धि को साधना द्वारा यह सहज विश्वास हो जाता है कि राधा कृष्ण के बीच जो सम्बन्ध है, वह लौकिक कामापन्न नहीं है, अपितु दिव्य प्रेम ही है। यही कारण है कि साधारण व्यक्ति जब उस प्रेम-लीला पर नाक-भौं सिकोड़ता है, तब वैष्णव उस लीला के गान में आनन्द की उपलब्धि करता है। लीला उसके लिये वास्तविक रूप में होती है, परन्तु लोक के काम से वह तत्वतः भिन्न होती है। यही वह बिन्दु है, जहाँ अन्य साधारण जन लीला के विषय में भटक कर भ्रान्त धारणा बना लेते हैं और वैष्णव साधक उन्हें आनन्द की अन्तिम सीमा मानकर उनकी उपासना में प्रवृत्त होता है।

अन्तरङ्ग लीला का जो स्वरूप हमने ऊपर स्पष्ट किया है, वह अवतार-कालीन होने के कारण काल-विशेष में रहने वाली है। परन्तु वह लीला जिस मूलभूत लीला का अवतार है, वह नित्यलीला अनाद्यन्त है। श्रीकृष्ण के मूलधाम के नाम के साथ ही उस नित्य लीला का नाम जुड़ा रहता है। कोई उसे गोलोक लीला, कोई चन्द्रपुर लीला, आदि नामों से पुकारते हैं। इस नित्य लीला की पूर्णता नित्य वृन्दावन के नित्य विहार में सम्भव हुई है। यही लीला सखीभाव के उपासकों की उपासना का लक्ष्य है, जिसकी पृष्ठभूमि औपनिषदिक, पौराणिक और अनेक वैष्णव सम्प्रदायों की लीला-भावना में सन्निहित है।

सखीभाव की उपास्य-लीला की एक विशेषता इस बात में है कि वह शक्ति-शक्तिमान् के आधार पर नहीं टिकी है अपितु एक ही 'रस' के दो रूप वहाँ नित्य प्रेम सम्बन्ध से नित्य क्रीड़ाशील हैं। शक्तिवाद की कठोरता या उसकी प्रयोजनीयता वहाँ नहीं रही है। प्रेम की स्निग्धता और आनन्द यही इस लीला के तत्व हैं[1]।

प्रेरणा स्रोत के रूप में तन्त्र-साधन।

सखीभाव की साधना में श्रीराधा का प्रधान्य होने के कारण अनेक विद्वान् उसे शक्तिवादी मान बैठते हैं। शाक्तों की साधना-पद्धति तान्त्रिक है,

---

[1] लीला के स्वरूप के लिये आगे नित्यविहार-प्रसङ्ग देखें।

सखीभाव की साधना-पद्धति को भी दूर से तान्त्रिक ही समझ लिया जाता है। यही कारण है कि रास लीला को कुछ विद्वानों ने वाम मार्गियों की चक्र-पूजा की नकल माना है[१]। राधा-प्राधान्य को शक्ति-प्राधान्य मान कर कुछ विद्वानों ने सखीभावोपासक राधावल्लभ सम्प्रदाय को शाक्त-सम्प्रदाय घोषित भी कर दिया है[२]। विदेशियों को ही नहीं कतिपय एतद्देशीय विद्वानों को भी इन सम्प्रदायों को तान्त्रिक मानने का भ्रम हुआ है[३]। बङ्गाल के वैष्णव साधक चण्डीदास, नित्यानन्द, वीरभद्र आदि की मान्यता तान्त्रिकों में होने के कारण, विद्वान् यह कहने का साहस करते हैं कि ये रस-साधक वैष्णव भी तान्त्रिक थे[४]।

सखीभाव के सिद्धान्त और उपासना पर तंत्र-साधना का क्या प्रभाव है, यह देखने से पूर्व-तंत्र का थोड़ा स्वरूप जान लेना आवश्यक है, तभी

---

[१]. An equal number of men and women meet and take a meal together after which there is promisenous intercourse. The circle gets its name from Krishna's dalliance (Ras Lila) with the Gopis but its methods are copied from the Chakra Puja of the lefthand Shaktas.

An Outline of the Religious Literature of India, By J. N. Farquhar, p. 315.

[२]. They (Radhavallabhis) are Shaktas, placing Radha above Krishna.

An Outline of the Religious Literature of India, By. J. N. Farquhar, p. 318.

[३]. Members of the Radhavallbhis sect which arose from the Nimbarka or the Sanakadi Sect considered like the Tantrics, Shakti to be the superior to Purusha. Hence they put Radha before Krishna. Medieval Mystecism of India. Kshiti Mohan Sen, p. 53.

[४]. In Bengal, too, Vaishnavism together with Tantrics gave rise to different new doctrines. Vaishnavas who are under the influence of the Tantras, have more regard for Candidas, Nityanand and Virbhadra, than Caitanya, the great master.

Medieval Mysticism of India. By
Kshiti Mohan Sen, pp. 53. 54.

शाक्त और वैष्णव तंत्रों का सखी भाव पर कितना प्रभाव है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

'तन्त्र' का अर्थ ज्ञान-विस्तार करने वाला शास्त्र है। त्राण करने वाला भी तन्त्र कहा जाता है[1]। तन्त्रों में देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि के चिन्तन के अनन्तर, तद्विषयक मंत्रों का उद्धार कर, उन मन्त्रों को यंत्र में संयोजित कर, देवता का ध्यान तथा उपासना, उनके पांचों अंग पटल, पद्धति, कवच, नाम-सहस्र और स्तोत्र सुव्यवस्थित रूप में दिखाये जाते हैं[2]। वस्तुतः ज्ञान के उपरान्त उपासना की विभिन्न क्रियाओं और विधानों का विस्तृत नियमन करने वाले ग्रन्थों को ही तंत्र कहा जाता है। यह उपासना के साधन के पर्याय के रूप में भी व्यवहृत होता है[3]। तंत्रों को आगम भी कहा जाता है।

वैदिक साहित्य में विष्णु, रुद्र और शक्ति की उपासना के साक्ष्य मिलते हैं। तभी से इन तीनों की उपासना अनवच्छिन्न रूप से अद्यावधि अलग-अलग भी होती आई है। सौर, गाणपत्य आदि संप्रदाय भी प्राचीन काल में बलशाली थे परन्तु बाद में उनका वैसा प्रभाव नहीं रहा। धार्मिक साधना में सर्वदा ये तीनों देवता और उनके संप्रदाय प्रधान स्थान पाते रहे हैं। समस्त धार्मिक साहित्य प्रमुख रूप से इन तीनों संप्रदायों में बँटा है। उपनिषद्, पुराण आदि वैष्णव, शैव और शाक्त तीनों विचार धाराओं से अलग-अलग सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार तीनों सम्प्रदायों के तन्त्र भी अलग-अलग हैं।

तन्त्र-उपासना वास्तव में शाक्तों की अपनी वस्तु ज्ञात होती है परन्तु जिस प्रकार अन्य पद्धतियों में शाक्तों ने साझा किया है, उसी प्रकार शैव और वैष्णवों ने भी तंत्र-पद्धति को अपनी उपासना के लिये आंशिक रूप में अपनाया है। यही कारण है कि अनेक वैष्णव तंत्र ग्रन्थ भी हमें प्राप्त होते हैं, इतना अवश्य है कि कालान्तर में जब शाक्तों के वामाचार में अनेक प्रकार की

---

[1] (क) तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तंत्रम्।

(ख) तनोति विपुलानर्थान् तंत्र मंत्र समन्वितम्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

'कामिक आगम' से भारतीय दर्शन, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ४५४ पर उद्धृत।

[2] वही, पृ० ५३०।

[3] हिन्दूइज्म पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट, जे० मरे मिशेल, लन्दन, पृ० १४१।

हीनताएँ हो गईं, उस समय भी वैष्णव तंत्र उनसे प्रायः दूर ही रहे। तंत्रों में बौद्ध तन्त्रों का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

शैव-तन्त्र

शैव-तन्त्रों में दार्शनिक दृष्टि से द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत तीनों भेद मिलते हैं, जब कि शाक्त तंत्र प्रायः अद्वैतवादी ही हैं। शैवों में शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक साधनामत प्राचीन हैं, पाशुपत मत वाले लकुलीश भी कहलाते हैं। वीर शैव मत के अनुयायी अपने को लिंगायत भी कहते हैं। काश्मीर का शैव दर्शन प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक् दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।

कामेश्वर और कामेश्वरी का सामरस्य रूप शैव दर्शन के आनन्दवाद की भूमिका है। शिव-शक्ति की समरसता अथवा सामंजस्य की स्थिति इस सृष्टि की उत्पत्ति धारण और आनन्द का कारण है। शिव और शिवा का यह संबंध अन्योन्याश्रय है, परन्तु शिव ही प्रधान हैं।[1]

प्रत्येक सम्प्रदाय में उपासक की साधना का स्वाभाविक रूप उसके उपास्य के स्वरूप पर निर्भर करता है। जिससे उपास्य देव प्रसन्न हों वही साधना का स्वाभाविक मार्ग समझा जा सकता है। श्मशानवासी, मदिरापायी, रुण्डमालधारी शिव की उपासना में जब उपास्यानुकूल आचारों का उपयोग होने लगा तो सिद्धान्त के सर्वांग सुन्दर होते हुए भी पद्धति में निरंकुशता का समावेश हुआ। यह आचार वैष्णवों के सुकोमल प्रेम माधुर्यभाव का पूर्ण विरोधी है। विभिन्न प्रकार की श्मशान-साधनाएँ और योग सिद्धियाँ शैव-शाक्तों की अपनी निजी वस्तु हैं।

शाक्त-तंत्र

शक्ति की उपासना का मूल रूप अवश्य ही बहुत सात्विक रहा होगा। मातृ-हृदय की कोमलता ही प्रारंभ में शक्ति-रूप में प्रतिष्ठित हुई होगी। शाक्तों के मूल सिद्धान्त पूर्ण तत्व-विवेचक और दार्शनिक हैं। परन्तु शाक्त-संप्रदाय में भी पद्धति की प्रधानता ही प्रमुख है। तत्व के प्रतीक रूप में जिन यंत्रों की कल्पना की गई थी, वे क्रमशः भौतिक रूप में परिणत होकर मूल लक्ष्य से गिरते गये। प्रारम्भिक तत्व विवेचन की भावना कालान्तर में घृणित आचारों में परिवर्तित हो गई। तान्त्रिक आचारों में प्रसिद्ध कौलाचार की

---

[1] भारतीय दर्शन, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ५७७।

स्थिति ऐसी ही है। पूर्व कौल श्रीचक्र के भीतर योनि की पूजा करते थे, जब कि उत्तर कौल सुन्दर तरुणी की प्रत्यक्ष योनि के पूजक हो गये।[1]

बात यह है कि इन तन्त्रों की भाषा प्रतीकात्मक थी। प्रतीकात्मक भाषा और प्रतीक-साधना धीरे-धीरे उसके वास्तविक अर्थ से हट कर ऊपर की सतह पर आ गई, जिससे निंद्य कर्मों को करने में भी लोग नहीं हिचके। पंच मकारों की उपासना का वास्तविक अर्थ तो कुछ और ही था, परन्तु धीरे-धीरे वह मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन तक ही सीमित रह गया।

शाक्तों की उपासना गुह्य और रहस्यमयी है, इस उपासना के प्रभाव से लोक में आचार-हीनता को भी बहुत कुछ प्रश्रय मिला-संभवतः इसी आचार-दृष्टि के अभाव के कारण शाक्त उपासक वैष्णवों के निकट बहुत ही बदनाम रहे हैं। जिस काल की चर्चा हमने की है, उसमें तंत्रों का प्रयोग टोनों-टोटकों में सीमित रह गया था। उच्चाटन, मारण, वशीकरण की तामसी क्रियाओं की साधना ही बहुत कुछ बलवती हो गई थी। उस समय के तांत्रिकों के समक्ष न तो मुक्ति का उत्कृष्ट आदर्श था, न अभ्युदय की मंगल-भावना। भक्तिकाल के साधकों ने ऐसे शाक्तों का प्रबल विरोध किया है। कबीरदास ने शाक्तों को जी भर कर कोसा है और उनसे सदा दूर रहने की चेतावनी दी है। वे कहते हैं कि शाक्त और श्वान दोनों भाई-भाई हैं, दोनों की नींद और भौंकना एक जैसा ही है।[2] और भी अधिक स्पष्ट होकर वे शाक्तों को सूअरों से भी बुरा बताते हैं। सूअर गांव को साफ तो रखता है, पर शाक्त तो 'सुमरणी' की नाव पर बैठकर भी डूबता ही है।[3] सखी-भाव के उपासक श्रीहरिराम व्यास[4] बिहारिनदास[5] आदि ने भी शाक्तों की इन्हीं शब्दों में

---

[1] भारतीय दर्शन, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ५३६।

[2] साकत सुनहा दूनों भाई।
एक नींद एकै भौंकत जाई। कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७।

[3] साकत से सूकर भला, सूचा राखै गाँव।
बूड़ा साकत बापुड़ा, बैसि सुमरणी नांव। कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७।

[4] साकत सूकर कूकरा, इनकी मति है एक।
कोटि जतन परबोधियै, तऊ न छोड़ैं टेक। भक्त कवि व्यास जी, मथुरा। पृ० ४१७।

[5] साकत के घर पाहुनौ, भूलि भक्त जिन जाउ।
बिहारीदास बिपतौ भली, बरु मांस स्वान को खाउ।। बिहारिनदास की साखी, सं० ५१।

भर्त्सना की है। ये सभी शाक्तों को श्वान-शूकर और म्लेच्छों के समान मानते हैं। उन्हें अस्पृश्य और अदर्शनीय समझते हैं। उनकी दृष्टि में शाक्तों के सिद्धान्त और आधार घृणित हैं, शाक्तों के प्रति वैष्णवों में प्रतिक्रिया की भावना ही सर्वत्र प्रखर है। ऐसी स्थिति में शाक्तों का सखीभाव के संप्रदायों पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव स्वीकार करना उचित न होगा। यदि यह कहा जाय कि युगल तत्त्व की मान्यता और गुह्यता दोनों में समान है तो युगल तत्त्व के विवेचन में हम कह चुके हैं कि यह किसी एक संप्रदाय-विशेष की वस्तु न होकर संपूर्ण भारतीय साधनाओं में संव्याप्त है। जहां तक गुह्यता की भावना की बात है, वह शाक्तों में भले ही उनके समाज बहिष्कृत कर्मों के कारण रही हो, वैष्णवों की गोपनीयता उनकी सुकोमल भाव-साधना की एकान्त निष्ठा के कारण ही है। शक्ति की कठोरता और प्रेम की स्निग्धता में जो अन्तर है, वही अन्तर शाक्तों की तंत्र-साधना और सखी भावोपासकों की प्रेम-साधना में है। अतः हम शाक्त तंत्रों को सखीभाव की साधना के प्रेरणा-स्रोत के रूप में नहीं मान सकते। साधारणतया वैष्णवों पर शाक्त-प्रभाव मानने को जो विद्वान् उत्सुक दिखाई पड़ते हैं, वह उनकी सखीभाव के प्रेमतत्त्व के प्रति अनभिज्ञता का ही परिणाम है।

बौद्ध तंत्र

विद्वानों ने ६०० ई० से १२०० ई० तक के काल को 'तांत्रिक काल' की संज्ञा दी है। इस काल में सभी वैदिक-अवैदिक, शैव-वैष्णव अथवा बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तक में तन्त्र-साधना का पूर्ण प्रचार था।[1] हमारा अनुमान है कि केवल १२०० ई० तक ही नहीं तन्त्र का प्रभाव १५ वीं शताब्दी तक

---

[1] वास्तव में ६०० से १२०० ई० तक का काल ही ऐसा रहा है कि भारतीय धार्मिक संस्कृति में सहसा तांत्रिक साधनाओं का प्रादुर्भाव होता है और वे इतनी व्यापक हो जाती हैं कि सभी सम्प्रदाय चाहें वैदिक हों या अवैदिक, चाहे वे वैष्णव हों या शैव, चाहे वे बौद्ध हों या जैन सभी तांत्रिक सृष्टि तत्त्व, तांत्रिक देव-मंडल, तांत्रिक यन्त्र-विधान, तांत्रिक मंत्र-साधना, तांत्रिक आचार-विधान तथा हठयोगी साधनाओं को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय देने लगते हैं। इसी कारण इस समस्त काल को ही विद्वानों ने तांत्रिक काल के नाम से अभिहित किया है।"

सिद्धसाहित्य, डा० धर्मवीर भारती, इलाहाबाद, १९५५, पृ० ११३।

प्रभावी रूप में फैला रहा है। इससे बहुत पूर्व ही अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव के कारण गौतम बुद्ध का सरल और सीधा मार्ग भी उन्हीं के अनुयायियों द्वारा गुह्य साधनों का पोषक बन गया था।

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक साधनाओं के प्रविष्ट करने का श्रेय जनश्रुति योगाचार मत के विद्वान् आसंग को देती है परन्तु अन्य विद्वानों की दृष्टि में माध्यमिक मत के प्रसिद्ध रासायनिक श्री पर्वत-निवासी नागार्जुन बौद्ध धर्म में तान्त्रिक साधनों के आरम्भ कर्ता थे।[1] अनेक बौद्ध तान्त्रिक तो बुद्ध के द्वारा ही तान्त्रिक साधना का प्रचार होना बताते हैं।[2]

युगल तत्व शिवशक्ति के सामरस्य का सिद्धान्त यहां प्रज्ञोपाय की संयुक्ति द्वारा प्रकट किया गया है। युगनद्ध युगल का ही एक दूसरा रूप है। शून्यता और करुणा को बौद्ध तांत्रिकों ने स्त्री-पुरुष के रूप में चित्रित किया है। शून्यता और करुणा अथवा प्रज्ञोपाय का युगनद्ध मैथुन अथवा कामकला का प्रतीक है। यह सिद्धान्त पूर्ववर्णित युगल का ही रूप है[3]।

बौद्ध तांत्रिकों में भी कामाचार ने घर किया। बिहारों के भिक्षु-भिक्षुणियां लक्ष्य-भ्रष्ट होकर प्रत्यक्ष कामपूजा में रत हो गये। महामुद्रा की साधना के विना किसी प्रकार की सिद्धि संभव नहीं मानी गई। वज्रयानी आचार्य उस स्त्री को महामुद्रा कहते थे, जिसके संसर्ग से सिद्धि प्राप्त की जाती थी। वह स्त्री जितनी नीचातिनीच जाति की होती थी, उतनी ही शीघ्र सिद्धिदा मानी जाती थी[4]।

शक्ति-साधनाओं का प्रधान केन्द्र बङ्गाल था। बौद्धों का तन्त्रवाद भी भारत में बङ्गाल में ही विशेषकर फला-फूला। वज्रयानी बौद्ध-संप्रदाय का अंतिम रूप बौद्ध सहजयानियों में परिवर्तित हुआ। इन लोगों ने बंगाल के

---

[1] आव्स्क्योर रिलिजस् कल्टस, शशिभूषण दासगुप्त पृ० १७।

[2] रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना, भुवनेश्वर मिश्र माधव, पृ० ३९।

[3] This principle of Yuganaddha is the same as the principle of non-duality (Advaya). The principle of Conjugal union (Maithun or Kamkala, as it is called in kamkala Vilas) of the Shaiva and the Shakta Tantras originally refers to the same principle.

Obscure Religious Cults. By S. B. Dasgupta, p. 33.

[4] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, श्री परशुराम जी चतुर्वेदी, पृ० ३५-३६

वैष्णव धर्म को अपने ढंग से प्रभावित किया है, यह सत्य है। गौड़ीय वैष्णवों में शक्तिवाद का जो परिष्कृत रूप है, उसपर इन तांत्रिकों का अप्रत्यक्ष प्रभाव ज्ञात होता है। प्रायः अनेक बंगाली वैष्णव-विद्वान् वैष्णव धर्म पर शाक्त प्रभाव मान लेते हैं, इसका कारण भी यही है। परंतु वैष्णव धर्म ने बौद्ध सहजियाओं को अधिकाधिक प्रभावित किया है। बौद्धों का यह सहजिया संप्रदाय क्रमशः परिवर्तित होकर वैष्णव सहजिया बन गया। इन्होंने अपने उपास्य युग्म को राधा-कृष्ण के ही रूप में देखा। राधा-कृष्ण को ही शक्ति-शक्तिमान् मान कर इन्होंने प्रत्येक पुरुष को कृष्ण और प्रत्येक स्त्री को राधा माना। परंतु यह संप्रदाय वैष्णवों में भी अपने ढंग का अकेला है। इस पर बंगाल के वैष्णवमत के प्रेम-धर्म का महत्त्वपूर्ण प्रभाव माना जाता है[1]।

वैष्णव तन्त्र

वैष्णव तंत्र अथवा आगम भी अत्यंत प्राचीन हैं। इनमें सर्वप्रधान गणना पांचरात्र आगम की होती है। वैखानस भी प्राचीन वैष्णव आगम है।

पांचरात्र संप्रदाय का साहित्य विपुल है। कहते हैं कि इस मत के प्रतिपादक दो सौ से ऊपर ग्रंथ हैं, परंतु अभी तक उनमें से बहुत कम का प्रकाशन हुआ है।

पांचरात्र संहिताओं का परवर्ती वैष्णव धर्म के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। श्री रामानुजाचार्य ने भक्ति और उसके उपादानों को प्रधानतः पांचरात्रागमों से ही संकलित किया था। भगवान् के चतुर्व्यूह की धारणा भी पांचरात्र मत से संबंध रखती है। व्यूह, विभव, अर्चादि अवतारों की मान्यता भी इन्हीं ग्रंथों पर आधारित है[2]। ब्रह्म, जीव और सृष्टि के तत्त्वविवेचन का बहुत बड़ा भाग रामानुजाचार्य ने यहीं से संकलित किया था। उन्होंने पांचरात्रमत की पूजा-पद्धति को आग्रहपूर्वक दक्षिण के मन्दिरों में स्थान दिलाया था[3]। पूजा के पंचकाल, अभिगमन, उपादान, इज्या, अध्याय और योग का संबंध

---

[1] The Vaishnava Sahajiya movement of Bengal marks the evolution of Buddhist Sahajiya cult in different channel as strongly influenced by the love religion of Bengal Vaishnavism.

Obscure Religious Cults. S. B. Dasgupta, p. 131.

[2] भागवत संप्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २१०

[3] वही पृ० २०४

इन्हीं ग्रंथों से है। शरणागति के षड्प्रकार वैष्णव संप्रदायों में समान रूप से मान्य हैं, उनका मूल भी यहीं हैं[1]। तात्पर्य यह है कि परवर्ती वैष्णव धर्म का जो स्वरूप क्रमशः विकसित हुआ है, उसमें पांचरात्र मत की बहुत बड़ी देन है।

दक्षिण का भक्ति-स्रोत जब आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में आया, तब यहां भी उसी प्रकार संहिता-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। संप्रदायोद्भव-काल में रचे गये, पूजा-पद्धति से संबंध रखने वाले ऐसे ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त है। इनमें प्रायः विष्णु संबंधी यंत्र, उनके मंत्र आदि की चर्चा एवं उनकी विधियों का उल्लेख है। तंत्र अथवा संहिता ग्रंथों की यह परंपरा बहुत दिनों तक चलती रही है। कौन सा ग्रन्थ किस समय का है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परंतु अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके उद्धरण १६ वीं शती के अनेक वैष्णवों ने अपने ग्रन्थों में दिये हैं। इनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है।

'ब्रह्म-संहिता' का उल्लेख 'चैतन्य चरितामृत' में हुआ है। वहां कहा गया है कि इस ग्रन्थ को श्री चैतन्य दक्षिण यात्रा से ही लाये थे[2]। इसमें श्रीकृष्ण के नाम, रूप, धाम आदि का बहुत ही सुन्दर वर्णन है तथा मंत्र एवं उपासना-पद्धति का भी उल्लेख है।

वैष्णवों में श्री राधा को ह्लादिनी शक्ति के रूप में देखा जाता है, वह भी शक्तिवाद का ही एक अप्रत्यक्ष प्रभाव है परंतु हरिदासी संप्रदाय के सखी-भावोपासकों ने राधाकृष्ण का सम्बन्ध शक्ति-शक्तिमान् का न मान कर सहज प्रेम सम्बन्ध के आधार पर अपनी उपासना को प्रतिष्ठित किया है।

वैष्णव तंत्रों में जो वस्तु-विषय है, उसके दो भाग किये जा सकते हैं। एक पक्ष में उपासना-पद्धति की विभिन्न क्रियाओं का वर्णन, मन्त्र तन्त्र की विधि, उनकी महत्ता आदि के विवरण हैं। दूसरी ओर ध्यान के रूप में वृन्दावन, सखीजन, श्रीराधा एवं कृष्ण के साहित्यिक स्वरूप के चित्रण हैं। पहला तन्त्रों का उपासना पक्ष है, तो दूसरा तन्त्रों का भाव-पक्ष है। हम कह सकते हैं कि तन्त्रों की उपासना-पद्धति से सखीभाव की उपासना-पद्धति का कोई

---

[1] भागवत सम्प्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० १३१-१३२।

[2] ब्रह्मसंहिता कर्णामृत दुइ पुथि पाइया।
महायत्न करि ताहा, आनिला संगे लाइया। चैतन्य चरितामृत।

भी सम्बन्ध नहीं है, परंतु उपास्य के स्वरूप-वर्णन के क्षेत्र में दोनों में प्रभूत साम्य है। वर्णनों में जब तन्त्रवादी यन्त्रों की भांति यहां भी सखियों के स्थान और दिशाएं निश्चित करने लगते हैं, तब तो अवश्य ही अन्तराय उपस्थित होता है अन्यथा सामान्य दृष्टि से दोनों एक ही जान पड़ते हैं। यह साम्य है भी स्वाभाविक। श्रीकृष्ण, राधा, सखीजन और उनके धाम का जो रूप युगों से ढलता आ रहा था, वह सर्वत्र पीठिका के रूप में समान था। इनके कोमलतम भाव-चित्र और श्री राधाकृष्ण के लीला-विलास बहुत कुछ सखीभाव के उपास्य के स्वरूप से मिलते-जुलते हैं। परन्तु पुनः ध्यान रखना चाहिये कि जिस प्रेम तत्त्व को आधार बना कर सखीभावोपासक चले हैं, वह उस रूप में इन तन्त्र-ग्रन्थों में नहीं है।

जिन विद्वानों ने सखीभावोपासक सम्प्रदायों में शक्तिवाद या तन्त्र-प्रभाव देखा है और जो राधा-प्राधान्य को शक्तिवाद कहते हैं, उनसे निवेदन है कि सखीभावोपासना में राधा शक्ति-स्वरूपिणी नहीं प्रेम-स्वरूपिणी हैं अतः इसे शक्तिवाद न कह कर प्रेमवाद कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

उपासक की सखीत्व प्राप्त करने की लालसा में स्त्रीत्व देख कर कुछ लोग शक्तिवाद की गन्ध सूंघते हैं। शैव-शाक्त दर्शनों में उपासक का जो प्राप्तव्य साऽहं है, वह धारणा सखीभाव में नहीं आ सकती। वह प्रिया या प्रियतम नहीं होना चाहता अपितु सदा सर्वदा के लिये उनकी सखी ही बनना चाहता है, यह एक तात्त्विक भेद है।

श्री राधा के 'श्यामा' नाम की ओर इंगित करते हुए एक विद्वान् ने बताया कि यह तन्त्र का पारिभाषिक शब्द है परन्तु पर्याप्त विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर उपनीत हुए हैं कि सखीभावोपासकों में यह शब्द पारिभाषिक न होकर साहित्यिक अभिव्यक्तियों का ही व्यञ्जक है। हमारा मत है कि प्रेम तत्त्व पर आधृत सखीभाव तात्त्विक दृष्टि से तन्त्र पद्धति से सर्वथा भिन्न उपासना है।

'गर्ग-संहिता' इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें श्री कृष्ण लीला के अनेक अंशों को वैष्णव-उपासना की दृष्टि से पूर्ण किया गया है। आलवंदार संहिता, बृहत्सदाशिव संहिता, बृहद् ब्रह्म संहिता आदि ग्रंथों की भी वैष्णव भक्ति को बड़ी देन है। सनत्कुमार संहिता ने सखीभाव का भी सुन्दर चित्र खड़ा किया है। इसमें श्रीधाम वृन्दावन का वर्णन ध्येय रूप में

हुआ है। वाराह संहिता भी वैष्णव तन्त्र का विवरण देती है। श्री कृष्ण यामल, गौतमीय तन्त्र, सुन्दरी तन्त्र आदि आगम ग्रन्थों ने श्रीकृष्ण तथा श्रीराम विषयक साहित्य को समान रूप से प्रभावित किया है[1]।

'गौतमीय तन्त्र' में सखियों के ध्यान, उनके स्वरूप एवं स्थानादि के विस्तृत विवरण दिये गये हैं। श्री ध्रुवदासजी ने सखियों के नाम यहीं से लिये हैं[2]। उनके समय तक अवश्य ही इस ग्रंथ की रचना हो चुकी थी। 'रासोल्लास' तन्त्र वाद का प्रतीत होता है। इसमें भी गोप, गोपिकाओं के सुन्दर वर्णन हैं। 'ऊर्ध्वाम्नाय तन्त्र' में श्री राधा को सारभूत तत्व माना गया है[3]। यामल तन्त्रों की संख्या भी इस साहित्य में पर्याप्त है, जिनमें रुद्र यामल, कृष्ण यामल विशेष प्रसिद्ध हैं। अनेक पुराणों में तन्त्र क्रियाओं के विस्तृत प्रयोग लिखे हैं। तात्पर्य यह है कि गणना में, और महत्व में वैष्णव तन्त्रों की संख्या और देन विचारणीय है।

सखीभावोपासना और तन्त्र ग्रंथ

शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों में सखीभाव की उपासना के उपास्य स्वरूप-युगल तत्व के बीज देखे जा सकते हैं। हम केवल इतना ही साम्य दोनों में मान सकते हैं। परन्तु हम इसे किसी का किसी पर प्रभाव मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। पहला कारण तो यही है कि मिथुन तत्व की यह मान्यता सार्वत्रिक है, दूसरे इन सब की युगल मान्यता की आधृति शक्तिवाद है, जब कि सखीभाव केवल प्रेम के सुकोमल रूप को लेकर चला है।

वैष्णव तन्त्रों का अवश्य ही वैष्णव धर्म से सीधा सम्बन्ध है। हमारी दृष्टि में प्रायः सभी प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय वैष्णव तन्त्रवाद के अनुयायी हैं। सभी की उपासना में तन्त्रों की पद्धति, मन्त्र, यन्त्र, अंगन्यास, करन्यास, ध्यान आदि के विधि विधान हैं। उत्तर भारत के निम्बार्क सम्प्रदाय का अधिकांश साहित्य वैष्णवों के तांत्रिक आधार का समर्थन करता है। अन्य संप्रदायों में भी बहुत अंशों में यह विशेषता पाई जाती है।

---

[1] रामभक्ति में रसिक संप्रदाय ग्रन्थ का भूमिका भाग,
ले० श्री गोपीनाथ जी कविराज, पृ० ७

[2] बयालीस लीला, वृन्दावन, पृ० १६९।

[3] देखिये ऊर्ध्वाम्नाय तन्त्र का राधा सहस्रनाम।

साहित्य-ग्रंथ और सखीभाव

श्रीकृष्ण का स्वरूप-विकास भारतीय धार्मिक साहित्य के माध्यम से हुआ है, ऐसी मान्यता अब प्रायः व्यापक रूप से गृहीत हो चुकी है। वेदों से लेकर भक्तिकाल तक श्रीकृष्ण के विकास की विभिन्न स्थितियां अन्वेषकों ने सामने रखी हैं। परन्तु श्री राधा का विकास धर्मक्षेत्र से न होकर विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र से हुआ है, ऐसा विद्वानों का मत है[1]।

सखीभाव के उपास्य राधाकृष्ण अथवा नित्यविहारी का जो स्वरूप है, दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित होते हुए भी उनके लीला-विलास का स्रोत पूर्णतः साहित्यिक है, इसमें भी कोई अत्युक्ति नहीं है।

सखीभाव की उपासना-वस्तु प्रेमलीला है। लीला का वह महा मधुर रस पारमार्थिक दृष्टि से पूर्णतया दिव्य होते हुए भी स्वरूप और प्रक्रिया में बहुत कुछ काव्यगत श्रृङ्गार रस के निकट है। अतः साहित्य-ग्रन्थों की विपुल राशि में उसके महत्वपूर्ण अंश श्रृङ्गार-रस से ही सखीभाव के काव्य का सम्बन्ध निश्चित होता है।

साहित्य-ग्रन्थों की दो निश्चित कोटियां हैं। पारिभाषिक दृष्टि से इन्हें लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थ कहा जाता है। प्रारम्भ में हम लक्षण-ग्रंथों से प्राप्त सखीतत्व के सूत्रों का दिग्दर्शन करायेंगे।

लक्षण-ग्रंथों में सखी

भरत के प्रसिद्ध रस-निष्पत्ति से सम्बन्धित सूत्र के अनुसार 'सखी' का अन्तर्भाव श्रृङ्गार रस के सहायकों में होता है। अन्यत्र नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि 'ऋतु माल्यादि अलङ्कारों से, प्रियजन की गान एवं काव्य सेवाओं द्वारा, तथा उपवन में गमन, विहार आदि से श्रृङ्गार रस का समुद्भव होता है'[2]। श्रृङ्गार रस की इस योजना में प्रियजन अथवा सखी का महत्वपूर्ण स्थान है।

ऐसा ज्ञात होता है कि लक्षण-ग्रन्थों में प्रथमतः दूती को ही विशेष रूप

---

[1] देखिये, श्री राधा का क्रम विकास श्री शशिभूषण दासगुप्त, पृ० १०० आदि

[2] ऋतुमाल्याद्यलंकारैः प्रियजनगन्धर्वकाव्यसेवाभिः उपवनगमनविहारैः श्रृङ्गार रसः समुद्भवति। भरत नाट्य शास्त्र, ६.४७.

से नायक-नायिका के संयोग का हेतु माना गया था। प्राचीन समय में पत्र-प्रेषण की आज जैसी सुविधा तो थी नहीं, इसलिये पत्रादि भेजने के लिये व्यक्तियों से ही काम लिया जाता था। स्त्रियां इस कार्य में विशेष सहायिका हो सकती थीं, क्योंकि उनका प्रवेश अन्तःपुर तक में हो सकता था। सर्वसाधारण रीति से प्राप्त हो जाने वाली दूतियों में प्रतिवेश्या, सखी, दासी, कुमारी, दासशिल्पिका, धाय, पाखंडिनी आदि होती थीं। भरत नाट्य-शास्त्र में ये दूती-भेद कहे गये हैं[1]। साहित्य-दर्पण में सर्वप्रथम स्थान सखी को दिया गया है। अन्य दूतियां हैं नटी, दासी, धाय की लड़की, पड़ौसिन, वालिका, परिव्राजिकाएं, धोबिन आदि[2]। इस समय बौद्ध विहारों में रहने वाली परिव्राजिकाएं दौत्यकर्म करने लगी थीं, ऐसा अनुमान है। साहित्य-दर्पण की प्रव्रजिता इस तथ्य की ओर संकेत करती है।

प्रेमी-प्रेमिकाओं की दूतियों में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है। वे प्रोत्साहन में कुशल, मधुर वचन बोलने वाली, सुशोभिता, मन्त्र देने में चतुरा हों। ये दूतियों के गुण हैं[3]। एक अन्य लक्षणकार का कथन है कि वे कला-कौशल में उत्साह रखने वाली हों, उनमें भक्ति हो, हृदय के भावों को समझने में कुशल हों, स्मृतिवती हों, वचन-मधुरा हों, रहस्य-पंडिता और वाणी-चतुरा हों[4]। दूती के इन गुणों में सर्वप्रधान गुण है अपनी स्वामिनी के प्रति भक्ति। यदि भक्ति न हुई, अन्य सब गुण उसमें हों तो यह हो सकता है कि दूती नायक को फुसला कर स्वयं उसके साथ रति-रमण करे। साहित्य

---

[1] प्रतिवेश्या सखी दासी कुमारी दारुशिल्पिका।
धात्री पाखण्डिनी चैव दूत्यास्त्वीक्षणिका तथा।
नाट्यशास्त्र २५.१०.

[2] दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी।
वाला प्रव्रजिता कारूः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा।
साहित्य-दर्पण ३. १२८. ९

[3] प्रोत्साहनेषु कुशला मधुरकथा दक्षिणा च कालज्ञाः।
लसहा संवृतमंत्रा दूतीत्येभिर्गुणैः कार्या। नाट्यशास्त्र २५. १२

[4] कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञतास्मृतिः
माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणा।
साहित्य-दर्पण, ३. १२९, ३०.

में ऐसे अनेक प्रसङ्ग हमें प्राप्त होते हैं। एक श्लोक पाद टिप्पणी में देखिये[1]। इसीलिये दूती के विशेष गुणों में ये गुण भी सम्मिलित किये गये हैं कि न तो वह जड़ हो, न रूपवती हो, न धनिक हो, न आतुर हो[2]। इस सब में प्रमुख बात यह है कि दूती स्वयं कामातुरा न हो और अपनी स्वामिनी अथवा स्वामी के प्रति उसकी सहज भक्ति हो।

यों तो दौत्यकर्म थोड़े से पारिश्रमिक के बल पर किसी से भी कराया जा सकता है परन्तु इस कार्य को सखी जितने सुन्दर ढङ्ग से कर सकती है, उतना अन्य कोई नहीं। मित्रता का सम्बन्ध संसार में निर्मल और निःस्वार्थ माना जाता है। मित्र सदैव अपनी मित्र की हितचिन्तिका होती है। केवल थोड़े से द्रव्य के लिये कार्य करना, दूसरी ओर, मित्र के लिये हृदय में सम्पूर्ण अनुराग रख कर कार्य करना इन दोनों में बहुत अन्तर है। समवयस्का होने के कारण सखी अपनी सखी के समस्त मनोभावों को भली भांति समझती है, अतएव केवल दौत्यकर्म में ही नहीं शृङ्गार की अन्य समस्त साधनाओं में उसका प्रमुख हाथ रहता है।

सखी का कार्यव्यापार बहुत विस्तृत है। आगे चल कर हम इसके अनेक उदाहरण देखेंगे। प्रारम्भ से ही साथ साथ खेलने वाली सखी नायिका के प्रति अत्यधिक अनुरक्त होती है। सखी प्रायः समवयस्का होते हुए भी रसज्ञा एवं रतिचतुरा होनी चाहिये। अपनी सखी की कामदशा को जान कर वही नायक से उसका मिलन कराने का यत्न करती है। दोनों के पूर्वानुराग की अवस्था में मिलन की प्रार्थना के लिये वह नायक के पास जाकर उससे अपनी सखी की दशा का सुन्दर ढङ्ग से वर्णन करती है। साहित्य-दर्पणकार ने अपने ग्रन्थ में

---

[1] निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो।
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः
मिथ्यावादिनि दूति वान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापींस्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।
साहित्य-दर्पण, सं० शालग्राम शास्त्री
पृ० ६२ पर उद्धृत।

[2] न जड़ं रूपवन्तं च नार्थवन्तं न चातुरम्
दूतं वापिहि दूतीं वा बुधः कुर्यात् कदाचन। नाट्यशास्त्र २५. ११

स्वरचित श्लोक में, सखी द्वारा दशा-निवेदन का यह प्रसंग उपस्थित किया है :—

श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्गमालोकते,
दीर्घं रोदिति विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम् ।
किंच प्राणसमान कांक्षितवती स्वप्नेऽपि ते संगमं,
निद्रां वांछति न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि[1] ।

अर्थात् तुम्हारे वियोग में वह सुन्दरी लम्बी-लम्बी सांस लेती है, पृथ्वी पर लोटती है, तुम्हारी राह देखती है, देर तक रोती है, दुर्बल भुजलताओं को पृथ्वी पर इधर उधर पटकती है, और तो क्या, हे प्राण-समान ! स्वप्न में ही तुम्हारा संगम प्राप्त करने की इच्छा कर वह सोना चाहती है परन्तु दुर्दैव उसे निद्रा भी नहीं देता ।

अनेक बार सखी नायक को; फिर नायिका को मिलन के लिये मनाती है । दोनों में यदि कुछ कलह हो जाय तो वही उसे शान्त करती है । नायिका को प्रियतम के पास कैसे जाना चाहिये, कैसा व्यवहार करना चाहिये आदि सभी बातों का ज्ञान सखी ही उसे कराती है । सखी-शिक्षा के अभाव में पति के अन्य नायिका-संसर्ग के प्रथम अवसर पर बाला की कैसी अवस्था होती है, किस प्रकार वह अनेक रत्यनुभावों को सूचित करने में असमर्थ सिद्ध होती है, इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना,
नो जानाति सविभ्रमांगवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला,
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः[2] ।

अर्थात् वह सुन्दरी पति के प्रथम अपराध के समय सखी द्वारा शिक्षित न होने के कारण सविलास अंगवलन (मुंह फेरना आदि) और वक्रोक्ति द्वारा अपनी ईर्ष्या को सूचन करना भी नहीं जानती । केवल चंचल कुन्तलों से संपृक्त, सुन्दर कपोलों के ऊपर गिरते हुए मोतियों के समान स्वच्छ आंसुओं से व्याकुल कमलनेत्री वह बाला केवल रोदन करती है ।

उपर्युक्त श्लोक 'अमरुक शतक' का है, जिसे काव्यप्रकाशकार ने विरहो-

---

[1] साहित्य-दर्पण, सं० शालग्राम शास्त्री, पृ० १२८ पर उद्धृत ।

[2] अमरुशतकम् २९

खंडिता और साहित्यदर्पणकार ने मृदु मान के उदाहरण में प्रस्तुत किया है[1]।

सखी-शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों को छोड़कर हम सखी के एक और विशिष्ट अधिकार की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। सखी का यह अधिकार है नायिका के अत्यन्त गोपनीय रहस्यों को जानना। सखी के अतिरिक्त और किसी के सम्मुख नायिका अपना अनुभव और हृदय खोल कर नहीं रखती और सखी से वह कुछ छिपाती नहीं[2]। तात्पर्य यह है कि श्रृङ्गार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में सखी का महत्वपूर्ण स्थान है। आगे हम लक्ष्य ग्रन्थों को लेकर भी सखी और श्रृङ्गार-सामग्री का विवेचन करेंगे।

साहित्य-ग्रंथों में श्रृङ्गार-लीला और सखी

संस्कृत के श्रृङ्गार-साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। ईसवी सन् के आस-पास तक संस्कृत में कविता या तो धार्मिक उद्देश्य से लिखी जाती थी या आध्यात्मिक उद्देश्य से, ऐसा विद्वानों का कथन है[3]। द्विवेदी जी का कथन है कि 'सन् ईसवी के आस पास कविता केवल' रस-सृष्टि के उद्देश्य से लिखी जाने लगी और इस क्षेत्र में संस्कृत के कवियों ने कमाल किया। कालिदास के अमर काव्य रस-जगत् की अनमोल संपत्ति हैं। बाद में माघ, भारवि और श्रीहर्ष की मनोहारिणी रचनाओं ने संस्कृत-साहित्य को अधिक समृद्ध किया। सैकड़ों कवियों के प्रबन्ध काव्यों और उद्भट रचनाओं से संस्कृत का साहित्य बेजोड़ हो गया है'।[4]

काव्य के नवरसों में श्रृङ्गार रसराज है। वह अन्य रसों से अधिक प्रह्लाद-जनक एवं मधुर है[5]। अतएव उसी रस का साहित्य प्रधान और विशेष भी है। पुनः हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सखीभाव की उपास्य प्रेमलीला स्वरूप में लौकिक श्रृङ्गार लीला के समान ही है। अतः स्वरूप-दृष्टि से दोनों का मनोवैज्ञानिक साम्य है। भेद इतना ही है कि सखीभाव के कवियों ने नायक-

---

[1] काव्यप्रकाश ४. ३४, साहित्यदर्पण ३. ५८

[2] साहित्यदर्पण ३. ११८

[3] हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १५७

[4] हिन्दी साहित्य की भूमिका, श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, पृ० १५७

[5] श्रृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्य प्रतितिष्ठति।
ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, का० ७

नायिकाओं के प्राकृत प्रेम को सर्वथा निस्स्वार्थ और अलौकिक अप्राकृत प्रेम के रूप में उपस्थित किया है, जिसकी परिपाटी सूक्ष्म और विलक्षण है।

महाकवि कालिदास के शृङ्गार ग्रन्थ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में नायक नायिकाओं के मिलन में सखियों का स्थान महत्वपूर्ण है। अनुसूया और प्रियंवदा दोनों ही शकुन्तला की सखियां हैं। राजा दुष्यन्त और शकुन्तला के बीच जो प्रथम वार्तालाप होता है, उसकी भूमिका इन सखियों ने ही बनाई है। शकुन्तला के रूप-यौवन की प्रारम्भिक चर्चा भी सखियों ने ही छेड़ी है। दोनों के मिलन की पूर्ण स्वीकृति इन सखियों पर ही निर्भर रही है। सखियां भी शकुन्तला के हृदय को जानने वाली हैं, साथ ही वे चतुरा हैं। राजा द्वारा शकुन्तला की एकान्त-प्राप्ति से पूर्व उन्होंने राजा से अपनी सखी के भविष्य के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा की तथा राजा ने उनका समाधान किया। तभी एकान्त-मिलन का उपयुक्त अवसर जान कर दोनों सखियां मिलन-स्थान से विनिर्गत हो गईं।

चतुर्थ अंक के विष्कंभक में अनुसूया और प्रियंवदा शकुन्तला के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित हैं। अनुसूया का कथन है कि यद्यपि गान्धर्व विधि से शकुन्तला का विवाह सम्पन्न हो गया है फिर भी चिन्ता तो है ही कि कहीं अपने अन्तःपुर में जाकर राजा यहां के वृन्तान्त को विस्मृत न कर दें। यही कथा के विकास की पूर्व सूचना भी है। आगे भी शकुन्तला से वियोग के समय उन सखियों की दशा चिन्तनीय हो जाती है। पुनर्मिलन की आशा में वे कठिनता से शकुन्तला को विदा कर पाती हैं। स्पष्ट है कि कालिदास के इस ग्रन्थ में दुष्यंत और शकुन्तला की प्रणयलीला में अधिक महत्वपूर्ण स्थान सखियों का है।

मुक्तक ग्रन्थों में प्रायः भावपूर्ण मार्मिक पद्यों का संकलन किया जाता है। गाथा सप्तशती, अमरुक शतक आदि शृङ्गार रस के ऐसे ही संग्रह-ग्रन्थ हैं, जिनमें रस-दृष्टि से सुन्दर से सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं।

इन छन्दों में हमें नायक-नायिकाओं की क्रीड़ा के संयोजन में सखी द्वारा विश्वासपूर्वक किये गये, दोनों के अनुकूल कार्यों के अनेक चित्र मिलते हैं। नायिका अपनी कामपीड़ा भी सखी से ही खुल कर कह सकती है। गाथा सप्तशती (गाहा सत्तसई) की एक प्रोषितभर्तृका नायिका वर्षा-काल में प्रफुल्लित कदम्ब को देख कर अपनी पीड़ा एक सखी से कहती है:—

सहि, दुम्मेति कलम्बाइ जह मे तह ण सेस कुसमाइ ।[1]

"सखि, कदम्बपुष्प मुझे जिस तरह पीड़ा देते हैं, दूसरे कोई फूल उतनी पीड़ा नहीं देते ।"

नायिका ने मान के कारण प्रिय का निरादर किया, वह चला गया। नायिका सखी के पास आई, सखी ने कहा यह मान तुम्हें न करना चाहिये था। वह तुम्हारे पैरों पड़ा तब भी तुमने नहीं माना। उसने तुमसे मधुर वचन कहे परन्तु तुमने उससे कटुता से ही बातें कीं। जब वह गया तब भी तुमने उसका रास्ता न रोका :—

परअपडिओ पा गणिओं पिअं भणन्तो वि अप्पिअं भणिओ ।
वच्चन्तो विण रुद्धो भण कस्स क ए क ओ माणो ।[2]

'गाहा सत्तसई' में सखी इस प्रकार से इन प्रेमलीलाओं में मिली हुई है, कि उसे निकाल देने से प्रेम का विस्तार सम्भव ही नहीं है।

अमरुक शतक का भी यही हाल है। सखी की सम्बन्ध-भावना की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रथम परिचय से लेकर संभोग के एकान्त क्षणों तक नायक-नायिका की सर्वदा सहायता करने वाली सखी सर्वत्र विशिष्ट स्थान ग्रहण किये हुए है। दुर्जय मान के कारण नायक के रुष्ट होकर चले जाने पर जैसा भाव उपर्युक्त गाहा सत्तसई के छन्द में अभिव्यक्त किया गया है, वैसा ही अमरुक शतक में भी है। वहाँ कवि कहता है, "नायक के चरण-पतन प्रमाण होने पर भी नायिका ने तिरस्कार किया। वह दुखी हुआ, नायिका के मुँह से 'कितव' आदि शब्द सुनकर रुष्ट प्रियतम को लौटकर जाते देख, छाती पर हाथ रख कर, उस कामिनी ने गहरी सांस ली और आंसू भरी दृष्टि से सखी की ओर देखा।"[3] अर्थात् अब क्या हो, यह सखी ही उसे मार्ग-निर्देश करे।

---

[1] गाहा सत्तसई १।७७ ।

[2] वही ५।३२ ।

[3] चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे,
निभृतकितवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषीकृते ।
व्रजति रमणे निःश्वस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया,
नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीपु निवेशिता

अमरुक शतक, २० । सा० दर्पण में भी उद्धृत सं० ३।२६७

ऐसी ही एक और 'प्रणयकलहान्तरिता' अपनी सखी से कहती है, "वह कठिन-हृदय शय्या को छोड़कर हठपूर्वक चला गया है। मैंने तो केवल क्रीड़ा के लिये कोप किया था। अब मेरा मन पुनः पुनः उसी प्रियतम की आकांचा करता है, हे सखि, मुझे बताओ, मैं क्या करूं ?"[1]

मानिनी के दुर्जय मान करने पर नायक की दशा को देख कर सखियां व्याकुल हो जाती हैं। वे भी नायक के दुःख में दुखी हो, भोजन नहीं करतीं, निरंतर रोते रहने से उनके नेत्र सूज गये हैं, वे ही क्या, पंजरगत शुक भी तो अपने प्रसन्न वचन भूल गया है। ऐसी दशा में इन सबकी ओर से नायिका की प्रधान सखी ही जाकर उसका मान-विमोचन कराने का प्रयत्न करती है।[2]

काम-क्रीड़ा में मान का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु वह मान 'दुर्जय मान' न हो कि जिससे 'रस-भंग' हो जाय। मृदु मान की शिक्षा मुग्धा नायिका को सखियां ही देती हैं। सखी कहती है, "हे मुग्धे, तुम्हारी सरलता में ही सब समय निकला जा रहा है। मान धारण करो, धीरज रखो। अपनी सरलता को थोड़ा दूर करो। इस प्रकार सखियों द्वारा प्रतिबोधित उस भीताननना ने सखियों से कहा—'सखियो, तनिक धीरे कहो, कहीं मेरे हृदय में बैठा मेरा प्राणेश्वर तुम्हारी बातें न सुन ले।"[3]

---

[1] कथमपि सखि क्रीड़ाकोपाद्व्रजेति मयोदिते,
कठिनहृदयः शय्यां त्यक्त्वा बलाद्गत एव सः।
इति सरभसं ध्वस्तप्रेम्णि व्यपेतघृणे स्पृहां,
पुनरपि हतव्रीडं चेतः करोति करोमि किम्।
अमरुशतकम् १५।

[2] लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो,
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छून नयनाः
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पंजरशुकैः।
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना।
वही ७ आगे पृ० पर।

[3] मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते,
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।

इस प्रकार कहीं सखियों के साथ नायिका का मृदु परिहास, कहीं सखियों द्वारा बताये मार्ग पर चलने में असफल नायिका द्वारा भावोत्तेजना के कारण अपनी असमर्थता का प्रकाशन,[1] कहीं शृङ्गार-क्रीड़ा के निमित्त आवश्यक अवसर लाने का प्रयत्न,[2] कहीं अवसर प्राप्त कराकर वहां से चले जाना,[3] रति-सुख के उपरान्त कहीं नायिका द्वारा सखियों को उसका हाल बताना,[4] इत्यादि सभी क्षेत्रों में ऐसा लगता है कि सखियां ही समस्त प्रेमक्रीड़ा की

सख्यैवं प्रतिवोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना,
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति।
वही, ७०

[1] तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयो-
स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया ।
पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कंचुके संधयः ।
वही, ११

[2] चपलहृदये किं स्वातंत्र्यात्तथा गृहमागत-
श्चरणपतितः प्रेमार्द्रार्द्रः प्रियः समुपेक्षितः ।
तदिदमधुना यावज्जीवं निरस्तसुखोदया
रुदितशरणा दुर्जातानां सहस्व रुषां फलम्
वही, ५६

[3] त्वं मुग्धाक्षि विनैव कंचुलिकया धत्से मनोहारिणीं,
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो,
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥
वही, २७ और देखिये ३७

[4] कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धना-
द्वासो विश्लथमेखलागुणधृतं किंचिन्नितम्बे स्थितम् ।
एतावत्सखि वेद्मि सांप्रतमहं तस्यांगसंगे पुनः
कोऽयं कास्मि रतं नु वा कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः ।
वही, १०१

संयोजिका हैं। अनेक बार तो प्रिय स्वयं सखी का वेश धारण कर नायिका से मिलने में समर्थ होता है।[1]

सखी की इस सम्बन्ध-भावना को पूर्ण निष्काम प्रेम की भूमिका में रख कर इन्हीं रूपों को सखी-भाव के साहित्य में देखा जा सकता है।

भारतीय प्रेम-कविता की इस भावमयी तीव्र धारा में क्रमशः हम राधा-कृष्ण के नायक-नायिका रूप में दर्शन पाते हैं। गाहा सत्तसई[2] और वेणी संहार[3] में राधाकृष्ण सम्बन्धी कविता मिलती है दूसरी ओर ध्वन्यालोक[4] और वक्रोक्ति जीवित[5] जैसे प्रामाणिक लक्षण-ग्रंथों में भी राधाकृष्ण सम्बन्धी एकाध श्लोक प्राप्त होते हैं।

लौकिक प्रेम-कविता में सामान्य रीति से उद्धृत इन राधाकृष्ण-लीला सम्बन्धी पद्यों का साहित्य के साथ पूर्ण लगाव है। सम्भव है कि उस समय तक उनमें धर्म-देवता का भाव नहीं आ पाया था। इसीलिये कहा जाता है कि राधा-कृष्ण की लीलाओं का विकास भी साहित्य के माध्यम से हुआ है। आगे चलकर राधा-कृष्ण में दैवत भाव आने पर भी उनकी स्वरूपलीला साहित्य-क्षेत्र से दूर नहीं गई परन्तु विशेष बात यह है कि भारतीय कविता के सम्पूर्ण लौकिक साहित्य की विशेषताएं राधा-कृष्ण सम्बन्धी साहित्य की अङ्गभूत वस्तु बन गई। कभी-कभी पाठक को राधा-कृष्ण की प्रेमलीला में जो अश्लीलता की गन्ध आती है, हम उनसे कहेंगे कि वे उसकी परम्परा के लौकिक साहित्य को देखें। वह लौकिक प्रेम-कविता ही राधाकृष्ण-लीला-साहित्य की पृष्ठभूमि है।

अब हम बारहवीं शती के साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं। यह समय गीतगोविन्द की रचना का समय है। राधा और कृष्ण की मधुर लीलाओं का यह गीति-ग्रंथ है। नायक-नायिका का सुरति-विलास और उनका केलि-कुतूहल यहां देखते ही बनता है। उसी समय बङ्गाल के सेन राजाओं के दरबार में अनेक कवियों द्वारा राधाकृष्ण सम्बन्धी कविताओं की रचना की जा

---

[1] कान्ते सागसि शापिते प्रियसखीवेषं विधायागते,
भ्रान्त्यालिंग्य मया रहस्यमुदितं तत्संगमाकांक्षया। आदि।
वही, ४६

[2], [3], [4], [5] के उद्धरण देखें 'श्रीराधा का क्रम विकास' में पृ० ११८ से १२० तक।

रही थी। 'सदुक्ति कर्णामृत' और 'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय' में ऐसे अनेक पद्यों का संकलन किया गया है। श्री रूप गोस्वामी ने पद्यावली में ऐसी रचनाओं का सुष्ठु संग्रह किया है।

गीतगोविन्द काव्य में मंगलाचरण के तत्काल पश्चात् श्री राधा के सन्मुख उनकी सहचरी आती है और वासन्ती कुसुमाकर के समान अवयवों वाले वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण के कन्दर्पज्वर की कहानी कहती है।[१] सखी श्री राधा को कृष्ण के पास चलने के लिये प्रेरित करती है। उसने वृन्दावन के वसन्त का सरस वर्णन किया और बताया कि अनेक नारी-परिरम्भण करते हुए भी सखियों के समक्ष श्रीकृष्ण राधा का नाम ही पुकार रहे हैं।[२] श्री राधा विहार के लिये गईं।

गीतगोविन्द में श्रीकृष्ण का विहार सभी व्रजांगनाओं के साथ माना गया है, अवश्य ही राधा उनमें विशिष्ट हैं। राधा को कृष्ण का अन्य नारियों के साथ विहार अच्छा नहीं लगता। वे रुष्ट हो जाती हैं और अपनी सखी से अपनी इच्छा बताती हैं।[३] उधर श्रीकृष्ण भी राधा के विना दुखी हैं। दोनों को मिलाने का भार पुनः सखियों पर ही पड़ता है। दोनों का प्रथम समागम हुआ। इसी प्रकार का मिलन और वियोग इस ग्रन्थ की कथा को विकसित करता चलता है। दोनों के हृदय में काम की तीव्रता दर्शनीय है। राधा और कृष्ण की इस व्याकुलता को सखी ही जानती हैं। वे ही दोनों के सम्मिलन का पुनः पुनः आयोजन करती हैं। दोनों के सुख में ही उनका भी सुख है। वे प्रिया प्रियतम को पर्यंक पर विराजमान कर, उनका रतिसमय जान कर्ण-कण्डूय के ब्याज़ से भवन के बाहर चली जाती हैं। वे इन्हीं का दर्शन कर तृप्त होती हैं।[४]

गीतगोविन्द के शब्द, भाषा, भाव और शैली का पूर्णतया अनुसरण परवर्ती वैष्णव कवियों ने किया है, अतः गीतगोविन्द का स्थान साहित्य की दृष्टि से भी बेजोड़ है। गीतगोविन्द में जिस प्रेम-तत्त्व का विवेचन है, वह अनेक नारियों के बीच होने के कारण अपने ऐकान्तिक रूप में प्रस्फुटित नहीं हो

---

[१] गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग २।

[२] गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग ४।

[३] गीतगोविन्द, द्वितीय सर्ग।

[४] गीतगोविन्द, एकादश सर्ग २।

पाया है। सखी का निष्काम भाव भी यहां पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो सका है। फिर भी लीला में सखियों की पूर्ण प्रधानता है और ऐसा लगता है कि सखियों के भाव के अतिरिक्त और किसी भाव से लीला का आनन्द नहीं लिया जा सकता। यही वातावरण सखीभाव की भूमिका प्रस्तुत कर रहा था।

'सदुक्ति कर्णामृत' और 'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय' का नामोल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। इनमें और रूप गोस्वामी की 'पद्यावली' में जो छंद संकलित हैं, उनमें सखी का महत्त्व देखा जा सकता है। पद्यावली में यद्यपि बंगाली कवियों के श्लोक ही अधिक मात्रा में संकलित हैं, फिर भी कुछ अन्य प्रदेशों के कवियों की रचनाओं को भी इस संग्रह में स्थान प्राप्त हो गया है। वस्तुतः इन संकलनों में १६ वीं शताब्दी के पूर्व के उस युग की सम्पूर्ण चेतना की एक झांकी मिल जाती है, जो उत्तर भारतीय भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि है।

पद्यावली में राधा कृष्ण की लीला में सखी सर्वत्र उनकी सहचरी है। यदि संग्रह में शीर्षकों पर ही ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि लीला का अधिकांश प्रायः सखी के माध्यम से ही सम्पन्न हुआ है। अथान्य चतुर सखी वितर्क, अथ श्रीराधां प्रति सखी प्रश्नः, अथ श्रीराधां प्रति सखी नर्माश्वासः, अथ श्रीराधां प्रति सखी-वाक्यम्, अथ क्रीडानन्तरं जानतीनां सखीनां नर्मोक्तिः आदि शीर्षकों में सखी का महत्त्व स्पष्ट है।

श्री राधा के पूर्वानुराग से सम्बन्धित श्री जयन्त के एक श्लोक में राधा स्वयं अपने अनुराग को अपनी सखी से बताती हैं। वे कहती हैं—'हे सखि, अकस्मात् मार्ग में जाते हुए यमुना तट पर मुझे नवजलधर श्यामल तनु दिखाई दे गये। उस दृगभंगी के कारण न जाने क्यों मेरा चित्त चञ्चल हो गया है। किसी गृह-कार्य में मन नहीं लगता।'"[1] श्री संजय कविशेखर के एक श्लोक में श्री राधा सखी से कहती हैं, "हे सहचरी, जब से यदुनन्दनचन्द्र लोचनगोचरीभूत हुए हैं, तब से मलयानिल और अनल में मुझसे भेद नहीं

---

[1] अकस्मादेकस्मिन् पथि सखि मया यामुनतटं,
व्रजन्त्या दृष्टोऽयं नवजलधरश्यामलतनुः।
स दृग्भंग्या किं वा कुरुत न हि जाने तत इदं,
मनो मे व्यालोलं क्वचन गृहकृत्ये न वलते॥
पद्यावली, सं० श्रीमत् पुरीदास वंगाक्षर, पृ० २०

किया जाता ।"[1] श्री राधा विरह में बावली जैसी हो जाती हैं, तब सखियां ही उन्हें धैर्य बंधाती हैं । वे कहती हैं, "यद्यपि रात्रि मेघों से भरी है, सम्पूर्ण जगत् तिमिरगर्भ में लीन है । तुम्हारी अवस्था अभी नयी है, फिर भी हे सुमुखि, धैर्य धारण करो । व्रज में सर्वत्र निद्रा-प्रसार होने पर भी कृष्ण रात्रि में इधर आ निकलते हैं ।"[2] सखी ही श्री राधा की दशा श्रीकृष्ण के पास निवेदन करने जाती है । गोवद्र्धनाचार्य के एक पद्य में सखी कहती है कि "गीत के गायन में, वंशी-नाद में या विपंची-वादन में अथवा पंजर-शुक को पढ़ाने में राधा तुम्हारे ही सन्देशाक्षरों को दुहराती हैं" ।[3] श्री राधा के अभिसार में, राधा की सुरत-क्रीड़ाओं में सर्वत्र सखियों का पूरा हाथ है ।

कालक्रमानुसार राधा-कृष्ण-प्रेमकविता की धारा संस्कृत से निकल कर अन्य भाषाओं के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई । विद्यापति ने मैथिली में और चंडीदास ने बंगला में अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं । विद्यापति का जन्म समय सं० १४३५ वि० (१३०० शक) माना जाता है[4] और चण्डीदास का जन्म सं० १४४४ वि० (१३०९ शक)[5] है । अनुमान किया जाता है कि ये दोनों समकालीन थे और परस्पर एक दूसरे से परिचित भी थे । इस सम्बन्ध के कुछ पद भी प्राप्त होते हैं, जिनमें 'चण्डीदास शुनि, विद्यापति गुन, दरशने मेल

---

[1] यदवधि यदुनन्दनाननेन्दु । सहचरि, लोचनगोचरी बभूव ।
तदवधि मलयानिलेऽनले वा, सहजविचारपराङ्मुखं मनो मे ॥
वही, पृ० २१ ।

[2] निशा जलदसंकुला तिमिरगर्भलीनं जगद्-
वयस्तव नवं नवं वपुरपूर्वलीलामयम् ।
अलं सुमुखि निद्रया व्रजगृहेऽपि नक्तंचरी,
कदंब वनदेवता नक्तमाल नीलद्युति : सर्व विद्या विनोदकृत ।
वही, पृ० २३ ।

[3] गायति गीते शंसति वंशे, वादयति सा विपंचीपु ।
पाठयति पंजरशुकं तव सन्देशाक्षरं राधा ।
वही, पृ० २३ ।

[4] श्रीश्री गौड़ीय वैष्णव साहित्य, सं० श्री हरिदासदास, नवद्वीप, पृ० ३० ।

[5] वही, पृ० ७९ ।

अनुराग', तथा 'मने विद्यापति चण्डीदास तथि, रूपनरायन संगे, दुहुं आलिंगन करल तखन, मासल प्रेम तरंगे' आदि पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं।[1]

विद्यापति और चण्डीदास की कृष्ण-सम्बन्धी कविता किसी प्रकार संस्कृत-कविता से हीन नहीं है। अपितु चण्डीदास के पदों में राधा के प्रेम की जैसी तीव्रता देखने में आती है, वैसी गीतगोविन्द में भी नहीं है। विद्यापति की राधा रूप की अपूर्व सृष्टि है, वैसा ही अपूर्व उनका हृदय है। पर इस राधा-हृदय में विलास की प्रगल्भता है। चण्डीदास की राधा प्रेमोन्मादिनी है, उसका प्रेम अत्यन्त गम्भीर और मार्मिक है।[2]

यहां भी लीला लीला-सहचरी सखियों पर आधारित है। विद्यापति-पदावली के शीर्षकों में सखी-शिक्षा, सखी-संभाषण आदि तो स्पष्ट ही सखियों से सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु लीला के अन्य जितने भी पद हैं, उनमें भी प्रायः सखियों के माध्यम से ही लीला का वर्णन हुआ है। श्री राधा का नख-शिख सखी ही आकर कृष्ण को सुनाती है···"हे कृष्ण, तुम्हारी दुहाई है, वह अत्यंत अपूर्व है शरीर की दुबली है, परन्तु उसके पयोधर अत्यन्त पुष्ट हैं। ऐसा लगता है कि सोने की लतिका पर पर्वत उग आये हों"···आदि।[3]

श्री राधा ने कृष्ण को देखा। उन्होंने भी सखियों से कहा। "सखि, मैंने भी एक अपूर्व रूप देखा है, देखोगी तो स्वप्न की बात मानोगी। राधा ने रूपकातिशयोक्ति से रूप का वर्णन किया। "हे क्रीड़ाशील सखि, मैंने तुम से कह दिया है, उसने मेरा चित्त हर लिया है, अब तुम कुछ करो।"[4]

दूती का कार्य सखी को करना पड़ता है। कृष्ण की सखी राधा से कहती है,···"सखि, कहा नहीं जाता, कृष्ण राधा-राधा कह कर अपने तन मन को

---

[1] वही पृ० ३०।

[2] दोनों की तुलना देखिये, सूरसाहित्य, श्री द्विवेदीजी पृ० ९८ से १०८ तक।

[3] पीन पयोधर दूबरि गता। मेरु उपजल कनकलता।
ए कान्ह, ए कान्ह, तोरि दुहाई, अति अपूरब देखल साई। आदि
विद्यापति पदावली, कुमुदविद्यालंकार २०११,
पद० सं० १० पृ० २१।

[4] ए सखि पेखल एक अपरूप, सुनइत मानबि सपन सरूप···आदि
विद्यापति पदा० ३६। वही, पृ० ६०।

भुला रहे हैं।"[1] राधा की सखी श्रीकृष्ण से कहती है, "हे मनमोहन! तुमसे क्या कहूं। वह मुग्धा रमणी तुम्हारे लिये रोती है। रात दिन तुम्हारा नाम जपती है। शरीर कांपता है-, उठ उठ कर गिर पड़ती है। रात अधिक होने पर लज्जा खोकर रो उठती है। सखियां उसे बहुत समझाती हैं, धीरज देती हैं पर वह उतनी ही और जलने लगती है। जब तक उपाय खोजा जाता है, तब तक रात ही बीत जाती है।"[2]

सखियों के विशिष्ट महत्व की दृष्टि से सखी-शिक्षा का अंश महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण से मिलने के लिये जाती हुई राधा से सखियां कहती हैं, "हे सखि, आज हम तुम्हें जो उपदेश दे रही हैं, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और असाधारण है। पहले तुम शय्या के एक ओर बैठना। जब प्रिय तुम्हारा मुंह देखने लगे तब अपनी ग्रीवा दूसरी ओर मोड़ लेना। प्रिय स्पर्श करने लगे तो मना करना। प्रिय बातें करे तो तुम मौन रहना। जब हम तुम्हारे हाथ को उसके हाथ में सौंप दें, तब कांप कर उलटी हो, हमें ही पकड़ने का यत्न करना। रस की रीति तो यही है। शेष पाठ तुम्हें गुरु बनकर कामदेव स्वयं ही पढ़ा देगा।"[3] राधा बहुत घबराती हैं। सखियां उन्हें पुनः आश्वासन देती

---

[1] सुनु सुनु ए सखि कहए न होए।
राहि राहि कए तन मन खोए। आदि। विद्यापति-पदावली, ४६।
वही पृ० सं० ८०।

[2] सुनु मनमोहन कि कहब तोय।
मुगुधिनि रमणी तुअ लगि रोय।
निसि दिन जागि जपय तुअ नाम।
थर थर कांपि परए सोइ ठाम।
जामिनि आधि अधिक जब होइ।
विगलित लाज उठए तब रोइ।
सखिगन जत परबोधय जाय।
तापिनी ताप ततहि तत ताय।
कह कविसेखर ताक उपाय।
रचइत तबहि रयनि बहि जाय।
वही, ५२ पृ० ८९।

[3] सुनु सुनु ए सखि वचन विसेस। आजु हम देब तोहे उपदेस।
पहिलहि बैठक सयनक सीम, हेरइत पिया मुख मोडबि गीम।

हैं—"डरती क्यों हो, हम तो तुम्हारे साथ चलेंगी ही। माधव तुम्हारा अंगस्पर्श नहीं कर पायेंगे। इस रात में, पुष्पित वन में कामदेव बाण लेकर स्त्रियों को खोज-खोज कर मारता है। इसलिये अच्छा है कि कुंज के भीतर चलो। वहां महाबली कृष्ण रहते हैं। यह कह कर सखी बाला को कृष्ण के पास ले आई और वल्लभ की सुख-अभिलाषा पूर्ण हो गई।"[1]

विद्यापति की सखियां राधा को ही नहीं, कृष्ण को भी शिक्षा देती हैं। उन्हें नायिका का कोमल स्वभाव और रति-रहस्य के निगूढ़ मर्म बताती हैं[2]। सखियां राधा को हाथ पकड़ कर मिलन-मन्दिर में ले जाती हैं। रति-विशारद विद्यापति ने राधा-कृष्ण के मिलन का विशद् वर्णन किया है। रति के उपरान्त राधा का सखियों से वार्तालाप हुआ, जिसमें उन्होंने अपना समस्त अनुभव सखियों को सुनाया। मान, वसंत और विरह के पदों में भी सखियों का ही प्रेरकत्व और संयोजकत्व दिखाई देता है।

प्रेमलीला का स्वरूप संस्कृतेतर भाषाओं की कविता में अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था। उसी अनुपात में प्रेम-वैचित्र्य के साथ ही सखी का अधिकार भी बढ़ता जा रहा था। विद्यापति की सखियां नायक-नायिका के आरंभिक सुरति-प्रसंगों तक में सम्मिलित रहती हैं। इन सखियों में नायक अथवा नायिका के प्रति भक्ति भी है और स्वयं की भोग-लालसा भी आड़े नहीं आती।

चण्डीदास के कृष्ण-कीर्तन में राधा प्रेम की गम्भीर मूर्त्ति हैं। वे सखियों से आकुल होकर पूछती हैं, "सखि किसने मुझे श्याम का नाम सुना दिया। जैसे ही यह नाम कान के अन्दर गया, इसने मेरे मर्म को छू लिया है, मेरे प्राणों को आकुल कर दिया है......सखि, अब मैं उसे कैसे प्राप्त करूँ?"[3]

परसइत दुहु कर बारबि पानि। मौन रहिब पहु करइत बानि।
जब हम सौंपब करें कर आपि। साधस धरबि उलटि मोहे कांपि।
विद्यापति कह इह रस ठाठ। भए गुरु काम सिखाओब पाठ।

वही, ६४। ११७।

[1] विद्यापति पदावली, पद सं० ६६, पृ० ११७

[2] विद्यापति पदावली, पद सं० ७० पृ० १२५।

[3] सइ, केवा शुनाइल श्याम नाम।
कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो, आकुल करिल मोर प्रान।
ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो, वदन छाँडिते नाहि पारे।

सखियाँ दोनों के प्रेम को देखती हैं, ऐसी प्रीति उन्होंने कभी देखी सुनी न थी। प्राण प्राणों में बँधे हुए थे। दोनों विरह के भय से रो रहे थे। क्षण भर भी न देखने से मरण बन आता है।[1]

मिलन की घड़ी भी आई तो राधा मिलने न जा सकी। वह इस कथा को अपनी सखी से ही कह सकती है। वह कहती है, "हे सखी, और तुम से क्या कहूँ। अनेक पुण्य फले तब तो प्रिय मिलने आया। ऐसी घोर रात्रि, मेघ-घटायें, न जाने किस मार्ग से वह आया। बाहर आंगन में खड़ा वह भीग रहा था। उसे देख कर मेरा हृदय फटा जा रहा था"...आदि।[2]

चण्डीदास की प्रेम-कविता में जिस प्रेम की अभिव्यंजना हुई है, वह विद्यापति की अपेक्षा गम्भीर है। सचमुच वह भक्ति के अधिक निकट है। उसमें विलास का सामान्य चांचल्य नहीं है। सखियों द्वारा ही इस प्रेम को प्रकाश और मार्ग मिलता है।

उक्त विवेचन से राधाकृष्ण की शृंगार-लीला में सखी का महत्त्वपूर्ण स्थान स्पष्ट हो जाता है। प्रायः ऐसी मान्यता है कि जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास साहित्यिक थे, भक्त नहीं। हमने भी साहित्य के प्रसंग में ही इनकी कविता को रख कर देखा है। परन्तु इस साहित्य में जो प्रेम-तत्त्व झांक रहा है, वह क्रमशः दिव्यता-ग्रहण करने की ओर अग्रसर है। इस साहित्य के रूप में भक्ति की आत्मा इस सीमा तक समाई कि परवर्ती वैष्णवों के लिये यह साहित्य साधना-उपासना का साहित्य बन गया। यहाँ साहित्य भक्ति की आत्मा का आवरण सम्हाले हुए है।

भारतीय प्रेम-कविता का प्रस्तुत प्रेम-तत्त्व १६ वीं शताब्दी में विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित हुआ। जिन संप्रदायों ने व्रज की पौराणिक भूमिका पर राधा-कृष्ण को लिया, उन्हें संयोग, वियोग, समाज-भय, अभिसार आदि सभी प्रसंग स्वीकृत करने पड़े। काल और स्थान के सम्बन्धों के बिना प्रेम की अभिव्यक्ति वहाँ हो भी नहीं सकती थी। कृष्णोपासक सम्प्रदायों के प्रेम-तत्त्व

जपिते जपिते नाम अवश करिल गो, केमने पाइब सइ तारे।

सूरसाहित्य पृ० १०२।

[1] एमन पिरीति कभू देखि नाइ सुनि, परान बाँधा आपन आपनि।
दुहुँ कोडे दुहुँ कांदे विच्छेद भाविया, तिल आध ना देखिये याय जे मरिया।

वही, १०२।

[2] विद्यापति पदावली, पृ० १०३।

का इस प्रेम तत्व से कोई विशेष पार्थक्य नहीं है। सखी-संप्रदाय में अवश्य ही इस प्रेमतत्व को पुनः खराद पर चढ़ाया गया है और चमकते रत्न की कटीली नोकों को तराश कर उसे ऐसा रूप दिया है, जिसमें कहीं कोई त्रुटि नहीं रह गई है। जो इस साहित्य में सुन्दर है, उसे ज्यों का त्यों ले लिया गया है, जहां सुधार की गुञ्जाइश है, वहां उसे संवारा गया है।

प्रेम और रूप की चिर नूतनता की एक अत्यन्त सुन्दर परिभाषा विद्यापति ने दी है, जो सखीभाव के साधकों की आस्था के अत्यन्त निकट है। वे अपना अनुभव इस पद में रखते हैं—

सखि रे, कि पूछसि अनुभव मोर।
सोइ पिरीति अनुराग बाखानिते, तिले तिले नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारिल, नयन न तिरपित भेल···
आदि।[1]

रूप की कसौटी है उसकी प्रतिक्षण नूतनता और प्रेम की कसौटी है, जन्म भर देखते रहने पर भी रूप के प्रति अतृप्ति बनी रहना।

चण्डीदास भी यही कहते हैं—
नितुई नूतन पिरीति दूजन तिले तिले बाढ़ि जाय।
ठांइ नांइ पाय, तथापि बाढ़य परिनामे नाहि थाय।[2]

यही प्रेम और रूप तत्व है सखीभाव-भावितों का। स्वामी हरिदास जी का कथन भी इनके साथ मिलाइये···

प्रेम—तुम्हारी रीझि पलुअ नहिं लागति।[3]
रूप—प्यारी जू जब जब देखौं तेरौ मुख, नयौ-नयौ लागत।
ऐसौ भ्रम होत मैं कबहूं देखी न री, दुति कौं दुति लेखन कागत[4]।
और,
यह कौन बात जु अबहिं और, अबहिं और, अबहिं औरै।[5]

रूप और प्रेमकी यह लीला कितनी विचित्र है, नित्य दोनों का आलिंगन-मिलन है, पर काम की शान्ति नहीं होती—

---

[1] वही, पृ० ३९७
[2] श्री गौडीय वैष्णव साहित्य, नवद्वीप, पृ० ३३।
[3] केलिमाल, पद ८५।
[4] वही, पद ३४।
[5] वही, ५४।

कहत काम की शान्ति न होइ, न होइ, अपित रहौं निसदिन जागत ।[1]

यद्यपि कवियों ने लौकिक प्रेम को भी आस्वाद में इतना ही नूतन माना है—निरंतर भोग से मन नहीं भरता । कहा गया है प्रियजन को सैकड़ों बार चुम्बन करते हैं, हजारों बार आलिंगन करते हैं, रुक-रुक कर बार-बार रमण किया जाता है फिर भी पुनरुक्त प्रतीत नहीं होता[2] यह बात सत्य होते हुए भी काल से सीमित है परन्तु परम देवता राधाकृष्ण की अप्राकृत प्रेम-क्रीड़ा में यह नित्य नूतनता सर्वथा यथावत् रहती है । इसी की उपासना सखीभाव की उपासना है ।

पीछे देखा जा चुका है कि नायक-नायिका की सुरत-क्रीड़ा में आरम्भ से लेकर अन्त तक सखियों का ही हाथ है । उनके अतिरिक्त अन्य कोई उस रहस्य को न तो जान सकता है, न निकुंज-क्षेत्र में पहुँच सकता है । साहित्य में सखी का यह कार्य लौकिक प्रेम-पद्धति में कैसा भी माना जाय, पर रसिक भक्तों के अनुसार परम इष्ट राधा एवं श्याम की शृङ्गार-क्रीड़ाओं में सखियों का अतीव महत्वपूर्ण स्थान माना गया है । ये सखियां ही उनकी लीला-विस्तारिणी हैं, उस रस की अधिकारिणी हैं ।

लौकिक नायक-नायिकाओं की क्रीड़ा में सखी को जो अनेक कार्य जगत के बन्धन के कारण करने होते हैं और जो प्रेम के लिये भारस्वरूप भी होते हैं, सखीभाव-भावितों ने उनका दिव्यीकरण किया है ।

चण्डीदास ने प्रेम में जो अवस्था दिखाई है कि 'तिल आधा ना देखिये जाय मरिया' आधा पल न देखने से भी दोनों मर जाते हैं । यह प्रीति विलक्षण है, न कभी देखी है न सुनी है, फिर भी ऐसे कवियों की रचनाओं में घटनात्मक विरह के पद भरे पड़े हैं । इसका अर्थ है कि प्रेम की तीव्र अनुभूति के उस तत्व को समझ कर भी उसका निर्वाह ये कवि नहीं कर पाये हैं । सखीभाव-भावितों ने अपनी साधना एवं साहित्य में इसका पूर्ण पालन किया है और प्रेम के स्थूल विरह-पक्ष को उन्होंने बिलकुल ही छोड़ दिया है । मिलन

---

[1] वही ३४ :

[2] चुम्बिज्जइ सअहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुन्तम्मि ।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णात्थि पुरुत्तम ।
संस्कृत छाया
चुम्ब्यति शतकृत्वोवरुध्यते सहस्रकृत्वे ।
विरम्य पुना रम्यते प्रियजनो नास्ति पुनरुक्तयः ।
ध्वन्यालोक, सं० नगेन्द्र ८४ ।

में भी तनिक अंचल-पट-ओट होते ही वे प्राणों का जाना अनुभव करते हैं[1], अतः स्थूल विरह घटित ही नहीं हो पाता।

प्रेम के इस सुकोमल और अखण्ड रूप का साक्षात्कार कर लेने के कारण सखीभाव-भावितों ने राधा-हरि के नित्य समवयस्क रूप को ही देखा है। उसी के अनुसार नित्य निष्काम सखियां हैं, जो स्वामी-श्यामा की प्रीति से ही निरन्तर सन्तुष्ट रहती हैं। उनमें सकामता किंचिन्मात्र भी नहीं। श्रीराधा-कृष्ण को ये सखियां कभी विग्रह के मार्ग पर नहीं ले जा सकतीं। उनमें वामता तो नाम-मात्र के लिये भी नहीं है। वस्तुतः वे विशुद्ध प्रेमस्वरूपिणी हैं।

इन्हीं सखियों की, उस नित्य केलि के ऐकान्तिक आनन्द तक, पहुँच है। उपासक भी इन्हीं का अनुगमन कर नित्य लीला के धाम में प्रविष्ट होता है। लीला के उस धाम में अन्य कोई मार्ग नहीं पहुँच पाता।[2]

कामशास्त्रीय प्रभाव का आधार

भारतीय जीवन में परम्परा से चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रथम तीन साधनों का लक्ष्य चतुर्थ की प्राप्ति है। इन सबके सम्बन्ध में अलग-अलग शास्त्रों का निर्माण हुआ है, जो जीवन को तत्तद् क्षेत्रों में एक निश्चित और नियमित दिशा प्रदर्शित करते हैं। हमारे यहाँ काम जैसे महत्त्वपूर्ण जीवनांश को अछूता नहीं छोड़ा गया है अपितु उसको भी, तत्त्वदर्शी निष्काम ऋषियों ने अपने अनुभव के आधार पर लोक-कल्याण के लिये नियमबद्ध किया है। काम की महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपने को धर्माविरुद्ध काम बताया है।[3]

---

[1] ऐसी जीय होत जो जीय सों जीय मिले,
तन सों तन समाइ ल्यों तो देखौं कहा हो, प्यारी।
तोही सों हिलगि आँखिनि सों आखें,
मिली रहैं, जीवत कौ यहै लहा हो, प्यारी।
मोकों इतौ साज कहां री प्यारी, हौं अति दीन,
तुव भ्रुवक्षेप जाय न सहा हो, प्यारी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत राखिलै,
बाँह बल, हौं बपुरा कामदहा हो, प्यारी। केलिमाल, ३५।

[2] विशेष विवरण के लिये चतुर्थ अध्याय देखिये।

[3] धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !। श्रीमद्भगवद्गीता ७।११।

कामशास्त्र का साहित्य से निकट का सम्बन्ध है। समस्त शृङ्गार-काव्य का वास्तविक ढांचा तो काम-शास्त्र ही है। शृङ्गार रस सम्बन्धी लक्षणग्रन्थों में एवं कामशास्त्र में बहुत निकट का सम्बन्ध दिखाई देता है। साहित्य में भावों और मनोरागों की ओर विशेष लक्ष्य करके रस-परिपाक की ओर ध्यान रखा जाता है, तो कामशास्त्र में उन मनोदशाओं के आधार पर होने वाली विभिन्न चेष्टाओं एवं उनसे सम्बन्धित विषयों पर विचार होता है। यह बात स्पष्ट है कि हिन्दी के भक्ति-साहित्य का भी एक महत्वपूर्ण अंश शृङ्गार रस का साहित्य है अतः उसकी पृष्ठभूमि में पूर्ण प्रवेश के लिये भी कामशास्त्र का अध्ययन अपेक्षित है। इस अध्ययन से पहले इतना ध्यान रखना अनिवार्य है कि कामशास्त्र लौकिक काम-विषयों से सम्बन्ध रखता है और सखीभाव का साहित्य अप्राकृत काम से। लौकिक काम की मूल वृत्तियों को जान कर भक्तों ने किस प्रकार उसे अप्राकृत रूप दिया है, यह भी जाना जा सकता है।

सृष्टि का कारण और आदितत्व ऋषियों ने काम को ही माना है। यद्यपि वहां 'काम' शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में हुआ है। ऋग्वेद में कहा गया है :—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविंदन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।[1]

जगत् का निर्माण काम से ही हुआ। सर्वप्रथम प्रभु ने कामना की··· सोऽकामयत्[2] और तभी वह एक से बहुत हो गया ।[3]

यह अखिल जड़-चेतनमय जगत द्वंद्वात्मक है। द्वंद्व का अन्योन्य आकर्षण ही काम है। कविकुलगुरु कालिदास ने इस काम को तरु-पशुओं में भी वैसे ही स्पष्ट रूप में देखा है, जैसा मनुष्य में। कुमार-सम्भव के तीसरे सर्ग में लतातरुओं के श्लेष पर उन्होंने लिखा है :—

पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत् प्रवालोष्ठ मनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ।[4]

लता-वधुओं के पुष्पस्तवक स्तन हैं, एवं प्रवाल जैसे मनोहर ओष्ठ हैं, वृक्ष उनका अपनी शाखाओं से आलिंगन कर रहे हैं।

---

[1] ऋग्वेद १०. १२९.४ ।

[2] तैत्तिरीय २.६

[3] छान्दोग्य ६.२.३ ।

[4] कुमार संभव, ३.३९ ।

पशु-पक्षियों के सुन्दर श्रृङ्गार-चित्र भी इस प्रसंग में भरे पड़े हैं।[१] काम का यही व्यापक रूप सभी स्त्री-पुरुषों में व्याप्त है। कई आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी मानवीय प्रकृति का मूल तत्त्व काम को ही माना है। तत्त्वों की सत्ता अविरोधी होती है। वह एक तथ्य होता है। जब वह तथ्य है तो उसका प्रकाशन भी होता है। काम का प्रकाशन अच्छे या बुरे दोनों रूपों में हो सकता है। काम-शास्त्र का उद्देश्य है कि उसे योग्य दिशा प्रदान की जाय। इसीलिये कामशास्त्र की रचना हुई है।

कामशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक शास्त्र है। इसकी परम्परा भी उतनी ही आरम्भिक मानी जाती है, जितनी सृष्टि। प्रजापति ने जगत् की रचना की है और उसी ने कामशास्त्र का भी प्रथम प्रणयन किया है।[२] उन्होंने शत-सहस्र अध्यायों में त्रिवर्ग-साधन की रचना की। उसमें से मनु ने धर्मशास्त्र, बृहस्पति ने अर्थशास्त्र और महादेवानुचर नन्दी ने कामसूत्र को अलग किया।[3] तत्पश्चात् उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने नन्दिकेश्वर के १००० अध्यायों को पांच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया।[४] उसका संक्षेप बभ्रु के पुत्र पांचाल ने १५० अध्यायों में किया।[५] तब उसके विभिन्न खण्डों की रचना अलग-अलग हुई। दत्तक ने वैशिकअधिकरण अलग किया।[६] चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, गोणिकापुत्र और कुचुमार ने अलग-अलग अधिकरणों का संकलन किया।[७] उस समय कामशास्त्र बहुत बिखर गया। तब अत्यन्त संक्षेप में वात्स्यायन ने कामसूत्र लिखा। यशोधर की टीका में इन्हें मल्लनाग भी कहा गया है।[८] कुछ लोग वात्स्यायन और अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य को एक ही व्यक्ति मानते हैं।[९] जो हो, वात्स्यायन का यह कामसूत्र भारतीय साहित्य में इस क्षेत्र का पूर्ण प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है और बाद

---

[१] मधुद्विरेफ, ददौ रसात् आदि छंद। वही ३.३६।

[२] कामसूत्र, वात्स्यायन १.१.५।

[3] कामसूत्र १.१.६,७,८।

[४] कामसूत्र १.१.९।

[५] कामसूत्र १ १.१०।

[६] कामसूत्र १.१.११।

[७] कामसूत्र १.१.१२।

[८] कामसूत्रं जयमंगला टीका प्रथम सूत्र।

[९] आचार्य चाणक्य, सत्यकेतु विद्यालंकार, भूमिका ०६।

में इसी की व्याख्या, टीका अथवा अंशों के व्याख्यान में अनेक काम-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे जाते रहे।

पण्डित कोक्क ने कामसूत्र का अनुवाद 'रति-रहस्य' नाम से किया है।[१] वह इतना प्रसिद्ध हुआ कि रचना के नाम को छोड़कर इस विषय के ग्रन्थों का नाम ही कोकशास्त्र हो गया। उनके अतिरिक्त बौद्ध विद्वान् पद्मश्री ने नागर-सर्वस्व, ज्योतिरीश्वर ने पंचसायक, कल्याणमल्ल ने अनंगरंग आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। व्रजभाषा के काव्यभाषा बन जाने पर काम-सम्बन्धी सैकड़ों व्रज-भाषा के ग्रंथ लिखे गये, जो यत्र तत्र बड़ी संख्या में उपलब्ध होते हैं। इनमें भी अनेक ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु पश्चाद्वर्ती ग्रंथों में न तो विषय-प्रतिपादन की गम्भीर शास्त्रीय दृष्टि है, न उसका संपूर्ण क्षेत्र ही लिया गया है। किन्हीं विशिष्ट अंशों को इच्छानुसार ढङ्ग से अधिकाधिक अश्लील बनाकर प्रस्तुत किया गया है। यह स्थिति आज भी ज्यों की त्यों है। शास्त्रीय ग्रंथों में काम-सम्बन्धी विवेचन पूर्ण वैज्ञानिक एवं तात्विक है। कामशास्त्र के अनुष्ठान का फल लौकिक सुखोपभोग कर धर्म का मार्ग प्रशस्त करना और उसके द्वारा लोक-परलोक में आनन्द प्राप्त करना बताया गया है।[२]

कामसूत्र में काम का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि आत्मा से संयुक्त हुए मन से अधिष्ठित श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण की अपने-अपने विषय में अनुकूल प्रवृत्ति को काम कहते हैं।[३] यह काम का सामान्य रूप है। काम का विशेष रूप इन्द्रियों के संप्रयोग और उनके फल की प्रतीति होता है।[४] अपने सीमित अर्थ में काम प्रिया-प्रिय अथवा स्त्री और पुरुष के मिलन की वृत्ति है।[५]

---

[१] कामसूत्र, माधवाचार्यकृत भूमिका, बम्बई, पृ० ४६।

[२] कामसूत्र १.२.३९।

[३] श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूलतः प्रवृत्तिः कामः।

कामसूत्र १. २, ११

[४] स्पर्शविशेषविषयात्वस्याभिमानिकसुखानुविद्धा फलवत्यर्थप्रतीति-प्राधान्यात्कामः

कामसूत्र १.२.१२

[५] अध्यात्मयोग और चित्त विकलन, पटना, पृ० १०५।

कामशास्त्र काम के दो अंगों पर प्रकाश डालता है। ये कहलाते हैं—तन्त्र और अवाप। मिलन की चेष्टाएं तन्त्र और उसके उपायों को अवाप कहा जाता है।[1] इन्हीं के विभिन्न अंगों को लेकर कामसूत्र में सात अधिकरण रखे गये हैं।

कामसूत्र का द्वितीय अधिकरण सांप्रयोगिक है। इसमें रतावस्थापन, आलिङ्गन-विचार, चुम्बन-विकल्प, नखरद-जाति प्रकरण, दशनच्छेद्य विधि, देशोपचार, संवेशन-प्रकार आदि अध्याय हैं। मानव-जीवन की रति-संबंधी एक-एक ग्रंथि इन महर्षियों ने खोलकर सामने रख दी है। अतः इनके द्वारा वर्णित आधार पर साहित्य-रचनाओं को सहज रीति से परखा जा सकता है। साहित्यकार यदि कामशास्त्र जानता है, तब तो वह व्यावहारिक दृष्टि से नायक-नायिका के सफल चित्रांकन कर ही सकता है, यदि वह इससे परिचित न भी हो तब भी यदि उसके अनुभव में सचाई है, तो भी वे कामसूत्र के अनुसार ही होंगे।

भक्त-कवियों ने कामशास्त्र पढ़े थे या नहीं हमें इस सम्बन्ध में विचार नहीं करना है परन्तु इतना अवश्य है कि उन्होंने राधाकृष्ण की प्रेमलीला में काम के जो विभिन्न रूप दिखाये हैं, वे कामशास्त्रानुकूल हैं। दोनों की यह एकता भक्त-कवियों द्वारा भारतीय प्रेम-साहित्य की सरणि अपनाने के कारण हुई ज्ञात होती है। जो लोग भक्तिकाव्य में अश्लीलता देखते हैं, कामसूत्र आदि की पृष्ठभूमि में देखने पर उन्हें वह बात साधारण ही प्रतीत होगी।

भक्तकवियों ने श्री राधाकृष्ण के आलिंगन, चुम्बन, परिरंभण का जी खोलकर वर्णन किया है। इस साहित्य पर आलोचकों ने मनमाने आरोप लगाये भी हैं। इन आरोपों का समाधान आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में तो यही हो सकता है कि अचेतन मन में जो वासनाएं दबी रह जाती हैं, वे ही राधा-कृष्ण के माध्यम से भक्तिकाव्य में प्रकट हुई हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस धारणा को किसी सीमा तक ठीक माना जा सकता है परन्तु इसका अर्थ यही निकलता है कि इन भक्तों ने इस उपासना के माध्यम से लौकिक वासनाओं का उपभोग किया है। यह बात भक्तों के चरित्र को देखने से ठीक ज्ञात नहीं होती। अनेक भक्त इनमें से ऐसे भी थे, जो गृहस्थ थे अथवा गृहस्थ का उपभोग कर चुके थे। श्री हरिवंश जी, हरिराम जी व्यास आदि महात्मा इसके उदाहरण हैं। स्वामी हरिदास जी का भी बाल्यावस्था में विवाह

---

[1] कामसूत्र १.१.२३ की जयमंगला टीका।

हुआ था, ऐसी मान्यता है। यह न भी हो, क्योंकि अनेक महात्मा इस क्षेत्र में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर आये थे, उनकी साधना भी उच्चकोटि की आदर्श साधना रही है। अतः वासनाओं के इस रूप में प्रकट होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस बात को दूसरे प्रकार से कहा जा सकता है। लौकिक काम से बचने के लिये, सृष्टि एवं स्वयं के मूल रूप में विद्यमान प्रेम (काम का विशुद्ध रूप) जो भगवान् का ही स्वरूप है, उसके नित्य चिन्तन के द्वारा मन को पवित्र बनाकर नित्य वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है, यही सखीभाव के रसिक-भक्तों की विचार-पद्धति है। श्रीकृष्ण साक्षान्मन्मथमन्मथ हैं, कामावतारांकुर हैं। उनके हृदय में रहते लौकिक काम कैसे रह सकता है, एक दग्ध होकर ही दूसरा दिव्य काम जी उठता है।

काम मानव की मूल वृत्ति है।[1] यह अत्यन्त वेगवती है। स्वभावज होने के कारण यह अपने रास्ते बहती है। संस्कार न होने से इससे अनेक ऐसे कार्य हो जाते हैं, जो हानिकर होते हैं। समाज उनके लिये नियम बनाता है। आवश्यकता होती है, काम-वृत्ति को किसी ओर मोड़ देने की। काम को अपनी स्वाभाविक दिशा से हटाने के लिये निरोध आदि कितने ही उपाय किये जाते हैं, परन्तु उसमें सफलता संदिग्ध ही रहती है। जो वस्तु तत्व रूप से है, वह मर कैसे सकती है। अतः उसी काम को लौकिक क्षेत्र से हटा कर अलौकिक क्षेत्र में डाल दिया जाता है। वृत्ति को अपना उच्चतर विषय मिल जाता है और उसमें उसका लगना सहज भी होता है। यही शुभ-नियुक्ति अथवा 'सब्लाइमेशन' है। वासना के जो दो शुभ और अशुभ रूप बताये गये हैं, उनमें अशुभ लौकिक है, परिणाम में कष्टकारक है, उसे जीत कर शुभ में उसकी नियुक्ति करनी चाहिये, यही सर्वदा मंगलमूल है।[2]

काम-भाव से श्रीकृष्ण को गोपियों ने भजा था। गोपीभाव के अन्य भक्तों ने भी कामानुगा भक्ति स्वीकृत की। कामरूपानुगामिनी यह भक्ति संभोगेच्छामयी और तद्भावेच्छामयी होती है।[3] संभोगेच्छामयी भक्ति में भक्त स्वयं रिरंसा

---

[1] अध्यात्मयोग और चित्तविकलन, पटना, पृ० ११७।

[2] द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभश्च ते···शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहंती वासना सरित् पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि। अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय। योगवासिष्ठ, मुमुक्षु प्रकरण, सर्ग १।

[3] हरिभक्तिरसामृतसिन्धु १.२.८१,८२,८३।

रखता है परंतु तद्भावेच्छामयी भक्ति में भक्त उस मधुरमूर्ति की माधुरी की ओर देख कर तथा लीला को श्रवण कर ही संतुष्ट होता है। इन दोनों में प्रथम में सकामता है एवं द्वितीय में काम होने पर भी निष्कामता है। प्रथम में श्रीकृष्ण के प्रति कान्ताभाव है और द्वितीय में राधाकृष्ण के प्रति सखीत्व। निस्संदेह सखीत्व भाव-दृष्टि से अधिक सूक्ष्म और सात्विक है। प्रिया-प्रियतम की नित्य रति में निष्काम होकर उसका संयोजन आदि करना यही सखी का कार्य है। सखीभाव की उपासना अप्राकृत काम की उपासना है।

इस सम्बन्ध में हमारा निष्कर्ष यह है कि सखीभाव के साहित्य में राधाकृष्ण की जो श्रृङ्गार लीलाएं हैं, उनमें कामशास्त्र के अनुसार काम की प्रायः समस्त दशाओं का चित्रण होता है परन्तु इस साहित्य के काम-स्वरूप को सामान्य काम से सम्बन्धित न मान कर दिव्य काम का स्वरूप मानना चाहिये। वाह्य रूप को समझने के लिये कामशास्त्र का आश्रय अवश्य ही अपेक्षित है। प्रभाव के रूप में कामशास्त्र का अध्ययन इसीलिये आवश्यक भी है।

* * *

तृतीय अध्याय

गोपी तत्व के विविध रूप और सखी तत्व

सखीभाव : दो भूमिकाएँ

गोपीभाव और सखीभाव की संक्षिप्त परिचयात्मक चर्चा हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं, सखीभाव के सम्बन्ध में दो धारणायें प्रमुख हैं। अलग-अलग समझने के लिये हम इन्हें 'गोपीभाव' और 'सखीभाव' कह सकते हैं। साधारणतया गोपीभाव की साधना को भी सखीभाव की साधना कह दिया जाता है। साथ ही सखीभाव की अपनी एक विशिष्ट उपासना भी है। दोनों साधनाओं में सूक्ष्म भेद है, अतः इस भेद को विस्तार से समझना आवश्यक है।

गोपीभाव के पर्याय के रूप में गृहीत सखीभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है। सखीभाव के द्वितीय निजी रूप से यह कहीं अधिक प्राचीन और अनेक संप्रदायों में प्रचलित है। कृष्णभक्त-संप्रदायों में प्रायः सखी और गोपी को एक ही तत्व माना जाता है। श्रीमाधव गौड़ेश्वर संप्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय और निम्बार्क संप्रदाय आदि में सखी और गोपी में कोई भेद नहीं माना जाता अतः ये सम्प्रदाय गोपी और सखी दोनों शब्दों का एक ही प्रसंग में वेधड़क प्रयोग करते हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय इन दोनों में उपासना दृष्टि से एक हलकी रेखा खींच रखता है, यद्यपि वहां भी दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ समान अर्थों में होता है। अवश्य ही स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय में सखी के लिये गोपी शब्द कदापि प्रयुक्त नहीं होता, वहां दोनों का भेद स्पष्ट रखा गया है। इस भेद के स्पष्टीकरण में सर्वप्रथम गोपी-तत्व का स्वरूप-निर्देश आवश्यक होगा।

'गोपी' शब्द

'गो' शब्द के अनेक अर्थ हैं। स्वर्ग, पशु, गाय, बैल, वाणी, इन्द्रियां, वज्र, दिशा, नेत्र, किरण, भूमि, जल इत्यादि सभी 'गो' शब्द से अभिहित होते हैं।[1]

'गो' का सर्वसामान्य अर्थ गौ ही है, अतएव गोप शब्द के अनेक अर्थ

---

[1] स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले। लक्षदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः।

अमरकोश, तृतीयकाण्ड, नानार्थवर्ग २५।

होते हुए भी[1] साधारण अर्थ गायों का पालक या पति है। गोप शब्द अहीर जाति-विशेष के लिये भी प्रयुक्त होता था।[2] इस जाति का मुख्य व्यवसाय गोचारण ही था। गोप शब्द का स्त्रीलिंग गोपी है। श्रीकृष्ण गोप थे, उनसे अनन्य प्रेम करने वाली गोकुल की ये गोपांगनायें गोपी थीं। इन्हीं गोपिकाओं का अनुसरण करते हुए भावसाधन करना वैष्णव उपासक की आराधना का एक महत्वपूर्ण अङ्ग हैं।

क्रमशः उपासना और दर्शन क्षेत्र में गृहीत होने पर इन सभी शब्दों की सूक्ष्म व्याख्यायें होने लगीं। कृष्ण, राधा और गोपी इन सभी की अनेकविध परिभाषायें हुईं। वेदों में विष्णु को गोप कहा गया है,[3] यह सूर्य का पर्याय है।[4] गोपी का अर्थ इस सम्बन्ध से किरण होता है। श्रीकृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये सूर्य और किरण का यह अर्थगत उदाहरण बहुत ही महत्वपूर्ण है। 'गुप्' धातु रक्षण अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। गोपी का अर्थ हुआ छिपाये रखनेवाली[5]। जो कृष्ण–वशीकरणयोग-प्रेम की रक्षा करती हैं, उन्हें गोपी कहते हैं।[6]

दर्शन-क्षेत्र में गोपियों को इन्द्रियों की वृत्ति कहा जाता है। भक्त के भाव को स्पष्ट करने वाली इस परिभाषा के कर्ता का कथन है कि इन्द्रियों के लिये अत्यधिक आकर्षक होने के कारण वह मूल तत्व 'कृष्ण' इस नाम से पुकारा जाता है और इन्द्रियों की वृत्ति को गोपी कहा जाता है।[7] तात्पर्य यह है कि

---

[1] अहीर, गन्धरस या अनेक गांवों के ठेकेदार को भी गोप कहते हैं।
अमरकोश, द्वि० खण्ड ७

[2] अमरकोश, वैश्यवर्ग, ५७।

[3] विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ऋग्वेद ३.३.२९

[4] दी हायर हिन्दूइज्म इन रिलेशन टु क्रिश्चियनिटी, टी० ई० स्लेटर, लन्दन १९०२ पृ० ४१।

[5] (१) गोपनादुच्यते गोपी। पद्मपुराण, पाताल खण्ड तथा बृहद् ब्रह्मसंहिता २.५.५० (२) गोपायति सकलमिदं गोपायति परं पुमांसमिति गोपी, नारद पांचरात्र, ३.२.१६, क्रमदीपिका २.१५।

[6] श्रीमद्वैष्णवसिद्धान्त-रत्नसंग्रह, वृन्दावन, पृ० ९७।

[7] गवाम् इन्द्रियाणां पालनं पुष्टिर्वा तद्वृत्तिभिरेव क्रियते। पुष्पेषु भ्रमरं इव

इस गोपी शब्द के विद्वानों और भक्तों ने आवश्यकतानुसार अनेक अर्थ किये हैं परन्तु मूल रूप में कृष्णावतार के समय उनकी अनन्य प्रेमिका व्रज-सुन्दरियों के लिये ही इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

गोपी तत्व

किसी भी सिद्धि के पीछे भारतीय संस्कार जन्मजन्मांतर की साधना का होना मानता है। गीता में भी कहा गया है कि अनेक जन्मों की संसिद्धि से ही परा गति को प्राप्त किया जा सकता है।[1] गोपिकाओं के सम्बन्ध में भी ऐसी ही मान्यता होना स्वाभाविक है। अपने पूर्व जन्मों में गोपियों ने न जाने कितने तप किये होंगे, जो उन्हें श्रीकृष्ण की मित्रता प्राप्त हुई। पद्मपुराण के अनुसार हम देखते हैं कि दण्डकारण्यवासी मुनियों को श्रीराम से भविष्य में गोपी होने का वरदान प्राप्त हुआ था।[2] बृहद्वामनपुराण के अनुसार श्रुतियों और ऋचाओं को तपस्या करने के कारण गोपीदेह की प्राप्ति हुई थी।[3] पीछे ऐसे अनेक उदाहरण हम पुराणों से प्रस्तुत कर चुके हैं, जिनमें तप द्वारा अनेक महामुनिजनों ने गोपीदेह को प्राप्त किया था। तात्पर्य यह है कि अनेक साधनाओं के पश्चात् साधकों को गोपीत्व की प्राप्ति हुई। यह जीव-कोटि का ही क्रमशः उत्थान माना जा सकता है।

गोपियों के सम्बन्ध में दूसरी मान्यता सिद्ध कोटि की है। श्रीकृष्ण अपने नित्यधाम से अवतार लेकर पृथ्वी पर अवतरित हुए। पूर्णावतार अपने पूर्ण

विषयेषु प्रवृत्ता इन्द्रियवृत्तयस्तद्रसं गृहीत्वा तेनैव इन्द्रियाणां तृप्तिं पुष्टिं च कुर्वन्ति। अन्यथा तेषां वैपर्यापत्तेः। क्षीणत्वसम्भावनोत्पद्यते। अतो वृत्तय एव गोप्यः। देखिये कल्याण, भक्ति अंक, पृ० ५०२, डा० मंगलदेव शास्त्री का लेख।

[1] अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।
श्रीमद्भगवद्गीता ७।४५।

[2] उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ६५ जीवगोस्वामी और विश्नाथ चक्रवर्ती की टीकाओं में उद्धृत।

[3] उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ६६ तथा,

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेयाः, ऋषिजा गोपकन्यका।
देवकन्याश्च राजेन्द्र! न मानुष्यः कथंचन॥
पद्मपुराण, पातालखंड ७३।३२।

परिकर के साथ होता है। गोपियां भी कृष्ण के नित्य परिकर में हैं, गोलोक से वे लीला के हेतु अवतरित हुई हैं। इस रूप में वे आप्तकाम और नित्य हैं।[1] कहीं तो सीधे गोपियों को श्रीकृष्ण का अंशविस्तार कहा गया है, कहीं राधा को श्रीकृष्ण की आत्मा बताकर[2] गोपियों को राधा का अंशविस्तार कहा गया है।[3] स्वयं श्रीकृष्ण ने अपने को ललिता-रूप कहा है।[4]

श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं।[5] गोपिकायें श्रीकृष्ण की शक्तियां हैं।[6] श्रीकृष्ण को चन्द्रमा मानकर गोपियों को उनकी कला कहा गया है।[7] जहाँ श्रीकृष्ण को पुरुष माना गया है, वहां गोपियों को जनस्तत्व समूहक प्रकृति कहा गया है।[8] वे श्रीकृष्ण की इच्छा-शक्ति या रुचि भी कही गई हैं। गोपाल-तापिनी-उपनिषद् में वे अविद्या-कला-प्रेरक रूप में संस्मृत

---

[1] कामास्तु वांछितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिका।
नित्या सर्वे विहाराद्या आप्तकामस्ततस्त्वयम्॥
स्कन्दपुराए, वैष्णव खण्ड, १।२३

[2] आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
स्कन्दपुराण वैष्णव खण्ड, १।२२

[3] तस्या एवांशविस्तारा सर्वा श्रीकृष्णनायिका।
नित्यसंभोग एवास्ति तस्यः साम्मुख्ययोगतः।
स्कन्दपुराण, वै० ख०, २।१२

[4] अहं च ललितादेवी तुर्यातीता च निष्फला।
पद्मपुराण, पातालखंड, ७५।३५

[5] कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्।
श्रीमद्भागवत १।३।२८

[6] या शक्तयः सामाख्याता, गोपीरूपेण ताः पुनः।
सख्यो भूत्वा राधिकायाः कृष्णचन्द्रमुपासते। कृष्णयामल।

[7] तस्यैताः शक्तयो देवी षोडशैव प्रकीर्तिताः।
चन्द्ररूपी मतःकृष्णः कलारूपास्तु ताःस्मृता॥
स्कन्दपुराण, प्रभास खण्ड।

[8] गोपीति प्रकृतिं विद्याज्जनस्तत्त्वसमूहकः।
गौतमीय तन्त्र २।१८ (हस्त०)

हैं।[1] गोपियों को श्रीकृष्ण की सिद्धशक्तियों के रूप में देखा जाना प्रायः सार्वत्रिक ही है। उनका यह स्वरूप नित्य या सिद्ध है।

श्री रूप गोस्वामी ने उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर गोपियों को साधन-सिद्धा और नित्य-सिद्धा आदि रूपों में स्वीकृत किया भी है।[2]

तत्वविचार की दृष्टि से गोपियों को साधारण मानुषी मानने की भूल कोई भी नहीं करता। लीला-दृष्टि से वे श्रीकृष्ण-लीला की आवश्यक परिकर हैं। फिर भी द्वापरकालीन लीला के कारण गोपियों को विभिन्न रूपों में देखने का कारण तत्वानुसंधान की दृष्टि ही है। इन विविध मतभेदों ने उपासना की विविधता को जन्म दिया है।

कुछ विद्वान् रासलीला की योगपरक व्याख्या करते हैं। अनाहत नाद ही भगवान श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि है। अनेक नाड़ियां ही गोपिकायें हैं, कुण्डलिनी श्री राधा हैं और मस्तिष्क का सहस्र-दल-कमल ही वृन्दावन है, जहां आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिलन होता है।[3]

श्रीकृष्ण-लीला की व्याख्या कुछ विद्वान ज्योतिष् तत्व के रूप में करते हैं। वे कृष्ण को सूर्य का प्रतिविम्ब और गोपियों को तारिकायें मानते हैं।[4]

श्री राधा के आविर्भाव के पूर्व श्रीकृष्ण के रसिक-रूप के साथ सर्वत्र गोपियों का ही नाम आता है। महाभारत-रचना के समय श्रीकृष्ण गोपीजनप्रिय रूप में प्रसिद्ध थे। द्रौपदी ने अपनी विपत्ति के समय श्रीकृष्ण को इसी संवोधन-विशेष से पुकारा था।[5] स्वयं श्रीमद्भागवत में जहां श्रीराधा का नामोल्लेख नहीं हुआ है, वहां गोपियों का प्रेमिकाओं के रूप में उत्कृष्ट चित्रण हुआ है।

---

[1] ब्राह्मणः पापकर्षको गोभूमिवेदविदितो विदिता गोपीजनाविद्याकलाप्रेरक-
स्तन्माया चेति सकलं परंब्रह्मैव तत्।

गोपाल-तापिनी-उपनिषद् १।५

[2] तास्त्रिधा साधनपरा, देव्यो नित्यप्रियास्तथा।

उज्ज्वल नी० हरि० ४०

[3] सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल. पृ० ३१४।

[4] श्री राधा का क्रमविकास, शिशभूषण दासगुप्त, पृ० १०१।

[5] गोविन्द द्वारिकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।

महाभारत, सभा० ६७

दार्शनिक और पौराणिक दृष्टि से गोपियों को हम कुछ भी मानें और किसी तत्त्व का अवतार कहें, वैष्णवों की दृष्टि में तो वे श्रीकृष्ण की नित्य कान्ताएं हैं। तत्त्व उनके लिये साकार रूप में है। गोपियां श्रीकृष्ण की जन्म-जन्म की प्रेयसी हैं।[१] वे अहैतुक प्रेम की मूर्ति हैं। तत्त्वतः वे प्रेमस्वरूपिणी हैं, वैष्णवोपासकों ने गोपियों को इसी रूप में देखा है। संभवतः गोपियों के इस सान्द्रप्रेम का विस्तार से वर्णन प्रथम बार भागवत में हुआ है।

श्रीमद्भागवत में गोपी-प्रेम

श्रीकृष्ण का गोपियों से सम्बन्ध निश्चित रूप से प्रेम-सम्बन्ध था। गोपियों के काम और प्रेम में अन्तर नहीं है।[२] गोपियों के समस्त कर्म केवलमात्र कृष्णसुखेच्छा से प्रेरित होते थे, स्वीय भोगेच्छा से नहीं। गोपियां समर्पण की प्रतिमूर्ति थीं। अपने पति, पुत्र, गृह इत्यादि के कार्यों में व्यस्त रहने पर भी वे सदैव श्रीकृष्ण की चिन्ता में ही मग्न रहती थीं।[3] उनकी वृत्तियां पूर्णतः श्रीकृष्णमय थीं। वे तो देह-धारण भी श्रीकृष्ण के लिये ही करती थीं।[४]

गोपियों के प्रेम की परीक्षा का अवसर भी आया। श्रीकृष्ण ने शरद् पूर्णिमा की निशीथ में वंशीवट पर मुरली बजाई। गोपियों के प्राण बज उठे। वे रुक न सकीं, उलटे, सीधे वस्त्र पहिने अर्द्धरात्रि में ही वन की ओर दौड़ चलीं। श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ अत्यंत निष्ठुर व्यवहार किया परन्तु गोपियां श्रीकृष्ण के स्वरूप को समझती थीं। वे जानती थीं कि पति, पुत्र और

---

[१] अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा।
नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रिलोक्यानन्दवर्धनः। गौतमीयमन्त्र ७।२४ हस्त

[२] प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वांछन्ति भगवत्प्रियाः।
गौतमीय तन्त्र। हरिभक्ति रसामृत सिंधु पृ० ९३ पर उद्धृत गौतमीय तंत्र के हस्त० तथा नागरी एवं बंगाक्षरों में प्रकाशित संस्करणों में यह श्लोक प्राप्त नहीं है। गोपी प्रेम पृ० १७ पर यह गौतमीय तंत्र से ही उद्धृत लिखा गया है।

[3] श्रीमद्भागवत १०।३१।१५।

[४] निजांगमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्। गोपी-प्रेम में उद्धृत पृ० १५

बन्धु-बान्धवों के प्रिय बन्धु और आत्मा श्रीकृष्ण ही हैं।[1] गोपियां परीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। रास प्रारम्भ हुआ। पुनः श्रीकृष्ण ने उनकी परीक्षा ली। वहां भी गोपियां सफल हुईं।

गोपियों के इस अलौकिक समर्पण और प्रेम ने श्रीकृष्ण को वशीभूत कर लिया। श्रीकृष्ण ने गोपियों से प्रार्थना की कि, "हे गोपियो, तुमने कठिन गृह-शृङ्खलाओं को तोड़ कर मुझसे प्रेम किया है, उसका मूल्य मैं देवायु में भी नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारता से मुझे उऋण कर देना।"[2]

श्रीकृष्ण स्वयं जिससे उऋण न हो सकें, वह प्रेम अवश्य ही अकथनीय है, अमेय है। श्रीकृष्ण ने भी गोपियों को अपने अंग-संग का आनन्द दिया। निरानन्द की प्राप्ति के लिये योगी जन्म-जन्मान्तर तक अनेक व्रत, तप आदि करते हैं, परन्तु गोपियों ने सच्चिदानन्द के रस-संदोह रास को अपने प्रेम के बल से प्राप्त किया।

श्रीमद्भागवत में गोपियों के व्यक्तित्व को कोई दार्शनिक वाद अथवा प्रतीक का रूप नहीं बताया गया है। श्रीमद्भागवत में अवश्य ही अनेक अंशों में आध्यात्मिक वातावरण बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु उसमें लीलानन्द की भावना सर्वत्र प्रबल रही है। श्रीकृष्ण की अवतार-भावना और परब्रह्मत्व ने इस वातावरण को जन्म दिया है परन्तु गोपियाँ साधारण गोपस्त्रियां अथवा गोपकन्यायें ही हैं। श्रीकृष्ण और गोपियों के इस बृहद् लीलागान में गोपियों के अनेक स्वरूप, कार्य, अवस्था आदि के भेद दिखाई देते हैं परन्तु उन सबका सैद्धान्तिक वर्गीकरण भागवतकार ने नहीं किया है। श्रीमद्भागवत को आधार बनाकर यह कार्य तो भक्ति-सम्प्रदायों के परवर्ती आचार्यों ने किया और उन्होंने ही इस गोपी-भाव के रूप को भिन्न संप्रदायगत वैशिष्ट्य प्रदान किया।

श्रीमद्भागवत में रासक्रीड़ा के अन्त में कहा गया है कि भक्तों पर

---

[1] यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरंगस्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।
श्रीमद्भागवत १०।२१९।३२

[2] न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां संवृश्चय तद्वः प्रतियातु साधुना।
श्रीमद्भाग० १०।३२।२२

अनुग्रह के लिये मनुष्य-देह धारण कर भगवान् इस प्रकार की क्रीड़ा करते हैं, जिसका स्मरण कर वे तत्पर हो सकें।[1]

यहां स्पष्ट ही लीला का स्मरण कर उपासना का कथन किया गया है। परवर्ती ग्रन्थों में भागवत के अनुसार उपासना का आदर्श गोपियाँ ही बन गई। नारद-भक्ति-सूत्र में प्रेमाभक्ति के उदाहरण के लिये कहा गया है कि यह गोपियों के समान होनी चाहिये।[2] शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र में भी गोपिकाओं के अनुराग का उदाहरण दिया गया है।[3] क्रमशः पुराण-ग्रन्थों में गोपिकाओं का व्यक्तित्व विकसित होता गया और अन्त में सम्प्रदायों का अनुसरण कर गोपीभाव कृष्ण-भक्ति का प्रधान साधन-भाव बन गया।

एक विशिष्ट गोपी : राधा

राधा भी गोप-कन्या हैं।[4] पुराणों में उनके माता-पिता आदि का विस्तार से वर्णन हुआ है। श्रीमद्भागवत में राधा का नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया गया है, फिर भी भागवत के पश्चाद्वर्ती युग में गोपिकाओं में राधा को असाधारण महत्ता प्राप्त होती चली गई और क्रमशः वे गोपियों के साथ की उपासक-कोटि से निकल कर उपास्य के आसन पर समासीन होती दिखाई देती हैं। श्रीराधा के स्वरूप-विकास के इस महत्व का कारण, जैसा हम कह चुके हैं, राधा-कृष्ण के रूप में उस भारतीय युगल तत्व की प्रतिष्ठा थी, जो भारतीय धर्म में स्वाभाविक और सार्वत्रिक है। पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति, शक्ति-शक्तिमान्, विष्णु-लक्ष्मी के समान ही राधा-कृष्ण भी अद्वय युगल भाव को प्राप्त हुए। विशेषता यह हुई कि जहां सनातन युगल तत्त्व सृष्टि के मूल परम तत्त्व के रूप में उपास्य था, वहाँ राधा-कृष्ण वह सब होकर भी प्रेमोपास्य थे। इसीलिये राधाकृष्ण की उपासना इतनी अधिक प्रसरणशीला हो सकी।

राधा की प्रधानता होने से गोपियों का श्रीकृष्ण के साथ का निजी

---

[1] अनुग्रहस्यभक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीं क्रीडां यां स्मृत्वातत्परो भवेत्॥

वही, १०।३३।३७

[2] नारद भ० सू० २१।

[3] शाण्डि० भ० सू० १४।

[4] वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतिरीश्वरी…राधिकोपनिषद्।

अधिकार वैसा न रह गया, क्योंकि राधा-कृष्ण तो एक ही तत्व हो गये।[1] गोपियों को राधा-कृष्ण के इस तात्विक रूप में स्थान है, परन्तु श्री राधा-कृष्ण की आत्मा हैं, तो गोपियां आत्मांश का विस्तार हैं।[2] गोपियों को श्री राधा की कायव्यूहरूपा कहा गया है।[3] आगे चल कर गौडीय गोस्वामियों ने तो गोपियों के रमण और उनकी संतुष्टि को राधा के आधार पर ही माना। चैतन्य-चरितामृत के अनुसार राधा का स्वरूप कृष्ण-प्रेम-लता का है और सखीगण उस लता की पत्र-पुष्प हैं। कृष्णलीलामृत में यदि लता को सींचा जाय तो पल्लवादि स्वयं प्रफुल्लित और सुखी होते हैं।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि आड्वार भक्तों का जो सीधा कान्ताभावयुक्त गोपी रूप था, वह क्रमशः सहचरीत्व तक ही सीमित होता गया। उपासना की दृष्टि से इसे सखीभाव की ओर विकास ही कहा जायगा।

व्रज की गोपिकाएं

उपासना-क्षेत्र में गोलोक-लीला और व्रजलीला की बात कही जाती है। इन्हें अगोचर और गोचर अथवा वास्तवी[5] और व्यावहारिकी नाम भी दिये

---

[1] यः कृष्णः सापि राधा या राधा कृष्ण एव सः।
ब्रह्मसंहिता, यु० त० स०, पृ० १७१।

[2] आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका।
तस्या एवांशविस्ताराः सर्व्वाः श्रीकृष्णनायिकाः।
ब्रह्माण्डपुराण, राधास्तव।

[3] एतस्या एव कायव्यूहरूपा गोप्यो महिष्यः।
श्रीश्चेति। युग्मतत्त्वसमीक्षा, पृ० १८२

[4] राधार स्वरूप कृष्ण प्रेमकल्पलता। सखीगण हय तार पल्लव-पुष्प-पाता।
कृष्णलीलामृते यदि लता के सिंचय। निज सेक हइते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय।
चैतन्यचरितामृत म० ८।

[5] लीलैव द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी।
वास्तवी तत्स्वयंवेद्या जीवानां व्यावहारिकी।
आद्या विना द्वितीया न द्वितीया नाद्यगा क्वचित्।
आवयोर्गोचरेयं तु तल्लीला वह्वारिकी।
यत्र मूरादयो लोका भुवि माथुरमण्डलौ।
स्कन्दपुराण, वैष्णव खण्ड मार्गशीर्ष १।२५–२७।

गये हैं। गोपी-भाव-प्रधान संप्रदायों में प्रायः इन दोनों प्रकार की लीलाओं में विशेष भेद नहीं किया जाता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

वैष्णव पुराणों को देखने से ज्ञात होता है कि इनमें गोपियों का जो परिचय दिया गया है, वह अनेक अंशों में परस्पर भिन्न है और उसमें स्वरूप-भेद भी पर्याप्त है। गोपियों के नाम भी इनमें अलग-अलग मिलते हैं। यदि किसी प्रकार इन ग्रन्थों के रचना-काल का ठीक तारतम्य प्राप्त हो जाय, जो कठिन ही है, तो गोपियों के स्वरूप-विकास को समुचित रूप से समझा जा सकता है। यहां हम साधारणतया पुराण-तन्त्र आदि ग्रन्थों के आधार पर व्रज-गोपियों का सामान्य परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

संख्या और नाम

श्रीमद्भागवत पुराण में श्री राधा का नाम नहीं है परंतु गोपियों की कथाओं से दशम-स्कंध का पूर्वार्द्ध भरा है। गोपियों का महत्त्व-कथन भागवत-कार का उद्देश्य जान पड़ता है। परंतु श्रीमद्भागवत में गोपियों की विस्तृत चर्चा होने पर भी वहां किसी गोपी का नाम नहीं लिखा गया है। गोपी, व्रजस्त्री, गोपवधू जैसे सामान्य शब्दों से ही उनका निर्देश किया गया है। गोपियों के अलग-अलग नाम, उनके पृथक् स्वरूप, कार्य और सेवाओं का परिचय श्रीमद्भागवत में हमें नहीं मिलता। गोपियों की सामूहिक साधना ही भागवत में अभिव्यक्त हुई है। रास-पंचाध्यायी में एक गोपी-विशेष को लेकर श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये थे, ऐसा लिखा है, परन्तु वहां इस गोपी-शिरोमणि का भी नाम नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि जब प्रारम्भ में व्रज-सीमन्तिनियों के प्रेम को उपासना के क्षेत्र में स्वीकृत किया गया था, तब उसमें उतना स्वरूप-विस्तार न था।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में, जो कृष्णलीला सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण पुराण है, गोपियों की चर्चा विस्तार से की गई है। इस पुराण के प्रकृति खण्ड के अध्याय ४९ में गोलोक में सुदामा द्वारा राधा को भारत में आकर गोपकन्या होने का

यत्र भूरादयो लोका भुवि माथुरमण्डलौ।

स्कन्दपुराण, वैष्णव खण्ड, मार्गशीर्ष० १ २५,२६,२७।

शाप दिया गया है।[1] वही वाराहकल्प में आकर गोकुल में वृषभानु-कन्या हुई।[2]

इस पुराण में गोपियों की संख्या अनेक स्थलों पर अनेक प्रकार से बताई गई है। कहीं छत्तीस लक्ष कोटि गोपी-गोप बताये गये हैं,[3] कहीं शतकोटि गोपियां,[4] कहीं छत्तीस शत कोटि संख्या केवल गोपिकाओं की ही गिनाई गई है।[5] वास्तव में वैष्णवों के ग्रंथों में गोपियों की संख्या कोटि-कोटिशः (असंख्य) कही गई है।[6] उनकी कोई भी गणना नहीं है। कहा गया है कि नभ के तारे और धूल के कण गिने जा सकते हैं, परन्तु गोपियों की संख्या नहीं गिनी जा सकती।[7] यह बात सामान्यतया समस्त वैष्णव संप्रदायों के विषय में भी सत्य है। जहां कहीं संख्या गिनाई गई है, वह अपरिमितता की ही कोई विशेष संज्ञा है।

इन गोपियों में से कुछ को प्रधान गोपी बताया गया है। इनकी संख्या कहीं आठ, कहीं सोलह, कहीं चौंसठ और कहीं सोलह हजार है। गोपियों अथवा कृष्णवल्लभा महिषियों की आठ संख्या का आधार सम्भवतः आठ

---

[1] शशाप तां सुदामा च त्वमितो गच्छ भारतम्।
भव गोपी गोपकन्या मुख्याभिः स्वामिरेव च॥
ब्रह्म वैवर्त, प्रकृति०, ४९.३०,३१।

[2] राधा जगाम वाराहे गोकुलं भारते सती।
वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह। वही, ४९.३६।

[3] षट्त्रिंशल्लक्षकोट्यश्च गोप्यो गोपाश्च तत्समाः।
वही, ४९।५२

[4] तस्या वयस्याः सुन्दर्यो गोपीनां शतकोटयः।
ब्रह्मवैवर्त पुराण। कृष्ण जन्म० २।२४

[5] जगाम सार्धं गोपीभिस्त्रिषष्टिशतकोटिभिः।
वही, २।३८

[6] बहिर्देशस्थिताः काश्चित्कोटिशः कोटिशः सदा।
वही, ३।५७

[7] रजकन उडुगन बूंदघन, आवत गिनती मांहि।
कहत जोइ थोरी सोई, सखियनि संख्या नाहिं।
ध्रुवदास, सभामंडललीला, बयालीसलीला पृ० १४९

प्रकृतियों से सम्बन्धित है। गीता में प्रकृति के आठ प्रकार कहे गये हैं।[1] श्री रामानुजाचार्य ने श्री भाष्य में अष्टधा प्रकृति बताई है।[2] सोलह संख्या का आधार संभवतः सोलह कलाओं से सम्बन्ध रखता है। इस सोलह के सम्बन्ध से ही ३२, ६४ या १६००० तक की संख्या को गृहीत किया गया ज्ञात होता है। ६४ कलाओं के साथ शास्त्र की ६४ कलाओं का सम्बन्ध भी समझना चाहिये। ब्रह्मवैवर्त पुराण में एक स्थान पर ३२ गोपियों के नाम गिना कर उनमें से प्रत्येक के यूथ में अनेक सहस्र गोपियों का कथन किया गया है। रास-क्रीड़ा का यह प्रसंग इस दृष्टि से रोचक है। इन बत्तीस प्रमुख गोपियों के नाम हैं, सुशीला, चन्द्रमुखी, माधवी, कदम्बमाला, कुन्ती, यमुना, जान्हवी, पद्ममुखी, सावित्री, पारिजाता, स्वयंप्रभा, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरीपद्मा, सर्वमंगला, कालिका, कमला, दुर्गा, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गंगा, अम्बिका, सती, नन्दिनी, सुन्दरी, कृष्णप्रिया, मधुमती, चम्पा और चन्दना, इनके साथ क्रमशः १६०००, १६०००, ११०००, १३०००, १००००, १४०००, ९०००, ९०००, १५०००, १००००, ७०००, १४०००, १४०००, १४०००, १४०००, १६०००, १६०००, १३०००, १६०००, १३०००, १००००, १४०००, १००००, १४०००, १६०००, १३०००, १००००, १३०००, १६०००, १६०००, १३००० और १६००० गोपियां रासक्रीड़ा के लिये गईं।[3] यह संख्या ४२१००० होती है। हम इस संख्या का कोई तारतम्य अथवा शास्त्रीय आधार नहीं पाते। सम्भवतया यह पुराणकार की अपनी असंख्य की संख्या-वाचक गणना ही है। यहां प्रारम्भ में गोपियों की संख्या त्रयस्त्रिशद् बताई गई है।[4] अलग से यहीं एक स्थान पर चन्द्रावली का नाम भी आया है।[5]

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता ७।४

[2] अपरे च आथर्वणिकाः अष्टौ प्रकृतयः। षोडश विकाराः···

रामानुजाचार्य, श्रीभाष्य ४।७।

[3] ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्ण जन्मखण्ड, अध्याय २८। श्लोक २६ से ४१ तक देखिये।

[4] त्रयस्त्रिशद्वयस्याश्च ताः सुशीलादयः स्मृताः।
राधिकायाः प्रियतमा गोपीनां प्रवरा ययुः॥

वही, २८।१

[5] काश्चित्तत्राययुः शीघ्रं यत्र चन्द्रावली मुदा।

वही, २८।४५

इनके अतिरिक्त अन्यत्र शशिकला, गायत्री, सुमुखी, सुखा, पद्मालया, तुलसी, वसुंधरा, शैव्या, रोहिणी, रत्नमाला आदि गोपिकाओं का भी उल्लेख है।

उपर्युक्त नामों में से कुछ नाम तो गुणात्मक हैं तथा कुछ कमला, दुर्गा, भारती आदि प्रसिद्ध देवांगनाएं अथवा शक्तियां हैं। वस्तुतः गोपियों के ये नाम मूलतः कृष्णलीला में से निस्सरित न होकर अन्य पौराणिक सूत्रों से ही गृहीत कर लिये प्रतीत होते हैं। हम देखते हैं कि ब्रजभाषा-साहित्य में वर्णित गोपियों के नाम इन नामों से प्रायः बहुत अंशों में भिन्न हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में हम यह भी देखते हैं कि इन्हीं गोपियों के अर्धांश से रुक्मिणी आदि पटरानियों के अवतार की बात कही गई है।[1] यह प्रवृत्ति भी परवर्ती ब्रजभाषा साहित्य में नहीं मिलती।

पद्मपुराण में भी गोपीयूथों के विभिन्न विस्तारों का परिचय प्राप्त होता है। यहां भी गोपियों की संख्या अनंत है परन्तु उनमें श्रीकृष्ण की आद्या प्रकृति होने के कारण श्री राधा को प्रधान माना गया है।[2] एक दूसरे स्थल पर राधा और चन्द्रावली इन दो को प्रधान माना है।[3] राधिका की अष्ट प्रकृतियां कह कर अष्ट कोणों में ललितादि प्रधान अष्ट गोपियों का उल्लेख किया गया है। वहां इन प्रधान गोपियों का स्थान निर्दिष्ट करते हुए बताया गया है कि सम्मुख ललिता देवी, वायुकोण में श्यामला, उत्तर में धन्या, ईशानकोण में हरिप्रिया, पूर्व में विशाखा, अग्निकोण में शैव्या, दक्षिण में पद्मा तथा नैऋत्य में चन्द्रावली स्थित हैं। इन सभी को अष्ट प्रकृति कहा गया है।[4]

---

[1] अर्धांशेनैव तुलसी लक्ष्मणा राजकन्यकाः।
सावित्री वेदमाता च नाम्ना नाग्नजिती सती।।
वसुंधरा सत्यभामा शैव्या देवी सरस्वती।
रोहिणी मित्रविंदा च भविता राजकन्यका।।
सूर्यपत्नी रत्नमाला कलया च जगत्प्रभोः।
स्वाहांशेन सुशीला च रुक्मिण्याद्याः स्त्रियो नव।। वही ६.१४३.१४५

[2] तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा।
पद्मपुराण, पाताल० वृन्दा० ६९।११७

[3] प्रधानप्रकृतिस्त्वाद्या राधा चन्द्रावली समा। वही ६९।८

[4] प्रत्यंगरभसावेशाः प्रधानाः कृष्णवल्लभाः।
ललिताद्याः प्रकृत्यंशा मूलप्रकृतिराधिकाः।।

उपर्युक्त गोपियों के साथ आठ नाम और जोड़कर इन षोडश गोपियों को षोडश प्रकृति कहा है। ये आठ नाम हैं, चन्द्रावली, चित्ररेखा, चन्द्रा, मदनसुन्दरी, प्रिया, मधुमती, चन्द्ररेखा और हरिप्रिया।[1]

आगे राधा और चन्द्रावली के अभिन्न गुण, लावण्य, सौन्दर्य इत्यादि अनेक गुणों का वर्णन किया गया है।[2]

पद्मपुराण में इन गोपियों के नाम अनेक स्थानों पर दुहराये गये हैं। वास्तव में पद्मपुराण के ये नाम व्रजभाषा काव्य में प्रयुक्त गोपियों के नामों के अधिक समीप हैं। ललिता की प्रधानता समस्त व्रजभाषा काव्य में है, वही यहां पर भी परिलक्षित है। राधा चन्द्रावली की समानता की भूमिका यहां धीरे-धीरे स्पष्ट हो रही है।

इस पुराण के ही एक अन्य प्रसंग में गोलोक-दर्शन के समय अर्जुन से वहां की गोपियों का परिचय कराया गया है। वहां की गोपियों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं—पूर्णरसा, रसमंथरा, रसालया, रसवल्लरी, रसपीयूषधारा, रसतरंगिणी, रसकल्लोलिनी, रसवापिका, अनंग-सेना, अनंग-मालिनी, मदयंती, रसविह्वला, ललिता, ललितयौवना, अनंगकुसुमा, मदनमंजरी, कलावती, रतिकला, कामकला, कामदायिनी, रतिलोला, रतोत्सुका, रति-सर्वस्वा, रतिचिंतामणि, नित्यानन्दा आदि। ये सभी नित्यलीलाविधात्री हैं। इनके पश्चात् श्रुतिगणों में से कुछ का परिचय कराया गया है। उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलसुरा, कलकंठिका आदि इनके नाम हैं। कुछ मुनिगण भी हैं। उग्रतपा मुनि वहुगुणा नाम की गोपी, प्रियव्रत नामक मुनि सुव्रता नाम की गोपी आदि अनेक मुनिगोपिकाओं के नाम हैं।[3]

सम्मुखे ललिता देवी श्यामला वायुकोणके।
उत्तरे श्रीमती धन्या ऐशान्यां श्रीहरिप्रिया॥ इत्यादि।
वही, अध्याय ७० श्लोक ४ से ८ तक

[1] पद्मपुराण, पाताल खंड, वृन्दावन माहात्म्य, ७०।८९।

[2] पद्मपुराण, पाताल खण्ड, वृन्दावन माहात्म्य, ७०।१०,११।

[3] नित्या नित्यविहारिण्यो नित्यकेलिभुवश्वराः।
एषा पूर्णरसा देवी एषा च रसमंथरा।
एषा रसालया नाम एषा च रसवल्लरी।

पुराणों को असांप्रदायिक साहित्य मान कर उनमें से प्रसिद्ध श्री कृष्ण-लीला सम्बन्धी दो पुराणों का मन्थन हमने ऊपर किया है। अन्य पुराण इस सम्बन्ध में बहुत कुछ इन्हीं के अनुकूल हैं।

इनके अतिरिक्त तन्त्र-ग्रन्थों में भी हम अनेक गोपियों के नाम देखते हैं। प्रारंभ में हम पाञ्चरात्र के प्राप्त संस्करण के नाम उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं, जिससे गोपियों के नामों के मूल पर भी थोड़ा सा प्रकाश पड़ सकता है। नारद-पांचरात्र के प्रथम रात्र अध्याय १० में कृष्णकथा के समय विद्याधरियों आदि का आगमन लिखा है—उनके नाम परिलक्षणीय हैं। रम्भा, उर्वशी, घृताची, मेनका, तिलोत्तमा, सुधामुखी, पूर्णचित्ती, मोहिनी, कालिका, चम्पावती, चन्द्रमुखी, पद्मा, पद्ममुखी इत्यादि उनके नाम हैं। यहीं लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, सावित्री, रोहिणी, रति, तुलसी, पृथिवी, गंगा, स्वाहा, यमुना, वारुणी, मनसा, इन्द्राणी

रसपीयूषधारेयमेषा रसतरंगिणी।
रसकल्लोलिनी चैषा इयं च रसवापिका।
अनंगसेना एषैव इयं चानंगमालिनी।
मदयन्ती इयं बाला एषा च रसविह्वला।
इयं च ललिता नाम इयं ललितयौवना।
अनंगकुसुमा चैषा इयं मदनमंजरी।
एषा कलावती नाम इयं रतिकला स्मृता।
इयं कामकला नाम इयं हि कामदायिनी।
रतिलोला इयं बाला इयं बालरतोत्सुका।
एषा च रतिसर्वस्वा रतिचिंतामणिस्त्वसौ।
नित्यानन्दाः काश्चिदेता नित्यप्रेमरसप्रदाः।
अतः परं श्रुतिगणास्तासां काश्चिदिमां शृणु।
उद्गीतैषां सुगीतेयं कलगीता त्वियं प्रिया।
एषा कलसुराख्याता बालेयं कलकंठिका।
विपंचीयक्रमपदा एषा बहु हुता मता।
एषा बहुप्रयोगेयं ख्याता बहुकलाबला।
इयं कलावती ख्यातामता चैषा क्रियावती।
अतःपरं मुनिगणास्तास्वां कतिपया इह।
इयमुग्रतपा नाम एषा बहुगुणा स्मृता॥ इत्यादि।

यह प्रसंग श्लोक सं० १०५ से १२९ तक। पद्म० पा० ७३

इत्यादि देवियों के नाम भी गिनाये गये हैं।[1] इनके अतिरिक्त अनेक देवता और ऋषि भी वहां उपस्थित हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखे गोपियों के नाम और इन विद्याधरी देवियों आदि के नाम अनेकांश में समान हैं। ये देवियां आदि राधा का अंश बताई गई हैं[2], गोपियां भी राधा का अंश हैं अतः इन दोनों को एक साथ ही मिला दिया गया है। अन्य बहुत से नाम गुणात्मक हैं, जिनमें पुराणकार की साहित्यिक प्रतिभा ने काम किया है।

नारद-पांचरात्र में स्वयं इन कृष्णदासियों के नाम इस प्रकार हैं—मालती, माधवी, रक्ता, रत्नमालावती, सती, चम्पावती, मधुमती, सुशीला, वनमालिका, चम्पावली, चन्द्रमुखी, पद्मा, पद्‌ममुखी, कमला, कालिका, कृष्णप्रिया, विद्याधरी आदि।[3] ये सखियों के सोलह नाम और इनमें प्रयुक्त विद्याधरी नाम हमारे उक्त मत को ही पुष्ट करते हैं।

सनत्कुमार-संहिता में उपासना के अनुकूल अष्टदल कमल के प्रत्येक दल पर सखियों की स्थिति बताई गई है। पुनः षोडशदल कमल और षष्टिदल कमल की रचना की बात कही गई है। यहां मुख्य सखियों के नाम भी गिनाये गये हैं। ये हैं, ललिता, चम्पा, विशाखा, माधवी, सुमुख्या, पद्मनयना, जया, परमा, विजया, महादेवी, जयन्ती, नित्यमंगला, नन्दा, शोभलतिका, सुभगा, चन्द्रिका, इत्यादि।[4] उपासना के इस ग्रन्थ में ललिता को प्रायः सभी स्थानों पर सखीश्रेष्ठा कहा गया है और वे ही उपासना दृष्टि की केन्द्र भी हैं।

इसी प्रकार गौतमीय तन्त्र, बृहद्‌गौतमीय तन्त्र, रासोल्लास तन्त्र आदि अनेक तन्त्रों और संहिताओं में गोपियों के अगणित यूथों और उनमें निविष्ट

---

[1] नारद पांचरात्र १।१०८७ से ९३ तक देखिये।

[2] देखिये नारद पांचरात्र, द्वितीय रात्र, अध्याय ३, श्लोक ५५ से ६८ तक।

[3] नारद पांचरात्र, २. ४. ४३ से ४५ तक।

[4] ललितायां मुख्यसखी चम्पानामेति विश्रुता।
विशाखाया महाभागा माधवी यूथमुख्यका।
सुमुख्या पद्मनयना जयायाः परमा स्मृता।
विजयाया महादेवी जयन्त्या नित्यमंगला।
नन्दायाः सोभलतिका सुभगायाश्च चन्द्रिका।
यथा दैवतवृन्दानां पूजने क्रियते जनैः।
सनत्कुमार संहिता, पटल ३२, श्लोक २१, २२, २३।

सखियों के नाम वर्णित किये गये हैं। इन उपासना-ग्रन्थों में गोपियों के स्वरूप का सविस्तर वर्णन हैं। आज के पाठक के लिये ये समस्त विस्तार, उनकी स्वरूप शोभा और साज-सज्जा महत्वहीन है। साधारण व्यक्ति यही कहेगा कि इन इतने नामों और शृङ्गारादि के विवेचन से लाभ? किन्तु उपासक के लिये ये सब ध्यान और चिन्तन का विषय हैं। एक-एक सखी के सूक्ष्म ध्यान को दिव्य भाव के साथ वह अपने अन्तःपटल पर उतारता है। उपासना के लिये किसी न किसी गोपी का अनुगमन करता है, इसीलिये यह सब विस्तार अन्तरङ्ग उपासना की दृष्टि से सहैतुक है।

इन सांप्रदायिक ग्रन्थों के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव सम्प्रदायों में गोपियों के जितने परवर्ती प्रचलित नाम हैं, वे सभी इन पुराण तन्त्र-ग्रन्थों की देन है। इन्हींको आधार बना कर अधिकांश परवर्ती साहित्य की रचना हुई है, ऐसा हम देखते हैं। गोपियों की आठ अथवा तत्सम्बन्धित संख्याओं का निर्धारण भी प्रारम्भ में विभिन्न तात्विक आधारों पर किया गया ज्ञात होता है।

संस्कृत एवं परवर्ती अन्य भाषाओं के साहित्य में हम राधा और चन्द्रावली की प्रतिद्वन्द्विता देखते हैं। यह सापत्न्य अन्तर्विरोध भी पुराणों में प्रतिबिम्बित है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा के साथ विरजा का सापत्न्य-भाव भी प्रबलता के साथ दिखाई पड़ता है। इस सापत्न्य आदि के तात्विक आधारों को पुराणों से खोजा जा सकता है परन्तु इन सबसे व्यतिरिक्त कृष्णलीला में इन सबका एक निश्चित स्थान अवश्य है।

गोपियों की असंख्य संख्या व्रज अथवा गोलोक के वैभव को प्रकट करने के लिये है। दूसरे गोपियां साधना का आदर्श भी हैं, जीव के लिये उनकी उपासना अनुगम्य है। अतः कोटि-कोटि जीवों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकृति और सेवा का आदर्श रखने वाली ये गोपियां कोटि-कोटि संख्या में हैं। उपासना-ग्रन्थों में जो इनकी वेषभूषा, स्वभाव, सेवा आदि का विस्तृत विवरण है, वह भी इसीलिये है कि उपासक उनमें से किसी को भी अपनी रुचि के अनुसार अपना लक्ष्य बना कर उसी के भाव से अपनी उपासना में प्रवृत्त हों।

अन्ततः श्रीकृष्ण की उपासना ही गोपीभावोपासकों का लक्ष्य है। श्रीकृष्ण की लीलाओं की परिकर ये गोपियां हैं। श्रीकृष्ण की अनन्त रुचियों के अनुसार अनन्त रूपों में गोपिकाओं का दर्शन होता है। गोपियों की इन सकारण विविधताओं का महत्त्व उपासना-दृष्टि से ही है।

ऊपर हमने गोपियों के विविध रूपों का वर्णन अलग से नहीं किया है, आगे हम संक्षेप में गोपियों के विभिन्न वैयक्तिक रूपों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

वर्गीकरण

सभी गोपियों का पद यों सामान्यतः एक ही धरातल का प्रतीत होता है फिर भी उनके सम्प्रदायों में वर्गीकरण किये गये हैं। इनमें से कुछ का आभास पुराणों में भी मिल जाता है। प्रधानता, वय, स्वरूप, सेवा एवं सम्बन्ध आदि कुछ ऐसे ही आधार माने जा सकते हैं।

असंख्य और अनन्त गोपियों को पुराणों में यूथों में विभाजित किया है, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं। अनेक यूथों में अलग-अलग संख्या में गोपियां हैं। प्रत्येक यूथ की एक यूथनेत्री होती है। स्थान-स्थान पर इन प्रधान गोपियों के ही नाम लिये गये हैं। कहीं-कहीं राधा को भी गोपियों के एक यूथ की स्वामिनी बताया गया है। चन्द्रावली को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। अन्य गोपियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान ललिता सखी को प्राप्त हुआ है, ऐसा दिखाई पड़ता है।

वय-क्रम से भी गोपियों का एक भेद किया जाता है। पुराणों में ऐसे भेद देखने में नहीं आते। इस भेद का प्रमुख विकास सांप्रदायिक साहित्य में ही हुआ है। सखी और मंजरी के भेद वयक्रम पर ही आधारित हैं। मंजरी सखी से अवस्था में छोटी होती हैं और उन्हें अन्तरङ्ग सेवा का अधिक अधिकार होता है। सखी, मंजरी की प्रमुख चर्चा गौड़ीय सम्प्रदाय में हुई है और बाद में वहीं से निम्बार्क सम्प्रदाय में इसका ग्रहण हुआ ज्ञात होता है।

स्वरूपगत भेद भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। पुराणों में इसका विस्तार से विवरण मिलता है। नित्यसिद्धा और साधनसिद्धा गोपियों की चर्चा हम पुराणों के आधार पर कर चुके हैं। गोपियों को दैवी, औपनिषदी, पौराणी अथवा श्रुति, ऋचा और महर्षियों के पूर्व-रूपों की चर्चा कर गोपी-देह की प्राप्ति उपासक के लिये सम्भव है, यही सिद्ध किया गया है। पुराणों के आधार पर इसका विधिवत शास्त्रीय वर्गीकरण श्री रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में किया है, अतः इसका विशेष विचार उसी सम्प्रदाय के गोपीतत्त्व के विवेचन में करना उपयुक्त होगा।

सेवा-कार्य की दृष्टि से गोपियों का वर्गीकरण उपासना से प्रधान सम्बन्ध रखता है। गोपियों का मुख्य कार्य भगवान् की सेवा करना ही है। इनमें अनेक गोपियों के अपने-अपने भाव और अपने-अपने अधिकार हैं। उन्हीं के अनुसार अपनी सेवा में प्रतिपल तत्पर रहती हैं। गोपीभाव बड़ा व्यापक है, जिसमें अनेक कार्य और उपासना की अनेक कोटियां हैं। अन्तरङ्ग विहार से लेकर द्वारपाल तक का कार्य करने वाली सभी गोपियां हैं। कहीं-कहीं इनके अन्य प्रकार से भेद किये हैं, ये हैं सखी, आली, भृत्या, दूतिका, मंजरी, हितू और सखीनुगा। इनमें सखी राधाजी की सहचरी या सहेली है, आली पिता के घर से साथ आने वाली गोपी हैं, भृत्या दासी हैं, दूतिका मान·निवारण के लिये हैं, मंजरी अन्तरङ्ग-विहार के लिये, हितू राधिका को अधिक प्रिय और सखियों की भांति साधना करने वाली सखीनुगा कोटि में आती हैं।[1] इसके अतिरिक्त भी शिल्पकारिणी, दैवज्ञ, लिंगिनी आदि अनेक भेद हो सकते हैं।[2]

श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ कौनसा सामाजिक सम्बन्ध था, इस आधार पर भी वैष्णव सम्प्रदायों में विचार हुआ है और राधा अथवा गोपिकाओं के स्वकीया अथवा परकीया रूपों की चर्चा आई है। इस सम्बन्ध को भी तात्विक आधार देकर भिन्न प्रकार की उपासनाओं के लिये मार्ग प्रशस्त किये गये हैं।

श्रीमद्भागवत में हमें दो प्रकार की गोपियों का परिचय मिलता है। एक गोपियां वे हैं जो दूसरे गोपों से विवाहित हैं[3], दूसरी वे हैं जो श्रीकृष्ण को ही अपने पति-रूप में प्राप्त करने के लिये साधना कर रही हैं।[4] परन्तु श्रीकृष्ण ने उन व्रज-कुमारिकाओं से विधिवत विवाह किया था, ऐसा उल्लेख श्रीमद्भागवत में कहीं नहीं मिलता। रासलीला में ही उन्होंने समस्त गोपिकाओं और गोप-कन्याओं की मनोकामना अपने अंग-संग और कामक्रीड़ा से पूर्ण की थी।[5] इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से सभी गोपियों को परकीया ही कहा जा सकता

---

[1] महानुभावन की चरचा, सिद्धान्त रत्नाकर पृ० ३४—३५।

[2] रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृ० २६।

[3] श्रीमद्भागवत १०. २९. २४ से २६ श्रीकृष्ण का गोपियों को उपदेश।

[4] कात्यायिनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नंदगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः। श्रीमद्भागवत १०. २२. ४।

[5] श्रीमद्भागवत १०. ३३. १७।

है। परीक्षित ने भी भागवत-वक्ता श्री शुकदेव जी के समक्ष रासलीला के प्रसंग को लेकर कहा था कि धर्म की संस्थापना के लिये अवतार लेने वाले जगदीश्वर ने 'परदाराभिमर्शन' जैसा प्रतीपाचरण कैसे किया ?[1] यह एक प्रकार से सामाजिक लांछन का ही रूप था।

कुछ ग्रन्थों में श्री राधा को भी अयन, रायाण घोप अथवा अभिमन्यु गोप की पत्नी बताया गया है[2], अतः कुछ संप्रदायों के अनुसार वे भी परकीया थीं।

परीक्षित के प्रश्न का उत्तर शुकदेव जी ने तो भगवान की सर्वसमर्थता की बात कह कर दिया था परन्तु वैष्णवों के सामने यह आक्षेप आक्षेप ही बना रहा। वैष्णवों ने कुछ दूसरे तर्क कृष्णकथा से प्रस्तुत किये और कहा कि ब्रह्मा द्वारा बालवत्सहरण के समय श्रीकृष्ण स्वयं गोपों के रूप में व्रज में रहे थे, उसी समय उनका गोपियों से विवाह हुआ था। किसी ग्रन्थ में छाया-राधिका की बात भी कही गई है और राधा के अभिमन्यु गोप के साथ के सम्बन्ध को राधा की छाया के साथ का सम्बन्ध बताया है।[3] छाया-पात्रों की रूढ़ि भारतीय साहित्य में नवीन नहीं है।

अनेक पुराण और सम्प्रदाय राधा को स्वकीया मानते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण में दोनों का विवाह धूमधाम से कराया गया है।[4] सूर आदि कवियों की भी यही मान्यता है।[5] परकीयात्व को तात्विक रूप से आदर्श मानने की बात प्रायः गौडीय संप्रदाय में ही देखी जाती है। इस प्रसंग की चर्चा हम आगे करेंगे।

गौड़ीय सम्प्रदाय में गोपी-स्वरूप

गौड़ीय सम्प्रदाय में भक्ति के विभिन्न पक्षों का सैद्धान्तिक और दार्शनिक दृष्टि से जैसा विवेचन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। श्री चैतन्य महाप्रभु तो अगाध पाण्डित्य रखते हुए भी दार्शनिक विवादों में न उलझे और निरन्तर महाभाव का रसास्वादन करते हुए भक्तिरस में निष्णात रहे। परन्तु वे

---

[1] श्रीमद्भागवत १०. ३३. २७।

[2] संस्कृत का विदग्ध माधव नाटक, श्री रूप गोस्वामी तथा ब्र० वै०।

[3] वही नाटक तथा ब्रह्मवैवर्त, कृष्ण० अध्याय।

[4] ब्रह्मवैवर्त पुराण, कृष्णजन्म० अध्याय १५।

[5] सूरसागर, सभासंस्करण, पृ० ६२९ से ६३६।

सिद्धान्त-प्रचार की महत्ता समझते थे, अतः अनेक विद्वान् भक्तों को उन्होंने वृन्दावन में केन्द्र बना कर भक्ति-प्रचार करने का आदेश दिया। उनके अनुवर्ती विद्वान् भक्तों की मण्डली ने भक्तिभाव का दर्शन, शास्त्रों एवं पुराणों के अनुपम सामंजस्य से अपूर्व निरूपण किया और इस प्रकार गौड़ीय सम्प्रदाय की दृढ़ता की नींव रखी। वृन्दावन आने वालों में श्रीरूप, सनातन एवं जीव गोस्वामी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने अपनी रचनाएं संस्कृत में प्रस्तुत कीं। वंगभाषा के रचनाकारों में मूर्धन्य स्थान कृष्णदास कविराज का है, जिन्होंने चैतन्य-चरितामृत नामक ग्रन्थ में दर्शन, सिद्धान्त, कथा, जीवनी सभी का सुन्दर संयोजन किया है। ये सभी सुन्दर कवि, समर्थ आलोचक, उच्चकोटि के दार्शनिक एवं विलक्षण मेधावी होने के साथ ही भावुक भक्त थे। अतः इनकी प्रतिभा के परिणाम-स्वरूप इस सम्प्रदाय को अनेक अमूल्य ग्रन्थरत्न प्राप्त हो सके। इन्हीं ग्रन्थों के आधार से सम्प्रदाय के गोपी स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

वेद, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए भी गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्ति तत्व को पुराणों के आधार पर ही समझने की चेष्टा की है।[1] वास्तव में उन्होंने श्रीमद्भागवतपुराण को ही अपनी चिन्ताधारा का मूलाधार बनाया है।

श्रीमद्भागवत का हृदय गोपीप्रेम ही है। श्री चैतन्य अपनी दक्षिण भारत की यात्रा से कृष्ण-कर्णामृत और ब्रह्म-संहिता ग्रन्थ लाये थे, इन दोनों का सार भी गोपी-कृष्ण-प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[2] दक्षिण भारत में उसकी राय रामानन्द से जो भेंट हुई थी, उससे भी जीव का साध्य गोपीभाव ही स्पष्ट होता है। राय रामानन्द ने वर्णाश्रम-धर्म, कृष्ण-कर्मार्पण, सर्वधर्मत्याग, ज्ञानमिश्रा भक्ति, ज्ञानशून्या भक्ति, प्रेमा भक्ति, दास्य प्रेम, सख्य प्रेम,

---

[1] प्रमाणेर मध्ये श्रुति प्रधान। श्रुति जे मुख्यार्थं कहे सेइ से प्रमाण।
वेदेर निगूढ अर्थ बूझेन। पुराण वाक्ये सेइ अर्थ करिये निश्चय।
चैतन्य चरितामृत, मध्य० प० ६। पृ० १३१।

[2] पल्लवारुणपाणिपंकज संगिवेणुरवाकुले,
फुल्लपाटलपाटलीपरिवादिपादसरोरुहम्।
उल्लसन्मधुराधरद्युतिमंजरीसरसाननं,
वल्लवीकुचकुम्भकुंकुमपंकिलं प्रभुमाश्रये। कृ० कर्णामृत ९।

वात्सल्य-प्रेम, कान्ता-प्रेम अथवा गोपी-प्रेम को सर्व-साध्यसार बताया है। इसके आगे राधा-प्रेम है, परन्तु वह जीव के लिये साध्य नहीं है। जीव के लिये गोपी-प्रेम ही साध्य है। जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास के गीत भी उनके उपजीव्य थे, अतः उन्हें भक्ति-क्षेत्र का मधुर रसात्मक स्वरूप ही सर्वश्रेष्ठ लगा। भावुक की भावुकता श्रीराधा के महाभाव तक पहुँच गई।

गौड़ीय सम्प्रदाय में भगवान का स्वरूप सच्चिदानन्दघन माना जाता है। संधिनी, संवित् और ह्लादिनी इनसे सम्बन्धित तीन प्रकार की शक्तियां हैं। इन तीन प्रकार की स्वरूपशक्तियों में ह्लादिनी शक्ति राधा-रूप है। श्री राधा स्वरूप से श्री कृष्ण-प्रेम की प्रणय-विकृति अर्थात् घनीभूत अवस्था रूप हैं।[1] श्री राधा आद्या शक्ति हैं, कृष्ण शक्तिमान् हैं। इन दोनों में पूर्ण अभेद है। वे केवल लीलारसास्वादन के लिये ही दो रूपों में विराजते हैं।[2]

इस सम्प्रदाय में गोपियों के स्वरूप को समझने के लिये राधा को केन्द्रगत करके चलना पड़ता है। श्री राधा के अनन्त विस्तार हैं। लक्ष्मीगण उन्हीं के वैभव की विलासांश-स्वरूपा हैं। महिषीगण प्रभाव-प्रकाश-स्वरूपा हैं और आकार-स्वभाव-भेद से व्रजदेवीगण भी उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं।[3] इन गोपियों के अनेक भाव और रसभेद हैं, जिनसे रासादिक लीलाओं में आस्वाद उत्पन्न होता है।[4]

स्पष्ट है कि गोपियों को इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की स्वरूपभूता शक्ति का अंश माना गया है, अर्थात् श्री राधा का प्रकाश माना है। श्री राधा ह्लादिनी हैं। ह्लादिनी गुह्यविद्या हैं। व्रजवधुएं ह्लादिनी की इस रहस्यलीला की

---

[1] राधिका हवेन कृष्णेर प्रणयविकार।
स्वरूपशक्ति ह्लादिनी नाम जाहार। चैतन्यचरितामृत, आदि० परि० ४।

[2] राधापूर्णशक्ति कृष्ण पूर्णशक्तिमान। दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्रेर प्रमाण।
राधाकृष्ण एछे सदा एकइ स्वरूप। लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप।
वही, परि० ४।

[3] लक्ष्मीगण तार वैभव विलासांश स्वरूप। महिषीगण प्रभाव प्रकाशस्वरूप।
आकार स्वभावभेदे व्रजदेवीगण। कायव्यूहरूप तार रसेर कारण।
वही, परि० ४।

[4] तार मध्ये व्रजे नाना भाव रस भेदे। कृष्णके कराय रासादिक लीलास्वादे।
वही, आदि० परि० ४।

प्रवर्तक हैं।[1] ये सभी गोपियां ह्लादिनी के सारवृत्तिविशेष प्रेमरस के सार विशेष को धारण करने वाली हैं, इसीसे इनकी लीला में प्रधानता है।[2] ये व्रजदेवियां आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता हैं। इस प्रेमप्राचुर्य के प्रकाश हेतु श्रीभगवान् का भी इनमें प्रेमोल्लास का प्रकाश होता है। उसी परमोल्लास के द्वारा श्रीभगवान् में रमणेच्छा उत्पन्न होती है।[3]

भगवान् की अवतारकालीन लीलाओं का विविध पुराणों से संकलन कर उन सभी को तात्त्विक आधार देने का प्रयत्न श्री रूप गोस्वामी ने किया है। अपने ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' में व्रजगोपियों के समस्त भेदोपभेदों को उन्होंने प्रस्तुत किया है। हरिवल्लभा प्रकरण में श्री रूप गोस्वामी ने हरिवल्लभाओं के दो वर्ग किये हैं। ये हैं, स्वकीया और परकीया।[4] स्वकीया वे हैं, जो विधिवत पाणिगृहीती हैं, पति के आदेश में तत्पर हैं तथा पातिव्रत्य में अविचल हैं।[5] श्रीकृष्ण की सोलह सहस्र एक सौ आठ विवाहित पटरानियां स्वकीया हरिवल्लभा हैं। इनमें रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्ववती, यमुना, शैव्या, भद्रा, कौशल्या और माद्री प्रमुख हैं।[6] अन्तर के अनुराग से ही जिन्होंने अपने आपको समर्पित कर दिया है, परन्तु बहिरंग प्रक्रिया से जिसको स्वीकृत नहीं किया गया है, वे नायिका परकीया हैं।[7] इस दृष्टि से व्रज-सुन्दरियां परकीया सिद्ध होती हैं, परन्तु इस स्थल पर यह वात स्पष्ट नहीं कही गई है।

---

[1] श्री राधा का क्रम-विकास, शशिभूषण दासगुप्त, पृ० २००।

[2] आसां महत्त्वं तु ह्लादिनीसारवृत्तिविशेषप्रेमरससारविशेषप्राधान्यात्।

श्रीकृष्णसंदर्भ।

[3] श्री राधा का क्रम-विकास, शशिभूषण दासगुप्त, पृ० २००।

[4] स्वकीयाः परकीयाश्च द्विधा ताः परिकीर्तिताः।

उज्ज्वलनीलमणि, श्रीरूप०, पृ० ४९।

[5] करग्रहविधिं प्राप्ताः पत्युरादेशतत्पराः।
पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीयाः कथिता इह।

उज्ज्वलनीलमणि, श्री रूपगोस्वामी, पृ० ४९।

[6] उज्ज्वलनीलमणि, श्री रूपगोस्वामी, पृ० ५०, श्लोक ६, ७, ८।

[7] रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणः।
धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः।

उज्ज्वलनीलमणि, पृ० १६।

परकीया के दो भेद हैं कन्यका और परोढ़ा।[1] कन्यका अविवाहित हैं, सलज्ज हैं और अपने पितृगृहों में हैं। सखी केलि में चतुर, मुग्ध गुणों से युक्त, दुर्गाव्रतधारिणी धन्यादिक कन्याएं हैं श्रीकृष्ण ने इनकी इच्छा पूर्ण की थी, अतः ये भी कृष्णवल्लभा हैं।[2] परोढ़ा गोपियां वे हैं, जो दूसरों के साथ विवाहित हैं, परन्तु कृष्णसंभोगलालसायुक्ता हैं।[3] इनके तीन भेद हैं, साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया।[4] साधनपराओं ने साधना करते हुए गोपीत्व को प्राप्त किया है। इनमें दो भेद हैं, यौथिकी और अयौथिकी।[5] यूथों में जिन्होंने साधना की है, वे यौथिकी हैं। इनमें मुनि और उपनिषद् दो प्रकार हैं।[6] पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में राम के दर्शन कर गोपीत्व-प्राप्ति की भावना जिनके हृदय में आई थी, तथा गोकुल में गोपी रूप में उत्पन्न होकर काम भाव से कृष्ण को सम्प्राप्त कर जो भवार्णव से मुक्त हुए उन महर्षियों का विवरण आया है, वे ही श्री रूपगोस्वामी ने यहां मुनि के उदाहरण के रूप में बताये हैं।[7] श्री जीव एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती ने उन श्लोकों को उद्धृत भी किया है।[8]

---

[1] कन्याश्च परोढाश्च परकीया द्विधा मता। उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५३।

[2] अनूढाः कन्यकाः प्रोक्ताः सलज्जाः पितृपालिताः।
सखीकेलिषु विस्रब्धाः प्रायोमुग्धागुणान्विताः।
तत्र दुर्गाव्रतपराः कन्या धन्यालया मताः।
हरिणा पूरिताभीष्टास्तेन तास्तस्य वल्लभा।
उज्ज्वलनीलमणि, ३३, ३४। पृ० ६०।

[3] गोपैर्व्यूंढा अपि हरेः सदा संभोगलालसाः।
परोढा वल्लभास्तस्य व्रजनार्यः प्रसूतिकाः।
उज्ज्वलनीलमणि, श्री रूप गो०, पृ० ६१।

[4] तास्त्रिधा साधनपरा देव्यो नित्यप्रियास्तथा। वही, पृ० ६३।

[5] स्युर्यौथिक्यस्त्वयौथिक्य इति तत्रादिमा द्विधा। वही, पृ० ६४।

[6] द्विविधास्ताश्च मुनयस्तथोपनिषदो मताः। वही, पृ० ६४।

[7] तथा ‘पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्।
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्।
उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ६४ टिप्पणी।

उपनिषद् वर्ग में पौराणी और औपनिषदी दो प्रकार हैं। उपनिषद् अथवा श्रुतियों ने श्रीकृष्ण-संग की वांछा की। श्रीकृष्ण ने उन्हें व्रज में गोपी होने का वर दिया। वृहद्वामन का उदाहरण पौराणी का उदाहरण है।[1]

अयौथिकी गोपियां वे हैं, जो पहले भक्त-रूप में साधन-रत थीं और जिन्होंने साधना से गोपीत्व प्राप्त किया है। इनकी साधना व्यक्तिगत थी। इनमें दो प्रकार हैं, प्राचीना और नव्या।[2]

श्रीकृष्ण की तुष्टि के लिये नित्यप्रियाओं के अंश से देवयोनियों में उत्पन्न होने वाली गोपियां ही देवी हैं।[3] देवावतरण के समय ये ही गोपकन्याओं के रूप में अवतरित हो व्रज में प्रिय सखी बनीं।[4]

श्रीकृष्ण के समान ही नित्य सौन्दर्य, वैदग्ध्य आदि की गुणाश्रया श्री राधा और चन्द्रावली प्रभृति गोपियां नित्यप्रिया हैं।[5] इनमें अन्य गोपियां हैं, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रा, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा, पालिका आदि।[6]

---

[1] पौराणी—

कन्दर्पकोटिलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः।
कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंश्रयम्।
यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः।
भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनितस्तथा। इत्यादि।

वही, पृ० ६६ व ६७ की टीका।

औपनिषदी—स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्ड···इत्यादि। वही, पृ० ६६।

[2] प्राचीनाश्च नव्याश्च स्युरयौथिक्यस्ततो द्विधा। वही, पृ० ६७।

[3] देवेष्वंशेन जातस्य कृष्णस्य दिवि तुष्टये।
नित्यप्रियाणामंशास्तु या जाता देवयोनयः। वही, ६९

[4] अत्र देवावतरणे जनित्वा गोपकन्यका।
ता अंशिनीनामेवासां प्रियसख्योऽभवन्व्रजे।

उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ७०।

[5] राधाचन्द्रावलीमुख्याः प्रोक्ता नित्यप्रिया व्रजे।
कृष्णवन्नित्यसौन्दर्यवैदग्ध्यादिगुणाश्रयाः। उज्वल नीलमणि, पृ० ७०।

[6] विशाखा ललिता श्यामा पद्मा शैव्या च भद्रिका।
तारा विचित्रा गोपाली धनिष्ठा पालिकादयः। वही, पृ० ७१।

चन्द्रावली ही सत्यभामा हैं, श्री राधिका ही गान्धर्वी हैं। ललिता अनुराधा है।[१] अन्य गोपियों में खंजनाक्षी, मनोरमा, मंगला, विमला, लीला, कृष्णा, शारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शंकरी, कुंकुमा इत्यादि हैं। इन व्रज-सुभ्रुओं के शतशः यूथ हैं, जिनमें लाखों की संख्या में गोपियां कही जाती हैं।[२] ऊपर जो राधा से कुंकुमा तक नाम गिनाये गये हैं, ये सभी यूथाधिपा हैं। इनमें आठ गोपियां प्रधान हैं। ललितादि का यूथाधिपत्व इसलिये उचित है कि वे राधादि के प्रति इष्टभाव और सखीभाव धारण करती हैं।[३]

श्री रूपगोस्वामी ने पुनः दुहराया है कि इन सब में राधा और चन्द्रावली ये दो ही प्रमुख हैं, जिनके यूथों में कोटि-कोटि मृगीदृशी हैं।[४] इन दोनों में भी श्री राधा ही सर्वथाधिका हैं, जो महाभावस्वरूपा और सर्वगुणवरीयसी हैं।[५]

उपर्युक्त विवेचन बहुत ही विशद है। परन्तु इसमें अनेक दृष्टिकोणों को एक साथ ही मिला दिया गया है। कहीं नित्य-लीला की गोपियां हैं, कहीं अवतारकालीन लीला की। कुछ सम्बन्ध के आधार से वर्गीकृत हैं, कुछ साधना के आधार पर और कुछ का आधार तात्त्विक है। पुराणों आदि से उदाहरण देकर इन सभी को कृष्णावतार लीला में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यहां हमने एक बात और देखी है, जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। श्री राधा को गोपी सिद्ध करते हुए किस प्रकार श्री रूपगोस्वामी उन्हें सर्वप्रधाना

---

[१] चन्द्रावल्येव सोमाभा गान्धर्वा राधिकैव सा। अनुराधा तु ललिता।
वही, पृ० ७२।

[२] लोकप्रसिद्धनाम्न्यस्तु खंजनाक्षी मनोरमा।
मंगलाविमलालीलाकृष्णाशारीविशारदा।
तारावलीचकोराक्षीशंकरी कुंकुमादयः।
इत्यादीनां तु शतशो यूथानि व्रजसुभ्रुवाम्।
लक्षसंख्यास्तु कथिता यूथे यूथे वरांगनाः। वही, पृ० ७२।

[३] यूथाधिपत्वेप्यौचित्यं दधाना ललितादयः।
स्वेष्टराधादिभावस्य लोभात्सख्यरुचिं दधुः। वही, पृ० ७३।

[४] उज्ज्वल नीलमणि, श्री रूपगोस्वामी, पृ० ७३।

[५] तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी। वही, पृ० ७३।

और क्रमशः उपास्य के आसन पर विठा देते हैं। श्री राधा का पृथक् से विस्तृत वर्णन कर श्री रूपगोस्वामी ने पुनः उनकी सखियों के प्रकार प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें देखना भी यहां अपेक्षित है।

वृन्दावनेश्वरी राधा की सखियां पांच प्रकार की हैं। ये हैं, सखी, नित्य-सखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमश्रेष्ठसखी।[1] इन सभी प्रकार की सखियों के नाम भी श्री रूप गोस्वामी ने गिनाये हैं। सखियां हैं, कुसुमिका, विन्ध्या, धनिष्ठा आदि। नित्य सखी हैं, कस्तूरी, मणिमंजरिका आदि। प्राण-सखी, शशिमुखी, वासन्ती; लासिका आदि हैं। ये प्रायः श्री राधा की स्वरूपता प्राप्त किये हुए हैं।[2] प्रिय सखियां कुरंगाक्षी, सुमध्या, मदनालसा, कमला, मधुरी, मंजुकेशी, कन्दर्पसुन्दरी, माधवी, मालती, कामलता शशिकला आदि हैं। परमश्रेष्ठ सखियों में ललिता, चित्रा, विशाखा, चम्पकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी और सुदेवी, ये आठ हैं।[3]

सम्प्रदाय में गोपियों के सखी और मंजरी नाम के दो प्रमुख भेद और हैं। जो गोपियां श्रीराधा की समजातीया सेवा से श्रीकृष्ण का प्रीति-विधान करती हैं, उन्हें सखी कहते हैं, जैसे श्री ललिता, श्री विशाखा आदि। ये सब स्वरूप-शक्ति हैं। जो श्री राधागोविन्द का मिलन एवं उनकी सेवा का आनुकूल्य ही सम्पादन करना अपना प्रधान कर्तव्य समझती हैं, उन्हें मञ्जरी कहते हैं, जैसे श्री रूपमञ्जरी, अङ्गमञ्जरी आदि। ये श्रीराधा की किंकरी हैं एवं अन्तरङ्ग सेवा की अधिकारिणी हैं। अन्तरंग सेवा में सखियों की अपेक्षा मञ्जरियों का अधिकार अधिक है। मञ्जरीगण सखीगण से न्यून-वयस्का (छोटी) हैं। ये भी स्वरूपशक्ति हैं। साधनसिद्धा गोपीगण सब मञ्जरी ही हैं। मञ्जरी-वर्ग में नित्यसिद्धा जीव भी हैं। साधनसिद्धा गोपीगण व्रज में सखी नहीं हो सकतीं। सखीगण सब नित्यसिद्धा स्वरूपशक्ति हैं। सखियों की सेवा स्वातन्त्र्यमयी है एवं मञ्जरीगण की आनुगत्यमयी है।

---

[1] सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन
प्रियसख्यश्च परमश्रेष्ठसख्यश्च विश्रुताः। उज्वल नीलमणि, पृ० ९७।

[2] सख्यः कुसुमिकाविन्ध्याधनिष्ठाद्याः प्रकीर्तिताः
नित्यसख्यस्तु कस्तूरीमणिमंजरिकादयः।
प्राणसख्यः शशिमुखीवासन्तीलासिकादयः
गता वृन्दावनेश्वर्याः प्रायेणेमाः सरूपताम्। वही, पृ० ९७-९८।

[3] उज्ज्वल नीलमणि, श्रीरूपगोस्वामी; पृ० ९८।

साधारणतया दोनों को सखी कहा जाता है, कारण कि दोनों से ही लीलाविस्तार साधित है एवं लीलाविस्तार ही सखीत्व का विशेष विश्लेषण है।[1]

सखियों के स्वसुख और तत्सुख पर भी इस सम्प्रदाय में विशेष विचार हुआ है। गोपियों में स्वसुख-कामना नहीं है, कृष्णेन्द्रिय-प्रीति ही इनका मनोभाव है। आत्मसुख के लिये सखी कभी क्रीड़ा नहीं करती। उनका प्रत्येक व्यवहार कृष्णसुख के निमित्त है। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सबका उन्होंने परित्याग कर दिया है, कृष्ण-हेतु ही उनका शुद्ध अनुराग है।[2] श्रीकृष्ण और गोपियों का रमण इस सम्प्रदाय में मान्य है परन्तु उसमें श्रीकृष्ण-सुख-संपादन ही प्रधान है। इस सम्बन्ध में अकथनीय स्वभाव की चर्चा भी की गई है। वे स्वयं श्रीकृष्ण के साथ लीला करने को उत्सुक नहीं हैं, श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण की लीला का सम्पादन कराकर ही उन्हें कोटिगुणित सुख प्राप्त हो जाता है।[3]

गौड़ीय सम्प्रदाय में स्वकीया-परकीया का विचार भी विशेषतापूर्वक होता रहा है। राधा को कहीं-कहीं स्वकीया भी माना गया है। श्रीजीव गोस्वामी ने 'गोपाल-चम्पू' में राधा-कृष्ण का विवाह भी कराया है। परन्तु संप्रदाय का अधिकांश आग्रह परकीयावाद पर अधिक रहा है। कहते हैं कि कृष्णदास कविराज ने परकीयावाद को बद्धमूल करने में बहुत योगदान किया है। उन्होंने साधना की दृष्टि से भी परकीया में विशेष रसोल्लास माना है।[4] परकीया नायिका की लगन लोक के समस्त सम्बन्धों में अत्यन्त तीव्र होती है। उसी भावना से भक्त को भगवान् का भजन करना चाहिये। प्रेम की

---

[1] श्री वैष्णवसिद्धान्तरत्नसंग्रह, संक० श्री श्यामलाल हकीम, वृन्दावन, पृ० १०३-४

[2] आत्म सुख दुख गोपी करे ना विचार। कृष्णसुख हेतु करे सब व्यवहार।
कृष्ण बिना और सब करि परित्याग। कृष्णसुख हेतु करे शुद्ध अनुराग।
चैतन्य चरितामृत, आदिखण्ड।

[3] सखीर स्वभाव एइ अकथ्य कथन। कृष्ण सह लीलाय नाहि सखीर मन।
कृष्ण सह राधिकार लीला जे कराय। निज सुख हैते ताते कोटि सुख पाय।
चैतन्य-चरितामृत, कृष्णदास कविराज, मध्य० ८।

[4] परकीया भावे अति रसेर उल्लास। व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास।
व्रजवधूगणेर एइ भाव निरवधि। तार मध्ये श्रीराधार भावे अवधि।
चैतन्य चरितामृत, आदिखण्ड ४।

पूर्ण परिपक्व अवस्था का दर्शन परकीया-प्रेम में ही होता है। इस तात्विक अनुभूति को दृष्टि में रख कर ही परकीयावाद को स्वीकृत किया गया है। इस सम्बन्ध में गौड़ीय सम्प्रदाय का यह विचार अन्य सम्प्रदायों से भिन्न प्रकार का ही ठहरता है। निम्बार्क, वल्लभाचार्य आदि की सम्प्रदाय में स्वकीयात्व ही मान्य है।

गोपियों में श्रेष्ठ श्रीराधा ही भगवान् की श्रेष्ठतम भक्त हैं। श्री राधा का भाव महाभाव है। प्रेम ही क्रमशः बढ़ कर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव तक पहुँचता है परन्तु महाभाव केवल राधा में ही सम्भव है। जीव की पहुँच भाव तक ही हो सकती है। यही गोपीगण का प्रेमरूढ़ भाव है, जो काम न होकर शुद्ध निर्मल प्रेम ही है।[1]

राधाभाव केवल चैतन्यदेव द्वारा प्राप्त ही माना जाता है। वे साक्षात् परतत्व परब्रह्म थे।[2] उनके अवतार का प्रमुख कारण था राधाभाव से अपनी रूपमाधुरी का आस्वादन।[3] अतः श्री चैतन्य को छोड़कर अन्य सभी के लिये गोपीभाव के अनुगमन की बात यहां भी सिद्ध है। यही इस सम्प्रदाय का उपदेश भी है।[4]

श्री चैतन्य को भगवान् का अवतार मान लेने पर उनके परिकर को भी कृष्ण-परिकर का अवतार मान लेना स्वाभाविक है। गोपीभाव की सिद्धि की दृष्टि से भी यह विचारणीय है। यहां गदाधर पण्डित राधा हैं, रूप गोस्वामी ललिता हैं, राय रामानन्द विशाखा हैं आदि। पुनः उन्हें मञ्जरी-स्वरूप में भी देखा गया है। रूप गोस्वामी रूपमञ्जरी हैं, रघुनाथ रसमंजरी हैं, जीव

---

[1] प्रेम क्रमे वाडि हय स्नेह मान प्रणय। राग अनुराग भाव महा भाव हय।
चैतन्य चरितामृत, मध्य० २३।
गोपीगणेर प्रेमेर रूढ़भाव। शुद्ध निर्मल प्रेम कभू नहे काम।
चैतन्य चरितामृत, आदि० ४।

[2] चैतन्यचरितामृत, आदि० परि० १

[3] सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, पृ० १८१।

[4] अतएव गोपीभाव करि अंगीकार। रात्रिदिन चिंते राधाकृष्ण विहार।
सिद्ध देह चित करे ताहानि सेवन। सखीभावे पाय राधाकृष्णेर चरण।
गोपी अनुगति विना ऐश्वर्य ज्ञाने। भजि लेहि नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने।
चैतन्य चरितामृत, मध्य० ८।

विलासमंजरी हैं, सनातन लवंगमंजरी हैं और गोपालभट्ट अनन्तमंजरी हैं इत्यादि। सखी-मंजरी का यह विवरण गौड़ीय सम्प्रदाय की अपनी निजी विशेषता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गौड़ीय सम्प्रदाय में गोपीभाव की ही उपासना का प्राधान्य है। गोपियां स्वरूपा-शक्ति हैं। लीला में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्हींका अनुगमन कर जीव का कल्याण हो सकता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में गोपी-स्वरूप

पीछे कहा जा चुका है कि निम्बार्क-संप्रदाय के साहित्य की प्रामाणिकता पग-पग पर संदिग्ध है।[1] उसमें दर्शन-ग्रन्थों की परम्परा भले ही अधिक व्यवस्थित रूप में मिलती है, रस-रीति का प्रवर्तन वहां बहुत बाद में हुआ है। दशश्लोकी निश्चित रूप से परवर्ती ग्रंथ कहा जा सकता है। इस स्वल्प-रचना में श्री राधा-कृष्ण के साथ सहस्रों सखियों का दर्शन हमें होता है। श्रीराधा-कृष्ण का ध्यान करते हुए कहा गया है कि वाम अंग में अनुरूप-सौभग-प्रसन्न राधा सहस्रों सखियों से परिसेवित विराजमान हैं, उन्हीं सकल इष्ट कामनाओं की दात्री श्रीराधा का स्मरण करना चाहिये :—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।[2]
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।

श्री निम्बार्काचार्य के नाम से सद्यःप्रचलित राधाष्टक में राधाष्टक पढ़ने वालों को यह फल बताया है कि वे इसे पढ़कर कृष्णधाम वृन्दावन में युग्म-सेवानुकूला सखीमूर्ति धारण कर नित्य निवास करते हैं:—

सुतिष्ठन्ति वृन्दावने कृष्णधाम्नि सखीमूर्तयो युग्मसेवानुकूलाः ।[3]

यही नहीं उन्हीं के नाम से प्रचलित एक और 'प्रातःस्मरण स्तोत्र' में हमें सखीभाव की उपासना का विकसित रूप देखने को मिलता है।[4] केलिरस-

---

[1] इस ग्रंथ का द्वितीय अध्याय देखिये।

[2] दशश्लोकी, सं० ५।

[3] स्तोत्र-रत्नहार, वृन्दावन, १९९६, पृ० १२९।

[4] प्रातर्नमामि शयनोत्थितयुग्मरूपं सर्वेश्वरं सुखकरं रसिकेशभूपम् ।
अन्योन्यकेलिरसचिह्नसखीदृगौघ सख्यावृतं सुरतकाममनोहरं च ।
स्तोत्र-रत्नहार, पृ० १४१।

वर्णन की ऐसी पूर्ण परिणति उपासना-दृष्टि से निम्बार्क के काल में संभव नहीं थी। फिर भी इन रचनाओं को इस सम्प्रदाय की परवर्ती रचनाओं के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है।

यह भी कहा जा चुका है कि निम्बार्क-संप्रदाय में उपासना-पद्धति तांत्रिक और शास्त्रीय दोनों प्रकार की रही है। वैसे भी प्रायः वैधी भक्ति पर विशेष बल दिया गया है। श्रीकृष्ण की उपासना में उनकी वृन्दावन, मथुरा और द्वारिका तीनों लीलाओं की उपासना मान्य है। उपासना ग्रन्थों में गोपीभाव का विवेचन उतना भी नहीं हो सका है, जितना सम्प्रदाय के काव्य-ग्रंथों में हुआ है। सिद्धान्त-रत्नांजलि में कलियुग के लिये सख्यरस की भक्ति को उपयुक्त माना गया है।[1] यहां श्री निम्बार्क को रंगदेवी का अवतार मान कर उन्हें वात्सल्य रस का दर्शक कहा गया है।[2] अन्य भक्तिरसों की उपासना और उनके आचार्यों के सम्बन्ध में भी यहां प्रकाश डाला गया है। परन्तु इन सबसे श्रेष्ठ उज्वल रस को युग-श्रृङ्खलाओं से परे रखा गया है।[3]

जो हो, सभी कृष्णोपासक संप्रदायों में आचार्यों को गोपी रूप में देखा गया है। यहां भी हमें ऐसा ही दिखाई देता है। अन्तर इतना ही है कि श्री निम्बार्क को त्रेता में विद्यमान मानने के कारण, उन्हें पुनः द्वापर में रंगदेवी गोपी के रूप में दिखाया गया है।[4] आचार्य श्रीनिवास सुदेवी और औदुम्बरचित्रा के रूप में वर्णित हैं।[5]

सिद्धान्त-रत्नांजलि में श्रीकृष्ण की प्रेयसियों के सम्बन्ध में भी विचार

---

[1] विस्रंभमात्रमाराध्योऽदृश्यो हरिः सदा कलौ।
विश्वासमात्रसख्यत्वात् सख्ये तत्पर्यवस्यति। सिद्धान्त-रत्नांजलि।
वृन्दावन, उत्तरार्द्ध, पृ० २८०।

[2] निम्बादित्यावतारात्मा रंगदेवी तदाकृतिः।
चक्रादिकं चतुर्व्यूहो वात्सल्यरसदर्शकः। सिद्धान्तरत्नांजलि, उत्तरार्द्ध, पृ० २७७।

[3] उज्ज्वलस्य रहस्यत्वात् नास्य काले नियामकः। वही, पृ० २८१।

[4] समुनिः सुबहून्देहांस्त्यक्त्वा कल्पत्रयात्परम्
सारंगनाम्नो गोपस्य कन्याऽभूच्छुभलक्षणा।
रंगदेवीति विख्याता निपुणा चित्रकर्मणि। वही, पृ० २७६-२७७।

[5] श्रीनिवासः सुदेवी च चित्रौदुंबर इत्युतः। वही, पृ० २७९।

हुआ है। सर्वप्रथम उन्हें दो वर्गों में बांटा गया है, स्वतन्त्रा और परतन्त्रा। लोक-धर्म को छोड़कर अपनी चेष्टाओं से जो श्रीकृष्ण का संगलाभ करती हैं, वे स्वतंत्रा गोपियां हैं।[1] पराश्रित रह कर श्रीकृष्ण-प्राप्ति की कामना करने वाली गोपियां परतंत्रा कही गई हैं।[2]

स्वतंत्रा गोपियों के भी कृष्ण-लीला के अनुसार तीन भेद किये गये हैं। १—दिदृक्षु। (देखने की इच्छा रखने वाली) जैसे यज्ञ-पत्नियां। २—रिरंसु। (रमण की इच्छा रखने वाली गोपियां) जो मुरली की ध्वनि सुन कर रास में सम्मिलित होने के लिये अपना घर-बार छोड़कर वृन्दावन चली आई थीं और ३—विवरयिषु। (वरण की इच्छा रखने वाली) वे गोपकन्याएं जो श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त करने के लिये कात्यायनी का व्रत कर रही थीं।[3]

परतन्त्रा दो प्रकार की कही गई हैं, १—नित्यदृश् और २—दिदृक्षु। नित्यदृश का उदाहरण द्वारिका की वे स्त्रियां हैं, जो श्रीकृष्ण को नित्य देखकर

---

[1] परतंत्राः स्वतंत्राश्च प्रेयस्यो द्विविधा हरेः।
निजचेष्टितलब्धाशाः स्वतंत्रास्त्यक्तलौकिकाः वही, पृ० ३४८।

[2] मुकुन्देहितलब्धाशाः परतंत्राः पराश्रिताः। वही, पृ० ३४८।

[3] अथ प्रेष्ठाः स्वतत्रास्तु दिदृक्षवो रिरंसवः।
विवरयिषव इति त्रिधा भगवतः स्फुटाः।
तत्राद्यास्तु स्मरदृशः प्रेयस्यो दशमे तथा।
श्रुत्वाऽच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
... ...
स्वतंत्रा यज्ञपत्न्यस्ता दिदृक्षव उदाहृताः।
पतीनां संयुते उक्ते स्वतंत्रादि दिदृक्षते।
... ...
गोपीनां तु क्रमात्तत्र स्वतंत्रारिरंसु ते।
... ...
अथ विवरयिषवः प्रक्रियाः क्रिया यथा।
हेमंते प्रथममासि नन्दगोपकुमारिकाः। सिद्धान्त-रत्नांजलि, उत्त० पृ० ३५१ से ३५२

भी तृप्त नहीं होती थीं। दिदृक्षु वे हैं, जो श्रीकृष्ण के मथुरापुरी में प्रवेश करने पर उन्हें देखने के लिये आतुर थीं।[1]

सिद्धान्तरत्नाञ्जलिकार का मत है कि इन सब स्वतंत्राओं में सर्वाधिक सौभाग्यशालिनी श्रीराधा हैं।[2] श्रीमद्भागवत में प्रकारान्तर से इन्हीं का नाम लिया गया है।[3] वे गोपी-श्रेष्ठ हैं।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि यह वर्गीकरण श्रीकृष्ण की समस्त प्रेयसियों को ध्यान में रख कर किया गया है। वैसे यह उतना वैज्ञानिक और व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता, जैसा गौडीय संप्रदाय के ग्रंथ उज्ज्वलनीलमणि का हो सका है।

इस संप्रदाय के सिद्धान्त और उपासना पर प्रकाश डालने वाला एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सुधर्माध्वबोध है।[4] इस ग्रन्थ में सखियों के ध्यान और अन्य स्वरूपादि-वर्णन विस्तार से किये गये प्राप्त हैं। ये वर्णन अधिकांश में पुराणों से लिये गये हैं, अथवा उन्हीं के अनुसार लिखे गये हैं परन्तु उन्हें इस संप्रदाय की मान्यता के अनुसार संक्षेप में उद्धृत किया जा रहा है।

राधिका की प्रियसखी ललिता का ध्यान इस प्रकार करना चाहिये। वे विशोक शारदी की पुत्री हैं, चटुल हैं। गोरोचन सी कान्ति, मयूरपंख जैसे वस्त्र, प्रसन्नमुख, सन्धि-केलि में निपुण, प्रतिपल हितैषिणी, ताम्बूल-सेवा में निरत, ऐसी हैं श्री ललिता। उनकी मुख्य सखी हैं, रत्नप्रभा, रतिकला, शुभा, भद्रसौरभा, सुमुखी, मन्मथामोदा, कलहंसी और कलापिनी।[5] तदन्तर पवन-

---

[1] परतंत्रा द्विधा नार्यो नित्यदृशो दिदृक्षवः। और आगे देखिये, वही, पृ० ३४८ से ३४९

[2] तासा स्वतंत्रानामध्ये मुख्यतमांयाः सौभाग्यमांह। वही, पृ० ३५४।

[3] श्रीमद्भागवत। १०। ३०। २८

[4] यह ग्रन्थ लेखक को खण्डित रूप में प्राप्त हो सका है।

[5] विशोकशारदीं पुत्रीं मुखरां चाटुवादिनीम्।
गोरोचनरुक् चार्वाभां केकिपिच्छाभवाससम्।
पुरःस्थितां प्रसन्नास्यां सन्धिकेलिविशारदाम्।
अहर्निशं हितैषिणीं ताम्बूलाधिक्रियायुताम्।
चिन्तयेल्ललितां देवीं राधिकायाः प्रियां सखीम्।
अस्याः सख्यश्च सन्धेयाः पृथगाधिक्रियाश्रिताः

दक्षिणा की पुत्री विशाखा का ध्यान करना चाहिये। वे मध्या हैं, तारावली जैसे वस्त्र धारण करती हैं। विद्युत् के समान गौरवर्णयुक्त, श्रीराधा के समान वयस वाली, साम-दाम-भेद में निपुण, स्निग्धमानसा हैं। सूर्याराधन-सामग्री और चित्र-वस्त्रादि की अधिकारिणी हैं। इनकी आज्ञानुवर्तिनी मुख्य सखियां हैं, माधवी, मालती, गन्धरेखा, कुञ्जरी, हरिणी, चपला, सुरभी और शुभानना।[1] आप्ततनु की पुत्री चंपकलता हैं, नीलवस्त्र धारण किये, चंपा जैसे वर्णवाली, रसोई सेवा की अधिकारिणी हैं। इनकी प्रधान सखियां हैं, कुरंगाक्षी, सुचरिता, मणिकुण्डला, मण्डिनी, चन्द्रिका, चन्द्रलतिका, कटुकेक्षिणी और सुमन्दरा।[2] चौथी हैं चार्विपा की पुत्री, कृष्णप्रिया की प्रियसखी चित्रा। सुकोमल, ज्योतिप-शास्त्र की पण्डिता, पशु-विद्या-विशारदा, कुंकुमवत् अंग-

---

रत्नप्रभा रतिकला शुभाथ भद्रसौरभाः
सुमुखी मन्मथामोदा कलहंसी कलापिनी।
रमास्त्वष्टौ सखीमुख्या ललिताज्ञानुवर्तिनी। सुधर्माध्वबोध से राधा-
रहस्य-प्रकाशिका वृन्दावन, पृ० ३९ पर उद्धृत।

[1] पवनदक्षिणां पुत्रीं कृष्णप्रियप्रियां सखीम्।
मध्या तारावलीवस्त्रां विद्युद्गौरीं वयःसमाम्
सामदानैश्च भेदैश्च निपुणां स्निग्धमानसाम्।
सूर्याराधनसामग्रीचित्रवस्त्राधिकारिणीम्।
राधासख्यस्फुरत्वास्यां विशाखां चिन्तयेत्सुधी।
अस्याः सख्यस्तथाध्येयाः पृथगधिक्रियायुताः।
माधवी मालती चैव गन्धरेखाथ कुंजरी।
हरिणी चपला चैव सुरभी च शुभानना। वही, पृ० ३९

[2] मध्या प्राप्ततनूद्भूतां राधिकायाः प्रियां सखीम्।
नीलपद्माम्बरधरां चम्पवर्णां सुद्युतिकाम्।
वादिकां चम्पकलतां पाकक्रियाधिकारिणीम्।
अस्याः सख्यस्तथाध्येया पृथगधिक्रियाश्रयाः।
कुरंगाक्षी सुचरिता तृतीया मणिकुण्डला।
मण्डिनी चन्द्रिका चन्द्रलतिका कटुकेक्षिणी।
चम्पकलतानुगाः सप्त चाष्टमी च सुमन्दिरा।
सुधर्माध्वबोध से उद्धृत, राधा० प्र० ३९

कान्ति, सुवर्णसमान वस्त्र, पान करने की सामग्री और सुगन्धित जल की अधिकारिणी हैं। उनकी मुख्य सखियां हैं, रसालिका, तिलकिनी, सौरसेनी, सुगन्धिका, रामिता, कामनागरी, नागरी और नागवेणुका।[१] पश्चिम कर्णिका में तुंगविद्या हैं, कर्पूर और चन्दन सी सुगन्धि, कुंकुम सी आभा, श्वेत वस्त्र, सुन्दर केश, समस्त शास्त्र और संगीत एवं विद्याओं की ज्ञात्री, ऐसी गुणमयी हैं वे। पुष्कर और सुभ्रू उनके माता पिता हैं। हृदय में श्रीराधा-कृष्ण की रति है। सुन्दर वचन बोलने वाली, हाथ में वीणा धारण किये, हित की सिन्धु श्री तुंगविद्या हैं। इनकी सखियां हैं, मंजुमेधा, सुमेधा, सुमध्या, मधुरेक्षणा, तनुमध्या, मधुस्पन्दा, गुणचूडा और वरांगदा।[२] वेला-सागर की पुत्री, श्री राधा की सखी, परम शोभना, स्नेह-रस से द्रवित गात्र, अतिशय प्रिय, हरताल जैसी शरीर कान्ति, अनार के फूल जैसा वस्त्रों का रंग, कोकशास्त्र से वशीकृत करने वाली, वामा, दूतिका, सौभाग्य-यन्त्र-लेखिका हैं श्री इन्दुलेखा। इनकी मुख्य अनुगा हैं, तुंगभद्रा, रसोत्तुंगा, भाववर्या, सुमंगला, चित्रलेखा, विचित्रांगी, मोदिनी, और मदिरालसा।[३] कमल केसर जैसा वर्ण, जपा-पुष्प

---

[१] चार्विषा-चतुरसुतां राधाकृष्णप्रियासखीम्।
मृद्वीं ज्योतिष्षु शास्त्रेषु पशुविद्याविशारदाम्।
कुंकुमाभवपुभ्रर्जाद्दुकूलकनकोपमाम्।
पानकाद्यसुसामग्रीगन्धतोयाधिकारिणीम्।
लसन्तीं राधिकापार्श्वे स्फुरन्तीं सख्यविश्रुताम्।
चित्रां राधासखीं ध्यायेत् सस्मितां हितचिन्तिकाम्।
अस्याः सख्यस्तथाध्येयांस्तत्तदधिक्रियान्विताः।
रसालिकातिलकिनीशौरसेनीसुगन्धिका।
रामिता-कामनागर्यौ नागरी-नागवेणुका। इत्यादि वही, पृ० ४०

[२] सुमलयजकर्पूरकुंकुमाभावरांगी वलयवलितहस्ता पाण्डुवस्त्रा सुकेशी।
पठितसकलशास्त्रा साधुसंगीतविद्या रुचिरतनुसखीयं कृष्णचन्द्रप्रियायाः
खलुजनकजनन्यौ पुष्कर सुभ्रुवोऽस्या युगलरतहृदोमेधोदरी पद्मलाक्ष्याः
प्रखरवचनलीना पाणिवीणाप्रवीणा ह्यधिकृतिहितसिन्धुस्तुंगविद्या विचिन्त्याः।
वही, पृ० ४०

[३] वेलासागरतनया राधासखो सुशोभना।
स्नेहरसद्रवद्गात्रा प्रेयस्यतिसुखावहा।

जैसे वस्त्र, करुणा और सारंग की पुत्री, अनुलेखाभिज्ञा, श्रीराधा से सात दिन छोटी, राधा-कृष्ण का मुख देखनेवाली, सिद्ध मुक्ति की उपदेशिका, वाम भाग में स्थित श्री रंगदेवी हैं। इनकी प्रमुख सखी हैं, कलकण्ठी, शशिकला, कमला, मधुरा, इन्दिरा, कन्दर्पसुन्दरी, कामलतिका और प्रेममंजरी।[1] तदन्तर सुदेवी हैं। ये रंगदेवी की यमला कनिष्ठा हैं। वैसा ही वर्ण और वैसे ही वस्त्र। शुकसारिका पढ़ाने में चतुर, कंदुक-क्रीड़ा में प्रवीण, केशप्रसाधन और अंजनाभ्यंजन में निरत तथा शकुन का आख्यान करने वाली हैं। इनकी मुख्य सखी हैं, कावेरी, चारुकबरी, मंजुकेशी, सुवेशिका, हरिहीरा, महाहीरा, हारकण्ठी और मनोहरा।[2]

हरितालनिमाश्यामा दाड़िमी पुष्पवाससा।
कोकशास्त्रे वशीकर्तृशक्तिका कोशसाधिका।
राधिकाप्रियकृत: सख्य: सौभाग्ययंत्रलेखिका।
इन्दुलेखा यथा ध्येया वामा प्रखरदूतिका।
अस्या: सख्यस्तथाध्येया: पृथगधिक्रियावहा:।
तुंगभद्रा-रसोत्तुंगा-भावचर्या-सुमंगला:।
चित्रलेखा विचित्रांगी मोदिनी मदिरालसा। इत्यादि, वही, पृ० ४१

[1] पद्मकिंजल्कवर्णाभ-जपापुष्पाभवाससी।
करुणारंगसाराभ्यां पितृभ्यां जन्मनीयषी।
अनुलेखक्रियाभिज्ञा कनिष्ठा सप्तभिर्दिनैः।
राधिकाकृष्णयो: प्रेष्ठातिष्ठयोरंकयालया।
राधाकृष्णस्य संदृष्टि: कृष्णकटाक्षगोचरा।
वामभागे स्थितमध्या सिद्धिमौक्तिकजल्पिका।
रंगदेवी रसद्रावा लसंती राधिकांतिके।
अस्या: सख्यस्तथाध्येया: स्वाधिकारप्रहर्षिता:।
कलकण्ठी शशिकला कमला मधुरेन्दिरा।
कन्दर्पसुन्दरी कामलतिका प्रेममंजरी। वही, पृ० ४१।

[2] सुदेवी रंगदेव्यास्तु यमला सा कनीयसी।
रूपादिभि: समा वस्त्रा तद्भातिमरकारिणी।
ज्येष्ठान्वयसुविख्याता मृदुश्री राधिका सखी।
शुकसारिकापाठज्ञा कन्दुकाक्षेपभाजना।

पीछे प्रिया प्रियतम की मुख्य अष्टसखियों के ध्यान और उनके यूथों की प्रमुख यूथनायिकाओं के नाम प्रस्तुत किये गये हैं। इसी प्रकार वृन्दा आदि अन्य भी कोटि-कोटि यूथों की नायिका हैं। विशिष्ट वर्णाभूषणों से शोभित इनका भी ध्यान करना चाहिये।[1] हरिणी, हारिणी, ह्रीणा और हरिता ये सखियाँ ब्राह्म मुहूर्त में प्रिया-प्रियतम की स्तुति करती हैं[2] मुग्धा, स्निग्धा, विदग्धा, असन्दिग्धा ये अश्रु भरे नेत्रों से मुहूर्त भर गान करती हैं, इनका ध्यान करना चाहिये।[3]

षोडशदल कमल में अधिष्ठित सखियों द्वारा सेवित प्रिया-प्रिय का ध्यान बताते हुए आगे कहा गया है कि वृन्दादेवी द्वारा वृन्दावन की शोभा निवेदित की जाती है। उससे प्रसन्न राधाकृष्ण का ध्यान करना चाहिये।[4] चन्द्रावती द्वारा नाना प्रकार से अद्भुत दर्शन कराये जाने से प्रसन्न एवं कम्पित अङ्गवाले राधाकृष्ण का ध्यान करना चाहिये। चन्द्रा सखी द्वारा पत्र-पुष्प अर्पण करते हुए, गोपाली द्वारा फल अर्पित करते हुए, श्यामला द्वारा पुष्पमाला अर्पित करते हुए, चद्रावली द्वारा प्रिया-प्रिय का दर्शन करते हुए तथा इसी प्रकार सुभद्रा, सुदेवी, मधुमती, हरिप्रिया आदि का विभिन्न निर्दिष्ट कोणों में स्थित रह कर दर्शन करते हुए ध्यान करना चाहिये।[5]

केशसंस्थांजनादिभ्यः शकुनाख्यानवित्तमा।
ध्येयाश्चास्याः सखीमुख्याः स्वाधिकारक्रियादृताः
कावेरी चारुकवरी मंजुकेशी सुकेशिका।
हरिहीरा महाहीरा हारकण्ठी मनोहरा।
सुदेव्यनुगता मुख्या ह्यष्टौ ता यूथनायिकाः। वही, पृ० ४१।

[1] एवं वृन्दादयः सर्वाः कोटिशो यूथनायिकाः।
वर्णाभरणभूषाढ्या ध्येया ह्यधिक्रियानुगाः। सुधर्माध्वबोध से, राधारहस्य-प्रकाशिका पृ० ४१

[2] हरिणी हारिणी ह्रीणा हरिताभिः स्खलद्गिराः
ब्रह्मरात्रे मुहूर्त तु स्तूयमानौ प्रियाप्रियौ। वही, पृ० ४१

[3] मुग्धा स्निग्धा विदग्धाभिरसंदिग्धकया तथा।
सास्राभिः राधिकाकृष्णौ गीयमानौ मुहूर्तकम्। वही, पृ० ४३

[4] मुहूर्त वृन्दया देव्या वृन्दावन निवेदने।
ध्यायेत्प्रसाद्यमानौ श्रीराधाकृष्णौ निजेप्सितौ। वही, पृ० ४३

[5] चन्द्रावत्या मुहूर्त तु विविधाद्भुतदर्शनै।

गोपियों का उपर्युक्त ध्यान, सेवा आदि का क्रम देखने से ज्ञात होता है कि इस संप्रदाय में गोपीभाव से ही उपासना करने का विधान कालान्तर में हुआ था। गोपी-सखियों के ये विस्तार स्पष्ट ही उपासना की दृष्टि को लेकर किये गये हैं। इन गोपियों की संख्या असंख्य हैं। इनके कोटिशः यूथ हैं। यूथों की नायिकाएँ हैं। सभी की अपनी-अपनी निश्चित् सेवाएँ हैं। इन्हीं में से किसी एक की उपासना को अपना विशेष लक्ष्य बना कर उपासक उपासना करता है।

निम्बार्क संप्रदाय में गोपियों को प्रायः स्वकीया रूप में ही स्वीकृत किया गया है। श्री राधा तो कृष्ण की अनुरूपसौभगा हैं ही।[1] औदुम्बर-संहिता में राधाकृष्ण का सनातन नित्यैकरूप बताया गया है।[2] महावाणी में भी राधाकृष्ण का नित्य निकुंजों में विवाह वर्णित है।[3] इस संप्रदाय के विद्वान् आचार्य श्री भगीरथ झा ने 'युग्मतत्व-समीक्षा' नामक ग्रन्थ में गोपियों का कान्ताभाव ही सिद्ध किया है।[4] वे कहते हैं कि विद्वान् सखियों को दो प्रकार

हृष्यमाणौ सकंपाङ्गौ राधाकृष्णौ विचिन्तयेत् ।
मुहूर्तं चन्द्रया सख्या किसलयस्त्रगर्पणैः ।
प्रेयस्या भूष्यमाणौ तौ ह्यरुणायितदेहया ।
गोपाल्या च मुहूर्तं तु चित्रपट्टांकिताभया ।
समावलीक्यमानौ च राधाकृष्णौ फलार्पणौ ।

इत्यादि वही, पृ० ४३

[1] अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।

दशश्लोकी, ५

[2] श्रीराधाकृष्णयुग्मं सनातनं नित्यैकरूपं निगमादिवर्जितम् ।
यद्वज्जलोल्लोल युगं मिथोरतं सदगोचरं यावदवाप्नुयान्नतु ।

औदुम्बरसंहिता, युग्मव्रत प्रकरण ।

[3] भरी प्रेम पर फूल सब हित की अलि अलबेलि ।
ब्याह विनोदनि सुख सच्यौ हिलिमिलि सबै सहेलि ।

महावाणी, उत्साहसुख, १४१ ।

[4] यथा मन्मथरूपेण भगवाननुभूयते ।
तदा सखीजनानां तु प्रेयसीभावमुख्यता ।

युग्मतत्त्व समीक्षा, भावमयूख । पृ० २९३, वृन्दा०

का बताते हैं, कान्ताभाव-विवर्जित और कान्ताभाव-समन्वित।[1] कुछ इनके रूप-भेद न मान कर लीलाभेद से ही द्विधा मानते हैं।[2] ब्रह्म-संहिता का उदाहरण देकर वे गोपियों को श्रीकृष्ण की नित्यकान्ता ही स्वीकृत करते हैं।[3] इन प्रेयसियों में सापत्न्य नहीं होता।[4] वे श्रीराधा की बिम्ब-प्रतिबिम्ब हैं, अतः उसी भाव से क्रीड़ा भी करती हैं।[5] गोपियों को राधा की अष्ट-प्रकृति मानते हुए पुराण-ग्रन्थों के उदाहरण से यह भी सिद्ध किया गया है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ नित्य रमणवती हैं। संप्रदाय के महात्माओं की वाणियों के अध्ययन के निष्कर्ष रूप में भी उनका कथन है कि गोपियों में में निश्चितरूपेण कान्ताभाव ही विद्यमान है। उनके शब्द महत्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं, "श्रीभट्टदेवैः श्रीहरिव्यासदेवैरपि च आदिवाणी प्रबन्धे, महावाणी प्रबन्धे च निकुञ्जलीलायामपि ललिताद्यनन्तकामिनीजनसहकृत महारासलीला-स्वीकारात्तात्पर्येण स्वीकृत एव तासामपि कांतभावः। न ह्यकान्ताभिः केवलं दासीभिः कान्तभाव-रहिताभिः केवलं सखीभिर्वा रासलीलादिसंभवः"

इस प्रकार निम्बार्क संप्रदाय की विचारधारा के अनुसार उनका गोपी-भाव अथवा सखीभाव कान्ताभाव तक ही सीमित रह जाता है। उनके अनुसार ये कृष्णवल्लभाएँ श्रीकृष्ण के अंग-प्रत्यंग से रमण करने की आकांक्षा रखने वाली हैं, तन्मया हैं, आश्लेष के लिये उत्सुक हैं। श्यामामृतरस में मग्न तद्भावमयी हैं। कहा गया है कि वे निर्लज्ज होकर कृष्ण के स्पर्श के लिये उत्सुक हैं। पद्मपुराण का अवतरण श्री झा ने स्वमत-प्रतिपादन के लिये उद्धृत किया है।[6]

---

[1] सखीनां द्विविधत्वं तु केचिदाहुर्मनीषिणः।
सेवामात्रपराः काश्चित्कान्तभावविवर्जिताः।
कान्तभावान्विता; काश्चिद्युग्मसेवान्वितापि च। वही, पृ० २९३।

[2] केचित्तु द्विविधत्वेपि रूपभेदो न मन्यते।
लीलाभेदेन भेदस्य सर्वासामपि संभवात्। वही, पृ० २९३।

[3] श्रियः कान्ताकान्तः इत्यादि० वही, पृ० २९५।

[4] प्रेयसीत्वेपि तासां वै सापत्न्यं न हि विद्यते। वही, पृ० २९५।

[5] श्रीयुग्मतत्त्व समीक्षा; श्री भगीरथ शर्मा झा, वृन्दावन, सं० २००७, पृ० २९९-३००

[6] प्रत्यंगरभसावेशाः प्रधानाः कृष्णवल्लभाः।
तद्रूपहृदयारूढास्तदाश्लेषसमुत्सुकाः।

श्रीमद्भागवत के आधार पर गोपियों के उज्ज्वल प्रेम को ही निम्बार्क संप्रदाय के उपासकों नें अपना आदर्श माना है। 'इन गोपबधुओं का अखिलात्मा श्रीकृष्ण में रूढ़ भाव है। संसार से भयभीत मुनि, हम भक्त भी तो इसी की चाह करते हैं। इस अनन्त कथारस में आनन्द न आया तो ब्रह्मजन्म भी व्यर्थ है"।[1]

निम्बार्क संप्रदाय में रंगदेवी गोपी को उपासना-दृष्टि से प्रधानता दी जाती है। वे निम्बार्कावतार भी मानी जाती हैं, परन्तु अनेक निम्बार्कानुयायी व्रज-उपासना-साहित्य में मान्या अष्टसखियों में प्रमुख श्री ललिता को भी प्रधानता देते हैं। निम्बार्क-भक्त श्रीकृष्णदास ने अपने ग्रन्थ 'माधुर्य लहरी' में ललिता का प्राधान्य ही स्वीकार किया है।

वल्लभ संप्रदाय में गोपी-स्वरूप।

वल्लभ संप्रदाय की भक्ति-भावना में वल्लभाचार्यजी के समय तक मधुर-रस की प्रगाढ़ भाव-तरंगों का आप्लावन उतना नहीं हुआ था, जितना उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी के समय में। आश्चर्य की ही बात है कि पुराण-साहित्यादि में श्रीराधा का पर्याप्त वर्णन होने पर भी आचार्य जी के ग्रन्थों की विपुल राशि में श्रीराधा को वह स्थान न प्राप्त हो सका। श्रीमद्भागवत के प्रति अनन्य निष्ठा और उनके अपने भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण का ही यह परिणाम रहा होगा, ऐसा अनुमान है। जो हो, वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों में हम मधुर-रस-रूपा राधा के दर्शन नहीं पाते हाँ गोपीभाव का विविध विस्तार उनके ग्रंथों में अवश्य मिलता है। श्रीविट्ठलनाथ जी ने अपने ग्रन्थ 'विद्वन्मण्डनम्'

श्यामामृतरसे मग्नाः स्फुरत्तद्भावमानसाः।
जगन्मुग्धीकृताकारा हृद्गतिकृष्णलालसाः।
दिव्यभावभरान्विताः कटाक्षातिमनोहराः।
निर्लज्जास्तत्रगोविन्दे तदङ्गस्पर्शनोत्सुकाः।
पद्मपुराण। वृन्दावनमाहात्म्य के विभिन्न अंश, युग्म० स० पृ० ३०७

[1] एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वांछन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य।
श्रीमद्भागवत। १०.४७.५८,

में अपने पितृचरण को 'गोपीपतिरतिमार्गप्रवर्तक' आचार्य कहा है[1] और गोपीजनवल्लभ को अपना कुलपति बताया है।[2] विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता के ग्रन्थों से तथा पुराणादि से गोपीतत्त्व लेकर उसका विस्तार यत्र-तत्र अपनी रचनाओं में किया है।

विट्ठलनाथ जी ने पुराणों से संकलित करते हुए बताया है कि गोपिकाओं को स्त्री समझना भूल है, वे श्रुतिगण हैं। ब्रह्माजी ने भृगु को यह रहस्य बताया था, बृहद्वामनपुराण में इसका उल्लेख है।[3] बालकृष्ण भट्ट ने भी प्रमेय-रत्नार्णव में गोपियों को ऋचा-रूप में उद्धृत किया है[4] और साथ ही उन्हें श्रीकृष्ण का लीला-परिकर बताया है।[5] संप्रदाय में सैद्धान्तिक दृष्टि से गोपियों को भगवान् की आनन्दस्वरूपा शक्ति माना जाता है। भगवान् के अक्षर ब्रह्म स्वरूप से जो सृष्टि उत्पन्न हुई, उसमें आनन्द स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गो, गोप, गोपी आदि गोलोक की आनन्द-रूपा शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। श्रीकृष्ण के रस-रूप को ये गोपियाँ ही सिद्ध करने वाली हैं।[6] गोलोक में इन गोपिकाओं का नित्य निवास माना गया है।

श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी नाम की अपनी टीका के रास-पंचाध्यायी प्रकरण में श्रीवल्लभाचार्य जी ने गोपियों का विशेषोल्लेख किया है। कृष्णलीला के अनुसार गोपियों का वर्गीकरण भी किया गया है। वे व्रजस्त्रियों को अन्यपूर्वा, अनन्यपूर्वा और सामान्या इन तीन वर्गों में बांटते हैं। इनमें अन्यपूर्वा गोपियां वे हैं जो श्रीकृष्ण-मिलन से पूर्व अन्य गोपों के साथ विवाहित थीं। उन्होंने सांसारिक पतियों के सम्बन्ध को तोड़कर जार-भाव

---

[1] पुनरपि नमामि गोपीपतिरतिमार्गप्रवर्तकाचार्यान्।
श्रीवल्लभाऽभिधानान् पितृचरणान् वाङ्मनःकायैः।
विद्वन्मण्डनम्, बनारस, पृ० २१९

[2] एतेनास्मत्कुलपतिः श्रीगोपीजनवल्लभः वही, पृ० २२०

[3] नस्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल। इत्यादि,
वही, पृ० १८६ पर उद्धृत

[4] गोप्यो गाव ऋचस्तस्य, इत्यादिभिः...प्रमेयरत्नार्णव, फलविवेक,
बनारस पृ० ३९

[5] वही, पृ० ३९

[6] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५०६

से श्रीकृष्ण से प्रीति की थी। अनन्यपूर्वा गोपियां वे थीं, जो कुमारी थीं और श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये जिन्होंने कात्यायनी आदि के व्रत किये थे, अथवा जो श्रीकृष्ण से विवाहित थीं। सामान्या कोटि में वे व्रजस्त्रियां आती हैं, जिन्होंने श्रीकृष्ण को बालक रूप में देखा था और जिन्होंने माता यशोदा की भाँति कृष्ण से स्नेह किया था।[1]

श्री वल्लभाचार्य जी का अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा भेद लगभग स्वकीया और परकीया का ही स्वरूप है। परकीया अथवा जार-भाव से श्रीकृष्ण को भजने वाली गोपियों का भागवत में विपुल वर्णन है। इन गोपियों की श्रीकृष्ण में अपूर्व अनुरक्ति थी। अपने सुत, पति, गो, वत्स आदि का कार्य करते हुए भी उन्हें प्रतिक्षण श्रीकृष्ण का ही ध्यान रहता था।[2] उन्होंने मर्यादाओं का उल्लंघन कर श्रीकृष्ण को ही अपना सर्वस्व समझा था। ऐसा जान पड़ता है कि इन परकीयाओं के ही जार-भाव को सैद्धान्तिक दृष्टि से यहाँ महत्त्व दिया गया था। स्वकीया नायिका को किसी का भय, लज्जा आदि न होने से, उसमें लगन की वह तीव्रता नहीं पाई जाती अत एव परकीया ही अपने पूर्णनिष्ठ प्रेम के कारण भक्त की साधना के अनुकरण की दृष्टि से उत्कृष्ट मानी जाती है। परन्तु वल्लभाचार्य जी की भक्ति का व्यावहारिक झुकाव इस ओर संभवतः नहीं था। परकीया, स्वकीया और सामान्या के प्रेम को क्रमशः उच्चतम पुष्टिपुष्ट भक्ति, उच्चतर मर्यादापुष्ट भक्ति और उच्च प्रवाही पुष्टि भक्ति के उदाहरण रूप में रखा गया है।[3] परन्तु व्यवहार के लिये उन्होंने इसके प्रथम चरण अथवा सामान्या के ही स्वरूप को स्वीकृत किया और उन्होंने श्रीकृष्ण के बाल-स्वरूप की उपासना पर ही बल दिया। परन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि यह वात्सल्य भाव भी गोपीभाव ही है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने रास में प्रवेश पाने वाली गोपियों को १९ प्रकार का बताया है।[4] इनके प्रमुख तीन वर्ग हैं—अनन्यपूर्वा, अन्यपूर्वा और निर्गुण।

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५०६-५०७.

[2] या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकंठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः।
श्रीमद्भागवत १०. ४४. १५

[3] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५०७.

[4] देखिये, वल्लभाचार्यकृत रासपंचाध्यायी, फल प्रकरण, अध्याय ३।

अनन्यपूर्वा और अन्यपूर्वा गोपियों के सात्विकी, राजसी और तामसी इन तीन गुणों के प्रभाव और मेल के अनुसार ९-९ भेद होते हैं। १९ वीं गोपी निर्गुणा या गुणातीता कही गई है। डा० दीनदयाल गुप्त के अनुसार इन गोपियों के विभाजन को इस प्रकार से समझा जा सकता है।

रास की गोपिका[1]

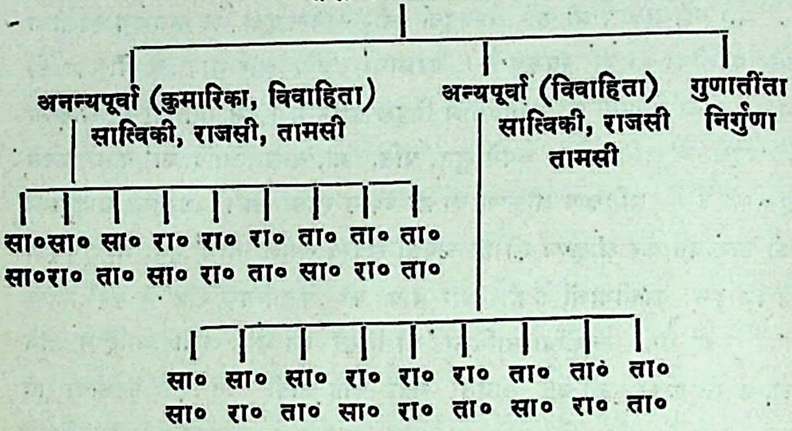
अनन्यपूर्वा (कुमारिका, विवाहिता)
सात्विकी, राजसी, तामसी
अन्यपूर्वा (विवाहिता)
सात्विकी, राजसी
तामसी
गुणातींता
निर्गुणा
सा० सा० सा० रा० रा० रा० ता० ता० ता०
सा० रा० ता० सा० रा० ता० सा० रा० ता०
सा० सा० सा० रा० रा० रा० ता० ता० ता०
सा० रा० ता० सा० रा० ता० सा० रा० ता०

इन्हीं १९ प्रकार की गोपियों ने गोपीगीत में १९ प्रकार से श्रीकृष्ण का स्तवन किया था।

पुष्टिमार्ग में गोपीभाव की उत्कृष्ट भूमिकाओं के सम्बन्ध में बराबर विचार होता रहा है। 'प्रमेय-रत्नार्णव' के पुष्टि-विवेक में पुष्टिमार्ग की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि भगवान् की प्राप्ति में जहाँ समस्त साधनों का अभाव होता है, वही पुष्टिमार्ग कहा जाता है।[2] श्रीवल्लभाचार्य जी ने भी सुबोधिनी टीका के तामस-फल-प्रकरण में उन भक्तों को जो निस्साधन हैं, 'स्त्री' की संज्ञा दी है। व्रजवधुओं के उदाहरण से वे कहते हैं कि अन्वेषण, गुणगानादि साधनों को छोड़ कर केवल रुदन और दैन्य से ही व्रजवधुओं ने भगवान् को पाया था।[3] बुद्धि अथवा तर्क का जिन में प्रकाश नहीं है, योगाभ्यास और

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५०८ पर बना चार्ट।

[2] सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्।
फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते।
प्रमेयरत्नार्णव, बालकृष्ण भट्ट, बनारस, श्लोक १, पृ० १९

[3] तामसप्रकरणीयफलप्रकरणेऽन्वेषणगुणगानादिसाधनानि त्यक्त्वा रोदनेन दैन्ये प्रकटीकृते व्रजवधूनां भगवदाप्तिकथनात्। वही, पृ० १९

भक्ति के अन्य साधनों के पालन का जिन में सामर्थ्य नहीं है, वे निस्साधन भक्त कहे गये हैं, यह ध्यान रखना चाहिये।[1] ऐसे निस्साधन भक्त केवल स्त्री-भाव से ही भगवान् के साथ रमण करते हैं। स्पष्ट है कि यह स्त्री-भाव गोपीभाव ही है।

श्री बालकृष्ण भट्ट ने अपने ग्रन्थ 'प्रमेयरत्नार्णव' में पुष्टिमार्ग की लगभग २० परिभाषाएँ दी हैं। वे प्रायः सभी गोपियों के भक्ति-आचरण की विशेषताएँ हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि गोपीमार्ग का इस संप्रदाय में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गोपियों को भगवान् की आनन्दशक्ति का रूप और अनन्य भक्त—दोनों रूपों में माना गया है। एक भक्त के लिये साधन-मार्ग का आदर्श है, दूसरा उसकी फल-प्राप्ति का रूप है।

इस संप्रदाय में श्री राधा की स्थिति क्रमशः विकसित हुई है। श्री वल्लभाचार्य जी ने राधा का उल्लेख ही अपने ग्रन्थों में नहीं किया है। आगे उन्हें श्रीमद्भागवत की गोपी-विशेष का स्थान प्राप्त हुआ और वे श्रेष्ठ भक्त के रूप में प्रतिष्ठित हुईं। आगे चल कर उन्हें ईश्वर की रस-शक्ति के रूप में स्वीकृत किया गया। संप्रदाय में राधा नाम की गोपी को रस-रूप ईश्वर की आदि रस-शक्ति और भक्ति में सिद्ध भक्ता, ये दोनों रूप प्राप्त हैं।[2] सखी-भाव के उपासकों में राधा के प्रति जो कृष्णपूज्या का भाव है, वह इस संप्रदाय में क्रमशः प्रविष्ट हुआ है।

राधावल्लभ संप्रदाय में गोपी-स्वरूप

राधावल्लभ संप्रदाय के आद्य प्रवर्तक श्री हित हरिवंश गोस्वामी थे। इनके द्वारा रचित दो ग्रन्थ, राधासुधानिधि (संस्कृत) और हित चतुराशी जी या हित चौरासी (व्रजभाषा) विशेष रूप से प्रसिद्ध और संप्रदाय के सिद्धान्त के लिये प्रमाण रूप में मान्य हैं।[3] गोपी-तत्त्व का स्वरूप-विवेचन हमें इनके इन दोनों ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५०७

[2] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५०९-५१०

[3] श्री हित जी के ग्रन्थों की विशेष चर्चा के लिये देखिये इस प्रबन्ध का भाग २, अ० ३

श्री राधावल्लभ संप्रदाय की सम्पूर्ण विचारधारा को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि उसमें एक विशेष क्रमविकास हुआ है। क्रमशः गोपीतत्व से उन्मुख होते हुए इस संप्रदाय के रसिक सखीतत्व पर पहुँचे हैं और अन्त में पुनः संप्रदाय के साहित्य में गोपी और सखीतत्व का समन्वय दिखाई पड़ता हैं। यह क्रम-विकास तो सभी संप्रदायों में हुआ है, परन्तु हमने अभी तक संप्रदायों की मूल विचारधाराओं का ही परिचय कराया है। यहाँ भी हम हित हरिवंश जी के ग्रन्थों में प्राप्त गोपी-तत्व पर विचार करेंगे। उनके सखी-तत्व अथवा विकासावस्था के सखीभाव का विचार आगे किया जायगा। गोपीतत्व और सखीतत्व का अन्तर हम संक्षेप में विषय-प्रवेश में प्रस्तुत कर चुके हैं, विस्तार से अगले पृष्ठों में पुनः रखेंगे। यहाँ गोपीतत्व का संबंध व्रजलीलाओं से समझना चाहिये। गोपी शब्द ही व्रजलीला का है, फिर अवतारकालीन नाम, धाम और लीला का गान भी जहाँ है, उसे गोपीतत्व के अन्तर्गत ही लेना चाहिये। सखीतत्व इनसे परे है।

'श्री राधा सुधानिधि' और 'हित चौरासी' इन दोनों ही ग्रन्थों की पृष्ठभूमि स्पष्ट रूप से व्रज की ही है। श्रीकृष्ण नन्दसुवन हैं, यशोदाकुमार हैं। "कन्दर्पकोटिशरमूर्छितनन्दसूनु"[1], "श्रीमद्राधे त्वमथ मधुरं श्रीयशोदाकुमारे"[2] इत्यादि बीसियों पदों में नन्द, यशोदा और व्रज के माध्यम से ही उनका परिचय कराया गया है। श्रीराधा के लिये प्रयुक्त होने वाले पितृसंबंधात्मक शब्द वृषभानुजा, वृषभानुपुत्री, वृषभानुसुता आदि[3] का प्रयोग हुआ है। पदावली में उनका परिचय कराया गया है, 'तू वृषभानु गोप की बेटी'।[4] वे गोपी हैं, व्रज सुन्दरी हैं। श्रीकृष्ण गोकुलपति हैं,[5] व्रजपति हैं,[6] गोपेन्द्रात्मज हैं[7] तो श्रीराधा भी वृषभानु-कुल-मणि हैं,[8] चित्रग्राम[9] अथवा बृहत्सानु-

---

[1] श्रीराधासुधानिधि, श्लोक सं० ५।

[2] श्रीराधासुधानिधि सं० १६८

[3] श्री राधासुधानिधि, सं० ७, १४, १८, ३३, ४२, ९३ आदि।

[4] श्री हित चतुराशी जी, पद सं० १८

[5] श्री राधासुधानिधि सं० ९४

[6] श्री राधासुधानिधि सं० ६५

[7] श्री राधासुधानिधि सं० ११४

[8] श्री राधासुधानिधि २६, २०३

[9] श्री राधासुधानिधि १८२

(बरसाना) निवासिनी[1] हैं। श्रीराधा व्रजनागरियों की चूड़ामणि हैं,[2] व्रज-नवतरुणियों में शिरोमणि हैं,[3] व्रज-वर-वधू-वृन्द-चूडामणि हैं।[4] पदावली में उन्हें व्रजनवतरुणि-कदम्बमुकुटमणि श्यामा[5] कहा गया है। स्पष्ट है कि हित जी के राधा-कृष्ण व्रज के राधा-कृष्ण से किसी रूप में भी भिन्न नहीं हैं। अन्य व्रजलीला के उदाहरणों द्वारा इस तथ्य की पुष्टि हो जायगी।

श्रीकृष्ण नन्द के यहाँ उत्पन्न हुए हैं। चारों ओर आनन्द छाया हुआ है। भक्तजनों के भजन-रस के लिये लाल मनोहर ग्वाल के रूप में प्रकटे हैं—

आनन्द आज नन्द के द्वार।

दास अनन्य भजन रस कारण, प्रगटे लाल मनोहर ग्वार।[6]

उधर पूर्ण अनुराग और रस की मूर्ति श्रीराधा ने वृषभानु के घर जन्म लिया है[7] श्री हित जी वृषभानु गोप के द्वार आनन्द में सम्मिलित हो रहे हैं—

चलौ वृषभानु गोप के द्वार।

जन्म लियौ मोहन हित स्यामा, आनन्दनिधि सुकुमार।[8]

दोनों व्रज में प्रकटे हैं, व्रज की नगर-वीथियों में साथ-साथ खेलते हैं, उनमें कौमार समाप्त होकर कैशोर प्रकट होता है और वे एकान्त के हास-परिहास में प्रवृत्त हो जाते हैं।[9] वयःसन्धि का यह सुन्दर उदाहरण माना जा सकता है। तारुण्य के प्रथम प्रवेश के समय श्रीराधा की रूपमाधुरी

---

[1] श्री राधासुधानिधि १८२

[2] श्री राधासुधानिधि २६

[3] श्री राधासुधानिधि २५४

[4] श्री राधासुधानिधि २५६

[5] श्री हित चतुराशी जी, २९, ५२

[6] स्फुट पद सं० ११

[7] श्री राधासुधानिधि, ४०

[8] स्फुट पद १६

[9] कदा वा खेलन्तौ व्रजनगरवीथीषु हृदयं,
हरन्तौ श्रीराधाव्रजपतिकुमारौ सुकृतिनः।
अकस्मात्कौमारे प्रकटनवकैशोरविभवौ
प्रपश्यन् पूर्णस्यां रहसि परिहासादिनिरतौ।
श्रीराधासुधानिधि, श्लोक सं० ६५, और भी देखिये श्लोक सं० १६८।

अनन्तगुणित हो जाती है।[1] श्री हित जी उन्हें अनेकविध लाड़ लड़ाते हैं। उन्हें ग्वालगोपाल के साथ खेलने के लिये प्रेरित करते हैं।

आज तू ग्वाल-गोपाल सों खेलि री।[2]

श्रीकृष्ण ने मुरली बजाई। वंशीरव को सुनते ही सभी व्रजनारियाँ अपने गृह, पति, बन्धु सभी को बिसार कर चली आईं। मदनगोपाल के दर्शन कर उनका काम-ताप दूर हुआ:—

मोहन वेणु बजावै।
इहिं रव नारि बुलावै।
आईं व्रजनारि सुनत वंशीरव, गृह-पति बन्धु बिसारे।
दरसन मदनगुपाल मनोहर, मनसिज ताप निवारे।[3]

हित जी ने श्रीकृष्ण के गोचारण का भी वर्णन किया है। गायें दूर निकल गई हैं, देर हो रही है। माँ पथ में आँखें बिछाये बैठी होगी, श्रीकृष्ण को यह चिंता है।[4] वन में वे श्रीराधा का दर्शन करते हैं, जिसकी चर्चा वे श्रीदामा, सुबल, वृषभ, स्तोक, कृष्ण, अर्जुन आदि से करते हैं। सभी सखा साथ ही हैं। श्रीराधा ने उनकी अखिल वस्तुओं का दूर से देख कर ही हरण कर लिया है,[5] इसलिये मित्रों से कहे बिना रहा भी कैसे जा सकता है?

निशिलीला के समय श्रीकृष्ण राधा के वक्ष पर नखाग्र का घात करते हैं, तब श्रीराधा कहती हैं, "मैं दैत्यराज (तृणावर्त) तो नहीं हूँ, अरे मेरी कुचतटी में इतनी पीड़ा मत दो, मैं पूतना नहीं हूँ।"[6] इन शब्दों को प्रातः

---

[1] तारुण्यप्रथमप्रवेशसमये यस्या महामाधुरी।
धारानन्तचमत्कृता भवतु नः श्रीराधिका स्वामिनी॥
श्रीराधासुधानिधि सं० ७१, और देखिये ८५

[2] स्फुट पद सं० १४

[3] श्री हित चतुराशी जी पद सं० ६३।

[4] श्रीराधासुधानिधि २२८

[5] श्रीराधासुधानिधि २२७

[6] मत्कंठे किं नखरशिखया दैत्यराजोऽस्मि नाहं
मैवं पीडां कुरु कुचतटे पूतना नाहमस्मि।
इत्थं कीरैरनुकृतः वचप्रेयसा संगतायाः
प्रातः श्रोष्ये तव सखि कदा केलिकुंजे मृजन्ती॥ श्रीराधासुधानिधि १६३

काल शुक द्वारा दुहराया जाने पर सुनने की अभिलाषा दासी को है। प्रसंगवश उपमान रूप में गोर्धवन-धारण करने का भी उल्लेख हुआ है।

श्री हित जी के गोपीतत्व को समझने के लिये उपर्युक्त विवरण भूमिका मात्र है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों में जिस लीला का वर्णन है, वह निश्चित रूप से व्रजलीला ही है।

गोपीतत्व

श्रीराधा को हित जी ने द्वयक्षरा परा विद्या कहा है।[1] वे श्रुतिमौलिशेखर-लता हैं।[2] श्रीराधा मधुर और उज्ज्वल प्रेम का सार हैं, श्रृङ्गार लीलावैचित्री की अवधि हैं, श्रीकृष्ण की भी पूज्या हैं। वे ही ईशानी, शची हैं। महासुखविग्रहा हैं, स्वतंत्रा परा शक्ति हैं।[3]

श्री राधा के परा शक्ति रूप के सम्बन्ध में यहां सूचम संकेत किये गये हैं, परंतु अधिकांश में श्रीराधा का रसलीला का स्वरूप ही चित्रित हुआ है।

गोपियों को श्रीराधा का प्रकाश कहा गया है—'पूर्णानुरागरससागरसारमूर्ति'। श्रीराधा के पादपद्मनखचन्द्रमणि की छटा का ही प्रकाश गोपवधुओं के रूप में देखा गया है।[4] गोपियां श्री राधा-ज्योति का प्रकाश ही हैं।

गोपियों के विभिन्न नामों का उल्लेख हित जी के ग्रंथों में नहीं हुआ है। सर्वप्रधाना सखी ललिता का नाम अवश्य ही अनेक स्थानों पर आया है।[5] शेष सभी गोपियों को समूह-भाव से देखा गया है। आगे चल कर तो इस संप्रदाय में भी सखियों के नाम, वेशभूषा पुराणों के आधार पर ही वर्णित हुए हैं।[6] श्री ध्रुवदास जी ने स्पष्ट ही अपने सखी-वर्णन को पुराणों से लिया है। वे कहते हैं:—

---

[1] सा राधेति सदा हृदि स्फुरतु मे विद्या परा द्वयक्षरा॥

श्रीराधासुधानिधि ९५

[2] श्रीराधासुधानिधि ९७

[3] श्रीराधासुधानिधि ७८

[4] यत्पादपद्मनखचन्द्रमणिच्छटाया विस्फूर्जितं किमपि गोपवधूष्ववर्दाशि।
पूर्णानुरागरससागरसारमूर्तिः सा राधिका मयि कदापि कृपां करोतु॥

श्रीराधासुधानिधि १०

[5] यहाँ सखियों के नाम, वेष, भूषादि वही हैं, जो पुराणों में वर्णित हैं।

[6] श्री हितहरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, वृन्दावन, पृ० २२३।

नाम वरन सेवा बसन जैसे सुने पुरान।
ते सब ब्यौरे सों कहौं अपनी मति अनुमान।[1]

ध्रुवदास जी ने सखियों की संख्या अनन्त बताई है। संप्रदाय में गोपियों के संबंध में जो विवरण मिलते हैं, उनके अनुसार यहां भी आठ सखियों को प्रधान माना गया है। ये सखियां हैं—ललिता, विशाखा, रंगदेवी, चित्रा, तुङ्गविद्या, चंपकलता, इन्दुलेखा और सुदेवी।[2] ये सभी नाम पुराणवर्णित हैं। आठ-आठ के सम्बन्ध से सखियों का विस्तार भी पुराण तन्त्रों के अनुसार ही हुआ है। गोस्वामी ललिताचरण जी ने अपने ग्रन्थ में इन गोपियों की शरीरकांति, स्वरूप, वस्त्र, सेवा आदि का जो विवरण दिया है,[3] वह ठीक वैसा ही है, जैसा हम निम्बार्क संप्रदाय के गोपीस्वरूप के प्रसंग में कर आये हैं। दोनों का स्रोत एक ही है, विवरण एक से हैं, अतः पिष्टपेषण के भय से इस प्रसंग को यहीं छोड़ देना उचित है।

गोपीतत्व की दृष्टि से कुछ बातें इन ग्रन्थों में और विचारणीय हैं। सर्वप्रथम बात स्वकीया-परकीयात्व की है। गोपियों के सम्बन्ध में श्री हित जी का विवरण उनके परकीयात्व का ही समर्थन करता ज्ञात होता है। शरद्-रास के वर्णन में उन्होंने गोपियों द्वारा अपने पति-बंधु आदि को छोड़ कर आने की बात कही है।[4] यह विषय भागवत के अनुसार ही है और परकीयात्व का समर्थक है। गोपियों को गोप-वधू की संज्ञा दी गई है।[5] श्रीराधा इन्हीं व्रज-वर-वधू-वृन्द की चूड़ामणि हैं। इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से विचार नहीं हुआ है। उनके सम्प्रदाय की भावना तो यही मानती है कि राधाकृष्ण संतत अविचल जोड़ी हैं।[6] एक स्थान पर गोपियां राधाकृष्ण के विवाहोत्सव का आनन्द प्राप्त करने के लिये भी उत्सुक दिखाई देती हैं।

---

[1] रस मुक्तावली लीला, बयालीसलीला, ध्रुवदास, पृ० १६५

[2] श्री हित हरिवंश गोस्वामी, संप्रदाय और साहित्य, श्री ललिताचरण जी गोस्वामी, वृन्दावन, पृ० २३८

[3] वही, पृ० २३८ से २३९ तक।

[4] श्री हित चतुराशी जी पद सं० ६२

[5] श्रीराधासुधानिधि १०

[6] श्री हित चतुराशी जी पद सं० ७०

गोपीभाव में संयोग और वियोग दोनों पक्ष लिये जा सकते हैं। स्थूल वियोग का एक गोपीभावानुकूल चित्र हमें राधासुधानिधि में भी प्राप्त होता है। 'अपने हाथों में मधुर स्वरवती मधुमती वीणा को धारण कर, जो निरन्तर अश्रुवर्षा के साथ नागर-शिरोमणि की भाव-लीलाओं को गाती हुई, दुःख से अपने दिन व्यतीत करती हैं, ऐसी राधा मेरे हृदय में रहें', यह हित जी की कामना है। श्लोक निम्न प्रकार हैः—

वीणां करे मधुमतीं मधुरस्वरां तामाधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम्।
गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रुवर्षैर्दुःखान्नयन्त्यहह सा हृदि मेस्तु राधा॥[1]

सभी सम्प्रदायों में गोपियों का तत्सुखी-भाव ही श्रेष्ठ माना गया है। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में भी ऐसा ही है। यहां सखियों के साथ श्रीकृष्ण का रमण स्वीकृत नहीं है परंतु श्री राधासुधानिधि में दो श्लोक ऐसे भी प्राप्त हैं, जिनमें सखी के साथ कृष्ण का रमण हुआ ज्ञात होता है। यहां सखी राधा से कहती है 'मुझे अपनी दयनीया प्राणेश्वरी समझ कर वे वार-वार मेरा चुम्बन करते हैं, आलिंगन करते हैं और सुरत-मदिरा से मुझे उन्मत्त बनाते हैं। इस प्रकार वे अद्भुत स्नेह वैभव की रचना करते हैं। परन्तु हे राधे, मेरा मन तुम्हारे पद-रज-विलास में ही रहता है'।[2]

द्वितीय श्लोक में सखी कामना करती है कि 'श्रीराधा के चरणकमलों में मेरी अचला भक्ति देख कर श्रीकृष्ण कब प्रीतिपूर्वक मेरा आलिंगन करके चुम्बन करेंगे और स्वमुख का ताम्बूल प्रदान करेंगे। कब वे अपने कण्ठ की वनमाला भी मुझे पहनायेंगे।'[3]

---

[1] श्रीराधासुधानिधि, ४८

[2] निजप्राणेश्वर्य्या यदपि दयनीयेयमिति मां
मुहुश्चुम्बत्यालिंगति सुरतमाध्व्या मदयति।
विचित्रां स्नेहर्धिं रचयति तथाप्यद्भुतगते–
स्तवैव श्रीराधे पदरसविलासे मम मनः॥ श्रीराधासुधानिधि, ५५

[3] राधापादसरोजभक्तिमचलामुद्वीक्ष्य निष्कैतवां
प्रीतः स्वं भजतोऽपि निर्भरमहाप्रेम्णाधिकं सर्वशः।
आलिंगत्यथ चुम्बति स्ववदनात्ताम्बूलमास्येर्पयेत्
कण्ठे स्वां वनमालिकामपि मम न्यस्येत्कदा मोहनः॥
श्रीराधासुधानिधि, ११७

गोपियों का यह भाव सम्प्रदाय की दृष्टि से विचारणीय है। हमारा अनुमान है कि प्रारम्भ में गोपीभाव की सामान्य भक्ति का ही एक रूप इस सम्प्रदाय में रहा है, जो क्रमशः विकसित होता गया है।

श्री हितहरिवंश जी की गोपीभाव में अनन्य निष्ठा है। अपने इन ग्रन्थों में उन्होंने स्थान-स्थान पर इस तथ्य को स्पष्ट कहा है। अनेक उपासनाओं में वे राधाकिंकरीत्व को ही महत्व देते हैं। वे कहते हैं, 'कोई ब्रह्मानन्दवादी है, तो कोई भगवद्वंदना में मत्त है। कुछ गोविन्द के सख्यादि भाव को ही परमानन्द मान कर उसके आस्वाद में निरत हैं। परन्तु राधा के चरण-कमलों की सुशोभित नखमणि की ज्योति की एक किरण-मात्र ही राधादासियों के लिये अखिल सुख की अवधि है।'[1] आगे वे कहते हैं, 'राधा-मधुपति का रहस्य न तो ब्रह्मादि देवताओं को, और न हरिभक्तों को ही ज्ञात है। किन्तु उनकी दासी होकर उनकी केलि को अपने नेत्रों द्वारा देखने की दुर्गम आशा मैंने संजो रखी है।'[2] एक और स्थल पर वे कहते हैं, 'जिसके चरण-कमल की रेणुकणिका को मस्तक पर धारण करने की इच्छा रखने वाले ब्रह्मा, शिवादि भी जिसे प्राप्त नहीं कर सकते वह केवल मात्र गोपीभाव से ही लभ्य है'।[3]

गोपीभाव के धारण से उपासक को अन्तरंग सेवा का अधिकार प्राप्त होता है। जिस स्थान पर गोपी का अधिकार है, वहां सखादिक भी नहीं पहुंच सकते, इस तथ्य को प्रकट करते हुए श्री हित हरिवंश जी कहते हैं, "कुंज-भवन के अभ्यन्तर में जहां श्रीकृष्ण-राधा की केलि होती रहती है, वहां

---

[1] ब्रह्मानन्दैकवादाः कतिचन भगवद्वंदनानन्दमत्ताः
केचिद्गोविन्दसख्याद्यनुपमपरमानन्दमन्ये स्वदन्ते।
श्रीराधाकिंकरीणां त्वखिलसुखचमत्कारसारैकसीमा
तत्पादांभोजराजन्नखमणिविलसज्ज्योतिरेकच्छटापि॥ १४७

[2] न देवैर्ब्रह्माद्यैर्न खलु हरिभक्तैर्न सुहृदा-
दिभिर्यद्वै राधामधुपतिरहस्यं सुविदितम्।
तयोर्दासी भूत्वा तदुपचितकेलीरसमये
दुरन्ताः प्रत्याशा हर-हर दृशोर्गोचरयितुम्॥
श्री राधासुधानिधि, १४८

[3] यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिकां मूर्ध्ना निधातुं न हि
प्रापुर्ब्रह्मशिवादयोप्यधिकृतिं गोप्यैकभावाश्रया।
इत्यादि, श्रीराधासुधानिधि, ७२

से श्रीकृष्ण के स्नेही परिकर भी दूर ही रहते हैं। सखा, भृत्यादि सभी दूर रहते हैं, अन्य की तो बात ही क्या। केवल द्वारस्था मैं उनकी किंकरी ही कांची-ध्वनि का श्रवण करती हूँ"।[1]

इसी गोपीभाव को श्री हित जी व्रजकिशोरी भाव,[2] वल्लवी भाव[3] स्त्री-भाव आदि नामों से पुकारते हैं और निरन्तर दासीभाव या किंकरीभाव पाने की प्रार्थना करते हैं।

गोपीतत्व और सखीतत्व की विभेद-भूमि

इस सम्बन्ध में हम संक्षेप में विषय-प्रवेश में थोड़ा सा प्रकाश डाल चुके हैं। यहां गोपीतत्व के विविध विस्तारों को देख लेने के पश्चात् हम सखी-तत्व के आधार पर उपासना के उस क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहते हैं, जिसे नित्य-विहार के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह बात सर्वमान्य है कि गोपी-तत्व और सखीतत्व में भी उपासना की दृष्टि से बहुत अन्तर है। स्वामी हरिदास जी के समय से लेकर आज तक के सभी उपासकों ने एवं विद्वानों ने इस अन्तर को माना है। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है, 'गोपीभाव और सखीभाव का साम्य परिलक्षित होने पर भी इनमें तात्विक भेद है। बहुधा इस तात्विक भेद को विस्मृत कर दोनों को एक ही समझ लिया जाता है।'[4] जिन आधारों पर दोनों उपासना के भावों में यह अन्तर है, उनका दिग्दर्शन यहां किया जा रहा है।

---

[1] दूरे स्निग्धपरम्परा विजयतां दूरे सुहृन्मण्डली
भृत्याः सन्तु विदूरतो व्रजपतेरन्यः प्रसंगः कुतः ॥
यत्र श्रीवृषभानुजाकृतरतिः कुञ्जोदरे कामिना
द्वारस्था प्रियकिंकरी परमहं श्रोष्यामि कांचीध्वनिम् ॥
श्री राधासुधानिधि, ७३

[2] श्रीराधामनुधावतीं व्रजकिशोरीणां घटां भावये।
श्रीराधासुधानिधि, ८९

[3] वृन्दाटव्यां सदैव प्रकटतररहोवल्लवीभाव-भव्या।
श्रीराधासुधानिधि, १२६

[4] राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० २१९

१. उपासना का मूल दृष्टिकोण

(क) पौराणिक आधार

गोपीभाव की उपासना का मूल दृष्टिकोण पौराणिक है। स्वयं गोपीतत्त्व पौराणिक तत्त्व है। इसका उद्गम एवं विस्तार पुराणों की विभिन्न कथाओं के आधार पर ही हुआ है। श्रीकृष्ण की पौराणिक लीलाओं के अतिरिक्त गोपी-तत्त्व की अन्यत्र व्याख्या ही नहीं की जा सकती। उसके स्वरूप का पूर्ण परिचय हमें पुराणों द्वारा ही प्राप्त होता है।

पौराणिक आधार के ग्रहण करने से जहां एक ओर हमें गोपीतत्त्व के प्रकाशन का साकार रूप मिल जाता है, उनके परिवार, स्वरूप, स्वभाव, कार्य, सेवा आदि का ऐतिहासिक परिचय प्राप्त होता है, वहां एक असुविधा यह भी उत्पन्न होती है कि पुराणों में जितना जो कुछ गोपियों से सम्बन्धित है, उस सबकी इच्छा अथवा अनिच्छा से स्वमतानुकूल व्याख्या करनी ही होती है। इस व्याख्या-विस्तार के चक्र में तत्त्व की अनुभूति जाती रहती है। इसीलिये विशुद्ध सखी-भाव के उपासकों ने जान बूझ कर पौराणिक आधार का परित्याग कर दिया है। उनका सखी-तत्त्व किसी भी पुराण में वर्णित नहीं है। वह उन सबसे परे है।

(ख) दार्शनिक आधार

दर्शन और भक्ति का समन्वय भक्ति-संप्रदाय के विभिन्न आचार्यों ने किया। उन्होंने श्रीकृष्ण को परब्रह्म माना। तब उनके परिकर को भी दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करना आवश्यक हो गया। श्रीकृष्ण की जैसी तात्त्विक व्याख्या हुई, वैसी ही श्री राधा और गोपियों की भी दार्शनिक दृष्टि से आध्यात्मिक व्याख्या की गई। गोपियों को जो ब्रह्म की प्रकृति आदि के रूप में देखा गया, वह इसी दृष्टिकोण का परिणाम है।

अन्यत्र गोपियों को जीव का प्रतीक भी स्वीकृत किया गया। श्री कृष्ण-लीला के ये प्रतीक और आध्यात्मिक अर्थ निश्चित रूप से लीला-रस की भाव-भूमि से मेल नहीं खाते, अथवा बहुत दूर पड़ते हैं। सखीभाव के उपासकों ने इसीलिये अपने सखीतत्त्व अथवा उपास्य की दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की है।

(ग) तान्त्रिक आधार

उपासना का क्षेत्र विस्तृत है। इसमें रुचि के अनुसार अनेक उपासक विभिन्न पद्धतियों का समन्वय कर लेते हैं। गोपीभाव भी वास्तव में एक भाव-

मय उपासना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी में इसकी स्वाभाविकता भी है। परन्तु वैष्णव-तन्त्रों में जहां हम गोपीभाव का पूर्ण विस्तार पाते हैं, पूजा-विधानों की भरमार है। यन्त्र, तन्त्र और मन्त्रों का बाहुल्य है। कठोर कृच्छ्र साधनाएं करने का विधान है। पीछे पद्मपुराण के जिन गोपीभावभावितों की कथाओं का उल्लेख है, वहां भाव के साथ कृच्छ्र साधनाओं का पूर्ण योग है।[1] तन्त्रों में विभिन्न मन्त्रों को निश्चित रूप से जपने की पद्धति है। सखियों अथवा गोपियों के विभिन्न यूथों में, विभिन्न वेषभूषाओं में, कमल-कर्णिकाओं के तांत्रिक ध्यान और पद्धति भी इस भाव के मूल तत्व से हमारा ध्यान हटा देते हैं। इसलिये सखीभावोपासकों ने इस तांत्रिक आधार को भी कथंचित् स्वीकृत नहीं किया है।

२. क्षेत्र की विभेद भूमि

प्रकट रीति से प्रमुखतः क्षेत्र-विशेष के कारण गोपी और सखी का अन्तर स्पष्ट ज्ञात होता है। गोपीभाव की क्रीड़ा-भूमि निश्चित रूप से व्रज है। गोलोक की मान्यता भी गोपीभाव में होती है, परन्तु गोलोक में भी गोपियों की स्थिति व्रज की सीमाओं के अनुकूल स्वीकृत की जाती है। प्रकट व्रजधाम में ही पहले भक्तों को श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ। इस भूमि में श्रीकृष्ण की जितनी भी लीलाएं हुई हैं, वे भक्तों के लिये उपासनीय और मननीय हैं। श्रीकृष्ण की व्रजलीलाओं में गोपियों का प्रेम ही चरम द्रष्टव्य है। परन्तु व्रज में गोप, माता-पिता, सखादि भी श्रीकृष्ण के साथ हैं, अतः व्रज में प्रत्येक क्षण गोपी-लीला का दर्शन नहीं हो पाता। गोलोक में भी गो, गोप, गोपी, ग्वाल आदि सभी हैं, अतः नित्य लीला स्वीकृत कर लेने पर भी केवल कृष्ण और गोपियों का आनन्द-विहार प्रत्येक समय भक्त के लिये उपासनीय नहीं हो सकता। इसीलिये व्रज और गोलोक से ऊपर उस नित्य वृन्दावन का साक्षात्कार सखीभाव-भावितों ने किया, जहां नन्द, यशोदा, गोप, ग्वाल, व्रज की व्यावहारिक सीमाएं अथवा सीमाओं के बन्धन पूर्णतया नहीं हैं। वहां केवल सखियां हैं और श्री युगल हैं। वहीं नित्य रसास्वादन सम्भव है।

३. उपास्य की भिन्नता

गोपीभाव का उपास्य कृष्णावतार है। पूर्ण परब्रह्म रसेश श्रीकृष्ण जो

---

[1] इस सम्बन्ध में देखिये विषय-प्रवेश, प्रथम अध्याय।

नित्य, सनातन, ब्रह्म से भी परे हैं और व्रज के श्रीकृष्ण एक ही हैं। परन्तु अवतार में प्रायः अंश ही अवतरित होता है। यदि पूर्णावतार भी माना जाय तो उसकी सम्पूर्ण लीलाओं की उपासना भक्त को करनी चाहिये। आचार्यों ने ऐश्वर्य और माधुर्य का विचार करते हुए गोपीभाव की उपासना में प्रायः द्वारिका और मथुरा की लीलाओं को छोड़ दिया है परन्तु व्रज-लीलाओं में भी तो ऐसा बहुत सा तत्व था, जिसे छोड़ देना गोपीतत्व की वास्तविक अनुभूति के लिये अपेक्षित था। व्रज-लीलाओं में भी तो वैभव अथवा ऐश्वर्य का अंश विद्यमान है, उसे भी छोड़ देना अनिवार्य है।

सखीभाव-भावितों ने व्रज की भूमिका को एक साथ ही छोड़ दिया और केवल उस नित्य लीला-विहारी को ही अपना उपास्य माना, जो नित्य वृन्दावन में प्रिया-प्रियतम के रूप में नित्य आनन्दमग्न है। वह सब अवतारों का अवतारी है। व्रज के श्रीकृष्ण भी उस आनन्द को कभी प्राप्त नहीं कर सकते, जो नित्य लीला-विहारी को नित्य प्राप्त है।

व्रजलीला की उपासना में श्रीकृष्ण ही परमतत्व हैं। गोपियाँ अथवा राधा भी श्रीकृष्ण की भक्त ही हैं। क्रमशः श्री राधा को वहां भी कृष्ण-स्वरूपा सिद्ध किया गया है, फिर भी प्रमुख रूप से श्रीकृष्ण की उपासना ही गोपीभाव के सम्प्रदायों में रही है। सखीभाव के उपास्य श्रीकृष्ण न होकर प्रिया-प्रियतम हैं। इनमें भी श्री राधा की प्रधानता है। इस युगल-भावना ने काम की सूक्ष्म वृत्ति का सुन्दर सम्बन्ध उद्घाटित किया है। गोपियों का अवतार-काल में श्रीकृष्ण के साथ जो प्रत्यक्ष रमण है, वह सखी-भाव में किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

इस आधार पर सखीतत्त्व गोपीतत्त्व से भिन्न हो जाता है। जिस प्रकार के वर्गीकरण गोपियों में सम्भव हैं, सखियों में नहीं, क्योंकि ये सखियां नित्य सखियां हैं, विभिन्न माध्यमों से आकर विभिन्न वर्गों के आधार पर यूथ बनाने वाली ये नहीं हैं। इन सखियों के न माता-पिता हैं, न सखा-बन्धु, न पति-पुत्र। ये तो देश-काल से परे स्वयं परमात्मतत्त्व की अंशभूता हैं।

४. लीलाओं की भिन्नता

व्रजभूमि के अवतार-काल की भावना के साथ, जैसा कहा गया है, अनेक ऐसी लीलाओं का सम्बन्ध भी आ जाता है, जो लीला-विलास के सहज रस की अनुभूति में बाधक होती हैं। लोक-व्यवहार साथ ही होने के कारण

श्रीकृष्ण को अनेक कर्तव्य-कर्म करने पड़ते हैं। उन्हें गायें चराने जाना पड़ता है, माता यशोदा के पास बैठना होता है। सखाओं के साथ अनेक क्रीड़ाओं में भाग लेना होता है और इस बीच बेचारी गोपिकाएं कृष्ण के दर्शन की लालसा में अपने नेत्रों को पथ पर बिछाये बैठी रहती हैं। श्रीकृष्ण उन्हें छोड़कर सर्वदा के लिये मथुरा चले गये, गोपियां विरह में डूबी जीवन भर हाथ मींजती रहीं। मिलन-विरह की इस भूमिका में ही गोपीतत्व प्रस्फुटित हुआ है।

सखीभाव की भूमिका केवल एक है, वह है संयोग, नित्य संयोग। पल भर का वियोग भी यहां असंभव है। यहां श्री नित्यविहारी को न तो असुरों का वध करने जाना है, न उनके कुछ कर्तव्य-कर्म हैं। यहां वे क्षण-भर के लिये भी श्रीराधा अथवा सखियों से दूर नहीं हो सकते। स्थूल विरह तो यहां होता ही नहीं, मान भी "नैन की कोर दुरैं" टूट ज़ाता है। यहां प्रेम के प्रगाढ़ आलिंगित स्वरूप की लीला ही चारों ओर विस्तारित है। यहां स्थूल लीलाओं के लिये किंचिन्मात्र भी अवकाश नहीं। इसी सीमा के अन्दर प्रेम-वैचित्री का परिपाक सखीभाव की उपासना तथा साहित्य की विशेषता है।

५. स्वसुख-तत्सुख का निकष

जगत् में प्रेम का आदर्श गोपिकाएं ही कही गई हैं। सखीभावोपासक श्री विहारिनदास जी ने भी इनके प्रेम का गुणगान किया है।[1] गोपियों का प्रेम श्रीकृष्ण के सुख की कामना का ही नाम है। फिर भी पुराणों में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहां गोपियों का प्रेम सकाम हो गया है। श्रीमद्भागवत के ही अनुसार गोपियों को गर्व होने पर श्रीकृष्ण ने उनको छोड़ दिया।[2] गोपियों की यह स्वसुख-भावना अथवा सकामता गोपीभाव के आचार्यों ने भी परिलक्षित की है। ऐसी गोपियों को जो सकाम हैं, उत्कृष्ट नहीं माना गया है। वल्लभ सम्प्रदाय में चन्द्रावली को स्वसुखवती मानने के कारण श्रीराधा के समान स्थान नहीं दिया जाता है। बाद में गोपियों में भी तत्सुख भावना की मान्यता स्थापित हुई। वैसे कान्ताभाव में इसकी सम्भावना बहुत कम है।

गोपीतत्व और सखीतत्व का मूल विभेद इसी बात को लेकर है। श्री

---

[1] सांचे प्रेम की गुर गोपी...
विहारिनदास की वाणी, सिद्धान्त के पद, १३७।

[2] श्रीमद्भागवत १०.२९.४७; ४८,

ध्रुवदास ने सखियों को गोपियों से इसी आधार पर ऊंचा ठहराया है।[१] सखियों को तत्सुखमयी ही स्वीकृत किया गया है।

विशुद्ध सखीभाव में यह बात और भी ऊंची उठ जाती है। वहां सखियां स्वसुख और तत्सुख दोनों से परे हैं। स्वसुख-तत्सुख के मापदण्ड वहां के लिये नहीं हैं। वे जो कुछ अनुभव करती हैं, वह सभी कुछ उनके उपास्य-दम्पति को प्रिय है तथा जो उपास्य-दम्पति कामना करते हैं, वह सब इन सखियों को प्रिय है। इस क्षेत्र की कामना काम है ही नहीं, वह तो रसलीला की प्रवृत्ति है, जो प्रतिक्षण प्रत्येक हृदय में नित्य नवीन होकर जागती ही रहती है।

६. स्वकीया-परकीया का भेद

गोपीभाव में या तो गोपियों को स्वकीया माना गया है अथवा परकीया। इस सम्बन्ध में सम्प्रदायों में बहुत मतभेद है। गोपीतत्व का यह एक बहुत बड़ा निकष है भी। सखीभाव में भी बहुत से विद्वान् इस मापदण्ड से माप कर उन्हें स्वकीया या परकीया सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु यहां पुनः उपास्य के स्वरूप को स्मरण करना चाहिये। इस नित्य वृन्दावन धाम में 'स्व' और 'पर' का भेद ही नहीं है। यहां प्रिया-प्रियतम अथवा उनकी जो भी सखियां हैं, वे सभी 'स्व' हैं, परत्व का साझा बंटाने वाला वहां कोई है ही नहीं। अतः परकीया का प्रश्न यहां नहीं उठता।

अब रही बात स्वकीया की। जब परकीयात्व की गुंजाइश ही नहीं, तो स्वकीयात्व की बात भी व्यर्थ हो जाती है। विशुद्ध सखीभाव में प्रिया-प्रियतम की जोरी नित्य और अविचल है, वह सदा एक है। साधारणतया हम लोक में जिस विवाह-संबंध के माध्यम से स्त्री का किसी पुरुष की स्वकीया होना मानते हैं, वह बात उस नित्य वृन्दावन धाम में कहां? श्री राधा किसी की पुत्री नहीं, उनका जन्म, मरण नहीं। वहां काल, कर्म, स्वभाव, गुण हैं ही नहीं। वह सृष्टि-चक्र के बहुत ऊपर है, तब नित्य दम्पति के स्वकीयात्व का

---

[१] गोपिनु के सम भक्त न आहीं।
उद्धव विधि तिनकी रज चाहीं।
तिन मन कछू सकामता आई।
तातें विच अन्तर पर्‍यौ माई।

आनन्दलता लीला, ध्रुवदास, पृ० ३७२

अर्थ कुछ भी नहीं। अतः विशुद्ध सखीभाव में स्वकीया-परकीया का कोई प्रश्न ही नहीं, वह इस सबसे परे की वस्तु है।

कहा जा चुका है कि सखियों में श्रीकृष्ण के प्रति कान्तभाव नहीं है, अस्तु उनके भी स्वकीया या परकीया होने की बात नहीं उठती। उन सखियों के स्वामी हैं युगल दम्पति। सम्बन्ध ही विलक्षण है। न सकामता को स्थान है, न स्वकीया परकीयात्व को। उसमें भी राधा-प्राधान्य होने से इन सब बातों की चर्चा सखी-क्षेत्र के अन्तर्गत आती ही नहीं।

उपर्युक्त सभी आधारों को एक स्थान पर एकत्र कर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि गोपीतत्त्व जहां श्रीकृष्ण की अवतार-लीला की पृष्ठ-भूमि में दर्शन, अध्यात्म और विधि-विधान से समन्वित, जन्म-कर्म से युक्त तत्त्व का साकार रूप है, वहां सखीभाव की दृष्टि से सखियां इन सब क्षेत्रों से पृथक् केवलमात्र प्रिया-प्रियतम की रासलीला की अङ्गभूत, लीला-सहकारिणी, लीला-विस्तारिणी, लीला-आस्वादिनी, लीला-स्वरूपा हैं। उनका इसके अतिरिक्त और कुछ भी व्यावहारिक परिचय नहीं है। इसलिये सखीतत्त्व की सम्पूर्ण व्याख्या नित्यविहार के एक अङ्ग के रूप में ही की जा सकती है।

सखीतत्त्व के विभिन्न रूप

गोपीतत्त्व की भांति सखीतत्त्व का भी विस्तार विभिन्न रूपों में सम्भव है। विश्व में जितनी भी आभ्यंतरिक साधनाएं हैं, उनका सम्बन्ध शास्त्र से न होकर अनुभव से होता है। अनुभूति का क्षेत्र अनन्त है, अतः सखीभाव के उपासकों द्वारा प्राप्त सखीतत्त्व भी अनन्तविध हो सकता है। व्यक्तिगत रूप में इसका विश्लेषण कर सकना सरल नहीं है, परन्तु संप्रदायों के रूप में प्राप्त उपासनाओं का, प्राप्त साहित्य के आधार पर विश्लेषण किया जा सकता है।

साधारणतया इस क्षेत्र के सभी विद्वान् उक्त विवेचन में प्रस्तुत कसौटी को आधार मान कर गोपीभाव और सखीभाव की पृथक्ता स्वीकार करते हैं, फिर भी अनेक सम्प्रदायों में गोपीभाव को ही सखीभाव कहा जाता है। पुनः ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं, जिन्होंने सखीभाव के आधारों को गोपीभूमिका में ही प्रतिष्ठित कर लिया है। व्रज की गोपियों में ही वे सखीभाव के विभिन्न सिद्धान्तों का दर्शन कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। दूसरे ऐसे भी हैं, जो राधा, कृष्ण, गोपी आदि का जन्म, कर्म मानते हुए भी उनके शेष

लीला-विलास को सखीभाव के अनुकूल स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे सम्प्रदायों को व्यापक रीति से सखीभाव के अन्दर ग्रहण करते हुए भी अन्तरङ्ग साधना की दृष्टि से गोपीभाव के अन्दर ही रखा जाना उचित है। कुछ सम्प्रदाय साधना-भूमि की दृष्टि से सखीभाव की पद्धति को ग्रहण करते हैं परन्तु तात्विक दृष्टि से स्वकीया-परकीया, स्वसुख-तत्सुख, आदि से सम्बन्धित धारणाओं में केन्द्रित हो जाते हैं।

तत्व और साधना-दृष्टि से विशुद्ध सखीभाव की उपासना करने वाला सम्प्रदाय स्वामी हरिदास जी द्वारा प्रवर्तित सखी-संप्रदाय ही है, ऐसा अध्ययन से ज्ञात होता है। इसी संप्रदाय को हम सखीभाव का प्रतिनिधि संप्रदाय मान कर अगला विवेचन करेंगे।

राधावल्लभ सम्प्रदाय भी दूसरा सम्प्रदाय है, जिसमें गोपीतत्व के ग्रहण करने के उपरान्त सखीतत्व को ग्रहण किया गया है। इस सम्प्रदाय का भी सखीतत्व के नाते से विचार किया जा सकता है।

अन्य सम्प्रदायों में सखीभाव के तत्व तो विद्यमान हैं, परन्तु उन संप्रदायों का अध्ययन आंशिक रूप में ही किया जा सकता है, जो इस प्रवन्ध के द्वितीय भाग में उपलब्ध हो सकेगा।

स्वामी हरिदास के सखी-संप्रदाय का सखी-तत्व

स्वामी हरिदास जी ने ही सर्वप्रथम सखी-भाव की उपासना की वह रस-रीति प्रवर्तित की, जिसमें एकमात्र प्रेम का ही प्रकाश है। प्रिया-प्रियतम की नित्य केलि के अतिरिक्त और किसी भी आवरण से जिनका नाता नहीं है। जिस प्रकार नारियल के अन्दर उसकी गरी ही एकमात्र प्राप्तव्य वस्तु है, परन्तु बहुत से लोग उसकी जटाओं को ही सब कुछ समझ कर उसी से किसी लाभ की आशा में हों, उन सब को छोड़कर स्वामी हरिदास जी ने नित्यविहार रूपी गरी को सीधे ही प्राप्त कर लिया है, अथवा जिस प्रकार अर्जुन को लक्ष्यभेद के समय पक्षी का केवल नेत्र ही दिखाई दे रहा था, अन्य वस्तुएं होते हुए भी उसे अदृश्य थीं, उसी प्रकार स्वामी हरिदास की उपासना का एकमात्र लक्ष्य वह प्रेमतत्व है, जो सब के सार का सार है। स्वामी हरिदास की उपासना वस्तुतत्व के लक्ष्य-बेध की उपासना है। श्री विहारिनदास कहते हैं कि मेरे प्रिया-प्रिय को विहार के सुखसार के अतिरिक्त और कुछ सुहाता ही नहीं,

इसलिये मैं जञ्जालों का वर्णन भी क्यों करूं ?[1] तात्पर्य यह है कि इस संप्रदाय में एकमात्र तत्व-वस्तु नित्यविहार ही है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश और नारायण आदि अनेक देवताओं को ही स्वामी हरिदास जी ने परित्याग नहीं कर दिया, उन्होंने ब्रज के राधाकृष्ण की सीमाओं को भी छोड़ दिया। अपनी उपासना के लिये उन्होंने परात्पर रसस्वरूप नित्य-विहारी को ही चुना, जो श्रीकृष्ण आदि का भी अवतारी है। उपासना की यह छांट रस-दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। स्वामी हरिदास जी ने स्पष्ट ही कहा है कि उनकी उपासना ब्रज की उपासना नहीं है:—

नव-नव लाड़ लड़ाइ लाड़िली, नहिं-नहिं यह ब्रज-जावरौ।[2]

यह उनका उपास्य ब्रज का नहीं है, यह तो नवनिकुञ्ज सुखपुञ्ज महल में बसने वाला है।

श्री बिहारिनदास जी ने कहा है कि स्वामी हरिदास जी की समानता करने वाला और कौन है? कर्म, धर्म, भक्ति, और मुक्ति की मर्यादाएं क्या कोई सहज में ही टाल सकता है? अंशकला अवतार और ब्रज के रससिंधु के भी पार जाकर नित्यविहार रस-रीति की प्रतीति करना क्या कोई सहज कार्य है? श्री स्वामी हरिदास के लिये तो पूर्ण सुखसार प्रिया-प्रियतम का नित्य-विहार ही है। उनकी समानता और कौन कर सकता है।[3]

---

[1] यहै सुख री सुखसार विहार निहारु।
और इन्हें न सुहाय सखी, मेरे को बरनैं जंजारु।
रहन न देत वसन भूषन तन, सहज सजे अंग-अंग सिंगारु।
श्री विहारिनदासि दरसि मुख सुखनिधि सरस चितवनी चारु।
विहानिदासकी वाणीरस के पद ३०

[2] सोई तो वचन मोसों मान, तैं मेरौ लाल मोह्यौ री सांवरौ।
नव निकुंज सुखपुञ्ज महल में सुबस वसौ यह गांवरौ।
नव-नव लाड लडाइ लाडिली, नहि-नहि यह ब्रज-जावरौ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा पै वारौंगी मालती भांवरौ।
केलिमाल

[3] सरि श्री हरिदास की को करिहै।
कर्म धर्म भक्ति मुक्ति इती मरजादहि को टरिहै।
अंसकला अवतारन के, ब्रज के रस-सिंधुहि को तरिहै।

विहारिनदास जी अपने संप्रदाय की उपासना को गोपियों के क्षेत्र व्रज से सर्वथा भिन्न निकुञ्ज की उपासना बताते हैं। उस निकुञ्ज-रस के लिये उमा, रमा, शची और सरस्वती ललचाती रहती हैं, व्रजयुवतियों को भी वह रस प्राप्त नहीं होता।[1] अपने एक पद में उपासना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं:—"श्रीकुञ्जविहारी ही सर्वस्व के सार हैं। स्वामी हरिदास जी ने अनन्य रसिकों के आधार सार को प्रकट किया है! जिसे वेद, तत्त्व और विचार से भी नहीं पाया जा सकता, उसी रस को स्वामी हरिदास प्रत्यक्ष रूप से गाते हैं। उनका नाम श्रीकुञ्जविहारी है, धाम वृन्दावन है और नित्यविहार उनका व्रत है। यद्यपि प्रेम-समुद्र अपार है अर्थात् प्रेम के प्रकाशन अनेक कोटि के हैं परन्तु वे नित्य युगल की काम-केलि के अतिरिक्त और किसी का स्पर्श तक नहीं करते। सर्वदा नवयौवन से उन्मत्त किशोर-किशोरी एक दूसरे के कंठहार बने हुए हैं। ललित लताओं के उस भवन में युगल-रस में छकी प्रसन्नवदना सहचरी ही वहां नित्य सेवा करती हैं। जैसे किसी राजा के भण्डार को छूने की हिम्मत भी किसी सामान्य युवती को नहीं हो सकती, उसी प्रकार इस रस तक किसी की पहुंच नहीं है।

प्रभु के सभी अवतार जन्म, कर्म और परिकरादि से पूर्ण हैं, इन सभी अंशकला अवतारों का भरतार वही नित्यविहारी है।

त्रिभुवन में प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण की लीलाएं त्रिविध व्रज, मथुरा, द्वारिका हैं और इनको आश्रय कर भक्ति के अनेक भेदों का विस्तार हुआ है। भगवान् भी जहां जैसा रस है, उसी वयस् से उदार होकर सबको सुख देते हैं। परन्तु गौ, ग्वाल, गोप, गोपीजन का व्यवहार अर्थात् व्रज के वात्सल्य, शृङ्गार आदि सभी रस नित्यविहार से भिन्न ही हैं। वह सुकुमार तत्त्व सबसे दूर-दुर्लभ है। सबको सुलभ कैसे हो सकता है? जो इस रस को चाहे, वह

रसरीति सों रीति प्रतीति यहै, श्रीविहारिनदासहि जो वरिहै।
जिनकें सुखसार विहार सही, सरि श्री हरिदासकी को करिहै।

विहारिनदास, सवैया आदि २३

[1] उमा रमा को सची सुरसुती, व्रज जुवती ललचाहिं।

विहारिनदास रस के पद सं० १६८

अथवा, क्यों पावै रसरीति प्रीत विन दुर्लभ निजु व्रजजाइनि।

विहारिनदास, सिद्धान्त के पद सं० १४३

निज 'महलनी' अर्थात् सखी के अनुगत होकर आराधना करे। जो इस प्रकार आराधन करते हैं, उनका वार पार नहीं है।[1]

उपर्युक्त पद से स्पष्ट हो जाता है कि गोपीतत्व और सखीतत्व दोनों भिन्न वस्तु हैं और नित्यविहार में गोपियों की पहुंच नहीं है। उसको प्राप्त करने के लिये सहचरिगण का आनुगत्य ही एकमात्र मार्ग है, उपासना के स्वरूप के साथ ही सखी के महत्व पर भी इस पद द्वारा पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

आवरण-क्रम से गोपी और सखी का अन्तर भगवतरसिक जी ने भी स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं:—

> प्रथम महातम प्रकृति ज्ञान रवि तहां प्रकासैं।
> दूजै ब्रह्म प्रकास कोटि सूरज सम भासैं।
> तीजै पंकज नाभि, रमा वैकुण्ठ निवासी।
> चौथे दसरथसुवन राम गोपुर के बासी।

---

[1] श्री कुंजविहारी सर्वस सार।
श्री स्वामी हरिदास उद्धरे, रसिक अनन्यनि को आधार।
नित्य प्रगट गावत, नहिं पावत सब श्रुति तत्त्व विचार।
इहि निजु नाम धाम वृन्दावन निर्णय नित्यविहार।
काम केलि रस और न परसत प्रेम समुद्र अपार।
नित नव जोवन जोर किसोर किसोरी कंठ सिंगार।
मत्त मुदित सहचरि सेवत नित लता ललित आगार।
जानत सबै जगत ज्यौं जुवती, छुवत न भै भूप-भंडार।
जनम करम पूरन प्रभु सबकैं, आस पास परिवार।
अंसकला सब अवतारिन कौ अवतारी भरतार।
कृष्णचरित्र त्रिधा त्रिभुवन में, बहु भक्ति भेद विस्तार।
जहां जु रस, तहां तिहि बैस, सुष देत सबनि उदार।
गाय, ग्वाल, गोप, गोपीजन, न्यारौ व्रज-व्यौहार।
सबतें दूर दुर्यौ दुर्लभ क्यों सुलभ होत सुकुमार।
जो चाहौ चित दै निजु महलनि कै अंग संग संवार।
बिहारिनदास जे इहि मत सेवत, तिनकौ वार न पार।
बिहारिनदासजी की वाणी, सिद्धान्त के पद, सं० १४१।

पांचं ब्रज के गोप नन्द आदिक सब गोपी ।
छठयैं सखी समाज करैं लीला-रस-ओपी ।
'भगवत' सतयैं आवरण, करहिं केलि राधारवन ।
सर्वोपरि सर्वेश गुरु रसिकराय मंगलभवन ।[1]

यहां भी सखियों को गोपियों से ऊपर रखा गया है । सर्वोपरि है राधा-रमण का नित्यविहार, जिसकी आधार हैं सखियां । सखियों के विना नित्य-विहार सम्भव नहीं है । उन्हीं की कृपा से जीव को नित्यविहार की पहिचान हो सकती है ।[2]

सखीतत्व

सखीभाव की उपासना ऐकांतिक प्रेमोपासना है । प्रेम ही यहां का इष्ट-देवता है, प्रेम ही यहां साधन है । प्रेमी को प्रेम से पहिचान कर प्रेम हृदय में धारण करना चाहिये ।[3]

प्रेमी दम्पति नित्य ही प्रेमलीला में रत है । प्रेम के उत्साह में भरकर प्रेम के ही वचन बोलते हैं, प्रेम के ही अद्‌भुत वसन, भूषन शरीर पर धारण करते हैं । सखी ही उन प्रेममूर्ति के केश अपने हाथों से संवारती है ।[4]

सखी कौन है ? उसी परात्पर प्रेम का एक स्वरूप सखी है । प्रेम-रूप नित्य वृन्दावन धाम में नित्य निकुञ्जविहार में वर-वाम विवश हो रहे हैं । प्रेम-रूप सहचरी की संपत्ति ये वर-वाम हैं । सखी उनका रूख देख कर सर्वदा सेवा में प्रस्तुत रहती है:—

प्रेम-रूप श्रीजुत वृन्दावन धाम है ।
नित्य निकुञ्ज विहार, विवस वर बाम है ।

---

[1] अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, भगवत रसिक, कानपुर, पद सं० ४५, पृ० १२ ।

[2] इन सबकें पर तें परे महामधुर रस जानि ।
किसोरदास सहचरि विना होत न तनिक पिछानि ।
सिद्धांत-रत्नाकर, सं० ६४४ पृ० ६०

[3] प्रेमलक्षणा भक्ति प्रेम प्रण पारिये । प्रेमी प्रेम पिछानि प्रेम उर धारियै
इत्यादि, आनन्दसत, सिद्धान्त रत्नाकर पृ० २५३

[4] प्रेम रूप दंपती परसपर केलहीं, इत्यादि । वही, पृ० २५२ ।

प्रेम-रूप सहचरि संपति वर वाम कै।
हरि हां, दास किसोर सखी सेवत रुख जानि कै।[1]

यह प्रेम परात्पर प्रेम है। नित्य तत्त्व है। अतः प्रेम के ये सभी स्वरूप नित्य हैं। श्री विहारी-विहारिनि नित्य हैं। इनका परस्पर का स्नेह नित्य है। निकुञ्ज नित्य हैं। सखी-सहचरी नित्य हैं। इस नित्य आनन्द की उपासना भी नित्य है।

नित्य विहारिनि नित्य विहारी।
नित्य निकुञ्ज मंजु सुख पुंजनि, नित्य नेह उपचारी।
नित्य सखी-सहचरि, संपति वन, नित्य मोद मनुहारी।
नित्य उपास किसोरदास बसि नित आनन्द उदारी।[2]

श्री प्रिया-प्रियतम की प्रेम-लीला को निष्पन्न कराने वाली ये सखियाँ ही हैं। लीला में जितने भी सूक्ष्म से सूक्ष्म उपकरण हैं, वे सब सखियों के ही रूप हैं। सखियाँ ही समस्त प्रेम धाम, प्रेम धर्म, प्रेम धन की मूल हैं। समस्त प्रीति-आह्लाद की सीमा वे ही हैं।[3]

लीला-वेलि के कारण ये सखियाँ विहारी-विहारिनि रूपी विचित्र बीज को अपने प्रेम-जल से सींचती हैं। वे कोक-कला-गुण-गान करती हैं, तभी प्रफुल्लित होकर श्याम तमाल से कनक-वेलि के समान श्री विहारी से विहारिनि लिपट कर लीला-मग्न हो जाती है।[4]

सखियाँ प्रेम-लीला में प्रेरक प्रेम का स्वरूप हैं। श्यामा-श्याम तड़ित और घन के समान हैं। इन दोनों की क्रीड़ा तभी हो सकती है, जब पवन-

---

[1] आनन्द सत, सिद्धान्त रत्नाकर, किशोरदास,
वृन्दावन, पद सं० ३७, पृ० २५२

[2] सिद्धान्त सार संग्रह, किशोरदास, पृ० २१५।

[3] सहचरि सब कौ मूल है, दास किसोर सु अङ्ग।
परमप्रीति आह्लाद हद, धाम धर्म धन संग।
सिद्धांत सरोवर, सि० र०, सं० १०१, तृ० १०

[4] सखी यह कौतुक देखो आय।
... ...
प्रेम सलिल सखि सींचहीं हो, कोक कला गुण गाय।
बीज विचित्र विहारी विहारिनि नाम ललित सरसाय।
अनन्य निश्चयात्म, भगवतरसिक, पृ० ३८

रूपी सखी नभ में मेघ को उपस्थित करें, संघट्ट से तड़ित के दर्शन हों फिर दोनों की क्रीड़ा हो। दोनों को मिलाने और अलग करने का काम भी पवन का ही है। जब प्रिया-प्रिय प्रेम में अत्यंत विसुध हो जाते हैं, पवन रूपी सखी उनको विलग करती है, सचेत करती है। तथा पुनः क्रीड़ा में प्रवृत्त करती है।[1]

प्रिया-प्रियतम की लीला की जो कामना अथवा इच्छा है, वह भी सखी का ही सूक्ष्म रूप है। जब-जब युगल की इच्छा होती है, उन अभिलाषाओं की अगणित शाखाएँ सखी-रूप धारण कर लेती हैं। इच्छा-सखी दोनों के अंगों को परस्पर मिलाती हैं और छवि की तरंगें उठने लगती हैं। प्रिया-प्रिय अङ्ग-अङ्ग से समाते जाते हैं। उन्हें परस्पर कुछ भी स्मृति नहीं रह जाती है :—

हित की सखी संग हितकारी। सुरति सखी हिय सेज संवारी॥
दोऊ उर की जो अभिलाषा। ताकी भई जु अगनित साखा॥
चाह सखी लै मिलवत अङ्गा। ज्यों-त्यों छवि के उठत तरंगा॥
आपु-आपु में मिल-मिल जाहीं। तन की सुरति रहै कछु नाहीं॥[2]

प्रिया-प्रियतम दोनों का विहार कराने में सखियों को आनन्द मिलता है। उसी प्रेम से उनका हृदय भरा रहता है। आनन्दाश्रु उनके हृदय पर ढुलक आते हैं। रूपभरी सखी की यह प्रेम-मग्न दशा अत्यंत छविमय होती है।[3] रस में मग्न सखी के तन मन में वही भाव आविष्ट रहता है।[4] उनका

---

[1] सखी सख्य मारुत, तड़ित घन वन स्यामा स्याम।
दासकिसोर मिलाप करि, अमिलत परम सकास।

सिद्धांत-सरोवर, सि० र०, पृ० ९.

[2] रससार, रसिकदास कृत, सिद्धान्त-रत्नाकर में संकलित, पृ० १२।

[3] आनन्द-आँसू उर पर ढरे, प्रेम न हिये समाय।
रूप भरी नख सिख सखी, छलकत छवि रही छाय।

विहारिनिदास, साखी ११८

[4] नख-सिख तें रस-मगन मन, तन तिहिं कृत आवेस।
विहारीदास लोचन ढरें, सोहत सहज सुदेस।

विहारिनिदास साखी, ११९

अङ्ग-अङ्ग प्रेम के सुरंग रंग में रंगा हुआ है। विहारी-विहारिनि के सुख में ही सखियोंका अभंग अनुराग निहित है।[1] लाल-ललना के इस प्रेम-मिलन पर वे अपने तन-मन-प्राण न्यौछावर करती हैं।[2]

लाल-ललना की अन्तरंग लीला में भी निजसखी का प्रवेश रहता है। ललित लताओं के नीचे सुमन-सेज पर पौढ़े रति-समर में प्रवृत्त श्यामा-श्याम का व्यजन सखी करती हैं।[3]

सुरति-सुख में सोये श्यामा-श्याम के चरण पलोट कर सखी अपने को तृप्त करती हैं। विभिन्न प्रकार की अन्य सेवाओं के साथ ही सुरति-प्रसंग को संपन्न कराती हैं विहार का अत्यधिक आवर्त होने पर, काम की तरुण तरंगों में पड़े श्यामा-श्याम सखियों के बल से ही तैर पाते हैं।[4] अन्यथा वे प्रेम में पुनः अद्वय हो जायें। अद्वय को लीला के लिये द्वैत करना और द्वैत को अद्वैत बनाये रखना यह सखियों का ही कार्य है। वे श्यामा-श्याम को सुरति-तरंगों के किनारे लाती हैं, उन्हें, धैर्य देती हैं, उनका श्रम-निवारण करती हैं।[5] इस प्रकार निरन्तर नित्यविहार चलता रहता है। नित्यविहार

---

[1] अङ्ग-अङ्ग प्रेम सुरंग रंग्यौ, मन निरख्यौ इक अंग।
विहारी विहारिनि दासि संग, सुख अनुराग अभंग।
विहारिनदास, साखी १२०।

[2] हौं वारी, वलिहारी करौं, अपने तन मन प्रान।
तुम वे-वे तुम एक हौ, वलि मोसों कहा सयान।
विहारिनदास, साखी १२३।

[3] पौढ़े ललित लतान तरे।
सुमन सेज सुखरासि सनेही, अधरनि अधर धरे।
उरजनि उरज, जोरि कटि सों कटि, लपटि भुजानि भरे।
यह रसमत्त मगन मन सोये, 'भगवत' व्यजन करे।
अनन्य निश्चयात्म, भगवतरसिक, ४३

[4] तरुन तरंगनि में परे उरझे वार सिवार।
पैरत साहस सखिन के अति आवर्त विहार। विहारिनदास, साखी १२९

[5] स्रमहिं निवारत कर धरत, कबहूं लावत तीर।
विहारीदास हुलास मन, देत अधीरनि धीर। विहारिनदास, साखी १३०

प्रिया-प्रियतम के लिये भी उतना ही आवश्यक है, जितना मत्स्य के लिये जल और सखियों के लिये तो एकमात्र नित्य विहार ही आहार्य है।[1]

लीला में कभी-कभी मान की स्थिति भी आती है। वहाँ भी सखी ही लाल-ललना की मध्यस्थता करती है। प्रिया रुष्ट हो जाती हैं तो प्रिय का साहस नहीं होता कि वे सीधे प्रिया से ही अपना कोप छोड़ने की प्रार्थना करें, अपितु वे ललिता सखी से ही प्रार्थना करते हैं कि "मेरा अपराध तो लाड़िली बता दें। वे व्यर्थ ही रस में विरस घोल रही हैं। मेरा धीरज टूटा जा रहा है। तुम ही तनिक स्वामिनी जी को मना दो"।[2]

श्रीराधा ने प्रियतम के हार में अपनी परछाईं देखी और मान कर बैठीं। श्रीविहारीजी के पक्ष की साक्षी कौन दे, तब हरिदासी-सखी को ही उन्होंने अपने साक्ष्य में आगे बढ़ाया।[3]

प्रेमलीला में सखी का इतना महत्त्व है कि श्यामसुन्दर को भी सखी की प्रार्थना करनी पड़ती है। राधा प्रियतम को ललिता के पास उनके पैरों पड़ने के लिये भेज देती हैं।[4] स्वयं प्रियतम सखी के महत्त्व को देख कर सखी की दशा को पाने की प्रार्थना करते हैं।[5]

सखियाँ नित्य विहार की विधायिका हैं और नित्य विहार उन्हीं के लिये है। नित्यविहार में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ सखियाँ किसी-न-किसी रूप में उपस्थित न हों। कहीं-कहीं सखियों से परे भी सुरति-लीला का वर्णन मिलता है, परन्तु वहाँ भी सखियाँ पट, भूषण, अनुराग, षट्ऋतु आदि के रूप में नित्य ही अवस्थित रहती हैं। कहीं भी हों, किसी भी रूप में हों, श्याम-श्यामा का भोजन-पान, सुरति-विहार सभी कुछ ललिता के ही आश्रय में सम्पन्न होता है :—

---

[1] विहारिनदास, साखी १३१।

[2] अनन्य निश्चयात्म, भगवत रसिक, पृ० ४९

[3] केलिमाल पद सं० २५।

[4] लाल एती चतुराई कहं पाई ?

+ \+ \+

'भगवत' पांइ परौं ललिता के, राज करौ चिर सुखदाई।

अनन्य निश्चयात्म० पृ० ४५

[5] विहारिनदास की साखी ११५.

पट, भूषण, अनुराग सहज श्रृंगार युगल उर।
रस निधि रूप अनूप वैस ऐश्वर्य गुननि गुर।
लीला षटऋतु दान मान मंजुल मन मोदी।
भोजन सैन विहार करैं, ललिता की गोदी।[1]

विशुद्ध सखीभाव की उपासना वस्तुतः रति-काम की उपासना है। परन्तु यह रति-काम प्राकृत न होकर दिव्य है। उपासना के पाँचों व्यापक तत्त्व उस रति-काम के ही स्वरूप हैं। सखी भी वास्तव में उसी का एक रूप हैं। श्री भगवत-रसिक कहते हैं कि व्यापक दिव्य काम, सहचरि, ऐश्वर्य, पूज्य और आचार्य उपासना के ये पाँच अंग रतिकाम के ही रूप हैं। दम्पति के शरीर में दोनों ओर जो विपुल प्रेम व्याप्त है, वह काम का स्वरूप है। वही काम सहचरी रूप होकर अपने नयनों से अपनी संपत्ति 'प्रिया-प्रियतम' की सेवा करता है। लीला-विलास में समस्त ऐश्वर्य उसी पंचशर कामदेव का है। यह कामदेव ही संसार-पूज्य इष्टदेव के रूप में विराजमान है। आचार्य अर्थात् स्वामी हरिदास जी स्वयं सखी रूप होने के कारण कामदेव के रूप हैं, इस प्रकार यह सब रति और काम का ही प्रसार है :—

विवि तनु व्यापक विपुल प्रेमबस कीने दम्पति।
सेवत सहचरि रूप सहज नैननि की सम्पति।
मीनकेत ऐश्वर्य सुमन सर सारंगचारी।
जगत पूज्य हे रम्य सर्व सुख मंगलकारी।
आचारज भगवत रसिक, कहैं गूढ़ गुणधाम के,
विश्वविदित आनंद में पांच रूप रतिकाम के।[2]

परन्तु यह रति-काम प्राकृत रतिकाम नहीं है, यह सदैव स्मरण रखने की आवश्यकता है, सखियों में स्वसुख-कामना बिलकुल नहीं है, वे जो कुछ भी करती हैं, दम्पति के प्रीति-विधान के लिये ही करती हैं। वे दम्पति के सुख में सुखी हैं, प्रियतम के तनिक अकुलाते ही उनकी सहायता करती हैं।[3]

---

[1] अनन्य निश्चयात्म, पृ० १६-१७

[2] अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवतरसिक, पृ० ७९-८०.

[3] दंपति के सुख में सुखित, संपति सुतन बनाइ।
किसोरदास सहायक बनें, जब प्रीतम अकुलाइ।
सिद्धान्त सरोवर, सि० र०, पृ० ९

स्वसुख-कामना रहते सखीभाव की साधना नहीं हो सकती।[1] स्वसुख छोड़ कर तत्सुखी होना ही वास्तव में सच्ची उपासना है, तभी इष्ट का दर्शन होता है।[2] यदि और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सहचरी का चित्त ऐसा निर्विकार है कि वहां तत्सुख और स्वसुख एक हो गये हैं। इसकी पराकाष्ठा तत्सुख में ही स्वसुख की अनुभूति होना है। प्रिया-प्रिय के सुख और सखी के सुख में भी रंचमात्र भेद नहीं है।[3]

प्रिया-प्रियतम और सखी दोनों का मन एक है। सखी के मन की तदाकारता है, तत्सुख में ही तदाकारता है, सखी का यही स्वरूप है। स्वामी हरिदासजी के स्वरूप-कथन के माध्यम से रूपसखी ने सखी का स्वरूप ही बताया है।[4] इस तदाकारिता का ही परिणाम है कि सखी और दम्पति दोनों के मन में एक ऐसा सूत्र लगा हुआ है कि जो कुछ सखियां गाती हैं, लाड़िली-लाल वही करते हैं और जो कुछ लाड़िली-लाल करते हैं, सखियां वही गाने लगती हैं। दोनों ओर ऐसा सूत्र है, जैसा कमल और सूर्य में होता है। ललित-लीला-विहार श्याम श्यामा के मन को भाता है और सखी (उपासक) उसे प्रतिदिन गाती हैं।[5]

---

[1] ततसुख विन सुख ना लहै, इष्ट गहत कर नाहिं।
किसोरदास क्यों हो सकै, अपसुख सुखित रहाहिं। वही, ६३१, पृ० ५९।

[2] सुखित होत अपसुख तजै, संतत ततसुख होय।
किसोरदास तव हो सकै, इष्ट परसि दृग जोय। वही, ६३२, पृ० ५९।

[3] निर्विकार सहचरि समुझि ततसुख सुखित सुजान।
ततसुख ही निज सुख गिनत, दास किसोर निदान। वही, ६३९, पृ० ५९।

[4] निज निकुंज दंपति सुरति, निरखत केलि सुरास।
तदाकार ततसुख सुखी, श्रीस्वामी हरिदास।
रूपसखी की वाणी, सि० र०, ३८, पृ० २०।

[5] गावैं हम सोई करैं सहज लाडिली लाल।
करैं लाडिली लाल सो हम गावैं ततकाल।
हम गावैं ततकाल सूत दुहुं दिसि कौं ऐसौ।
बुध जन लेहु विचार, कमल दिनकर कौ जैसौ।
लीला ललितविहार, श्याम श्यामा मन भावैं।
भगवतरसिक अनन्य उपासक अनुदिन गावैं।
अनन्य निश्चयात्म, २, पृ० ८२।

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि विशुद्ध सखीभाव में सखी के स्वकीया अथवा परकीया होने का प्रश्न ही नहीं उठता, जहाँ पूर्णतः तत्सुख भाव की उपासना हो, साथ ही किसी कारण से भी प्रिय के साथ रमण न हो, वहां कान्त-भाव नहीं हो सकता। यहां उपास्य दम्पति हैं, इसलिये स्वकीया परकीया भेद से ये सखियां विवर्जित हैं, जहां तक स्वामी-श्यामा का संबंध है, उनके संबंध में भी स्वकीया-परकीया से परे का सिद्धान्त ही इस संप्रदाय में मान्य है। श्री भगवतरसिकजी बड़े आग्रहपूर्वक इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि किसी ने स्वकीया और किसी ने परकीया मतवाद की कल्पना कर रखी है, परन्तु भगवतरसिक की 'जुगल जोरी' तो अनन्त अनादि जोरी लोक-रीति से पूर्णतया विलक्षण हैं। श्रुति, स्मृति को अलग रख कर अपनी अनुभव की आंखों से इसे देखना चाहिये, ये दोनों सहज माधुर्य प्रेम में अनुरक्त रहते हैं। वहां ललिता सखी के प्रसाद के बिना कोई भी नहीं जा सकता।[1] स्वामी हरिदासजी के समक्ष इस नित्य अविचल अनादि जोरी का ही प्राकट्य हुआ था।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वामी हरिदास नित्य दम्पति के उपासक थे, जहां स्वकीया-परयीया का भेद संभव नहीं है, भगवतरसिक की उक्त साक्षी के प्रकाश में इस मत पर पुनर्विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है, जहाँ लिखा गया है, "हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि स्वामी हरिदासजी ने विशुद्ध कोटि का नित्यविहार गाया है। हां, स्वकीया की भावना

---

[1] कोउ सुकिया कोउ परकिया, कलप किये मतवादि'।
जोरी भगवतरसिक की नित्य अनन्त अनादि।
नित्य अनन्त अनादि लोक तें रीत विलक्षण।
श्रुति संमृति बिलगाय, देखि अनुभव के लक्षण।
सहज प्रेम माधुर्य रहत अनुरागे दोऊ।
ललिता सखी प्रसाद बिना तहं जात न कोऊ।

अनन्य निश्चयात्म, ४, पृ० ८२, ८३।

[2] माई री सहज जोरी, प्रगट भई रंग की गौर-स्याम घन-दामिनि जैसे।
प्रथम हू हुती, अबहू, आगे हू, रहि है, न टरिहै तैसे।
अङ्ग अङ्ग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसे।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा, कुंजविहारी सम बैस वैसे।

केलिमाल, स्वामी हरिदास, १।

उसमें अवश्य है, जिसे स्वामी जी भी नहीं छोड़ सके हैं।"[1] इस संबंध में पुनः यह समझ लेना चाहिये कि जहां श्रीराधा का जन्म, वयस् का क्रम-विकास, वयः संधि आदि हैं, वहीं जोरी वनने की वात होती है। वहीं देखना होता है कि वह जोरी स्वकीया है या परकीया ? स्वामी हरिदासजी के संप्रदाय में तो स्वकीया परकीया से वहुत ऊपर की कोटि की नित्य दम्पति की भावना है, ऐसा ज्ञात होता है।

सखियों में यहां रिरंसा नहीं है, उनके उपास्य युगल-किशोर हैं, इन दोनों के प्रति सखियों की निष्ठा अनन्य हैं। जितने भी संबंध-भाव हो सकते हैं, वे सव भाव इन सखियों के हैं। शान्त, दास्यादि सभी में सखियों का प्रवेश संभव है, परंतु इन भावों का प्रवेश यहां संभव नहीं है।[2] सखियों का युगल दंपति के प्रति पति-पत्निवत् भाव भी कहा जाता है।[3] इस 'वत्' शब्द के प्रयोग का कारण यही है कि युगल दंपति के प्रति उनकी वैसी ही अविचल निष्ठा हैं, जैसी पत्नी की अपने पति के प्रति होती है।

अनेक संप्रदायों में इष्ट के प्रति आत्मवत् भाव को चरम सीमा माना गया है परंतु स्वामीजी 'तद्वत्' भाव को ही अंतिम भाव मानते हैं। जो कुछ प्रिया प्रियतम करते हैं, उसी को देखकर प्रतिक्षण तन्मय रहना, यही उनकी उपासना का चरम साध्य है, उसके अतिरिक्त उनकी और कोई आत्म-कामना नहीं है, व्रजभाषा के एक गद्य ग्रंथ 'महानुभावन की चरचा' में तत्कालीन भक्ति-आचार्यों के सिद्धांतों का कथन किया गया है, जिसमें अन्त में स्वामी हरिदासजी अपने सिद्धान्त का कथन निम्न प्रसंग में करते हैं :—

"जव अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास जू विराजमान हैं यह सव उनके मुखारब्यंद की ओर चाहि रहे, मन में चाहत हैं। ज्यों आप कछू श्रीमुख तें आग्या करें। श्री स्वामीजी मन जानि वोले, जो हमारे वाद विवाद कछू है नहीं, हमारी उपासना सवतें न्यारी है। जव ये सवही चौंकि विनती करी, श्री

---

[1] राधावल्लभ संप्रदायः सिद्धान्त और साहित्य, डा० स्नातक, पृ० २३९।

[2] सान्ति दास्य सख्यादि मधि सहचरि करत प्रवेस।
सखी भाव कौ यह सबै किंचित लहै न लेस।
सिद्धान्त सरोवर, सि० र०, १०४, पृ० १०

[3] किसोरदास निज इष्ट तें पति पत्नीवत प्रीति। वही, ९९४, पृ० ९२।

महाराज कैसे? तब आग्या करी, जो तुम्हारे सबके अपनी-अपनी चाह सों भाव है, जैसे दोऊ विहारी-विहारिनि सुख विलसैं हैं, ताकूं हम देखिवौ करैं हैं।"[1]

उक्त उद्धरण से सखी-संप्रदाय की सखियों की तन्मय-भावना का अनुमान किया जा सकता है। भाव-तल्लीनता की यहां यही चरमावधि मानी गई है। अतएव परकीया, स्वकीया, अथवा वात्सल्यादि संबंध-भाव यहां वस्तुतः अपना कुछ भी अस्तित्व नहीं रखते। जब जो प्रिया-प्रियतम चाहते हैं, सखी तत्क्षण वैसा ही कार्य करती हैं।

हरिदासजी के सखी-संप्रदाय में सखीतत्व का विस्तार तो बहुत है परन्तु सखी-समूह के विस्तृत वर्णन नहीं हैं। इसका कारण है कि उपासक का निज भाव सखीभाव है अतः उसका अत्यधिक विस्तार आत्म-रूप का विस्तार ही माना जाता है। यदि सखियों का दर्शन ये उपासक कुछ दूर से करते तो यहां भी अनेक यूथ, समूह, सखियों के नाम, वस्त्र, वर्ण एवं अन्य वर्गीकरण होते परन्तु ये उपासक तो नित्यविहार के अतिरिक्त और कुछ गाते ही नहीं, उस विहार में सखी का जितना स्थान है, सखी का उतना ही गुण-रूप उन्होंने वर्णित किया है, अलग से विस्तार यहां नहीं हैं। गोपी के संबंध में यही स्थिति श्रीमद्भागवत की है। यहां गोपीभाव की परम प्रशंसा है, अतीव महत्ता है परन्तु गोपियों के विभिन्न नाम, यूथादिक वहां नहीं हैं। वहां भी दृष्टि उपास्य पर केन्द्रित है। सखियों के विभिन्न विस्तार प्रायः पुराणों और तंत्र-ग्रंथों में पाये जाते। व्रजलीला में विभिन्न सखियों की क्रीड़ा और रमण का दर्शन भी हमें होता है अतः वहां भी सखी स्वरूप, नाम, धाम आदि का विस्तार है। तात्पर्य यह है कि सखी-संप्रदाय में सखीभाव की प्रधानता तो सर्वत्र है, परन्तु सखी-रूपादि का विस्तार नहीं है। एक ही नाम में सब कुछ केन्द्रित है।

सखी के पर्याय.

इस संप्रदाय में सखी,[2] सहचरी,[3] सहेली,[4] अलि[5] अथवा

---

[1] महानुभावन की चरचा, सिद्धान्त रत्नाकर, वृन्दावन, २०१३, पृ० ३८, ३९

[2] जागत ही जागत गई निसि वीत हौं सब देखि सखी सुख दैन।
विहारिनदास रस० २

[3] सखी सहेली सहचरी श्रीहरिदासी सुखरासि। बिहारिनदास पद सं० १६३

[4] सुनहु सहेली प्रेम गहेली कौतिक एक दिखाऊँ। वही, पद सं० १६९

[5] निरखि थकित भई सखी सब मेरी आली...इत्यादि। केलिमाल पद सं० ६३

वनिता,[१] रवनी,[२] युवती[३] आदि शब्द सखी के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं ।

नाम·

सखी-संप्रदाय में सखियों के विभिन्न नाम नहीं मिलते, केवल एक सखी ना नाम मिलता है, वह है ललिता[४] । ललिता को निज सखी, प्रेम सहेली[५] प्रिय सखी,[६] आदि नामों से भी पुकारा जाता है । शेष सखी-समूह को ललितादिक[७] कह दिया जाता है ।

संप्रदाय में ललिता की प्रधानता है । संप्रदाय की आचार्य भी ललिता हैं[८] स्वामी हरिदास को लतिला सखी का अवतार माना जाता है ।[९] इसलिये ललिता के अतिरिक्त और किसी नाम की यहां आवश्यकता नहीं पड़ी है, ऐसा जान पड़ता है ।

एक बात पुनः ध्यान दिलाने योग्य है । निकुंज की ललिता सखी ब्रजलीला की ललिता गोपी नहीं हैं । ब्रज निमित्त है, निकुंज नित्य है । ब्रज कार्य है, नित्य विहार उसका कारण है ।[१०] नित्य और निमित्त को आपस में मिलाना नहीं चाहिये ।[११] यही स्थिति ललिता की समझनी चाहिये । दोनों पूर्णतया भिन्न हैं, केवल नाम-साम्य है ।

---

[१] ताल धरै वनिता मृदंग चन्द्रागति वाजै थोरी थोरी । केलिमाल ३३

[२] इत अवनी रवनी पिय मुख सुख दरसन कौ ।
विहारिनदास, पद सं० ५२ पृ० ११९

[३] नृत्तत जुगलकिसोर जुवति जन, श्रुत घुर राग केदारौ मच्यौ । केलिमाल ५२

[४] समय पाय भाषा विचित्र ललिता गायन चित चोरी । केलिमाल ३३

[५] प्रेमसहेली सों मिलि श्री स्यामा मोहिं मिलाव । बिहारिनदास, पद सं० १७३

[६] विविध सिंगार लियैं आगें ठाढी प्रियसखी । केलिमाल १०३

[७] ललितादिक सखी मिलि चलीं । विहारिनदास, रस० पद सं० १६३

[८] आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप ।
अनन्य निश्चयात्म, पृ० ४३, ४४

[९] ललित प्रिये प्रगटीं सहज अद्भुत केलि के काज । ललितकिशोरी, साखी ६०

[१०] राधा नित्यविहारिनि रानी ।
कारन तें कारज ब्रज प्रगटत, सोइ विनहूं न जानी ।
अनन्य निश्चयात्म, पृ० २१४

[११] अनन्य निश्चयात्म, भगवतरसिक, । पृ० ८१

संप्रदाय के एक रसिक भगवतरसिक जी ने एक स्थान पर सोलह सखियों के नाम गिनाने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा उल्लिखित नाम इस प्रकार हैं:—

गजगामिनि, द्युति दामिनी, पृथु नितम्बिनी बाल।
कटि केहरी, कृसोदरी, पीनस्तनी रसाल।
दरकंठी, बिंवाधरी, दाडिम दसनी वीर।
पिकवैनी, मृगलोचनी, ससिवदनी रस सीर।
भुज मृणाल, भृकुटी धनुष, कदली जघन सुधाम,
नख-तारागण सहचरी के शुभ सोरह नाम।[1]

ऊपर लिखे गये नाम वस्तुतः नाम नहीं, गुणात्मक विशेषण हैं, जिनमें से अधिकांश शारीरिक सौन्दर्य से संबंधित हैं। वस्तुतः नित्यविहार में गुण ही नाम है, तत्व ही रूप है। स्थूल वैविध्य यहां नहीं है, अतएव ब्रज की गोपियों के नामों की चर्चा यहां बिलकुल नहीं।

संख्या

सखियों की संख्या पर भी इस संप्रदाय में बल नहीं दिया गया है। आठ, सोलह, हजार, दसहजार की संख्या यहां बार-बार नहीं गिनाई गई है। भगवतरसिक जी ने अवश्य सोलह सखियों की बात कही है परन्तु ये सोलह सखियां भिन्न-भिन्न गुणों की प्रतीक प्रतीत होती हैं। अन्यत्र ऐसा भी प्रायः नहीं है। अधिकांश में, यहां सखी-समूह कह कर सखियों को एक प्राण, एक रूप, एक भाव में ही केन्द्रित रखा गया है।

माता-पिता

नित्य सखी भी प्रिया-प्रियतम की भांति जन्म-मरण से परे हैं। अतः उनके कोई माता-पिता भी नहीं हैं। वे जिस नित्यविहार की अंग हैं, उसका बीज-बकुला कुछ भी नहीं है।[2] वह अनादि और अनंत है। तब सखियों के जन्म-मरण की बात का भी कोई अर्थ नहीं होता।

---

[1] वही, पृ० २४

[2] नहिं बकुला नहिं बीज है, अद्भुत रस है आहि।
ललितकिशोरीदास, साखी ३०

वयस्

नित्य वृन्दावन धाम में काम का प्रवेश संभव नहीं है। वहां प्राकृत रात-दिन नहीं होते, अतः वहां न तो कोई व्याधि है, न वृद्धावस्था है, न वहां बाल अथवा तरुण अवस्था का भोग है।[1] लीला के लिये सभी सखियां नित्य षोडशी हैं, नित्य युवती हैं।

वर्गीकरण

गुण, अवस्था, स्रोत आदि के क्रम से जो विस्तृत वर्गीकरण गोपियों के मध्य संभव है, वह इन सखियों में नहीं है। सखीतत्त्व तत्वतः एक ही भाव, एक ही स्वरूप है। सखीतत्त्व एकात्म तत्त्व है, उसमें भिन्नता नहीं है। यदि भिन्नता प्रतीत भी होती है तो वह लीला के ही विभिन्न रूप हैं, कुछ सखी-तत्त्व के नहीं, सेवाक्रम में भी जो भिन्नता है, वह भी लीलानुसार है। श्री ललिता कभी गान करती हैं, कभी ताम्बूल लाकर देती हैं, कभी प्रिय के चरण दबाती हैं, कभी प्रियतमा का शृगार करती हैं। ये सभी सेवाएं हैं, इनसे तत्त्व में अन्तर नहीं आता। कभी श्री ललिता श्याम के पक्ष की कोई बात कहती हैं, कभी श्री राधा के पक्ष की, यह सब लीला-वैचित्री के संपादन के लिये।

होरी के एक पद में बिहारिनदास जी ने गोरी-सांवरी सखियों की बात कही है। परन्तु वहां भी एक कौतुक मात्र है। होली खेलने में बड़ा आनन्द आया, सभी सखियों को बुला लिया गया। श्री प्रिया जी ने पूछा, इनमें गोरी कौन हैं और सांवरी कौन हैं? श्याम ने उत्तर दिया, ये सभी गोरी हैं और मन इनका श्याम है। अन्तरङ्ग-माधुर्य ही इन सब बातों का रहस्य है।[2]

---

[1] तुष्टि पुष्टि तासों रहे, जरा न व्यापै रोग।
आउ अवस्था युवा पुनि, तिनकौ करैं न भोग। अनन्य निश्चयात्म, पृ० १४

[2] होरी खेलत रंग रह्यौ सब गोरी लई बुलाइ।
को गोरी, को सांवरी, मोसों कहौ समुझाइ।
स्याम कहै गोरी सबै, गोरी के मन स्याम।
निरखि बदन तन में भये, यों सुफल किये सब काम।
बातनि रहसि बहसि बढी, इहि विधि खेले फागु।
अपने रसिकनि की रस, रीति को प्रकट कियौ अनुरागु।
बिहारिनदास रस० १६३, पृ० १३९

भगवतरसिक जी ने भी गोरी-सांवरी सखियों का वर्णन किया है। उन्होंने कहा है, आस-पास रंगभीनी सोलह सखियां हैं, जो गौर अथवा श्यामवर्ण की अभिराम रूप, गुण और किशोर वयस् वाली हैं। गोरी सखियां श्याम की सेवा करती हैं और श्याम सखियां राधा की।[1] यह भी लीला-वैचित्री है।

सखियों का एक महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण नित्यसिद्धा और साधनसिद्धा के रूप में हो सकता है परन्तु यहां उस पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। सखियां नित्यसिद्धा हैं, यह सत्य है परन्तु सखीभाव से उपासना करने वालों को जो सखी-रूप प्राप्त होता है, उन्हें साधनसिद्धा कहा जाना चाहिये। इस संप्रदाय में नित्यविहार माना ही गया है नित्यसिद्धों के लिये :—

"नित्यविहार नित्यसिद्धन कों तू क्यों मूंड़ मुँड़ावै।"[2]

सखी-तनु को प्राप्त कर नित्यसिद्ध साधक इन नित्यसिद्धाओं में ही मिल जाता है। अतः यहां यह वर्गीकरण भी नहीं है।

इस संप्रदाय के एक महात्मा रसिकदास ने अपने 'रससार' नामक ग्रंथ में नित्यसिद्धा और साधनसिद्धा ये दो भेद किये।[3] उन्होंने मुनिकन्या, ऋषिकन्या और श्रुतिकन्याओं को साधनसिद्धा कहा है।[4] ये भेद संभवतः उज्वल-नीलमणि के आधार पर किये गये हैं। इसी ग्रंथ में उन्होंने तत्सुखी और स्वसुखी ये दो भेद भी किये हैं।[5] परन्तु पूर्ण प्रसंग देखने से ज्ञात होता है कि यह वर्गीकरण वन-उपवन के बाहर नन्दकुमार की क्रीड़ा में भाग लेने वाली गोपियों का वर्गीकरण है।[6] सखीतत्व में किसी प्रकार का विभेद नहीं, वह एकाग्र भाव है।

---

[1] अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवत रसिक, पृ० २४

[2] नागरीदास जी की साखी सं० ८।

[3] नित्यासिद्धा जे हैं सखी। साधनसिद्धा न्यारी लखी।
रससार, सि० र० ३६, पृ० १४

[4] मुनिकन्या ऋषि कन्या जितीं। श्रुतिकन्या साधनसिधा तिती।
नित्यसिधा गोपकन्या जानों। श्रीकृष्ण अनादि तैसें ये मानो।
वही, ३७, पृ० १४

[5] ततसुख सखी एकैं सुख पागैं। तिनके भेद कहौं अब आगैं।
सुसुख सखी कहावै तौन..............इत्यादि। वही, पृ० १४, १५

[6] वन उपवन बाहिर की लीला। नंदकुमार करत जहँ क्रीला।
इत्यादि, वही, पृ० १४।

सखियों का रूप-शृङ्गार

सखीतत्त्व को प्रेमलीला के मध्य साकार रूप में देखा गया है। सखी किशोरी युवती का स्वरूप है। अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण धारण कर सखी सेवा करती हैं। प्रायः सभी संप्रदायों में सखियों के लम्बे-चौड़े ध्यान वर्णित हैं, परन्तु सखी-संप्रदाय में सखी के नखशिख का वर्णन विरल ही है। जैसा पीछे कहा जा चुका है, सखी स्वयं के स्वरूप की प्रतिनिधि होती है, इसलिये प्रिया-प्रियतम के वर्णन के अतिरिक्त अवकाश न पा सकने वाले इन कवियों ने प्रायः सखियों का रूप-वर्णन नहीं ही किया है, प्रसंगवश अवश्य उनके स्वरूप और वेश की चर्चा आ गई है।

श्री विहारिनदास जी ने एक स्थल पर सखी-वेष का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। इस वर्णन का चातुर्य भी अपने आप में विशिष्ट है। सखी का रूप-वर्णन भी है, साथ ही प्रिय के रूप पर भी दृष्टि लगी हुई है। प्रसंग यह है कि एक बार मदनमोहन अपना वेष बदलकर, सखी-वेष धारण कर, अपना नाम सांवरी सखी कर श्रीराधा से मिलने निकले। उन्होंने सर्वप्रथम प्रेमसहेली को पकड़ा और उनसे प्रार्थना की कि मुझे श्री श्यामा जी से मिला दीजिये। प्रेमसहेली ने कहा, तुम्हें मेरा स्वभाव धारण करना होगा। मिलने बोलने का ढंग इस प्रकार का होगा, जिससे हृदय में चाव उत्पन्न हो सके। श्याम ने यह स्वीकार कर लिया। प्रेम-सहेली का दांव आज अच्छा था। उन्होंने निकुञ्ज में आकर श्याम को पूर्णतः सखी बना दिया। सखी के पूर्ण शृङ्गार भी कर दिये। शृङ्गार की यह शोभा श्री विहारिनदास जी के पद में ही देखियेः—

मनमोहन वेष पलटि चले, सांवरी सहेली अपनौ नांव बनाइ।
प्रेमसहेली सौं मिलीं, श्री स्यामा मोहिं मिलाइ।
प्रेमसहेली यों कह्यौ मेरौ सीखि सुभाव।
यों मिलियै, यों बोलियै, ज्यों उपजै चित चाव।
तैं कह्यौ भलौ मन-भांवतौ अब बन्यौ दांव उपाउ।
हौं देउं कहा सिख तेरौई, तो मैं सबै समाउ।
जो तू कहिहै, सोई करिहौं, सखी तेरे पांइनि पाइ।
बातनि हिलि मिलि रंग रह्यौ, फूली अंगनि भाइ।
प्रेमसहेली कुञ्ज में साजे सकल सिंगार।
केस कुसुम बेनी गुही, सौंधे सरस सुढार।

जूरे चंपा जगमगै, मधि मुक्ता मनि लाल ।
बिच-बिच मेली मौरसिरि, झंवा सुरंग गुलाल ।
पटियनि प्रेम बनाइ लिख्यौ अरुन सरस सीवंत ।
श्रम तम भ्रम सब दूर होत, सीसफूल हुलसंत ।
सैंदुर कौ तिरछौ तिलक, बिच मृगमद बिंदुली बनाइ ।
तन मन निरखि हरखि भयौ, रीझि प्रिया जू की पाइ ।
अति बांक भौंहैं सोहैं, अंजन नैन बिसाल ।
चितवत चितहिं चुरावही, जुवति वृन्द नव बाल ।
खुटिला खुभी जराव के, अवतंसनि मनि लाल ।
बेसरि मुक्ता झलमलै, अधर मधुर सु रसाल ।
दसनावलि कल कुन्द सौं, मुख हंसत लसत बहु भांति ।
रवि ससि कोटिक दामिनी, सकुचि दुरत लजि जाति ।
रसनावलि गुन गन गनै, जाचति रति सुख सार ।
चंदन वंदन कौ झलक, चिबुक चखौड़ा चार ।
कंठ पदिक छूटीं लरैं, उज्जिल जलज सुदेस ।
गति डोरा दुरंग भये, पहिरे प्रेम अवेस ।
अतलस की अंगिया लसति, अति आनन्द उरोज ।
हंसति दुरति अंचल मुख दै, तन घन मुदित मनोज ।
विविध बरन बहु भांति जाति सारी सुमन सुवास ।
लहंगा महंगा मोल नहिं, कोमल विमल विलास । इत्यादि[1]

श्रीबिहारिनदासजी का यह शिख-नख वर्णन बहुत ही विस्तृत है। पाठक के नेत्रों के समक्ष एक सीमंतिनी का सच्चा चित्र खींचने में समर्थ है। इसमें पट, आभूषणों के साथ ही अंगों की सुघरता का भी योग है। गति आदि के विवरण रूप को गतिशीलता देते हैं और हृदय के उल्लास की रेखाएँ चित्र को सजीव बनाती हैं। भावों की यह गरिमा व्यक्तित्व को भावों की दृष्टि से प्रत्यक्ष करती है।

सखियों की यह वेष-भूषा पौराणिक नहीं है, अतः गोपियों की परंपरागत पौराणिक वेष-भूषा से पृथक् है। हाँ, ब्रजभाषा काव्य में जो गोपी-स्वरूप-शोभा के चित्र प्राप्त हैं, उनसे यह रूप-विन्यास अवश्य कुछ अंशों में समान है।

---

[1] श्री बिहारिनदास जी, रस के पद, सं० १७३, पृ० १४५, १४७।

यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कवि जिस युग में निवास करता है, उसी युग की पृष्ठभूमि पर वह पात्रों का चित्र भी खड़ा करता है। सखी का यह वर्णन लौकिक दृष्टि से स्पष्टतः किसी एक ब्रज-युवती का चित्र है। गोपियों का रूप-चित्र भी उसी पृष्ठभूमि पर होने के कारण ऐसा ही हो सकता है। परन्तु यह समझना भारी भूल होगी कि सखी और गोपी एक ही हैं। तात्त्विक दृष्टि से दोनों में भारी अन्तर है, जिसका स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है।

स्वामी हरिदासजी की उपासना-शैली उपासना-क्षेत्र में निस्सन्देह एक, नवीन और सर्वथा अपरिचित क्षेत्र लेकर प्रस्तुत हुई। विशुद्ध प्रेमतत्त्व के अन्दर परात्पर रूप का दर्शन करने के लिये, अभी तक सभी उपासकों की आत्मा व्याकुल थी परन्तु वे सभी पौराणिक कृष्ण-लीला में ही किसी-न-किसी प्रकार उस प्रेम तत्त्व को पाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके लिये उन्हें अनेक पौराणिक लीलाओं की नवीन व्याख्याएँ करनी पड़ीं परन्तु सखी-भाव की उपासना ने इन सब समस्याओं को एक बारगी ही सुलझा दिया। परात्पर प्रेम-स्वरूप प्रिया, प्रियतम, सखी और नित्य वृन्दावन को लेकर शेष सभी कुछ उन्होंने छोड़ दिया। उपासना क्षेत्र में एक नया अध्याय खुला और शीघ्र ही सखी-भाव की उपासना का प्रभाव अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों पर दृष्टिगोचर होने लगा।

सखी-भाव का प्रभाव विभिन्न सम्प्रदायों पर विभिन्न रूपों में पड़ा है। संभवतः कोई वैष्णव-सम्प्रदाय ऐसा नहीं है, जिसने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इस उपासना का प्रभाव ग्रहण न किया हो। इस प्रबंध के द्वितीय भाग में हम सभी वैष्णव-सम्प्रदायों पर पड़े प्रभाव और उनके कवियों की रचनाओं में प्राप्त सखी-भाव का विवेचन करेंगे।

चतुर्थ अध्याय

सखी-भाव का उपास्य तत्त्व ।

उपास्य-स्वरूप

प्रत्येक उपासना के उपास्य स्वरूप को जानने के लिये उपास्य के नाम, रूप, परिकर, धाम और लीला इन पांचों अंगों पर विचार करना होता है । भारतीय उपासनां-मार्ग की दीर्घकालीन परम्परा में हमें तत्त्वतः एक होते हुए भी उपास्य के विभिन्न रूपों की क्रम-परिणति दिखाई देती है । उपास्य के विभिन्न स्वरूपों के साथ इन पाँचों अंगों में भी परस्पर भिन्नता मिलती है, जो वस्तुतः तत्कालीन उपासना की उपलब्धि और दृष्टिकोण पर आधारित रहती है ।

पुरुषविध ब्रह्म

वेदों में ही आत्म-तत्त्व के पुरुषरूप में दर्शन होते हैं ।[1] ब्रह्म की पुरुष-रूप में यह परिकल्पना भारत में प्राचीन ही है । उपनिषदों ने इस पुंविध ब्रह्म का वर्णन विस्तार से किया है । तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली एवं ब्रह्मानन्दवल्ली में स्थान-स्थान पर कहा गया है, आनन्द ही ब्रह्म है ।[2] वह निश्चय ही पुरुष-रूप है । पुरुषाकृति में अनुगत होने के ही कारण वह पुरुष के आकार का बताया गया है ।[3] यह पुरुष-रूप ब्रह्म ही नारायण हुआ ।[4] उसी का स्वरूप विष्णु हुआ । विष्णु परम देवता हैं । और अन्त में श्रीकृष्ण को ही पुरुषोत्तम स्वरूप में परम दैवत माना गया है ।[5]

---

[1] पुरुषसूक्त, ऋग्वेद । १०, ९०, १

[2] आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । तैत्तिरीय, भृगुवल्ली ६, १ ।

[3] स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुंरुषविधतामन्वयं पुरुषविध ।
ब्रह्मा० वल्ली, ४

[4] स हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः । महाभारत, मोक्ष०, ३५१

[5] कृष्ण एव परमो देवः । गोपाल-तापिनी-उपनिषद् ।

नित्य युग्म रूप

पुंरूप ब्रह्म के उपास्य-रूप के साथ ही ब्रह्म के नित्य युगल-स्वरूप की बात भी लगभग उतनी ही प्राचीन जान पड़ती है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में हमें ब्रह्म के मिथुन रूप का स्पष्ट परिचय मिल जाता है, जहाँ श्री और लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी बताया गया है।[1] उपनिषदों में इसका विस्तृत वर्णन है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि प्रारंभ में एकाकी रहने वाला पुरुषविध ब्रह्म ही रमण की इच्छा से पति-पत्नी रूप में विभक्त हो गया।[2] उपनिषद् के इस मिथुन-तत्व पर हम पीछे प्रकाश डाल चुके हैं। आगे चल कर वैष्णव उपनिषदों और पुराणों ने इस मिथुन तत्व को राधाकृष्ण के साथ एकाकार कर दिया है।

राधाकृष्ण का स्वरूप-रमणात्मक नित्य रूप

रसिक साधकों की मान्यता है कि राधाकृष्ण ही श्रुति-वर्णित रस-स्वरूप हैं और वे ही क्रीडा के हेतु दो रूपों में नित्य अवस्थित हैं। 'राधा-तापिनी उपनिषद्' में कहा गया है कि राधा और कृष्ण एक ही रस तत्व हैं, परन्तु क्रीडा के लिये द्विधा हो गये हैं।

"येऽयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहेनैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।"[3]

राधोपनिषद् में भी यही बात इन्हीं शब्दों में ज्यों की त्यों दुहराई गई है।[4] सामरहस्योपनिपद् में कहा गया है कि 'स्वरमण के निमित्त ही उसने अपना निज रूप प्रकटित किया। वह स्वयं आराधन में तत्पर हुआ, अतएव उसे राधा नाम से जाना जाता है' :—

"स वा अयं पुरुषः स्वरमणार्थं स्वस्वरूपं प्रकटितवान्। तद्रूपं रससंवलितमानन्दरसोऽयं पुराविदो वदन्ति। सर्वे आनन्द रसाः यस्मात्प्रकटिता भवन्ति...

---

[1] श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ...पुरुषसूक्त। शु० यजुर्वेद।

[2] आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध...सं नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत। स हैतावानस यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानौ द्वेधापातयत्तत। पतिश्चपत्नी चाभवताम।

वृहादरण्यकोपनिषद, चतुर्थं ब्राह्मण।

[3] राधिकातापिनीयोपनिषद् १२।

[4] राधोपनिषद्

स वा अयं पुरुषः स्वयमेव समाराधन तत्परोऽभूत् तस्मात्स्वयमेव समाराधनमकरोत् अतो लोके वेदे च राधा गीयते।"[1]

उपर्युक्त राधाकृष्ण-रूपी नित्य युग्म वैष्णवों के लिये 'रसो वै सः' का साकार रूप है। एक ही रस के दो स्वरूप राधा और कृष्ण पूर्णतया एक हैं और इनमें सर्वथा अभेद है। वैष्णव उपनिषद् और पुराणों ने राधाकृष्ण की परस्पर एकता और समता का मुखर रूप से प्रतिपादन किया है। ऋक् परिशिष्ट में कहा गया है कि राधा और माधव परस्पर विभ्राजित हैं, इनमें जो भेद देखता है, उसकी संसृति से कभी मुक्ति नहीं हो सकती।[2] कृष्णोपनिषद् में भी कहा गया है कि श्रीकृष्ण और राधा में जो व्यवच्छेद करता है, वह बहिर्मुख है।[3] गर्गसंहिता कहती है कि राधा और कृष्ण में जो अभेद देखता है, वही ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।[4] ब्रह्मसंहिता कहती है कि जो राधा हैं, वही कृष्ण हैं और जो कृष्ण हैं, वही राधा हैं।[5] सम्मोहन तंत्रान्तर्गत 'गोपाल सहस्रनाम' में लिखा है कि एक ही ज्योति से राधा और माधव दो रूप उत्पन्न हैं, इनमें जो भेद करता है, वह सुरापायी, ब्रह्मघ्न, स्वर्णचौर और चाण्डाल के समान है।[6] ब्रह्माण्डपुराण के राधास्तव में कृष्ण और

---

[1] सामरहस्योपनिषद्

[2] राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका, विभ्राजते जनेषु योऽनयोः पश्यते भेदं न भुक्त। स्यात्संसृते। ऋक् परिशिष्ट, इसका श्लोकार्ध श्रीजीव गोस्वामी द्वारा ब्रह्म-संहिता की टीका में उद्धृत है।

[3] वामांगसहिता देवी राधा वृन्दावनेश्वरी।
योऽनयो स्याद्व्यवच्छेदी ध्रुवं स तु बहिर्मुखः॥ कृष्णोपनिषद्।
यह श्लोक श्री भगीरथ शर्मा ने युग्मतत्त्व समीक्षा में पृ० १७३ पर उद्धृत किया है, परन्तु निर्णय-सागर, बम्बई से प्रकाशित ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् के कृष्णोपनिषद् में यह पाठ नहीं है।

[4] ये राधिकायां मयि केशवे मनागुभेदेन पश्यंति हि दुग्ध्यशौक्ल्यवत्।
ते एव मे ब्रह्मपदं प्रयान्ति तदहैतुकस्फूर्जित भक्तिलक्षणः।
गर्ग संहिता। वृन्दावन खण्ड १२. ३२

[5] यः कृष्णः सापि राधा, या राधा कृष्ण एव सः।
ब्रह्म संहिता। युग्म तत्त्व समीक्षा पृ० २५

[6] स ब्रह्महा, सुरापी च स्वर्णस्तेयी च पंचम।
एतैर्दोषैर्विलिप्येत तेजोभेदान्महेश्वरी।.

राधा को एक प्राण, एक आत्मा स्वीकृत किया गया है।[1] राधा कृष्ण की आत्मा ही हैं। वे नित्य राधा के साथ रमण करते हैं, अतएव मर्मज्ञ उन्हें आत्माराम कहते हैं, ऐसा स्कन्दपुराण का कथन है।[2] ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा और कृष्ण को परस्पर भजन करने वाला और सब प्रकार समान बताया गया है।[3] नारदीयपुराण में राधा को कृष्ण की प्राणाधिका प्रियतमा कहा गया है और उनके नित्य स्वरूप को दुग्ध धावल्य और पृथिवी गन्ध की भाँति अभेदयुक्त कहा है।[4]

तात्पर्य यह है कि राधा और कृष्ण को एक ही रस का स्वरूप परस्पर समान और नित्य लीलामय रूप की मान्यता वैष्णव रस, साधकों की रस-साधना के तत्कालीन भावों का दिग्दर्शन कराती है।

सखीभाव के उपास्य नित्य दम्पति

विशुद्ध सखीभाव की उपासना का उपास्य "रस तत्त्व" है।[5] इसीसे इस उपासना का नाम रसोपासना है। उनकी रीति रसरीति है।[6] उपास्य

तस्माज्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकृक्। गोपाल सहस्रनाम १८—१९

[1] राधाकृष्णात्मिकानित्यं कृष्णो राधात्मकं ध्रुवम्।
ब्रह्माण्डपुराण, राधास्तव।

[2] आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ।
आत्मारामतयाविज्ञ प्रोच्यतेगूढवेदिभि। स्कन्दपुराण, वैष्णवखड।

[3] राधा भजति तं कृष्णं स च तां च परस्परम्।
उभयोः सर्वसाम्यंच सदासन्तो वसन्ति हि।
ब्रह्मवैवर्तपुराण, युग्म तत्त्व समीक्षा पृ० १७२

[4] आस्ते कैवल्यनाथस्तु राधा वक्ष्यस्थलोज्वलं।
प्राणाधिका प्रियतमा सा राधाराधितो मया।
तयोर्देहस्ययोर्नैव भेदो नित्यस्वरूपयो।
धावल्यदुग्धयोर्यद्वत पृथिवी गन्धयोरिव।
नारदीयपुराण, वही, पृ० १७२

[5] श्रीहरिदासी एक रस विपुन में सेवत ताहि। ललितकिशोरीदास

[6] आसू कौ रसिक रस रीतिहू में रस पोवै,
जगत अनन्यन की पूरी भई वासना।

रसमूर्ति अथवा रसिक हैं।[1] उनकी लीला रसलीला है।[2] स्वयं उपासक लीला-रस का आस्वादन करने के कारण रसिक कहलाता है।[3]

उपास्य का रस-रूप हम श्रुतियों में 'रसो वै सः' की व्याख्या में देख चुके हैं। 'रसो वै सः' का तात्पर्य है, वह रस ही है। आगे कहा गया है कि वह रस को प्राप्त कर स्वयं आनन्दी होता है।[4] इससे यह बात प्रकट होती है कि यह रस विशुद्ध परात्पर तत्व है। दूसरे यह कि यह रस मूर्तिमान् रस है, व्यक्तित्व है। 'सः' तो किसी पुरुष के लिये ही प्रयुक्त होता है। वह रस-पुरुष, रस मूर्ति, रस प्राप्त करता है। कहां से प्राप्त करता है? इसका उत्तर श्रुति ही यह देती है कि वह स्वयं को द्विधा विभक्त करता है। परस्पर के सम्बन्ध से क्रीड़ा से ही रस प्राप्त होता है। इस परस्पर के सम्बन्ध का नाम प्रेम है। प्रेम का परस्पर जो आस्वाद है, वही रस है। यही इस श्रुति-वाक्य का आशय जान पड़ता है। परन्तु उपनिषद् में केवल सूत्र मात्र है, व्याख्या और स्वरूप नहीं। अतएव इस श्रुति को सभी वैष्णव आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त में उद्धृत किया है और भगवान् की रसरूपता का विवेचन किया है।

सखीभाव के उपासकों ने इस श्रुति की कहीं व्याख्या तो नहीं की परंतु उन्होंने अपने मत को वेद का मत बताया है। श्री बिहारिनदासजी ने कहा है 'वेदों ने जो कहा है, वही हमने अनन्य रस रूप में पाया है। अन्य लोगों का मत हमने बीच में से छांट दिया है। यह बात हम भरी सभा में दृढ़ता-

---

नवल विहारी जू कौ प्रगट विहार गावै,
सांचे हरिदास जिनकी सुदृढ़ उपासना। नवलदास जी।

[1] विहरत दोऊ रसिकवर सहज अजन्मा रूप।
ललितकिशोरीदास।

[2] रसलीला, रस केलि, रस क्रीडा, रस विहार, नित्य विहार आदि शब्द पर्यायवाची हैं।

श्रीहरिदास अननि जैं, वर विहार रस केलि।
दंपति रति गति माधुरी, राखी नैननि झेलि।
रूपसखी की वाणी, २६

[3] आप पियौ प्यायौ रसिक, नव निकुंज रस सार।
रूपसखी की वाणी, १।

[4] रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। तैत्तिरीय उपनिषद् ७।

पूर्वक कह सकते हैं ।[1] वेदों की केवल इतनी ही बात वे मानते हैं। उनकी दृष्टि में महल की टहल ही वास्तव में वेद का लक्ष्य है, वे टेर कर इसी ओर जाने को कहते हैं ।[2] परन्तु इस महामधुर रस को वेद नहीं पा सकता, सखी ही इसे विशुद्ध कर पिला सकती है ।[3] ललितकिशोरी भी कहते हैं कि वेद जिस रसतत्व को अगम कहते हैं, हम उसी को सुगम कहते हैं। क्योंकि हरिदास जी वृन्दावन में उसी की सेवा करते हैं ।[4] अतः स्पष्ट है कि ये उपासकगण श्रुति-प्रदत्त "रस" के ही साधक थे। अथवा यह कहा जा सकता है कि सखीभावभावित की रसोपासना के बीज निश्चित रूप से वेदों में निहित हैं।

स्वामी हरिदास जी ने जिस रस-मूर्ति को अपना उपास्य माना है, वह साधारण से अनेक अंशों में विलक्षण है। उनका उपास्य जन्म, कर्म, काल, स्वभाव आदि से सर्वथा मुक्त नित्य वस्तु है। श्रुति में भी कहा है, वह एक था, रमण के लिये दो स्वरूपों मे विभक्त हो गया ।[5] प्रश्न है कि वह कौन सा समय था, जब वह एक था, और कब वह एक से दो हो गया? इस प्रक्रिया में काल तत्व और जन्म आदि सन्निहित प्रतीत होते हैं। स्वामी हरिदास जी पहले एक था, इस बात को नहीं मानते। उनका सिद्धान्त है कि वह रस तो सहज जोरी के रूप में अनाद्यनन्त है। भूत, वर्तमान या भविष्य किसी एक काल में उसकी विद्यमानता माननंा उचित नहीं है। वह सहज जोरी तो पहले भी थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। वह सहज

---

[1] वेदनि कह्यौ सों हम कियौ लोगन को मत छांटि ।
बिहारीदास अनन्य रस, कहत सभा में डांटि ।
बिहारिनदास साखी, ४१५ ।

[2] वेद ढंढोरा लोक कों टेरत ढोल बजाय ।
बिहारीदास ता महल की टहल करों दुलराय । वही, ४११ ।

[3] बिहारीदास विहार में वेद न पावै जान ।
सखी जिमावै प्रेम सों महामधुर रस छान । वही, ४२१ ।

[4] निगम कहत जिहिं अगम करि, सुगम कहत हम ताहि ।
श्रीहरिदासी एकु रस विपुन में सेवत ताहि । ललितकिशोरीदास १७ ।

[5] तस्मात् एकाकी न रमते...द्वेधाऽपात्तयात्तत·।

वृहदारण्यकोपनिषद् ४ ।

जोरी अपने मूल स्वरूप में कभी जन्म नहीं लेती, अपितु जब उसकी किसी रसिकजन पर कृपा होती है, जोरी सहज ही प्रकट हो जाती है। उसी सदा समवयस्क युगल का दर्शन स्वामी हरिदास को हुआ।[1]

क्रीड़ाशील रस की दो मूर्तियां रसिक और रसिकनी हैं। लोक में व्रज में अवतार लेकर क्रीड़ा करने वाले राधा-कृष्ण की रसलीलाओं की प्रसिद्धि है। परन्तु अवतार-काल में अनेक प्राकृत गुणों का समावेश हो जाने के कारण रस की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती। स्वामी हरिदासजी के रसिक-रसिकनी का रूप इसीलिये व्रज के राधाकृष्ण से कुछ भिन्न है। व्रज-रीति और रस रीति में बहुत अन्तर है। उसको समझने से पूर्व उपास्य के रूपों का अन्तर भी समझना होगा।

वैष्णव भक्तिमार्ग में एवं अन्यत्र राधा-कृष्ण को विभिन्न तत्वों और लीलाओं के माध्यम से देखा गया है। इन सब तात्त्विक विचारधाराओं का ज्ञान होना भी सखीभाव के उपास्य के स्वरूप को समझने में आवश्यक प्रतीत होता है। आगे हम राधा-कृष्ण के विभिन्न तात्त्विक रूपों का विवेचन करते हुए उनके उपास्य रस-स्वरूप पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

उपासना का सम्पूर्ण रूप जानने के लिये परिकर और धाम का स्वरूप जानना भी उतना ही आवश्यक है। इस सबको जान कर ही उपास्य की लीला 'नित्यविहार' को समझा जा सकेगा।

श्री राधा

आधुनिक शोधकर्ता विद्वानों की धारणा है कि राधा की उपासना भारतीय धर्म-मत में अधिक प्राचीन नहीं है। एक विद्वान् का कथन है बारहवीं सदी के पहले तक विष्णु-शक्ति के बारे में जो कुछ विश्वास, चिन्ता और मत है, उस उर्वर भूमि पर मानों अनन्त विचित्र मधुर राधा का बीज रोपा गया था।[2] यहां हम श्री राधा के ऐतिहासिक उद्भव और विकास पर विचार न कर यह कहना चाहते हैं कि भले ही राधा की उपासना भारतीय मत में अधिक

---

[1] माईरी सहज जोरी प्रगट भई, रंग की गौर स्याम घनदामिनि जैसे।
प्रथम हू हुती, अब हू, आगे हू रहिहै, न टरिहै तैसै।
इत्यादि, केलिमाल, स्वा० हरिदास जी, १।

[2] श्रीराधा का क्रम-विकास, श्रीशशिभूषण दासगुप्त, पृ० १००।

प्राचीन नहीं है परन्तु इतने थोड़े समय में ही श्री राधा के इतने विविध और अनन्त स्वरूप देखने में आते हैं, जिनकी समता अन्य कोई देवी या देवता नहीं कर सकता। साधारण गोपी की कोटि से लेकर परात्पर ब्रह्म की भी आराध्या मूर्ति होने तक का जितना अवकाश है, उस में राधा के न जाने कितने रूप भरे हुए हैं। दर्शन ने राधा की व्याख्या अनेक रूपों में प्रस्तुत की है। कर्म, ज्ञान, योग, तंत्र और भक्ति की कदाचित् ही ऐसी कोई उपासना-पद्धति हो, जिसमें राधा ने किसी न किसी रूप में प्रवेश न किया हो। साहित्य की ऐसी कोई नायिका नहीं, जिसका उदाहरण राधा के किसी लीला-रूप से न दिया जा सकता हो और मानव-हृदय की कदाचित् ही ऐसी कोई सुकुमार वृत्ति होगी, जिसकी चरम प्रतीक राधा न बन सकें। राधा तत्त्व की यह व्यापकता निश्चित ही उस स्वरूप की अनन्त गुणवैचित्री के कारण है, जो भारतीय धर्म-मत ने उसे स्वयमेव प्रदान की है। राधा तत्त्व का यह दिग्दर्शन हमारे सखीभाव के उपास्य-तत्त्व की पृष्ठभूमि के रूप में अत्यावश्यक है।

'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति

राधा शब्द राध् (राध् साध् संसिद्धौ) धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ संसिद्धि अथवा आराधना है, राधा का अर्थ हुआ आराधना करने वाली। इसका दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है, जिसकी आराधना की जाय, वह राधा। कृष्ण के सम्पर्क से यह अर्थ किये भी गये हैं, 'कृष्णं समाराधयिते इति राधा', और 'कृष्णेनाराध्यते इति राधा।'[1]

सामरहस्योपनिषद् में कहा गया है कि वही अनादि पुरुष स्वयं राधिका रूप धारण कर समाराधन में तत्पर है, इसीलिये वेदविद् उस रसिकानन्द को राधा कहते हैं।[2] स्वयं एक रूप अपने दूसरे रूप की उपासना कर रहा है,

---

[1] तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरंगभूता राधा, कृष्णेन आराध्यते इति राधा, कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका गान्धर्वे व्यपदिश्यत इति।

राधिकोपनिषद्।

[2] अनाद्योऽयं पुरुष एक एवास्ति तदेवं द्विधारूपं विधाय सर्वान्रसानाहरति। स्वयमेव राधिका रूपं विधाय समाराधनतत्परोऽभूत, तस्मात्तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति...अतो लोके वेदे राधा गीयते।

सामरहस्योपनिषद्।

अतः दोनों ही दृष्टियों से राधा नाम सार्थक है। यह व्याख्या अत्यन्त सामान्य है, एवं पुराणदि में अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुई है।[1] श्रीहितहरिवंश जी गोस्वामी ने भी 'राधा-सुधा-निधि' में कहा है, 'जैसे व्रजमणि प्रियतम उनका आराधन करते हैं, उसी प्रकार वे भी प्रकृष्ट अनुराग के उल्लास से परिपूर्ण होकर अपने प्रियतम का आराधन करती हैं। गोविन्द के साथ सख्यभाव प्राप्त करने के लिये उत्सुक जन भी जिनके आश्रय से परम सिद्धि को प्राप्त होते हैं, जिनके आराधन से परमपद रूपा कोई रसवती सिद्धि प्राप्त होती है, वही श्रीराधा नाम की श्रुतिमौलिशेखरलता मुझ पर प्रसन्न हों।'[2] लगभग ऐसी ही व्याख्या चैतन्यचरितामृतकार श्रीकृष्णदास कविराज ने की है।[3]

नारद पांचरात्र में राधा नाम का कारण दूसरा ही बताया गया है। कहा गया है कि रास में उत्पन्न होकर वह तरुणी हरि के समक्ष पहुँची, अतः उसका नाम 'राधा' हुआ। प्राचीनों का ऐसा ही कथन है।[4] ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी एक स्थान पर यही बात दुहराई गई है।[5]

बृहद् ब्रह्म-संहिता में राधा शब्द की व्याख्या रसलीलाविधायिका अथवा लीला द्वारा रस-प्रवाहिनी होने के रूप में की गई है।[6] इसके अतिरिक्त अन्य

---

[1] देखिये ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति खण्ड अ० ५४।

[2] या वाराधयति प्रियं व्रजमणिं प्रौढ़ानुरागोत्सवै।
संसिद्ध्यन्ति यदाश्रयेण हि परं गोविन्द सख्युत्सुका।
यत्सिद्धिः परमापदैकरसवत्याराधनात्तेन सा।
श्रीराधाश्रुतिमौलिशेखरलतानाम्नी मम प्रीयताम्।
श्रीराधासुधानिधि, ९७।

[3] कृष्णवांछापूर्तिरूप करे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने।
चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, ४।

[4] रासे संभूय तरुणीमादधाव हरेः पुरः
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिश्च नारद।
नारद पांचरात्र, २. ३. ३६।

[5] ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति खण्ड, अ० १९।

[6] त्वया चाराधितो यस्मादहं कुंजमहोत्सवे।
राधेति नाम विख्याता रसलीलाविधायिका।

अनेक विस्तृत रूपों में राधा की व्याख्या हुई है, परन्तु उनमें से अनेक उनके महत्त्व का कथन करने के लिये हैं। राधा शब्द से उनका अधिक संबंध ज्ञात नहीं होता। स्पष्ट है कि इनमें अनेक व्याख्याएं उपासकों के भावों की अनुगामिनी मात्र हैं।

राधा-कृष्ण के नाम को लेकर उनके महत्त्व की स्थापना के लिये एक दूसरी पौराणिक पद्धति और अपनाई गई है, शब्द के अक्षरों को अलग-अलग कर उनका अर्थ निकालने की।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में ही कृष्ण-जन्म-खण्ड के अध्याय १३ में कहा गया है कि 'रा' आदानवाचक है और 'धा' निर्वाणवाचक है। अतः मुक्तिप्रदात्री होने के कारण ही राधा कहा जाता है।[१] एक और स्थान पर बताया गया है कि 'रेफ' के उच्चारण से कोटि जन्मों का अज्ञान, शुभाशुभ कर्मों का भोग, "आ" के उच्चारण से गर्भवास, मृत्यु और रोग, 'ध' के उच्चारण से आयुष्यहानि और पुनः आकार के उच्चारण से भवबन्धन का नाश होता है।[२]

पुनः इसका मण्डनात्मक महत्त्व बताया गया है कि 'रेफ' कृष्णचरणों में निश्चल भक्ति प्रदान करता है, जो सभी के द्वारा अभीप्सित, आनन्ददात्री और सर्वसिद्ध ऐश्वर्यदात्री है। 'धकार' कृष्ण का सहवास, तत्तुल्यता, सारूप्य और तत्व ज्ञान प्रदान करता है। आकार से नित्य तेजोराशि, दानशक्ति, योगशक्ति, मति और हरि का स्मरण प्राप्त होता है।[३]

अनयाराध्यते कृष्णो भगवान्हरिरीश्वर।
लीलया रसवाहिन्या तेन राधा प्रकीर्तिता।

बृहद् ब्रह्मसंहिता। द्वितीय पाद अ० ४, श्लोक ७०, ७१ ॥

[१] 'रा' इत्यादानवचनो 'धा' च निर्वाणवाचकः।
ततोऽवाप्नोति मुक्तिं च तेन राधा प्रकीर्तिता।

ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृ०, १७, २२८ ।

[२] रेफोहि कोटि-जन्मांधं कर्मयोग शुभाशुभम्।
आकारो गर्भवासं च मृत्युं स रोगमुत्सृजम्।
धकारमायुषीहानिमाकारो भवबन्धनम्।

ब्रह्मवैवर्त, कृष्ण जन्म, १३, १०६ ।

[३] रेफोहि निश्चलां भक्तिं दास्यं कृष्णपदाम्बुजम्।
सर्वेप्सितं सदानन्दं सर्वसिद्धौधमीश्वरम्।

'नारद पांचरात्र' में कहा गया है कि 'रा' शब्द के उच्चारण करते ही भक्त भक्ति और मुक्ति प्राप्त कर लेता है और 'धा' शब्द के उच्चारण करते ही उसे हरि का पद प्राप्त हो जाता है।[1] अन्यत्र कहा गया है कि 'रा' शब्द के उच्चारण से माधव स्फीत हो जाते हैं और 'धा' के उच्चारण करते ही हरि प्रेम-वश होकर पीछे दौड़ते हैं।[2] पुराण-तंत्रों में उपास्य के नाम के अक्षरों के साथ की गई क्रीडा विशद है।

राधा के नाम

नाम से नामी का बोध होता है। दोनों वस्तुएं तत्त्वतः एक ही हैं। श्रीराधा के अन्य नामों से भी उनके मूल स्वरूप का ज्ञान होता है। राधिकोपनिषद् में राधा के २७ नाम दिये हुए हैं, जो निम्नलिखित हैं—राधा, रासेश्वरी, रम्या, कृष्णमन्त्राधिदेवता, सर्वाद्या, सर्ववन्द्या, वृन्दावनविहारिणी, वृन्दाराध्या, रमा, गोपीमण्डलपूजिता, सत्यासत्यपरा, सत्यभामा, श्रीकृष्णवल्लभा, वृषभानुसुता, गोपी, मूल प्रकृति, ईश्वरी, गन्धर्वा, राधिका, रुक्मिणी, परमेश्वरी, परात्परतरा, पूर्णा, पूर्णचन्द्रनिभानना, भुक्तिमुक्तिप्रदा और भवव्याधाविनाशिनी।[3]

धकार सहवासं च तत्तुल्यं कालमेव च ।
ददाति पार्ष्णि सारूप्यं तत्वज्ञान हरैः स्वयम् ।
आकारस्तेजसोराशि दानशक्ति हरौ यथा ।
योगशक्ति योगमति सर्वकालं हरिस्मृतम् ।
वही १०८-११० तक 'राधावल्लभसंप्रदाय, सिद्धांत और साहित्य' में भी उद्धृत। पृ० १९०।

[1] राशब्दोच्चारणाद्भक्तो भक्ति मुक्ति च राति सः ।
धा शब्दोच्चारणेनैव धावत्येव हरेः पदम् । नारद पांचरात्र २. ३. ३८ ।

[2] रा शब्दोच्चारणादेवंस्फीतो भवति माधवः
धा शब्दोच्चारतः पश्चाद्धावत्येव ससंभ्रमः ।
ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्म खण्ड, ५२. ३८ ।

[3] राधा रासेश्वरी रम्या कृष्ण मन्त्राधिदेवता ।
सर्वाद्या सर्ववन्द्याच वृन्दावनविहारिणी...इत्यादि ।
राधिकोपनिषद् ।

इन नामों में से कुछ नाम लीलात्मक हैं, कुछ आध्यात्मिक एवं कुछ तात्त्विक। इससे ज्ञात होता है कि सम्प्रदायोद्भवकाल में ही राधा का प्रवेश अन्य क्षेत्रों में हो चुका था। राधा-कृष्ण के नाम गिनाने की परिपाटी भी बहुत लम्बी है। सम्पूर्ण पुराण-साहित्य और भक्ति-साहित्य इससे भरा पड़ा है। इस सम्बन्ध में एक बात हम स्पष्ट देखते हैं कि इन नामों में से क्रमशः लीलात्मक नाम ही शेष रह गये हैं, शेष नाम विलीन होते गये हैं।

श्रीराधा के विभिन्न रूप

१. श्रीकृष्ण की प्रेयसी 'सामान्य नारी राधा'

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से राधा का मूल रूप जानना एक समस्या है। साधारणतया यह मान लिया गया है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में राधा का आविर्भाव साहित्य के माध्यम द्वारा ही हुआ है। यह साहित्य भी लौकिक साहित्य है, जहाँ हमें राधा का प्रथम दर्शन होता है। आभीर स्त्रियों और गोपालकृष्ण की प्रेमकथाओं का रूप साधारण मानवीय प्रेम ही था, ऐसा विश्वास किया जा सकता है। 'गाहा सत्तसई' में उसी राधा के दर्शन हमें होते हैं। राधा एक आभीर नारी थीं, कृष्ण की प्रेयसी थीं। इतना अवश्य है कि इनको कृष्ण अन्य नारियों से अधिक प्रेम करते थे। अन्य वल्लभियों ने कहा है—'हे कृष्ण, तुम अपने मुख-मारुत से राधिका के मुख पर लगे गोरज को हटा कर अन्य सभी वल्लभियों का गौरव हरण कर रहे हो।'[1] 'गाहा सत्तसई' का वातावरण लौकिक प्रेमानन्द ही प्रस्तुत करता है। अतः यहाँ राधा का चित्रण सामान्य नारी के रूप में ही समझना चाहिये। विद्वानों के अनुमान के अनुसार १२ वीं शताब्दी के पूर्व के साहित्य में राधा का स्वरूप तात्त्विक, धार्मिक या दर्शनिक नहीं था।

हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी जानते हैं कि भक्तिकाल के उपरान्त रीतिकाल में राधा-कृष्ण लौकिक नायक-नायिकाओं के रूप में ही चित्रित किये गये हैं। रीतिकाल के काव्य में राधा केवलमात्र कृष्ण की प्रेयसी सामान्य नारी हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि रीतिकाल के कवियों में भक्ति के संस्कार अवश्य ही राधा के दिव्य स्वरूप का दर्शन कराते थे। फिर भी

---

[1] मुह मारुएण तं कह्ण गोरअं राअिआएं अवणेन्तो।
एताणं बलवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि। गाहा सत्तसई। १. २९।

रीतिकाल के साहित्य में अधिकांश रूप से राधा साधारण नायिका की कोटि तक ही रह जाती हैं।

आधुनिक युग ने प्राचीन संस्कारों को निश्चित रूप से बहुत झकझोरा है। इस युग में राम और कृष्ण को पूर्ण नारायणत्व की कोटि से निकाल कर मानव अथवा महापुरुष के धरातल पर देखा गया है। इस विचारधारा के अनुसार राधा-कृष्ण भी कर्तव्यपरायण मानव और आदर्श प्रेमियों के रूप में काव्य का अवलम्ब बने हैं। श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास' ग्रन्थ इस दृष्टि से द्रष्टव्य है।

२. भक्त के रूप में राधा

भारतीय धर्म के इतिहास से एक बात निश्चित रूप से ज्ञात होती है कि आज से अनेक शताब्दियों पूर्व श्रीकृष्ण को भगवान् का अवतार माना जाने लगा था। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का निवेदन भगवान् के प्रति भक्त का आत्म-समर्पण ही है। श्रीराधा गोपियों में श्रेष्ठ थीं, अतः उन्हें श्रीकृष्ण का श्रेष्ठ भक्त स्वीकार किया जाता है।

श्रीमद्भागवत में ही गोपियों ने अपने को कृष्ण का भक्त कहा है और निवेदन किया है कि 'जिस प्रकार आदि पुरुष नारायण मुमुक्षुओं को अपनाते हैं, उसी प्रकार आप हम भक्तों को ग्रहण कीजिये।'[1]

वैष्णव-सम्प्रदायों में यद्यपि राधा को कृष्ण के समान ही उपास्य का स्थान प्राप्त हो चुका है, फिर भी उनका भक्तश्रेष्ठ का रूप भी अक्षुण्ण बना रहा है। गौड़ीय संप्रदाय के राधा-सम्बन्धी विचारों का मंथन करते हुए डा० दासगुप्त लिखते हैं, "उस दृष्टि से राधिका ही भगवान् की भक्तश्रेष्ठ हैं" लेकिन यहाँ एक बात साफ कर लेना चाहिये। राधिका के श्रीकृष्ण की श्रेष्ठ भक्त होने पर भी राधिका के अन्दर से ह्लादिनी शक्ति भक्तिरस के रूप में प्रवाहित होने पर भी राधिका-स्वरूपत्व प्राप्ति या राधा के भाव से कृष्ण की सेवा जीव के लिये संभव नहीं है। हम इसीलिये जीव के सखीभाव की

---

[1] मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं संत्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्।
श्रीमद्भागवत १०. २९ ३१।

साधना की बात सुनते हैं।[१] जीव उनका अनुकरण कर सके या न कर सके परन्तु राधा अवश्य ही कृष्ण-भक्त हैं, यह निश्चित है।

ब्रजभाषा साहित्य में गोपियों का परिचय आदर्श भक्त का ही परिचय है। महाकवि सूर के भ्रमरगीत में गोपियों के गोपाल-उपासी रूप का ही दिग्दर्शन हुआ है।[२] वे प्रेमा भक्ति की आदर्श बताई गई हैं।[3] सूर के राधा-कृष्ण की व्याख्या करते हुए डा० मुंशीराम शर्मा कहते हैं, "गोपियां और राधा दांपत्य भाव से कृष्ण की भक्ति करती हैं।" "राधामाधव भेंट भई।" इस पद की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है "जिस प्रकार भृंग कीट को पकड़ कर अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है, उसी प्रकार राधा-माधव में और माधव-राधा में मिल कर एक हो गये। भक्त ने प्रभु को अपने धरातल पर खींच लिया और प्रभु ने भक्त को अपने रंग में रंग दिया, अपने में मिला लिया।[४]

राधा-कृष्ण लीला के पदों को प्रायः भक्त और भगवान् के मिलन के रूप में देखा जाता है। डा० दीनदयाल गुप्त ने इस ओर संकेत किया है। वे कहते हैं—"कृष्ण लीला का अन्योक्ति रूप लेने वाले विद्वान् यह भी कहतें हैं कि गोपी आत्मा हैं, राधा भी गोपी हैं और कृष्ण परमात्मा। आत्मा भगवान् का अंश होने के कारण अपने अंशी से मिलने का प्रयत्न करती है और आत्मा-रूप गोपियों का कुञ्ज में कृष्ण-मिलन ही आत्मा का भगवान् से मिलन है।"[५] वल्लभ सम्प्रदाय के राधा-सम्बन्धी विचारों में भी उन्होंने लिखा है कि "रस-रूप ईश्वर की आदि रस शक्ति और भक्ति में सिद्ध-भक्ता, ये दो रूप राधा नाम की गोपी के हैं।"[६]

वास्तव में राधा का सर्वसामान्य रूप श्रेष्ठ भक्त का ही रूप है।

---

[१] श्रीराधा का क्रमविकास, शशिभूषण दासगुप्त, पृ० २३७.

[२] गोकुल सबै गोपाल उपासी, इत्यादि पद।
भ्रमरगीतसार, पद सं० २१ रामचन्द्र शुक्ल

[3] प्रेम भक्ति गोपिन की पावै……
सूरसागर, ना० प्र० सभा, पद सं० ४७१२।

[४] सूरसौरभ, डा० मुंशीराम शर्मा, द्वितीय भाग, पृ० १२३।

[५] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५०६।

[६] वही, पृ० ५०९, ५१०।

ज्योतिष-तत्त्व के रूप में राधा

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयोगेशचन्द्रराय ने समस्त कृष्णलीला को ज्योतिष तत्त्व के रूप में समझने का यत्न किया है। इसकी चर्चा इधर हिन्दी की पुस्तकों में भी हुई है। श्रीशशिभूषण दासगुप्त ने भी अपने ग्रंथ में इसका परिचय कराया है।[1]

ये कृष्ण को सूर्य का प्रतिबिम्ब मानते हैं। गोपियां तारा हैं। उनका कथन है कि राधा पहले विशाखा का ही नाम था। अथर्ववेद में 'राधो विशाखे' कहा भी गया है।

कार्तिकी पूर्णिमा में सूर्य विशाखा की ओर होता है। इसमें राधा और सूर्य का मिलन होता है। लेकिन यह अदृश्य होता है।

राधा की माता कीर्तिदा (कृतिका) पिता वृषभानु (वृषराशिस्थ भानु) पति आयान (उत्तरायण) आदि की भी संगति मिला कर उन्होंने इसे एक पूरा रूपक ठहराया है।

योग-तत्त्व के रूप में राधा

प्राचीन भारतीय-साहित्य में 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार भेद होने पर भी मूलतः कुछ अंश में सामंजस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाय अथवा प्राण और अपान के संयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति के सामरस्य, चित्तवृत्ति के निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाय, मूल में विशेष पार्थक्य नहीं है।[2]

पद्धति की दृष्टि से भारतीय योग मार्ग भी अत्यंत प्राचीन मत है। इसका एक महत्त्वपूर्ण अंग हठयोग है। इस मत के अनुसार पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड के दर्शन किये जाते हैं।

योगी लोग सुषुम्ना के निम्नभाग में प्रसुप्त कुल-कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत कर उसे क्रमशः सप्तचक्रों और ग्रन्थियों में ले जाते हुए अष्टम सुरति

---

[1] श्रीराधा का क्रम-विकास। शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०१-१०४

[2] योग का विषय परिचय, ले० म० म० गोपीनाथ जी कविराज, योगांक पृ० ५१

क्रम या सहस्रार चक्र में प्रविष्ट करते हैं। कुण्डलिनी के वहां पहुँचने पर अमृत का क्षरण होता है, रस की वर्षा होती है। ललना अपने प्रियतम से मिल जाती है।

रासलीला का यौगिक अर्थ करने वाले श्रीराधा को महा कुण्डलिनी-स्वरूपा मानते हैं। आस पास की इडा पिंगला आदि नाड़ियां ही गोपियां हैं। अनेक चक्र ही निकुंजें हैं परन्तु अन्त में सहस्रार कमल स्वरूप सुरति के बाग वृन्दावन में पहुँचना है। यहीं श्रीकृष्ण विराजमान हैं, यहीं राधाकृष्ण का मिलन होता है, रस की अखंड वर्षा और अनन्त आनन्द की उपलब्धि यहीं होती है, यही महासुख है, नित्य रास है। इस संबंध में श्री गुलावसिंह शर्मा ने लिखा है, 'कृष्णभक्त इस कुल कुण्डलिनी रूपी राधिका का कृष्ण ब्रह्म के साथ वंशीवट के निकट मस्तिष्क के पास रास-विलास देखा करते हैं।'[1]

शिव के अवतार-रूप में राधा

एक बार लीलामय भगवान् शिवजी ने पार्वती से कहा, देवि यदि मुझ पर तुम प्रसन्न हो तो पृथिवीतल पर चल कर कहीं पुरुष रूप में अवतार लो और मैं स्त्री रूप धारण करूँगा, यहां जैसे मैं तुम्हारा प्रियतम हूँ, तुम मेरी भार्या हो, उसी प्रकार मैं वहाँ तुम्हारी पत्नी बनूंगा और तुम मेरे स्वामी।

शिव की इच्छा पूरी करने के लिये पार्वती जी ने अपनी अनुमति दे दी। श्री पार्वती जी ने कहा मेरा भद्रकाली रूप ही श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट होगा। शिव जी ने कहा मैं भूतल पर नौ रूपों में प्रकट होऊंगा। हे शिवे, मैं परम प्रेममयी श्रीराधा के रूप में अवतरित होऊंगा तथा अन्य आठ रमणियों के रूप में भी मेरी आठ मूर्तियां प्रकट होंगी।

पार्वती जी ने कहा, मेरी जया और विजया सखियां पुरुष रूप में श्रीदामा और सुदामा होंगी। विष्णु मेरे वड़े भाई हलधर के रूप में अवतरित होंगे।

इसी निश्चय के अनुसार पृथिवी और ब्रह्मा जी की प्रार्थना पर श्री पार्वती जी कृष्ण रूप में और श्री शिव राधा रूप में अवतरित हुए।

श्री राधा परम शिवतत्व हैं।[2]

---

[1] वाम कौल तांत्रिक मार्ग. ले० श्रीगुलाव सिंह शर्मा, कल्याण, योगांक, पृ० १७७.

[2] यह संक्षिप्त कथा महाभागवत के आधार पर है। कल्याण के शक्ति

सांख्य की प्रकृति के रूप में राधा

राधा-कृष्ण के प्रारंभिक विकसनशील स्वरूप पर सांख्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रो० मैक्समूलर वेदान्त के पश्चात् सांख्य को भारतवर्ष का दूसरा महत्त्वपूर्ण दर्शन मानते हैं।[1] बहुत समय तक सांख्य का भारी प्रभाव यहां के दार्शनिकों पर रहा है, और कृष्णलीला को हम उसके रूप में भी रँगा पाते हैं।

सांख्य-दर्शन का केन्द्र-विन्दु है पुरुष और प्रकृति का युग्म। राधाकृष्ण को प्राचीन समय से ही प्रकृति-पुरुष कहा गया है[2] और विकसित भक्तिकाल में भी सूर जैसे भक्तों ने उन्हें इस रूप में स्मरण किया है।[3]

सांख्य की दृष्टि से प्रकृति क्रियाशील तत्त्व है एवं पुरुष निष्क्रिय।[4] प्रकृति भोग्य है, पुरुष उसका भोक्ता। पुरुष निर्गुण है और प्रकृति त्रिगुणमयी।[5] प्रकृति जगत् का उत्पादन इन तीन सत, रज, तम गुणों से ही करती है।[6] ये तीनों गुण अलग-अलग रहकर भी प्रकृति में एक ही रूप में रहते हैं।[7] इसीलिये प्रकृति को त्रितत्त्वरूपिणी भी कहते हैं। प्रकृति सत्त्व (कार्य), तत्त्व (कारण) और परत्त्व (कार्य कारण से भिन्न) से भी संयुक्त है। श्रीराधिका को भी प्रकृति के इस त्रितत्त्वरूपिणी स्वरूप में देखा गया है···

अंक में पृष्ठ ४२४ पर भी इस कथा का सारांश दिया गया है। यौन परिवर्तन से लीलाविलास का अनुभव करने का, यह कथा, एक सुन्दर उदाहरण है।

[1] भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, देवराज, इलाहाबाद, पृ० २५५।

[2] पुरुषः प्रकृतिश्चाद्यौ राधावृन्दावनेश्वरौ। पद्मपुराण, पातालखण्ड, ७७. ४८।

[3] व्रजहिं वसे आपुहिं विसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानौ, वातनि भेद करायौ।
इत्यादि, सूरसार, ना०, २ ३०५।

[4] भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, देवराज, पृ० २६९।

[5] वही, पृ० २६९।

[6] त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता।
प्रधाने सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते।
ब्रह्म वैवर्त पुराण। प्रकृति खंड १, ७

[7] त्रिगुणमविवेकि विषय···इत्यादि कारिका सं० ११, सांख्यकारिका।

सत्त्वं तत्त्वं परत्वं च तत्त्वत्रयमहं किल ।
त्रितत्त्वरूपिणी साऽपि राधिका परदेवता ।[1]

श्री राधा ही आद्या प्रकृति हैं। वे नित्य और निर्विकारिणी हैं। निर्गुण (मूलरूप में) होते हुए भी अलंकृता हैं। वे ही सबकी जन्मदात्री भी हैं...

तस्माद्या प्रकृति, राधिका नित्या,
निर्गुणा सर्वालंकारशोभिता ।
प्रसन्नाशेष-लावण्य-सुन्दरी
अस्मदादीनां जन्मदात्री ।[2]

प्रकृति के मुख्य स्वरूप को मूल प्रकृति, प्रधान या अव्यक्त कहते हैं।[3] इसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं है। महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएं प्रकृति और विकृति दोनों हैं। सोलह (पंचभूत, दस इन्द्रियां और मन) विकार हैं। पुरुष न विकृति है न प्रकृति, 'सांख्य कारिका' में ऐसा कहा गया है।[4]

राधिकोपनिषद् में श्रीराधा को मूल प्रकृति नाम दिया है।[5] पुराणों में भी स्थान-स्थान पर राधा को मूल-प्रकृति कहा गया है।[6] मूल प्रकृति अविकृत होती है। उसके उपर्युक्त सोलह विकार भी कहे गये हैं, राधा के अंश-विस्तार से सोलह गोपियों की बात भी सर्वत्र आई है, परन्तु सृष्टि की आधारभूता मूल प्रकृति ही है। ब्रह्म-वैवर्त में मूल प्रकृति को राधा कहा है।[7]

---

[1] बृहद्गौतमीय तंत्र। श्री जीव गोस्वामी द्वारा 'कृष्ण-सन्दर्भ' में उद्धृत पृ० ४४५।

[2] पुरुषार्थ-बोधिनी-उपनिषद्।

[3] भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, देवराज, पृ० २५९।

[4] मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।। सांख्य कारिका, सं० ३

[5] वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतिरीश्वरी । राधिकोपनिषद् ।

[6] ललिताद्याः प्रकृत्यंशाः मूलप्रकृति राधिका । इत्यादि ।
पद्मपुराण, पातालखण्ड ७०. ४ ।

[7] सृष्टेराधारभूतत्वं बीजरूपोहमच्युतः
ममांगांशस्वरूपात्त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी ।
ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड०, १५. ६१, ६६ ।

पद्मपुराण में ही ८ और १६ सखियों के नाम गिनाकर कहा गया है कि ये आठ और सोलह मूल प्रकृति राधा की प्रधान प्रकृति हैं।[1]

सांख्य का पुरुष निष्क्रिय है परन्तु उसमें चुम्बक के समान शक्ति है, प्रकृति में उसके तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। प्रकृति जब पुरुष के सम्पर्क में आती है तब सन्निधि मात्र से वह चंचल हो उठती है, उसी से सब पदार्थों का विकास होता है।[2] ऐसा लगता है कि प्रकृति का अपने समस्त अंशों एवं अंगों के साथ श्रीकृष्णरूपी पुरुष के निकट मुरली नाद के चुम्बक से आकर्षित होकर आना रासलीला करना इत्यादि यह सभी सांख्य तत्त्व का ही रूपक है।

यहीं एक और बात पर दृष्टि डालनी चाहिये, मूल प्रकृति को अव्यक्त भी कहते हैं। वैष्णवों के आदरणीय पुराण ग्रंथ श्रीमद्भागवत में जो केवल प्रधान की स्थिति है, राधा का नाम अव्यक्त है, वह मूल प्रकृति होने के कारण ही तो अव्यक्त नहीं रखी गई ?

सांख्य में प्रकृति-पुरुष दोनों सनातन हैं, पुरुष प्रकृति का निर्माता नहीं अपितु भोक्ता है।[3] कृष्ण और राधा भी आदि, अनादि सनातन हैं। कृष्ण श्रीराधा के भोक्ता भी हैं। और भी विस्तार से विचार करने पर कृष्णलीला पर सांख्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखाई दे सकता है।

शक्ति-रूप में राधा

शक्तिवाद भारत का एक प्रबल दर्शन और उपासना-मत रहा है। प्रारंभ में शक्तिमान् के साथ ही शक्ति की कल्पना की गई होगी परन्तु आगे चल कर उपासना की दृष्टि से उसके अलग-अलग दो रूप हो गये। शक्तिमान् को प्रधान मानने वाले शैवादि संप्रदाय हुए तथा शक्ति को स्वतंत्र मानने वाले शाक्त कहलाये। राधा-कृष्ण युग्म को भी अपने विकास के कुछ समय पश्चात् ही भारतीय शक्तिवाद में पूर्णतया गृहीत कर लिया गया प्रतीत होता है। शक्ति के विभिन्न रूप में उपास्य देवियों के साथ राधा की भी गणना होने लगी। 'सम्मोहन तंत्र' में दुर्गा, महालक्ष्मी और राधा एक ही कोटि में रखी गई हैं।

---

[1] अष्टौ प्रकृतयः पुण्याः प्रधानाः कृष्णवल्लभाः। पद्मपुराण, पाताल०, ७०,७।
षोडशाद्या प्रकृतयः प्रधानाः कृष्णवल्लभा। पद्मपुराण, पाताल०, ७०, ९।

[2] भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, देवराज, पृ० २६९, २७०।

[3] भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, देवराज, पृ० २७३।

तंत्र के इस श्लोक को श्री जीव गोस्वामी ने 'ब्रह्म संहिता' की टीका में भी उद्धृत किया है।[1]

'मत्स्य-पुराण' में अनेक देवियों के नाम गिनाते हुए वृन्दावन में राधा का नाम गिनाया गया है।[2] 'पद्म पुराण' में भी सावित्री के अनेक रूपों में वृन्दावन में राधा का नाम लिया गया है।[3] 'नारद-पांचरात्र' में भी देवी-देवताओं की एक लम्बी चौड़ी सूची में राधा का उल्लेख देवी के रूप में है।[4] यह देवी शक्तिरूपा हैं।

शाक्तों का शक्ति के प्रति मातृभाव रहता है। श्रीराधा-कृष्ण को भी जगन्माता और जगत्पिता के रूप में वर्णित किया गया है...

श्रीकृष्णोस्ति जगत्तातो जगन्माता च राधिका।
पितुः शतगुणा माता पूज्या वन्द्या गरीयसी ॥[5]

माता पिता से अधिक पूज्या और श्रेष्ठ हैं, राधिका जगन्माता हैं अतः श्रीकृष्ण से अधिक पूज्या हैं।

जिस प्रकार सांख्य में पुरुष निष्क्रिय और प्रकृति सक्रिय है, उसी प्रकार शाक्त दर्शन में शक्ति की प्रमुखता है। यह कहा गया है कि शक्ति के विना शिव शव के समान ही हैं।[6] 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में राधा के बिना कृष्ण भी अपने को जड़ कह रहे हैं, शक्ति और शक्तिमान् का यह संबंध इस श्लोक में द्रष्टव्य है—

त्वया विना जडश्चाहं सर्वत्र च न, शक्तिमान्।
सर्वशक्तिस्वरूपा त्वं त्वमागच्छ ममान्तिकम् ।[7]

---

[1] यन्नाम्ना नाम्नि दुर्गाहं गुणैर्गुणवती ह्यहम्।
यद्वैभवान् महालक्ष्मी राधा नित्या पराद्वया। ब्रह्म संहिता की टीका।

[2] रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने। मत्स्य पुराण, १३. ३८

[3] पद्म पुराण, सृष्टि खण्ड, १७. १९६।

[4] लक्ष्मी सरस्वती दुर्गा सावित्री राधिका परा।
नारद पांचरात्र मंगला० १, २

[5] संकलित

[6] शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः। कवच, देवीभागवत।

[7] ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म खण्ड ५५. ८७।

राधा-कृष्ण को शिव-शक्ति के रूप में देखना भारतीय धर्मों के लिये सामान्य बात है। राधा-कृष्ण के मिलन को शिव-शक्ति के मिलन के रूप में साधारणतया चित्रित किया भी जाता है। म० म० श्री गोपीनाथ जी कविराज ने अपने एक निबंध (शक्ति-साधना) में इस तथ्य की ओर संकेत किया भी है। वे लिखते हैं...'राधाकृष्ण का युगल मिलन...इसी (शिव-शक्ति का मिलन) को द्योतन करते हैं।[1]

जगत्-उत्पादिका शक्ति के रूप में राधा

वेदान्त-दर्शन का भक्ति आन्दोलन से निकट का संबंध है। श्री शंकराचार्य ने जिस अद्वैत ब्रह्म की सत्ता स्थापित की थी, वह विशुद्ध भक्ति तत्त्व के अनुकूल न पड़ता था। उनके अनुसार ब्रह्म से भिन्न जीव का संबंध केवल मात्र भ्रम पर आधारित था। भक्ति के लिये दो अस्तित्वों, उपास्य और उपासक की भिन्न रूप में अपेक्षा रहती है, यही कारण है कि भक्ति के आचार्यों ने शंकर-मत से भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए अपने वेदान्त भाष्य प्रस्तुत किये।

वैष्णवों के लिये श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। ब्रह्म की अपनी अनेक शक्तियाँ हैं, जिनसे वह जगत् की रचना करता है। उनकी इस जगत्-उत्पादिका शक्ति के अनेक नाम हैं। कोई इसे माया शक्ति कहते हैं।[2] कोई परा[3] और अपरा[4] शक्ति। यह ब्रह्म-शक्ति ही अनन्त प्रसारित जगत् का सर्जन करती है और ब्रह्म उसमें रमण करता है।

वेदान्त की इस ब्राह्मी-शक्ति का स्वरूप सांख्य की प्रकृति के ही समान है। पुराणों में विष्णु-शक्ति को प्रकृति या मूल प्रकृति कहा गया है। यह प्रकृति यद्यपि आद्या शक्ति-स्वरूपा है परन्तु अधिकतर इसे अपराशक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। वास्तव में सृष्टि का निर्माण करने में जो प्रकृष्ट है, वही

---

[1] शक्ति-साधना, ले० म० म० गोपीनाथ जी कविराज, कल्याण, शक्ति, अंक, पृ० ६०।

[2] तया जगत्सर्गलयौ करोति भगवान्सदा।
क्रीडार्थं देवदेवेन सृष्टा माया जगन्मयी॥
पद्म पुराण, उत्तर०, २२७.५१।

[3] विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा। विष्णु पुराण, ६.७.६१।

[4] उपर्युक्त।

प्रकृति है ।[1] अपरा शक्ति का भी यही कार्य है, कार्य की दृष्टि से दोनों समान ही हैं ।

हम कह चुके हैं कि राधा को प्रकृतिरूपा माना गया है, साथ ही वे ब्रह्म की जगत्-उत्पादिका शक्ति मानी गई हैं, दोनों विचार यहां एक साथ समन्वित हैं ।[2] अन्तर यही है कि प्रकृति, पुरुष के सान्निध्य से स्वयं सर्जन करती है, पुरुष वहां अकर्मण्य रहता है । वेदान्त में ब्रह्म अपनी शक्तियों का आश्रय कर सृष्टि करता है ।

शक्ति-शक्तिमान् का यह स्वरूप 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में देखने को मिलता है । वहाँ कहा गया है कि श्रीराधा ही नारायणी शक्ति हैं, परा हैं, एवं नित्या हैं । पुरुष परमात्मा की वे शक्ति हैं । परमात्मा को वे ही शक्तिमान् बनाती हैं, उनके बिना परमात्मा सृष्टि रचना में समर्थ नहीं है ।[3] वहीं आगे कहा गया है, राधा ब्रह्मस्वरूपा प्रकृति हैं, उन्हीं के द्वारा वे सृष्टि करते हैं । जगत् में जो कुछ भी शिव और सुन्दर है वह सभी श्रीराधा का ही विग्रह है । वे ही माया हैं, जिनसे सब विमोहित रहते हैं ।[4] शक्तिस्वरूपा, मूलप्रकृति राधा को ही वहाँ सृष्टि की आधारभूता बताया गया है ।[5] उन्होंने ही गर्भ धारण किया, उनका ही डिम्भ महाविराट् का सर्वाधार हुआ ।[6]

---

[1] प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता । ब्रह्मवैवर्त०, प्रकृति खंड, १ ।

[2] त्वं च शक्ति स्वरूपाऽसि सर्वस्त्री-रूपधारिणी ।
ममांगांशस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी । ब्रह्म वैवर्त०, कृष्ण, १५. ६६

[3] नारायणी सा परमा सनातनी, शक्तिश्च पुंसः परमात्मनश्च ।
आत्मेश्वरश्चापि यया च शक्तिमान् तया विना स्रष्टुमशक्त एव ।।
ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्म० ३०. १३

[4] ब्रह्मस्वरूपा प्रकृतिर्न भिन्ना, यया च सृष्टिः कुरुते सनातनः ।
शिवश्च सर्वा कलया जगत्सु, माया च सर्वे च तया विमोहिताः ।
वही, ३०. १२ ।

[5] सृष्टेराधारभूता त्वं…इत्यादि । ब्रह्मवैवर्त, कृष्ण जन्म, १५. ६१ ।

[6] गर्भ दधार सा राधा यावद्वै ब्रह्मणो वपुः ।
ततः सुषाव सा डिम्भं गोलोके रासमण्डले ।।
बभूव तस्माड्डिम्भश्च सर्वाधारो महाविराट् ।
ब्रह्मवैवर्त प्रकृति०, ५४, ११४, ११७ ।

तंत्र में राधा को महाविष्णु-ब्रह्मादि की जननी वताया गया है। राधा के गर्भ से जो डिम्भ उत्पन्न हुआ, वही द्विधा होकर गोलोक से आकर समुद्र के जल में गिरा। वहीं एक वालक दिखाई दिया, उस महाविष्णु के रोम-कूपों से असंख्य ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति हुई, प्रत्येक लोमकूप में जल-व्याप्त था। उसके ऊपर वायु थी, उसके ऊपर कच्छप था, कच्छप के ऊपर सहस्र फणी शेष, उनके ऊपर डिम्भ, तदुपरि ब्रह्माण्ड आदि का वहाँ विस्तार से वर्णन है।[1]

'पद्म-पुराण' में श्रीराधा को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूपा, विद्या, अविद्या, त्रयी और परा, स्वरूपा, शक्तिरूपी एवं माया-रूपा व चिन्मयी शक्ति वताया गया है। श्रीराधा ही ब्रह्मा, विष्णु, महादेव के देह-धारण का कारण है। जितना भी चराचर जगत् है, वह जिस माया से परिरंभित है, उस सभी का पालन करने वाली होने के कारण वृन्दावनेश्वरी का नाम राधा है। उन्हीं का आलिंगन कर वृन्दावनेश्वर वृन्दावन में नित्य निवास करते हैं।[2]

---

[1] महज्ज्वलं महावायुर्वभूव कलया हरेः।
राधा गर्भोद्भवो डिम्भः स च डिम्भोद्भवः पुरा॥
वभंज डिम्भः सहसा गोलोकात्प्रेरितस्तथाः।
भूत्वा द्विखंडं पतितो डिंभो भग्नो जलार्णवे॥
वालश्च शेते तोयं पर्यंके च यथा नृपः।
महाविष्णोश्च लोम्नां च विवरेषु पृथक् पृथक्॥
ब्रह्मांडानि च प्रत्येकमसंख्यानि च नारद।
पृथक् पृथग्जलं व्याप्तं प्रतिलोम्नश्च कूपतः॥
वायुस्तदूर्ध्वं प्रत्येकं तदूर्ध्वं कमठस्तथा।
शेषः कमठपृष्ठे च सहस्रमितमस्तकः॥
मस्तकस्यैकदेशे च डिम्भः सर्षपवन्मुने।
डिम्भान्तरे च ब्रह्माण्डमनित्यं कृत्रिमं च तत्॥
नारद पांचरात्र, २. २. ३७ से ४२ तक।

[2] सृष्टिस्थित्यंतरूपा या विंद्याविद्यात्रयी परा।
स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी॥
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां देहधारणकारणम्।
चराचरं जगत्सर्वं यन्मायापरिरंभितम्।

श्रीराधा जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिव की जन्मदात्री हैं, उसी प्रकार दुर्गादि समस्त देवियाँ भी उन्हीं के अंश से उत्पन्न हुई हैं।[1] 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' प्रकृति खण्ड में राधा का महाविराट् स्वरूप दिग्दर्शित है। वे मूल प्रकृतिरीश्वरी महाविष्णु की माता हैं। सगुणा, निर्गुणा वे ही हैं। वे ही महालक्ष्मी हैं। पुण्य क्षेत्र भारत में वे ही सती हैं, भारती हैं। पुण्यरूपा तुलसी हैं, भुवनपावनी गंगा हैं। ब्रह्मलोक में वे ही सावित्री हैं। वे ही वसुन्धरा हैं। गोलोक में वे राधिका हैं। उनके विना कृष्ण सभी कर्मों में अशक्त हैं। शिव उनकी शक्ति से ही सशक्त हैं, अन्यथा वे शव हैं। वेदकर्ता ब्रह्मा इनके ही कारण हैं, नारायण उनके लक्ष्मी-रूप के कारण ही जगत्पति हैं। यज्ञ उनकी दक्षिणा के कारण ही फल देते हैं। उनके कारण ही शेष सृष्टि को मस्तक पर धारण किये हैं, गंगारूपिणी राधा को शिव मस्तक पर धारण किये रहते हैं। समस्त जगत् श्रीराधा के कारण ही शक्तिमत् है, अन्यथा शवमात्र है। सूत वाणी रूपी राधा के कारण ही बोल सकते हैं. अन्यथा वे मूक हैं। जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी का घड़ा बनाने में समर्थ है, वैसे ही ब्रह्म श्रीराधा-रूपिणी प्रकृति के सहयोग से सृष्टि-रचना में समर्थ है। श्रीराधा सर्वशक्तिरूपा हैं, उनके विना श्रीकृष्ण जड़ हैं। अग्नि में दाहिका शक्ति वे ही हैं। उनके विना चन्द्रमा सुन्दर नहीं है। वे ही शोभा-रूपिणी हैं। सूर्य में वे ही प्रभारूपा हैं, उन्हीं से भानु की भानुता है। कामिनी में कामरूपा वे ही हैं।[2]

इस प्रकार श्रीराधा का शक्ति के व्यापक रूप में दर्शन किया गया है। राधा की शक्तितत्व के रूप में यह विराट् अभिव्यक्ति है।

वृन्दावनेश्वरी नाम्ना राधा धात्रानुकारणात्।
तमालिंग्य वसन्तं तं मुदा वृन्दावनेश्वरम्।

पद्मपुराण, पाताल०, ७७, १५ से १७

[1] तत्कलाकोटिकोट्यंशा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः।

वही, ६९. १११ और ११८

[2] देखिये, ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृति खंड, अध्याय ५५ में राधास्तव।
७५ से १०३ श्लोक तक

कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति के रूप में राधा

अभी तक राधा के जितने रूपों का विवरण हमने दिया है, सिद्धान्त की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में उनकी उपयोगिता होने पर भी वे गोपीभाव की भक्ति के रूप का निकट से परिचय नहीं करा पाते। लीला की दृष्टि से राधा का ह्लादिनी रूप महत्त्वपूर्ण है। गोपीभावमूलक प्रायः सभी संप्रदायों में राधा को कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति माना गया है। इसी से राधा के ह्लादिनी रूप का महत्त्व समझा जा सकता है। ह्लादिनीत्व में एक ओर प्रेम-सिद्धान्त कार्य करता है, दूसरी ओर उसका संबंध शक्ति की मान्यता से भी है। पीछे हम राधा के शक्ति-रूप का विवेचन कर चुके हैं परंतु यहाँ शक्ति के एक विशिष्ट रूप ह्लादिनीत्व का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना ही अभीष्ट है।

'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में ब्रह्म की विविध परा शक्तियाँ बताई गई हैं।[1] आगे चल कर इन शक्तियों के विभिन्न नाम और कार्य भी प्रस्तुत हुए। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में क्रिया शक्ति और भूति शक्ति का विवरण है।[2] 'सात्वत संहिता' में भोक्तृ और स्मृता शक्ति के रूप में लक्ष्मी और पुष्टि को माना गया है।[3] वैष्णव सिद्धान्त में शक्ति के दो रूप परा और अपरा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'विष्णु पुराण' में बताया गया है कि परा शक्ति ईश्वर की स्वरूपभूता शक्ति है एवं अपरा शक्ति गुणाश्रया है। इसी को क्षेत्रज्ञा कहते हैं। यही जगत् का विस्तार कर जगत् रूपमें परिणत है।[4] इस अपरा शक्ति के रूप में राधा का दिग्दर्शन हम पीछे कर चुके हैं।

अब रही बात परा शक्ति की। वह विष्णु की मूलभूता अथवा स्वरूपभूता शक्ति है। यह भगवान् की भोग्य शक्ति है। इसके साथ ही वे स्वरूपलीला कर आनन्दित होते हैं। अपरा शक्ति की लीला बहिर्लीला है।[5]

भगवान् की स्वरूप-शक्ति उनकी आत्ममाया है। उसका स्वरूप भी भगवान् के स्वरूपानुसार त्रिविध है। भगवान् सच्चिदानन्द हैं। यह स्वरूपभूता

---

[1] परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।
श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६, ८।

[2] अहिर्बुध्न्य संहिता १६, ५५।

[3] सात्वत संहिता १३, ४९।

[4] विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा। विष्णुपुराण ६. ७. ६१।

[5] विष्णु पुराण, २२७. ९, १०।

शक्ति भी सत्, चित्, और आनन्द के क्रम से संधिनी, संवित् और ह्लादिनी तीन प्रकार की है।[1] यहाँ ह्लादिनी ह्लादकरी है, अर्थात् आनन्दप्रदात्री सत्त्वगुणात्मिका है। सन्धिनी तापकरी तामसी शक्ति है, यह सत्तात्मिका है। संवित् मिश्रा है, इसे ज्ञान शक्ति समझना चाहिये। अपनी ह्लादिनी शक्ति से भगवान् आह्लादित होते हैं तथा दूसरों को आह्लादित करते हैं। सत्ता रूप होकर सत्ता धारण करते हैं एवं संवित् शक्ति से स्वयं को जानते हैं, दूसरों को अपना ज्ञान कराते हैं।[2] इनमें संधिनी, संवित् और ह्लादिनी में क्रमशः उत्कर्ष है।

भगवान् की ह्लादिनी-शक्ति ही उनकी निजलीला का आधार है। उसी के आस्वाद से वे नित्य रसमय बने रहते हैं। ह्लादिनी शक्ति विशुद्ध प्रेमस्वरूपा है। उन्हीं के साथ नित्य रमण कर भगवान् आह्लादित होते हैं। भगवान् की यह स्वरूपलीला अक्षुण्ण और अनवरत है। परब्रह्म श्रीकृष्ण को लीला-रस प्रदान करने वाली इस ह्लादिनी शक्ति का ही दूसरा नाम राधा है।

श्रीराधा को ह्लादिनी शक्ति के रूप में बहुत पहले से देखा गया है। 'राधिकोपनिषद्' में श्रीकृष्ण की आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि अनेक शक्तियों में परम अन्तरंगभूता होने के कारण ह्लादिनी को ही अत्यंत श्रेष्ठ माना गया है। यह आह्लादिनी श्रीराधा ही हैं।[3] पद्मपुराण में उन्हें कृष्णाह्लादस्वरूपिणी कहा गया है।[4] मनीषियों द्वारा उनका यही नाम आह्लादकरी होने कारण लिया जाता है।[5]

---

[1] ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते। विष्णु पुराण, १. १२, ६९

[2] देखिये राधा का क्रम-विकास, शशिभूषण दासगुप्त, पृ० ११५।

[3] एवं हि तस्य शक्तयस्त्वनेकधाः आह्लादिनी सन्धिनी ज्ञानेच्छा क्रियाद्या बहुविधाः शक्तयः। तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरंगभूता राधा।
राधिकोपनिषद्।

[4] सर्वलक्ष्मीस्वरूपा सा कृष्णाह्लादस्वरूपिणी।
पद्मपुराण पाताल०, ८१. ५२।

[5] ततः सा प्रोच्यते विप्र ह्लादिनीति मनीषिभिः।
पद्मपुराण, पाताल०, ८१, ५३।

श्रीराधा अपने आह्लादिनीत्व के कारण एक ओर जहाँ श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करती हैं, वहाँ वे भक्तों के हृदय में भी भक्ति-रूप में, उसी शक्ति के कारण स्थित रहती हैं। वे सर्वत्र, सर्वदा, सब भाँति ह्लादिनी हैं।

श्रीराधा के ह्लादिनी-स्वरूप को हम व्रजभक्ति के संप्रदायों में भी देखना चाहते हैं परंतु इस से संबंधित एक और तत्त्व पर विचार कर लेना आवश्यक है, जिसके बिना हम कृष्णलीला-काव्य के साथ न्याय न कर सकेंगे और वह है प्रेम-तत्त्व के रूप में श्रीराधा की झाँकी।

प्रेम-तत्त्व के रूप में राधा

श्री राधा के विभिन्न तात्त्विक रूपों का परिचय हमने प्राप्त किया है। तत्त्व एक अव्यक्त वस्तु है। जब तक उसका स्वरूप न हो, तब तक उसका प्रकाशन नहीं होता, उसका अनुभव नहीं हो सकता। श्रीराधा कृष्ण स्वरूप हैं। उनका आकार है। वे विग्रहमय हैं, यद्यपि उनका विग्रह आनन्दमय ही माना गया है। तत्त्व ही लीला के लिये स्वरूप धारण किये है। बिना स्वरूप के लीला नहीं हो सकती। परन्तु स्वरूप को देखकर सर्वदा उसके मूल तत्त्व को सहज ही नहीं पहचाना जा सकता। विद्वान् उस पर विचार करते हैं। अपने दृष्टिकोण से उसे देखने का यत्न करते हैं। तत्त्व-विश्लेषण बुद्धि की क्रिया है। श्री राधा को विद्वानों ने विभिन्न तत्त्वों के रूपों में देखा है। परन्तु लीला केवल बुद्धि द्वारा विश्लेषणीय नहीं है। वह अनुभव की वस्तु है। अतएव आत्मा में लीला के माध्यम से जिस वस्तु का अनुभव किया जाता है, वह तत्त्व-मात्र का नहीं, अपितु आनन्द का अनुभव होता है। श्रीराधा और कृष्ण की परस्पर प्रीति अथवा प्रेम ही लीलारस के साधकों को सर्वप्रमुख दिखाई देता है। वह प्रेम ही उन्हें वांछनीय है। तत्त्व की चिंता वे नहीं करते। उनकी दृष्टि में तो 'प्रेम' ही परात्पर तत्त्व है।

प्रेम का आस्वादन साधारण जन लीला के माध्यम से करते हैं परन्तु विश्लेषक पुनः प्रेम की विभिन्न व्याख्याओं में उलझकर उसे बुद्धि का विषय बना देता है। एक को प्रेमतत्त्व के विस्तारों के बिना चैन नहीं पड़ता, दूसरा इस तत्त्ववाद को भूल कर लीला द्वारा जो सीधा आनन्दमय पवित्र प्रेम है, उसका भजन करता है। वह साधक है। कम से कम व्रज का भक्त-कवि ऐसा ही है। श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के ये शब्द इस संबंध में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं : "तत्त्ववाद के इस युग में प्रेम की बड़ी खींचतान हुई है। व्रजभापी

कवि इन दुरूहताओं को नहीं जानता। उसका प्रेम स्फटिक की भाँति उज्ज्वल है, उसी की तरह ठोस। अध्यात्मवाद की विकट गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न उसने किसी दिन नहीं किया।"[1]

परन्तु यहाँ एक समस्या पुनः उत्पन्न होती है। जिसने प्रेम की इस वास्तविकता को समझ लिया, वह तो निश्चित रूप से आलोचना और तत्व-चिन्तन के परे चला गया परन्तु जिसने प्रारंभ में ही तत्व नहीं जाना, वह राधा-कृष्ण के प्रेम को सामान्य लौकिक प्रेम मान कर उसे अश्लील कह उठता है। इसमें उसका क्या दोष? अतः उसको प्रेम-तत्व के समझने की आवश्यकता होती है। इसीलिये प्रेम अनिर्वाच्य और अविवेच्य होने पर भी वचन-विवेचन के क्षेत्र में आ पड़ता है। इसीलिये प्रेम के तात्विक रूप को देखना पड़ता है।

साधकों ने श्रीराधा को प्रेमतत्व ही माना है। गुण से गुणी अभिन्न होता है। राधा प्रेम की साकार मूर्ति हैं। उनका अपना गुण प्रेम है, और वे मूर्तिमती प्रेम हैं। योगिराज अरविन्द श्रीराधा का स्वरूप-वर्णन करते हुए कहते हैं: "राधा अनन्य भगवत्प्रेम की प्रतिमा हैं, ऐसा अनन्य भगवत्प्रेम कि जो प्रेमी की ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक सत्ता से लेकर शरीर तक सर्वांग में परिपूर्ण और अखंड हो, जिसमें कि निरपेक्ष आत्मदान और पूर्ण समर्पण हो और शरीर में तथा अत्यंत जड़ प्रकृति में परमानन्द भर जाय।"[2]

प्रेम की महत्ता के वर्णन के लिये तो बहुत अवकाश चाहिये परंतु सच्चा प्रेम वही है, जो गुणरहित हो, कामनारहित हो और अविच्छिन्न रूप से प्रतिपल वर्द्धमान हो। इसका अनुभव सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है।[3] यह मूकास्वादनवत् है।[4] अतः अनिर्वचनीय है।[5] इसी प्रेमतत्व की लीलाभूमि है वृन्दावन और प्रेम के वास्तविक विग्रह हैं श्रीराधिका और व्रजेन्द्रनन्दन। ये दोनों प्रेम वाटिका के माली और मालिन हैं। रसखान के शब्दों में—

---

[1] सूर साहित्य, श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, पृ० १९३।

[2] देखिये, योगप्रदीप, ले० अरविन्द, श्रीअरविन्द ग्रंथमाला, कलकत्ता, १९३६ पृ० ४५. ४६। यह ग्रंथ 'लाइट्स आफ योग' का अनुवाद है।

[3] गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवस्वरूपम्। नारद भक्तिसूत्र ५४।

[4] मूकास्वादनवत्। वही, ५२।

[5] अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपम्, वही, पृ० ५१।

प्रेम-अयनि श्री राधिका, प्रेम-बरन नँदनंद ।
प्रेम-वाटिका के दोऊ, माली-मालिन द्वंद ।[1]

प्रेम ही वह नित्य संबंध है, जो एक को दूसरे के प्रति समर्पित करता है। परस्पर एकप्राणता प्रेम के कारण ही होती है। तभी तो राधा कृष्ण की नित्य-प्रिया हैं, प्रेयसी कान्ताओं में सर्वोपरि हैं। वे परमात्मा श्रीकृष्ण की इसीलिये प्राणाधिष्ठात्री हैं।[2]

प्रेम के कारण ही दो एक होते हैं। दो मन, दो प्राण एक हो जाते हैं। श्री राधा कृष्ण के दो अंग अवश्य हैं पर हैं वे दोनों एक ही।[3] प्रेम में एक दूसरे की आत्मा एक हो जाती है, इसीलिये राधा-कृष्ण दोनों एक दूसरे की आत्मा हैं।[4]

राधा कृष्ण दोनों प्रेममूर्ति हैं। दोनों प्रेम-वन में प्रेम का ही खेल खेलते हैं, मानो इन रूपों में प्रेम ही विलास करता है। इस प्रेम को पाना हो तो प्रेम ही उसका एकमात्र मार्ग है। यही साधन है, यही साध्य है।

पीछे राधा को हम ह्लादिनी शक्ति कह चुके हैं। श्रीराधा कृष्ण को आह्लाद प्रदान करती हैं, प्रेम प्रदान करती हैं। वे स्वयं आह्लाद-रूपिणी हैं अर्थात् प्रेमस्वरूपिणी हैं।

गौड़ीय गोस्वामियों ने ह्लादिनी और प्रेम का संबंध अपने भक्ति-ग्रंथों में स्पष्ट किया है। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्यचरितामृत' में लिखा है कि ह्लादिनी का सार ही प्रेम है। इस प्रेम तत्त्व को और सूक्ष्मतर करते हुए वे कहते हैं, प्रेम का सार भाव है। भाव का सार अथवा पराकाष्ठा महाभाव है और श्रीराधा महाभाव-स्वरूपा हैं। इसीलिये वे कृष्ण-कान्ताओं में शिरोमणि हैं।[5]

---

[1] प्रेमवाटिका, रसखान, सं० १।

[2] प्राणाधिष्ठातृदेवी या कृष्णस्य परमात्मनः।
सर्वासां प्रेयसी कान्ता सा राधा परिकीर्तिता ॥
ब्रह्मवैवर्तपु० ब्रह्म० खण्ड ३०. १९

[3] एकीभूतं द्वयोरंगं राधाकृष्णौ बुधैःस्मृतम्।
भविष्य पुराण, प्रतिसर्गपर्वखंड २५, ४

[4] राधा कृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुवम्। ब्रह्माण्ड पुराण।

[5] ह्लादिनीर सारप्रेम, प्रेमसार महाभाव।
भावेर् पराकाष्ठा नाम महाभाव।
महाभावस्वरूपा श्री राधा ठकुरानी।
सर्वगुणखानि कृष्णकान्ता शिरोमणि।
चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, ८ म परि०

महाभाव के भी दो भेद करते हुए श्रीराधा को मादनाख्य महाभाव स्वरूप बताया गया है। यह मादनाख्य महाभाव परमोल्लासमय है और परात्पर भाव है।[1]

अभी तक हमने श्रीराधा के विभिन्न तात्विक स्वरूपों को देखने का यत्न किया है और सखीभाव के सिद्धान्त को जानने के निकट की भूमिका का निर्देश किया है। राधातत्व के विषय में यह जानना भी प्रासंगिक ही होगा कि विभिन्न भक्ति-ग्रंथों में, जो सखीभावोपासना के उद्भव के पूर्व वैष्णव-धर्म को प्रभावित कर रहे थे, उनमें राधातत्व किस प्रकार पल्लवित और प्रकाशित हुआ है। विशिष्ट ग्रंथों और विशिष्ट संप्रदायों का इस संबंध का विवेचन हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीमद्भागवत में राधातत्व

श्रीमद्भागवत में राधा का नाम प्रकट रूप से नहीं लिया गया है। विद्वानों ने इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि श्रीमद्भागवत की रचना के समय राधा का नाम अज्ञात था। दूसरी ओर सभी संप्रदायों के भक्त-विद्वानों का एक स्वर से कथन है कि भागवत में राधा का नाम स्पष्ट है, परन्तु इसे वे ही समझ सकते हैं, जिनकी भागवत में भक्ति है।[2]

वैज्ञानिक शोध की दृष्टि से जो विद्वान श्रीमद्भागवत में राधा के नाम का अस्तित्व ढूंढने का यत्न करते हैं, उस दृष्टि से उनका निष्कर्ष उपर्युक्त ही होगा। परन्तु उससे वैष्णवों की भक्तिभावना का विवेचन हम नहीं कर सकते। अतः शोधकर्ताओं की प्रणाली का अनुसरण न कर वैष्णवों की मान्यता के आधार-रूप में ही हम देखना चाहते हैं कि वैष्णवों द्वारा बताये उन स्थलों में राधा-तत्व है या नहीं और यदि है तो वह क्या है?

श्रीमद्भागवत में गोपियों का समूहात्मक वर्णन ही सर्वत्र हुआ है। परंतु एक स्थल ऐसा भी है, जहाँ एक विशिष्ट प्रिया गोपी को गोविन्द एकान्त में ले गये हैं। गोपियों ने कहा है, इसने निश्चित ही भगवान् हरि ईश्वर की आराधना की है, जिससे हमको छोड़कर गोविन्द उसे ही एकान्त में ले गये हैं...

---

[1] सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनाख्यो परात्परः।
राजते ह्लादिनी सारो राधायामेव यः सदा।

[2] जिनकी विषै भागवत संतत भक्ति भाव भक्तन पहिचानी।
हरिराम व्यास, सि० ६।

अनयाराधितो नूनं भगवान्हरिरीश्वर ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥[१]

आगे वे कहती हैं, यह सखी श्रीकृष्ण को एकान्त में ले जाकर उनके अधर सुधारस का पान कर रही है, इसके उभरे हुए चरण-चिह्न हमारे हृदय में क्षोभ उत्पन्न करते हैं ।[२] यहां प्रिय ने उस प्रेयसी को कन्धे पर चढ़ाया होगा ।[3] यहां प्रिया के लिये कृष्ण ने पुष्प तोड़े हैं, तभी तो यहाँ पूरे पदचिह्न नहीं हैं ।[४] यहां उस कामी ने कामिनी के केश सँवारे हैं, यहां चुने हुए फूलों को उसके जूड़े में लगाया होगा ।[५] शुकदेव जी ने कहा, "उस आत्मक्रीड ने अखण्ड आत्माराम होते हुए भी उसके साथ रमण किया है, यह उन्होंने कामियों की दीनता और स्त्रियों की दुरात्मा दिखाने के लिये ही किया है ।"[६]

उधर जिस गोपी को कृष्ण ले गये थे, उसने अपने को सर्वयोषितों में वरिष्ठ माना कि अन्य गोपियों को छोड़कर कृष्ण ने मुझे ही भजा है ।[७] इसलिये वन में जाते हुए दृप्त हुई उस गोपी ने केशव से कहा, "मैं चल नहीं सकती ।

---

[१] श्रीमद्भागवत १०, ३०, २८ ।

[२] तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुंक्तेऽच्युताधरम् ॥ श्रीमद्भागवत, १०. ३०, २८ ।

[3] गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः ।
श्रीमद्भागवत, १०. ३०, ३१, ३२

[४] अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसीकृतः ।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥ श्रीमद्भागवत, १०. ३०, ३३ ।

[५] केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।
तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥
श्रीमद्भागवत, १०. ३०, ३४ ।

[६] रेमे तया चात्मरत, आत्मारामोप्यखण्डितः ।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥
श्रीमद्भागवत, १०. ३०, ३५ ।

[७] सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।
हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥
श्रीमद्भागवत, १०. ३०, ३७ ।

जहां तुम्हारी इच्छा हो तुम ही मुझे ले चलो।"[1] ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने कहा, "तुम मेरे कन्धे पर चढ़ जाओ।" परन्तु ऐसा कहते ही वे अंतर्धान हो गये और वह वधू बहुत की व्याकुल हुई?[2]

इस विवरण से हमें इस गोपी विशेष के संवन्ध में निम्नलिखित विशेपताएं ज्ञात होती हैं।

१. इसी ने विशेष रूप से भगवान की आराधना की है।

२. कृष्ण उसको प्रसन्न होकर एकान्त क्रीडा के लिये ले गये हैं।

३. वह गोपी एकान्त में जाकर श्रीकृष्ण के अधरामृत का भोग करती है।

४. वह गोपी श्रीकृष्ण के निकट भी वैठी है, उसकी वेणी कृष्ण ने पुष्पों से गूंथी है।

५. आत्माराम होने पर भी श्रीकृष्ण ने उसके साथ रमण किया है।

६. इस गोपी ने अपने को सर्वश्रेष्ठ समझा और यह माना कि अन्य सभी गोपियों को छोड़कर श्रीकृष्ण उसी को भजते हैं।

७. दृप्ता होकर उसने चलने में असमर्थता प्रकट की, श्रीकृष्ण ने उससे कंधे पर वैठने के लिये कहा।

यह स्पष्ट है कि वह गोपी अन्य गोपीगण में श्रेष्ठ थी। उसने श्री कृष्ण की आराधना की थी और श्रीकृष्ण ने उसके साथ रमण किया था। अखण्ड आत्माराम की यह रमणसंगिनी कौन हो सकती है? यहां भागवतकार की स्मृति में वे श्रुतियां स्पष्ट घूमती मालूम होती हैं, जहां ब्रह्म को सर्वकाम, अथवा आत्माराम कहा गया है। साथ ही वृहदारण्यक की वह श्रुति भी यहां स्पष्ट होती है, जहां कहा गया है कि एकाकी होने के कारण वह रमण नहीं कर सका। अतः एक से दो हो गया। स नैव रेमे, इत्यादि।[3] ऐसा ज्ञात होता है कि 'नैव रेमे' की उत्तर ही भागवतकार ने 'तया रेमे' के रूप में दिया है और श्रुति की समस्या की पूर्ति की है। अतः गोपी विशेप निश्चित रूप से परब्रह्म श्रीकृष्ण का अपना

---

[1] ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत्।
न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः। श्रीमद्भागवत, १०. ३०, ३८।

[2] एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥ श्रीमद्भागवत, १० ३०, ३९।

[3] वृहदारण्यकोपनिषद्, १, ४।

दूसरा स्वरूप है । उसी अपने रूप को स्वलीलाद्वैत ब्रह्म ने भजा है..."मामसौ भजते प्रियः" श्रीकृष्ण की इस लीला का प्रयोजन कामियों का दैन्य-प्रदर्शन और स्त्रियों की दुरात्मता दिखाना बताया है । श्री कृष्ण का यह दैन्य-प्रदर्शन भावी व्रजलीला और सखीभाव की उपासना का मूलाधार है, यह ध्यान रखना चाहिये । स्त्रियों की दुरात्मता यह बात उस गोपी के चरित्र को कलंकित करने वाली ज्ञात होती है, अभिमान-सूचक लगती है । परन्तु वास्तव में यह गर्व या मान ही तो प्रेम की संपत्ति है । हो सकता है श्रीमद्भागवतकार इस पर आगे कुछ और प्रकाश डालते । जो हो, सखीभाव के उपासना-साहित्य में राधा का यह गौरव ज्यों का त्यों बना है । मान आदि के रूप में यह तत्व कृष्णलीला का प्रेरक रहा है ।

तो यह गोपी-विशेष कौन हैं? निश्चित रूप से राधा ही हैं । 'अनयाराधितः' में उनका नाम भागवतकार ने दे दिया है । जिसके द्वारा आराधना की गई है, वह राधा ही है । इस स्थल की वैष्णव आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्मता से व्याख्याएं की हैं और वे इसे निश्चित रूप से राधा का प्रत्यक्ष नाम-निर्देश मानते हैं । नाम न लेने में जो कुछ गोपनीयता है भी, उसका समाधान भी विभिन्न रीतियों से किया जाता है ।

सबसे प्रमुख और समक्ष में आने वाली बात है भागवतकार की इस संबंध की शैली की । श्रीमद्भागवतकार ने गोपियों का विस्तार से वर्णन करते हुए भी कहीं भी उनका नामोल्लेख नहीं किया है । श्रीकृष्ण के माता-पिता का नाम है, सखाओं के नाम हैं तब क्या कारण है कि गोपियों के नाम नहीं है? अवश्य ही यह बात किसी रहस्य का संकेत कर सकती है । जब गोपियों के ही नाम वहां नहीं हैं, तब श्रीराधा का नाम भी वहां कैसे हो सकता है? हां, 'अनयाराधितः' में फिर भी भी 'राधा' का नाम बहुत स्पष्ट है ।[1]

दूसरे साधकवर्ग का यह कहना है कि श्रीराधा की कथाओं के वास्तविक रूप में परीक्षित की जांच करने के लिये शुकदेव जी ने रास-पंचाध्यायी सुनाई परन्तु यहीं परीक्षित के मन में संदेह हो गया कि धर्म की रक्षा के लिये अवतरित ब्रह्म ने 'परदाराभिमर्शन' जैसा प्रतीपाचरण कैसे किया?[2] श्री शुकदेव

---

[1] देखिये, ईश्वर प्राप्ति, मासिक, राधा अंक, श्री अखंडानन्द जी का लेख ।

[2] स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता ।
प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् । श्रीमद्भागवत, १०, ३३, २८ ।

जी ने इसका उत्तर ब्रह्म की सामर्थ्य के आधार पर दिया तो परन्तु उसके पश्चात् उन्होंने उस रहस्यलीला को आगे कहना उचित न समझा और रास-लीला के पश्चात् पुनः वे असुर-संहार की कथा कहने लगे।[1]

संभवतः श्रीराधा को ब्रह्म की अव्यक्त प्रकृति मानकर उनका नाम भी अव्यक्त रखा गया हो। ध्यान रहे, भागवत में सांख्यतत्व पर्याप्त मात्रा में है।

परन्तु व्रज का भक्त-कवि जो बात कहता है वह दूसरी ही है। उसका कथन है कि शुकदेव पहले श्रीराधा जी के महल के शुक थे, उन्हीं के दर्शन में मुग्ध रहते थे। वे उस राधा नाम का महत्त्व जानते थे। वह तो उनका परम धन था। श्रीकृष्ण की मुरली में वही नाम तो टेरा जाता है। यंत्र-मंत्र, वेद तंत्र सभी के तार का तार वही नाम तो है। सार का भी सार जान कर शुकदेव जी ने राधा नाम को प्रकट नहीं किया। इस विश्वास के मानने वाले हैं, भक्त प्रवर हरिराम जी व्यास। उनका पद निम्नलिखित है...

परमधन राधा नाम अधार।
जाहि स्याम मुरली में टेरत, सुमिरत बारंबार।
जंत्र मंत्र औ वेद तंत्र में सबै तार कौ तार।
श्री सुक प्रकट कियौ नहिं यातें, जानि सार कौ सार।
कोटिन रूप धरैं नंदनंदन, तौऊ न पावैं पार।
व्यासदास अब प्रगट बखानत, डारि भार में भार।[2]

जो हो, रसिक-वैष्णवों की मान्यता है कि श्रीराधा की स्थिति भागवत में है अवश्य परन्तु यह गोपनीय तत्व है। नाम चाहे प्रकट न हो, परन्तु नामी वहाँ प्रकट है। श्रीमद्भागवत में राधातत्व प्रकट है। यह गोपीविशेष श्रीकृष्ण की आराधना करने वाला परम प्रेमतत्व है। वह प्रेम अपने अधिकार के कारण गर्वभरा है, दृप्त है। श्रीकृष्ण उसके समक्ष दीन हैं। श्रीराधा कृष्ण की आत्मा ही हैं, तभी तो वे उनके साथ रमण करने के उपरान्त भी अखंडित आत्माराम रह सके हैं! श्रीमद्‌भागवत में राधातत्व अत्यन्त उज्ज्वल, दृप्त और गौरव से परिपूर्ण है। प्रिया द्वारा भी समाराधित पूर्ण तत्व है, इसमें संदेह नहीं।

---

[1] 'कल्याण' श्री महावीर प्रसाद जी श्रीवास्तव का लेख, वर्ष ६ पौष १९८८ जन १९३२ सं० ६ तथा कल्याण वर्ष ७ कार्तिक १९८९।

[2] भक्त-कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, मथुरा, सिद्धान्त पद सं० ३१।

गीतगोविन्द में राधा तत्व.

श्री हरिराम व्यास ने व्रज-रसिकों की परिपाटी में प्रथम स्थान गीतगोविन्दकार जयदेव को ही प्रदान किया है। उन्हीं के पश्चात् औरों ने भी इस रस का गान किया।[1]

विद्वानों ने निर्णय कर लिया है कि जयदेव का दृष्टिकोण साहित्यिक ही है। हमें यह बात पूरी तरह गले नहीं उतरती। उन्होंने तो पहले हरिस्मरण की बात कही है, तब विलास-कला-कुतूहल की। परन्तु यह विलास-कला-कुतूहल भी तो हरि का ही है।[2]

समस्त दार्शनिकता को जयदेव के गीतगोविन्द में माधुर्यलीलाओं में डुबा दिया गया है। यहां केवल प्रेमतत्व ही क्रीड़ा करता है, अन्य बात यहाँ आती ही नहीं।

श्रीराधा-कृष्ण की लीला क्या है? अनंग ही अनंगोत्सव में क्रीड़ा कर रहा है। श्रीकृष्ण मूर्तिमान श्रृङ्गार हैं।[3] "श्रीराधा प्रेम मदान्ध हैं। दोनों परिरंभित हुए रासोल्लास भार से भरे कामकेलि करते हैं। गीतस्तुति के व्याज से चुम्बन कर मुसकुराने वाले हरि हमारी रक्षा करें।"[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परब्रह्म के रस-स्वरूप को रासोल्लास में पान करने की जयदेव की दृष्टि प्रत्येक स्थान पर अपने उपास्य को साधारण नायक नहीं मानती अपितु वे उन हरि द्वारा रक्षा की कामना करते हैं।

---

[1] श्री जयदेव से रसिक न कोई जिन लीला रस गायौ...
वृन्दावन कौ रसमय वैभव जिन पहलें गाय सुनायौ।
इत्यादि, वही, ९

[2] यदि हरिस्मरणे सरसोमनो, यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
गीतगोविन्द।

[3] श्रृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति।
गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग।

[4] रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीर वामभ्रुवा।
मभ्यर्णं परिरभ्य निर्भरमुरः प्रेमान्धया राधया।
साधुत्वदवदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुति।
व्याजादुद्भटचुम्बित स्मित मनोहारी हरिः पातु व।
गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग।

श्री जयदेव ने राधा को गोपियों में श्रेष्ठ तो माना ही है, ज्ञात होता है कि वे राधा तत्व को गोपीतत्व से कुछ भिन्न ही समझते थे। उन्होंने लिखा है कि श्रीकृष्ण ने जगत् की वासना को बांधने के लिये गोपियों को छोड़कर श्रीराधा को ही हृदय में धारण किया...

कंसारिरपि संसारवासनावंधश्रृंखलाम्।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रज सुन्दरी।[1]

अतः गोपियों के प्रेम से ऊपर श्रीराधा का प्रेमस्वरूप है, ऐसा ज्ञात होता है। इस प्रसंग की अन्तिम पंक्ति श्रीमद्भागवत के राधा-वर्णन की भी कुंजी ज्ञात होती है। "यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः" की ही स्पष्ट व्याख्या है, "राधामाधाय हृदये तत्याज व्रज-सुन्दरीः। यह द्रष्टव्य है।

व्रज-भक्ति-संप्रदायों में श्रीराधा.

दर्शन, पुराण, तंत्र और साहित्य सभी ओर से समृद्ध होकर श्रीराधा का रूप व्रजभक्ति-संप्रदायों में अपनी संपूर्ण सीमाओं में साकार होकर प्रकाशित हुआ है। यहां तत्ववाद अलग-अलग न रह कर लीला में मिल गये हैं। उनको मानवीय धरातल प्राप्त हो गया है। अतः रहस्य के लिये यहां अधिक गुंजाइश नहीं है। परन्तु यह बात संप्रदायों के विकसित रूप के संबंध में ही कह सकते हैं।

इन संप्रदायों में राधाकृष्ण की माधुर्यपूर्ण लीलाओं के सर्वांगसुन्दर अनन्त-रमणीय चित्र हैं। लीला में तत्व बताने की आवश्यकता नहीं होती। लीला-लीला है, आनन्द की क्रीड़ा है। राधाकृष्ण का यह लीला-विलास व्रज-भक्त कवियों ने भौतिक धरातल पर ही वर्णित किया है। प्रकट रूप में उन्होंने स्थूल बुद्धि को भटकने से बचाने के लिये अधिकांश में अलौकिक प्रेम तत्व की ओर बार-बार इंगित किया है। कहीं-कहीं पौराणिक आधार पर राधा की दार्शनिक व्याख्या भी की गई है, परन्तु वह उन भक्त-कवियों का प्रतिपाद्य नहीं है।

माधुर्य भाव की उपासना में दम्पति का स्थान प्रायः बराबर ही होना चाहिये परन्तु सभी व्रजभक्ति संप्रदायों में श्रीकृष्ण ही प्रधान उपास्य रहे हैं। सखीभाव के प्रचार प्रभाव से इन संप्रदायों में भी क्रमशः श्रीराधा को प्रधानता मिली है।

---

[1] गीतगोविन्द, तृतीय सर्ग।

श्रीराधा को सभी ने श्रीकृष्ण की प्रेयसी माना है परन्तु अवतार लीला पर दृष्टि केन्द्रित होने के कारण उनके संबंध में स्वकीया-परकीया का वाद भी सर्वत्र है ।

गौड़ीय संप्रदाय में श्रीराधा

कहा जा चुका है कि गौड़ीय सम्प्रदाय में श्रीराधा को प्रेम-तत्व के रूप में देखा गया है । वे श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं । यद्यपि श्रीकृष्ण पूर्ण आनन्दमय, चिन्मय तत्व हैं, परन्तु राधा का प्रेम कृष्ण को भी उन्मत्त कर देने वाला है । न मालूम, राधा के प्रेम में कितना वल है कि जो कृष्ण को भी सर्वदा विह्वल किये रहता है । राधा का प्रेम ही कृष्ण का गुरु है, कृष्ण उस प्रेम के आधीन नट हैं, जो सर्वदा कृष्ण को नित्य नाना प्रकार के नवीन नाच नचाता रहता है ।[1] श्रीकृष्ण को अपने प्रेमास्वाद में जो आह्लाद होता है, उससे भी कोटि गुना आस्वाद राधा के प्रेम में है । राधा प्रेमा का विभु रूप हैं, जहाँ प्रेम के बढ़ने की गुंजाइश नहीं है, फिर भी वह क्षण-क्षण बढ़ता ही रहता है ।[2] राधा का प्रेम स्वच्छ निर्मल दर्पण के समान है परन्तु वह स्वच्छता अवकाश न होने पर भी क्षण-क्षण बढ़ती ही जाती है । श्रीकृष्ण

---

[1] हौं पूरण आनन्दमय चिन्मय पूरण तत्व ।
राधाजू को प्रेम सो करै हमें उन्मत्त ।
नहि जानौं तिहि प्रेम के नीको वल है कोय ।
विह्वल करैंजु सर्वदा हमहू कौवल सोय ।
मम गुरु राधाप्रेम है, हौं नट तिहि आधीन ।
नाना नाच नचावही हमको सदा प्रवीन ।
चैतन्य चरितामृत का हिन्दी अनुवाद, सुवलश्यामकृत, आदि०, ४ ।

[2] निज प्रेमास्वाद में होय जु मम आहलाद ।
ताहूते है कोटिगुण राधा प्रेमा स्वाद ।

... ...

राधा प्रेमा विभु जिही बढ़िवे कौ नहि ठौर ।
इतनेऊपै सो सदा छिन-छिन बाढै और ।
चैतन्य चरितामृत का हिन्दी अनु० आदिलीला परि० ४

का माधुर्य भी इस प्रेम-दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर नव-नव रूपों में प्रकाशित होता है।[1]

श्रीरूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' में राधा को श्रीकृष्ण की प्रेयसियों में सर्वथाधिका बताया है। वे महाभाव-स्वरूपा हैं और अति गुणवरीयसी हैं। वे सर्वशक्तियों में श्रेष्ठ ह्लादिनी महाशक्ति हैं।[2]

श्रीराधा सुष्ठुकान्त स्वरूपा हैं। सोलह शृंगार धारण करने वाली और द्वादश आभरण-भरिता हैं। उनके अनन्त गुण हैं, जिनमें रूप गोस्वामी ने उनके कुछ गुण इस प्रकार बताये हैं, मधुरा, नववया, चलापांगी, उज्ज्वलस्मिता, चारुसौभाग्यरेखायुक्ता, गन्धोन्मादितमाधवा, संगीतप्रसराभिज्ञा, रम्यवाक्, नर्मपण्डिता, विनीता, करुणापूर्णा, विदग्धा, पाटवान्विता, लज्जाशीला, सुमर्यादा, धैर्यशालिनी, गाम्भीर्यशालिनी, सुविलासा, महाभावपरमोत्कर्षतर्षिणी, गोकुल प्रेमवसति, जगच्छ्रेणीलसद्यशा, गुर्वर्पितस्नेहा, सखीप्रणयाधीना, कृष्णप्रियावलीमुख्या, और संतताश्रवकेशवा ये उनके रूप हैं।[3]

---

[1] यद्यपि राधा प्रेमसत निर्मल दर्पन आहि।
तऊ स्वच्छता अधिकही छिन-छिन बाढ़े ताहि।
नाहीं है माधुर्य को बढ़िवे को अवकास।
इहि दर्पन के अग्र पुनि नव-नव होयप्रकास।
वही, आदि लीला, परि० ४।

[2] तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी।
ह्लादिनी या महाशक्ति।
सर्व शक्ति वरीयसी...।
उज्ज्वल नीलमणि, राधा प्रकरण, ३ और ६।

[3] अथ वृन्दावनेश्वर्याः कीर्त्यन्ते प्रवरागुणा।
मधुरेयंनववयाश्चलापांगोज्ज्वलस्मिता।
चारुसौभाग्यरेखाढ्या गन्धोन्मादितमाधवा।
संगीतप्रसराभिज्ञा रम्यवाङ्नर्मपंडिता।
विनीताकरुणापूर्णा विदग्धा पाटवान्विता।
लज्जाशीलासुमर्यादाधैर्यगंभीरशालिनी।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा

निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा की उपासना का प्रारंभ कब हुआ, निश्चित रूप से नहीं कहा जासकता। यह एक उलझा हुआ विषय है। प्राचीन आचार्यों के नाम से प्राप्त ग्रन्थों की प्रामाणिकता में अत्यधिक सन्देह होने के कारण निर्विवाद रूप से उनका उपयोग श्रीराधा के स्वरूपज्ञान के लिये नहीं किया जा सकता।

इस सम्प्रदाय के व्रजभाषा के आदि वाणीकार श्रीभट्ट जी माने जाते हैं। अपने 'युगल शतक' ग्रन्थ में राधाकृष्ण की व्रजलीलाओं वा चित्रण श्रीभट्ट जी ने वडे तन्मय भाव से किया है।

वृषभानुजा और नन्दनन्दन को सम्प्रदाय में सेव्य माना जाता है।[1] गोपाल श्री राधा के वश में होकर ही अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं।[2] क्रीड़ा में श्रीराधा की प्रधानता रहती है, श्रीकृष्ण उनके चरण छूते हैं[3] श्रीराधा का मान रसवर्धन के लिये है।[4] श्रीराधा का सौन्दर्य चतुर्दश भुवन में सर्वाधिक है।[5] उनका प्रेम सर्वातिशायी है।[6] श्रीराधा और कृष्ण दुलहिनी-दूलह हैं। श्रीभट्टजी ने उनका विवाह भी कराया है।[7]

सुविलासा महाभावपरमौत्कर्षतर्पिणी ।
गोकुलप्रेमवसतिर्जगच्छ्रेणीलसद्यशा ।
गुर्वर्पितगुरुस्नेहा सखीप्रणयितावशा ।
कृष्णप्रियावलीमुख्या सन्तताश्रवकेशवा ।
वहुना किं गुणास्तस्या ।
संख्यातीता हरेरिव... ।

उज्ज्वल नीलमणि, राधाप्रकरण, श्लोक सं० ११ से १६ तक ।

[1] युगलशतक, सिद्धान्तसुख ५ ।

[2] वही, व्रजलीलासुख १७ ।

[3] वही, २९ ।

[4] युगलशतक, व्रजलीला सुख, २५ ।

[5] वही, सहज सुख ५८, ५९ ।

[6] वही, व्रजलीला सुख, २१ ।

[7] वही, व्रजलीला सुख, २० ।

... ...

श्रीभट्टजी के शिष्य हरिव्यास देव जी माने जाते हैं। 'महावाणी' ग्रन्थ संप्रदाय में इन्हीं की रचना मानी जाती है। हरिव्यास जी के नाम से प्रचलित दूसरे ग्रन्थ 'सिद्धान्त रत्नांजलि' में राधा की चर्चा अत्यल्प है। इनके रसग्रंथ महावाणी का विवेचन सखीभाव के सिद्धान्त के अन्तर्गत किया गया है परन्तु यहाँ भी राधा के सम्बन्ध में एक दो बातें कहना अप्रासंगिक न होगा।

'महावाणी' में श्रीराधा को श्रीकृष्ण की नित्य आह्लादिनी शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है।[1] श्रीकृष्ण के समान ही वे भी आदि, अनादि, एक रस, अद्भुत, मुक्ति के परे सुख की दात्री हैं। वे ही अनन्त, अनीह, अनामय, अव्यय, अखिल ब्रह्माण्ड की स्वामिनी हैं।[2] श्रीराधा के चरण-कमल के नूपुर से जो निर्विकार व्यापक रव उत्पन्न होता है, उसे ही शब्द-ब्रह्म कहते हैं।[3] इस प्रकार राधा की एक साधारण छटामात्र से ब्रह्म की उत्पत्ति मानी गई है।

लीला की दृष्टि से राधा रतिवर्धिनी हैं, कृष्णसुखसाधिका हैं, वे हरि-भामिनी, श्याम की नित्यसंगिनी और प्रेमरसरंगिनी हैं।[4] लीला के लिये श्रीकृष्ण निरन्तर उन्हीं की कृपा मनाते हैं।[5]

वल्लभ-संप्रदाय में राधा

हम कह चुके हैं कि संप्रदाय के प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्य ने अपनी विशाल ग्रन्थराशि में कहीं भी राधा का नाम नहीं लिया है। 'परिवृढाष्टक' जैसे रसस्तोत्रों में भी श्रीकृष्ण की लीला सहकारिणी पशुपजा (गोपी) को ही बताया है।[6] श्रीराधा की उपासना का प्रवेश उनके पुत्र विट्ठलनाथजी के समय में ही हुआ और स्वयं उन्होंने भी राधा सम्बन्धी दो स्तोत्र (स्वामिन्यष्टक और स्वामिनीस्तोत्र) लिखे।

---

[1] महावाणी, सहज सुख ९०।

[2] वही, सिद्धान्त सुख १, २।

[3] वही, सिद्धान्तसुख, १६।

[4] वही, उत्साह सुख ११७।

[5] वही, ११९।

[6] परिवृढाष्टक, १।

श्रीवल्लभाचार्यजी ने अलग से जो राधा का उल्लेख नहीं किया है, उसके सम्बन्ध में सम्प्रदाय के विद्वानों का कथन है कि श्रीराधा इस सम्प्रदाय' में श्रीकृष्ण की आत्मरूपा मानी जाती हैं। वे मुख्य शक्ति स्वरूप में, स्त्रीभाव में स्वयं हरि ही हैं, अतएव पराशक्ति कृष्ण शब्द में ही अन्तर्हित हो जाती है। अलग से उनका नाम कथन करने की आवश्यकता नहीं थी।[1]

वल्लभ सम्प्रदाय में राधा को कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति माना गया है।[2] वे आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति हैं, रस-शक्ति हैं। सूरदासजी ने राधा को प्रकृति कहा है।[3] राधाकृष्ण दोनों एक मन, एक प्राण हैं। केवल भक्तों के दर्शनार्थ ही वे दो हैं।[4] राधा-कृष्ण की एकता को सूर ने तरुवर और छाया, नयन और श्रवण, जल और तरंग के समान ही एक तत्व माना है।[5]

वल्लभ सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की श्रेष्ठ भक्त हैं, परम प्रेमिका हैं, उनकी भामिनी हैं। श्रीकृष्ण उनके वश में हैं।[6] परन्तु वल्लभ-संप्रदाय की मूल भावना में श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं। शक्ति-शक्तिमान् के रूप में देखने से शक्ति वैष्णव-संप्रदायों में बड़ी नहीं मानी जा सकती।[7] परन्तु वल्लभ-सम्प्रदाय के सभी प्रमुख कवियों के काव्य में सखीभाव के प्रभाव से राधा का उत्तरोत्तर प्रेमस्वरूप ही अधिक मुखरित हो गया है, जिसका परिचय हम आगे प्राप्त करेंगे।

व्रजभक्त-कवियों के काव्य में श्रीराधा

विभिन्न सम्प्रदायों के माध्यम से श्रीराधा का रूप देखने के अतिरिक्त व्रजभाषाकाव्य में वर्णित श्रीराधा का सामान्य रूप देखना भी अपेक्षित है। व्रजभाषाकाव्य में वर्णित राधा का मानवीय रूप भी अपने आप में अत्यंत

---

[1] तत्र स्त्र्यंशः पराशक्तिर्भावांशः कृष्णशब्दितः (मूलसंशय निराकरणम्) हरिराय जी कृत।

[2] सूरसौरभ, डा० मुंशीरामशर्मा, पृ० ११०

[3] सूरसागर, सभा० परि० १, ५।

[4] वही, परि० १, ५।

[5] वही, परि० १, ६।

[6] सूरसागर, सभा० ३४४५

[7] देखिये, सूर निर्णय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० २११।

दिव्य है। उनके माता पिता हैं, उनका जन्म हुआ है। एक बालिका और नारी की भाँति उनकी अपनी मनोवृत्तियां और स्वभाव है। इतना अवश्य है कि राधा अन्य सामान्य नारियों से कुछ विशिष्ट हैं तो इस बात में कि उनमें मानवीय स्वभाव की दुर्बलताएँ नहीं हैं अपितु उनका अन्तरतम प्रेम की शुचि ज्योत्स्ना से अनवरत प्रकाशित है। वे श्रीकृष्ण की प्रेयसी हैं और अपने प्रिय पर अपना सर्वस्व निछावर कर देने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानती हैं। उनके लिये श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी प्रिय नहीं है। राधा अखण्ड प्रेममयी हैं, वही उनका स्वरूप है, वही लक्ष्य है।

व्रजभाषा का कवि राधाकृष्ण का प्रेममूर्ति की लीलाओं का अत्यंत तन्मय होकर चित्रण करता चलता है और उसी से पाठक को प्रेम के दर्शन मिलते चलते हैं। राधा के हृदय में निगूढ़ प्रेम को इन कवियों ने मानवीय परिस्थितियों में अपने कार्य-कारणों सहित स्वाभाविक रूप से विकसित किया है। राधा अबोध बालिका हैं। स्वरूप सौन्दर्य और गुणों की वे देवी हैं। एक दिन सहसा रवितनया के किनारे उन्हें श्रीकृष्ण का दर्शन होता है, दोनों में अत्यंत स्वाभाविक रीति से एक दूसरे के लिये आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। थोड़ी आयु की उस गोरी को देखते ही श्याम रीझ गये, यही उनका प्रथम परिचय है।[1]

परिचय प्रगाढ़ होता चला गया। एक दूसरे के दर्शन के लिये तड़प रहने लगी। दिन में चैन नहीं, रात में नींद नहीं। वे श्रीकृष्ण की पाली पोसी वेलि थीं और उनके नेत्र श्रीकृष्ण के मुखकमल के भृंग थे।

कृष्ण ने यमुना तीर पर बांसुरी बजाई। यमुना-जल रुक गया, बछड़ों ने दूध पीना बन्द कर दिया। देवताओं के विमान आकाश में रुक गये तब

---

[1] खेलन हरि निकसे व्रज खोरी।

... ...

गये श्याम रवि तनया के तट, अंग लसति चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहं राधा नैन विसाल भाल दिये रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे, वेनी पीठ रुरति झकझोरी।
संग लरिकनी चली इत आवति दिन थोरी अति छवि जन गोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।

सूरसागर, सभा०, १२९०

गोपियाँ भी कैसे रुकतीं ? वे भी लोक-लाज, कुल-कानि और गुरुजनों का भय छोड़ कर चल दीं। उन्हें शरीर की भी सुधि नहीं थी, वस्त्रों की तो बात ही क्या ? माता पिता, भाई बन्धु सभी को वे भूल गईं। मुरली जो बज रही है, वे कैसे धीर धर सकती हैं ? कितनी प्रबल मिलनेच्छा है ? इस पीर को कोई क्या समझ सकता है ? सूरदास मदनमोहन का निम्नलिखित पद देखिये—

चलौरी, मुरली सुनियै, कान्ह बजाई, जमुनातीर।
तजि लोक लाज, कुल की कानि, गुरुजन की भीर।
जमुनाजल थकित भयौ, बच्छा न पियैं छीर।
सुरविमान थकित भये, थकित कोकिल कीर॥
देह की सुधि बिसर गई, बिसरयौ तन कौ चीर।
मात-तात बिसरि गये, बिसरे बालक-बीर॥
मुरली-धुनि मधुर बाजै, कैसें कै धरौं धीर।
'सूरदास मदनमोहन' जानत हौं यह पीर॥[1]

यमुनातीर पर शरद की रात्रि में रासलीला हुई। राधाकृष्ण का मिलन हुआ। बीच में युगल प्रिय तथा चारों ओर गोपिकाएं नृत्य कर रही थीं। आनन्द की यह चरम सीमा थी। श्रीभट्ट जी ने इस शरद-विहार का वर्णन किया है—

अति रुचि पावत शरद विहार।
बीच युगल सोहैं, मन मोहैं, गोपी मंडलाकार॥
षडज जमावैं, सरस बतावैं, सब मिलि गावैं जुगल विहार।
श्रीभट नवल नागरी नागर, ताता थेई करत उचार।[2]

परन्तु घटनाचक्र घूमा। श्रीकृष्ण राजकाज से मथुरा चले गये। राधा और गोपियों को विरह मिला। राधा का प्रेम वियोग की अग्नि में तप रहा है। राधा की इस पीर का चित्रण ब्रजभक्त-कवियों ने सम्भवतः निरन्तर रो-रो कर किया होगा। कृष्ण कैसे निष्ठुर हैं। जाकर फिर सुधि भी नहीं ली। भेजा तो उद्धव को, जिसने जले पर नमक लगाया। वियोगिनी प्रेम-विवशा राधा की यह मूर्ति कितनी भव्य है, उज्ज्वल और निर्मल है। इसकी

---

[1] पदावली, मथुरा, सं० १४४।

[2] युगलशतक वृन्दावन, २४।

दूसरी जोड़ी विश्व के साहित्य में दुर्लभ है। प्रिय सुखोपभोग कर रहा है परन्तु राधा के हृदय से कृष्ण के लिये आशीष ही निकलता है। कैसा है उदात्त प्रेम, वासना नहीं, कामना कलुष नहीं, प्रत्युपकार की चिन्ता नहीं। लौकिक प्रेम का पूर्ण निखार है, तभी तो वह दिव्य बन गया है। यही है व्रजभाषा-काव्य की प्रेममयी राधा।

सखीभाव की उपास्या श्रीराधा

पूर्ववर्णित व्रजभामिनी राधा का प्रेम लौकिक सीमाओं में अति उज्ज्वल है। परन्तु उसकी भी अपनी सीमाएं हैं। व्रजलीला प्रकट लीला है, अतएव स्थूल है और स्थूल में प्रेम भी स्थूल है, विरह भी स्थूल है। यहाँ का संयोग मिलन के आनन्द में खोया हुआ है और वियोग विरह के ताप में डूबा हुआ है। "यह वह प्रेम है जो प्रेमी को मिलन के आनन्द से अज्ञान कर देता है और विरह के ताप से भी अज्ञान कर देता है, जो मिलन को केवल मिलन, ठोस मिलन और विरह को केवल विरह के रूप में देखता है।"[1] घात-प्रतिघात के बीच पलने वाला यह प्रेम सखीभाव-भावितों की दृष्टि में सर्वातिशायी नित्य चेतन प्रेम का स्वरूप नहीं है। वे जिस प्रेम की आराधना करते हैं, वह लोक के प्रेम से सर्वथा विलक्षण तत्व है, नित्य एकरस, अखण्ड और सतत प्रवहमान। प्रकट लीला लोकवत होने के कारण उसमें नित्य एकरसता नहीं रहती, प्रेम की एकरसता का वास्तविक स्वरूप नित्यविहार में है, अतः वही साध्य है—

प्रगट सो लीला लोकवत, नहीं एकरस नित्त।
निजस्वरूप इनकौ जहाँ, तहाँ राखि दृढ़ चित्त ॥[2]

इस निमित्तरहित नित्यरूपिणी राधा की आराधना ही सखीभाव में मान्य है।

सोलहवीं शताब्दी में राधातत्व का विभिन्न स्वरूपों और पद्धतियों में चरमोत्कर्ष सिद्ध हुआ परन्तु इस विस्तार के कारण श्रीराधा जैसा अत्यंत गोपनीय तत्व सामान्य हो गया। श्रीराधा तत्व के पूर्ण प्रचार के युग में अधिकारी और अनधिकारी सभी के हाथों पहुँच कर यह राधातत्व बहुत ही

---

[1] सूर साहित्य, हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, पृ० १३१।

[2] सुधर्मबोधिनी, लाडिली दास, ७ प्रसंग, १०७, । पृ० ५०।

सस्ता और साधारण हो गया। परात्पर तत्व की इस साधारणी दशा के सम्बन्ध में 'राधा-सुधा-निधि' में अत्यंत खेदपूर्वक लिखा गया है :—

यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिकां मूर्ध्ना निधातुं न हि
प्रापुर्ब्रह्म शिवादयोप्यधिकृतिं गोप्यैकभावाश्रया।
सापि प्रेमसुधारसाम्बुधिनिधी राधापि साधारणी-
भूता कालगतिक्रमेण बलिना हे दैव, तुभ्यं नमः ॥[1]

अर्थात् ब्रह्मा शिवादिक भी जिसके चरण-कमल-रज की एक कणिका को अपने मस्तक पर धारण करने के अधिकारी नहीं, जो केवल गोपीभाव के ही आश्रित हैं, वे प्रेमसुधारसाम्बुधि राधा भी काल के बलवान प्रभाव से साधारणी हो गई हैं, हे दैव, तुझे नमस्कार है।

सखी-सम्प्रदाय की उपास्या राधा का स्वरूप ब्रजलीला की इस सर्वसामान्या राधा से सर्वथा भिन्न है। ब्रज के भक्त-कवियों ने राधा को ब्रज की गोबर पाथने वाली या पानी ढोने वाली नारियों के समान चित्रित किया है, वह तो सामान्या ही हैं, विहारिनदास की उपास्या राधिका तो नित्य सुहागिनि रानी हैं, जो सेवा तो दूर, उसकी सेवा किये जाने पर भी लाडिली बोलने में भी अलसाती हैं:—

कोऊ गोबर पाथनी, कोऊ ढोवै पानि।
कोउ सुहागिनि लाडिली, बोलत हू अलसानि ॥[2]

स्पष्ट है कि ब्रजलीला की राधिका से नित्यविहारिणी राधा पूर्णतया भिन्न हैं। नित्यविहारिणी राधा कारणस्वरूपा हैं, विशुद्ध प्रेमरूपा हैं। ब्रज की राधा इनका अंशमात्र हैं, कार्यरूपा हैं। वृषभानुसुता के साथ अन्य अनेक जगत के भाव सम्बन्ध लगे हैं, नित्य रसिकनी राधा इन सब से स्वतंत्र और परे हैं।[3]

---

[1] राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७२।

[2] विहारिनदास, साखी सं० १४६।

[3] राधा नित्य विहारिन रानी।
कारन तें कारज ब्रज प्रगटत, सोहू किनहू न जानी।
श्री वृषभानुसुता कहि गावत, विविध भाव मति सानी।
दास किसोर समझि भ्रम भानत, सुनि श्रीगुरु की बानी।
सिद्धांतसार संग्रह। किशोरदास।

श्रीविहारिनदास अपनी राधा को सर्वोपरि मानते हैं। अन्य कोई राधा उनकी समता नहीं कर सकती। यद्यपि नाम-माहात्म्य के कारण अन्य व्रज आदि की राधा के प्रति भी वे श्रद्धा रखते हैं परन्तु व्रज की राधा की जन्म, वयस आदि की लीलाएं नित्यविहार-रस में बाधक हैं। यहाँ तो अंग-संग रहने वाले नवल किशोर और किशोरी एक वयस हैं, जिसका रस-सिन्धु अगाध है। इन्हीं राधा का नित्यविहार इन रसिकों का आधार है और एक प्रेम से उन्हीं के नाम की यहाँ आराधना है।[1]

विहारिनदास जी ने व्रज की राधा को साधारण राधा कहा है। व्रज में तो वस्तुतः कृष्ण की ही आराधना है। श्रीराधा और कृष्ण का जन्म, कर्म आदि इन रसिकों के लिये शिष्टाचार मात्र है, उपास्य नहीं। ये तो महामाधुर्यमय निकुंज रस के ही अनन्य भाव से उपासी हैं :—

साधारण राधा आराधत, साधत कृष्ण पियारौ।
जन्म, कर्म वृषभानु सुता नंदनन्दन शिष्टाचारौ॥
करि सतसंग सजातिनिसों मिलि संसै संवै निवारौ।
सेवत महामाधुरी रसिक अनन्यनि कौ मत न्यारौ॥[2]

वास्तव में नित्यविहारिणी राधा अजन्मा हैं,[3] नित्य किशोरी हैं,[4] सदैव एकरस हैं।

नाम

विशुद्ध नित्यविहार में श्री राधा के व्रजलीला सम्बन्धी 'वृषभानु-नन्दिनी' आदि नाम कहीं भी स्वीकृत नहीं हैं। विशिष्ट तत्त्व की अनुभूति

---

[1] को सरि करै हमारी राधा।
जद्दपि नाम महातम सेवत और बैस या रस में बाधा।
अंग संग नवल किसोर किसोरी, येक वैस रस सिंधु अगाधा।
जागत अनुरागत निसि बासर, लगत न नैन निमेषन आधा।
नित्यविहार अधार हमारैं, येक प्रेम निजु नाम अराधा।
विहारीदास हरिदास विपुल बल, सब अभिलाष मिली सुख साधा।
सिद्धांत, १४६

[2] विहारिनदास, सिद्धान्त के पद सं० १४५।

[3] और

[4] मेरे नित्य किसोर अजन्मा...विहारिनदास।

के लिये ही ऐसा किया गया है, यह स्पष्ट है। प्रश्न यह हो सकता है कि राधा नाम भी तो व्रजलीला के मध्य लिया जाता है, फिर उसी को सखी संप्रदाय में क्यों स्वीकृत किया जाता है? सम्प्रदाय के विद्वान इसका उत्तर देते हैं कि राधा नाम गुणात्मक है, व्रजलीला सम्बन्धी नहीं है। यहाँ राधा नाम तात्विक दृष्टि से ही स्वीकृत किया गया है। राधा का अर्थ है, हरि जिसकी आराधना करें। वास्तव में राधा नाम ही जहाँ परात्पर तत्व है, वहाँ इस राधा में ही युगल विहारी के दर्शन किये जाते हैं। कहा गया है, 'र' अक्षर श्री गौरतन का प्रतीक है और 'ध' घनश्याम का। राधा नाम गौर और श्याम इन दोनों रति-स्वरूपों की व्यंजना करता है। यह गौर राधा तत्व सब सुखों को देने वाला है और श्याम रूप सुखों को ग्रहण करता है। 'रा' से दान और 'धा' से धारण, ऐसी व्याख्या प्राचीनों की है, अतएव नित्य सुखों की दोनों मूर्तियों की प्रतीक राधा हैं :—

रा अक्षर श्री गौरतन धा अक्षर घनश्याम।
सहज परस्पर आत्म रति, विवि मिलि राधा नाम॥
गौर देत नित सर्व सुख, श्याम रूप ह्वै लेत।
रा दाने धा धारणे, राधा नाम समेत॥[1]

इस दृष्टि से राधा नाम नित्यविहारपरक है। सखीभाव में राधा के अन्य नाम भी लीला-सम्बन्धी हैं। रसिकवर ध्रुवदास जी ने राधा जी के नामों के सम्बन्ध में 'प्रिया जी की नामावली' नाम से पूरी लीला ही लिखी है। उसमें से कुछ नाम नीचे दिये जाते हैं। इन नामों से यह ज्ञात हो सकेगा कि सखीभाव में श्री राधा के किस स्वरूप की आराधना की जाती है :—

श्री राधे, नित्यकिशोरी, वृन्दावन-विहारिनि, बनराजरानी, निकुंजेश्वरी, रूप-रंगीली, छबीली, रसीली, रस-नागरी, लाडिली, प्यारी, सुकुमारी, रसिकनी, मोहनी, लालमुख-जोहनी, मोहनमनमोहनी, रति-विलास-विनोदिनी, लाल-लाड-लडावनी, रंगकेलि-वढ़ावनी, सुरत-चन्दन-चर्चिनी। कोटि दामिनि-दमकिनी, लाल पर लटकनी, नवल नासा चटकनी, रसिपुंजे, वृन्दावन प्रकासनी, रंगविहार-विलासनी, सखी सुखद निवासनी, सौंदर्ज-रासिनी। दुलहिनी, मृदु-हासनी, प्रीतम नैन निवासनी, नित्यानन्द दर्सिनी, उरजनि

---

[1] सुधर्म बोधिनी, प्रसंग ३, २, ३। पृ० २१।

पिय परसिनी, अधर सुधारस बरसिनी, प्रानिन रस सरसिनी, रंग विहारिनि, नेह निहारिनि, पियहित सिंगार सिंगारिनि......इत्यादि।[1]

नित्य विग्रहवती

श्रीराधा का स्वरूप सगुण और निर्गुण दोनों से परे है। निराकार तत्त्व को साकार रूप में देखने का माध्यम ही अवतारवाद की मूल भावना है। निर्गुण को सगुण बनाकर स्थूल किया जाता है परन्तु पुनः तत्त्व की जिज्ञासा सूक्ष्म की ओर अग्रसरित होती है और सगुण साकार को निर्गुण निराकार रूप में देखने का यत्न किया जाता है। सगुण और अवतार का निकट का सम्बन्ध है। परन्तु अवतारवाद के साथ लोक की अनेक मर्यादाएं और लग जाती हैं। अतः सखीभावोपासकों ने अवतार राधा को न भज कर अवतारी राधा को भजा है। उनका मानवीय वपु वास्तव में दिव्य है। वह उनका इच्छा-विग्रह-लीला-वपु है, जो नित्य आनन्दमय है :—

'इच्छा-विग्रह धरि लीला वपु, सब अवतारनि पर अवतारी'।[2]

श्रीराधा का मानुषी रूपाकार मनुष्यों की भाँति मल-मैथुन से युक्त न होकर पूर्ण दिव्य है।[3] श्रीराधाकृष्ण के इस दिव्य स्वरूप पर हम आगे अलग से विचार करेंगे।

रूप-सौंदर्य

श्री राधा रूप की राशि हैं। सौन्दर्य की अधिष्ठात्री हैं। उनका रूप प्रतिपल परिवर्द्धमान है। नित्य नूतन होने वाला रूप ही वास्तव में रमणीय है।[4] स्वामी हरिदास जी ने राधा के इस नित्य नव रूप का चित्रण बहुत ही सुन्दर रीति से किया है। श्री कुञ्जविहारी कहते हैं, "प्यारी जी, मैं जब-जब तुम्हारा मुख देखता हूँ, तब-तब वह नया-नया ही लगता है। ऐसा भ्रम होता है कि शायद मैंने यह रूप कभी देखा ही न था। इस शोभा

---

[1] प्रियाजी की नामावली लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास जी, पृ० २०५, २६६।

[2] विहारिनदास जी के सवैया सं० २८।

[3] इनके मल मैथुन कछु नाहीं।
दिव्य देह विहरत वन माहीं। विहारिनदास।

[4] क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। माघ।

का लेखन और किस द्युति से हो सकता है। ये करोड़ों चन्द्रमा तुमने कहाँ छिपा रखे हैं, जब देखो नवीन चन्द्रमा का ही उदय होता हुआ दिखाई देता है।"[1] यही है वह रूप, जो हरि के काम को शान्त नहीं होने देता और रात दिन जागकर क्रीड़ारत रहने पर भी तृप्त नहीं होता। "प्यारी जी के वदनचन्द्र को देख कर श्याम के हृदय-सरोवर में कुमुदिनी विकसित हो उठती हैं। मन के मनोरथ की अपार तरंगें उस सौन्दर्य में अपनी गति भूल जाती हैं—

प्यारी, तेरौ वदन-चन्द देखें, मेरे हृदय सरोवर तें कमोदनी फूलीं।
मन के मनोरथ तरंग अपार, सौन्दर्यता तहां गति भूलीं ॥[2]

श्री राधा के अंग-अंग के सौन्दर्य को उज्ज्वलता, सुघरता और चातुर्य के मानदंड पर सर्वोत्कृष्टता के साथ चढ़ाया गया है। उनके वर्ण की उपमा चांदनी और विजली से दी जाती है। श्री राधा यौवन के रंग में रंगीली हैं, सोने सा उनका शरीर, ढलेमा नेत्र और कंठ में पोत की मालाएं हैं। अंग-अंग से कामदेव झलका पड़ता है। वे कानों में वीरे पहिने हैं, लगता है चांदनी में चाँदनी फूल रही है। शरीर पर तनसुख की सारी, अतलस की अंगिया और अतरौटा है। हाथों में चार-चार चूड़ी और पहुँची हैं। नाक में फूल पहिने हैं। मुख में पान का बीड़ा है। ऐसा है नित्यविहारिणि राधा का अपूर्व सौन्दर्य।[3]

श्री राधा का रूप-सौन्दर्य स्थूल होते हुए भी सर्वत्र स्थूलता से बचाया गया है। इसके पीछे एक ऐसी दिव्यता, सूक्ष्मता और भावना का प्रकाश

---

[1] केलिमाल, स्वामी हरिदास, पद सं० ३४।

[2] केलिमाल, स्वामी हरिदास, पद सं० ५७।

[3] जोवन रंग-रंगीली।
सोने से गात, ढरारे नैना, कंठ पोत मखतूली।
अंग अंग अनंग झलकत सोहत, कानन वीरें सोभा देत,
देखत ही बनें, जोह्न में जोह्न सी फूली।
तनसुख सारी लाही अंगिया, अतलस अतरौटा छवि, चार चार चूरी।
पहुंचनी पहुंची खमकि वनी नकफूल,
जेव मुख बीरा चौका कौंधे संभ्रम भूली। इत्यादि,
केलिमाल २१

झांकता रहता है कि वे मानवी रूप में चित्रित होकर भी मानवी नहीं हैं। यहाँ कभी दार्शनिक दृष्टि से यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं होती कि राधा परात्पर तत्व हैं। यह भाव तो प्रतिक्षण उस रूप की दिव्य आनन्दानुभूति के कारण बरसता, झरता रहता है।

श्री राधा का रूप-सौन्दर्य सौन्दर्य की चरमावस्था है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में भक्ति और माया के सम्बन्ध की समीक्षा में एक ऐसी पंक्ति भी कही है जो रूप के मापदण्ड का भी काम दे सकती है, वहाँ कहा गया है कि नारी कभी नारी के रूप पर मोहित नहीं होती, परंतु भक्ति और माया के संबंध में इसका अपवाद हुआ है और यह अनुपम बात[१] हुई है। ठीक यही बात राधा के रूप सौन्दर्य के संबंध में सत्य है। श्री राधा का सौन्दर्य ऐसा है कि यक्ष, किन्नर, नाग और देवताओं की भी स्त्रियाँ भूमि को कुरेदती हुई अपने आप को भूल गई हैं, वे इनके सौन्दर्य की चर्चा परस्पर करती हैं, उन्हें यही परेखा है कि राधा एक बार उनकी ओर देखती भी नहीं।[२]

श्री राधा का रूप असंख्य छवियों का संग्रह है, वे रूप की राशि हैं, सौन्दर्य का चमत्कार हैं, प्रकाश का प्रकाश हैं, उनका रूप उन्हीं का है और कौन उनकी समता कर सकता है?[३]

गुण-आगरी

श्री राधा नित्य गुण-आगरी हैं, अत्यंत प्रवीणा हैं, सकल कला-कोविदा हैं। राधा गुननिराय-सिरमौर हैं। नृत्य-विशारदा राधा गति में गति उत्पन्न

---

[१] मोह न नारि नारि कें रूपा।
पन्नगारि यह रीति अनूपा। रामचरित मानस।
उत्तर काण्ड ११६, १

[२] भूलीं सब देखि देखि।
जच्छ किन्नर नागलोक देवस्त्री रहीं, भुवि लेखि-लेखि।
कहत परस्पर नारि-नारि सों यह सुन्दरता अवरेखि अवरेखि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कैसेहु चितवैं ये परेखि-परेखि।
केलिमाल ४२।

[३] प्यारी तोपै कितौक संग्रह छविन कौ...इत्यादि पद।
केलिमाल सं० ६६।

करती हैं। राग-रागिनियों के विलक्षण तार मन्द्र स्वरों की ज्ञात्री हैं। कोई उनके गुणों की छाया को छू भी नहीं सकता, सब की दौड़ झूठी है।[1] श्री राधा के आगे गुण की वात और कौन जानता है, जो जानते हैं वह अनुहार मात्र है। नृत्य, गीत, ताल आदि के भेद जैसे श्री राधा जानती हैं, वैसे और कोई नहीं जानता।[2]

श्री राधा के अनुपमेय गुणों में नृत्य-संगीत ही सर्वप्रधान है, कोक कला में वे निपुण हैं, कलाओं में पारंगत हैं।

कुंजविहारी को लाडिली ही नृत्य सिखाती हैं। वे नचाती हैं, कुंजविहारी नाचते हैं। विचित्र तालों की गीत पर वे नृत्य के वोल ताताथेई इत्यादि वोलती जाती हैं, ताण्डव और लास्य के अतिरिक्त नृत्य के विविध अंगों की तो गणना ही क्या, हृदय की विभिन्न रुचियों के अनुसार वे विभिन्न भावों से प्रियतम को नचाती हैं। श्याम और श्यामा का यह मेल अत्यन्त मनोहर है, शेष गुणी उनके समक्ष फीके पड़ गये हैं।[3]

अपने रूप और गुणों के कारण ही श्रीराधा का यश सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वोपरि हो गया है। उनकी अगाध शोभा का वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। राधा की महिमा को जानने की साधना में न जाने कितने जन्म वीत गये। श्री हरिदास जी कहते हैं कि अव जिस-तिस प्रकार क्रमशः इस स्वरूप दर्शन का अवसर आया है।[4]

---

[1] प्यारी तू गुननिराय सिरमौर।
गति में गति उपजावत नाना, राग रागिनी तार मंदिर सुर घोर।
काहू कछू लियौ रेखि छाया तौ कहा भयौ झूंठी दौर।
कहि हरिदास लेत प्यारी जू के तिरप लागन में किसोर।
केलिमाल ६५।

[2] गुन की वात राधे तेरे आगैं को जानै, सो जानैं सो कछू उनहारि।
नृत्य गीत ताल भेदनि के भेद न जाने जिते तिते देखे झारि। इत्यादि।
केलिमाल। २३।

[3] केलिमाल सं० ६०।

[4] तुव जस कोटि ब्रह्माण्ड विराजै राधे।
श्री शोभा बरनी न जाय अगाधे।
वहुतक जनम विचारत ही गये साधे साधे।

श्री राधा के गुणसमूह का वर्णन लाल जी भी नहीं कर सकते। वे कहते हैं, यदि मेरे-रोम रोम में रसना होती तव भी हे राधे, तुम्हारे गुणों का वर्णन नहीं हो सकता। श्री राधा के संबंध में कहना तो बहुत है परंतु जिह्वा एक ही है। राधा के अमित गुण-चमत्कार के समक्ष सूर्य और चन्द्रमा की गति थकित हो जाती है और अन्य युवतियाँ श्रमित हो जाती हैं। श्री हरि कहते हैं कि प्यारी जी तुम्हारा ही यह प्रताप है कि मेरे गये हुए प्राणों को आप लौटा लाती हैं।[1]

सकल गुण-आगरी नागरी राधा प्रेम-रस की अधिष्ठात्री हैं। उनके हृदय में संचित प्रेम-रस प्रतिक्षण द्रवित होता रहता है, उसी प्रेम-रस के वश में श्याम हो जाते हैं और अपनत्व को भूल जाते हैं। प्रेमरस-दान से वे लाल को मोहित कर लेने वाली हैं। वे परम रस हैं, रस में डुबा देने वाली हैं। राधा नित्य प्रेम का कौतुक करने वाली हैं। राधा के समस्त गुण उनके इस प्रेम-स्वरूप को प्रकट करने वाले और मधुर रस की उपासना के अनुकूल हैं।

राधा-प्राधान्य

जैसा कहा जा चुका है सखी-संप्रदाय में श्रीराधा का तात्त्विक स्वरूप दार्शनिक मतवाद के आधार पर विवेचित नहीं किया जाता। तत्त्व दृष्टि से यहाँ उनकी केवल रसमयता अथवा प्रेममयता ही समग्र रीति से स्वीकृत है। वास्तव में सखीभाव की उपास्या नित्यविहारिणी राधा का प्रेम तत्त्व के अतिरिक्त और कोई भी परिचय नहीं है, प्रेम, रस, सौन्दर्य, नव वय, रूप, लावण्य

श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंज विहारी,
कहत प्यारी ए दिन क्रम-क्रम करि लाधे। केलिमाल ४१।

[1] रोम-रोम जो रसना होती,
तोऊ तेरे गुन न वखाने जात।
कहा कहौं, एक जीभ सखी री, वात की वात वात।
भान श्रमित और ससि हू श्रमित भये.
और जुवति जात।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत री,
प्यारी तू राखत प्रान जात। केलिमाल, ४०.

की ही राधा अवधि हैं। वे लीला माधुर्य की सीमा हैं। वे सौख्य सीमा हैं और रतिकला-केलि-माधुर्य की परावधि हैं।[1]

राधा और हरि के रूप में प्रेम के ही भोग्या और भोक्ता दो रूप प्रकट हैं। राधा भोग्या हैं। अपने इस विशिष्ट अधिकार के ही कारण लीला में श्री राधा को प्रधानता प्राप्त हुई है। उनके प्रेम में असीम अधिकार है। अधिकार में लीला का मान होता है। श्री हरि को भी रस की प्रदात्री होने के कारण ही वे श्री हरि की भी आराध्या हैं और इसीलिये उपासना में भी उन्हीं की प्रधानता है। जो साधारणतया राधा की प्रधानता देखकर शक्तिवाद का अनुमान कर इन उपासनाओं को गर्हित बताते हैं, उन्हें श्री राधा के इस परमोच्च रूप का स्मरण रखना आवश्यक है।

श्री राधा श्याम की भी स्वामिनी हैं। यह विचित्र बात ही है। सब जग के ठाकुरों के ठाकुर (स्वामी) तो हरि हैं परंतु राधा उन जग के ठाकुर की भी ठकुरानी हैं। प्रियतम अपनी प्राण-प्रिया से मान को छोड़ कर रतिदान की याचना करते हैं। श्री राधा का रतिदान ही श्रीहरि को अपने प्राणों की प्राप्ति कराता है। वे अपनी रस-रीति को इस प्रकार प्रकट कर, प्रिया जी के चरणों में गिरकर अपने जीवन को धन्य मानते हैं,[2] अतएव श्रीहरि की भी आराध्या ही सखीभावोपासकों की भी आराध्या हैं।

श्री निकुंजविहारी

श्रीकृष्ण

भारतीय जन-मानस पर, उपास्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर श्रीकृष्ण ने ही संभवतः सर्वाधिक प्रभावशाली रूप में शासन किया है। वैष्णवों का कथन

---

[1] प्रेमोल्लासैकसीमा, परमरसचमत्कारवैचित्र्यसीमा।
सौन्दर्यस्यैकसीमा किमपि नववयोरूपलावण्यसीमा॥
लीलामाधुर्यसीमा निजजन परमौदार्यवात्सल्यसीमा।
सा राधा सौख्यसीमा जयति रतिकलाकेलिमाधुर्यसीमा॥
राधासुधानिधि १३०

[2] सब ठाकुर कौ ठाकुर हरि, ता ठाकुर कौ ठाकुर ठकुराइनि.
मान दान दे प्रान प्रिया पति रति जाचत परताप दुराइनि.
निजु रस रीति प्रतीति प्रगट करि धंनि जनम, मानत परि पाइनि,
कर कंकन दर्पन देखहु न श्री बिहारिनिदास लहै मनभाइनि,
बिहारिनदास सिद्धान्त के पद ११६.

है कि कृष्ण ही अनादि पुरुष हैं और समस्त कारणों के भी कारण हैं ।[1] वैष्णव विद्वानों ने वेदों में भी श्रीकृष्ण-तत्त्व को ढूंढ निकाला है । 'त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वी, कृष्णास्वग्ने अरुषो विभाहि'[2] में एवं अन्यत्र गोप-रूप विष्णु आदि के वर्णन में वे श्रीकृष्ण का ही दर्शन करते हैं ।[3]

आधुनिक तत्त्वदर्शी विद्वान् उपयुक्त स्थलों की इस व्याख्या में सहमत नहीं होते । उन्होंने श्रीकृष्ण के स्वरूप को क्रमशः विकसित रूप में ही देखा है । अधिकांश विद्वान् श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं ।[4] कुछ विद्वानों के अनुसार कृष्ण नामक अनेक व्यक्तित्व थे, जो कालान्तर में एक नाम के अंतर्गत एकत्र हो गये ।[5]

इसमें संदेह नहीं कि महाभारत-काल में श्रीकृष्ण इस धराधाम पर पुरुष-रूप में विद्यमान थे, परंतु भारतीय धार्मिक इतिहास की वह घड़ी अपूर्व थी, जब श्रीकृष्ण को देवता रूप में भी आदर दिया गया । यहीं से श्रीकृष्ण के विभिन्न धार्मिक रूपों की यात्रा आरंभ होती है और हम देखते हैं कि वे आज भी नित्य नूतन शक्ति-शोभा-धाम होकर भारतीय जनता के उपास्य बने हुए हैं । महाभारत में हमें श्रीकृष्ण के महापुरुष रूप के दर्शन होते हैं, साथ ही वहीं उनके ईश्वर रूप के दर्शन भी स्पष्टतया होते हैं । महाभारत के नारायणीय पर्व में श्रीकृष्ण को ही लोकों का भावन तथा मोहन करने वाला, साथ ही

---

[1] अनादिरादिर्गोविन्द सर्वकारणकारणम् ॥ ब्रह्म संहिता ५, १

[2] ऋग्वेद ३. १५. ३. तथा, अयं वा कृष्णो अश्विना हवं ते वाजिनी
वसू मध्वय सोमस्य पीतये.
शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नरा मध्व,
सोमस्य पीतये, ऋक् संहिता, अ. ६. ७.-८

[3] विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथ प्रिया धामान्यमृता दधानः ।
अग्निष्ठा विश्वा भुवनानि वेद महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥
ऋक् संहिता, ३. ३. ३९

[4] गीता रहस्य अथवा कर्मयोग, स्व० बाल गंगाधर तिलक, पृ० ५४८.

[5] देखिये, वैष्णविज्म शैविज्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टिम्स, डा० भांडारकर

संहारकर्ता, कारक और कारण बताया गया है ।[1] वनपर्व में मार्कण्डेय ने भी उन्हें पुराणपुरुष विभु के रूप में देखा है ।[2] महाभारत में श्रीकृष्ण का ईश्वरत्व सिद्ध करने वाले स्थल शतशः हैं परन्तु महाभारत के ही एक अंश श्रीमद्भगवद्गीता का महत्व इस दृष्टि से सर्वाधिक है। वहां श्रीकृष्ण ने स्वयं को परात्पर तत्व बताया है । उनसे परे और कोई नहीं है :—

> मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजयः[3]

ब्रह्म के सम्बन्ध की जितनी भी धारणाएं हैं, इस ब्रह्माण्ड की जितनी भी शक्ति-सत्ताएं हैं, निखिल तथ्य और परात्पर सत्य इन सभी के रूप में श्रीकृष्ण का स्वरूप ही गीता में वर्णित है ।[4] श्रीकृष्ण के इस स्वरूप-कथन के साथ ही गीता की विशेषता यह है कि उन्हें प्राप्त करने का सहज साधन भक्ति माना गया है ।[5]

धार्मिक उपास्य के रूपों में पूर्व-प्रचलित समस्त ईश्वर-रूपों का अंतर्भाव क्रमशः श्रीकृष्ण में होता गया । वेदों का प्रधान देवता इन्द्र क्रमशः कृष्ण के रूप में विलीन हो गया ।[6] विष्णु और कृष्ण एक हो गये ।[7] सात्वत पांचरात्र अथवा भागवत मत के उपास्य वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं ।[8]. इस प्रकार समस्त उपास्य-रूपों को अपने में समेटते हुए श्रीकृष्ण परम दैवत और परब्रह्म रूप में

---

[1] कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा ।
संहारकारकश्चैव कारणं च विशाम्पते । महाभारत,
शान्तिपर्व, ३४८. ८८

[2] स एव कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः ॥इत्यादि ।
महाभारत, वनपर्व, १८९.५४

[3] श्रीमद्भगवद्गीता ७. ७.

[4] श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १०.

[5] श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया । श्रीमद्भगवदगीता १२. २०

[6] भक्ति कल्ट इन एंशिएंट इण्डिया, श्री वी० के० गोस्वामी
पृ० १०१ से आगे.

[7] देवदेवोह्यनन्तात्मा विष्णुः सुरगुरुः प्रभुः ।
प्रधान पुरुषोऽव्यक्तो विश्वात्मा विश्वमूर्तिमान् ॥
स एव भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते ।
अनाद्यन्तमजं देवं प्रभुं लोकनमस्कृतम् । महाभारत, वनपर्व २७२.३१,७२

[8] इण्डियन एंटिकरी, भा० २३. १८९४ पृ० २४८.

प्रतिष्ठित हुए। 'कृष्णो वै परमं दैवतम्' 'परंब्रह्मैव तत्'।[1] गोपाल तापनी उपनिषद् में ही उन्हें ब्रह्मा का उत्पन्न करने वाला, आत्मबुद्धिप्रकाश और मुमुक्षुओं का शरण्य कहा गया है।[2]

श्रीकृष्ण के परब्रह्मत्व का विस्तृत कथन पुराणों में हुआ है। स्कन्द पुराण में उन्हें परब्रह्म पुरुषोत्तम बताया गया है।[3] विष्णुपुराण एवं अन्यत्र भी सर्वत्र श्रीकृष्ण का परब्रह्मत्व स्वीकृत किया गया है परन्तु पुराणों में मुख्य हरिप्रिय और श्रेयस्कर वेदतुल्य भागवत पुराण[4] का श्रीकृष्ण के भगवत् स्वरूप विनिर्णय में प्रमुख योग है।

भागवतकार की दृष्टि में श्रीकृष्ण ही अखिलात्माओं के आत्मा हैं। वे जगत् के हित के लिये ही माया द्वारा पुरुष रूप में प्रकट हुए हैं :—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।[5]

श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म, सनातन एवं परमानन्द हैं। वे अव्यक्त, आदि, सत्तामात्र, निर्विशेष और निरीह हैं।[6] श्रीमद्भागवत में तो अवतार के पूर्णत्व की चर्चा कर कहा गया है कि श्रीकृष्ण ही पूर्ण भगवान् हैं।[7] यही भावना ब्रह्म संहिता में प्रकट की गई है।[8] श्रीकृष्ण को परात्पर मानने वालों के लिये ये सूत्र दृढ़ नौका के समान हैं।

---

[1] गोपाल तापिनी उपनिषद, १. ३. १ ४

[2] यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै विद्यास्तस्मै गोपायति स्मः।
कृष्णं तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वैशरणमनुव्रजेत ॥.
गोपाल तापिनी उपनिषद्, १. ३. ४

[3] वासुदेवः परंब्रह्मः श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमः ॥
स्कन्दपुराण, वैष्णवखंड, वासुदेव मा०

[4] मुख्यं पुराणेषु हरिप्रियंच श्रेयस्करं भागवतं पुराणम्। गरुड़ पुराण,

[5] श्रीमद्भागवत १०. १४. ५५

[6] श्रीमद्भागवत १०. ३. २४

[7] एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्। श्रीमद्भागवत १. ३. २८

[8] रामादिमूर्तिषु कला नियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमं पुमान् यो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि। ब्रह्म संहिता, ५. ३९

श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को परम तत्त्व बताते हुए कहा गया है कि उन्हीं को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन शब्दों से जाना जाता है।[1] श्रीकृष्ण के ये विशेषण गीता आदि में भी प्रयुक्त हुए हैं परन्तु श्रीमद्भागवत के इस क्रम के आधार पर वैष्णवाचार्यों ने इनको एक तारतम्य में स्वीकृत किया है। श्री जीव गोस्वामी ने ब्रह्म तत्त्व को सब प्रकार की शक्ति आदि की विकास रहित निर्विशेष अवस्था कहा है। परमात्मा अन्तर्यामी रूप हैं। वे ही सृष्टि लयादि के कारण हैं, सर्वशक्तियुक्त हैं और भगवान् का अर्थ सर्वैश्वर्य-संपन्नता है[2] अतः श्रीमद्भागवत के अनुसार ब्रह्मत्व का भी पूर्ण विकसित रूप, सम्पूर्ण ऐश्वर्यमंडित स्वरूप साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

श्रीमद्भागवत में भगवान् कृष्ण का ऐश्वर्य और माधुर्य समन्वित रूप वर्णित है। भगवान् के अवतार का ऐश्वर्यपूर्ण कारण "विनाशाय च दुष्कृताम्"[3] भागवत में प्रधान रूप से "अनुग्रहाय भूतानां"[4] रह गया है। भागवतकार ने कहा है कि भगवान् की लीला-कथा-रस-निषेवण के अतिरिक्त इस संसार को पार करने का दूसरा उपाय नहीं है।[5] अतः श्रीमद्भागवत ने श्रीकृष्ण के मधुर रूप को ही विशेष रूप से लेकर उनका लीला-गान किया है।

श्रीमद्भागवत के पश्चात् भगवान् के माधुर्यमण्डित रूप की उपासना प्रधान हो गई। इस उपासना का पूर्ण विकास १६ वीं शताब्दी में आकर हुआ। गोपीभाव के समस्त सम्प्रदायों के उपास्य परात्परतत्त्व श्रीकृष्ण ही हैं। श्री मध्वाचार्य के सम्प्रदाय में हरि ही परतर हैं।[6] ये श्री हरि स्वातन्त्र्य शक्ति विज्ञान सुखादि अखिल गुणों से युक्त, निःसीम, सभी देवताओं के स्वामी

---

[1] वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ श्रीमद्भागवत १. २. ११

[2] देखिये, जीव गोस्वामिकृत षट् संदर्भ,
और वैष्णव सिद्धान्त रत्नाकर, वृन्दावन।

[3] श्रीमद्भगवदगीता ४. ८

[4] श्रीमद्भागवत १०. ३३. ३७

[5] संसारसिंधुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्यः।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविध दुःख दवार्दितस्य॥
श्रीमद्भागवत १२. ४. ३९

[6] श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्वतो...इत्यादि श्लोक, प्रेमपत्तनम्, काशी, भूमिका, पृ० ४ पर उद्धृत,

हैं। वे ही विष्णु हैं। सर्वगुणों से पूर्ण, संसार-वर्जित, निर्दुःख और नित्यानन्द भोगी हैं।[१]

निम्बार्क-संप्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थ 'वेदान्त कामधेनु' में स्वभाव से ही समस्त दोषों को अपास्त कर देने वाले, अशेष कल्याण गुणराशि, व्यूहांगी, वरेण्य श्रीहरि को ही उपास्य बताया गया है।[२] इस सम्प्रदाय के विद्वान् आचार्य श्रीनिवास ने भी परब्रह्म, नारायण, वासुदेव आदि शब्दों से अभिधेय श्रीकृष्ण को उपास्य कहा है।[३] निम्बार्क संप्रदाय की यही परम्परा है।

चैतन्य-सम्प्रदाय में भी परात्पर श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं। सिद्धान्तरत्न में श्री बलदेव विद्याभूषण कहते हैं, ज्ञान और भक्ति से गोचर श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। वे ही भगवान् कहे जाते हैं।[४] कृष्णदास कविराज ने भी कहा है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही परतत्व हैं। पूर्णानन्द, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण महत्व हैं।[५]

श्रीवल्लभाचार्य ने भी श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्द परब्रह्म स्वीकृत किया है। वे अपने ग्रंथ 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में कहते हैं कि श्री कृष्ण ही परब्रह्म और व्यापक सच्चिदानन्द हैं।[६] श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द रूप, व्यापक, अव्यय, सर्व-

---

[१] स्वातंत्र्य शक्तिविज्ञानसुखाद्यैरखिलैर्गुणैः।
निस्सीमत्वेन ते सर्वे तद्वशा, सर्वदेवताः॥
विष्णुं सर्वगुणैः पूर्णं ज्ञात्वा संसारवर्जितं।
निर्दुःखानन्दभुङ्नित्यं तत्समीपे स मोदते॥

मध्वाचार्य, प्रेमदर्शन मीमांसा भा० २

[२] स्वभावतोऽपास्त समस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥ वेदान्त कामधेनु,

[३] ब्रह्मशब्दाथस्तुपूर्वव्युत्पादितः वक्ष्यमाणलक्षण जगत्कर्तृत्वादि गुणगणनिलयः परब्रह्मनारायणवासुदेवादिशब्दाभिधेयः श्रीकृष्णः।

श्रीनिवासाचार्य कृत. ब्रह्मसूत्र भाष्य, जिज्ञासाधिकरण।

[४] तदेवं द्विविधज्ञानभक्तिगोचरः कृष्णाभिधानः पुरुषोत्तम, कृत्स्नशक्त्यभिंव्यंजी स्वयं भगवानुच्यते, श्रीवलदेव विद्याभूषणकृत सिद्धान्तरत्न, द्वितीय पाद,

[५] स्वयं भगवान कृष्ण, कृष्ण परतत्व, पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द, पूर्ण महत्व,

चैतन्य चरितामृत १. २. ५.

[६] परंब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्। सिद्धान्त मुक्तावली ३.

शक्ति स्वतन्त्र, सर्वज्ञ और गुणवर्जित हैं।[१] वे ही जगत् के कर्ता हैं, सगुण निर्गुण भी हैं।[२] अतएव आत्मानन्द-समुद्र-रूप श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करना चाहिये।[3]

निष्कर्ष यह निकलता है कि इन सभी सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं। वे परब्रह्म हैं। उनसे परे और कोई नहीं है। वे शक्तिमान् हैं। वे अन्तरंग बहिरंग सभी शक्तियों के स्वामी हैं। उनका अधिकार अखण्ड एवं अविभाज्य है।

श्रीकृष्ण-तत्त्व का पूर्ण रस-रूप में विवेचन होने पर भी रस की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति केवल श्रीकृष्ण के रूप में ही सम्भव नहीं है। कहा जा चुका है कि रस क्रीडाशील वस्तु है और क्रीड़ा दो के बीच होती है। इन सम्प्रदायों में राधा और गोपियों के माध्यम से रस-सृष्टि का जो प्रयत्न है, उसमें शृङ्गार रस की पूर्णता नित्य अद्वय युगल की मान्यता के बिना नहीं हो सकती थी। हम देखते हैं कि आगे चल कर लीला के दृष्टिकोण से इन्होंने भी राधा-कृष्ण की एकता और समता का प्रतिपादन किया है। परन्तु इस वस्तु को प्रारम्भ और अन्तिम रूप में केवल सखीभाव के उपासक ही लेकर चले। उनके यहां उपास्य तत्व सर्वदा युगल तत्त्व ही है और कहा जा चुका है कि उसमें भी श्रीराधा की प्रधानता है।

दूसरे श्रीकृष्ण के परब्रह्मत्व आदि के कारण जो अखिल ऐश्वर्य, भगवत्ता और शक्तिमत्ता उनके साथ लगी है, उस कारण माधुर्य पक्ष की उपासना होते हुए भी उनका ऐश्वर्य पक्ष कभी तिरोहित नहीं होता। इससे रस की वास्तविक अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न होती है। रसिकों ने ऐश्वर्य-प्रकाश की इस स्थिति को अपने सिद्धान्त में बाधक माना है।

श्रीकृष्ण का जो पौराणिक स्वरूप लीला के लिये इन सम्प्रदायों में गृहीत हुआ है एवं उसके साथ कृष्ण को जो अनेक कर्तव्यादि पालन करने होते हैं उनसे भी पूर्ण रसाभिव्यक्ति में बाधा होती है। सखीभाव के उपासकों ने इस सब के अन्दर से श्रीकृष्ण का केवल रस-रूप ही अपनी उपासना के लिए

---

[१] सच्चिदानन्द रूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्वशक्ति स्वतंत्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम्। तत्वदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण,

[२] अणुभाष्य, श्रीवल्लभ कृत, ३. २. २१.

[3] आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्। सिद्धान्त मुक्तावली, १५

स्वीकृत किया है और उस मूल रसस्वरूप का नाम है नित्य निकुञ्ज विहारी।

श्री कुञ्ज विहारी

विशुद्ध सखीभाव में निकुञ्जविहारी पूर्ण रस-मूर्ति हैं। वे नित्य आनन्द-स्वरूप हैं। सहज सुख की निधि हैं और प्रेम के सागर हैं।

सखीभाव में नित्यविहारी के ऐश्वर्य मंडित रूप की चर्चा कथंचित् भी नहीं होती। वे यहां अपने परब्रह्मत्व के कारण उपास्य नहीं हैं। परब्रह्मत्व उनका बहुत बड़ा गुण नहीं है। रसिकों का कथन है कि "सृष्टि कौन करता है, उसका धारण और संहार कौन करता है, इस व्यर्थ की बात पर विचार करने के लिये हमारे पास समय नहीं है। राधाकृष्ण क्रीडा की कुञ्ज वीथियों की उपासना ही हमारा प्रयोजन है।"[1] यह सृष्टि तो उसकी एक कला मात्र से उत्पन्न हो जाती है। भगवत रसिक कहते हैं "नित्यविहारी की एक कला मात्र से प्रथम पुरुष उत्पन्न होता है। उसके अंश से माया उत्पन्न होती है। उससे महत्तत्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्व से अहंकार जन्म लेता है। यह अहंकार ही त्रिविध हो ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप धारण करता है। इन सबसे ही जगत् का उद्भव, पालन, संहार होता है। निश्चित ही इन सबका बीज श्री नित्यविहारी है।[2]

सृष्टि के बीज श्री नित्यविहारी हैं। रहें, पर उससे रसिकों को क्या प्रयोजन? रसिकों को उसकी विभूति में से किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है। वह नित्यविहारी का उपासक है न कि उसके ऐश्वर्य का। इन रसिकों ने ऐश्वर्य

---

[1] दूरे सृष्ट्याद्दि वार्ता⋯⋯कुंजवीथीमुपास्ते॥
श्री गो० हित हरिवंशकृत श्रीराधासुधानिधि, २३५

[2] नित्यविहारी की कला प्रथम पुरुष अवतार।
तासु अंश माया भई जाकौ सकल पसार।
जाकौ सकल पसार, महातत्व उपज्यौ जाते।
अहंकार उत्पत्ति भई श्रुति कहै जु ताते।
अहंकार त्रैरूप भयौ शिव विधि असुरारी।
भगवत सबकौ तत्व बीज श्री नित्यविहारी।
अनन्य निश्चयात्मक, भगवतरसिक। पृ० २६

और वैभव को, ज्ञान अथवा माहात्म्य को उस नित्य माधुर्य का आवरण माना है। श्री ध्रुवदास जी कहते हैं कि, "ऐश्वर्यता, ज्ञान, महातम त्रिषय या रस माधुरी कौ आवरन हैं। इनतें चित्त काढि माधुर्य रस में देनौ"[1] भगवान् के अनन्त गुणों की ओर न देख कर उनके रस-स्वरूप को ही देखना चाहिये। जिस प्रकार नाविक जहाज पर चढ़ कर दूरबीन से अपना लक्ष्य देखता है, उसी प्रकार इस समस्त आवरण को छांटकर प्रकृत-पुरुष से परे जो परम उज्ज्वल रस-रूप नित्यविहारी है, उसे ही देखना चाहिये।[2]

रसिकजन एवं अन्य भगवद्‌भक्तों में यही भेद है। भक्त भगवान् के प्रति प्रणत होकर जो कुछ भी उनका बहिरङ्ग लीला विस्तार है, उसको भी अपना उपास्य बनाता है, परन्तु सखीभाव का उपासक रसिक केवल नित्यविहारी की अन्तरङ्ग लीलाओं के महामधुर रस का ही उपासक है। वह भगवान् की भगवत्ता की कभी चर्चा नहीं करता।

यह प्रेम रस ही ऐसा है। यहाँ किसी का बड़प्पन नहीं रहता। प्रेम के राज्य में प्रेमी याचक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अत्यन्त तिरछे, चतुर और छैल विहारी यहाँ प्रिया जी की जूठन के लिये ललचाते है। उनका वैभव और उनकी ठकुराई यहाँ कहाँ गई? माँगने पर कठिनाई से यहाँ उन्हें जूठन मिल पाती है। पैरों पड़ कर उन्हें हा हा खानी पड़ती है। उस समय उनसे कोई 'ठाकुर' नाम से बुला भी दे तो वे बड़ा संकोच अनुभव करते हैं। वास्तव में उन्हें अपनी ठकुराई और प्रताप-विस्तार सुहाता भी नहीं है। वे तो रात्रि-दिन अपनी जीविका (विहार) की प्रिया जी से याचना करते रहते हैं।[3]

---

[1] सिद्धान्त विचार लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास पृ० १४

[2] देखै जीव जहाज चढि दूरबीन धरि नैन।
ऐसेहि वस्तु विचार वर लखै आपु उर ऐन।
लखै आप उर ऐन उपासक तौन कहावै।
रहै गुणन के बीच गुणन आसक्त न आवै।
भगवतरसिक अनन्य सभा ते आवैं लेखें।
प्रकृति पुरुष तें परे परम उज्ज्वल रस देखें।
अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, पृ० २६

[3] अति टौंडक अति चिकनियां अधिक चतुर इतराय।
कितै विभव कित ठकुरई जूठन कों ललचाय।

श्रीबिहारिनदासजी के उपर्युक्त भावों को लेकर ध्रुवदासजी ने भी लिखा है कि अपनी वड़ाई श्रीकृष्ण ने दीन होकर छोड़ दी है। उन्हें वड़ाई की वातें अच्छी भी नहीं लगतीं। श्रीराधा को पाकर वे अपने भाग्य को धन्य मानते हैं।[1] ठीक भी है जो अपने अन्य क्षेत्रों में सव ठाकुरों का ठाकुर है, इस प्रेम राज्य में उस ठाकुर की भी ठाकुर राधा हैं। अन्य उपासना-क्षेत्रों में वैभव के महल पर प्रेम का कलश स्थापित किया गया है परन्तु इस प्रेम-देश में नींव से लेकर कलश तक सभी प्रेम ही प्रेम है। वैभव और ऐश्वर्य के तो पक्षी भी यहां पर नहीं मार पाते।

श्रीनिकुंज-विहारी का सखी-भाव के समस्त साहित्य में जो दैन्ययुत स्वरूप वर्णन है, उसका कारण रस की उपलब्धि की आकांक्षा ही है। यहाँ पुरुषोत्तम अपना पौरुष खो वैठा है। उस पुरुषत्व का तो वह ध्यान भी नहीं कर सकता। उसके ध्यान से तो वह स्वयं संकुचित हो जाता है। जो व्यक्ति कृष्ण के वैभव और तथाकथित लोकादर्श रूप से परिचित हैं उन्हें नित्य विहारी का यह रूप स्त्रैण-सा ज्ञात होता है परन्तु रसिकों की दृष्टि में, भाव-राज्य में यह स्त्रीत्व ही चरम उपलब्धि है। प्रिया जी की सेवा करने का सौभाग्य सखियों को मिलता है। उस आनन्द में प्रियतम का रोम-रोम पुलकित हो उठता है, और वे सखियों की दशा प्राप्त करने की अभिलाषा करने लगते हैं।[2]

श्रीलाल जी की राधा के प्रति यह रति अद्वितीय है। वे अनोखे प्रेमी हैं। उनका प्रेम अपने प्रिय को पाकर भी पूर्णतया संतुष्ट नहीं होता। रूप का भोग और उसमें निरन्तर आसक्ति यही प्रियतम का स्वरूप है।

जांचै जूठन पाइयै पाइं परि हाहा खाय।
जो ठाकुर कहि बोलियै तनक सकुच ह्वै जाय।
ताहि सुहाय न ठकुरई बड़ौ प्रताप विस्तार।
जांचत है दिन जीविका, सखि मोहि अहारविहार।
विहारिनदास, साखी १४० से

[1] भये दीन यौं तजी वड़ाई, पुनि ताकी वातें न सुहाई।
मानत है धनि भाग बडाई, ऐसी कुंवरि किसोरी पाई।
ध्रुवदास, नेहमंजरी पृ० २२६.

[2] रोम रोम सव पुलकि तन कंचुकि स्रम जल भीजि।
पाइंनि परि विनती करैं सखि मोहिंदसा यह दीजु॥
विहारिनदास, साखी ११७

भोक्ता और भोग्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये ही श्रीराधा को 'रति' और हरि को 'काम' कहा गया है। प्रेम की आत्मा स्वामिनी जी हैं और मन श्रीलाल जी हैं। प्रियास्वरूप विकसित सरोज और प्रियतम अलि हैं।

श्रीविहारी जी साक्षात् शृङ्गार हैं। शृङ्गार का वर्ण शास्त्रज्ञों ने भी श्याम ही माना है। काम का रूप भी श्याम है अतः नित्य विहारी तत्व भी श्याम है। राधा तत्व सहज उदार होने से गौर वर्ण है। इन दोनों की जोड़ी घन-दामिनि जैसी है।

नाम—

नित्यविहार के उपासक रस के उपासक हैं अतः अपने उपास्यस्वरूपों के अलग-अलग नामों की भी आवश्यकता उन्हें नहीं होती।[1] फिर भी व्रजलीलाओं से अपने उपासना-स्वरूप को पृथक् दिखाने के लिये स्वामी हरिदास जी एवं उनके अनुयायियों ने श्रीनिकुञ्जविहारी के रस-संबंधी नाम ही स्वीकृत किये हैं। व्रजलीला-संबंधी नामों को यहाँ जानबूझ कर स्थान नहीं दिया गया है। नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, वासुदेव, गोवर्धनधारी, गोपीनाथ आदि नाम विशुद्ध सखी-भावोपासकों द्वारा नित्यविहारी के लिये प्रयुक्त नहीं होते। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण नाम भी व्रजलीला से अत्यधिक सम्बन्धित जान कर यहाँ प्रायः प्रयुक्त नहीं हुआ है। सखी-संप्रदाय की प्रारम्भिक वाणियों में नित्यविहारी का श्रीकृष्ण नाम भी प्राप्त नहीं होता····· राधावल्लभ संप्रदाय के रसिक श्रीध्रुवदास जी ने एक पद में कुञ्जविहारी के नाम गिनाये हैं, जो थोड़े से उदाहरण के रूप में ही यहां प्रस्तुत किये जाते हैं···

लाल रंगीलौ गाइयै, तातैं प्रीति रंगीली पाइयै।
श्रीराधावल्लभ लाडिलौ, दूलह, नित्य किसोर।
कुञ्जविहारी, भांवतौ, मुख प्यारी चंद चकोर।
रस-रंगी, राधा-धनी, राधा-धव, सुकुंवार।
कुञ्ज-रवन-शोभा-भवन, वर-सुन्दर सुघर उदार।
रसिक, रसीली, रंगमंग्यौ, श्रीवृन्दावन चंद।
विपिन-विलासी, छवि चहा, पिय-राधा, आनंदकंद।
रसिकमौलि, आनंदमणि, मोहन, कृष्ण, कृपाल।

---

[1] विहारीदास नाम न कहै निरखै नित्यविहार। विहारिनदास, सांखी ४४८.

सहज सलोनो, सांवरौ, अम्बुज नयन विसाल।
हित ध्रुव यह नामावली मन धुन सों लै पोइ।
ताही की रसना रटै, कुंवरि-कृपा जब होइ।[1]

ध्रुवदास जी ने सम्पूर्ण प्रयोज्य नाम नहीं गिनाये हैं। वे हैं भी अनन्त, इससे इतना ही अनुमान हो सकता है कि इस रस-क्षेत्र में रस-संबंधी नाम ही लिये जा सकते हैं।

विग्रह

नित्यविहारी नित्य तत्व हैं। वे अवतार नहीं, अवतारी हैं। उनका जन्म मरण नहीं होता। वे नित्य अजन्मा हैं। उनका स्वरूप मानवीय होते हुए भी आनन्द-विग्रह है।[2] रस ही दिव्य रूप धारण कर क्रीड़ा कर रहा है।

ध्यान

श्री निकुंजविहारी का ललित स्वरूप पुरुषत्व की कठोरता से परे है। यहाँ उनका निकुञ्ज का श्रृंगार है, जो बहुत कुछ प्रिया जी के ही अनुकूल है। सम्प्रदाय में कभी अकेले विहारी जी का ध्यान नहीं किया जाता इसलिये उनके अलग से वेशभूषा के चित्र बहुत कम प्राप्त होते हैं। भगवत-रसिक जी ने युगल ध्यान वर्णन करते हुए 'लालजू को ध्यान' अलग से लिखा है। इस नख-शिख का सम्पूर्ण विवरण श्रीकृष्ण के सामान्य रूप वर्णनों से बहुत कुछ भिन्न है, अतः इस लम्बे पद को पादटिप्पणी में उद्धृत

---

[1] ध्रुवदास जी की पद्यावली पद सं ४, बयालीस लीला, कानपुर, पृ० २.

[2] भगवान् के श्री विग्रह का स्वरूप मानवीय होते हुए भी आनन्दमात्र अथवा दिव्य माना जाता है, भगवान के कर, पद, मुख, उदर आदि सभी आनन्दमात्र हैं। नारद पांचरात्र में इस संबंध में यह श्लोक मिलता है:—

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतंत्रो निश्चेतनात्मक शरीरगुणैश्च हीन।
आनन्दमात्र कर पाद मुखोदरादि, सर्वत्र च स्वगतभेद विवर्जितात्मा।

ब्रह्म संहिता में भी कहा गया है···

अंगानि यस्य सकलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति पश्यन्ति यान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।
आनन्दचिन्मय समुज्ज्वल विग्रहस्य, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि। ५. ३२

किया जा रहा है।[1] इसमें श्रीविहारी जी के श्रृंगार का वर्णन चरणों से आरम्भ किया गया है। उनकी एड़ियों में महावर लगा है, नख रंगे हुए हैं।

---

[1] श्याम चरण तर वसी अरुणता सहज सुभायक।
एड़िन जावक चित्र, रंगे, नख अति सुखदायक ॥ १ ॥
छला किटकिरेदार चरण अंगुरिनि दस सोहै।
जंबू नद नग जडे, मृदुल उपमा को को है, ॥ २ ॥
पाद पीठ दुहुं फूल मध्य नायक तहं हीरा।
जगमग ज्योति विलास हरै नैननि की पीरा, ॥ ३ ॥
पाइजेब दुहुं पाइं, नूपुरन मणिगण माला।
मुक्तन लारे लगे, मँजे मृदु शब्द रसाला ॥ ४ ॥
जघन जानु ते उतरि पायजामा तहं आयो।
मोहरन मुक्ता मंजु जंजीरन अति छवि छायौ ॥ ५ ॥
तापर बूटा वेलि कसीदा रस उमंग कौ।
नेफा नारौ ललित फुंदना पीत रंग कौ ॥ ६ ॥
दामन घेर घुमंड अपूरव ताकी लावनि।
अदभुत अमल अनूप सिरी संकर मनभावनि ॥ ७ ॥
कुसुंमी रंग संजाफ किनारी मुक्तन भारी।
तापर बूटा वेलि स्वर्ण सूतन की जारी ॥ ८ ॥
मणिगण चित्र विचित्र तासु छवि सोहत चीना।
रंग विरंगी तनी वनी वर ग्रन्थि नवीना ॥ ९ ॥
तापर चोली चारु किवारी वंद फुंद गुटिया।
पिछवाई गिरवान वसंती रंग छवि सुटिया ॥ १० ॥
तापर चित्र विचित्र कसीला जरतारी कौ।
सियने रत्न जराव जसाँ तहें वरतारी कौ ॥ ११ ॥
वाहें चूरीदार सांकरी करि कुचिआई।
मुहरन मुक्ता लगे जंजीरन अति छवि छाई ॥ १२ ॥
काश्मीर श्रीखंड श्याम अंगलेपन कीनौ।
अम्बर अतर लगाय, गुलाबी को पुट दीनौ ॥ १३ ॥
पृथु नितंब कटि छीन फटकि मणि किंकणिजाला।
ता मधि लारे लाल बाजने, शब्द रसाला ॥ १४ ॥

तापर नाभि गंभीर; तास परं त्रिवली नीकी ।
तहँ कछु तोंद दिखाय विहारिन जीवन जीकी ॥ १५ ॥
तापर उन्नत उर रसाल आयत उर राजै ।
तापर चौकी चारु विहारिन नाम विराजै ॥ १६ ॥
पुष्पराज मणिकंठ लसै वर मुक्तन सेली ।
सव्य असव्य रसाल, चन्द्रमाला अलवेली ॥ १७ ॥
पीन अंस भुजदंड जानु लौं जात विसाला ।
तिन पर वाजू वंधे जराऊ युग छविजाला ॥ १८ ॥
पहुँचन पहुँची पीत मणिनजुत टोडर गजरा ।
जगमग जगमग होत. चुक्यौ चित, टरत न नजरा ॥ १९ ॥
करपृष्टन करफूल जराऊ जगमगात अति ।
देखत वनै न कहत वावरी होत सवै मति ॥ २० ॥
दस अंगुरिन वर मुंदरी भाँतिहि भाँति विराजै ।
पोरन छला रसाल दिपत नख सहित समाजै ॥ २१ ॥
करतल मेंहदी अरुन रंग चित्राभ वनायौ ।
वूटा वेलि बनाय साथियन चित्र चुरायौ ॥ २२ ॥
तिन मधि मुरली वसै, जटित मणि परमरसाला ।
सप्त सुरनि सों भरी राग रागिनि छविजाला ॥ २३ ॥
कटिप्रदेस पट वंध्यौ स्वर्ण सूतन सों भरिया ।
कोरकिनारी किरण ललित पल्ले मन हरिया ॥ २४ ॥
चिवुक चखौडा चारु चुभौ चामीकर वुंदा ।
तापर दीनी ओप झलमलै जोति अमंदा ॥ २५ ॥
अधर दसन अति अरुण दीप्त मुख पान खान की ।
मंद मधुर मुसकान हरन मन प्रिया भान की ॥ २६ ॥
नासा वेसर वर वुलाक मंजुल रस वरसत ।
थिरकंन फरकन पुटन देखि मन नैना करषत ॥ २७ ॥
चंचल नैन विसाल अरुण अंजनयुत फूले ।
अनियारे अनुकूल देखि प्यारी दृग भूले ॥ २८ ॥

अंगुलियों में पायजेब और नूपुर धारण किये हैं। जानुओं से नीचे पायजामा पहने हैं, जिसमें पीले रंग का फुंदना है और बेल-बूंटे कढ़े हुए हैं, मणियों

का अपूर्व श्रृंगार है। ऊपर चोली धारण किये हैं। अंग में लेपन हो रहा है। पृथु नितंब हैं, कटि क्षीण है। गम्भीर नाभि है। सुन्दर त्रिवली है। थोड़ी सी तोंद भी है। हृदयस्थल विशाल है। स्कंध पुष्ट हैं और भुजाएं जंघाओं तक लम्बी हैं...हाथों में पहुँची हैं। हथेली के पृष्ठ पर करफूल पहने हैं। अंगुलियों में अनेक प्रकार की मुन्दरी पहने हैं। हथेली में मेंहदी लगाये हैं। उनमें सुन्दर मुरली धारण किये हैं, जिसमें से मधुर राग-रागिनियों से युक्त ध्वनि निकल रही है। अधर अरुण वर्ण के हैं। मुख में पान खाये हैं। नासिका में वेसर और बुलाक है। नेत्र चंचल और विशाल हैं, जिनमें अंजन लगा है। तिरछी भृकुटी हैं। माथे पर प्रिया जी की प्रसादी बिन्दी लगी है। चन्दन की खौर भी लगी है। कपोलों पर भी चित्र-रचना हो रही है। सौरभ में सनी अलकावली उड रही हैं। कानों में कुंडल हैं। शीर्ष पर चिकने केशों का 'जूरा' बँधा है, जिस पर अद्‌भुत मणि-चूड़ा लगा है। सिर पर बांकी पाग बंधो है जिसके अग्रभाग में 'जराऊ सिरपेंच' है, उस पर कलगी लगी है। एक ओर अनुपम तुर्रा भी लगा है...इत्यादि।

श्री विहारीजी के इस ध्यान में एक ओर पुरुष रूप का श्रृंगार और शरीर-शोभा है तो दूसरी ओर चोली, जैसे वस्त्र, चरणों में पायजेब आदि जैसे आभूषण एवं केश व जूड़ा और उस पर पाग दोनों का वर्णन है। वास्तव में इस मिश्रित वर्णन का कारण एक तो स्वरूप का लालित्य है दूसरे कभी भी प्रिया या प्रियतम का अलग से वर्णन नहीं किया जा सकता

भृकुटी विकल विसाल आड ता मधि रोरी की।
तापर वेंदी दई प्रसादी तनु गोरी की॥ २९॥
जापर वृक्ष विलोकि जराऊ पंचरंग भरिया।
चंदनखौर ललाट करी वर चित्र लहरिया॥ ३०॥
कलित कपोलनि करी चित्र रचना विचित्र वर।
अलकावलि रहीं झूमि सरस सौरभ भीजी भर॥ ३१॥
वड़े वड़े मोती लसैं कान कुंडल फंदवारे।
तापर मोराकृत जराव छवि सों मतवारे॥ ३२॥
सीस सचिक्कन केस मंजु वांध्यौ कसि जूरा।
तापर गोल अमोल लसैं मणि अद्‌भुत चूरा॥ ३३॥ इत्यादि

अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ, भगवत रसिक पृष्ठ २०—२३।

इसलिये ध्यान में प्रिया-प्रियतम का मिला हुआ रूप और शोभा वर्णित रहती है। हम देखते हैं कि लालजी का इतना वर्णन करने के उपरान्त भगवतरसिक जी तत्काल युगल-स्वरूप के वर्णन पर आ गये और तत्पश्चात् दोनों की लीला का वर्णन आरम्भ कर दिया है।[1]

इस रूपवर्णन में दूसरी बात यह भी देखने की है कि इस पर अपने युग की पोशाक का कितना अधिक प्रभाव है। पायजामा और उस पर कसीदाकारी या जरी का काम एवं अन्य वर्णन भगवतरसिक जी के युग का स्मरण ही कराते हैं। इनके पूर्ववर्ती महात्माओं ने जो वर्णन किये हैं, उनमें पीतांवर इत्यादि का प्रचुर वर्णन मिलता है। स्वामी हरिदास जी द्वारा किये गये ऐसे वर्णन बहुत ही सादा और स्वाभाविक हैं।[2]

सहचरी

नित्यविहार रस-रीति को संपन्न कराने वाली दोनों के मध्य की प्रेम-मूर्तियां हैं सहचरीगण। ये प्रियाप्रियतम के मध्य प्रेरक प्रेम की स्वरूपा हैं। प्रिया-प्रियतम की नित्य लीला में व्यापक रीति से पूरित रह कर ये लीला-सहकारिणी बनती हैं। प्रियाप्रियतम की नित्यकेलि को निष्पन्न कराकर उसका आस्वादन भी ये सखियां ही करती हैं। इन सखियों का निष्काम प्रेम इस रस-रीति में विलच्चण है। पीछे हम विस्तार से इनका स्वरूप-विवेचन कर चुके हैं[3] अतः यहाँ यह पुनरावृत्ति ही होगा।

नित्य वृन्दावन

धाम तत्त्व

निराकार निर्गुण रूप में भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं। उनका अपना न कोई नाम है, न स्वरूप है, न धाम है। परन्तु सगुण-साकार परमात्मा

---

[1] दे गलवाहीं रहे परस्पर चिबुक टटोरें।
फूलन की वनमाल एक पहिरे जन दो हैं। इत्यादि, वही पद आगे देखिये

[2] स्वामी हरिदास जी ने अधिकांश में मिलेजुले प्रियाप्रिय के शृङ्गार के वर्णन किये हैं, वैसे विहारी जी को दोनों प्रकार के शृङ्गार शोभा देते हैं। इस संवंध में देखिये केलिमाल पद सं० ७२

[3] इस प्रवन्ध का प्रथम खंड, तृतीय अध्याय देखिये।

के स्वरूप के साथ उसके धाम की भावना भी नितान्त आवश्यक है। धाम ही वह अधिष्ठान है, आधार है, जहाँ लीलाएं सम्पन्न होती हैं तथा जो उपासक का परम प्रासव्य स्थल होता है। दिव्य स्वरूप भगवान् का धाम भी दिव्य है।

भारतीय उपासना में जितने भी भगवत्स्वरूपों की मान्यता है, उनके साथ उतने ही धामों की भी मान्यता है। जिस प्रकार विशिष्ट देवताओं के अपने लोक हैं उसी प्रकार से भगवद्धाम हैं। प्रभु प्रसन्न होकर अपने उपासक को अपने धाम का निवास प्रदान करते हैं।

वैष्णव धर्म और धाम

वैष्णवों के उपास्य विष्णु वैदिककालीन देवता हैं। वेदों में उसके धाम को परमपद कहा गया है। इसे ही विष्णुपद भी कहते हैं। ऋग्वेद में विष्णु के परमपद को 'मधु का उत्स' बताया गया है :—

तदस्य प्रियमभिपाथो अश्यां नरो यत्र देवः यवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्था विष्णोः परमे पदे मध्व उत्स ॥[1]

ऋग्वेद में ही हमें एक और मन्त्र मिलता है, जहाँ कहा गया है कि वह विद्वानों द्वारा अत्यंत साधनापूर्वक देखा जाता है...।

तद्विष्णोः परमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्।
तद्विप्रांसोविपन्यवोजागृवान्सः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥[2]

वाजसनेयि-संहिता में उपर्युक्त मंत्र के साथ ही एक और मन्त्र प्राप्त होता है, जिसमें वैष्णवों ने व्रज के दर्शन किये हैं, जहाँ बड़े-बड़े सींगों वाली गायें रहती हैं :—

या ते धामान्युष्मसि गमयध्यै यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमंपदमवभाति भूरि ॥

उत्साही वैष्णव विद्वानों ने तो वेद में श्रीकृष्ण और उनकी समस्त लीलाएँ ढूंढ़ निकाली हैं। पूतनोद्धार लीला, ऊखल-बंधन और यमलार्जुन की कथा तथा

---

[1] ऋग्वेद, द्वितीयाष्टक, विष्णुसूक्त।

[2] ऋग्वेद १. २२. २०

गोवर्धन-धारण भी इन्हें वेदमंत्रों में प्राप्त हैं।[1] यहाँ इन सबका उल्लेख विषयान्तर होगा परन्तु अभिप्राय इतना ही है कि विष्णु के धामों के नाम में वैष्णवों ने व्रज की झलक भी देख ली है।[2]

व्रज के सम्बन्ध में हम आगे कहेंगे पर सर्वमान्य रूप से ब्रह्म अथवा विष्णु के जिन अन्य धामों का वर्णन हमें वेद-सम्बन्धी साहित्य में मिलता है, वे हैं, परम व्योम,[3] ब्रह्मपुर,[4] ब्रह्मलोक,[5] अव्यक्त धाम,[6] अक्षरधाम,[7] त्रिपाद-विभूति-[8] चिदाकाश,[9] दहराकाश,[10] आदि। वेद-श्रुति साहित्य में इन सभी नामों का सामान्यतया अत्यधिक प्रयोग हुआ है और इन्हें त्रिगुण माया से परे

---

[1] इस संबंध में विस्तार के लिये देखिये सर्वेश्वर मासिक पत्र का वृन्दावनांक चैत्र सं० २०१३, वृन्दावन से प्रकाशित, पृ० २२, २३, २४ आदि,

[2] वेदों में विष्णु का अर्थ सूर्य है, अतः वहाँ गायों का अर्थ किरण इत्यादि लिया जाता है, यह व्याख्या अनेक आधुनिक विद्वानों द्वारा सम्मत है।

[3] योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन सो अंग वेद यदि वा न वेदः
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्या ह सन्ति देवा, ऋग्वेद,
यु० त० स०, पृ० १९२

[4] यदिदस्मिन् ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति, छान्दोग्य ८. १. १

[5] य एते ब्रह्मलोके तं देवा आत्मानमुपासते··· छान्दोग्य० ८. १२ ६
तथा, स एवं देवयानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्यारोह्रदो मुहूर्ता···इत्यादि। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् १. ३.

[6] [7] ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदु।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते,
श्वेताश्वतर उपनिषद् ४। ८

गीता में भी···
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। श्रीमद्भगवद्गीता ८. २१.

[8] एतावानस्य महिमा व्रतो ज्यायाँश्च पूरुषः
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिविः। ऋग्वेद, पुरुष सूक्त।

[9] सूर्योपनिषद् ५. ११३.

[10], छान्दोग्य० ८. १

ऐसा स्थल माना गया है, जहाँ पूर्णानन्द है। नित्यसुख है। वह स्थान ब्रह्माण्डों से परे एवं ब्रह्माण्डातीत शून्य से भी विलक्षण है। वह स्थल असीम, अनन्त, अमेय और चिन्मय स्वरूप है। तत्वतः अक्षर ब्रह्म का हृदयस्थल होने के कारण वह परव्योम ब्रह्मस्वरूप ही कहा जाता है। वहीं इन नित्यधामों को सहस्त्रों सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान कहा है। कहीं बताया गया है कि वहां ये सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि प्रकाशित नहीं करते, वह स्वयं प्रकाशमान है। उसे प्राप्त कर कोई पुनरावर्तित नहीं होता।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है कि उस 'परमपद' को वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जिनका मान, मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने संगदोष जीत लिया है, जो कामनाओं से निवृत्त हो गये हैं और अध्यात्म में नित्य तल्लीन हैं। सुख-दुःख द्वंद्वों से विमुक्त ज्ञानीजन ही उस परमपद को प्राप्त करते हैं।[2]

वैकुण्ठ

विष्णु के साकार रूप की विशद् अभिव्यंजना के साथ ही उनके अवतारों और लीलाओं का गान पुराणों ने किया। उनके परिकरों का विवरण प्रस्तुत हुआ और उसी के साथ उनका धाम भी समृद्ध रूप में सर्वोच्च होकर प्रकाशित हुआ। विष्णु के उस परम लोक को वैकुण्ठ कहा गया और उसकी दिव्यता में उपर्युक्त सभी धाम-रूप या तो एकाकार हो गये अथवा उन्होंने निम्नश्रेणी ग्रहण की। वस्तुतः उपासनाभिनिवेशिनी बुद्धि और ज्ञान से ज्यों-ज्यों भगवान् के अनन्तलीलाधामों के सूक्ष्म अन्तराकाश खुलते जाते हैं, उपासक क्रमशः उच्चतर क्षेत्र के दर्शन करता जाता है। तदनुसार वह अपने उपास्य धाम को सर्वोच्च मानता है। श्रीमद्भागवतपुराण में सर्वोच्च धाम के रूप में वैकुण्ठ का ही वर्णन है।[3] विष्णु के अवतार के रूप में श्रीकृष्ण के स्वधाम का

---

[1] न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ६ पृ० १४

[2] निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत्।

श्रीमद्भगवद्गीता १५. ५

[3] देखिये श्रीमद्भागवत ३. १६ अध्याय।

अर्थ भागवत के टीकाकार श्रीधरस्वामी ने सर्वत्र वैकुण्ठ ही किया है। परन्तु श्रीकृष्ण के स्वधाम के रूप में वैकुण्ठ नाम भागवत में स्पष्ट नहीं है।[१] ऐसा लगता है कि राधा के नाम की भांति धाम का अव्यक्तीकरण भी भागवतकार का कोई रहस्य है। यों वैकुण्ठ धाम का श्रीकृष्ण के साथ व्यापक सम्बन्ध वैष्णव-साहित्य में अन्यत्र प्रभूत मात्रा में मिलता है। इसे नित्यसिद्ध, भगवन्मय, पांचकालिक, अनेक सभाप्रासाद, वनोपवन, वापी, कूप, तड़ागों से युक्त, अप्राकृत, देवताओं से प्रणम्य, प्रकृष्ट सत्वराशि और रमा के साथ क्रीड़ा करनेवाले केशव की भूमि बताया गया है।[२]

गोलोक

वैकुण्ठ का वास्तविक सम्बन्ध विष्णु के साथ है तथा उनके अवतार होने के कारण ही श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी वैकुण्ठ के साथ देखा गया है परन्तु वास्तव में श्रीकृष्ण का नित्यधाम पुराण इत्यादि में गोलोक ही वर्णित हुआ है।

महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय पर्व में गोलोक धाम का वर्णन प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण ने ब्रह्मलोक के समान ही गोलोक को भी सनातन धाम बताया है:—

एवं बहुविधैरूपैश्चरामीह वसुन्धराम्।
ब्रह्मलोकं च कौन्तेय गोलोकं च सनातनम्।[3]

---

[१] देखिये, द्वितीय स्कंध, नवम अध्याय तथा एकादशस्कंध ३१ वाँ अध्याय आदि।

[२] लोके वैकुंठनामानं दिव्यषाड्गुण्यसंयुतम्।
अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम्॥
नित्यसिद्धैः समाकीर्णंत्वन्मयैः पांचकालिकैः।
सभाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैः शुभम्॥
वापीकूपतडागैश्च वृक्षखण्डैः सुमण्डितम्।
अप्राकृत सुरैर्वन्द्यं अयुताकसमप्रभाम्।
प्रकृष्टसत्वराशिं त्वां कदा द्रक्ष्यामि चक्षुषा।
क्रीडन्तं रमया सार्द्धं लीलाभूमिषु केशवम्॥

पांचरात्रांतर्गत जितंतेस्तोत्र १, १८ से २०

[३] महाभारत, शान्तिपर्व, ३४२. १३८

हरिवंश में भी इन्द्रयज्ञभंग होने के समय इन्द्र ने गोलोक को ही परागति बताया है, साथ ही गायों के लोक (गवां लोकः गोलोकः) के रूप में इनके नाम की व्याख्या भी की गई है।[1]

ब्रह्मसंहिता में गोलोक को ही श्रीकृष्ण का निज धाम बताया गया है और उसकी स्थिति देवी, महेश आदि के धामों से उच्च मानी गई है।[2]

अनन्तसंहिता में महाशम्भु के निवास-लोक से ऊपर महावैकुण्ठ की स्थिति बताई गई है, जहां वासुदेवादि अपनी माया के द्वारा विहार करते हैं। उससे भी ऊपर प्रकृति से भी परे गोलोक की स्थिति है, जो वाणी और मन के लिये अतीत, सनातन और ज्योतिरूप है। वह नित्यगुणों से संपन्न, महा उत्साह और नित्य उत्सवादि गुणों से युक्त है।[3] गर्ग-संहिता, बृहद्ब्रह्मसंहिता, नारद पांचरात्र आदि ग्रन्थों में भी श्रीकृष्ण के गोलोक-धाम की विस्तार से चर्चा की गई है।

पुराणों में ब्रह्मवैवर्त-पुराण में गोलोक के विस्तृत-विशद वर्णन भरे पड़े हैं।[4] स्कन्द पुराण के वैष्णवखंड के अन्तर्गत वासुदेव-माहात्म्य में गोलोक की

---

[1] ब्राह्मे तपसियुक्तानां ब्रह्मलोकः परागतिः ।
गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः ।
स तु लोकस्त्वया कृष्णः सीदमानो कृतात्मना ।
धृतो धृतिमता वीर निघ्नतोपद्रवान्गवाम् । हरिवंश, विष्णुपर्व
अ० १९ श्लोक, ३४, ३५

[2] गोलोक नाम्नि निज धाम्नि तले च यस्य देवी महेश हरिधामसु तेषु तेषु ।
ते ते प्रभाव निचया रचिताश्च येन गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥
ब्रह्मसंहिता ५. ४

[3] महाशंभुर्वसत्यत्र सर्वशक्तिसमन्वितः ।
तदूर्ध्वं तु परं कान्तं महावैकुंठ संज्ञकम् ॥
वासुदेवादयस्तत्र विहरन्ति स्वमायया ।
तदूर्ध्वं तु स्वयं भातं गोलोकं प्रकृतेः परम् ॥
वाङ्मनोगोचरातीतं ज्योतिरूपं सनातनम् ।
नित्यगुणमहोत्साहं नित्योत्सवगुणान्वितम् ॥ अनन्तसंहिता, ५

[4] देखिये ब्रह्म वैवर्त पुराण, ब्रह्मखण्ड, अध्याय २८ आदि ।

यात्रा का विशद वर्णन है।[१] नारदीय पुराण के उत्तरखंड में,[२] देवी भागवत में[3] एवं अन्यत्र गोलोक की महिमा का विस्तृत गान किया है, देवीभागवत में गोलोक को विश्व का नित्य गोलक बताया गया है।[४]

सभी कृष्णभक्ति-संप्रदायों में श्रीकृष्ण के धाम के रूप में गोलोक की मान्यता है। गौड़ीय, निम्बार्क और वल्लभ-संप्रदायों में श्रीकृष्ण के धाम के रूप में गोलोक और वृन्दावन दोनों का विशिष्ट रूप में सामंजस्य हुआ है, जिसका दिग्दर्शन हम आगे करेंगे।

व्रज

भगवान् की अप्रकट और प्रकट लीला के अनुसार उनके धाम भी अप्रकट और प्रकट दो प्रकार के हैं। वैकुण्ठ और गोलोक आदि धाम अप्रकट लीला के धाम माने जाते हैं। व्रज, मथुरा और द्वारका ये श्रीकृष्ण के प्रकट लीलाधाम हैं। इन लीलाओं में क्रमशः ऐश्वर्य कम होता जाता है और माधुर्य बढ़ता जाता है। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के उपासक संप्रदाय द्वारका को श्रीकृष्ण का नित्य-धाम स्वीकृत करते हैं। दूसरे, मथुरा को द्वारका से अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में मथुरा ही रसस्थान है।[५] लीला के तारतम्य से द्वारका और मथुरा से व्रज की लीलाओं को अधिक अन्तरंग माना जाता है और इसीलिये व्रज को श्रीकृष्ण का अधिक अन्तरंग धाम स्वीकृत किया जाता है।

व्रज धाम को गुणातीत कहा गया है अर्थात् यह भगवान् का चेतनांश है। स्कन्द पुराण के भागवत-माहात्म्य में व्रज को व्यापक और गुणातीत मानकर उसकी व्याख्या की गई है :—

व्रजनं व्याप्तिरित्युक्ता व्यापनाद्व्रज उच्यते।
गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते।[६]

---

[१] स्कन्द पुराण, वैष्णवखंड, वासुदेव माहात्म्य।

[२] नारदीय महापुराण, उत्तर० अ० ५६

[३] देवीभागवत, नवमस्कंध, द्वितीय अध्याय।

[४] विश्वानां गोलकं नित्यं नित्यो गोलोक एव च ॥
देवीभागवत, नवमस्कंध, द्वितीय अध्याय।

[५] धर्मस्थानं त्वयोध्यक्षं श्रीरंगं मुक्तिसाधनम्।
द्वारिका भक्तिकृत प्रोक्ता रसस्थानं तु माथुरम्। वृहद्ब्रह्म संहिता २.४.५

[६] स्कंदपुराण, भागवत माहात्म्य।

श्रीमद्भागवत में गोपियों ने व्रज को सर्वाधिक महत्व दिया है और भगवान् के जन्म से व्रज को ही श्रीमण्डित हुआ बताया है।[1]

इस व्रज का और हिन्दी के भक्त-कवियों का निकट का संपर्क है। श्रीकृष्ण कहीं भी रहें, वे व्रज को कभी नहीं भूलते। सूरदास जी के सूरसागर में भगवान् कृष्ण ने उद्धव से कहा है :—

ऊधो ! मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुता की सुन्दर कगरी और तरुवर की छाहीं।[2]

व्रज के भी धाम की दृष्टि से दो विशिष्ट स्थल हैं, वृन्दावन और गोकुल। कृष्ण-भक्ति संप्रदायों में वल्लभ संप्रदाय गोकुल को विशेष महत्व देकर चलता है, यद्यपि सूरदासादि कवियों ने वृन्दावन का ही गान अधिक तन्मयता के साथ किया है। संप्रदाय की मान्यता है कि भगवान् के अवतार के समय भगवान् की नित्य-लीला का धाम गोलोक गोकुल के रूप में अवतरित होता है। गोकुल की महत्ता इस संप्रदाय में वैकुण्ठ आदि लोकों से भी अधिक मानी जाती है।[3]

गौड़ीय सम्प्रदाय के विद्वान् आचार्य श्रीरूपगोस्वामी ने श्रीकृष्ण के चार धाम माने हैं—व्रज, मथुरा, द्वारका और गोलोक।[4] व्रज ही गोकुल है और उनकी दृष्टि में गोलोक गोकुल का ही वैभव है अतएव आत्मवैभव के कारण गोकुल ही सर्वश्रेष्ठ है।[5] श्रीचैतन्य चरितामृत में गोकुल, व्रजलोकधाम, गोलोक, श्वेतद्वीप और वृन्दावन को समकक्ष कोटि में रखा गया है।[6]

---

[1] जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज· श्रयत इन्दिरां शश्वदत्र हि।
गोपीगीत, भागवत १०. ३१. १।

[2] सूरसागर, ना० प्र० सभा, पद सं० ४७७५।

[3] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयालु जी गुप्त, पृ० ४८८।

[4] यस्य वासः पुराणादौ ख्यातस्थान चतुष्टये।
व्रजे मधुपुरे द्वारवत्यां गोलोक एव च।
लघु भागवतामृत १. ३०५. श्रीरूप गोस्वामी।

[5] यत्तु गोलोक नामस्यात् तच्च गोकुलवैभवम्।
तदात्म वैभवत्वं च तस्य तन्महिमोन्नते।
लघु भागवतामृत १. २७७, ८ श्री रूप गोस्वामी।

[6] सर्वोपरि श्री गोकुल व्रज लोक धाम।
श्री गोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन धाम। चैतन्य चरितामृत।

वृन्दावन

श्रीकृष्ण के निज धाम के रूप में वृन्दावन की मान्यता अति प्राचीन है। उपासना-क्षेत्र की क्रम-परिणति में, अंत में, सर्व-प्रमुख स्थान वृन्दावन को ही प्राप्त हुआ है, हम ऐसा भी देखते हैं। गोलोक, गोकुल आदि को निज धाम माननेवाले संप्रदाय भी वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का सर्वोच्च धाम मानने को प्रस्तुत हुए, जिसका कारण है श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं में वृन्दावन की अन्तरंग-लीलाओं की असमोर्ध्वता।

प्रसिद्ध वैष्णव उपनिषद् 'गोपाल तापिनी' में वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का धाम कहा गया है।[1] इस वृन्दावन को वहाँ गोपालपुरी नाम भी दिया गया है। सरोवर में जिस प्रकार कमल स्थित रहता है, उसी प्रकार चक्र रक्षित भूमि में मथुरा है और उसमें गोपालपुरी स्थित है।[2] 'पुरुषार्थ-बोधिनी उपनिषद्' में वृन्दावन को दिव्य, ब्रह्मरूप और सच्चिदानन्द कहा गया है।[3] अन्यत्र अन्य बारह वनों का वर्णन कर वृन्दावन को गुह्यस्थल कहा है।[4] 'कृष्ण उपनिषद्' में वृन्दावन को श्रीकृष्ण की क्रीड़ास्थली बताया गया है।[5]

पुराण-ग्रन्थों में प्रकट वृन्दावन को सर्वाधिक महत्व श्रीमद्भागवत पुराण ने दिया है। श्रीमद्भागवत का प्राण उसका रासपंचाध्यायी स्थल है। श्रीकृष्ण का मुरली-नाद सुन गोपियां व्रज से दौड़कर वन में आई थीं। यह वन वृन्दावन ही है।[6] अन्यत्र अनेक स्थलों पर वृन्दावन के अलौकिक वर्णन भरे

---

[1] तमेकं गोविन्दंसच्चिदानन्दविग्रहं पंचपदं वृन्दावने...गोपाल पूर्वतापिनी, ८

[2] यथा हि वै सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां तिष्ठति चक्रेण रक्षिता हि मथुरा तस्माद् गोपालपुरी भवति। गोपालोत्तर तापिनी उपनिषद्।

[3] दिव्यं वृन्दावनं नाम शेषांगस्थं च सर्वदा।
ब्रह्म रूपमिदं देवि, सच्चिदानन्दरूपकम्।
पुरुषार्थ-बोधिनी-उपनिषद्।

[4] भद्र श्रीमोहभाण्डीरमहातालखदिरका बहुलाकाम्यकुमुदमधु वृन्दावनानि च द्वादशवनानि कालिन्द्याः पश्चिमेसप्त, पूर्वे पंचवनानि तत्र उत्तमं गुह्यमस्त्वति। पुरुषार्थ-बोधिनी-उपनिषद्।

[5] वने वृन्दावनं क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सहः। कृष्णोपनिषद् ७।

[6] एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून्, इत्यादि।
श्रीमद्भागवत १० ३०. २४

पड़े हैं।[1] उद्धव जी ने भगवान् के इसी धाम में गुल्म-लता बन कर रहने की कामना की थी।[2] प्रकट लीला की दृष्टि से ब्रह्मपुराण, मत्स्यपुराण, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण और ब्रह्म-वैवर्त पुराण में वृन्दावन के विस्तृत वर्णन हैं। इनमें स्कन्द, पद्मपुराण और ब्रह्म-वैवर्त पुराणों में वृन्दावन के विस्तृत भौगोलिक वर्णन के साथ ही उसका उपास्य और अलौकिक वर्णन भी किया गया है। पद्मपुराण के पातालखण्ड में ६९ से ८३ तक की १५ अध्यायों में वृन्दावन-माहात्म्य वर्णित है।

पद्म-पुराण में बताया गया है कि गोलोक का समस्त ऐश्वर्य गोकुल में प्रतिष्ठित है और द्वारिका में वैकुण्ठ का[3] परन्तु नित्य वृन्दावन धाम को समस्त ब्रह्माण्ड से ऊपर संस्थित बताया गया है।[4] वृन्दावन पूर्ण ब्रह्म सुख का ऐश्वर्य है, नित्य आनन्दमय और चिन्मय है। वृन्दावन को भूमि में भी प्रतिष्ठित है, वह भी उसी वृन्दावन का रूप है। वैकुण्ठादि धाम उसके अंशांश हैं।[5] इसी के ७४ वें अध्याय में वृन्दावन को राधापति का नित्य सिद्धस्थान, सिद्धों द्वारा भी अगोचर, गोलोक से भी ऊपर संस्थित, नित्य रासरसोत्सव से पूर्ण, अदृश्य परम गुह्य और पूर्ण प्रेमरसात्मक बताया गया है।[6] वृन्दावन कमल के विभिन्न

---

[1] देखिये दशमस्कंध अध्याय १८ इत्यादि।

[2] आसामहो चरणरेणुजुषामहंस्याम् वृन्दावने गुल्मलतौषधीनाम्।
वही, १०. ४७. ६१

[3] गोलोकैश्वर्यं यत्किंचिद्गोकुले तत्प्रतिष्ठितम्।
वैकुंठं वैभवं यद्वै द्वारिकायां प्रतिष्ठितम्।
पद्मपुराण, पाताल० ६९. १०

[4] सात्वतांस्थानमूर्धन्यं विष्णोरत्यंत दुर्लभम्।
नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरिसंस्थितम्। वही, ६९. ८.

[5] पूर्णब्रह्मसुखैश्वर्यं नित्यमानन्दमव्ययम्।
वैकुण्ठादि तदंशांशं स्वयं वृन्दावनं भुवि।
यद्ब्रह्मपरमैश्वर्यं नित्य वृन्दावनाश्रयम्।
कृष्ण धामं परं तेषां वनमध्ये विशेषतः।
पद्मपुराण, पाताल०, ६९. ९, ११

[6] गतो राधापतिस्थानं यत्सिद्धैरप्यगोचरम्।
ततश्च तदुपादिष्टो गोलोकादुपरिस्थितम्।

दलों और उसमें दिव्य स्वर्णमय योगपीठ का भी विस्तृत उपास्य वर्णन पद्म-पुराण के इस स्थल में दिखाई देता है। बृहद्वामन-पुराण में वृन्दावन का दिव्य वर्णन करने के उपरान्त श्रुतियों ने कहा है कि इससे श्रेष्ठ अन्य कोई वन नहीं है।[1]

उपास्य वृन्दावन का नित्य-स्वरूप वर्णन वैष्णव तंत्र और संहिताओं में सर्वाधिक वर्णित हुआ है। सनत्कुमार-संहिता, गर्ग-संहिता, बृहद्‌ब्रह्म-संहिता, अनन्त संहिता, वाराह-संहिता आदि में विभिन्न पद्‌मदलों और कर्णिका के रूप में वृन्दावन का वर्णन है। बृहद्‌ब्रह्म-संहिता में वृन्दावन को अशोक, दुःखरहित, जरामरण से वर्जित, क्रोध, मात्सर्य और अहंकार से भिन्न, गुणातीत और प्रेमाभक्ति स्वरूपमय वर्णित किया है। यह भी कहा गया है कि वृन्दा का वन होने के कारण इसे वृन्दावन कहा जाता है। गोलोक और वृन्दावन का समन्वय करते हुए वृन्दावन को गोलोक का ही गुह्य से गुह्य स्थल माना है।[2] तंत्र-ग्रन्थों में गौतमीय-तंत्र, रासोल्लास-तंत्र, ऊर्ध्वाम्नाय-तंत्र आदि में वृन्दावन के अत्यन्त साहित्यिक और ध्येय वर्णन हैं। इन ग्रन्थों में वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का सर्वोपरि धाम स्वीकृत किया गया है।

कृष्णोपासक संप्रदायों में गोलोक की मान्यता होने पर भी वृन्दावन को धाम के रूप में अधिक महत्त्व दिया गया है। गौड़ीय सम्प्रदाय में जहाँ राधा-कृष्ण की लीलाओं का रहस्यमय ध्यान वर्णित है, वहाँ धाम रूप में

नित्यं वृन्दावनं नाम नित्यरासरसोत्सवम्।
अदृश्यं परमं गुह्यं पूर्णं प्रेमरसात्मकम्।

पद्मपुराण, पाताल०, अ० ७४,

[1] दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति वरं परम्।

बृहद्वामनीय पुराण, यु० त० स० २०७

[2] अशोकदुःखरहितं जरामरणवर्जितं।
अक्रोधेनममात्सर्यमभिन्नं निरहंकृतम्।
गुणातीतं महद्धाम प्रेम भक्तिस्वरूपकम्।
वृन्दया चावनं यस्मात्तस्माद् वृन्दावनंस्मृतम्।
गुह्याद्गुह्यतमं गूढे गोलोके तत्प्रतिष्ठितम्।
बाह्याभ्यंतरभेदेन भूमावपि पितामह।

बृहद ब्रह्म संहिता। तृ० पाद, द्वि० अ०, १०, ११

वृन्दावन का ही वर्णन है। श्रीमद् रूप गोस्वामी-रचित मधुर रसात्मक 'निकुञ्जरहस्यस्तव' में परम रहस्य और आनन्द के सागर रूप वृन्दावन का चिन्तन किया गया है। वहाँ के निकुञ्जों में ही दिव्यातिदिव्य विलासों द्वारा निरवधि रसमय राधाकृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं :—

> परमरसरहस्यानन्दनिस्यन्दिवृन्दावनविपिननिकुंजे दिव्यदिव्यैर्विलासैः
> निरवधिरसमानौ राधिका कृष्णचन्द्रौ भज सकलमुपेक्ष्य तावकी शास्त्रयुक्तिः[1]

श्री जीव गोस्वामी ने वृन्दावन को सर्वोपरि बताते हुए, गोलोक को वृन्दावन का वैभव-प्रकाश माना है।[2] परन्तु इस सम्प्रदाय के परम भक्त और विद्वान् श्री प्रबोधानन्द जी ने वृन्दावन-महिमा का जैसा गान किया है, वैसा समस्त संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध होना कठिन है।[3] उनकी दृष्टि में मायिक प्रपंच से ऊपर ब्रह्मलोक या मुक्तिपद है, उससे परे परम व्योम है, जहाँ अनन्त वैकुंठ हैं। उसके ऊपर कृष्ण धाम, तत्रोपरि ज्योतिलोक और सर्वोपरि वृन्दावन धाम है। इस असमोर्ध्व वृन्दावन का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है। परन्तु उनका वृन्दावन-सम्बन्धी एक श्लोक नीचे पाद टिप्पणी में दिया जा रहा है।[4]

तात्त्विक दृष्टि से गौडीय वैष्णवों ने वृन्दावन को स्वरूप-शक्ति का ही प्रकाश माना है। पहले जो सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्ण की संधिनी, संवित् और ह्लादिनी तीन शक्तियों की बात कही गई है, उनमें सन्धिनी शक्ति के स्वप्रकाशता लक्षण के विशुद्ध सत्त्व से ही धाम और लीला-परिकर का विस्तार होता है। धाम भी वास्तव में भगवान् का ही एक स्वरूप है।

---

[1] निकुंज रहस्यस्तव, श्री रूप गोस्वामी कृत, श्लोक सं० ३१.

[2] इत्थं श्रीवृन्दावनस्य प्रकटलीलानुगतप्रकाश एव गोलोक इति व्याख्यातम्,
श्रीकृष्ण संदर्भ, श्री जीव गोस्वामी, कलकत्ता, पृ० ४१९

[3] श्री प्रबोधानन्द सरस्वतीकृत वृन्दावन महिमामृत या वृन्दावनशतक ग्रंथ प्रसिद्ध है, इस ग्रन्थ के १०० शतक बताये जाते हैं, अब तक केवल १७ शतक ही प्राप्त हुए हैं।

[4] अनन्तैश्चिज्ज्योत्स्ना रसजलधिपूरैस्ततइतो,
वहद्भिर्गोलोकावधि सकल संप्लावनकरम् ॥
अहो सर्वोपर्यंति विमल विस्तीर्णमधुर,
स्फुरच्चन्द्रप्रायं स्फुरति मम वृन्दावनमिदम् ॥

श्री प्रबोधानन्द सरस्वतीकृत, वृन्दावनशतक, ४. ८३.

वह अप्राकृत तत्त्व है। प्राकृत गुणों का प्रवेश वहाँ सम्भव नहीं है। यह भगवद्धाम नित्य ही है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में भी गोकुल और गोलोक की भगवद्धाम के रूप में मान्यता है परन्तु यहाँ भी क्रमशः वृन्दावन का ही महत्व,पूर्णतया प्रकाशित हो गया है। 'वेदान्त कामधेनु' में वृन्दावन का नाम नहीं है। न लघुस्तवराज, पंचधाटी, जैसे प्राचीन माने जाने वाले स्तोत्रों में ही वृन्दावन नाम प्राप्त है। श्री हरिव्यासदेवकृत बताये जाने वाले ग्रन्थ 'सिद्धान्त रत्नांजलि' में परम्परा की दृष्टि से बारहवें आचार्य पद्माचार्य का वृन्दावन सम्बन्धी एक श्लोक उद्धृत किया गया है। वहाँ कहा गया है कि कृष्ण-क्रीड़ा के लिये चित्-तत्त्व के घनीभूत वैचित्र्य ने ही श्रीवृन्दावन के कुञ्ज-गुल्मादि का रूप धारण कर लिया है :—

कुञ्जगुल्मादिरूपत्वं श्रीमद्वृन्दावनस्य यत्।
कृष्णक्रीडाकृते ज्ञेयं चिद्घनस्य विचित्रता ॥[1]

पश्चाद्वर्ती स्तोत्रों में वृन्दावन का वर्णन अवश्य ही अधिकता से हुआ है। वृन्दावन का सम्पूर्ण वैभव श्रीभट्ट जी के 'युगलशतक' और हरिव्यास देव कृत कथित 'महावाणी' में एवं उसके पश्चात् के निम्बार्कीय व्रज-भक्ति-साहित्य में देखने को मिलता है।

श्रीभट्टजी ने वृन्दावन को आनन्दघन स्वरूप बताया है। यदि किसी के मन को वृन्दावन ने हरण कर लिया है तो अवश्य ही उसका चित्त श्यामाश्याम के स्वरूप सरोवर में पड़ कर अपने स्वार्थ को भूल जायगा। वृन्दावन की निकुञ्जपुंजों को देखने मात्र से राधाकृष्ण हृदय में आ विराजते हैं, ऐसा इन महात्माओं का मत है।[2] उनकी दृष्टि में वृन्दावन महा आनन्द का मूल है। इसका नाम लेते ही युगल किशोर में रति उत्पन्न हो जाती

---

[1] सिद्धान्त रत्नांजलि, हरिव्यासदेव कृत, पृ० २०८.

[2] जाकौ मन वृन्दाविपिन हरयौ।
श्यामाश्याम स्वरूप सरोवर परि स्वारथ विसरयौ।
निरखि निकुंज पुंज छवि, राधेकृष्ण नाम उर धरयौ।
जै श्रीभट राधे रसिक राय ताहि सर्वस दै निवरयौ।
युगलशतक, सिद्धांतसुख ॥२॥

है। वृन्दावन की इस दिव्य रज पर कोटि मखतूल निछावर किये जा सकते हैं।[1]

'महावाणी' में वृन्दावन को गोलोक से उत्कृष्ट सिद्ध किया गया है। वृन्दावन के समक्ष उसके सर्व गर्व दूर हो जाते हैं। वह काल-गुण-रहित प्रदेश है। दिव्य अद्‌भुत नगों की छटा से शोभायमान अमित सूर्यों को लज्जित करने वाला एवं कोटि कन्दर्पों के दर्प को दमन करने वाला नित्य वृन्दावन है। वहाँ अष्ट सहचरियों के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश नहीं है।[2]

'स्तोत्र-रत्नाकर' में संगृहीत घमंडदेवकृत 'वृन्दावन-कृष्ण ध्यान' से ज्ञात होता है कि यह गोलोक का ही एक भाग है।[3] पुरुषोत्तमप्रसादकृत मुकुन्दमहिमास्तोत्र में वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का निजधाम वर्णित किया गया है।[4]

वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य ने गोलोक और गोकुल को धाम रूप में अधिक मान्यता दी है परन्तु वृन्दावन को भी उन्होंने धाम रूप में अपने ग्रन्थों में वर्णित किया है। 'निरोध लक्षण' में वे वृन्दावन अथवा

---

[1] जय जय वृन्दवन आनन्दमूल।
नाम लेत पावत जु प्रणय रति, जुगलकिसोर देत निज कूल।
ऐसेही जान वृन्दावन श्रीभट रज पर वारौं कोटि मखतूल॥
वही सिद्धान्त सुख ३

[2] अष्ट सहचरिन के विना परिकर यहाँ और सहचरिन को नहिं प्रवेशा।
काल गुन रहित निजधाम वृन्दाविपिन परम अभिरामता कौ सुदेशा।
दिव्य अद्भुत नगनि जगमगत जगत अति अमित अंशुमान लाजैं।
कोटि कंदर्प के दर्प दलमल करैं, गर्व गोलोक के सर्व भाजैं॥
महावाणी, सिद्धान्त सुख, ७

[3] अथ देवगणाः सर्वे गोलोकं ददृशुः परम् × ×
तत्र गोवर्धनो नाम गिरिराजो विराजते × ×
वृन्दावनं भ्राजमानं दिव्यद्रुमलताकुलम्। इत्यादि,
स्तोत्ररत्नाकर, वृन्दावन, पृ० १००

[4] लावण्यं सुकुमारता मधुरता सौगन्ध्य सुस्पर्श ते।
इत्यादिश्लोक, वही पृ० ८९.

गोकुल में अपने मन के सन्निवेश की कामना करते हैं।[1] 'यमुनाष्टपदी' में श्री विट्ठलनाथ जी ने यमुना जी से प्रार्थना की है कि वे वृन्दावन में ही उनके मनोरथ को पूर्ण करें क्योंकि वृन्दावन में ही यमुना के किनारे कृष्णविहार दृग्गोचर हो सकता है।[2] महाकवि सूर ने वृन्दावन का वर्णन अत्यंत अनुरक्त होकर किया है। वे निरन्तर वृन्दावन-वास की ही प्रार्थना करते हैं।[3] अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी वृन्दावन का वर्णन प्रचुर मात्रा में किया है। परमानन्ददास ने लिखा है, "मनोहर मूर्ति घनश्याम नित्य वृन्दावन में विहार करते हैं।"[4] नन्ददास और कृष्णदास की वृन्दावन में विशेष प्रीत दिखाई देती है। नन्ददास ने वृन्दावन को सकल सिद्धिदायक बताया है। वे कहते हैं कि "यह वृन्दावन चिद्घन है। इसकी स्वरूप-शोभा अवर्णनीय है। यह कृष्ण-लीला के लिये जड़ता धारण किये है। यहाँ के पर्वत, पक्षी, पशु, लता, कुञ्ज आदि सभी काल के प्रभाव से परे हैं। यहाँ परस्पर सभी अविरोधी हैं। काम क्रोधादि से रहित वे सभी प्रभु की लीला का अनुसरण करते हैं। यहाँ समस्त ऋतुएं निरन्तर निवास करती हैं। प्रतिपल यहाँ सूर्य जैसा अमित प्रकाश छाया रहता है। इसके समान अन्य कोई वन नहीं हैं। वास्तव में तो अन्य सब वन भी इसी की शोभा से सुशोभित हैं।"[5]

---

[1] वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्। निरोधलक्षणम्,श्रीवल्लभ, ३

[2] वृन्दावने चारु वृहद्वने मन्मनोरथं पूरय सूरसूते।
दृग्गोचरः कृष्ण विहार एव स्थितिस्त्वदीये तट एव भूयात्।
यमुनाष्टपदी, अंतिमश्लोक।

[3] करहु मोहि व्रजरेणु देहु वृन्दावन वासा।
मांगौं यहै प्रसाद और नहिं मेरैं आसा। सूरसागर, सूरदास जी।

[4] श्रीघनश्याम मनोहर मूरति करत विहार वृन्दावन।
परमानंददास कौ ठाकुर करत रंग निसि दिन मन भावन॥
अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल जी गुप्त,
पृ० ४९१ से उद्धृत।

[5] अब सुन्दर श्री वृन्दावन कों गाइ सुनाऊं।
सकल सिद्धिदाइक नाइक पै सब विधि पाऊं॥
श्री वृन्दावन चिद्घन कछु छवि बरनि न जाई।
कृष्ण ललित लीला के काज धारि रह्यौ जड़ताई॥

सिद्धान्त पंचाध्यायी में वे कहते हैं कि "चिद्घन वृन्दावन प्रतिक्षण नव-नव शोभा को धारण करता है। यह नन्दसुवन का नित्यधाम है। श्रुति इसका गान करती हैं"।[1]

वृन्दावन के विभिन्न रूप

वृहत्तर वृन्दावन और निजधाम वृन्दावन

वृन्दावन मथुरा मण्डल के अन्तर्गत स्थित है। पुराण-संहिताओं में इसके दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं। वृहत्तर वृन्दावन में गोवर्द्धन पर्वत, गोष्ठ आदि सभी आजाते हैं और धाम वृन्दावन में वह स्थल आता है, जहाँ श्रीकृष्ण ने रासलीला की थी। इसी स्थल को आज भी वृन्दावन के नाम से जाना जाता है। वैष्णव-सम्प्रदायों में इन दोनों वृन्दावनों की उपासना होती है। वृहत्तर वृन्दावन से सूक्ष्म निज वृन्दावन है। श्री जीव गोस्वामी ने भी महा वृन्दावन और केलि वृन्दावन का वर्णन किया है।[2] श्री प्रबोधानन्द जी सरस्वती ने वृन्दावन शतक में वृहत्तर-वृन्दावन को गोष्ठ वृन्दावन कहा है और श्रीधाम वृन्दावन को अन्तः वृन्दावन कहा है।[3] नित्य निकुञ्ज के उपासक श्री ललितकिशोरी दास जी ने निजधाम निज

जहँ नग खग मृग लता कुंज वीरुध तन जेते।
परत न काल प्रभाव सदा सोभित हैं ते ते॥
सकल जन्तु अविरुद्ध जहाँ हरि मृग संग चरहीं।
काम क्रोध मद लोभ रहित लीला अनुसरहीं॥
सब रितु संत वसंत रहति जहं दिनमनि गोभा।
आन बनन जाकी विभूति करि सोभित सोभा॥

नंददास ग्रंथावली, शुक्ल, रासपंचाध्यायी पृ० १५७

[1] श्री वृन्दावन चिद्घन छन छन घन छवि पावै।
नन्दसुवन कौ नित्य सदन श्रुतिगन जिहि गावै॥

वही, सिद्धांत पंचाध्यायी पृ० १८४,

[2] महा वृन्दावनं तत्र केलि वृन्दावनानि च।

श्रीकृष्णसंदर्भ, श्रीजीव गोस्वामी, कलकत्ता, पृ० ४१८

[3] स्थूलं सूक्ष्मं कारणं ब्रह्म तुर्यं श्रीवैकुण्ठद्वारका जन्मभूमि।
कृष्णस्याथो गोष्ठवृन्दावनान्तत् गोप्याक्रीडं धाम वृन्दावनान्तः॥

वृन्दावनशतक १. ८

महल का आवरण पहले एक योजन के वृन्दावन को बताया है तदन्तर बीस कोस के वृन्दावन को। ये दोनों ही निकुञ्ज के दो आवरण हैं।[1]

प्रकट (व्यक्त) वृन्दावन और अप्रकट (अव्यक्त) वृन्दावन

कहा जा चुका है कि भगवान् के अवतार के साथ उनके धाम और परिकर भी अवतरित होते हैं। द्वापर के समय प्रकटलीला करने के हेतु भगवान् कृष्ण का अवतार हुआ था। उसी समय गोलोक का गोकुल के रूप में तथा वैकुण्ठ का द्वारिका के रूप में अवतार हुआ था, ऐसी मान्यता का दिग्दर्शन हम करा चुके हैं। अन्य उपासक ऐसा भी मानते हैं कि गोलोक से भी ऊपर भगवान् का नित्यधाम वृन्दावन ही है, जहाँ उनकी नित्य लीलाएं होती हैं और उसी का अवतार भूस्थल-स्थित वृन्दावन है। प्रथम को अप्रकट या अव्यक्त और द्वितीय को प्रकट या व्यक्त वृन्दावन कहा जाता है। पद्म-पुराण में इस अप्रकट और प्रकट वृन्दावन धाम का परिचय कराया गया है।[2] डा० दासगुप्त का कथन है, जिस प्रकार श्रीकृष्ण के शरीर और लीला के अप्रकटत्व और प्रकटत्व हैं, उसी प्रकार उनके धाम के भी अप्रकटत्व और प्रकटत्व हैं...प्रकट धाम में जिस प्रकार यमुनादि नदियां, कुञ्ज-निकुञ्ज, कदंब-अशोक, गोप-गोपी, धेनु-वत्स, शुक-सारी आदि हैं, अप्रकट धाम में भी इसी प्रकार सब कुछ है, एक दूसरे का प्रकाश विशेषमात्र है।[3] पद्मपुराण में लीला के माध्यम से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है।[4]

आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक वृन्दावन

पद्मपुराण के ही पातालखण्ड में वृन्दावन के इन तीन रूपों का परिचय कराया गया है। आधिभौतिक वृन्दावन तो प्रकट वृन्दावन ही है और

---

[1] निजधाम निजमहल को आवरन एक योजन वृन्दावन, ताको आवरन वीस कोस वृन्दावन, ताको आवरन चौरासी कोस व्रज···वचनिका सिद्धान्त, ललितकिशोरीदास।

[2] नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम्।
वैकुंठादि तदंशांशं स्वयं वृन्दावनं भुवि। पद्मपुराण, पाताल०, ६९.८, ९.

[3] श्रीराधा का क्रम-विकास, श्रीशशिभूषणदासगुप्त, पृ० १९८.

[4] यथा प्रकटलीलायां पुराणेषु प्रकीर्तिता।
तथा ते नित्यलीलायां सन्ति वृन्दावने भुवि। पद्मपुराण, पाताल०, ५२.४

आधिदैविक पहले कहा हुआ अप्रकट वृन्दावन है। आध्यात्मिक दृष्टि से वृन्दावन को पिण्ड वृन्दावन के रूप में देखा गया है। यह वृन्दावन भगवान् का शरीर ही है, जिसमें कालिन्दी सुषुम्ना नाड़ी है जो श्रेष्ठ अमृत की प्रस्रविणी है।[1] इस भावना का विस्तार हठयोग की साधना में भी देखा जा सकता है।

वन वृन्दावन, मन वृन्दावन और नित्य वृन्दावन

ऊपर जो वृन्दावन के तीन रूप बताये गये हैं, उन्हीं से मिलते-जुलते वन, मन, और नित्य वृन्दावन के रूप सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय में मान्य हैं। वन वृंदावन तो भौगोलिक वृन्दावन है। मन वृन्दावन उनके यहाँ विशेष महत्व का है। साधक का हृदय ही मन वृन्दावन है। नित्य वृन्दावन या गुप्त चन्द्रपुर वे उसे कहते हैं, जहाँ सहज निवास करता है।[2]

निर्गुण धाम वृन्दावन

केवल सगुण उपासकों ने ही नहीं, निर्गुण उपासकों ने भी वृन्दावन को भगवान् का परमधाम माना है। परन्तु यह वृन्दावन अनेक अंशों में शून्यमंडल का ही पर्याय है। कबीर साहब के संबंध में चर्चा करते हुए श्रीपरशुराम जी चतुर्वेदी कहते हैं, 'ऐसी दशा में कबीर साहब का वृन्दावन स्वभावतः उस शून्यमंडल का प्रमुख अंश बन जाता है, जिसके अस्तित्व की कल्पना प्रत्येक घट वा मानवशरीर में की जाती है और यदि उक्त मंडल वा प्रदेश संत चरणदास के अमरलोक से अभिन्न है, तो यह वृन्दावन वस्तुतः वही अनुपम क्षेत्र है, जिसे इन्होंने दिव्य वृन्दावन की संज्ञा दी है तथा जिसे देखने के पहले हरि रूप का देखना आवश्यक है।'[3]

सखीभाव की उपासना में नित्य वृन्दावन

सखीभाव की उपासना रसोपासना है। रस की नित्यलीला के निमित्त

---

[1] कालिन्दीयं सुषुम्ना या परमामृतवाहिनी।
यत्रदेवाश्चभूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः॥ इत्यादि वही, ७५. ११ आदि।

[2] देखिये आब्स्क्योर रिलिजस कल्ट्स, श्रीशशिभूषण दासगुप्त,
पृ० १५१ से १५३ तक।

[3] कबीर साहब की दृष्टि में वृन्दावन, ले० श्रीपरशुराम जी चतुर्वेदी,
सर्वेश्वर मासिक वृन्दावन विशेषांक, वृन्दावन, पृ० १५२, १५३.

वही परतत्व रस अनादि सिद्ध धाम रूप में भी अभिव्यक्त होता है। धाम के अन्तर्गत जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सभी लीला के उपकरण हैं और वही एक रस-तत्त्व नदी, जल, वन, उद्यान आदि के रूप में अभिव्यक्त है।[1] नित्य वृन्दावन इस दृष्टि से उसी रस का अधिष्ठान रूप है और उसके अंदर के लता, गुल्म आदि भी तात्विक दृष्टि से वही हैं।

धामरूप में वृन्दावन की मान्यता सभी कृष्णभक्त वैष्णव संप्रदायों में होने के पश्चात् भी उपासना की विलक्षणता के कारण सर्वत्र वृन्दावन के स्वरूप प्रकाश में एक विभेद है। उपासना की विभिन्न दृष्टियों से देखे जाने के कारण यह भेद स्वाभाविक है। उपासना की स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर धाम का भी स्थूल और सूक्ष्म रूप में दर्शन होता है। इसीलिए रस-भूमि वृन्दावन में भी रसिकों ने पग-पग पर भेद माना है, वही रस किसी ने खारे, किसी ने मीठे और किसी ने मरमरे रूप में ग्रहण किया है, रसिक को इसका भेद समझ लेना चाहिये। श्रीविहारिनदास जी ने स्पष्ट ही कहा है :—

वृन्दावन रस भूमि यह पेंड-पेंड पर भेद।
खारौ, मीठौ, मरमरौ, यहै समझि भ्रम छेद ॥[2]

उपासक की जैसी रति होती है, वैसा ही भाव का स्फुरण होता है। एक ही वस्तु के विभिन्न रूप इसीलिये दिखाई देते हैं।[3] सखीभाव के इन प्रेमी उपासकों ने वृन्दावन का वह प्रेममय रूप ढूँढ़ लिया है, जहां की निभृत निकुञ्जों में प्रेम की दो मूर्तियां नित्य प्रेमलीला में मग्न हैं। यह प्रेममय वृन्दावन उनकी प्रेमक्रीडाओं को आनन्दपूर्वक गति देता हुआ उस रस को स्वयं भी धारण करता है। वृन्दावन का यह प्रेम-स्वरूप पूर्णतया विशुद्ध और समर्थ है। इन

---

[1] आनन्दः परमं ब्रह्म स एवहि रसः स्मृतः।
न एकाकी रमते यस्मात् लीलाधिष्ठानसिद्धये।
अनादिसिद्ध एवायं धामरूपेण वै रसः।
नद्युदन्वनवनोद्यानरूपेणैव विजृंभितः। पुराणसंहिता। ३३. २८ से ३० तक

[2] श्री विहारिनदास की साखी, सं० ९०३.

[3] जिहिं जैसा तिहिं तैसा देखा।
रसिकनि के मोहन मृदुभेषा।

विहारिनदास, चौबोला २०

वृन्दावन रस-रसिकों ने वृन्दावन को प्रमुखतः इसी रूप में देखा है। यह प्रेम वही प्रेमतत्त्व है जो प्रिया-प्रियतम और सखियों के रूप में त्रिधा प्रकाशित हुआ है और अपने चतुर्थ सहज स्वाभाविक रूप में वही वृन्दावन का रूप धारण किये हुये है।[1]

विशुद्ध प्रेम का यह स्वरूप प्रेम की नित्यलीला नित्यविहार का आधार है। आधार होने के लिये प्रेम ने घनत्व धारण किया है। वृन्दावन का यह प्रेमघनस्वरूप स्वाभाविकरूप से सहज शोभामय है। उसके दर्शन कर मन स्वतः ही लुब्ध हो जाता है...

जै जै श्री वृन्दावन सहज सुहावनौ।
नित्यविहार अधार सदा मन भावनौ॥[2]
... ...
वृन्दावन घन सहज सोभा मन लोभा उपजावै।[3]

प्रेम का घनीभूत विग्रह होने के कारण प्रिया-प्रियतम की क्रीडा एवं उनका प्रेम सर्वस्व वृन्दावन पर ही अवलम्बित है। वृन्दावन मानों प्रिया-प्रियतम की रति का साक्षात् आगार है, नेह-निधान है। श्रीविहारिनदास जी ने इसे नवल नागरिया और नवल नागरी का नेह-निधान कहा है।[4]

यह आकृतिमय नित्य प्रेम अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही अत्यन्त अभिराम है और इसीलिये समस्त सुखों का धाम है। इस शोभामय प्रदेश में शोभा के-ही दो सागर गौर और श्याम वर्ण के होकर आठों याम विहार करते हैं। प्रिया-प्रियतम के आनन्द को बढ़ाकर सब प्रकार से समृद्ध करनेवाला

---

[1] प्रेमरूप श्रीजुत वृन्दावन धाम है।
नित्य निकुञ्ज विहार विवस वर वाम है।
प्रेमरूप सहचरि संपति वपु जानिकै।
हरि, हां, दासकिसोर सखी सेवत रुख जानिकै।
उपदेस आनन्दसत, सिद्धान्त रत्नाकर, पृ० २५२.

[2] कृष्णदास जू को मंगल, लेखक का निजी संग्रह पृ० १९४।

[3] विहारिनदास, रस के पद, १६९, लेखक का निजी संग्रह।

[4] श्रीवृन्दावन सहज सुहावनौ।
नवल नागरियै नवल नागरि नेह निधान।
बिहारिनदास रस के पद १६४, लेखक का निजी संग्रह।

यह धाम वृन्दावन है। यह स्वयं पूर्णकाम है, साथ ही प्रिया-प्रियतम की कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है, इसलिये भी पूर्णकाम है। प्रेम का विलास होने से यह प्रेम भूमि महा प्रेममय हो उठती है और इसके रोम-रोम से अभिरामता फूट पड़ती है। यही आनन्दमय माधुर्य की भूमि रसिकवर की प्राण-धन नित्यकेलि का आश्रय है :—

ए री मेरौ वृन्दावन सुखधाम।
प्रिया लाल कौ रंग बढ़ावत, सब विधि पूरन काम॥
महा प्रेम सोभा कौ सागर, रोम रोम अभिराम।
ललित रसिकवरजू की जीवनि, कुञ्ज केलि विश्राम॥[१]

युगल-केलि के लिये वृन्दावन प्रेम की समग्र घनता तरलित हो उठती है। "इसका अंग प्रत्यंग, द्रुम-दल-वेलि के रूप में नवल विकास प्राप्त करता है। कान्त और कामिनी इसके स्वरूप को देखकर स्वतः आनन्द से विभोर हो उठते हैं, वे परस्पर अपने आनन्द का प्रसन्नतापूर्वक प्रकाशन करते हैं और हास करते हैं। चारों ओर कुञ्ज-वीथियां, कुसुमों की अवलियां और भ्रमरों की पंक्तियाँ हैं। ये 'कौतिकी' अपने समस्त कौतुक को भूल कर मकरंदपान में प्रवृत्त हो जाते हैं। तभी सहज सज्जित सुमनों की शय्या यहाँ प्रस्तुत हो जाती है और निःशंक होकर प्रिया-प्रियतम उस पर विराजते हैं। दोनों की शोभा ऐसी होती है मानों ये मदन और चन्द्रमा हैं।[२] वृन्दावन ही उनको बार-बार केलि में प्रवृत्त करता है।

वृन्दावन के लता-बेलि, तृण-वीरुध, खग-मृग ये सब भी जड़ नहीं हैं,

---

[१] ललितकिशोरी जी के सिद्धान्त के पद, ५२।

[२] मृदु रस रंग रंगीली नागरि, रस रंगे हैं रसिक सुकुँवार।
दोऊ इक रस बैस बिराजहीं, सुख साजत विसद विहार।
जै श्री वृन्दाविपुन विलोकहीं सब द्रुम दल वेलि विकास।
निजु आनन्दहिं सूचहीं मिलि करत परस्पर हास।
कुञ्जावलि, कुसुमावली, अलि अवलिनि के वृन्द।
कौतिक भूले कौतिकी मिलि पान करत मकरन्द।
सुवन सेज सहज साजैं, बनि बैठे हैं अंक निसंक।
अंगराग अंग मरगजे मनौं उपजे हैं मदन मयंक।
....
विहारिनदास, रस के पद १७२।

अपितु सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। प्रेमानन्द ही लीला के लिये विभिन्न रूपों में फल-फूल रहा है। नित्य ही वृन्दावन की इस मोहिनी भूमि पर अनन्त, अनादि सर्वदा 'एकरस' प्रिय-प्यारी स्वच्छंद विहार करते हैं। खग-मृग आदि के रूप में जो प्रेम प्रकाशित है उसका मकरन्द ये मधुप होकर पान कर रहे हैं।[1]

जिस प्रकार वृन्दावन के लता-द्रुम और पशु-पक्षियों को देखकर कान्त और कामिनी आनन्दित हो जाते हैं, उसी प्रकार वृंन्दावन के तरु-तमालादिक भी प्रिया-प्रियतम को देखकर आनन्दमग्न हो जाते हैं। जब कामिनी और कान्त वृन्दावन में विहार करते हैं, तो तमाल फूल उठते हैं, लता उनसे लिपट जाती हैं, चारों ओर सौरभ फैल जाती है और समस्त जीव-जन्तु जी उठते हैं, पुलकित हो जाते हैं। श्री प्रिया-प्रियतम के विहार के साथ ही वृन्दावन 'रसमसा' होकर 'मैमंत' हो जाता है।[2]

श्रीभगवतरसिक जी ने भी अपने वृन्दावन के ध्यान में वृन्दावन के समाज को युगल अंग का सनेही और प्रेममय बताया है। यहाँ के रत्न-प्रभा के द्रुम-बेलि, जो सभी समान हैं, शाखाओं के द्वारा परस्पर गलबाहीं दिये हुए हैं। उन पर जो विहंग बैठे हैं, वे दिव्य हैं और वे पुरीष आदि भी नहीं करते। उनका चित्त अडोल होकर युगल-केलि में लगा है। यहां के वृक्ष सदैव फूले-फले हरे-भरे रहते हैं, कभी पत्र-विहीन नहीं होते। वे निरन्तर सेवा में लगे रहते हैं।[3]

---

[1] नमो नमो वृन्दावनचंद।
नित्य अनन्त अनादि एकरस, पियप्यारी विहरत स्वच्छंद।
सत् चित् आनन्द रूप मय खग मृग द्रुम बेली वर वृन्द।
भगवतरसिक निरन्तर सेवत मधुप भये पीवत मकरन्द।

अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, पृ० ९

[2] सहज वसंत कामिनी कन्त।
नित विहरत मिलि इनहि न अन्त।
फूले तमाल लता लपटत, हँसत सुगंध जीवत सब जन्त।
श्री विचित्र विहारिनदास कहत रस बसत विपुन अङ्ग-अङ्ग मैमंत।

बिहारिनिदास, रस के पद, ११५.

[3] ता मधि फूले कमल कमोदिनि रंग-रंग के।
जलचर भाँति अनेक सनेही युगल अङ्ग के।
रतनप्रभा द्रुम बेलि कोउ लघु दीरघ नाहीं।

सामान्य गतिविधियों से विशिष्ट होकर वृन्दावन के कोकिला, मयूर, मेघ आदि नित्यविहार में सदैव योग देते हैं। यहां जितने पक्षी आदिक हैं, वे प्रकृति के न होकर सुरति के हैं, प्रेममय हैं। इन्हीं के मध्य वृन्दावन का वह मधुमय वातावरण किशोरी जी को हरि का संग करने की प्रेरणा देता है।[1]

श्रीकृष्ण की वंशी का नाद सुन कर यमुना-जल के विथकित होने की बात ब्रजलीला के क्षेत्र में भी सुनी जाती है। सूरदास जी ने मुरली के प्रभाव को "सुनि चंचल पवन थके, सरिता जल चलि न सके" में व्यापक रूप में दिखाया है। वहां बताया गया है कि यह जड़-जंगम को विपरीत गति देने वाली है। उस उपासना-क्षेत्र में जड़-जंगम सभी आते हैं, परन्तु नित्यविहार के क्षेत्र में यह प्रेम पूर्णतया चैतन्यमय है। साधारणतया वृन्दावन को प्रेम की जड़ता या जड़िमा कहा जाता है, परन्तु सखी-संप्रदाय में वृन्दावन को प्रेम का घनत्व ही माना गया है।

वृन्दावन की स्वरूपशोभा

रसिकों की वाणी का एक बड़ा भाग वृन्दावन के सौन्दर्य-वर्णन में व्यय हुआ है। यह सौन्दर्य ऊपर से जागतिक-सा लगता है, परन्तु उसमें दिव्यता की आभा सर्वत्र है और सर्वथा प्राणवत्ता है। इसलिये इन रसिकों की वाणी में वर्णित वृन्दावन का सौन्दर्य प्राणवान् सौन्दर्य है।

रसिकों की वाणियों में वृन्दावन का ध्यान उसके परम प्रेममय वैभव के साथ वर्णित हुआ है। प्रथम कुण्डलाकार यमुना श्रीवृन्दावन के चारों ओर शोभा देती है। इसका जल अत्यन्त निर्मल और मन को मोहित करने वाला है। यमुना को इन रसिकों ने 'श्रृङ्गार-रस की दिव्य धारा' कहा है। श्रीयमुना के किनारे दिव्य हैं। समस्त भूमि रत्न-जटित है। चारों ओर विभिन्न प्रकार की मणियां झलक रही हैं। स्थान-स्थान पर सुन्दर मनोहारिणी वाटिकाएँ और आराम बने हैं। इनके चारों ओर सरोवर और सुन्दर वापिकाएँ हैं, जिनके हेममय किनारे हैं। कदंब, तमाल आदि के मणियों के समान शोभामय द्रुम

साखा सबै समान परसपर दै गलवाहीं।
तिन पर दिव्य विहंग भाँति भाँतिन सों बोलैं।
ते नहिं करैं पुरीष रहैं तहं चित्त अडोलैं।

अनन्यनिश्चयात्म, भगवतरसिक पृ० १४-१५

[1] देखिये केलिमाल, स्वा० हरिदास, पद सं १४

शीतल-मन्द पवन में मत्त हो रहे हैं। वृक्षों पर कंचन की बेलि लिपटी हुई हैं। सारस, मोर, चकोर आदि पक्षीगण आनन्दित हो कलरव कर रहे हैं। वृन्दावन की शोभा अपूर्व है और श्यामश्यामा के काम को बढ़ाने वाली है।[1]

इन रसिकों की वाणियों में वृन्दावन का दूसरे प्रकार का वर्णन जो हमें प्राप्त होता है, वह बहुत संश्लिष्ट न होकर सादा, सरस और स्वाभाविक है। यहां स्वाभाविक रीति से फूल खिल रहे हैं, शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन वह रहा है। पूर्ण चन्द्रमा निकल रहा है। उसी की धवल चन्द्रिका में प्रिया-प्रियतम का रास विलास हो रहा है। फूलों की वर्षा हो रही है। यमुना-जल विथकित है। रतिपति मोहित होकर तृण तोड़ रहा है।[2]

वृन्दावन के स्वरूप-वर्णन का वैविध्य ऋतुओं के माध्यम से हुआ है। यों तो वृन्दावन में सर्वदा समस्त ऋतुओं का निवास है परन्तु विभिन्न प्रकार की लीलाओं के लिये विभिन्न ऋतुओं का समागम होता है। वृंदा सखी विभिन्न ऋतुओं के रूप में विहार का साज सजाती हैं।

वृन्दावन की निकुंजें

रसिकों ने वृन्दावन की कुञ्जों का वर्णन बड़ी तल्लीनता और तीव्रता के साथ किया है।[3] प्रेम के अधिकाधिक घनीभूत होने की दशा में वृन्दावन के

---

[1] देखिये भगवतरसिक कृत, अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ में वृन्दावन ध्यान, पृ० १४, १५

[2] श्री वृन्दावन फूलन फूल्यौ, पूरन ससि, त्रिविध पवन वहै थोरी-थोरी।
गति विलास रस हास परसपर, भूतल अद्भुत यह जोरी।
श्रीजमुनाजल विथकित, पुहुपनि बरसा, रतिपति डारत तृन तोरी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी जू कौ रस रसना कहै को री।
केलिमाल। ३३

[3] चित तें न टरै छवि कुंजनि की।
अवनी रची स्यामसुधा वर की, जु वही सलिता सुखपुंजनि की।
सित नील अरुन सु पीत प्रसून, कहाँ लौं कहौं अलि गुंजनि की।
श्रीबिहारी बिहारिनदास कहै, चित तें न टरै छवि कुंजनि की॥
बिहारिनदास, सवैया आदि सं० ११३, लेखक के निजी संग्रह में

विहार का क्षेत्र भी सिमटता जाता है। वृन्दावन का और अधिक सूक्ष्म प्रदेश ये निकुञ्ज ही हैं। श्री राधावल्लभ संप्रदाय में जहां नित्य विहार रस को वृन्दावन रस कहा जाता है,[1] वहां स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय में उसे विशेषरूप से निकुञ्ज रस कहने की ही परम्परा है।[2] श्री रूपसखी का कथन है कि श्रीरूप सनातन ने व्रजरस का कथन किया है, श्रीहरिवंश जी ने वृन्दावन का परन्तु स्वामी हरिदास जी विहार के ही गायक हैं। यह विहार रस निकुञ्ज रस ही है :—

रूप सनातन व्रज कह्यौ, वृन्दावन हरिवंस।
श्री हरिदास विहार में रसिक करत परसंस॥
श्रीस्वामी हरिदास कौ, जस त्रैलोक विस्तार।
आपु पियौ प्यायौ रसिक, नव निकुञ्ज रस सार।[3]

सभी उपासकों ने स्वामी हरिदास जी की उपासना को निकुञ्ज-उपासना कहा है। उनके सेव्य ठाकुर श्रीकुञ्जविहारी हैं, विशेषकर इस संप्रदाय के रसिकों ने निकुञ्जों का वर्णन बड़े चाव से किया है।

वृन्दावन की निकुंजें प्रिया-प्रिय की कामस्थली हैं। ये अत्यन्त मनोहर हैं और काम के आवेश को अनेक प्रकार से बढ़ाने वाली हैं।[4] वृन्दावन की इन कुञ्जों में अलि गूँजते हैं। कुंज मानों मदन के सदन हैं, इनमें विचित्र कौतुक छाया हुआ है। यह कौतुक प्रिया-प्रियतम को निकुञ्जों में ही रोके रखता है। प्रिया-प्रियतम को ये निकुञ्ज अत्यन्त प्रिय हैं। इन निकुञ्जों की संपत्ति उनके नयनों में फिरती रहती है और इन निकुञ्जों से वे जब जैसी रति चाहते हैं, उन्हें प्राप्त हो जाती है।

वृन्दावन की इन निकुञ्जों में सखी-संप्रदाय की मान्यता के अनुसार निधिवन निकुञ्ज परम गोप्य और प्रिया-प्रियतम की परम एकान्त स्थली है।

---

[1] करुणानिधि और कृपानिधि, श्री हरिवंश उदार।
वृन्दावन रस कहन कों, प्रगट धरचौ अवतार।
रहस्यमंजरीलीला, ध्रुवदास, पृ० २०७

[2] रूपसखी की साखी सं० १।

[3] रूपसखी की वाणीसाखी ५६ तथा १।

[4] तन रोम हरषि पुलकावली, कीनों कुंज प्रवेस।
कामकुंज अभिराम ही, बहु भाँतिनि बढ्यौ अवेस।
बिहारिनदास, रस के पद १७३

इसकी शोभा और भी विलक्षण है। महाप्रेमानन्द इस निकुञ्ज में प्रतिपल उल्लसित होता रहता है। प्रिया लाल के आनन्द के कारण यह निकुञ्ज अत्यंत छविमय है।[1]

इस संप्रदाय में निधिवन के महत्व का कारण यह भी है कि स्वामी हरिदास जी ने इसी स्थान पर बैठकर उपासना की थी और उन्हें इसी स्थान पर श्रीकुञ्जविहारी जी का प्रकट विग्रह प्राप्त हुआ था। अतएव निधिवन का भाव और भौतिक दोनों दृष्टियों से अतीव महत्व है। राधावल्लभ संप्रदाय में निधिवन के समान ही सेवाकुञ्ज का महत्व है, जहाँ श्रीराधा जी का सिद्ध रासस्थल माना जाता है।

महल

नित्य वृन्दावन की परम अभिराम इन नित्य निकुञ्जों में ही प्रिया-प्रियतम के विलास का वह स्थल है, जो अति सूक्ष्म प्रदेश है। इसे रंगमहल या

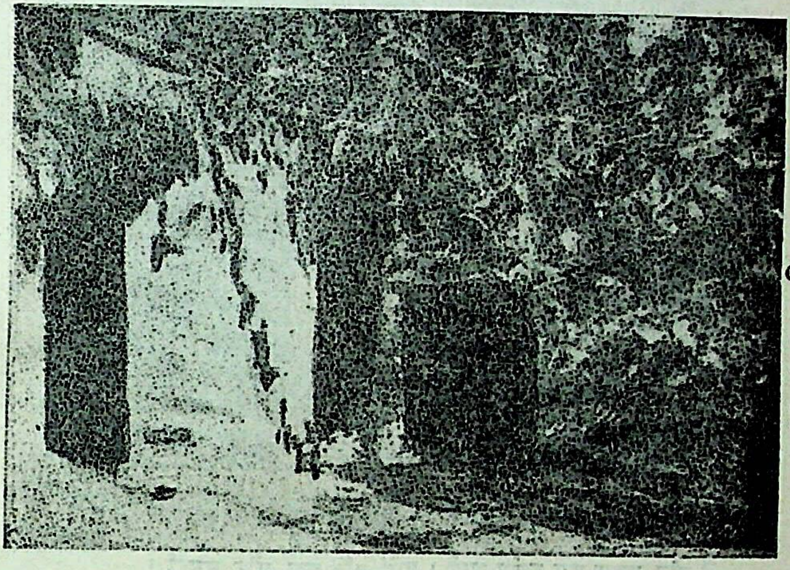

निधिवन-निकुंज

---

[1] सोभा निधिवनराज की कापै बरनी जाइ।
महाप्रेम आनंद भरि, छिन-छिन अति हुलसाइ॥
इत्यादि. श्री ललितकिशोरी दास के पद ३६

साधारणतया 'महल' कहते हैं। यह महल ही वह अन्तिम धाम है, जहां कुञ्जबिहारी की नित्य अन्तरंग लीलाएँ संपन्न होती हैं। वही उपासक का वास्तविक गंतव्य है।[1] सखीभाव की उपासना को इसीलिये 'महल' की उपासना भी कहते हैं।

बिहारिनदास जी कहते हैं कि धर्म का सूक्ष्मतम रूप महल में ही छिपा हुआ है। अन्य अनेक धर्मों के नाम पर अधर्मी छाये हुए हैं। बिहारिनदास ने महल के इसी सूक्ष्म धर्म को प्रकट किया है।[2] ललितकिशोरी जी कहते हैं कि

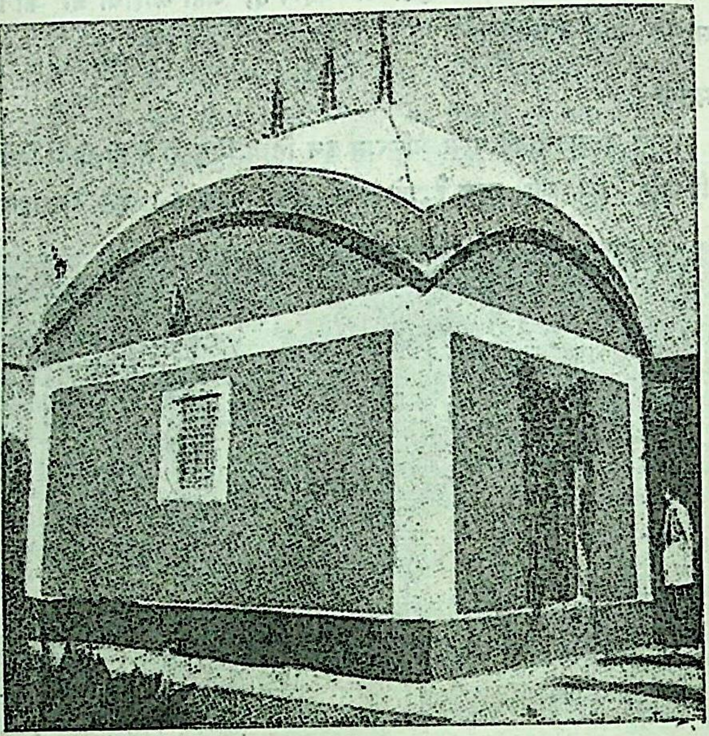

निधिवन में प्रिया-प्रियतम का रंगमहल

---

[1] कुंज महल रस दुर्लभ भाई। तामें नहिं कुछ और समाई।
विलसत केलि महा सुखदाई। श्री ललितकिसोरी कंठ लगाई।
ललितकिशोरी के पद २६

[2] सूछम धर्म महल दुरयौ, रहैं अधर्मी छाइ।
श्रीविहारनिदास प्रगट कियौ, जब उरयौ धर्म अकुलाइ।
बिहारिनदास जी की साखी, १४६

हमारा यह महल सुखदायी है। यह प्रिया लालका रंग बढ़ाने वाला है, जिससे उनकी प्रीति पल-पल पर सवायी होती जाती है। यह महल ही अन्तिम उच्चतम स्थल है, इसी महल-रस की एक बूँद छलक कर ब्रज में आ पड़ी थी, वहां आनन्द समा नहीं सका। इस गुप्त रस रीति को हरिदास जी ने रसिकों के आनन्द के लिये प्रकट किया है.।[1]

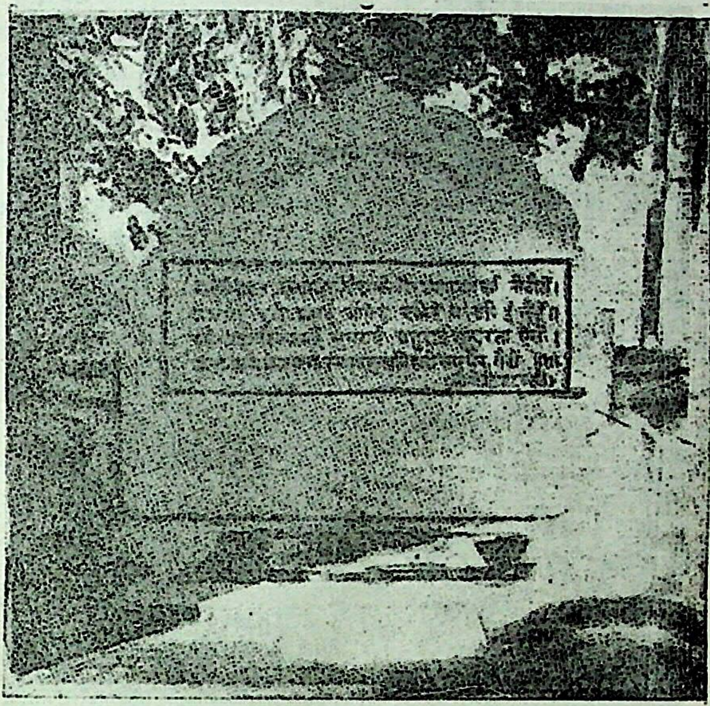

श्रीविहारीजी का प्राकट्यस्थल, निधिवन

रसिकों ने अपने चित्त को इस महल के घेरे में ही इस प्रकार घेर रखा है

---

[1] हमारौ महल महा सुखदाई।
प्रियालालकौ रंग बढ़ावत छिनछिन प्रीति सवाई।
छलकत छींट परी आनन्द की ब्रज में नहीं समाई।
गुप्त रीति हरिदास प्रगट करी, रसिकनि के मन भाई।

ललितकिशोरी, सिद्धान्त के पद ७

कि वह पल भर के लिये भी बाहर नहीं जा सकता। प्रिया लाल के इस विहार-स्थल को उलांघ कर जाने की बात भी नहीं उठती। श्रीवल्लभ रसिक कहते हैं, "इस युगल महल—रस के उपासक कुञ्ज के अलिंद को उलांघ कर कभी बाहर नहीं जाते। वृन्दावन तो बहुत बड़ा है परन्तु इस रस के

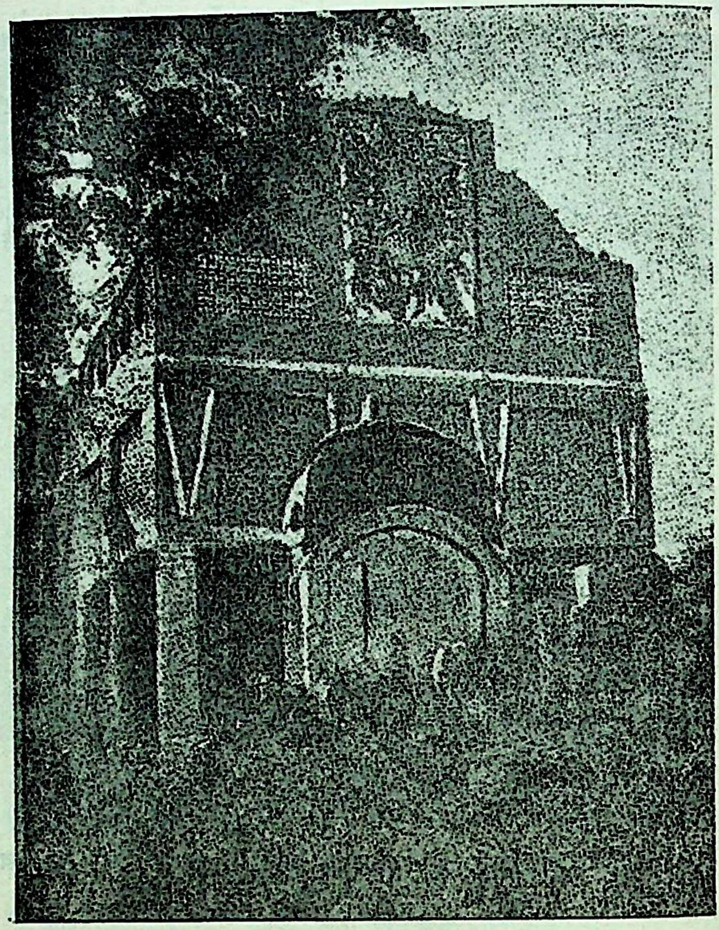

निधिवन का समाधिद्वार

उपासकों ने रस को छानकर महल-रस को ही अपना उपास्य माना है। वन के वासी भी इस बात के लिये हमारी निंदा करें, तो भी हम मन नहीं लायेंगे। इस निन्दा में कितना सुख है, इसे तो चुनिन्दाओं के विना अन्य कोई नहीं

जान सकता" ।[1] इस महल का आनन्द अवर्णनीय है । "महल की बात महलिये जानैं," यही कह कर रसिक उस आनन्द के अधिक वर्णन को छोड़ देते हैं ।

नित्य वृन्दावन की स्थिति

एक प्रश्न यह रह जाता है कि रसिकों का यह वृन्दावन है कहां ? जैसा पीछे कहा जा चुका है कि साधारणतया वृन्दावन के दो स्वरूप माने जाते हैं, प्रकट और अप्रकट। प्रकट वृन्दावन तो भूतल पर स्थित है ही, अप्रकट वृन्दावन के सम्बन्ध में सामान्य धारणा है कि वह ब्रह्माण्ड के शिरोभाग से भी परे गोलोकादि के भी ऊपर है। परन्तु सखीभावोपासक रसिकों ने नित्यधाम वृन्दावन को प्रकट वृन्दावन के अन्तरंग में ही स्थित माना है। उनका वृन्दावन पाताल के नीचे या गोलोक के ऊपर न होकर इस महावैराट के हृदय-कमल अर्थात् पृथ्वी पर ही विद्यमान है ।[2] नित्य सदा भूतल पर विद्यमान यह वृन्दावन महाप्रेम और रस से युक्त है तथा प्रियाप्रिय की सेवा अनुकूलता से संपादित करता है ।[3] इस साहित्य में अनेक स्थलों पर यह भी कहा जाता है कि वृन्दावन सर्वोपरि है, वहां ऊपर का तात्पर्य उत्कृष्टता से ही लेना चाहिये ।

यदि प्रकट वृन्दावन को ही रसिकों का उपास्य वृन्दावन मान लिया जाय तो उसके सम्बन्ध में लिखे गये वर्णन ठीक से नहीं उतरते, यह सामान्य शंका की जा सकती है । इस सम्बन्ध में रसिकों का कथन यही है कि यह वृन्दावन है तो वही, प्रिया-प्रियतम यहीं नित्यविहार करते हैं परन्तु उसे प्रत्येक व्यक्ति

---

[1] हम जुगल महल रस लिंदा, कुंज अलिंदा उलंघि न जानैं ।
रस दारिंदा वृन्दावनगण चरितन ह्व गहि छानैं ।
वन के वासिंदा सब निंदा करें, सु को मन आनैं ?
वल्लभरसिक चुनिंदा विन को निन्दा सुख पहिचानैं ।
वल्लभरसिक की वाणी, सदाकी मांझ, २३

[2] नहीं तरे पाताल के नहीं तरे गोलोक ।
हृदयमहावैराट के कियौ कमल में ओक ।
अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, पृ० १३

[3] वनराज हमारे प्यारे हैं ।
नित्य सदा भूतल पर राजत, महाप्रेमरस भारे हैं ।
ललितकिशोरी, सिद्धान्त के पद २४.

देख नहीं सकता । वृन्दावन के दिव्य वैभव को देखने के लिये ही सखीभाव की साधना की आवश्यकता है । नागरीदास कहते हैं, माया भ्रम के आवरण जिनके समक्ष आडे आ गये हैं, काम, कर्म और कुसंग से जो पीड़ित हैं, काल-जंजाल-ज्वर ने जिन्हें ग्रस रखा है, जो कृपामय रसिकों के उपदेश को नहीं सुन सकते, उनके लिये यह वृन्दावन अत्यंत दूर और दुर्लभ है ।[1] वास्तव में रसिकों की दृष्टि प्राप्त होने पर ही वृन्दावन के दिव्य स्वरूप का दर्शन हो सकता है । यों रसिकों के लिये दोनों में तनिक भी भेद नहीं है, वृन्दावन के प्रति अनुराग और वहीं निवास सखीभाव की उपासना का प्रथम सोपान है ।

नित्य-विहार

रसिकों के अनुसार आनन्द और सुख की सर्वोपरि सीमा है नित्यविहार । जहां भ्रम, तम, गम, विरह, मान, श्रम आदि का लवलेश भी नहीं है, वर्ष, मास, पक्ष, प्रहर, पल अर्थात् काल की समस्त गणनाएं जहां व्यर्थ हैं, माया और उसके आवरण, सत, रज, तम त्रिगुण जहां स्पर्श भी नहीं कर पाते, जागतिक मन के काम-प्रेम आदि भाव भी जहां अपनी गति नहीं रखते,[2] जो सृष्टि के कारण प्रकृति पुरुष से भी परे है, उस अत्यन्त गोप्य प्रेम-समुद्र की अगाध तरंगों में नित्य विलास करने वाले प्रिया-प्रियतम की नित्य केलि का परम शोभामय आनन्द प्राप्त करना ही रसिकों का अभीष्ट है । वृन्दावन की उन निकुंजों में शोभा की शोभा, प्रेम के प्रेम, सुख के सुख, रूप के रूप, सनेह के सागर, रस के रस, महा रिझवार उदार नित्य विहारी-विहारिणि आनन्द रस की नित्य-क्रीड़ा में निरत हैं,[3] उस ओर अबोले होकर ही चलना होता है ।[4] उस एकान्त कुंज में परम शान्ति है, सखियां भी अपने प्राण-प्रियतम की

---

[1] अति दुर्लभ दूरि भयौ वन ताकों, यह माया महा भ्रम कों कियौ आड़ौ ।
काम कर्म कुसंग कलेवर काल जंजाल ग्रसै जुर जाड़ौ ।
समझि सकै न कृपा उपदेसै क्रूर कृपननि को मत छांड़ौ ।
नागरीदास अनन्य ह्वै, श्री कुंज विहारी विहारनि के सुख लाड़ौ ।
नागरीदास जी की वाणी, २६, निज संग्रह से

[2] विहारिनदास, सिद्धान्त के पद १४५.

[3] नवलदासजीकृत सवैया की छाया ।

[4] विहारिनदास, साखी, १०३.

केलि को निकुंज-रन्ध्रों से देख अपने को तृप्त कर रही हैं। वहां किसी प्रकार का शब्द नहीं हो रहा है। पक्षियों का कलरव और मधुकरों की गूंज भी वहां नहीं पहुंच रही है। मृदंगादि वाद्य इस समय पूर्ण मौन धारण किये हैं[1] क्योंकि रंगमहल में सुरत-शय्या पर प्रेम के दो रूप परस्पर अंगों को अंगों में, मन को मन में, प्राणों को प्राणों में समाने का यत्न कर रहे हैं।[2] प्रेम की अटपटी चाह रूप को पिये जा रही है, फिर भी नेत्र अगस्त के समान प्यासे ही रहे आते हैं।[3] रूप प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा है, और उसके पान की चाह भी चौगुनी होती जा रही है। यह क्रीडा चल रही है।[4] इसका न आदि है न अन्त। यही है प्रिया-प्रियतम का नित्यविहार। रसिकों का चरम उपास्य तत्त्व। यही सर्वोपरि है।

हमने रस-समुद्र की जिन चार रस-मूर्तियों (श्री विहारी, विहारिणी, सखी और वृन्दावन) का दर्शन पीछे किया है, वे ही प्रेम के चार प्रकाश या आनंद के चार फल कहे जाते हैं। इनमें इन चारों का पृथक् रहने का न तो स्वभाव है, न ये अलग रह ही सकते हैं। ये चारों प्रतिक्षण एकमेक हैं, किसी प्रकार से इन्हें पृथक् किया नहीं जा सकता। ये चारों ही परस्पर के संबंध से आनंदलीला की सृष्टि करते हैं जो परम स्वाभाविक ही है।

इन चारों में प्रेम के दो स्वरूप प्रधान हैं। ये दोनों परस्पर भोक्ता और भोग्य हैं, शेष दोनों उस भोग के प्रेरक और आधार हैं। लीला के कर्ता हैं, प्रथम दो और सहायक हैं शेष दो। लीला की पूर्ति तो चारों के बिना असंभव है परंतु लीला के भोक्ता-भोग्यरूप लीला के आलंबन हैं। यह लीला इस युगल की ही लीला कही जाती है। रस स्वरूप की यह लीला ही ध्येय, ज्ञेय और उपास्य है।

सांवल-गौर, प्रेम के इन दो स्वरूपों को जो प्रेमरूपता प्राप्त हुई है, वह इनके विशुद्ध प्रेम संबंध के ही कारण है। प्रेमतत्त्व संबंधात्मक है, जो किन्हीं दो के बीच रहता है। यह परस्पर का भाव जब प्रेमी के तन मन को, सर्वस्व को, प्रेम से ही आच्छादित कर अपने रूप में ढाल लेता है, तब प्रेमी स्वयं

---

[1] रसरंग जी का पद।

[2] केलिमाल ३५.

[3] रसानन्दलीला, ध्रुवदास, २८९.

[4] रतिमंजरी लीला, ध्रुवदास, २१८.

प्रेम-स्वरूप हो जाता है। प्रेमी के प्रेम में ढल कर प्रेमस्वरूप होने की क्रिया का उदाहरण जागतिक है परन्तु श्यामाश्याम की प्रेममयता नित्यसिद्ध है। जगत में प्रेमी पहले अन्य कुछ था, बाद में प्रेम में ढल कर वह प्रेमस्वरूप हो गया परन्तु प्रेम के उस दिव्य क्षेत्र में पहले अन्य कुछ होने का प्रश्न ही नहीं उठता, वह तो प्रारंभ से ही प्रेम के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, वहां तो प्रेम स्वयं प्रेम के अनुभव के लिये अपने ही दो स्वरूपों में अभिव्यक्त है, वह निरन्तर प्रेमलीला-रत है।

प्रेम और रस

प्रेम और रस का परस्पर क्या संबंध है, यह भी विचारणीय है। जागतिक दृष्टि से प्रेम रतिस्वरूप है, यह एक भाव है। यही भाव जब अन्य कारणों के संपर्क में आता है तब पूर्ण पुष्ट अवस्था में आस्वाद्य होकर रस कहलाता है। अर्थात् प्रेम और रस में आस्वादन का एक तारतम्य है। रस के ही ये दो सिरे हैं प्रेम और रस। परंतु इस अप्राकृत क्षेत्र में यह संभव नहीं है, यहां प्रेम और रस सामानार्थवाची हैं। यहां का प्रेम और रस प्रतिक्षण आस्वाद्य है, अतः प्रेम ही रस है। प्रेम का आस्वादन यदि यहां क्षण भर के लिये भी रुक सके तो अवश्य जागतिक स्थिति का, प्रेम रस के विभिन्न रूपों का संपादन हो सकता है, परंतु लीला में यहां क्षण भर को भी विराम नहीं है। लीला में जो काव्य की दृष्टि से एक तारतम्य देखने में आता है, उसके आधार पर जागतिक स्थितियों के अनुसार इस क्षेत्र में भी प्रेम भाव और रस की कल्पना की जा सकती है परंतु आस्वाद्यता प्रतिपल बनी रहने के कारण से वह उचित नहीं है। यहां रस उत्तरोत्तर परिवर्द्धित है, वृद्धिंगत है, उसका आदि या अन्त नहीं होता, इसीलिये यह रस-रीति अन्यत्र से विलक्षण है। अपनी अप्राकृतता के कारण यह प्रेम अपने प्रत्येक स्वरूप में 'रस' कहा जा सकता है। श्रुतियों ने इसीलिये इस परात्पर रूप को रस कहा है, यह रस अपने आप में सर्वदा सर्वथा पूर्ण है। कितना भी इसमें से निकाल लिया जाय, यह पूर्ण ही रहेगा। पूर्णत्व की परिभाषा यही है। श्रुति कहती है...

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥[1]

---

[1] ईशावास्योपनिषद्।

जिस प्रकार घटने की अवस्था में भी पूर्ण पूर्ण ही रहता है, उसी प्रकार निरन्तर प्राप्त करते रहने पर भी वह पूर्ण रहता है। अर्थात् पूर्णता की पूर्ण अवधि होने पर भी पूर्णता पूर्ण होने के लिये आकुल रहती है। इसीलिये यह परात्पर पूर्णतत्त्व रस भी रसमय होने के लिये रस को प्राप्त करता रहता है। यही पूर्णकाम की कामना है, आनंद का आनंद है, रस की सरसता है। इसीलिये 'रसो वै सः' के आगे कहा गया है 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' वह रस रस को प्राप्त करके आनन्दित होता रहता है। इसी श्रुति के भावानुकूल रसलीला की पूर्ण रसमयता का स्वरूप श्रीललितकिशोरी जी के निम्नलिखित पद में कितनी स्वाभाविकतापूर्वक हुआ है।

रस में रस पियें कुंज विहारी।
रस की बात घात पुनि रस की, रस ही सों रस दृष्टि निहारी।
रस की प्रीति, रीति सब रस की, रस की उमँगनि सहजहिं प्यारी।
रस की सखी रसिक हरिदासी, रस भयौ ललित प्रिये उर हारी।[1]

प्रश्न उठता है कि रसतत्त्व सखीभावोपासकों के समक्ष प्रिया-प्रियतम के रूप में ही क्यों प्रकट हुआ। रसास्वादन की विधाएं तो अनेक हैं। जागतिक दृष्टि से भी रस अनेक हैं। भक्ति के अन्य आचार्यों ने भी भक्ति के दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भेद किये हैं। यह ठीक है कि रस-तत्त्व एक है और उसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से हो सकती है। ब्रजलीला के क्षेत्र में वही रसतत्त्व दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार के रूप में प्रकट है भी[2] परन्तु निकुञ्ज में केवलमात्र शृङ्गार रस ही है क्योंकि निकुञ्ज की अनुभूति परात्पर है और रसों में परात्पर अथवा उत्कृष्ट रस शृङ्गार ही है। शृङ्गार में भी यहां विलक्षणता है, इसीलिए रसिकों ने निकुंज के शृङ्गार को महामधुर रस के नाम से अभिहित किया है। रस को अपना जो स्वरूप प्रकट करना होता है, वहां उसी प्रकार के उपकरण प्रस्तुत हो जाते हैं। जहां मुख्य रस शृंगार है, वहां तदुपयोगी सभी आयोजन विद्यमान रहते हैं, नायक-नायिका रूप में आश्रय विषयात्मक आलम्बन विभाव, चन्द्र, चन्दनादि रूप में उद्दीपन विभाव, स्वरभंग, कंप, मूर्च्छादि रूप में अनुभाव तथा उत्कंठादि रूप में संचारी भाव। अतएव निकुञ्ज-लीला में भी

---

[1] ललितकिशोरीजी के पद। सिद्धान्त, ६३

[2] भरतनाट्यशास्त्र अध्याय ६, श्लोक ४६.

रस तत्त्व ने लीला के लिए अपने को प्रिया-प्रियतम के रूप में, साथ ही सखी और वृन्दावन के रूप में प्रकट किया है, रसिकों ने उसी तत्त्व का दर्शन किया है। भरत मुनि ने भी श्रृङ्गार के द्विदलात्मक रूप प्रमदा और पुरुष के एकत्व का निर्देश किया है, "पुरुषः प्रमदायुक्तः श्रृङ्गारः"। अतएव नित्यविहार के दिव्य श्रृङ्गार के लिए रस तत्त्व का कान्त-कामिनी के रूप में प्रकट होना ही सर्वथा स्वाभाविक है। श्रृङ्गार की पूर्णता के लिए भरतमुनि की पूरी परिभाषा है :—

सुखप्रायेष्ट सम्पन्नः, ऋतुमाल्यादि सेवकः
पुरुषः प्रमदायुक्तः श्रृंगारः इति संज्ञितः ॥

परम रस भी इसीलिए पुरुष और प्रमदा के साथ सर्वसुखसम्पन्न ऋतुमाल्यादि से पूर्ण वृन्दावन और नित्य परिकरगण के साथ नित्य प्रकट होकर नित्य निष्पन्न है।

सिद्ध है कि रस का स्वभाव लीलामय है। "तस्माल्लीला रसमयी रसो लीलामयः स्मृतः" इस वाक्य में रस की प्रकृति लीलामय ही बताई गई है। रस कभी लीला के बिना नहीं रह सकता और लीला बिना रस के नहीं। नित्यविहार भी रस की लीला है और उस लीला से ही रस की नित्य निष्पत्ति है। सखीभावोपासकों का उपास्य वास्तव में न तो केवल कान्त है, न कामिनी, न सखीगण, न वृन्दावन। अपितु इन सबकी जो नित्य रसमयी लीला है, वही इनकी उपास्य है। लाल, ललना, सखी और वृन्दावन के बिना लीला संभव नहीं है, इसीलिए ये सभी उपास्य हैं परन्तु वास्तविक रूप में तो इन सबका जो धर्म है, वह नित्यविहार ही सखीभावोपासकों का उपास्य है। क्योंकि नित्यविहार उपास्य है, अतः उस रस की आधारभूता अथवा प्रधान अंगभूता होने के कारण श्रीराधा प्रधान उपास्य हैं, लाल जी श्रीप्रिया जी के प्रिय होने के कारण उपास्य हैं, सखीगण लीला की मार्ग-निर्देशिका हैं और वृन्दावन लीला का आधार होने के नाते ध्येय है।

रसलीला और रासलीला

रसलीला नित्यनिकुञ्ज की लीला है। इसे रासलीला भी कहा जाता है परंतु रासलीला से सामान्यतः व्रजलीला में निष्पन्न शरद रास का ही विशेष संकेत होता है। व्रजलीला में रासलीला ही उसकी अन्तरंगतम अभिव्यक्ति है। साधारणतया निकुञ्ज की लीलाओं को भी विद्वानों द्वारा रासलीला के

समकक्ष मान लिया जाता है परन्तु रसिकों की दृष्टि में व्रज के रास और निकुञ्ज के रास में भारी भेद है। दोनों में प्रेम के दो विभिन्न स्तरों का प्रकाशन होता है, यह बात व्रजलीला और निकुञ्जलीला के अन्तर से ज्ञात हो सकती है। इसका उल्लेख हम गोपीभाव और सखीभाव के भेद में निर्देश कर चुके हैं। यहाँ साधारणतया यह समझ लेना चाहिए कि प्रेम का पूर्ण प्रकाशन एकनिष्ठ होने में ही सम्भव है। व्रज का रास बहुनिष्ठ था परन्तु निकुञ्ज का रास प्रेम के अनन्य स्वरूप का परिचायक है। दूसरे निकुञ्ज में तत्सुखसुखित्व की जो उत्कृष्टता है, रसिकों की दृष्टि में व्रज में वह संभव नहीं है। श्रृङ्गार का जो अन्तरंग रूप निकुञ्ज में अभिव्यक्त है, वह व्रज में नहीं है। यहां लाल जी का पौरुष लीला के लिए दीन होकर रह गया है। मृदुता की यहाँ चरम सीमा है। वास्तव में दोनों का स्तर ही पूर्णतया भिन्न है। इसीलिए सखी-भावोपासक कहते हैं कि जो व्रज के रास में अटक गया, वह हरिदासी रसरीति की सहज एकरसता को प्राप्त नहीं कर सकता।[1] रासलीला का जो लौकिक अर्थ हल्लीशक नृत्य आदि हैं, उन सब परिभाषाओं से भी निकुञ्ज के रास का पूर्णतया मेल नहीं बैठता। रास में बहुत सी नर्तकियाँ और एक नायक होना चाहिए,[2] यह सामान्य व्याख्या है परन्तु निकुञ्ज के रास में प्रिया-प्रियतम ही नायक-नायिका के समान रहते हैं। सखियाँ यहां नायिकाएँ नहीं हैं। अतः रास की वे परिभाषायें यहाँ उपयुक्त नहीं हैं। यहाँ नित्यविहार के लिए जो रास शब्द का प्रयोग होता है, उसका अर्थ रसलीला होने के कारण ही समझ में आ सकता है। 'रसानां समूहो रासः' यहाँ उसकी व्याख्या है।

नित्यविहार की पद्धति को जानने के लिए हमें उसके तात्त्विक आधारों की खोज करना आवश्यक जान पड़ता है। उपासक रसिकों ने रसरूप प्रिया-प्रियतम की रसलीला की नित्य निष्पन्नता को दो तत्त्वों पर आधारित किया है। ये दो तत्त्व हैं, सौन्दर्य और प्रियता। सौन्दर्य और प्रियता के परस्पर आकर्षण के आधार पर ही रसानुभूति प्रतिपल जाग्रत रहती है।

---

[1] वह मारग कितहू गयौ, जिहि चलि गयौ हरिदास।
रामकृष्ण अवतार लौं कोऊ सु अटक्यौ रास। इत्यादि।
बिहारिनदास, साखी।

[2] रास की विभिन्न परिभाषाओं के लिये देखिये लेखक का एक लेख, स्वामी हरिदास और रासलीलानुकरण, त्रिपथगा, लखनऊ, अगस्त १९५७।

सौन्दर्य

सौन्दर्य शब्द की सीमा बहुत व्यापक हो सकती है। आकृति, नाद, गति जैसे सामान्य अनुभूत विषयों से लेकर अभिव्यक्ति की अनेक सूक्ष्म बारीकियों तथा आध्यात्मिक चेतना के विभिन्न स्तरों तक में सौन्दर्य की सत्ता देखी जा सकती है। सखीभावोपासकों के काव्य का इन सब प्रकार की सौन्दर्य भावनाओं से निकट का सम्बन्ध है। इस काव्य के कर्ता रूप के उपासक हैं, प्रेम के आस्वादक हैं, संगीत इनकी उपासना का प्रधान माध्यम है और इनके अतिरिक्त विश्व में सौन्दर्य के जिन रूपों की भी कल्पना हो सकती है, उस सबने इनके द्वारा वर्णित निभृत निकुञ्जों के वातावरण को सौन्दर्यमय बनाया है। इनके उपास्य सौन्दर्य की सीमा हैं और इनके काव्य का अभिव्यक्ति-पक्ष भी अत्यन्त सुन्दर है।

सौन्दर्य की सबसे सजीव अभिव्यक्ति आकृति में हो सकती है। आकृतिमय सौन्दर्य को ही सखीभावोपासकों ने रूप कहा है। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में भी प्रधानतया रूप को लेकर ही सौन्दर्य पर विचार हुआ है और निकुञ्जोपासना भी प्रमुखतया रूप पर ही आधारित है।

सौन्दर्य की परिभाषा करना भी अत्यन्त कठिन है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी पूर्णतया भौतिक क्षेत्र से लेकर आध्यात्मिक क्षेत्र तक में इसकी चर्चा की है। यहाँ कुछ परिभाषाओं का उल्लेख इस दृष्टि से अप्रासंगिक न होगा। सुकरात ने कहा है, जो अनुकूल हो, अभीष्ट हो, वही सुन्दर है, अथवा जो प्रिय लगे वही सुन्दर है।[1] ह्यूम कहते हैं, अंगों की उस क्रमिक सुघरता को सौन्दर्य कहते हैं, जो हमारे रीति-रिवाज, परम्परा या स्वभाव के अनुकूल हमारी आत्मा को आनन्द और संकेत प्रदान करती है।[2] लिवनिज का भी

---

1. Xenophone records the saying of Socrates that the beautiful is that which is fitting and answers to the end required. Elsewhere he says, it is that which is loved.

   Theory of Aesthetic, Historical Summary, p. 255.

2. Beauty is such an order and constitution of parts as, either by the primary constitution of our nature, by custom or by caprice is fitted to give a pleasure and satisfaction to the soul.

   History of Aesthetic, By Bosanquet, p. 178.

कुछ ऐसा ही मत है। उन्होंने कहा है, सामंजस्य और सुघरता की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है। उसमें विरोधी बातों को समन्वित करने की शक्ति होती है।[1] लैसिंग ने सुडौलपन, क्रम, विभिन्नता और अनुपात को सौन्दर्य-निर्माण का आवश्यक अंग माना है।[2] बर्क ने आकार, सूक्ष्मता, मसृणता, क्रमिक वैभिन्य, कोमलता, वर्णदीप्ति और शुचिता को सौन्दर्य का विधायक माना है।[3]

अपर वर्ग के विद्वान सौन्दर्य की परिभाषाओं को आध्यात्मिक और दैवी क्षेत्र में ले गये हैं। प्लेटो सौन्दर्य में सत्य, शिव और दैवी गुण मानते हैं।[4] शैफ्टसबरी दैवी जीवन की अभिव्यंजना को सौन्दर्य कहते हैं।[5] शैलिंग अनंत में सांत के दर्शन को सौन्दर्य कहते हैं।[6] और काण्ट बिना उपयोगिता के भी प्रसन्नता देनेवाली वस्तु को सौन्दर्य बताते हैं।[7]

उपर्युक्त व्याख्याओं के अनुसार सौंदर्यतत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति किसी एक परिभाषा में बद्ध होती नहीं दिखाई देती। ये सभी व्याख्याएँ अंशतः ही सत्य कही जा सकती हैं। रसोपासना के उपास्य स्वरूप में भी हम इन आंशिक सत्यों को ज्यों का त्यों देख सकते हैं और समग्र दृष्टि से तो वहां सौन्दर्य-भावना का प्रसार है ही। वास्तव में रसोपास्य सर्वांग सुन्दर हैं, इसीलिये उसमें सौन्दर्य की समस्त परिभाषाएँ एक साथ ही घटित हो सकती हैं।

प्रमुख बात जो इस संबंध में विवेच्य है, वह यह है कि सौन्दर्य विषयगत है या विषयीगत। इसी आधार पर सौन्दर्यविषयक उक्त धारणाओं के दो वर्ग सम्भव हैं। इनमें मान्यता की दृष्टि से विचार के दो छोर भी हैं। सौन्दर्य को विषयगत मानने वाले विद्वान्, वस्तु को बिलकुल भी महत्व नहीं देना

---

1. What is beautiful to feeling is ultimately an expression of harmony, though capable of including apperent contradiction.

   History of Aesthetic By Bosanquet, p. 177.
2. Theory of Aesthetic, Historical Summary, p. 290.
3. साहित्य और सौन्दर्य, डा० फतेहसिंह, पृ० १०४।
4. Theory of Aesthetic, Historical, Summary, p. 255.
5. History of Aesthetic, Bosanquet, p. 177.
6. History of Aesthetic, Bosanquet, p. 319.
7. Theory of Aesthetic, Historical Summary, p. 295.

चाहते। वे उदाहरण दे सकते हैं कि लैला काली और कुरूप थी परन्तु मजनू से उसका सौन्दर्य पूछिये। महाकवि विहारी का निम्नलिखित दोहा भी सौन्दर्य के विषयीगत होने का ही समर्थन करता है। वे कहते हैं, वस्तु का रूप-कुरूप कुछ नहीं है, समय-समय पर सभी सुन्दर लगते हैं। मन की जब जैसी जितनी रुचि होती है, वैसी ही सौन्दर्य की विशेषता ज्ञात होती है :—

समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय।[1]

दूसरे विद्वान् वे हैं जो विषय को ही अधिक महत्त्व देते हैं और मन को वस्तु के प्रति रुचि रखने के लिये बाध्य मानते है। वास्तव में ये दोनों ही बातें एकांगी हैं। दोनों का समन्वय ही वास्तविकता है। स्वयं विहारी ने भी इसी समन्वय पर बल दिया है। वे कहते हैं रूप भी रिझाने वाला हो और नयन भी रीझने वाले हों :—

रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार।[2]

इन दोनों के संयोग में ही सौन्दर्य की सार्थकता है। ये दोनों पक्ष भी अपने-अपने में पूर्ण होने चाहिये। बाबू गुलाबराय जी कहते हैं, 'सुन्दर वस्तु वह है, जिसमें रमणीयता के साथ माधुर्य भी हो। रमणीयता का अर्थ है क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली नवीनता, 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' माधुर्य का अर्थ चित्त को द्रवित करने वाला आह्लाद है, 'चित्त-द्रवीभावमयोऽऽह्लादो माधुर्यमुच्यते'...माधुर्य और नवता के संयोग से ही सुन्दर की सृष्टि होती है।'[3] यह तो हुआ सुन्दर और सुन्दर के साथ प्रियता का भाव जुड़ा हुआ है। यह प्रियता प्रेमी के हृदय की है।

निकुंज-रस में जितना सौन्दर्य के विषय-पक्ष को लिया गया है, उतना ही विषयी-पक्ष को। विषय-पक्ष अर्थात् रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए स्वामी हरिदास जी ने अंग-अंग की उज्वलता, सुघरता, चतुराई, नैपुण्य आदि गुणों पर अधिक बल दिया है :—

---

[1] विहारी रत्नाकर, दो० ४३२।

[2] विहारी सतसई, ला० भगवानदीन दोहा ३०६, बनारस, २०१३।

[3] सौन्दर्यानुभूति, ले० श्री गुलाबराय जी, 'समालोचक' मासिक, सौंदर्यशास्त्र विशेषांक, पृ० ५।

अंग-अंग की उजराई, सुघराई, चतुराई सुन्दरता ऐसें।

लैसिंग का सुडौलपन (Harmony) और क्रम (Order) सुघरता में आ जाते हैं। इसी प्रकार उसके विभिन्नता (Variety) और अनुपात (Proportion) चतुराई में आते हैं। वर्क की वर्ण-दीप्ति का भाव (Brightness of Colour) स्वामी जी के 'उजराई' में सन्निहित है, शुचि (Purity) भी उजराई का ही अंग है। ह्यूम और लिवनिज की परिभाषाएँ भी इसी में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। ह्यूम ने जो परम्परागत स्वभाव एवं रीति-रिवाजों के संस्कारों के आधार पर सौन्दर्यानुभूति की वात कही है, वह इन उपासकों द्वारा व्रज प्रदेश की संस्कृति को आधार वनाने के कारण सहज और स्वाभाविक वन गई है। श्री विहारी-विहारिणि के लिये जो उपमान काव्य-क्षेत्र में इन रसिकों ने अपनी वाणियों में प्रस्तुत किये हैं, वे सव भी भारतीय परम्परा के चिरपरिचित उपमान हैं। श्रीराधा और श्याम के लिये कमल के विभिन्न उपमान अथवा दामिनी और मेघ के उपमान पूर्णतया भारतीय संस्कारगत हैं। इन रसिकों की वाणियों में रूप का सार निकाल कर रख दिया गया है, जहां सौन्दर्य विथकित होकर दिशा भूल जाता है, करोड़ों कामदेव श्रीराधामोहन की जोरी के सामने तृण तोडते हैं। ये 'रूप की अवधि दोऊ, उपमा को नहिं कोऊ' हैं।

यद्यपि प्रिया और प्रियतम दोनों ही रूप के धनी हैं परन्तु इन दोनों में राधा रूप की अतुलित राशि हैं। वे रूप की फुलवारी हैं। श्री ध्रुवदास द्वारा प्रस्तुत श्रीराधा का एक स्वाभाविक रूप-वर्णन का पंद देखिये :—

रूप की सी फुलवारी, फूलि रही सुकुमारी,
अंग अंग नाना रंग नवल निहारही।
नैन कर कमल, अधर हैं वंधूक मानों,
दशन झलक पर कुन्द वारि डारही।
वैंदी लाल है गुलाल, नासिका सुवर्न फूल,
मोती वने जहां जहां जुही सी विचारही।
छवि ही के खंजन रसीले नैन प्रीतम के,
खेलैं तहां ध्रुव सखी चितै प्रान वारही।[1]

श्री राधा के रूप-वर्णन की यहाँ भरमार है। जव रसिकों पर श्रीराधा ने कृपा की, ने उनका वर्णन करते ही चले गये फिर भी उनका मन न भरा।

---

[1] भजनशृङ्गारशतक, पृ० ९६

रूप की कसौटी है उसका प्रतिक्षण बढ़ते रहना। पीछे श्री राधा के प्रसंग में हम ऐसे कई उदाहरण दे चुके हैं। एक और पद स्वामी हरिदास जी का ही इस सम्बन्ध में देखिए :—

यह कौन बात जु अबहिं और,
अबहिं और, अबहिं औरै।
देवनारि, नाग नारि, औरौ नारि,
ते न होंहिं और की औरै।
पाछें न सुनी ऐसी, अबहू, आगे हू न ह्वैहै,
यह गति रूप की अद्‌भुत और की औरै।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी,
या ही रस बस भये, भई और की औरै।[1]

इस रूपमाधुर्य का क्या कहना जो प्रतिक्षण बदलता ही जा रहा है, कहीं रुकता ही नहीं। इसकी एक छवि में लाल का मन उलझा कि छवि और अधिक छविमय हो गई, मन फिर आकुल हुआ। रूप और आकुलता का यह विचित्र संयोग है।

जिन लोगों ने रूप की दैवी व्याख्या की है, उसकी वास्तविकता की कसौटी और कहीं खरी निकले या न निकले पर इस निकुञ्ज में यह पूर्णतया चरितार्थ होती है। निश्चित रूप से दैवी जीवन की जैसी अभिव्यंजना रसिकों द्वारा वर्णित कान्त-कामिनी के स्वरूप में हुई है, वैसी अन्यत्र सहज ही न मिलेगी। इन रसिकों ने अपने निकुञ्जविहारी के रूप में अनंत मैं सांत का और सांत में अनंत के रूप का दर्शन किया है। बिना उपयोगिता के जो वस्तु मन को प्रसन्न करे, इस व्याख्या की पूर्ति भी यहां होती है। जैसा कहा जा चुका है कि लीला का अपना लीला के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रयोजनहीनता के कारण निकुञ्ज में प्रिया-प्रिय की स्वाभाविकी लीला का दिव्य लावण्य अनन्त गुना हो गया है।

कुछ विद्वान् इस सौन्दर्य में शिवत्व की जिज्ञासा भी कर सकते हैं। रसिकों ने निकुञ्जगत काम को प्राकृत न मान कर शिव का ही स्वरूप माना है। श्रीमद्‌भागवत में राधाकृष्ण की रासलीला को कामोत्पादिनी लीला न कह काम-विजयी लीला कहा गया है।[2] यह सिद्धान्त रसिकों की दृष्टि में पूर्णतया

---

[1] केलिमाल, स्वा० हरिदास, पद सं० ५४.

[2] श्रीमद्‌भागवत। १०. ३३. ४०।

अटल है। रूप पाप वृत्ति की ओर नहीं ले जाता। कालिदास की यह उक्ति भी इस दृष्टि से कितनी महत्त्वपूर्ण है कि रूप पाप वृत्ति के लिये नहीं है :—

> यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच।[1]

वास्तव में श्रीराधा का यह अनिंद्य सुन्दर रूप अपने आप में पवित्राणां पवित्र है। यह रूप की परावधि शुचिता और पवित्रता की भी परावधि है।

रूप स्वयं में भोग्य है। यह सार्थक तभी है, जब उसे प्रियता प्राप्त हो। रूप की यह स्वाभाविक प्रकृति है कि वह अपना भोक्ता चाहता है। तभी वह आनंदित होता है। यही रूप का दूसरा पक्ष है प्रियता को धारण करनेवाला प्रेमी का हृदय। यही उसका विषयी है। स्पष्ट है कि रूप विषय का विषयी है प्रेम। श्रीराधा के रूप-सौन्दर्य, गुण-सौन्दर्य, स्वर-सौन्दर्य इन सभी पर अपने प्राण अर्पण करनेवाले सौन्दर्यप्रेमी रसिकवर श्रीकुञ्जबिहारी हैं। वे स्वयं रूपवान् होते हुए भी रूप के उपासक हैं, प्रेममय हैं। वे प्रेम स्वरूप हैं। यहाँ प्रेम की इस शुद्ध वृत्ति को जानना भी अत्यन्त आवश्यक है, जो अपनी रुचि के अनुसार रूप को देखता है। यही निकुंजोपासना का दूसरा आधार तत्त्व है।

प्रेम

जिस प्रकार रूप की सीमाएँ विभिन्न हैं, परन्तु रूप की परावधि श्रीराधा हैं, उसी प्रकार प्रेम का प्रकाशन तो अनेक स्थलों पर होता है परन्तु प्रेम के सागर श्रीहरि ही हैं। रूप का अनुगामी है प्रेम। श्रीध्रुवदास जी कहते हैं—

> अद्‌भुत सहज रूप की माला। ऐसी कुंवरि किशोरी बाला।
> पहिर कुँवरि छिन छिनहिं संभारै। ऐसौ लोभ न नैंकु उतारै।
> कुंवर प्रेम कौ सागर राजै, प्रिया प्रेम तहँ भँवर विराजै।[2]

रूप के साथ प्रेम का सम्बन्ध जोड़ देने से ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रेम में कुछ सकामता है। कहा जा सकता है कि विशुद्ध प्रेम वह है जो प्रतिदान की कामना न रखता हो। ऐसे एकपक्षीय प्रेम को भक्तों ने भी उच्चातिउच्च माना है और चातक अथवा मीन को अपना आदर्श स्वीकृत किया है। वस्तुतः ये एकपक्षीय प्रेम की उपासनाएँ लीला की उपासना नहीं हैं। नित्य निकुञ्ज में लीलारस की उपासना है। यहाँ भक्त और भगवान् का भक्तिक्षेत्र में जितना

---

[1] कुमारसम्भव, कालिदास, ५. ३६।

[2] नेहमंजरी लीला। बयालीस लीला ध्रुवदास, पृ० २२५।

अन्तर माना जाता है, वैसा नहीं है। यहां तो रस का एक स्वरूप दूसरे स्वरूप के साथ लीला में रत है, अतः एकपक्षीय प्रेम का यहां कोई प्रयोजन नहीं है। एकपक्षीय प्रेम लीला के लिये कभी उचित नहीं माना जा सकता। यहाँ का उपास्य-प्रेम में कृपण नहीं है, अन्यत्र व्यस्त भी नहीं है। यहाँ के प्रेम में अधिकार भी नहीं है, अपितु दीनता है। एकपक्षीय प्रेम में कठोरता होती है, निकुञ्ज में उपासना सहज है। कठोरता में सहजता नहीं होती। अतएव रसोपासना में एकपक्षीय प्रेम को आदर्श नहीं माना जाता। रसिकों ने एक ओर के प्रेम से उलझ कर मरना उचित नहीं ठहराया है। मीन के प्राण भले ही निकल जायें परन्तु जड़ जल उसकी पीर का तनिक भी अनुभव न कर सके, यह कठोर प्रेम वांछनीय नहीं है। श्रीविहारिनदासजी कहते हैं…

एक ओर के प्रेम सों, अरुझि मरौ जिन कोय।
जल जड़ पीर न जानही, मीन प्राण थिन होय।[1]

लीला में प्रेम सम है। रूप और प्रेम परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर हैं। प्रेम का रूप, रूप की विशेपताओं के अनुकूल ही रसिकों ने प्रतिपादित किया है। श्रीध्रुवदास जी कहते हैं, "प्रेम को निज स्वरूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस रुचि तरंग बढ़त रहै। सहज सुछन्द मधुरता, मादिकता जाको आदि-अन्त नाहिं छिन-छिन नूतनता स्वाद……"[2]

प्रेम का यह स्वरूप वास्तव में अपने आप में परिपूर्ण है। रूप की जितनी विशेपताएँ हैं, वही प्रेम की भी विशेपताएँ हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है। एक विपय है, दूसरा विषयी। दोनों यदि एक ही आकार के न हों तो दोनों में समता कैसे रह सकती है। प्रेम और रूप की तदाकारता प्रसिद्ध है। श्रीरामचंद्र जी शुक्ल के शब्दों में "अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्यानुभूति है।"[3] यहां रूप वस्तु है, प्रेम उसकी अनुभूति। रूप में उज्वलता, कोमलता, सरसता, नूतनता है। प्रेम के भी यही अंग हैं। अन्तर यही है कि एक भोग्य है, दूसरा भोक्ता। एक प्रदाता है, दूसरा आदाता। इसीलिए रूप की प्रतिष्ठा जहां उदारता और गर्व में है, वहाँ प्रेम की विशेषता चाह, चटपटी और

---

[1] श्रीविहारिनदासजी की साखी, सं० २४३।

[2] सिद्धान्तलीला, ध्रुवदास, बयालीस लीला, पृ० ४८

[3] चिन्तामणि, पहला भाग, पं० रामचन्द्र जी शुक्ल, पृ० १६५, प्रयाग

अधीनता में है। जिस प्रकार रूप में भोग्य की क्षण-क्षण नूतनता है, उसी प्रकार प्रेम में भोक्ता की नित्य नूतनता है। न उस रूप का आदि अन्त है, न इस प्रेम का आदि अन्त है। रूप का गर्व और प्रेम की दीनता, रूप की उदारता और प्रेम की पात्रता, एक की नित्य नूतनता और दूसरे का नित्य आस्वाद, ये सब रूप और प्रेम की लीला को नित्य बनाये हुए हैं। ललितकिशोरी कहते हैं :—

प्रिया रूप छिन-छिन बढ़ै, लाल की चाह अपार।
महाभाग सिर मंग है, विलसत अति सुखसार।[1]

रूप और प्रेम की इस चिर नूतनता ने रस के प्रदान और ग्रहण करने की अपूर्व सामर्थ्य को जन्म दिया है। प्रेम रूप को जितना पान करता है, उतना ही प्यासा होता जाता है। 'ज्यों-ज्यों लालजू के नेत्र प्यारीजू का मुख देखते हैं, वे उतने ही तृषित होते जाते हैं, प्यारी जी का रूप प्यास का ही रूप जान पड़ता है…'

ज्यों-ज्यों लाल देखैं मुख, नैनन कों तृपा होत,
प्यारी जी को रूप मानों प्यास को ही रूप है।[2]

इस परम उज्ज्वल और शुचि रूप में प्रेम की यही प्रतिक्षण बढ़ने वाली आसक्ति अपूर्व है। प्रतिक्षण वह इस रूपभोग के लिये आकुल रहता है। "जिसके हाथों में सुन्दर चार-चार चूड़ियां हैं, गले में कंठसिरी और हीरों की दुलरी है, नासिका पर बेसर मुक्ता ढुलक रहा है, आँखों में वैसा ही सुन्दर काजल है, जिसे देख कर काम भी डर जाता है, ऐसे उस अनुपम रूप-भोग के लिये कुञ्जविहारी रीझ-रीझ कर प्यारी के पैरों पर गिरते हैं।"[3]

लाल जी की यह दीनता, रूप-भोग के लिये हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाना, पैरों पड़ना ये सब प्रेम की ही रीति हैं। रूप की अदा को दीन बन कर सहना

---

[1] श्री ललितकिशोरीजी की साखी, ३२३।

[2] भजन दुतिय श्रृंखला लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० ११०

[3] बनी री तेरे चार-चार चूरी करनि।
कंठसिरी दुलरी हीरनि की, नासा मुक्ता ढरनि।
तैसोई नैननि सोहै कजरा, निरखि काम डरनि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी, रीझि-रीझि पांइनि परन।
केलिमाल, ५०

ही सच्चा प्रेम है। इस प्रेम के कारण ही राधा गर्व-शिरोमणि हैं और लाल दीन-शिरोमणि हैं।

गर्व सिरोमनि लाड़िली, दीन सिरोमनि लाल।[1]

प्रेम की रीति में प्रवीण लाल अपना तन-मन वार कर दीनता को ही स्वीकार करते हैं :—

प्रेम रीति निज आहि जो, तामें लाल प्रवीन।
अङ्ग-अङ्ग सब हारिकें, रहे आपु ह्वै दीन ॥[2]

इस दीनता के साथ ही जो आकुलता है, उससे साधारणतया तो ऐसा ज्ञात होता है कि यह दीनता और आकुलता कामुकता ही है। मिलन की यह तीव्रता काम ही प्रतीत होती है और यह ठीक भी है। इस प्रेम में काम को पूरा-पूरा स्थान है परन्तु वह काम कौन सा है? यह जागतिक काम न होकर अप्राकृत काम है। काम और प्रेम का यह सम्बन्ध न समझा जाय तो प्रेमविहार के इस प्रेम का विशुद्ध रूप समझ में नहीं आ सकता

प्रेम और काम

काम के स्वरूप के सम्बन्ध में बृहदारण्यकोपनिषद् में जो बात कही गई है, वह लोक की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। वहाँ कहा गया है कि पति, जाया, पुत्र आदि सभी उनके काम के कारण प्रिय नहीं होते अपितु अपने ही काम के कारण प्रिय होते हैं।[3] यद्यपि काम का स्वभाव द्वितीयेच्छा है और समस्त जगत् इसी काम सम्बन्ध के आधार पर टिका हुआ भी है परन्तु श्रुतिकार ने इस सम्बन्धों के बीच एक महान् सत्य का उद्घाटन किया है कि काम में आत्म-प्रियता है, पर-प्रियता नहीं। पर-प्रियता भी आत्म-प्रियता का ही एक रूप है।

जगत् का सर्जन ही कामेच्छा से हुआ है। ब्रह्म की कामना से ही एक अनेक के रूप में प्रकट हो गया। काम की मूल स्थिति आत्म-कामना के रूप में ब्रह्म में ही मानी जा सकती है। वही प्रत्येक जीव का मूल रूप है, अतः

---

[1] श्रीललितकिशोरी साखी, सं० ११९

[2] प्रेमावली लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास जी, पृ० १९४.

[3] स होवाच अरे न वा पत्यु : कामाय पति : प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति : प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति...इत्यादि। बृहदारण्यकोपनिषद् २. ४. ५

जीव को अपनी आत्मप्रियता की वृत्ति के कारण आत्मा (परमात्मा) से ही प्रेम करना चाहिये, ऐसा श्री शङ्कराचार्यजी का मत है।[1]

सखीभावोपासकों ने अपने उपास्य निकुंजविहारी को ब्रह्म की कोटि से ऊपर माना है। सृष्ट्यादि का कार्य ब्रह्म का कार्य है, निकुञ्जविहारी का नहीं। अतः काम का जो सर्जनेच्छा वाला रूप है, वह ब्रह्म तक ही है, उसके ऊपर नित्यविहारी की नित्य लीलाओं में जो काम है, वह सर्जनेच्छा से व्यतिरिक्त काम का विशुद्ध रूप है। जब उपासक भी साधारण जागतिक काम का संबंध श्रीकृष्ण से कर देता है, तब काम की मूल सर्जनेच्छा या आत्मप्रियता समाप्त हो जाती है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण ने गोपियों से कहा है, जिस काम का सम्बन्ध मुझसे हो जाता है, वह काम फिर काम नहीं रहता ठीक उसी प्रकार जैसे भुने हुए धान का बीजत्व नष्ट हो जाता है।

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥[2]

स्पष्ट है कि लोक के काम से निकुञ्ज के काम का स्वरूप गुण में पूर्णतया विपरीत है। वहाँ आत्म-प्रीति और पर-प्रीति में अन्तर है ही नहीं। जब निकुंज में एक ही तत्त्व का नित्य रमण हो रहा है, तो वहाँ आत्म और पर का भेद ही कहाँ हो सकता है। आत्म-सुख और तत्सुख में अन्तर न होते हुए भी रसिकों ने भ्रम का निवारण करने के लिये निकुञ्ज के काम को 'तत्सुख-सुखित्व' का नाम दिया है। निकुञ्जगत इस विशेषता का कथन करते हुए कहा गया है कि "जहाँ नायक नाइका बरनन कियौ है, नायक अपनौ सुख चाहै, नाइका अपनौ रस चाहै सो यह प्रेम न होइ, साधारण सुख भोग है। जब ताईं अपनौ-अपनौ सुख चाहिये तब ताईं, प्रेम कहां पाइयै। दोइ

---

[1] यत्प्रीत्या प्रीतिपात्रं तनुयुवतितनूजार्थमुख्यं स तस्मात्।
प्रेयानात्माऽथ शोकास्पदमितरतः प्रेम एतत्कथं स्यात्।
भार्याद्यं जीवितार्थे वितरति वपुः स्वात्मनः श्रेय इच्छन्।
तस्मादात्मानमेव प्रियमधिकमुपासीत् विद्वान्न चान्यत्।
श्रीशङ्कराचार्यकृत शतश्लोकी से, सं० ९. सेलेक्टेड वर्क्स आफ शंकर, मद्रास

[2] श्रीमद्भागवत १०. २२. २६

सुख, दोइ मन, दोइ रुचि जब ताईं, एक न होइं तब ताईं प्रेम कहाँ। कामादिक सुख जहाँ स्वारथ भये हैं तौ और सुखनि की कौन चलावै। निमित्य रहित नित्य प्रेम सहज एक रस श्री किशोरी-किशोर जू के हैं, और कहूँ नहीं।"[1]

बात स्पष्ट है कि निकुंज के प्रेम और काम में कोई अंतर नहीं है। जगत् में काम के आधार पर प्रेम होता है, काम वहाँ मूल वृत्ति है, प्रेम व्यवहार है परन्तु निकुञ्ज में प्रेम के आधार पर काम है, प्रेम यहाँ मूल वृत्ति है और काम यहाँ व्यवहार है। इसीलिये यहाँ की जो काम-क्रीडाएँ हैं, उनमें भी कभी लौकिक भावना नहीं करनी चाहिये। वे तो काम को निष्काम रूप से पुनः-पुनः पुष्ट करने के लिये ही होती हैं, वासना-पूर्ति के लिये नहीं। वासना तो वहाँ है ही नहीं। काम-क्रीड़ाओं में भी सकामता वहाँ देखनी चाहिये, जहाँ काम-क्रिया काम-भावना से की जाय। जहाँ अकाम से काम-क्रीड़ा होती है, उसका कर्ता कामी नहीं अकामी होता है। यही बात 'गोपालोत्तरतापिनी' के एक मन्त्र में बताई गई है :—

यो ह वै कामान् कामयते स कामी भवति।
यो ह वै त्वकामेन कामान्कामयते सोऽकामी भवति॥[2]

यह बात लोक के किसी भी उदाहरण से समझ में नहीं आ सकती क्योंकि जगत् के लिये यह स्थिति विलक्षण ही है। यह बात विशुद्ध रूप से नित्यविहारी और नित्य विहारिणि में ही है और कहीं नहीं। यहाँ तक कि निकुञ्जोपासकों ने व्रज के उत्कृष्ट प्रेम को भी उसके अन्दर सकामता का भाव आ गया है, यह समझ कर छोड़ दिया है। वे सहचरियों के निष्काम प्रेम के अनुगामी हैं।

तत्सुखसुखित्व की अन्तिम सीमा वह है, जहाँ दो की रुचि, मन, प्राण में परस्पर अभिन्नता हो जाय। प्रिया-प्रियतम में यह बात स्वभावतः ही है। श्री हितहरिवंशजी ने प्रिया-प्रियतम की इस एकात्मता का वर्णन चतुराशीजी के प्रथम पद में ही किया है :—

जोई-जोई प्यारौ करै, सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई-सोई-सोई करैं प्यारे।

---

[1] सिद्धान्तविचारलीला, ध्रुवदास, पृ० ५१।

[2] गोपालोत्तर तापिनी उपनिषद्।

मोकों तो भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारौ भयौ चाहे मेरे नैननि के तारे।
मेरे तन मन प्राण प्रीतम हू ते प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे।
जै श्री हितहरिवंश हंस-हंसनी सांवल गौर,
कहौ, कौन करै जल-तरंगनि न्यारे ॥[1]

प्रेम और काम के इस स्वरूप को समझ लेने से ही प्रियतम के प्रेम की दीनता अथवा उनकी अकुलाहट का वास्तविक रूप समझा जा सकता है। उनके काम की अतृप्ति का कारण भी उसका दोनों के तन-मन-प्राणों की इस एकमेकता से समझ में आ सकता है। काम का काम ही नित्य निकुञ्ज मन्दिर में अहर्निश सेवा करना है। प्रिया-प्रियतम की शैय्या को सजा कर केलि का आयोजन, यह काम ही करता है। काम ही अपने विशिष्ट रूपों में यहाँ नित्य विलास कर रहा है, ऐसा कहा गया है।[2]

रसिकों ने काम को प्रेम का सहायक अथवा अपनी भाषा में 'नेम' माना है। प्रेम की परिभाषा में हम बता चुके हैं कि प्रेम सर्वदा एकरस रहता है, उसका आदि अन्त नहीं है। परन्तु काम नेम है और उसका आद्यंत होता है। 'नेम' उन विभिन्न क्रियाओं का नाम है, जो प्रेम को व्यवहार्य बनाते हैं। बताया गया है कि देखना, हंसना, बोलना, मान करना आदि ये 'नेम' के उदाहरण हैं। प्रेम और 'नेम' का दूसरा उदाहरण स्वर्ण और उससे बने हुए कुण्डलों से ध्रुवदासजी ने दिया है।[3] स्वर्ण सदा एक रहता है, आभूषण आकृति में बदलते रहते हैं। प्रेम और नेम के इस संबंध से प्रेम और काम का सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है।

मन में स्थित रहने वाला सूक्ष्म प्रेम और उसके साथ आकृतिवान् काम ये दोनों ही ताने-बाने की तरह लीला-पट का निर्माण करते हैं। प्रेम की तरंग से विवशता उत्पन्न होती है और काम की तरंग से चेतनता। विवशता और चेतनता की इस क्रिया में ही लीला चलती है। कभी वे प्रेम के कारण विवश होकर एक दूसरे में समा जाना चाहते हैं, एक हो जाना चाहते हैं,

---

[1] श्रीहित चतुराशी पद सं० १।

[2] अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, भगवतरसिक, पृ० ८२

[3] सिद्धान्त विचार लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० ४८

तभी काम उन्हें सचेत करता है। यही लीलाक्रम है। श्री ध्रुवदासजी ने लिखा है।

> प्रेम मदन के सिन्धु द्वै, वहत रहत दिन हीय।
> कबहुँ बिबस, चेतत कबहुँ, छिन-छिन प्यारी पीय॥
> छिन-छिन प्यारी पीय, मधुर रस विलसत ऐसें।
> सूछम प्रेम की बात कहो कोऊ बरनैं कैसें॥[1]

निकुञ्ज का काम पूर्णतः प्रेम के अनुकूल और उस पर आधृत है। प्रेम का विरोधी काम यहाँ प्रवेश नहीं कर सकता।

प्रेम में मिलन और विरह

प्रेम का प्रथम और अन्तिम लक्ष्य प्रिया और प्रिय का मिलन अथवा उनकी एकता ही है। दोनों एक बनकर ही रहना चाहते हैं। प्रेम दोनों को एक होने के लिये विवश कर देता है। फिर जहाँ बढ़ते हुए रूप के लिये प्रतिपल चौगुनी होने वाली चाह वहाँ अलग होने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

मिलन विरह का विलोम शब्द है। कोई अलग-अलग दो हों वे मिल कर एक हो जाते हैं। एक होकर विछुड़ जाना विरह है और विरह के पश्चात् का मिलना मिलन है। नित्यविहार में जैसा कहा जा चुका है लाल और, लाड़िली न तो कभी अलग थे और न कभी अलग हुए इसलिये नित्यविहार में मिलन का यह रूप नहीं बनता। वहाँ तो अनाद्यन्त लीला-विहार है। मिलन निरपेक्ष मिलन है, सापेक्ष नहीं।

लोक में प्रेम की सच्ची कसौटी विरह मानी जाती है। विरह के बिना प्रेम का रंग अच्छा नहीं चढ़ता, विरह उसका पुटपाक है। कहा जाता है विरह की अवस्था में चित्त-वृत्तियों का पूर्ण विस्तार हो जाता है और प्रेम की सूक्ष्मता का वास्तविक दर्शन इसी में होता है। विरह में प्रेमी साहसी हो जाता है। वह अपने दृढ़ प्रेम के बल पर कठोर से कठोर यांतनाओं को पार कर निर्मल हो उठता है और अन्त में अपने प्रिय को प्राप्त कर पूर्ण आनन्द का अधिकारी होता है। काव्य में शृंगाररस को रसराज मानने का एक कारण यह भी बताया है कि उसके संयोग और वियोग दो पक्ष हैं और ये दोनों ही प्रेम के प्रकाशन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

---

[1] सिद्धान्त विचार लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास, पृ० ५३।

विरह की यह भावना केवल लौकिक प्रेमियों के सामने ही आदर्श रही हो, ऐसी बात नहीं। व्रज-भक्ति संप्रदायों में इस विरह को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। श्रीचैतन्य सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय दोनों में इसे सैद्धांतिक महत्त्व प्राप्त है। श्रीवल्लभाचार्य ने नन्द, यशोदा और गोपियों के विरह-दुःख को प्राप्त करने की कामना की है :—

यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्।[1]

नित्यविहार में प्रेम की पद्धति मिलन-विरह की दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म है। यहां प्रेम का घटनात्मक रूप नहीं लिया गया है। निकुंज में इसके लिए स्थान भी नहीं है। मिले हुए होने पर भी जिनकी मिलनेच्छा बढ़ती ही जाती है, जिन्हें लगता है कि जैसे हम कभी मिले ही नहीं हैं ऐसी प्रेम की सूक्ष्म वृत्ति जहाँ हो, वहाँ विरह तो सहा ही नहीं जा सकता। प्रेमी अपने प्रिय के वियोग में जीवित रहे तो वह प्रेमी कैसा ? इसी विशेषता को पाने के लिये गोपियां रात-दिन तड़पती रहीं। सूरदास ने भ्रमर-गीत में "विरह" के पक्ष को पुष्ट करते हुए कहा है, "प्रेम-पथ में चलने वाले को दुःखों से नहीं डरना चाहिये। उन्हें विश्वास है कि विरह-पुट पड़ने से पट पर गहरा रंग चढ़ सकेगा। यदि आंवे में घड़ा अग्नि की तपन न सहे, तो वह अमृत से कैसे भरेगा ? यदि बीज अपने को अंकुर के रूप में चीर न दे तो कैसे शतशः फल-फूलों से फलेगा ? यदि वीर रण में प्रत्यक्ष बाण न सहे तो कैसे उसे सूर्यलोक मिलेगा ? इसी प्रकार प्रेमी को भी प्रेम पथ के दुःखों से नहीं डरना चाहिये।"[1] यह वियोगी के जीवन का सिद्धान्त हो सकता है परन्तु गोपियां तो अपने इस जीवन को चूक ही मानती हैं। गोपाल के बिना छाती दो टुकड़े हो जाना चाहिये थी, वह क्यों न हुई ?

---

[1] निरोध लक्षण, श्रीवल्लभाचार्य कृत, १०

[1] ऊधौ विरहौ प्रेमु करै।
ज्यौ बिनु पुट पट गहै न रंगहिं, पुट गहे रसहि परै।
जौ आवें घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।
जौ धरि बीज देह अङ्कुर चिरि तौ सत फरनि फरै।
जौ सर सहत सुभट संमुख रन तों रवि रथहि सरै।

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

कहाँ लगि मानिये अपनी चूक ।
बिन गोपाल, ऊधौ मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक ।[1]

नित्यनिकुञ्ज में प्रेम का वही आदर्श स्वीकृत है और इसीलिये यहां स्थूल विरह के लिये बिलकुल स्थान नहीं है। उनकी दृष्टि में विशुद्ध प्रेम वह है, जहाँ न वियोग है न मिलन, अपितु मिलन में भी जहाँ मिलन की चाह बराबर बनी रहे ।

बिछुरन मिलन जहां रहै सुद्ध प्रेम नहिं होइ ।
मिलत मिलत में चाह अति सुद्ध प्रेम है सोइ ।[2]

काव्य-शास्त्र में विरह के चार अंग बताये गये हैं । ये हैं पूर्वराग, प्रवास, मान एवं करुण । इनमें से पूर्वराग, प्रवास और करुण का तो इस रस-पद्धति में स्थान ही नहीं है, हां मान को अवश्य ही यहाँ स्थान दिया गया है । यह मान अन्य नायिका के अभाव में प्रणयमान ही है; ईर्ष्यामान नहीं । इस मान की स्वीकृति का वास्तविक उद्देश्य प्रेम की उसी सूक्ष्म परिस्थिति को दिखाना ज्ञात होता है, जिसकी आकांक्षा गोपियाँ करती हैं । निकुञ्ज में श्रीराधा आराध्या हैं, श्रीहरि आराधक । यदि श्रीराधा तनिक भी मानवती हो जाती हैं, तो उनकी भौंहें देखते ही श्रीहरि के प्राण व्याकुल हो जाते हैं प्राण तन से निकलने लगते हैं । वे कहते हैं—"तुम चुप क्यों हो, जो कहो मैं तुम्हारे ऊपर न्यौछावर करने को प्रस्तुत हूँ । तुम्हें ऐसे देखकर तो मुझे तनिक भी चैन नहीं पड़ता, तुम मेरी प्राण-धन हो, अब कैसे हो ?" श्रीविहारी हरिदासी सखी से कहते हैं, "तुम्हीं इनसे कह दो ये अपनी रिस छोड़ दें, अपनापन न छोड़ें ।"[3]

सूर गोपाल प्रेम पथ जल तें कोऊ न दुखहि डरै ।
भ्रमरगीतसार, शुक्लजी, पद सं० १७१ ।

[1] भ्रमरगीतसार, पद सं० १७१ ।

[2] श्रीललितकिशोरी साखी, ३०२

[3] भूलैं-भूलैं हूँ मान न करि री प्यारी ! तेरी भौंहै मैली देखत प्रान न रहत तन ।
ज्यौ न्यौछावर करौं प्यारी री ! तो पर, काहे तें तू मूकी, कहत स्याम घन ।
तोहि ऐसे देखत, मोहिं अब कल कैसें होई जु प्रानधन !

जहाँ तनिक सी भ्रू-भंगिमा में प्राणों पर आ बनती है और लालजी प्यारी जी के चरणों पर लेटने लगते हैं, अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत हो जाते हैं, वहाँ मान कै घड़ी टिकेगा और विरह आयेगा कैसे ? इन प्रिया-प्रियतम के प्राण तो इतने सुकोमल हैं कि विरह के दुःख को पल भर नहीं सह सकते। "मान" के इस प्रसंग को लेकर इस विशाल साहित्य में बहुत कुछ लिखा गया है और उसका उद्‌देश्य यही दिखाना है कि स्थूल विरह की यहाँ गुञ्जाइश नहीं है।

'मान' का दूसरा उद्‌देश्य रस की पुष्टि है। प्रियाजी का मान सकारण न होकर "अहैतुक" होता है। विहारीजू की अधीरता देखने के लिये ही वे मान का अभिनय करती हैं। लाल के मनाने पर भी जब वे नहीं मानती तब सखियाँ उन्हें मनाती हैं, वे कहती हैं—"प्यारीजू आप प्यारे की पीर नहीं जानतीं, आप तो उनसे कभी घड़ी-भर के लिये भी अलग नहीं होतीं फिर मान क्यों किया है।" प्रियाजी ने सखियों से कुछ इशारा किया। वे भी तो अपने कर-कंकण में प्रियतम की पीर भरी चेष्टाएँ देख रही थीं। सखियाँ समझ गईं। प्रिया-प्रियतम दोनों मिल गये। मन में मन, तन में तन लीन हो गया। यह मान वास्तविक मान थोड़े ही था। रस में रिस और रिस में रस का आयोजन था। रूठना-तूठना, इस प्रकार सुख में डूबे रहना यही इस रस की विशेपता है। श्रीविहारिनदासजी ने एक पद में इस प्रसंग को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।[1]

सुनि हरिदास काहे न कहत यासौं।
छाड़ै-व-छाड़ै आपनौ पन।

केलिमाल, स्वामी हरिदासजी, १०।

[1] तू ना करि मान मनोहरि लाल लड़ावैगो।
छिन-छिन मान अयान करहु न सयान समझे सुकुवारी जू।
प्यारे पिय की पीर न जानति व्याकुल विरह विहारी जू।
आसन सैन सुहाइ न परस्यौ असन वसन करि वीरा जू।
दरस-परस की अवधि बदि हौं आई दै धीरा जू।
सुन्दर सुघर उदार धीरवर होत विलम्ब अधीरा जू।
विन श्रम हौं लै मिलहूँ लालै और निपट पथ नीरा जू।

इस 'मान' की अवधि भी अत्यन्त अल्प है। यहाँ तो 'पलकान्तर' होते ही 'कलपान्तर' ज्ञात होने लगता है। मान में ये रसिक पल-भर के लिये भी न बिछुड़ते हैं, न कहीं छिपकर बैठते हैं। विहार में मान केवल इतना ही होता है कि नैन की कोर से दुराव हो जाता है।[1] ध्रुवदासजी ने भी मान को प्रेम का नेम माना है। वे तो मान का परिचय "सूक्ष्म प्रेम" के ही नाम से देते हैं।

"सूक्ष्म प्रेम यासों कहिये जो एक सेज पर रूप देखत रूप देखत चन्द चकोर ज्यों नैनांचल ओट भये, महा कठिन दसा होइ, अस देह हू अपनी न्यारी नाहि सहि सकति, यह हूँ विरह मानत हैं।"[2]

निष्कर्ष यह है कि नित्यनिकुञ्ज का मान विरह का अंग मान नहीं है,

---

तन तहीयै मन सुनत उठत भयौ मोहिं अचंभौ भारी जू।
पिय तन पीठि दीठि मो तन हंसि पूछति कुवंरि कहा री जू।
पिय के अङ्ग संग अनुराग रमित श्रम आलस केलि विसारी जू।
सदा समीप सुहाग नयौ नित तू कभू होत न न्यारी जू।
प्रेम अवधि वह प्रान प्रिया सुनि मन संभ्रम उपजावै जू।
स्रवन सुनत नैननि देखत मुख वचन प्रतीति न आवै जू।
अङ्ग-अङ्ग वसन दसन रसनावलि (कटितट) चरननि चित्र बनावै जू।
कर-कंकन-दर्पन देखत मोहि इहि कौतिक हँसि आवै जू।
सुनि-सुनि समझि-समझि सखी बैननि नैंन सैंन जिय जानी जू।
सकुचति हंसति न चितवत इत उत लटकि लाल लपटानी जू।
मन को मन के मन सों मिलिकें मगन भये तन लीना जू।
रस में रिस, रस में रिस में रस उपजत रसिक प्रवीना जू।
वृन्दावन विपुल विलासनि विलसति विहारीदास पिय प्यारी जू।
रुठत तूठत सब सुख बूढ़त या रस की वलिहारी जू।

विहारिनदास, शृंगार के पद, १६६

[1] रसिक निमिष नहिं बीछुरैं ना दूरि बैठैं कहुं ओर।
ऐ तौ मान विहार में दुरैं नैन की कोर।

श्री रसिकदासजी साखी १

[2] सिद्धांत विचार लीला, श्रीध्रुवदास, बयालीस लीला पृ० ५०

यह प्रेम का ही एक विशिष्ट मधुर रूप है। इस अद्भुत प्रेम की विवशता में मान का टिकना सम्भव नहीं, आसक्ति के बीच नेम कहां ठहर पाते हैं ?[1]

संयोग और वियोग को अपने स्थूल रूप में स्वीकार न करते हुए भी इस रस-रीति में प्रेम की ऐसी विचित्र स्थिति को देखा गया है, जहाँ संयोग और वियोग दोनों नित्य मिले हैं। यह वियोग संयोग को नित्य नवीन बनाने वाला तत्त्व है। लोक और काव्य में विरह की घटना से प्रेम की नूतनता का जो स्वाद, मास, वर्ष अथवा और अधिक समय में प्राप्त होता है, वह यहाँ प्रतिपल प्राप्त होता रहता है।

नित्य निकुंज में प्रियालाल का मिलन सामान्य नहीं है। अपने प्रेम की तीव्रता के कारण वे एक दूसरे से मिलना ही नहीं एक दूसरे में समा जाना चाहते हैं। मन में मन और तन में तन समा जाने के पश्चात् भी आँखें आँखों से मिली रहनी चाहिये, अन्यथा नेत्रों का विरह होने से मिलन का आनन्द नहीं मिल सकेगा। पलभर का भी भ्रुव-क्षेप लालजी को सहन नहीं हो सकता, वे तो प्रियाजी से ही प्रार्थना करते हैं कि किसी प्रकार उन्हें बचालें।[2] इतने परस्पर मिले रहने पर भी प्रिया-प्रियतम दोनों को ऐसा लगता है, जैसे कभी मिले ही न हों। यह स्थिति संयोग और वियोग के नित्य मिलन, दोनों की

---

[1] तहाँ मान कैसे वने अदभुत जहँ यह प्रेम।
भीजे दोऊ आसक्त रस कहं समाइ विच नेम।
हितश्रृंगारलीला वयालीस लीला श्रीध्रुवदास, पृ० १३९

[2] ऐसी जिय होति जो जिय सो जिय मिलै।
तन सों तन समाइ ल्यौं, तो देखों कहा हो प्यारी।
तो ही सौंहिलगि आँखिनि सों आँखैं।
मिली रहैं, जीवत कौ यहै लहा हो प्यारी।
मोकों इतौ साज कहाँ री प्यारी, हौं अति दीन।
तुव वस भ्रुवक्षेप जाय न सहा हो प्यारी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत राखिलै।
वाँह वल, वपुरा काम-दहा हो प्यारी।
केलिमाल, स्वामी हरिदास जी, पद सं० ३५।

संधि की स्थिति है। इस बात को साधारणतया समझना कठिन है। रसिक ही इसे समझ सकते हैं।[१]

यह प्रेम-स्थिति वास्तव में "अकथ कथा" है। यद्यपि उनके विलास का आदि अंत नहीं है फिर भी अब तक उनमें परस्पर पहिचान भी नहीं हो पाई है। प्रतिपल नवला की नयी कांति है और विहारी जी का नेह नवीन है। एक दूसरे का मुख देखते हुए वे प्रीति-रस में ऐसे पड़े हैं कि अपना सब कुछ खो चुके हैं। एक पास, एक साथ रहते हुए वे मृदुहास करते हैं...यह ही अकत्थ कथा है।[२]

राधावल्लभ संप्रदाय में संयोग-विरह के इस सिद्धांत को 'प्रेम-विरहा' कहा गया है। श्रीहित हरिवंशजी ने चकई और सारस के दृष्टान्त से इसे समझाया है। सारस नित्य संयोगी है। प्रिया के बिछुड़ते ही वह प्राण छोड़ देता है अतः विरह के रस को नहीं जान सकता और चकवी वियोगिनी है, वह प्रेम की पीर को धीर धरकर सहती है, प्रिय के दूर जाने पर भी उसके प्राण नहीं जाते, वह संयोग का रस क्या जाने? इन दोनों प्रेम-पत्रों की अपूर्णता देख कर ही नित्य-निकुंज में संयोग और विरह दोनों की स्थिति एक साथ संभव मानी गई है।

युगल-विहार

नित्यविहार में जिस प्रेम की नित्य क्रीड़ा है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-भूमि पर अधिष्ठित है। रूप और प्रेम का यह नित्यविहार अपने अंदर पूर्ण तीव्रता

---

[१] तुव मुख चन्द चकोर ये नैना।
अति आरत अनुरागी लम्पट भूलि गई गति पलहू लगै ना।
अरवरात मिलिवे कों निसिदिन, मिलेई रहत मानो कवहु मिले ना।
'भगवत रसिक' रसिक की वातें, रसिक विना कोऊ समुझि सकै ना।
अनम्य निश्चयात्म ग्रंथ। भगवतरसिकजी पृ० ४० पद सं० ३।

[२] न आदि न अंत विलास करैं दोऊ, लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
है नई भाँति, नई छवि कान्ति, नई नवला नव नेह विहारी।
रहे मुख चाहि, दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्वस हारी।
रहे इक पास, करै मृदु हास, सुनों 'ध्रुव' प्रेम अकत्थ कथा री।
बयालीस लीला ध्रुवदास पृ० ११४

धारण किये हुए है। प्रातःकाल से रात्रि तक सभी समय अपनी विभिन्न आकृतियों में नित्य विहार फलता-फूलता है। प्रातःकाल ही सखियाँ निकुंज-महल के द्वार पर पहुँच कर वीणा-वादन करती हैं। प्रिया-प्रियतम को जगाती हैं। लाल-ललना तो रात में भी सोये कहाँ थे, सारी रात जागते ही बीत गई। रात भर मदन में मगन रहे। इस समय उनकी अलकें बिखरी हुई हैं, पलक अलसाये हैं, नेत्र उनींदे हैं और वाणी भी अटपटी है। रात्रि के चारों पहर विहार करने वाले प्रिया-प्रियतम इस समय सखियों को कितने प्रिय लग रहे हैं।[1]

सभी रसिकों ने "सुरतांत" के इस अत्यन्त मधुर रूप का चित्रण भाव-विभोर होकर किया है। परन्तु सुरतांत के इन चित्रों में कहीं भी भय या चपलता नहीं, जैसी कतिपय ब्रज-भक्त कवियों के काव्य में मिलती है। यहाँ सखियाँ आनन्द में विभोर होकर निशि की सुरति-क्रीड़ा का ध्यान करती हैं और प्रिया-प्रियतम के इस दिव्य-दर्शन को पाकर अपने को धन्य मानती हैं। वे प्रियाजी की प्रशंसा करती हैं कि उनके वश में होकर लाल विहारी ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है।

प्रातःकाल के सुरतांत का यह वर्णन अष्टयाम का एक भाग नहीं कहा जा सकता। सखी-संप्रदाय में अष्टयाम लिखने की प्रणाली देखने में नहीं आई। इसका कारण यही है कि इन रसिकों ने कभी किसी पद्धति के बंधन में बँधने की इच्छा नहीं की। भाव में प्रिया-प्रियतम का, जैसा दर्शन उन्हें हुआ, वैसा ही उन्होंने गाया है। सुरतांत के पश्चात् ही प्रिया-प्रियतम यमुना के तीर पर विहार करते हुए दिखाई देते हैं। थोड़ी देर में ही प्रियाजी स्नान किये हुए केश सुखाती हुई दिखाई देती हैं। सौंधे में नहा कर प्रिया जी सुन्दर वस्त्र पहन कर फुलवारी में बैठी अपनी अलकें सुखा रही हैं। केशों को सँवारते हुए उनके नखों की शोभा ऐसी हो जाती है मानो नये बादल में तारे चमक रहे हैं। सखियाँ अनेक प्रकार के शृंगार लिये सामने खड़ी हैं।

---

[1] जागत ही जागत गई निसि बीति हौं सब देखि सखी सुख चैन।
अपने-अपने सुख सहित हरषत करषत सखी भये मगन मन मैन॥
बिथुरी अलक पलक आलस बस चालित नैन बैन।
चारयों पहर बिहरत यों सखी भोर भयै बिहारिनिदासी के हँसि ढरे उर ऐंन॥
बिहारिनदास, शृंगार के पद २

प्रियाजी का रूप ऐसा भरा है कि काम के दल दलित हो जाते हैं। उस रूपके प्रति आसक्त होकर श्रीविहारी जी उन्हें देख रहे हैं, उनके पलक पड़ते नहीं हैं।[1]

नित्य विहार की समस्त क्रीड़ाओं में संगीत का स्थान महत्त्वपूर्ण है। नृत्य और अभिनय इनके खेल के अंग हैं। स्वामी हरिदास जी यों भी संगीत के विचक्षण गायक थे। अतः उनका एक नित्यविहार का सुन्दर भावपूर्ण संगीत-नृत्यमय चित्र देखिये :—

रुचि के प्रकाश परस्पर खेलन लागे।
राग-रागिनी अलौकिक उपजत, नृत्य-संगीत अलग लाग लागे।
राग ही में रंग रह्यौ, रंग के समुद्र में ये दोऊ झागे।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी पै रंग रह्यौ, रस ही में पागे।[2]

नृत्य में श्रीप्रियाजी प्रवीण हैं। वे कुञ्जविहारी को नाच सिखाती हैं। औघर ताल के साथ वे भी "ताताथेई ताताथेई" बोलती जाती हैं। ताण्डव और लास्य के अंगों की ही क्या, न जाने कितने प्रकार के नृत्य वे करते हैं। श्याम और श्यामा का यह मिलन कितना सरस है, देखते ही बनता है।[3] श्याम के इस मधुर नृत्य को देखकर मयूर नाच उठते हैं। श्याम और मयूरों में होड़ लग जाती है। प्रियतम श्री राधाजी को निकट बुला लेते हैं और तब नृत्य जमने लगता है। इस होड़ की मध्यस्थता कौन करे?[4]

---

[1] सौंधे न्हाइ बैठी पहिर पट सुन्दर, जहाँ फुलवारी तहाँ सुखवति अलकें।
कर नख शोभा कल केस संवारति, मानों नव घन में उडगन झलकें।
विविध सिंगार लिये आगे ठाडी प्रिय सखी,
भयौ भरु आनि रतिपति-दल दलकैं।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा,
कुंजबिहारी की छवि निरषत लागत नाहीं पलकैं। केलिमाल १०३.

[2] केलिमाल २.

[3] कुंजबिहारी नाचत नचावत लाड़िली नीके।
औघर ताल धरैं श्रीस्यामा ताताथेई ताताथेई बोलत संग पी के।
ताण्डव लास्य और अंग को गनै, जे-जे रुचि उपजति जी के॥
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कौ मेरु सरस बन्यौ और गुनी परे फीके।
केलिमाल ६

[4] होड़ परी मोरनि और स्यामेंहिं।
आवहु मिलहु मध्य सचुकी गति लेंहिं रंग धौ कामेंहिं॥

निकुञ्ज में कभी शतरंज की बिसात बिछ जाती है। दोनों खेलते हैं, रुख और घोड़े आमने सामने पड़ जाते हैं, फील आतुर हो उठता तो पयादा रोक देता है, फरजी का जोश अलग ही है। दोनों का खेल "शहशाह" है। परन्तु यह खेल जितना स्थूल है, उतना ही सूक्ष्म भी। हृदय के रुख के सामने नयनों का चपल अश्व पड़ गया है, तभी तो बराबरी सहन हो पा रही है। मिलन की आतुरता की भाँति फील बढ़ता है परन्तु पैदल रोक देता है, फरजी का रंग अलग है। ऐसा है यह शतरंज का नित्य निकुञ्ज का खेल।

प्रिया-प्रियतम की लीलाएँ अनन्त हैं। नई-नई ऋतु आती हैं, और लीलाओं को नवीनता प्रदान करती जाती हैं। वर्षा तो नित्य विहार का जीवन ही है। ऐसी ऋतु तो सदा सर्वदा रही आये, मोर बोलते रहें। सुन्दर मेघ-घटायें और इन्द्रधनुष हैं, चारों ओर सौन्दर्य बिखरा पड़ रहा है। वृन्दावन के ऊपर मेघों का गर्जन भी अति मधुर है, सारी भूमि हरी भरी हो गई है। सुन्दर-सुन्दर मेघ की बूँदें पड़ती हैं, मानो काम की ध्वनि हो रही है। ऐसे समय किशोरी और किशोर दोनों मिलकर गा रहे हैं, मलार राग जम रहा है।[1]

दोनों भींगने लगते हैं। आँचल की ओट में दोनों हो जाते हैं। रातदिन उन्मत्त रहने वाले दोनों 'राग' के ही रंग में रंगे हुए हैं। परस्पर प्रेमाभिभूत होकर वे नृत्य करने लगते हैं।[2]

हमारे तुम्हारे मध्यस्थ राधे और जाहि बदौ,
बूझि देखौ तिनु दै कहा है यामेंहि।
श्रीहरिदास के स्वामी कौ चौपरि कौ सौ खेल,
इकगुन, दुगुन, तिगुन चतुरागुन री जाकें नामेंहि। केलिमाल ८२.

[1] ऐसी रितु सदा सर्वदा जो रहे बोलत मोरनि।
नीके बादर, नीके धनुष चहुं दिशि नीकौ,
श्रीवृन्दावन, आछी नीकी मेघन की घोरनि॥
आछी नीकी भूमि हरी-हरी,
आछी नीकी बूँदनि की रेंगनि काम की रोरनि॥
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा के मिलि गावत,
जम्यौ राग मलार किसोर किसोरनि॥ केलिमाल''' ८९.

[2] भीजन लागे री दोऊ जन।
अचरा की ओट करत दोऊ जन।

मन का मृदंग बोल उठता है। सुन्दर रास भूमि में त्रिभंगी गति लेकर वे अभिनय प्रारंभ कर देते हैं। श्रीराधा नाट्य करती हैं, ललिता आनंदमग्न हो रही है। नागरी ऊँची तान लेने लगी। रस-दाता विहारी और श्रीराधा दोनों रंग में रंगे हुए हैं। कुञ्जविहारी तो संगीत-संगी ही हैं।[1]

पहले कहा जा चुका है कि सखी-भावोपासकों के श्रीवृन्दावन में काल का का प्रभाव नहीं है। प्रिया-प्रियतम की जब जैसी इच्छा होती है, वृन्दावन का समस्त वातावरण तत्त्तण उसी के अनुकूल बदल जाता है। दिन भर में न जाने कितनी बार षड्ऋतुएँ आती हैं और चली जाती हैं। यहाँ तक कि एक ही समय में विभिन्न निकुञ्जों में विभिन्न ऋतुएँ स्थित रहती हैं।

बसन्त फिर आ गया। इस वार अलग जाकर ही खेलने की इच्छा हुई। किसी से विना मिले ही दोनों एकान्त में चल दिये। राग-रागिनियों के अदल-बदल से विचित्र रंग उत्पन्न होगा उसे सभी सखी देखेंगी।[2]

बसन्त आया तो होली का आनंद भी भर उठा। सभी सखियाँ "हो हो" करने लगीं। प्रिया-प्रियतम फाग खेलने लगे। वे एक दूसरे को गोद में भरने लगे, किसी को किसी की सुधि न रही। तनिक हँसकर ही गोरी ने मोहन का मन हर लिया। हाथ से हाथ और कटि से कटि जुड़े हुए वे नृत्य कर रहे हैं।

अति उनमत्त रहत निसि वासर, राग ही के रंग रँगे दोऊ जन।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी,
प्रेम परस्पर नृत्य करत दोऊ जन। केलिमाल, ९३

[1] नदित मन मृदंगी रास भूमि में सु कांत, अभिनै सु नव गति त्रिभंगी।
धापि राधा नटति, ललिता रसवती नागरी गाइ तेऽग्निनाभि तान तुंगी।
रसद बिहारी वन्दे बल्लभा राधिका निसिदिन रंग-रंगी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा, कुंजबिहारी संगीत-संगी॥
केलिमाल ९४.

[2] अब कें बसन्त न्यारेई खेलैं, काहू सो न मिलि खेलैंरी, तेरी सौं।
दुचिते होत कछू न सच पाइयै, तू काहू सखी सों न मिलि, मेरी सौं॥
देखैंगी जु रंग उपजैगौ परसपर, राग रागिनीन के फेर-फेरी सौं।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजबिहारी, राग ही में रंगि रहे एरी सौं।
केलिमाल १०१.

मोर भी उनके साथ नाचने लगे। वे अलग-अलग सखियों की दृष्टि बचाते हुए कोई कुञ्जवीथी देख रहे हैं।[1]

ऋतुओं के साथ ही त्यौहारों का आनन्द भी अपूर्व है परन्तु यहाँ वे ही त्यौहार मनाये जाते हैं जो नित्य हैं, नैमित्तिक नहीं। इन त्यौहारों का अधिकतर सम्बन्ध ऋतुओं के साथ ही होता है।

प्रिया-प्रियतम पुनः विथकित होकर निकुञ्ज की ओर चलते हैं। महल में सखियाँ उनका शयन-तल्प प्रस्तुत करती हैं। प्रिया-प्रियतम निकुञ्ज में पधारते हैं। वृन्दावन की ये निभृत निकुंजें सौरभ से महक रही हैं। उनके अन्दर जो रंगमहल है, वह भी अपनी श्रीशोभा से चमचमा रहा है। अधिकांश सखियाँ बाहर ही रह जाती हैं। प्रिया-प्रियतम शयन-तल्प पर आते हैं परन्तु लालजी प्रियाजी के मुखचंद्र को देख पुनः अपना धीरज खो बैठते हैं। वे मिले बिना रह भी कैसे सकते हैं। दिव्य सुरति-क्रीड़ा आरंभ होती है। प्रियाजी के आभूषण भी इस समय रस के बाधक हो रहे हैं, वे दूषण प्रतीत होते हैं।[2]

गहना क्या, अङ्ग-अङ्ग का सौन्दर्य ही सबसे बड़ा गहना है, वही तो प्रियतम के नयनों का अंजन है।[3] प्रिय-प्रियाजी के मृदु चरण-कमलों को अपने

---

[1] राधा रसिक कुंजविहारी खेलत फाग, सब जुवती जन कहत हो-हो होरी।
भरत परसपर काहू की काहू न सुधि, हंसिकै मन हरत मोहन गोरी॥
कर सों करब जोरि कटि सों कटिव,
मोर करत नृत्त काहू न रुचि थोरी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा फिरत न्यारेई न्यारे,
सब सखीयनि की दृष्टि बचावत तकितव खोरी।

केलिमाल, १०५.

[2] बुरो सिंगार बिहार में भूषन दूषन जानि।
श्रीबिहारीदास सेवत सुखहि मन को मर्म पिछानि॥

बिहारनिदास साखी, १०८.

[3] मेरौ गहनौ और है निज अङ्ग-सङ्ग सिंगार।
नैनन को अंजन यहै सब सुख सार-बिहार॥

बिहारनिदास की साखी, १११

कठिन करों से छूते नहीं, यह उनके मन का कोमल प्रेम है।[1] सखी सहारा देती है। विभिन्न रीतियों से प्रिया-प्रियतम को विहार कराती है। प्रेम की तरंगें गहरी हो गई हैं, उनके चरण चल नहीं पाते। सिवार में उलझ गये हैं। ऐसी विवशता की दशा में वे सखियों के बल से ही विहार के आवर्त को पार करते हैं।[2]

विहार में प्रिया-प्रियतम अपने को भूल जाते हैं। उन्हें अनुराग की तीव्रता में यह भी नहीं स्मरण रहता कि वे कौन हैं। प्रिया अपने को प्रिय और प्रिय अपने को प्रिया समझने लगते हैं। उनके इसी अद्‌भुत प्रेम-विहार को सखियाँ भावपूर्वक देखती हैं और अपने नेत्रों को शीतल करती हैं।

ये दोऊ अनुराग में अदल बदल ह्वै जाइ।
सखी लडावै भाव सौं निरखत नैन सिराइ॥[3]

इस दिव्य रति-क्रीडा के विभिन्न प्रकारों से प्रिय-प्रिया का मन-संमोहन करते हैं। अन्त में प्रिया ही प्रधान हो जाती हैं। वह सुख तो अवर्णनीय है। निकुञ्जगत उस विपरीत रति के उपासक ही तो रसिक जन हैं।[4] कहने की आवश्यकता नहीं, इस विपरीत रति की सूचमता गहनतम स्तरों पर अधिंष्ठित है।

क्रमशः विहार की उस रस दशा में प्रिया-प्रियतम का अस्तित्व ही परस्परता में विलीन हो जाता है। नायक-नायिका वहाँ केलि नहीं करते अपितु रस ही केलि कराता है :—

नायक तहां न नायिका रस करवावत केलि।[5]

---

[1] मृदु पद अंबुज प्रिया पिय छुवत न सुकर कठोर।
श्रीबिहारीदास कहत मरमु नरम प्रेम मन मोर॥

बिहारनिदास की साखी, १२६

[2] तरुनि तरंगनि में परे उरझे बार सिबार।
पैरत साहस सखिन के अति आवर्त विहार॥ वही, १२९

[3] ललित किशोरी, साखी, १४७

[4] हैं हम रसिक अनन्य प्रिया पिय कुंज महल के वासी।
नई-नई केलि बिलौकैं क्षण-क्षण रति विपरीत उपासी॥

अनन्य निश्चयातम ग्रन्थ पृ० ५५

[5] सिद्धान्त विचार लीला बयालीस लीला ध्रुवदास

यही रस है जो अनाद्यन्त है, नित्य प्रकट है, एक रस है। प्रिया-प्रियतम का नाम और नामीत्व सभी इस विहार में हैं, वे यहीं मगन है। वे स्वयं कहते हैं :—

कहा नाम नामी कहा सखी सुख पूछौं तोहि ।
तन मन मगन विहार में तहां ढूंढ़ि लै मोहि ।।[1]

रसोपासना इसी रस की उपासना है। सखी-भावोपासकों के अनुसार सभी उपासनाओं में नित्य विहार की उपासना जहाँ प्रिया-प्रियतम, सखी और वृन्दावन इन चारों अंगों का नित्य प्रकाश है वहाँ सर्वोपरि है। इस नित्य-विहार को समझने के लिये पुनः ध्यान रखना चाहिये कि निकुंजगत, काम, प्रेम और रस दूसरा ही है, लौकिक नहीं। इस सम्बन्ध में श्रीविहारीदासजी का उपासना-परक यह पद उद्धृत किया जा रहा है :—

सर्वोपरि नित्य-विहार सु न्यारौ ।
बरस मास और पच्छ पहर पल काहे को गनि दिन धारौ ॥
साधारन राधा आराधत साधत कृष्ण पियारौ ।
जनम करम वृषभानु सुता नन्द-नन्दन सिष्टाचारौ ॥
करि सतसंग सजातिनि सो मिलि, संसै सबै निवारौ ।
सेवत महामाधुरी रसिक अनन्यनि को व्रत भारौ ॥
माया काल रहित त्रिगुननि ते इहि मत हेत हमारौ ।
नित्य निमित्त संधि समझे बिनु सो दिन स्वाद बिगारौ ॥
औरे काम प्रेम औरे रस औरे बैस विचारौ ।
उपदेस्यौ हरिदास विपुल श्रीबिहारीदास दुलारौ ।[2]

* * *

---

[1] बिहारिनिदास साखी सं० १३५

[2] बिहारिनि दास सिद्धांत के पद, सं० १५०.

पञ्चम अध्याय

सखी-संप्रदाय की उपासना-पद्धति

उपासना क्यों ?

मानव जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ, अपनी ही भ्रान्ति के कारण अनेक प्रकार के दुःख भोग रहा है। उसे अपने वास्तविक स्वरूप की पहिचान नहीं है। वह एक ऐसी वस्तु से दूर हो गया है, जो आनन्द की अवधि है। उसी को वह प्राप्त करना चाहता है। उसी के लिये प्रयत्न करने की एक विशिष्ट पद्धति उपासना है।

बौद्ध दर्शन में माना गया है कि यह जगत् शून्य से उत्पन्न हुआ है, उसी में विलीन हो जायगा। जगत् की वास्तविकता दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दुःखवाद ही उनका विचार-केन्द्र है।[1] इस दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के लिये बौद्ध निर्वाण (शून्य मुक्ति) के इच्छुक हैं।

वैष्णव-दर्शन की विचारधारा भिन्न है। उसकी दृष्टि में इस जगत् का स्रष्टा सच्चिदानन्द परब्रह्म है। अतः जगत् का स्वरूप भी आनन्दमय है। श्रुति के शब्दों में आनन्द से ही ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। आनन्द द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।[2]

यद्यपि जगत् आनन्दमय है, फिर भी माया के कारण जीव अपने आनन्दमय स्वरूप को विस्मरण कर सांसारिक बन्धनों में बँध जाता है। यह

---

[1] It was a knowledge of the truth that all life was merely one link in a series of succesive existence and inseparably bound up with misery.

Buddhism, Sir Monier Williams, p. 11

[2] आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ॥
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, षष्ठ अनुवाक्।

संसार हरि का ही खेल है परन्तु जीव यहाँ की मृगतृष्णा में भूल कर धन-मद, यौवनमद, राजमद आदि में फँसा हुआ है। ये सब नष्ट हो जाने वाले हैं। जैसे पक्षियों के बीच में एक ढेला फेंक देने से सब पक्षी उड़ जाते हैं उसी प्रकार मृत्यु से ये सब नष्ट हो जायँगे। यह संसार तीथ का सा मेल है, अतः जगत् के रचयिता को ही स्मरण करना चाहिये।[1] जगत् के आनन्दमय रूप को मृगतृष्णा की भ्रांति द्वारा देखने के कारण ही दुःखों की प्राप्ति होती है।

मानवदेह पाकर ही जीव अपने आनन्दमय प्रभु को प्राप्त कर सकता है अतः उपासकों की दृष्टि में मानव का महत्त्व कम नहीं है। परन्तु इन उपासकों को दुःख उन लोगों पर होता है, जो इस अलभ्य लाभ के अवसर को व्यर्थ ही काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह में पड़े रह कर बिताये दे रहे हैं। उनका विचार है कि यदि इस जन्म में भी भगवान् की शरण न गये तो पुनः कूकर-शूकर का जन्म मिलेगा और दर-दर ठोकरें खानी होंगी :—

हरि बिनु कूकर सूकर ह्वैहौ।
दांतनि पूंछ कुरारि पाछिले पांइनि मूंड खुजैहौ।
सांझ भोर भटकत भड़िहाई, तऊ न अहार अघैहौ॥
जहाँ-तहाँ बिपति बिडारै नसिवारैं ह्वै लटिकटि ज्वैहौ।
... ...
बिहारीदास बिन भजै सांवरौ सुख संतोष न पैहौ।[2]

अविद्या से ग्रस्त होने के परिणाम-स्वरूप जीव के लिये जगत् के पदार्थ दुखदायी होते हैं, अतः इन सांसारिक सुखों की निन्दा सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मिलती है। यदि जगत् को हरि-पद-प्राप्ति का साधन माना जाय तभी वह श्रेयस्कर है। मनुष्य-जीवन मिला ही इसलिये है कि इस समय संसार-सागर को पार कर लिया जाय। बात बन गई है, इसे समझ लेना चाहिये। आज-कल में मृत्यु आने ही वाली है, काल-व्याल

---

[1] हरि को ऐसौई सब खेल।
मृगतृष्णा जग व्यापि रह्यौ कहूँ बिजौरौ न बेल।
धनमद, जोवनमद, राजमद ज्यौं पंछिनु में डेल॥
कहै श्रीहरिदास यहै जीय जानौ तीरथ कौ सौ मेल।
स्वामी हरिदास कृत अष्टादश सिद्धांत पद १३

[2] श्रीबिहारिनिदास सिद्धान्त के पद ५४.

से डरना चाहिये। वास्तविक सुख को समझ कर चलना चाहिये। श्रीहरि के चरणों की शरण से ही संसार पार किया जा सकता है।[1]

हरि-कृपा प्राप्त होने पर जगत् का मंगलमय रूप सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। रसिक जिधर देखता है उधर अपना इष्ट, धर्म, गुरु और नित्य धाम ही दिखाई देता है। कारण-कार्य के रूप में वह दिव्य अनिंद्य सुन्दर रतिकाम ही तो जगत् में परिपूरित है। इस बात को जो समझ लेता है, वह निन्दास्तुति से ऊपर उठ जाता है और उसकी बुद्धि का वैषम्य भी नष्ट हो जाता है। शत्रु, मित्र और ऊँच-नीच का भाव शेष नहीं रह जाता। सदैव जिस हृदय में श्यामा-श्याम निवास करते हैं, उनके लिये जगत् में दुःख कहाँ ?[2]

सखीभाव की उपासना का दार्शनिक आधार

साधारणतः वैष्णव सम्प्रदायों में ब्रह्म, जीव, जगत् के स्वरूप का निर्धारण कर तदनुसार भगवत् सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। उन में ज्ञान और भक्ति का समन्वय करने के लिए ज्ञान के आधार पर भक्ति का स्वरूप स्थिर किया जाता है। परंतु सखीसंप्रदाय में प्रेम ही हरि-मिलन का एक

---

[1] तरन संसार कौ तू मानस वनायौ है।
अब ही वनी है वात, औसर समझि घात, तऊ न खिसात तो कत समझायौ है।
आजु कालि जैहै मरि, काल-व्याल हू ते डरि, भौड़े भजन हीं करि कैसौ संग पायौ है।
चित-वित इत देह सुखहि समझि लेहि सरस गुरुनि ग्रंथ पंथ यौं बतायौ है।
चरन-सरन भय-हरन, करन सुख, तरन संसार कौं तू मानस बनायौ है॥
श्रीसरसदास के पद। २०.

[2] जहं देखे तहं आपनौ इष्ट, धर्म, गुरु, धाम।
कारण कारज जगत् में परिपूरण रति काम॥
परिपूरण रति काम समुझि समता जिन लीनी।
निन्दा अस्तुति सुपरि विषमता बुधि तजि दीनी॥
शत्रु मित्र नहि कोइ, ऊँच नहि नीच तहँ।
सो घट भगवत रसिक श्याम-श्यामा सन्तत जहँ॥
अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवत रसिक। १.५.८२.

मात्र माध्यम स्वीकृत है अतः यहाँ दर्शन की आवश्यकता बिलकुल भी नहीं होती। सखी संप्रदाय की दृष्टि में दर्शन अपने आप में अपूर्ण वस्तु है। ज्ञान के माध्यम से उपासना करने वाले श्रुति-उपनिषद् आदि भी उस प्रभु को नेतिं-नेति कह कर उसे ज्ञान से उपलब्ध नहीं मानते। उनके अनुसार भी यह आत्मा न प्रवचन से, न ज्ञान से, न बहुत सुनने से लभ्य है अपितु जिसको वह स्वयं स्वीकार करता है, उन्हें ही वह प्राप्त होता है।[1] ऐसी स्थिति में सखीभाव के उपासकों ने विशेष रूप से ज्ञान-मार्ग को छोड़ केवल हरि-कृपा का मार्ग अपनाया है और दर्शनों को अनुशीलन व्यर्थ बताया है।

फिर भी कुछ विद्वान् स्वामी हरिदास की उपासना को दार्शनिक संप्रदायों के आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते हैं जो तत्वतः आवश्यक नहीं प्रतीत होता। श्रीभगवत रसिक ने कहा है कि सभी दार्शनिक एक ही प्रभु की पत्नी होने पर भी पति-सेवा के बहाने दूसरी पत्नियों द्वारा सेवित पति के पैरों को ही तोड़ती हैं। सब मतवाद खण्डन में लगे हैं और अपने को ही आचार्य और कर्ता मान बैठे हैं। वे सब विरोध तज कर अपने भर्ता का भजन नहीं करते।[2]

सखीभाव केवल अनन्या भक्ति का मार्ग

कर्म, ज्ञान, और भक्ति इन तीन मार्गों में से वैष्णव संप्रदायों ने भक्ति पर ही यथेष्ट बल दिया है। भक्ति की विभिन्न व्याख्याएँ और स्वरूप इन सम्प्रदायों में देखने में आते हैं। भक्ति के साथ अनेक विधि-विधानों की

---

[1] नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
कठोपनिषद्। १.२.२२.

[2] भरता के द्वै भामिनी बसैं एक ही गाँव।
सेवा साधैं ओसरे तोरैं पति के पाँव।
तोरैं पति के पाँव सौतियारौ सो मानैं।
ऐसे हि सब मतवाद करैं खण्डन मत आनैं।
आचारज अभिमान आपकौ मानें कर्ता।
तजि विरोध नहिं भजहिं आपनो भगवत-भरता।
अनन्य निश्चयात्म। १४. ६ ८५

संहिताएँ हम कृष्णभक्ति-संप्रदायों में देखते हैं। नवधा भक्ति वैष्णवों का प्रधान साधन है। इन्हीं के आधार पर इष्ट की विविध सेवा-पद्धतियों का निर्माण हुआ है। यद्यपि सभी संप्रदाय भक्ति के उस स्वरूप को पाना चाहते हैं जो प्रेमरूपा है, परन्तु उसके मार्ग में शास्त्रीय विधि-निषेध के पहाड़ और टीले खड़े कर एक सीमा तक उस सहज मार्ग को भी रुद्ध कर दिया गया है। भक्ति की भावना सीधी और सरल है, साधनों से वह कुंठित ही होती है अतः उसके सहज रूप को प्राप्त करना ही रसिक का लक्ष्य होता है। स्वामी हरिदासजी के यहाँ भक्ति शब्द का प्रयोग केवल व्यवहार के लिये ही किया जाता है प्रत्युत उनकी भक्ति अपने उच्चतम रूप में केवल विशुद्ध प्रेम है। यह प्रेम श्रीविहारी-विहारिनि के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति आसक्त नहीं है। अतः इसका नाम अनन्य है। इस सर्वातिशायी प्रेम की उच्चतम अवस्था है—'ममत्व'। यह 'ममत्व' ही सब सारों का सार, तत्त्वों का तत्त्व और अनन्यों का सबसे बड़ा मत है।[1]

ममता का सांसारिक रूप हम सर्वत्र देखते हैं। लोभी की धन पर ममता होती है और कामी की कामिनी पर। उन्हें उसके अतिरिक्त और कभी कुछ सूझता ही नहीं, अन्य वस्तु की चर्चा ही वे नहीं करना चाहते। यह सांसारिक ममता परिणाम में दुःख देने वाली है, परन्तु ऐसी ही ममता श्रीहरि के प्रति होनी चाहिये। यही 'ममत्व' उपासकों के लिये सबसे महत्त्व की वस्तु है।[2]

'ममत्व' सदैव अनन्य ही होता है। प्रेमी अपने प्रिय के अतिरिक्त किसी अन्य को देखना भी नहीं चाहता। श्रवणों से अन्य शब्द नहीं सुनना चाहता। समस्त इन्द्रियां अपने प्रिय के साथ ही एकमेक रहती हैं, अन्य को देखने का अवकाश अनन्य को नहीं होता। भगवत रसिक अपनी अनन्यता का परिचय देते हुए बताते हैं :—

नैननि देखौं और नहिं, श्रवण सुनौं नहिं और।
घ्राण न सूँघौं और कछु, रसना कहौं न और॥

---

[1] सब सारन कौ सार सुनि, सब तत्वन कौ तत्व।
विहारीदास अनन्यनि मत वड़ो 'ममत्व' एकत्व॥
विहारीदासजी की साखी १५२

[2] ज्यौं कामी कों कामिनी, ज्यौं लोभी कों दाम।
अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, भगवत रसिक जी पृ० ५२

रसना कहौं न और, त्वचा परसौं नहिं औरें।
कुंजविहारी केलि झेलि इन्द्रिन सब ठौरें ॥
भगवत रसिक अनन्य नेक उपदेशौं सैननि ।
बैननि मैन जगाय रैन दिन देखौं नैननि ॥[1]

अनन्यता का आदर्श पातिव्रत धर्म है। पतिव्रता पत्नी के हृदय में ही नहीं, शरीर में भी उसका पति बसता है। यद्यपि संसार में अन्य अनेक प्राणी हैं, परन्तु उसके लिये उसका पति ही सर्वस्व है।[2] यहां तक कहा गया है कि संसार में पतिव्रता के लिये उसके पति के अतिरिक्त और कोई पुरुष ही नहीं है।[3] यही अनन्यता उपासक की अपने इष्ट में होनी चाहिये।[4] प्रेम की यह अनन्यता एक दृष्टि से उसकी संकीर्णता भी समझी जा सकती है परन्तु वस्तुतः यह संकीर्णता यहां दोष न होकर उसका शृङ्गार ही है। श्रीद्विवेदीजी इस संकीर्णता के संबन्ध में कहते हैं:—"यह संकीर्णता विशालता की उपलब्धि के लिये है। नदी में जल यदि कम हो तो उसके दोनों कूलों का सटा-सा रहना उसके प्रवाह को अधिक निर्वाध और प्रखर कर देता है। संकीर्णता से गम्भीरता आती है और गम्भीरता से शाश्वत रस"।[5] यह संकीर्णता वास्तव में प्रेमी की थाती है। प्रेम के पंथ में केवल एक ही समाता है, दो नहीं—-'प्रेम-गली अति सांकरी, तामें द्वै न समायँ"। यह ममत्व, अनन्यता ही सखीभाव की मूल कुञ्जी है। इसी अनन्यता ने साधन-सिद्धांतों के समस्त कंकड़-कांटों को साफ कर प्रेम का पंथ पूर्णतया परिष्कृत कर दिया है। अतएव सखीभाव का उपासक एक उन्मत्त प्रेमी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह केवल एक "रस" को ही जानता है। अपने इष्ट के ही "रस" में मत्त

---

[1] अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, भगवत रसिक जी पृ० ६७

[2] पतिव्रता के देह में वसत पियारो पीय ।
पति उपमा चितवै नहीं मिले घनेरे जीय ॥
बिहारिनिदास जी की साखी, १८०

[3] अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, भगवत रसिक जी पृ० ५१

[4] बिन अनन्य कैसे दृढ़ पतिव्रतवत भाव ।
दंपति नित्य किसोर तें भावक करत मिलाव ॥
सिद्धांत सरोवर ५५६

[5] सूर-साहित्य पृ० १९२

रहने के कारण वह 'रसिक' कहलाता है, रसिक ही उसका नाम है, वही उसकी पहिचान है। श्रीनाभा जी ने स्वामी हरिदास जी की छाप 'रसिक' बताई है—रसिक छाप हरिदास की[1]। श्रीव्यास जी ने उन्हें अनन्य-नृपति कहा है।[2] स्वामी हरिदास अनन्यता की सजीव मूर्ति थे। उनकी जीवन की 'रहनी' ही इस पथ के पथिकों के लिये आदर्श है। यह अनन्यता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समाई है। सखीभाव का उपासक नित्यविहारी-विहारनि के अतिरिक्त अन्य किसी इष्ट को नहीं मानता। वह 'राम' का नाम भी नहीं लेता। देव-पितर तो क्या रामकृष्ण से भी उसका वास्ता नहीं है।[4] उसका बद्री-केदार से कोई नाता नहीं।[5] इष्ट के संबन्ध में वह पूर्णतया अनन्य है, यह हम पीछे भी देख चुके हैं।

---

[1] नाभा जी भक्तमाल सं० ९१
पद नीचे चार पंक्तियाँ छोड़कर देखिये।

[2] अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।
कुंजविहारी सेये बिनु जिन छिन न करी काहू की आस।
सेवा सावधान अति जान सुघर गावत दिन रस रास॥
ऐसौ रसिक भयौ नहिं ह्वैहै भू—मण्डल—आकास।
देह विदेह भये जीवत ही बिसरे बिस्व—विलास॥
श्रीवृन्दावन रज तनमन भजि तजि लोक—वेद की आस।
प्रीति रीति कीनी सब ही सों, कियौ न खास खवास॥
अपनौ व्रत यह ओर निबाह्यौ जौ लौं कंठ उसास।
सुरपति भूपति कंचन कामिनि जिनके भाये घास॥
अब के साध, व्यास, हम हूँ से सहत जगत् उपहास।

भक्तकवि व्यासजी, पद सं० १२

[3] बिहारीदास लक्षण यहै रामौ नाम न लेय।

बिहारीदास साखी २३६

[4] देव पितर लीने फिरैं, राम कृष्ण न समाय।

बिहारीदास साखी २३७

[5] अवध उड़ीसा द्वारका बद्री और केदार।
ये न होय हरिदास के मायन नित्य विहार॥ वही सं० २३८

उपासना-मार्ग में विधि-निषेध

प्रायः देखा जाता है कि कोई भी विशेष भावपूर्ण व्यक्ति समाज की साधारण गति के साथ नहीं चल पाता। महापुरुष और समाज-सुधारक सदैव ही समाज की रूढ़ियों के विरोधी होते हैं। निर्जीव समाज-तत्वों को निकाल-फेंक कर वे नवीन जीवन्त प्रणालियों का समाज के लाभ के लिये उद्वर्तन करते हैं।

प्रेमी की दशा इन से भी विचित्र है। प्रेम का तो स्वभाव ही है कि वह एक ही के आधीन होता है, अन्य किसी का बन्धन वह कभी नहीं मानता। प्रेमी का अपना संसार अलग ही होता है और अनेक अंशों में वह साधारण रीति-रिवाजों को लेकर जीने वाले इस संसार के लगभग विपरीत ही होता है। भगवान् के प्रेम में जो मतवाले हैं, उनकी दुनिया से इस सामान्य दुनिया की समता भी क्या हो सकती है। अपने प्रिय की एक झलक देख कर जो मतवाले हो गये हैं, वे समाज के साधारण धर्म के अनुसार चल भी कैसे सकते हैं ? अतः सदैव ही, ऐसे 'प्रेम-दीवानों' के साथ समाज का विरोध होता आया है। फिर कबीर हों या ईसा, मंसूर हों या हल्लाज सदा इन में और जगत् में टक्कर हुई है और हम देखते हैं कि अंत में विजय प्रेमियों की ही हुई है।

निकुञ्ज-भाव के उपासकों के प्रेम की तरंगों का मूल्यांकन भी इसी दृष्टि से करना होगा। वहां तो प्रेम-समुद्र की उमड़ क्षण भर के लिये भी शान्त नहीं होती। रसिक अपने प्रिया-प्रियतम को ही निशि-वासर लाड़ लड़ाते रहते हैं, इसलिये समाज के साधारण व्यवहार उन्हें छू भी नहीं पाते। प्रत्यक्ष है कि प्रेम में 'नेम' नहीं रहते। केवल वे नियम रहते हैं जो प्रेम के लिये स्वाभाविक और सहज हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कुछ प्रेमी के हृदय को स्पर्श नहीं करता। सखीभाव की प्रेमोपासना इसीलिये इन साधारण विधि और निषेधों के परे रहती है। वास्तव में तो उनका रूप, जैसा कहा जा चुका है, तात्कालिक दृष्टि से विपरीत-सा लगता है, परन्तु प्रेमियों को अपने उस मार्ग पर गर्व रहता है। श्रीरसिकोत्तंस जी ने अपने संस्कृत-ग्रंथ 'प्रेमपत्तनम्' में भक्ति क्षेत्र के अनेक उदाहरणों के अनुसार यही सिद्ध किया है कि संसार की दृष्टि में जो अधर्म है वही प्रेम-भक्ति-क्षेत्र में धर्म है—"यत्राधर्म एव धर्मः स्थापितः"।[1] गीता में भी भगवान् ने कहा है, सब धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण में आओ,

---

[1] प्रेमपत्तनम्, श्री रसिकोत्तंस जी, काशी, पृ० ३०.

मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा ।[1] उस धर्म के समक्ष जगत् के धर्म नीचे ही रह जाते हैं । आगे रसिकोत्तंस जी स्थापना करते हैं,—जहाँ असत्य ही सत्य है, जहां अनाचार ही आचार है जहां अनादर ही आदर है, असंतोष ही संतोष है, अविनय ही विनय है, जहां पुरुष ही स्त्री है, अज्ञान ही ज्ञान है, पराजय ही जय है, सुख ही दुःख है, दुःख ही सुख है, निषेध ही विधि है, विधि ही निषेध है, जहां संयोग ही वियोग और वियोग ही संयोग है, जहां मरण ही जीवन है ऐसा यह प्रेमियों का वृन्दावन धाम है ।[2] रसिकवर व्यासजी बड़े अभिमान के साथ कहते हैं :—

जा सौं लोग अधर्म कहत हैं, सोई धर्म है मेरौ ।
लोग दाहिने मारग लाग्यो हौंव चलत हौं डेरौ ॥
द्वै द्वै लोचन सब ही के, हौं एक आंख को ढेरौ ।
और आव हौं कौन काम कौ, ज्यौं बन बुरो बहेरौ ॥
लोगन को पुर पट्टन खेरो, नाहिंन मेरो बसेरौ ।
मृगया करि जो काम न आवै, मर्कट मांस अहेरौ ॥
जिनकी ये सब छोति करत है, तिनही कौ हौं चेरौ ।
सूजी नरी घुरहुटी 'व्यास' के मन में बस्यौ वँदेरौ ॥[3]

हम यहां स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि रसिक-भक्तों का यह पंथ समाज-विरोधी प्रतीत होता है परन्तु अंततः वह समाज को ही जीवन-दान देने वाला है । समाज निःसङ्ग होते हुए भी इन प्रेमियों के कर्म मानव-जीवन-मूल्यों के अविरोधी एवं उनको बल देने वाले हुए हैं । दूसरी बात यह है कि ये प्रेमी जान-बूझ कर विधि का निषेध नहीं करते अपितु प्रेम ही उनको विवश कर जीवन के ऐसे स्तर पर ले जाता है, जो समाज के सामान्य नियमों से मेल नहीं खाता । स्वामी हरिदास जी भी ऐसे ही रसिक थे, जिन्हें प्रिया-प्रियतम की नित्य लीला के अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं देता था । भाव में डूबे, जब जो हुआ, कर लिया । इसीलिये श्रीध्रुवदास जी ने उनके संबन्ध में कहा है :—

---

[1] सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

श्रीमद्भगवद्गीता १८, १६

[2] प्रेमपत्तनम् , रसिकोत्तंस जी, काशी, पृ० ३२, ३३, ३४.

[3] भक्तकवि व्यास जी, पद सं० २३०

सेवा हू में दूरि करि विधि निषेध जंजार।
श्री स्वामी हरिदास जू गायौ नित्य-विहार ॥[1]

उनकी उपासना ऐकांतिक प्रेम की उपासना है। प्रेमी केवल उस धर्म को धर्म मानता है, जो उसके प्रेम के अनुकूल हो, शेष का वह निषेध करता चलता है। संसार के विधि-निषेध से परे इन रसिकों के जीवन के कुछ तथ्य ऐसे हैं, जिन पर रसोपासना की दृष्टि से प्रकाश डाले बिना इस प्रेम-पंथ की अनन्यता स्पष्ट नहीं हो सकती। हम आगे कुछ ऐसे ही विधि-निषेधों का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

प्रेमोपासना में समाज की जिन विधियों का स्वभावतः निषेध हो जाता है, उन्हें हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। ये हैं सामाजिक-धार्मिक और भक्ति सम्बन्धी। सामाजिक-धार्मिक वर्ग में साधारण धर्म और सामाजिक विषय एवं भक्ति में वैष्णव भक्ति-संबन्धी सिद्धांतों को लिया जा सकता है।

सामाजिक विधियों का निषेध

भारतीय समाज का मूल आधार वर्णाश्रम धर्म है। इसीसे लगा हुआ यह समाज इतने लम्बे समय तक जीवित रह सका। परन्तु इस व्यवस्था में अनेक दूषण भी उत्पन्न हुए और इसीलिये इसकी अनेक बार आलोचना भी हुई है। समाज के क्षेत्र में वर्णाश्रम धर्म का महत्त्व स्वीकृत हो भी सकता है परंतु भक्ति के क्षेत्र में इसका कोई महत्त्व नहीं है। भगवत रसिक कहते हैं, पशु-रूपी संसार धर्म की रज्जु से बंधा है। वर्णाश्रम धर्म और छः दर्शन भी उसे दूर नहीं कर सकते। सम्प्रदाय और पंथों का अभिमान भी व्यर्थ है। रज्जु में बंधा हुआ यह संसार-पशु प्रेम-रूपी मैदा-घृत को छोड़ खूंटे पर बंधा खल खाता रहता है। वास्तव में श्यामा-श्याम का नित्यविहार ही परम मधुर रस है।[2]

---

[1] भक्तकवि व्यासजी, पृ० २४९.

[2] पशु-रूपी संसार सब बंध्यौ धर्म-रजु माहिं।
वर्णाश्रम दर्शन छहू छूटि सकत कोउ नाहिं ॥
छूटि सकत कोउ नाहिं संप्रदा—पंथ गरूरे।
निज खूंटा खर खात तजत मैदा घृत बूरे ॥

जाति

वर्णाश्रम से उत्पन्न समस्या है जाति की। भक्ति-पंथ में जाति को स्थान कहीं भी नहीं दिया जा सकता। जाति के रहते भक्ति भाग जाती है।

बेटा-बेटी ब्याहियै तहां उघटियै जाति।
भेद भक्ति में जो करै, तहां भक्ति भजि जाति ॥[1]

धर्म के अभिमानी शूद्र अथवा चांडालों को बहुत नीच मानते हैं परंतु वृन्दावन के चांडाल और श्वपच की तो ये रसिक जूठन भी खाने को तैयार हैं। भक्तवर व्यासजी की कुछ साखियाँ इस सम्बन्ध में रसिकों की तीव्र भावना का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं:—

जातिहिं भक्तिहिं ना बनै ज्यों केरा ढिंग बेर।[2]
... ...

व्यास कुलीननि कोटि मिलि, पण्डित लाख पचीस ॥
स्वपच भक्त की पानहीं, तुलै न तिनके सीस ॥[3]
... ...

व्यास बड़ाई विप्र की, तामै लागै आग।
वृन्दावन के स्वपच की जूंठनि खैयै मांग ॥[4]
... ...

व्यास बड़ाई छांड़ि के, हरि चरनन चित जोरि।
एक भक्त रैदास पर, वारौ बाह्मन कोरि ॥[5]

विहारीदासजी कहते हैं, भक्त का गोत्र साक्षात् अच्युत अथवा हरि हैं, और उनकी जाति भक्त है।[6]

श्यामा-श्याम विहार नित्य माधुर्य परमु रस।
भगवत तिनहिंऽव देत ताड़ना देत जानि पसु ॥
अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, भगवत रसिक, पृ० ८८.

[1] श्रीविहारिनि दास जी की साखी। १९९

[2] श्रीभक्त कवि व्यास जी, साखी। सं० २०

[3] वही, सं० २३

[4] वही, सं० २५

[5] वही, सं० २८

[6] श्रीविहारिनिदास साखी सं० २००

वेदोक्त कर्मकाण्ड

कर्मकाण्ड जैसे साधारण आचारों की तुलना इन रसिकों ने 'पनहीं' से की है। इन आचारों में जो फंसा रहता है वह विशुद्ध प्रेमी नहीं हो सकता। इन आचारों की कठोरता को प्रेम सह ही नहीं सकता। वैदिक कर्म का प्रतीक है यज्ञोपवीत और भक्ति की प्रतीक है माला इन दोनों का साथ कैसे बन सकता है। कंठी और जनेऊ के साथ को नरहरिदासजी ने केर-बेर का साथ कहा है।[1]

व्यासजी भी कहते हैं :—

भक्ति में कहाँ जनेऊ जाति।
... ...
संध्यातर्पण गायत्री तजि, भजि, माला मन्त्र सजाति ॥[2]

पितरों का श्राद्ध-तर्पण, पिण्डदान भी वैदिक धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना जाता है। रसिकों का विश्वास है कि भक्त की अनेक पीढ़ियों का स्वतः ही उद्धार हो जाता है फिर अपने पूर्वजों को प्रेत मानना कदापि उचित नहीं है। पिण्डदान करने वाले भक्त कैसे अच्छे कहे जा सकते हैं :—

समिलित भक्त बुरे लगैं बित खरचत न खिसाहिं।
पिण्ड करहटा लै गयौ, खीरै कौआ खाहिं ॥[3]
... ...
जीवत सुत सेवै नहीं माल पिताहि लड़ाय।
पानी हू में दुष्टई अंगुठा मुये दिखाय ॥[4]
बिन अनन्य धन को कहै मुई न जननी जाय।
भक्त पिता कों प्रेत करि भांड़त मूण्ड मुँडाय ॥[5]

बिहारीदासजी को दुःख है कि संसार प्रेमी होने के स्थान पर श्राद्ध करने

---

[1] कंठी जनेऊ न बनैं केर बेर कौ संग। नरहरिदासजी

[2] भक्त कवि व्यास जी, पद सं० १०४ यही पद पाठ-भेद से बिहारिनदास की वाणी में है। सिद्धांत के पद सं० १११

[3] बिहारिनिदास साखी ३१६

[4] ३१७

[5] ३१८

वाला हो गया है।[1] इन रसिकों का विचार है कि विवाह, श्राद्ध आदि कर्मों में भी प्रेमी भक्त को भाग नहीं लेना चाहिये। इससे संसार के सम्बन्ध जुड़ते हैं और प्रेम-भजन में हानि होती है :—

ब्याह कनागत कारटौ, राजदान ग्रहदान।
भगवत जन इनकों गहैं, होइ भजन की हानि ॥[2]

वाक्य-ज्ञान अथवा पाण्डित्य

समाज में पाण्डित्य और गुणी होना सम्माननीय माना जाता है परंतु प्रेम-भजन में पाण्डित्य-जन्य अहंकार बाधक ही बनता है। प्रेम-भक्ति समर्पण का भाव चाहती है अतः भक्ति-विहीन विद्या प्रेम-पंथ में अभिशाप ही है। जो जितना पढ़ा है वह उतना ही बहका हुआ भी है—"बहुत पढ़े ते बहुत विगूचे"।[3] "पांडे पढ़ि पढ़ाय बकि बहके"।[4] चौदहों विद्या भक्ति बिना केवल नट-विद्या के समान ही हैं :—

जोतिप वैदिक व्याकरण साबर श्रोदय कोक।
सामुद्रिक पिंगल पढ़ै यश प्रताप तिहुं लोक ॥
यश प्रताप तिहुँ लोक योग नृप-नीति बखानौं।
गान्धर्वी पुनि शास्त्र पाक विधि शिल्प सुजानौ ॥
चौदह विद्या निपुण नारि नर नट के कौतिक।
भगवत रसिक विहार दिखावै सो बर जोतिक ॥[5]

कर्मठता

संसार के गति-चक्र का मूल केन्द्र उद्यम है। उद्यम से ही अर्थ प्राप्ति होती है। परन्तु सांसारिक उद्यम इन रसिकों का लक्ष्य नहीं है, वे इससे बहुत परे हैं। उदर-पूर्ति के लिये राख-लपेटे रोट अथवा मधुकरी ही इनको

---

[1] ह्वै गयौ सब संसार सराधी।
कहुं-कहुं विरले एक कोटि में, भगवत-भक्ति-सुधा जिनि साधी ॥
बिहारिनिदास के चौबोला ६४

[2] अनन्य निश्चयात्म, १३, पृ० ६.

[3] श्रीविहारिनदास, सिद्धान्त के पद ६५

[4] श्रीविहारिन दास, सिद्धान्त के पद ६३.

[5] अनन्यनिश्चयात्म २६, पृ० ८९.

प्रिय हैं। पैसा ही वास्तव में सब अनर्थों का मूल है, अतः इन रसिकों ने उसे स्वयं तो छोड़ा ही, दूसरों को भी उसके उपयुक्त उपभोग की शिक्षा दी है। अन्य उद्यम भी इन रस-लीन व्यक्तियों के लिये नहीं है :—

मेरैं उद्यम कौन करे।
जाको मन हर लियो विहारिनि, ताहि सबै बिसरै।
... ...
विधि-निषेध अरु कर्म धर्म कों फटकत पेह परै॥
श्रीबिहारीदास बिस्वास बढ़्यौ मन, निधरक बन विहरै।[1]

तीर्थ

शास्त्रों की धार्मिक मर्यादा-विधियों को समाज ने समग्र रूप में भी स्वीकार किया है और कुछ अंशों में सम्प्रदायों की विशेष पद्धतियाँ भी समाज को मान्य होती हैं। सामाजिक धर्म का मूल रूप इस सामूहिक भावना की ही प्रतीक हैं। बाह्य पूजा में हिन्दू-समाज ने तीर्थ-यात्रा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। साधारण धार्मिक व्यक्ति को तीर्थ में जाकर शान्ति मिलती है। परन्तु जो प्रेम के साधक हैं और जिन्होंने अपने हृदय को एक विशेष रस-धाम वृन्दावन में केन्द्रित कर लिया है, उन्हें तीर्थों से कोई प्रयोजन नहीं है। उन्हें तीर्थों द्वारा प्राप्त होने वाले प्रथम स्फुरण की आवश्यकता नहीं होती इसीलिये रस-भजन के लिए वृन्दावन को ही एक मात्र धाम माना गया है। अन्य तीर्थों का बहिष्कार ही किया गया है। यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि निर्गुणी सन्तों ने तीर्थों का बहिष्कार उन्हें पूर्णतया व्यर्थ और पाषण्ड का अंग मानने के कारण किया है। उनका दृष्टिकोण निषेधात्मक है परन्तु सखीभावियों द्वारा तीर्थ-यात्रा को निषेध प्रेम की तीव्रता के कारण स्वयं हो जाता है। उसमें विधि की भावना अधिक है। बिहारीदास जी ने कहा है, करोड़ों तप-तीर्थ बिना भजन के व्यर्थ ही हैं।[2]

ईश-प्राप्ति के अन्य साधन

लक्ष्य के अनुसार साधना होती है। समाज के अधिकांश लोग भोग के लिये देवताओं की आराधना करते हैं, एवं विभिन्न प्रकार के तप, व्रत,

---

[1] श्रीविहारिन दास, सिद्धांत के पद १२३.

[2] श्रीविहारिनि दास सिद्धान्त के पद ६२.

संयम, नियम, यज्ञ, योग आदि की साधना में रत रहते हैं। ऐसे ही साधन मुमुक्षु लोग अपनी दृष्टि से करते हैं। प्रेम के क्षेत्र में मध्य के ये साधन किसी काम नहीं आते। पद्म पुराण में कहा गया है जब तक भुक्ति और मुक्ति की पिशाची कामना हृदय में शेष है तब तक प्रेम-सुख का उदय नहीं हो सकता :—

> भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
> तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥[1]

ध्रुवदासजी ने भी कहा है—'श्रीजी की टहल कोटि कोटि आचार, साधन, को स्वरूप हैं, वहुत आचार किये तें हियो अति कठोर होइ जाय है। यह भजन अति कोमल है। कोमल कठोर एक संग न बने······कोटि-कोटि आचार उनके एक निमेष के रस भजन के ऊपर वारि डारिये।'[2] प्रेम भरे हृदय में प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी साधन को स्थान ही नहीं है।

शालिग्राम-पूजा

शालिग्राम-पूजा वैष्णवों में सर्वत्र प्रचलित है परन्तु इन रसिक-भक्तों ने उसका निषेध इसलिये किया है कि उसमें इनके इष्ट के मधुर दर्शन नहीं होते।[3]

एकादशी-व्रत

एकादशी-व्रत भी वैष्णव-सम्प्रदायों में प्रचलित है। परंतु इन सखीभावी प्रेमी उपासकों ने यह ठीक नहीं समझा कि भगवान् का महाप्रसाद लेने से किसी प्रकार के व्रत में बाधा हो सकती है। उनके अनुसार करोडों व्रत करने वालों को भी महाप्रसाद दुर्लभ है अतः उसके प्राप्त होने पर ये किसी एकादशी आदि व्रत की चिन्ता नहीं करते। विहारिनि दासजी तो कहते हैं, "प्रेमी की अनन्य भजन की, इष्ट के व्रत की एक दशा ही सर्वदा एकादशी है"।[4] तात्पर्य यह

---

[1] पद्म पुराण, पाताल खण्ड ७७। ६३.

[2] सिद्धान्त विचार लीला, पृ० ५८

[3] देखिये, हित हरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य।
पृ० २८८, २८९.

[4] एक दसा एकादसी एक इष्ट व्रत एक।
श्रीविहारीदास हरिदास कैं भजन अनन्य विवेक।
श्रीविहारिनदासजी की साखी। ६४१

है कि निश्चित साधनों के अनिवार्य पालन को इन रसिकों ने रूढ़ि माना है और उन्हें भाव-क्षेत्र की तीव्रता को कम करने वाला ठहराया है। शास्त्रीय विधि-निषेधों से प्रेम-भक्ति का पोषण नहीं होता, अपितु उसमें अन्तराय पड़ता है।[1]

भाव के उदय होने पर लोक-वेद की चिन्ता ही नहीं रहती। जगत् और प्रेम-जगत् इन दोनों में धरती-आकाश का अन्तर है। ये प्रेमी रसिक विधि-निषेध की भूमि को छोड़ कर प्रेम-नभ-देश में मँढ जाते हैं।

सेवी नित्यविहार के, रसिक अनन्य नरेश।
विधि-निषेध छिति छांडि कै, मढ़े प्रेम-नभ-देश॥
मढ़े प्रेम-नभ-देश, दिवाकर रूप विराजै।
परस न पावै कोइ दरस कर कर्मठ लाजै॥
भगवत कोक विशोक कमल फूले रस सेवी।
तस्कर लुके उलूक मन्दमति विषयिन सेवी॥[2]

प्रेमाभक्ति

प्रेम अपने स्वभाव के कारण ही शास्त्रोक्त विधि-निषेध को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार निषेध का रूप पीछे दिखाया जा चुका है। विधि के सामान्य आचार प्रेम के इस रूप के प्रतिकूल ही पड़ते हैं परन्तु यह कहना कठिन है कि प्रेम की अनुकूल विधि क्या है? इस प्रेम के कोई बीज अथवा जड़ तो होते नहीं, वह तो स्वाभाविक रीति से कहीं भी उग आता है। चोरी अथवा संचित धन से, किसी दाव या उपाय से प्रेम को पाया नहीं जा सकता। फिर नित्यविहार का यह प्रेम शंकर के तृतीय नेत्र के समान है जो जाति, वर्ण, कुल, धर्म इनका भी बीज नहीं रहने देता:—

बीजा जर नहिं प्रेम के, उपजे सहज सुभाव।
चोरी जोरी दर्ब सौं, मिले न दाँव उपाय॥

---

[1] विधि निषेध सों को पचि मरै।
प्रेम धर्म में अन्तर परै।
मन वच क्रम जो उपजै भाई।
तौ लोक वेद सब बिसरि जाई।
श्रीविहारिनदास जी, सिद्धांत के पद ६

[2] अनन्य निश्चयात्म। २. पृ० ५६.

मिले न दाँव उपाय, रूप, गुण, यश, प्रताप, बल।
भक्ति ज्ञान वैराग्य सीप ज्यों परै स्वाति जल॥
भगवत नित्य-विहार नैन शंकर का तीजा।
जाति, वर्ण, कुल, धर्म, कर्म राखत नहीं बीजा॥[1]

भगवतरसिकजी की उपर्युक्त कुण्डली में जहाँ प्रेम का सहज स्वभाव बताया गया है, वहाँ जाति, वर्ण आदि के निषेध के साथ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य को उसका साधक माना है। परन्तु ये भी प्रेम के स्वभावानुसार अचूक साधन नहीं हैं। सीपें तो बहुत सी होती हैं परन्तु स्वाति-बूंद का जल प्रत्येक को नहीं मिल पाता। जहाँ मिल जाय, वहीं मोती बन जाता है। इसी प्रकार भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की साधना तो अनेक करते हैं, परन्तु उसमें प्रेम का अंकुर उग ही आयेगा, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वह तो स्वाति-बूंद अर्थात् श्रीराधा की कृपा पर ही अवलम्बित है। यदि भक्ति-भाव भरी हृदय-सीप को कृपा-स्वाति-बिन्दु प्राप्त हो जाय तभी उस परम प्रेम-मोती की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। जीव को ज्ञान, वैराग्यपूर्ण भक्ति के लिये प्रयत्न करना और कृपा की कामना करनी चाहिये। इसी आधार पर प्रेमोपासना की सामान्य विधि की चर्चा की जा सकती है, उसका अपना कोई निश्चित सीमा बद्ध रूप तो हो ही नहीं सकता।

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य

सखीभाव के रसिकों की प्रेमोपासना की प्रारम्भिक रेखा निश्चित नहीं है। इतना अवश्य है कि जीव का संसार के प्रति जो मोह अथवा विषय-वासना है, वह नष्ट होना चाहिये।[2] जगत् से मन को समेट लेना ही वैराग्य है। वैराग्य का आधार ज्ञान है। जगत् से स्वाभाविक जैसे लगने वाले सम्बन्धों को छोड़ने के लिये अनुकूल ज्ञान होना चाहिये। यह ज्ञान भक्ति का आधार है।[3] परन्तु यह चक्र ऐसा है कि इनमें से कौन पहिले होता है, कौन बाद में, कहा नहीं जा सकता। यों तो भगवत्-प्रेरणा से प्रेम-भक्ति की

---

[1] अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवतरसिक जी, पृ० ८०।

[2] काम-कामना आसना मन ते करि सब दूरि।
मन शिक्षा लीला, ध्रुवदास जी, बयालीस लीला, पृ० ९

[3] वैद्यक ज्ञान लीला, ध्रुवदास जी, बयालीस लीला, पृ० ७

यात्रा कहीं से भी आरम्भ हो जाती है परन्तु सन्तों की संगति जीव को भगवत्प्रेम के मार्ग पर अग्रसर करने में बहुत सहायक होती है।[1] प्रारम्भ से लेकर जीवन के अन्तिम समय तक रसिकों की संगति ही उपासना का एकमात्र संबल है।

ज्ञान

सखीभाव के रसिक भक्तों के अनुसार मनुष्य संसार के सुख और दुःखों को भोगता हुआ इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह संसार परिणामतः दुःखपूर्ण है। विषय के सुख ऐसे हैं जैसे घाव को नख से खुजाने के समय प्राप्त होने वाला आराम है। परन्तु बाद में वह घाव पक जाता है और उसका विष भी फैलता है :—

> बिहारीदास सुख विषय कौ, ज्यों नख नैक खुजाय।
> विप फैले सब अंग में पाछें पके पिराय ॥[2]

सन्तों की सहायता अथवा वाणी-ग्रंथों के अनुशीलन से संसार का स्वरूप समझ में आता है और साधक क्रमशः इन सांसारिक प्रपञ्चों को निस्सार समझ बैठता है।

वैराग्य

सांसारिक विपयों को निस्सार समझने की भावना जगत् के प्रति वैराग्य उत्पन्न करती है। यों तो जीवन में अनेक बार दुर्घटनाओं को देख कर वैराग्य उत्पन्न हो जाया करता है परन्तु ज्ञान के आधार पर हुआ वैराग्य टिकता है। मनुष्य विरक्त होकर ही स्थिर नहीं रह सकता, उसको कुछ और भी कार्यक्रम चाहिये। ज्ञान उसको पुनः सहायता देता है और वह साधक को भक्ति के क्षेत्र में प्रविष्ट करता है।

भक्ति का आरम्भ : गुरु

अन्य अनेक साधना-संप्रदायों की भाँति यहाँ भी साधना के लिये गुरु की आवश्यकता होती है। जिज्ञासु व्यक्ति योग्य गुरु की खोज में निरन्तर घूमता है। 'निगुरा' किसी साधना में सफल नहीं हो सकता और गुरु ऐसा मिलना चाहिये जो पार लगा सके। ऐसा न हो कि कोई कपटी, बटमार गुरु

---

[1] भजन सत लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास जी, पृ० ७४.

[2] श्रीबिहारिनदास की साखी, ६४

मिल जाय। पैसों के भूखे गुरु को पहचान कर उससे दूर रहना चाहिये, ऐसे लोभी, दरिद्र गुरुओं के साथ साधना कैसे चल सकती है :—

पैसन के भूखे फिरैं, परमारथ के दानि।
बिहारीदास धन धर्म बिन, ते गुरु दालिद्री जानि ॥[1]

भक्ति-साहित्य में गुरु की महत्ता अपरिमेय है और गुरु का अनन्त गुण-कथन किया गया है। साथ ही दुष्ट, लोभी, लालची गुरुओं से बचने के लिये साधक को पग-पग पर सावधान किया गया है। जिसका मन संसार के विषयों से पूर्णतया विमुख है, जिसके हृदय में श्यामा-श्याम के प्रेम का अविचल राज्य है, ऐसे ही सिद्ध पुरुषों को गुरु बनाना चाहिये। गुरु का अनुभवी होना आवश्यक है। जिसने अपने नेत्रों से वस्तु के दर्शन किये हैं, ऐसे गुरु के पग भी धो कर पीने चाहिये, अन्यथा सुनी-सुनी कहने वाले तो बहुत से मिल जाते हैं :—

सुनी-सुनी सब कोउ कहै, देखी कहै न कोय।
देखी कह भगवत रसिक, ताके पग पिय धोय ॥[2]

निस्सन्देह सच्चा गुरु भाग्य से मिलता है। साधक के जीवन में वह दिन बड़े महत्त्व का होता है जब वह सद्गुरु की शरण में जाता है। वहाँ उसका नवीन जन्म होता है। गुरु को गोविंद के समान ही माना गया है—गुरु गोविन्द एक समान।[3] बिहारीदास जी कहते हैं :—

ज्यों गुरु त्यों गोविन्द, बिनु गुरु गोविन्द किन लह्यो।
ज्यों मावस्या इन्दु, निगुरौ पंथ न पावई ॥[4]

साधना-पंथ में गुरु ही शिष्य का मार्ग-दर्शन करता है। वह निस्पृही और उपकारी होता है। शिष्य को गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धालु होना चाहिये। दोनों का सम्बन्ध ऐसा होता है जैसे गाय और बछड़े का। इधर बछड़ा रंभाता है, उधर गाय के थनों से दूध चूने लगता है, यही गुरु-शिष्य का आदर्श सम्बन्ध है।

---

[1] श्रीबिहारिनदास की साखी १०.

[2] अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, श्रीभगवत रसिक, पृ० २७।

[3] भक्त-कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, मथुरा। पद सं० ३

[4] श्रीबिहारिन दासजी, साखी २

निस्नेही उपकारि गुरु शिष्य शुद्ध श्रद्धाल ।
राँभत ही थन च्वै चलै, ज्यौं, गौ-बच्छा प्रतिपाल ॥[1]

स्वामीहरिदास के विशुद्ध नित्य-विहार की प्राप्ति के लिये किसी मर्मी हरिदास-वंशी को ही गुरु बनाना चाहिये। जब गुरु शिष्य को प्रेम-पंथ पर चलने योग्य समझता है तब उसे नाम-मन्त्र सुनाता है। शिष्य को उपासना की पद्धति बताता है। वास्तव में उपासना की विधि यहीं से प्रारंभ होती है। यह शिष्य का नवीन जन्म होता है। उसके अपने पूर्व जन्म के सब सम्बन्ध समाप्त होकर भगवत्-सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। अपने पूर्व नाम को छोड़कर वह गुरु-प्रदत्त नाम को स्वीकार करता है, और गुरु के बताये मार्ग पर ही चलता है।

इस प्रेमोपासना में कृत्रिमता के लिये तनिक भी स्थान नहीं है। इन रसिक भक्तों की धारणा है कि ऐसे व्यक्ति जो योग्य न होकर भी साधु वेष-धारण कर लेते हैं वे तो हरि का उर सालने वाले हैं। भगवतरसिकजी ने स्पष्ट कहा है—"वेषधारी हरि के उर सालै"।[2] ऊपर से साधु दीखने वाले तो अपने आप अन्तर की आग में झुलस कर मर जायगें।[3] साधक को पूर्ण वैराग्य होना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि वह गृहस्थ भी छोड़ दे। वृन्दावन के रसिकों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो गृही होते हुए भी श्यामा-श्याम के लीला रस का पान कर सके थे। श्रीहित-हरिवंश जी और हरिराम व्यास आदि सहस्रों रसिक इसके प्रमाण हैं। रसिकों ने 'हृदय' को ही प्रधान माना है, वही वैराग्यपूर्ण होना चाहिये, कोरे वेष-धारण से कुछ नहीं होता। फिर भी स्वामी हरिदासजी की शिष्य-परम्परा में जो साधु जन हुए हैं, उनके लिये कुछ विशेष प्रकार के कोपीन गुदड़ी, अपरिग्रह के नियम इस सम्प्रदाय में प्रचलित हैं।

गुरु-प्रदत्त वेष-भूषा

साधु रसिक जनों की वेष-भूषा अत्यन्त साधारण है। दो कोपीन और

---

[1] श्रीविहारिनदासजी की साखी। ११.

[2] अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवत रसिक जी, पृ० २

[3] ऊपर-ऊपर साधु से भीतर भरी भंगार।
आपुन ही जरि जरि बुझै जैसे अवा अंगार।
श्रीविहारिनदासजी की साखी २८२

शरीर पर गूदड़ी यही इन साधुओं का पूरा वेष है। गूदड़ी पर विशेष प्रकार की बून्दें छपी रहती हैं। इतना ही इनके निर्वाह के लिये पर्याप्त है।[1] फटी हुई गूदड़ी ही रसिक का धन है।

उसे किसी से उधार मांगने की आवश्यकता नहीं। वही उसका परमार्थ है।[2]

करुवा

वस्त्र के रूप में जहाँ केवल गूदड़ी ही इन साधुओं का श्रृंगार है, वहाँ पात्रों में केवल वृन्दावन-रज का बना करुवा ही उनका एक मात्र पात्र है। यह करुवा-पात्र संसार को देखने में कड़ुवा लगता होगा परन्तु रसिकों को यह मीठा ही लगता है।[3] इस करुवे का पवित्र जल अपरिग्रह का प्रतीक है। उसके जल के पीने से हृदय में पवित्रता उत्पन्न होती है और श्यामा-श्याम का दिव्य अनुभव होता है, ऐसा भगवतरसिक कहते हैं।[4]

रज

वृन्दावन की पवित्र रज को ये रसिक अपने शरीर पर धारण करते हैं। श्यामा-श्याम के चरणों से पवित्र इस रज का सेवन इस सम्प्रदाय में सभी के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

[1] दो कोपीन, गूदडी, करुवो, विहारीदास इतनेई में सरुवौ।
स्याम सुजस रस गावत गरुवौ, लागत जगत तृन हू ते हरुवौ।
श्रीविहारिनदास साखी ४७

[2] गुदरी मेरी नित नई फाटि गई चौतार।
यहि परमारथ पाइयै, वे काढ़त मरै उधार।
श्रीविहारिनदासजी, साखी ४३

[3] करुवौ लागौ जगत् कों, मीठौ लागौ मोहि।
विहारीदास हरिदास वल, कर गहि गावौं तोहि॥
श्रीविहारिनदास साखी ४८३

[4] परम पावन करुआ कौ पानी।
जाके पियत हृदय में आवत मोहन राधा रानी।
अनुभव प्रकट होत क्रीड़ा को मोद विनोद कहानी॥
भगवत रसिक, निकुञ्ज महल की टहल मिलै मनमानी।
अनन्य निश्चयातम ग्रन्थ १०, पृ० ५

कूवरी-मधुकरी

ये साधुजन वृन्दावन की लताओं से स्वयं टूटी हुई एक टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी भी अपने पास रखते हैं। यही इनका सहारा है। जीवन की आवश्यकताओं को अत्यन्त न्यून कर भाव के क्षेत्र में सखी-भाव का साधक आगे बढ़ता है। शरीर के पोषण के लिये वह मधुकरी मांग कर पेट भरता है। व्रजवासियों के घर से जो टुकड़ा इनको प्राप्त हो जाता है, उसी में ये साधक संतोष करते हैं। प्राण धारण मात्र के लिये ही ये सन्त मधुकरी करते हैं। यहाँ हम याद दिलाना चाहते हैं कि सखीभाव के उपासकों को जो लोग स्त्री—वेश धारण करने वाला मानते हैं, उनकी धारणा पूर्णतया निर्मूल है।

आचार्य

वैष्णव धर्म में गुरु-गोविंद में अभेद स्वीकृत किया गया है। गुरु से भी अधिक महत्त्व है परम गुरु का। प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रारंभिक आचार्य ही परम गुरु होते हैं। उपासना में परम गुरु के व्यक्ति-रूप के अतिरिक्त उनके दिव्य रूप की उपासना होती है और वे इष्ट-उपासना के एक महत्वपूर्ण अङ्ग माने जाते हैं। आचार्य तत्त्व अथवा परम गुरु तत्त्व प्रथमतः विचारणीय है।

सखी-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक स्वामी हरिदास इस सम्प्रदाय में आचार्य अथवा परम गुरु माने जाते हैं। श्रीविहारिनदास कहते हैं—'आशुधीर के (पुत्र) श्रीहरिदास ही गुरुओं के गुरु हैं। जिन-जिन के मन में सन्देह और भ्रम-निघात ने डेरा डाल रखा था उन सभी को अपना जान कर उन्होंने सन्मुख आते ही अभय-दान दे दिया। अनेक कवि और महंत साधक सिद्धांतों का कथन करते हैं परन्तु एकान्त रस को नीर-क्षीर के समान अलग कर लेना हंस का ही काम है। पर पीर में अत्यन्त उपकारी और विशुद्ध नित्यविहार की रस-रीति के सिंगार स्वामी हरिदासजी ही हैं'।[1]

---

[1] गुरुनि कौ गुरु श्री हरिदास आसधीर कौ।
सनमुख भयै अभै कीनैं निज जन जानि
जिन-जिन के मन सन्देह भ्रम भीर कौ।
साधक सिद्धान्त सब कहत कवि महंत,
भजन एकान्त रस हंस नीर छीर कौ।
निपट नित्य विहार रस रीति कौ
सिंगार ऐसौ को उदार उपगारी पर पीर कौ।

श्रीहरिदासजी ने ही रस-रीति का प्रचार किया। कर्म, ज्ञान, भक्ति और व्रज-वैभव-रूपी छिलकों को छोड़ उन्होंने नित्यविहार का मधुर रस ग्रहण किया।[1] उनकी समानता करने वाला कोई नहीं। उनका पथ सभी से बांका है।[2] उन्होंने जो कहा है, वह और कोई न कह सका, न प्राप्त कर सका।[3] रसिक सिरमौर स्वामी हरिदास जी नित्यविहार में नित्य आनन्द-स्वरूपिणी श्रीललिता सखी के अवतार हैं। वे आचार्य-मणि, रसिक-मणि, सिद्धों के सिरताज होकर केलि का स्वरूप दर्शाने के हेतु ही प्रकटे हैं।[4] विहारिनदासजी भी कहते हैं—'प्रभो आप अपने ललिता रूप को पलट कर पृथ्वी पर प्रकटे हैं, आपकी कृपा से मैंने यह बात पहिचान ली है।'[5]

स्वामी हरिदासजी का नित्य रूप ललिता-रूप है। पीछे संकेत किया जा चुका है कि नित्यविहार की समस्त रस-रीति की एकमात्र अधिकारिणी सखी-जन हैं और उन सबमें प्रधान सखी हैं ललिता जी। ललिता जी विशुद्ध प्रेम की मूर्ति हैं। वे प्रिया-प्रियतम की लीलाओं की प्रसारिणी हैं। उनके प्रेम-रूप में और निकुंज-विहारी प्रेम-रूप में कोई अन्तर नहीं है। एक ही अनुमप रूप एक ही रस और वयस में सीमित है। जैसे वे एक प्राण हैं, वैसा ही उनका सखी-वपु है, उनके दृगों में नित्य श्यामा-श्याम खेलते रहते हैं। समस्त भ्रमों

रसिक अनन्यनि भावै श्रीमुख सांवरौ गावै,
गुरुनि को गुरु हरिदास अंासधीर कौ।
सवैया, कवित्त, कुण्डलियाँ, सं० १. विहारिनदास पृ० ५७
[1] ... ... सं० २२ ... ...पृ० ५९

[2] गोविन्द स्वामी द्वारा स्वामीजी का स्तुति-पद।
रसिक अनन्य कौ पथ वांकौ। इत्यादि

[3] सवैया कवित्त आदि सं० १७, पृ० ५९.

[4] ललितकिशोरीदास जी सा० सं० १९. महिमामृत।
आचारज मनि रसिक मनि, सिद्धनि मनि सिरताज।
ललित प्रिये प्रकटी सहज, अदभुत केलि के काज।

[5] श्रीहरिदास रसिक अनन्य विनु का पै परत विहार वखान्यौ।
ललिता रूप पलटि प्रगटे श्रीविहारिनिदास कृपा पहिचान्यौ।
सवैया आदि सं० २२ पृ० ५९

को दूर कर उन्होंने ही स्वामिनी और श्याम का भजन किया है। विहारिनदास उनमें और उपास्य-स्वरूप श्यामा-श्याम में पूर्णतया अभेद मानते हैं।[1]

हरिदास और हरि में अन्तर नहीं है। हरिदास के बिना हरि की प्राप्ति असंभव है। हरिदास ही विशुद्ध प्रेम-तत्त्व है। वह प्रेम ही लाल-ललना के रूप में नित्य क्रीड़ा कर रहा है। बिना प्रेम के इस स्वरूप की कृपा प्राप्त किये कोई हरि का ध्यान करना चाहे तो वह असम्भव है। हरिदास के बिना हरि कुछ है ही नहीं। विहारिनदास गरज कर यही कहते हैं :—

श्रीहरिदास बिना हरि को है, कहां कौ ?[2]

स्वामी हरिदास जी धनी हैं और उनके धन हैं प्रिया और लाल। धनी के बिना धन के दर्शन भी नहीं होते। धनी की कृपा हो तो वह कभी अपने गुप्त धन को किसी विश्वासी को दिखा सकता है। उस रहस्य को तो कुञ्जी मिलने पर ही जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं।[3]

श्रीहरिदास के नाम का भी सखी-भावोपासकों में बड़ा महत्त्व है। यह नाम सब वेदों का सार है। ये चार अक्षर ही प्रेम का सार हैं। अतः इनको सदैव स्मरण करना चाहिये।[4]

---

[1] श्रीहरिदास किधौं हरि आपु विहारी।
एक ही रूप अनूप विराजत, एक ही ये रस वैस तिहारी।
एक ही प्रान समान सखी वपु, खेलत द्वै द्रग दृष्टि निहारी।
स्वामिनी स्याम अनन्य भजै भ्रम दूर कियौ, तिन की बलिहारी।
श्रीविहारिनदास के भेद नहीं हरिदास किधौं हरि आपु विहारी।
श्रीविहारिनदास सवैया कवित्त आदि। सं० ८, पृ० ५८।

[2] सवैया कवित्त आदि सं० ८, विहारिनदास पृ० ५७

[3] ललितकिशोरी साखी ९६, पृ० २०८,
प्रिया लाल धन है सही, धनी सही हरिदास।
महा लाड़ अति चाव सों बिलसत केलि विलास।
कूंजी नित्यविहार की श्रीहरिदासी हाथ।
सेवत साधक सिद्ध सब, जाचत नावत माथ।
श्रीविहारिनदास साखी ३१ महिमामृत

[4] सब वेदन को सार सुनि, सब अछिर को सार।
चार्‌यौ आछर सार ए, हरिदास नाम उर धार॥
श्री ललितकिशोरी जी साखी ३७, महिमामृत।

श्रीहरिदास-नाम का जप नित्यविहारी के नाम-जप के साथ किया जाता है। हरिदास नाम की यह साधना शीघ्र ही नामी को प्रकट करती है और नित्यविहार के दर्शन सुलभ हो जाते हैं। इस हरिदास नाम का नित्य जप नासा में श्वास रहते तक करना चाहिये। बिहारिनदासजी ने इस नाम-जप के एक बहुत बड़े पद में श्रीहरिदास तत्व को ही जीवन के समस्त व्यवहारों का केन्द्र और स्वरूप माना है, उसका थोड़ा अंश इस प्रकार है।[1]

श्रीभगवत रसिकजी ने रति काम रूपी गुरु के जो पाँच रूप बताये हैं उनमें आचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु-वंदना में उन्होंने स्पष्ट ही कहा है :—

अपने पाँच रूप दरसाये सुख उपजाइ नवीनो।
व्यापक, पूज्य, सखी, आचारज, अति ऐश्वर्य प्रवीनो ॥[2]

और आगे भी उन्होंने अन्य चारों रूपों के साथ आचार्य का महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है।

आचारज भगवत रसिक कहै गूढ़ गुणधाम के।
विश्व विदित आनन्द में पाँच रूप रतिकाम के ॥[3]

---

[1] जिते श्वास नासा चलै, तितै जपै हरिदास।
तन मन प्राननि यों मिलैं, ज्यौ फूलनि में बास।
श्रीहरिदास गाऊँ, श्रीहरिदास गाऊँ।
श्रीहरिदास गाय-गाय विपुल प्रेम पाऊँ।
श्रीहरिदास नाम गुन रूप तन राऊँ।
श्रीहरिदास प्राननि को प्रान जिबाऊँ।
श्रीहरिदास लेना, श्रीहरिदास देना।
श्रीहरिदास भजै भैया कछु भै ना।
श्रीहरिदास द्यौसौ श्रीहरिदास रात्यौ।
श्रीहरिदास व्यौहार श्रीहरिदास बातौ।
श्रीहरिदास बल बुधि कुल जात पांती।
श्रीहरिदास भैंटत सीतल भई छाती।
... ... इत्यादि।

श्रीबिहारिनदास ३९, पृ० ८४

[2] अनन्य निश्चयात्म भगवतरसिक पृ० ६७

[3] वही, पृ० ८०

सम्प्रदाय की उपासना में आचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्प्रदाय का वास्तविक रूप बनता भी वहीं से है। भगवत रसिकजी ने प्रेम-देवता 'रसिकाचारज' को अपने सम्प्रदाय के स्वरूप में इसीलिये सर्व-प्रथम और अन्त में रखा है :—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किसोर उपासना, जुगल मंत्र कौ जाप॥
जुगल मंत्र कौ जाप, वेद रसिकनि की वाणी।
श्री वृन्दावन धाम इष्ट श्यामा महारानी॥
प्रेम-देवता मिले बिना सिधि होय न कारज।
भगवत सब सुख-दानि प्रगट भये रसिकाचारज॥[1]

चर्या

किन्हीं सिद्ध हरिदास-वंशज से दीक्षा ग्रहण कर 'रसिक' छाप धारण कर उपासक उपासना में प्रवृत्त होता है। दीक्षा के समय ही वह गुरु के प्रति अपना सर्वस्वार्पण करता है। विषयों के प्रति अपने मोह को पूर्णतया खींचकर श्रीश्यामाश्याम के चरणों में लगाता है। उसका अपना प्रेम का नवीन जगत् होता है, जिसमें वह आनन्द पूर्वक जीता है और क्रमशः इस आनन्द के विशुद्धतम स्वरूप का अनुभव करता चलता है।

सर्व-प्रथम रसिक को उपासना के अनुकूल अपनी दिनचर्या की रचना करनी होती है। प्रेम-जगत् का जो निर्माण उपासक करता है वह भाव-क्षेत्र की ही वस्तु न होकर प्रकट क्षेत्र की भी वस्तु होती है। इसके लिये कुछ विशिष्ट ऐसे नियम हैं, जो उपासना की अवस्था में उपासक स्वाभाविक रीति से पालन करता है। भावातिरेक में तो सभी चर्याओं का अतिक्रमण हो जाता है, यह दूसरी बात है परन्तु प्रारम्भ में वह उपासना के अनुकूल ही आचरण करता रहता है।

वृन्दावन-वास

सखीभाव के उपासकों ने वृन्दावन को नित्य स्वरूप में ही जाना है। उनके यहां नित्य वृन्दावन में और प्रकट वृन्दावन में भेद नहीं है। सखी-भाव की प्राप्ति के लिये वृन्दावन-निवास को अनिवार्य माना है। यहां की भूमि में वह शक्ति है जो नित्य विहार को प्रत्यक्ष करा देती है। वृन्दावन का वृक्ष-वृक्ष

---

[1] अनन्य निश्चयात्म १, पृ० ४३, ४४

प्रिया-प्रियतम की राजधानी है।[1] रसिकों की भी इसीलिए यही राजधानी है। वृन्दावन बड़े भाग्यों से मिलता है "भाग बड़े वृन्दावन पायौ"।[2] वृन्दावन का निवास सर्व-श्रेष्ठ है। यहां श्रीविहारीजी का दर्शन है, जिससे मन का अनुराग क्षण-क्षण बढ़ता जाता है। नयन, श्रवण और रसना प्यारी-पिय के आनन्द को प्रतिक्षण पान करते रहते हैं।

क्षण भर के लिये भी वृन्दावन से बिछुड़ना नहीं चाहिए।[3] वृन्दावन में एक बार जब मन अटक जाता है, तब इधर-उधर नहीं भटकता।[4] विश्व के समस्त विलास, उपहास, त्रास किञ्चिन्मात्र भी उपासक को नहीं डिगा पाते। हृदय में आनन्द उत्पन्न हो जाता है, सुफल प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम-प्रसाद प्राप्त होने पर उपासक का महल में प्रवेश होता है और रसिक दम्पति के विहार के मधुर रस का निरन्तर पान करता रहता है। भक्तवर व्यास जी ने लिखा है कि भले ही कन्या को हाट में बिठाना पड़े परन्तु रहना वृन्दावन में ही चाहिये।[5] इसका कारण यही है कि यहाँ ध्यान के लिये आँखें मूंदे बिना

---

[1] श्रीविहारिनदास सिद्धान्त के पद २२, पृ० ८०

[2] श्रीरसिकदास की वाणी, सिद्धान्त के पद १, पृ० १९९

[3] वसिवौ वृंदावन कौ नीकौ।
छिन छिन प्रति अनुराग बढ़तु दिन दरस विहारीजी कौ।
नैन श्रवण रसना रस अँचवत अंग-संग प्यारी-पी कौ॥
श्रीविहारी विहारनिदासी अंग-संग बिछुरन नाहिं रती कौ।
श्रीविहारिनदास रस के पद १७८, १५२

[4] मेरौ मन श्रीवृंदावन अटक्यौ।
राख्यौ श्रीहरिदास महाबल, भूलि न इत उत भटक्यौ।
विसरै विस्व विलास त्रास उपहास न नैकुं न मटक्यौं॥
उपज्यौ अति आनंद, हिये सुख सुफल प्रेम लै लटक्यो।
दीयौ प्रसाद प्रतीति प्रीति कै, महल कुमहलन हटक्यौ॥
श्रीविहारीदास दंपति सुख चैननि नैन मधुर रस गटक्यौ।
श्रीविहारिनदास रस के पद सं०१६०, १०५ पृ०

[5] कनक रतन भूषण वसन मिथ्या अनत विलास।
बेटी हाट सिंगार कें वसि वृंदावन व्यास॥
भक्त कवि व्यास जी, साखी ८०, पृ० ४१३

अंग-न्यास किये बिना, केवल नाच-गा कर ही रास में प्रिया-प्रिय से मिलन हो जाता है।[1]

वृन्दावन की नव निकुंजों में ही अपरिग्रही नित्य निवास करता है। यदि निधिवन का वास मिले तो उससे बड़ा और सौभाग्य ही क्या है?

यमुना-स्नान

वृन्दावन के स्वरूप के साथ ही सर्वत्र कुण्डलाकार यमुना का स्वरूप भी जुड़ा हुआ है। श्रीयमुना का तो नाम ही पावन है। जो 'यमुना-यमुना' कहता है, वह महाप्रेम-सुख-पुञ्ज को प्राप्त करता है।[2]

ऐसी पावन श्रृङ्गार रस की सरिता के स्नान का तो फल ही अपूर्व है। उसके दिव्य नीर में प्रिया-प्रियतम की केलि दर्शन कराने की सामर्थ्य असीम है।

दर्शन

श्रीधाम वृन्दावन में स्वामी हरिदास जी के समक्ष स्वतः प्रकट नित्य विहारी का श्रीविग्रह वृन्दावन में विराजमान है। सभी भक्तों को उनकी सेवा की आज्ञा तो नहीं है परन्तु दर्शन की आज्ञा है। ये नित्यविहारी, बाँकेविहारी अथवा विहारी जी के नाम से जाने जाते हैं, उनका दर्शन प्रत्येक रसिक को करना चाहिये।[3]

प्रसाद-ग्रहण

प्रसाद की महिमा अकथनीय है। प्रसाद में किसी प्रकार का बंधन मानना रसिक-वृत्ति के विरुद्ध है, नहाये या बिना नहाये भी प्रसाद को तत्काल

---

[1] नैन न मूदैं ध्यान कों, किये न अंगन्यास।
नाच गाइ रासहिं मिलें, बसि वृन्दावन व्यास।

भक्तकवि व्यासजी, साखी ८४।

[2] श्री जमुना जमुना जो कहैं। महा प्रेम सुखपुंजै लहैं॥
छिन छिन आनन केलि चहैं। ललित प्रिये अंग संग नित रहैं॥

ललितकिशोरी, चौपाई ३९।

[3] कुंजनि तें उठि प्रात गात जमुना में धोवैं
निधिवन करि दंडौत विहारीकौ मुखजोवैं।

अनन्य निश्चयात्म० पृ० ७९

ग्रहण करना चाहिये। रसिक-जन, प्रसाद न हो, तो किसी भी स्थिति में कहीं भी भोजन करने नहीं जाते।[1]

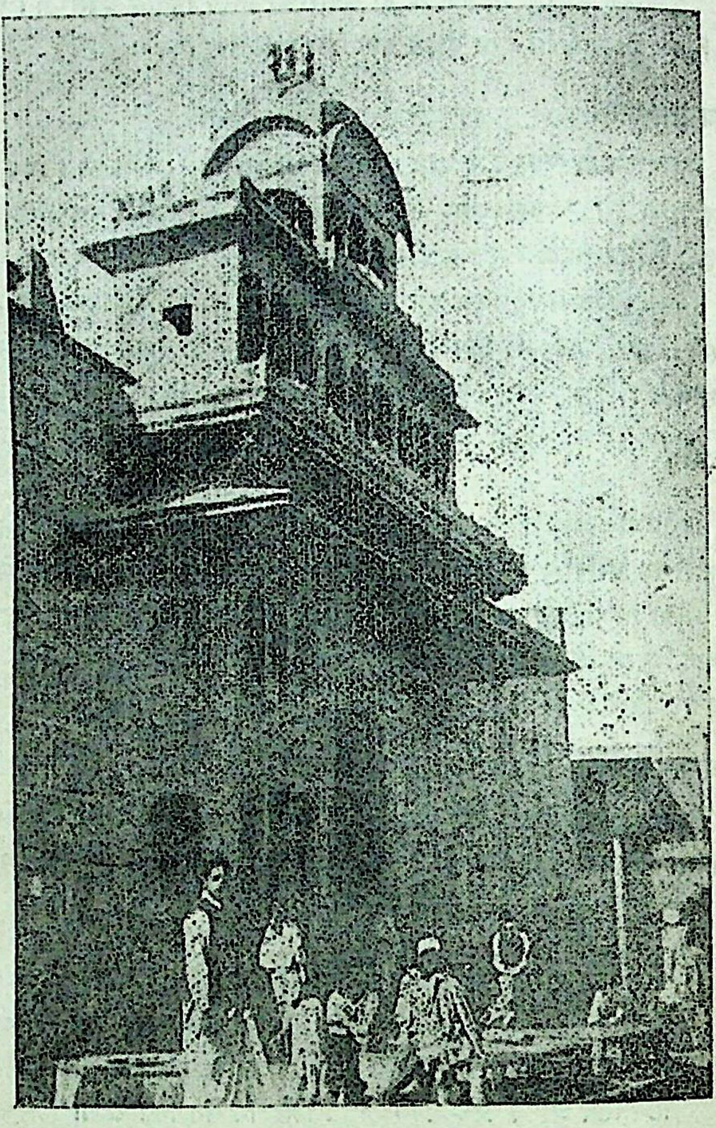

स्वामी हरिदास जी के उपास्य
श्री बाँकेविहारी जी का मंदिर, वृन्दावन

---

[1] श्री विहारिनदास साखी, सं० ३१०

प्रसाद में ऊँच-नीच की भावना नहीं आनी चाहिये। व्यास जी ने श्वपच से प्रसाद की जूठन लेकर खाई थी। वे कहते हैं, चाहे कुत्ता छू जाये, या कौआ उसे बिगाड़ जाय, दोनों ही स्थितियों में प्रसाद पावन है।[1]

सत्संग

हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न होने के लिये साधुओं की कृपा-दृष्टि कारण होती है। उनकी सत्संगति से ही हृदय का कल्मष दूर होता है, मन निर्मल होता है, और उसमें प्रेम का बीज जमता है। यह प्रेम-बीज अंकुरित होकर धीरे-धीरे बढ़ता है। इस समय भी कुसंग-पशु से प्रेम के अंकुर को बचाना पड़ता है। इस अंकुर को बढ़ाने के लिये भजन के जल से बार-बार सींचना चाहिये और सत्संग की 'वाड़' को दृढ़ करके लगाने से प्रेम की बेलि हृदय में बढ़ती है।[2]

रसिक संतों का सत्संग भगवत्कृपा से ही लभ्य है और कृपा संग से प्राप्त होती है। ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित और एक दूसरे के पूरक हैं, यह अटल सिद्धांत है। ध्रुवदास जी बताते हैं, "संग ते कृपा, कृपा ते संग तव भक्ति होइ, या सिद्धांत पर और कछू नाहीं।"[3] यों तो सभी संतों की संगति तीनों तापों का नाश करती है परन्तु अनन्य उपासक को विशेष रूप से अनन्य रसिकों का संग करना चाहिये। भक्तों के प्रकार अनेक हैं उनकी विभिन्न उपासनायें और विभिन्न इष्ट हैं। रसिक संत अपने मन को एक ही ठौर रखना चाहते हैं। उन्हें भजन-सिद्धांतों पर अन्य इष्टोपासक भक्तों से गोष्ठी की आवश्यकता नहीं होती। भजन में गोष्ठी होती भी नहीं। वह एकांत धर्म है। परन्तु वस्तु की चर्चा के लिए सजाति रसिकों का संग नितान्त आवश्यक है

---

[1] स्वान प्रसादहिं छुइ गयौ, कौवा गयौ बिगारि।
दोऊ पावन व्यास के, कहि भागवत विचारि।
भक्त कवि व्यासजी, साखी ६५

[2] तौ रसिक भक्तनि को संग ऐसौ है आवश्यक प्रेम को अंकुर उर में उपजै जो कुसंग-पशु तें बचै जब ताईं अंकुर रहै तव ताईं भजन-जल सौं सीच्यौ करै बारम्बार। अरु सतसंग की वारि दृढ़ि कै करै तो प्रेम की बेलि हिये में बढे। सिद्धांत विचार लीला, ध्रुवदास। पृ० ६०

[3] सिद्धांत विचार लीला, ध्रुवदास जी पृ० ६१

सजातियों के साथ बैठ कर हरिदास-यश सुना-समझा जा सकता है। वह साधक के लिये अनिवार्य है।[1]

सजाति रसिक ही धर्मी या स्नेही कहे जाते हैं। इनका संग अपने धर्म को दृढ़ करने वाला है।[2] ये रसिक जन पुण्य-भजन में स्वयं भीगे रहते हैं और अपना वही रंग उपासक के चित्त में उत्पन्न कर देते हैं। उनके नेत्रों में प्रिया-प्रियतम की महामाधुरी निरंतर बसी रहती है, उनका संग सदा लाभदायक है।[3]

इन रसिकों की चरण-रज उपासक के नेत्रों का अंजन है। इन्हीं की कृपा क्रमशः युगल-केलि के दर्शन करा देती है।[4] व्यासजी कहते हैं "ये रसिक ही उपासक के माता-पिता हैं। उपासक का नाता केवल उन्हीं से होता है। वे पतितों का उद्धार करने वाले हैं। उनके घर आने से घर पवित्र होता है। उनके चरणोदक से अपने अंग-प्रत्यंग को पवित्र करना चाहिये। उनके वचनों से मन के सब संदेह-भ्रम दूर हो जाते हैं। उन रसिकों का जीवन-धन वृंदावन ही है, श्रीनिकुञ्जबिहारी के बिना वे और कुछ भी नहीं जानते।[5] रसिकों को ही ये अपने देई-देऊ। (देवी देवता)। मानते हैं।

---

[1] जो न सजाती संग मिले साधन कियो न जाय।
विहारीदास हरिदास यश कहत सुनत समुझाय॥
विहारनिदास साखी, २३०

[2] विहारीदास सतसंग कर धर्मी धर्म हिताय।
विहारिनिदास साखी १०१॥

[3] करि मन रसिकन सों सतसंग।
सुकृत सुहृदय भजन में भीजैं उपजावैं निजु रंग॥
महामाधुरी ललित सुलोचन निरखत वदन दुरंग॥
'रूप' बसत इनके उर नित ही जुगल सरूप अभंग।
रूप सखी की वाणी, सिद्धांत के पद, सिद्धांत रत्नाकर, ९९, पृ० ३०

[4] मेरैं संत-चरन-रज अंजन।
तीन ताप और तिमिर नसावै काम-क्रोध-दल-गंजन॥
सदा अमित आनंद वढ़ावै भाल तिलक उर मंजन।
जुगल केलि वन की दरसावै 'रूप सखी' मनरंजन॥
रूपसखी की वाणी, सिद्धांत के पद, सिद्धांत रत्नाकर, १५०, पृ० ३०

[5] तेई रसिक अनन्य जानिवै।
जिनकों विषय विकार न, हरि सों रति तेई साधु मानिवै।

रसिकों के तात्विक स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रीभगवत रसिक जी ने कहा है कि जब जीव निरंतर साधना करता हुआ, नित्यविहारी की कृपा से नित्यविहारीमय हो जाता है, जीवत्व और ईशता जब परस्पर जल-शकर की भांति मिल कर एक हो जाते हैं, उसका अपना नाम, रूप, गुण सभी पीछे रह जाता है, व्यक्ति की वही स्थिति 'रसिक' संज्ञा धारण करती है।[1] रसिकों की अनन्यता स्वामी हरिदास के प्रेम-भजन में है। वे निकुञ्ज-रस-माधुरी के अतिरिक्त क्षण भर भी किसी अन्य वस्तु का चिन्तन नहीं करते।[2] रसिक जन जिन्होंने निकुंज-रस-माधुरी का अनुभव किया है, उस आनन्द के आस्वाद के कारण मौन हो जाते हैं। संसारमें कुछ भी कहने सुनने के लिये उन्हें शेष नहीं रहता। वह गूँगा होकर, मुँह बन्द कर गुड़ खाता रहता है। जिसकी जीभ इस स्वाद से मीठी हो गई है, वही उसको जानता है। उस गूंगे के संकेतों को भी कोई गूंगा ही समझ सकता है। कोई वैसा ही गूंगा उसे पहिचान भी सकता है। वह जानबूझ कर गूंगा बन गया है। उसका मर्म कोई नहीं जान पाता। विचित्र बात होती है जब एक ओर यह गूंगा होता है और दूसरी ओर कोई बोलने वाला (वकवासी, अरसिक) आ बैठता है। मौन रसिकों का नियम हैं कि वे धर्म-विरोधियों से बात ही नहीं करते। हां, यदि धर्मी मिले तो वे प्रसन्नतापूर्वक हृदय खोल कर रख देते हैं। जब तक स्वादभेद नहीं जाना तब तक सभी

तिनकी संगति पतित सु उधारे, जौ बारक घर आनिवै ॥
तिनके चरनोदक सों अपने नख सिख गातनि सानिवै।
तिनकी पावन जूंठन जेंवत, तब ही हरि हिय आनिवै ॥
तिनके वचन स्रवन सुनि तिहिं छिन, मन-संदेह भानिवै।
तिनकी जीवन धन वृन्दावन, जीवत मरत बखानि वै ॥
'व्यास'राधिकारमन-भवन विनु तेई क्यों पहिचानिवै।

भक्तकवि व्यास जी पद सं० ९८, पृ० २१६

[1] जीव ईश मिलि दोय नाम रूप गुण परिहरैं।
रसिक कहावै सोय, ज्यौं जल घोरे शर्करा ॥

अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवत रसिक जी, पृ० २७

[2] ते अनन्य निज जानि जे स्वामी हरिदास के।
मनै न आनै आनि बिन निकुंज रस माधुरी ॥

बिहारनि दास, साखी, ५६९

बोलते रहते हैं परन्तु गूंगे को यह वक्तृत्व कहां भाता है। उसने चुप रहकर संसार को छोड़ दिया है। परन्तु वह गूंगा नित्यविहार का निरंतर गायन करता है।[1] तात्पर्य है कि ये स्वादी रसिक जन अपना मर्म किसी के सामने नहीं खोलते, हां कोई धर्मी बनकर उनके समीप पहुँचे तो वे योग्य पात्र देख कर अपना हृदय खोल देते हैं। भृङ्ग जिस प्रकार कीट को भी भृङ्ग बना लेता है, उसी प्रकार कृपालु रसिक उपासक को रसिक बना लेते हैं। रसिकों से रस सुन कर ही व्यक्ति रसिक बनता है। रसिक बन कर वह रस गाता है।[2]

रसिकों का परस्पर मिलते जुलते रह कर नित्यविहार की चर्चा करना भी आवश्यक है। यह उनकी उपासना का एक नियमित अंग है। अनन्य स्वाद-भेदी मिल कर गायन करते हैं और रस-रीति की भावना करते हैं। भगवतरसिक जी हंस रूपी प्रेमोपासक की चर्या का वर्णन निम्नलिखित कुण्डली में करते हैं :—

वर अनन्य रसिकाभरन रसिकन कौ अवतंस।
विषय वारि निरवारि पय, प्रगट कियौ हित हंस॥
प्रगट कियौ हित हंस उपासक सुनि सुख पावै।
नागर रसिक अनन्य स्वाद भेदी मिल गावैं॥
भगवत यह रस रीति भावना करै निरंतर।
नीरस नरन विहाय अवुध मतसरी विदुषवर॥[3]

---

[1] गूंगौ गुर मुंह मूंदें खाइ।
जानै सो जिहि जीभ मिठाइ॥
गूंगे की सैन गूंगौ ही जानै, गूंगौ गूंगौ ही पहिचानै।
जानि बूझि गूंगौ ह्वै रहै, गूंगे कौ मरमु न कोऊ लहै॥
इत गूंगौ उत बोलन हारौ, असमंजस कौ अर्थ विचारौ।
धर्म विरोधिनि सों जिनि बोलै, धर्मी मिलै हियो सब खोलै॥
स्वाद-भेद विन सब जग वक्ता, सो क्यों आवै गूंगे लगता।
गूंगौ करि छांड्यौ संसार, गूंगौ गावै नित्य विहार॥
श्री विहारीदास हरिदास हितानौं, विपुल विनोदनि देख लुभानौं।
श्री विहारिनि दास, सिद्धांत, १५, पृ० ७९

[2] जब रसिकन पै रस सुनि पायौ, रसै समझ रसिकन में आयौ।
रस स्वादी रस स्वाद बतायौ, स्वाद पाइ रस गाइ-गवायौ॥
श्री विहारिनिदास, १५, पृ० ५४

[3] अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ, पृ० २७, पद सं० ४

वाणी-पाठ

सखी-भाव की उपासना प्रधानतः अनुभूतिपरक है। विद्या या ज्ञान की सामान्य श्रेणी यहाँ प्रमाण नहीं हो सकती। वेद-पुराण इस धर्म का निर्वचन नहीं कर पाते।[1] दर्शन उस नित्यविहारी का दर्शन नहीं कर पाता।[2] अतः ये सभी इस क्षेत्र में पंगु सिद्ध होते हैं। पांडित्य, कवित्व, ज्ञान एवं अनेक उपमाओं से भी नित्य विहार समझ में नहीं आता।[3] बिहारीदास कहते हैं, दृष्टान्त से केवल दृष्टि प्राप्त होती है प्रत्यक्ष ही वास्तविक प्रमाण है, अनुभव का ज्ञान ही वास्तविक अक्षर ज्ञान है।[4]

नित्यविहार अनुभव की वस्तु है। अनुभव ही उसका प्रमाण है अथवा अनुभव जिन्होंने किया है, ऐसे महात्माओं के स्वाभाविक उद्गार उस रहस्य के प्रमाण हो सकते हैं। रसिक संतों की अनुभूतियों का समुच्चय ही वाणी हैं। लिखित प्रमाण रूप में वाणी हो रसिक सिद्धान्तों के लिये वेद हैं। सखी-संप्रदाय में रसिकों की वाणी को ही वेद का स्थान दिया जाता है।

"जुगल मंत्र कौ जाप वेद रसिकन की बानी।"[5]

सखीभावोपासकों के लिये रसिकों की वाणी प्रेम का पारावार है। लीलाओं की तरंगों से सुपूरित यह प्रेमाम्बुधि प्रत्यक्ष रूप से लहरें ले रहा है। इनका अक्षर-अक्षर रस का सागर है। यह वाणी मानों प्रिया-प्रियतम का ही दिव्य स्वरूप है। वाणियों का विषय नित्य विहार है और इसके गायन से नित्यविहार की सच्ची प्रतीति होती है। इसीलिये वाणी-पाठ उपासना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

---

[1] काहें को पढ़िये वेद पुराना, कागद के अंनि अंकनि उनमाना।
श्रीविहारिनदास ६ पृ० ५४

[2] श्रीविहारनिदास जी साखी ३३९, ३४०

[3] उपमा ज्ञान कवीश्वरी सिद्धांतनतें दूरि।
नित्यबिहार अधार है, हमारी जीवन मूरि, ॥
श्रीविहारनिदास साखी ६८७

[4] दृष्टि होत द्रष्टांत ते होत प्रत्यक्ष प्रमान।
विहारीदास संशय नहीं अनुभव अक्षर ज्ञान ॥
श्रीविहारिनदास साखी ३३७

[5] अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ १, पृ० ४३

वाणियों की रचना भी वस्तुतः उपासना का ही अंग है। इसीलिए नित्यविहार के स्वरूप को प्रकट करने वाली इतनी दिव्य वाणियों की रचना भी हो सकी। इन वाणियों को न तो काव्य-दृष्टि से लिखा गया है, न उपासना-प्रामाण्य को सुरक्षित रखने के लिये। उपासना के अंग के रूप में स्वाभाविक रीति से जो रसिकों के उद्‌गार प्रकट हुए, उन्हीं को उपासकों ने लेखबद्ध कर लिया। यही वाणी का प्रकट रूप है। ये वाणियां नित्यविहार-रस की निधि होने के कारण स्वयं रस-रूप हैं। जिन्हें अन्य कोई 'रस' नहीं भाता, वे रसिक वाणियों का रस-पान कर सकते हैं। प्रेम-वश करने के लिए ये वाणियाँ ही वेद-मंत्रों के समान हैं :—

दंपति आसक्तताई प्रगट करत छिन छिन प्रति,
नव रस सिंगार आदि कीने सब रद हैं॥
पीवै रसिक सोई जाकौं न सुहात और,
प्रेम-वश करिवे कों मादिक वेद है।[1]

ये वाणियाँ नित्यविहार का प्रत्यक्ष रूप होते हुए भी विचित्र रहस्यमयी हैं। जिस व्यक्ति पर रसिकों की कृपा नहीं है, वह इन वाणियों को पढ़कर भी कोई लाभ नहीं उठा सकता। देखने के लिये अपने पास दृष्टि होना अनिवार्य है। प्रेम के विशुद्ध रूप के अनुभव के विना संसार अंधा ही है और उसे इन वाणियों में छिपी वस्तु नहीं दिखाई देती, जैसे आँखें न होने पर सामने दर्पण रहते हुए भी अपना मुख नहीं दिखाई देता, इसी प्रकार वाणी का अर्थ समझ में नहीं आता है। केवल सुनकर कोई वस्तु को प्राप्त करना चाहे वह नहीं मिल सकती। स्वतः का अनुभव ही वास्तविक वस्तु है। शव पर कितना भी औषधियों आदि का लेप किया जाय वह चेतन नहीं हो सकता, इसी प्रकार जिसके अंदर स्वतः स्फुरण नहीं है, वह रस की वात को नहीं समझ सकता।[2]

---

[1] संकलित वाणी पोथी, पृ० २४६

[2] अनुभव विनु जग आंधरौ, वस्तु न दीखै कोइ।
मुकुर दिखाये होत कह, आनन जात न जोइ॥
आनन जात न जोइ अर्थ वाणी को कहिबौ।
सुनै न होइ प्रतीति विना देखैं उर दहिबौ॥

वास्तव में वाणी वस्तु का बीजक है। बीजक स्वयं में वस्तु तो नहीं है परन्तु वस्तु का पता एकमात्र उसी से चलता है। बीजक वस्तु को बताता है परन्तु वस्तु प्राप्त उसी को होती है, जो उसका अधिकारी है अथवा जिसे वह मिलनी है। वाणी पढ़ सब कोई सकते हैं परन्तु अधिकारी ही उसके तत्व तक पहुंच सकते हैं। उनके अतिरिक्त कोई सामान्य जन उसे प्राप्त नहीं कर सकता, वह उलझ कर ही रह जायगा। वाणियों को सब संसार जानता है परन्तु तत्व वस्तु किसी भाग्यवान के ही हाथ आती है। श्याम-श्यामा का नित्यविहार कोई विरला ही पाता है। वाणी के इस परम गूढ़ गुण का निर्देश भगवत रसिक ने स्पष्ट रूप से किया है।[1] सम्प्रदाय में वाणियों के प्रति आलोचक बुद्धि न रखकर उन्हें 'श्रुतिसार-सार' माना जाता है। हीनश्रद्ध वाणियों को पढ़ कर मनमाने अर्थ लगाकर वस्तु से वंचित रह जाते हैं परन्तु रसिक उपासक वाणी-रूपी-नौका पर बैठ कर भवसागर पार कर उस आनंद-धाम का दर्शन करने में सफल होते हैं।

नाम-जप

नाम-जप उपासना का महत्त्वपूर्ण अंग है। उपासना के इस प्रेम-क्षेत्र में नाम की सार्थकता सर्वाधिक है। प्रियतम को सर्वात्मना अपना बनाने के लिए समस्त इन्द्रिय-वृत्तियां उसी में रमा देनी होती हैं। प्रियतम का नाम ही उपासक के लिये सर्वस्व है। नाम लेते ही प्रिय का स्वरूप सामने आ जाता है। रसना को पवित्र करने के लिए, मन को एकाग्रता प्रदान करने के लिये और निरंतर रूप का दर्शन करने के लिये नाम-जप एक मात्र साधन है।

बहु विधि मर्दन करै नहीं चैतन्य होइ शव।
'भगवत' रस की वात कहा जानै विनु अनुभव॥

अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ १ पृ० ६१

[1] वाणी बीजक वस्तु को, बीजक वस्तु न कोइ।
बीजक वस्तु बतावहीं, लहैं जासु की होइ॥
लहैं जासु की होइ, और की और न पावै।
गावैं सब संसार हाथ विरले के आवै॥
ऐसेहिं नित्यविहार श्याम श्यामा सुखदानी।
'भगवत रसिक' अनन्य गूढ़ गुण गावत वाणी॥

अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, २, पृ० ६१

नाम और नामी का संबन्ध अभिन्न है। भगवान के नाम और रूप भगवत्-प्रेम के एकान्त आधार हैं और नित्य प्रेममय हैं। यह हमारे परिचित नाम-रूपों से भिन्न हैं, जो माया के अंग बने हुए हैं और उसी के समान नाशवान् हैं। मायिक नाम नामी की, नाम वाले की उपाधि मात्र हैं और उससे सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। भगवान् भगवान् की उपाधि नहीं हैं, वह स्वयं भगवान् हैं। भगवान् में नाम और नामी का संपूर्ण अभेद माना जाता है।[1]

उपासक के लिये नाम ही परम धन है।[2] नाम और नामी सदा निकट रहते हैं अतएव भावुक के हृदय में दोनों का निवास रहता है।[3] हृदय में स्थित नाम बरबस रसना पर आ जाता है। हृदय और जिह्वा के बीच ही यह नाम-जप निरन्तर चलता रहता है। नाम जप में कोई व्यर्थ परिश्रम की साधना अपेक्षित नहीं है। कठोर साधनाओं का इस उपासना में निषेध है। जिस उद्यम से शरीर दुखी हो, मन को विश्राम न मिले तो नाम भी कैसे ठीक से निकल सकता है।[4] उपासक को सर्वदा प्रकृतिस्थ होना चाहिये। नाम के प्रति पूर्ण ममता होनी चाहिये एवं कभी उसका निरादर नहीं होना चाहिये। उपासना में यह एक भयंकर अपराध है। जो लोग वस्तु को नहीं जानते, वे तो नाम को बेचते-खाते हैं।[5]

नाम यदि नामी के स्वरूप की पहिचान के विना लिया जाय तो फलदायक नहीं हो सकता। नामी सामने होकर निकल भी जाता है और नाम

---

[1] श्रीहित हरिवंश गोस्वामी, संप्रदाय और साहित्य, पृ० ३०१

[2] मैं पायौ हरि धन नाम मेरैं का चाहियैं।
बिहारिनिदास सिद्धान्त के पद सं० १७३, पृ० १०९

[3] नाम निकट नामी रहत, ज्यौं नामी ढिंग नाम।
किसोरदास भावुक-हृदै, दोऊ करत विश्राम॥
सिद्धांत सरोवर ८१२, पृ० ७५

[4] जा उद्यम ते तन दुखी मन न लह्यौ विश्राम।
बिहारीदास मनसा डिगै क्यौं निकसै मुख नाम॥
बिहारिनिदास साखी ४४१

[5] नाम निरादर मत करौ आदर दिन दुलराय।
बिहारीदास ममता बिना नामैं बेचैं खाय॥
बिहारिनिदास साखी ४४७

लेने वाला नाम ही लेता रहता है।[1] अतः गुरु-कृपा से सर्व प्रथम नामी के स्वरूप को जान लेना चाहिए तभी वास्तव में नाम सहज प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार सरोवर के लबालब भर जाने पर उसमें से धाराएँ निकल पड़ती हैं, उसी प्रकार हृदय सर्वदा नामी से भरा रहना चाहिये।[2] सखी-सम्प्रदाय में युगल का नाम ही मंत्र है। युगल नाम का नित्य नियम ही स्वामी हरिदास जी का नियम था ऐसा नाभा जी भी कहते हैं :—

जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंजविहारी।
अवलोकत रहैं केलि, सखी-सुख के अधिकारी॥[3]

श्रीभगवत रसिकजी ने कहा है :—

नित्य किशोर उपासना, जुगल-मंत्र कौ जाप।[4]

और—

जीभ जुगल नामहि जपै दृगनि बिलोकै रूप।

युगल नाम ही युगल मंत्र है, और इससे बड़ा न कोई नाम है, न कोई मंत्र। इस विशुद्ध नाम में न कुछ मिलाना चाहिये, न घटाना चाहिये। युगल नाम के साथ ही श्रीहरिदास नाम भी समस्त नामों का सार माना गया है।[5] हरिदास नाम की महत्ता भारी है, यह समस्त वेदों और मंत्रों का सार है[6] इसका कारण है कि विशुद्ध प्रेम का नाम ही हरिदास है।

---

[1] नाम सुन्यो है गाँव असि नामी सों न पिछान।
पूंछत पतौ मिलौ नहीं वाढि गयौ ढिंग प्राण॥ विहारिनिदास साखी, ४४४

[2] नामी पगि नामै कहै, नाम प्रगट तब होत।
किसोरदास सरवर सुभर, तब निकसै सुभ स्रोत॥
सिद्धांत सरोवर पृ० ७४

[3] भक्तमाल ,छप्पय सं० ९१

[4] अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवत रसिक पृ० ४३

[5] श्रीहरिदास सुमिरन करौ, सकल नाम को सार।
गौर स्याम फल देइंगे अपने उर कौ हार॥
महिमामृत, सिद्धांत रत्नाकर १४
श्रीहरिदास नाम निजु अमृत सब मंत्रन को सार। वही, पृ० १९

[6] नामी ते अंतर रहै तब लगि नाम उचार॥
किसोरदास नामी निकट नाम न लगत सु प्यार॥ ८२२॥
सिद्धांत सरोवर पृ० ७६

यहाँ तक साधारण साधनावस्था की बात हुई। भावक्षेत्र की तो बात ही निराली है। निकुंज-क्षेत्र में पहुंच कर नाम भी नहीं लिया जाता। जब तक नामी दूर होता है तभी तक तो उसका नाम लिया जाता है, नामी के सामने आकर नाम लेने की न तो आवश्यकता होती है, न वह अच्छा ही लगता है।[1] नामी के पास जाकर भी नाम लेते रहने से प्रीति घटती है।[2] फिर नित्यविहार में तो सखी-भाव है, प्रिया-प्रियतम अपने 'भर्तार' हैं। माता, पिता, भ्राता आदि नाम लेते हैं परन्तु पत्नी या दासी नाम का प्रकाश यों ही नहीं करती, यद्यपि उनके हृदय में वह नित्य ही विद्यमान है।[3] नित्यविहार के दर्शन की उन्मत्त स्थिति में जब सखीभाव में डूबे उपासक को शरीर की भी सुधि नहीं रहती तब नाम भी बिसर जाता है :—

मन मनसा आसा मगन तन की कछु न सह्यार[4]।
बिहारीदास नाम न कहै, निरखै नित्यविहार ॥

नित्यविहार में रत, रसक्रीडा में तन, मन, प्राण पण से पगे उस नामी को नाम अच्छा नहीं लगता, रसिक की केवल लालसा ही उस नित्यविहार में लगी है :—

नामी नाम न भावई तन मन मनसा प्रान।
आसा दासि विहार की यों बसी रसिक निदान[5] ॥

कहा जा चुका है कि श्यामा-श्याम नित्यविहार में अलग-अलग अस्तित्ववान नहीं रहते। तन से, मनसे, वे एक दूसरे में समाये रहते हैं।

---

[1] नामी तै अंतर रहै तब लगि नाम उचार।
किसोरदास नामी निकट नाम न लगत सु प्यार ॥ ८२२ ॥
सिद्धांत सरोवर, पृ० ७६

[2] नामी ढिंग नामै कहै, कारन बिना विचार।
किसोरदास प्रीति न बढ़ै, घटत प्रतीति अपार ॥ ८२३ ॥
वही, पृ० ७६

[3] नाम लेत माता पिता, सुत लघु भ्राता दास।
किसोरदास दासी त्रिया त्यों नहीं करत प्रकास ॥ ८१६ ॥
वही, पृ० ७५

[4] श्रीबिहारिनदास साखी, १३२

[5] श्री बिहारिनदास साखी, १३३

अतः उनके नाम का उस समय कुछ मतलब नहीं होता उस समय तो विहार ही नाम है। उस रस में ही उस तन-मन से मगन विहारी को ढूंढ़ा जा सकता है, नाम नामी का अलग से अपना अस्तित्व कुछ भी नहीं है। इस सुख को सखी ही जानती हैं। लालजी स्वयं कहते हैं:—

कहा नाम नामी कहा सखी सुख पूछौं तोहि।
तन मन मगन विहार में, तहां ढूंढि लै मोहि[1] ॥

सेवा

रुचि पूर्वक पवित्र भाव से जो सेवा करता है, वही सच्चा सेवक है। अपने अपनपे को खोकर एवं तन-मन-धन को अर्पण कर देने के उपरान्त ही गुरु और हरि द्रवित होते हैं। विना मांगे ही सब कुछ मिल जाता है और आंतरिक उपासना के गूढ़ रहस्य उपासक के समक्ष प्रकट हो जाते हैं। उस समय से संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध सभी प्रकार के कर्मों से उपासक को मुक्ति मिल जाती है। उपासक रसिक कोटि में आ जाता है, उसकी समस्त क्रियाएं अपनी रुचि की अनुगामिनी बन जाती हैं।[2] इस प्रकार उपासक प्रेम के इस अंतरंग प्रदेश में प्रवेश करता है। यह बात पुनः ध्यान रखने की है कि उपासना के अंतरंग प्रदेश में प्रविष्ट होने के लिये प्रभु की कृपा अनिवार्य है अन्यथा रसिकता प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। प्रेम का स्फुरण होने पर रसिक के चारों ओर प्रेम के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रह जाता। रसिक ने प्रेम-वारी की थी उसमें सर्वत्र प्रेम ही फूल फल रहा है। डसौना, ओढ़ना, पेय और भोजन भी प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यहां प्रेम ही प्रेम का पाहुना है और प्रेम ही प्रेम का नियम है[3]।

---

[1] श्रीविहारिनदास जी साखी, १३५

[2] रुचि लै सुचि सेवा करै, सेवक कहियै सोय।
तन मन धन अर्पण करै, रहै अपनपौ खोय॥
रहै अपनपौ खोय, द्रवै तब हरि गुरु देवा।
अनमांग्यों सब मिलै, गूढ़ गुण जानै भेवा॥
संचित क्रिय प्रारब्ध, कर्म दुख जाइ सबै मुचि।
'भगवत रसिक' कह्यौ, क्रिया त्यागै अपनी रुचि॥
अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ १ पृ० ७३

[3] श्रीविहारनिदास जी साखी। ९१

रसिक उपासक प्रेम की पद्धति पर बढ़ चलता है। गुरुप्रदत्त उपदेश के अनुसार उपासक सर्वं प्रथम अपने दिव्य स्वरूप का चिंतन करता है और उसमें अपने भाव को स्थिर करता है। रसिक अपने को सखीजनों के अनुकरण पर चलाने का यत्न करता है। क्रमशः उसे सखीभाव की उपलब्धि होती है। किसी प्रकार की सेवा इस दिव्य देह के विना नहीं हो सकती। इस भाव की प्राप्ति हो जाने पर ही सेवा का स्वरूप प्रकट होता है और विविध प्रकार से रसिक प्रिया-प्रियतम को लाड़ लड़ाने लगता है। यह बात ध्यान रखने की है कि श्रीनित्यविहारी की प्रत्येक प्रकार की सेवा साधन न होकर अपने आप में साध्य है, इससे अधिक और कोई बड़ा फल नहीं है।

सेवा के साधारणतया दो भेद किये जाते हैं, प्रकट सेवा और भाव-सेवा इन दोनों का कुछ विस्तृत परिचय आगे दिया जा रहा है।

प्रकट सेवा

श्रीनित्यविहारी के प्रकट विग्रहों की सेवा ही प्रकट-सेवा कही जाती है। साधारणतया मूर्ति-पूजा को उपासना में प्रारंभिक स्थान दिया जाता है और उसे मन जमाने का केवल साधन मात्र माना जाता है। परंतु प्रेम-मार्गी प्रभु के विग्रह को उसका साक्षात् स्वरूप ही मानता है और उनमें तनिक भी भेद नहीं करता। इस संप्रदाय में तो उपासना की पूर्णता प्राप्त होने पर भी विग्रह-उपासना को महत्त्वपूर्ण माना गया है।

स्वामी हरिदास के संप्रदाय में मंदिरों का निर्माण कराकर उसमें भगवद् विग्रह पधराने का कहीं भी विधान नहीं है। इस संप्रदाय में तो केवल मात्र एक ही श्रीविग्रह समस्त संप्रदाय का इष्ट है। यह दिव्य विग्रह स्वामी हरिदास जी के समक्ष दिव्य रूप से श्रीनिधिवन में प्रकट हुआ था। उसदिन मार्गशीर्ष मास की शुक्ल पंचमी तिथि थी। उस दिव्य त्रिभुवनसुंदर रूप को देख कर स्वामी हरिदास जी गद्‌गद् हो गये। कहा जाता है इस युगल स्वरूप को देखकर स्वामीजी प्रसन्न भी हुए और चिंतित भी। श्रीराधाजी ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने निवेदन किया कि आपकी सेवा के अनुकूल तो मुझ विरक्त के पास कुछ भी नहीं है। कहते हैं, तभी से श्रीराधा श्रीश्याम के अंग में समाकर एक हो गईं। इस दिव्य युगल विग्रह का नाम कुंजविहारी अथवा बांकेविहारी है। श्री विहारीजी के पार्श्व में स्वामीजी ने गद्दी सेवा स्थापित की। इसी प्रकार की सेवा श्रीराधावल्लभजी एवं श्रीराधारमणजी में भी प्रचलित हुई।

स्वामी हरिदास जी ने अपने समय में ही सेवा के दो प्रकार किये। सेवा की प्रकट पद्धति उन्होंने अपने भ्राता गोस्वामी जगन्नाथ जी को सौंपी, क्योंकि विरक्त उसका उस रीति से पालन न कर सकते थे और अपने शिष्यों को उन्होंने भाव-सेवा की विधि प्रदान की। विरक्त साधुओं के लिये भी संप्रदाय का यही नियम है कि वे प्रातःकाल यमुना में स्नान कर श्रीविहारी का दर्शन करें।[1]

विहारी जी के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रीविहारिनदास जी ने उनका विरुद 'वांका' बताया है। सब अवतारों के ऊपर प्रतिष्ठित उस अवतारी का यह लीला-वपु अथवा इच्छित विग्रह है। इनकी दिव्य सेवा लक्ष्मीपति और व्रजपति को भी दुर्लभ है। इन नित्यविहारी नित्यकिशोर की सेवा हरिदास दुलारी करती हैं। यह मदभरे तिरीछे कमल नेत्र वाले 'वांकेविहारी' नाम से प्रसिद्ध हैं।[2]

अन्य अनेक महात्माओं ने श्रीविहारी जी महाराज के प्राकट्य-उत्सव का गायन किया है। उनकी स्वरूप-शोभा का वर्णन भी अगणित कवियों ने किया है। श्रीविहारीजी की सेवा का अधिकार केवल स्वामी हरिदास-वंशी गोस्वामी गण को ही है। आज भी वे ही श्रीवृंदावन में श्रीविहारीजी के दिव्य विग्रह की भावपूर्ण सेवा करते हैं। अन्य समस्त रसिक श्रीविहारीजी के दर्शन कर सेवा का आनंद प्राप्त करते हैं। श्रीबांकेविहारी जी की सेवा में अनेक बातें परम विलक्षण हैं। सर्वप्रथम तो प्रकट-सेवा भावोपासना के आधार पर होने के कारण सेवा की कोई भी विधि निर्णीत नहीं है। प्रेम की वृत्ति ही ऐसी विलक्षण है, जिसका अनुसरण नहीं हो सकता। सभी

---

[1] कुंजन तैं उठि प्रात गात जमुना मैं धोवै।
निधिवन करि दण्डौत विहारी कौ मुख जोवै।
अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवत रसिक, पृष्ठ ७९

[2] वांके विरदनि बिदित विहारी।
इच्छा-विग्रह धरि लीला-वपु सब अवतारनि पर अवतारी।
लछमीपति, व्रजपति कौ दुरलभ इनते कौन बडौ अधिकारी॥
नित्यकिसोर निरंतर विहरत, सेवत श्री हरिदास दुलारी।
ऐंडिल ऐंडाइल असन कमल वांके बिरदनि विदित बिहारी॥
श्रीबिहारिनदास की वाणी, बधाई १

रसिक गोस्वामी अपने-अपने भाव से प्रिया-प्रियतम के नित्य नूतन दर्शन कराते हैं।

अन्य समस्त संप्रदायों के मंदिरों में प्रातःकाल मंगला आरती का नियम है, इसका समय प्रातःकाल लगभग ४ बजे का होता है। राधावल्लभ संप्रदाय में दिन भर में सात आरतियों का नियम है, ये आरतियां हैं क्रमशः मंगला, श्रृंगार, राजभोग, उत्थापन, संध्या, शयन, शय्या समय। सभी संप्रदायों में सेवा के निश्चित विधि-विधान स्वीकृत हैं। स्वामी हरिदास जी ने विधि-निषेध को सेवा के अंदर फटकने भी नहीं दिया। श्रीध्रुवदास जी ने कहा है :

सेवा हू में दूरि करि विधि-निषेध जंजार।
श्री स्वामी हरिदास जू गायौ नित्यविहार।[1]

वे ग्रंथों के विधान से अपने प्रिया-प्रियतम को बांधना नहीं चाहते थे, अपितु भाव से दुलारना चाहते थे। औरों को सेवा द्वारा अपने मानसिक परिशोधन की अवश्यकता की चिन्ता पड़ी है परंतु स्वामी जी प्रिया-प्रियतम की इच्छानुसार ही उनकी सेवा करते थे। "श्यामा-श्याम ने रात्रि भर सुरति-विलास किया है, अब उन्हें तनिक विश्राम मिला है, तो क्यों घंटे बजाकर उन्हें उठाकर नहलाया जाय? नहीं, उधर भूल से भी न जाओ। प्रिया-प्रियतम को विश्राम करने दो। यहाँ बैठ उनकी प्रतीक्षा करो। और अब वे उठे। अब उन्हें जल की आवश्यकता है, दबे पांव जाकर सिरहाने रखी कंचन-जल-झारी में से प्रिया-प्रियतम को जल दो। सखियाँ समस्त सेवा कर रही हैं।" यह भाव है स्वामी जी की सेवा करने का जो भावोपासना से भी कहीं अधिक कठिन है। प्रातः लगभग नौ-दस बजे सेवा आरंभ होती है। उपासक स्नानकर मंदिर में पहुंच, मंदिर को पवित्र करता है। तब निरंतर भावना द्वारा अपने को प्रिया-प्रियतम की सेज के निकट खड़ी सखी के रूप में चिंतन कर उनके समक्ष जलझारी रखता है और उत्थापन कराता है। श्री विहारी जी को दुग्ध-धवल शय्या से उठाकर कनकमय सिंहासन पर विराजमान करता है। युगल को प्रातः ही कुल्ला मुख-प्रक्षालन आदि के लिये जल-निवेदन कर माखन-मिश्री का कलेवा कराता है, बीरी देता है। तदुपरान्त

---

[1] भक्त नामावली लीला, ध्रुवदास जी, बयालीस लीला, पृ० ३१।

श्रीविग्रह को दिव्य सुगंधित जल से स्नान कराता है। श्रीस्वामिनी जी को हृदय में विराजित देख श्रीविहारी जी के चरणों में तुलसी और चंदन अर्पित करता है। फिर वहुत ही धीरे-धीरे उनके कोमल गात पर सुंदर वस्त्र धारण कराता है। पायजामा के ऊपर घुमावदार, घेरदार जामा धारण कर विहारी जी दूलह वन जाते हैं। शरीर में अँगिया जँचती है और ऊपर से वे ओढ़नी ओढ़ते हैं। माथे पर पाग और टिपारे आदि अनुपम शोभा देते हैं। पार्श्व में प्रिया जी की 'गादी' का श्रृंगार होता है। अतरौटा, लँहगा और साड़ी पहिनाकर श्रीप्रिया जी के लघु विग्रह को वहाँ स्थापित कर उन्हें चन्द्रिका धारण कराई जाती है। निकट ही श्रीस्वामी जी के चित्रपट का श्रृंगार होता है। संपूर्ण श्रृंगार हो जाने के उपरांत दिव्य पक्वान्नों का भोग लगाया जाता है। भोग लगाकर मुख संमार्जन कर ताम्बूल निवेदित कर उपासक पट खोलता है। बाहर मंदिर में भक्तों की भीड़ उमड़ी होती है। दर्शन खुलते ही रसिक जन अपने नेत्रों को तृप्त करते हैं। कुछ समय पश्चात् श्रृंगार आरती होती है।

आरती के पश्चात् दर्शन खुले ही रहते हैं। परंतु यहाँ एक विलक्षण नियम है कि दर्शन निरंतर खुले न रह कर वहुत थोड़ी-थोड़ी देर वाद झांकी होती रहती है। प्रिया-प्रियतम की उस मोहनी जोड़ी को किसी की नज़र न लग जाय, इसीलिये वार-वार परदा आता-जाता रहता है। झांकी-झरोखा में वांकेविहारी के ये दर्शन अपूर्व हैं और सखीभावोपासकों की मधुर एवं अनूठी संवन्ध-भावना के द्योतक हैं।

कुछ देर पश्चात् पुनः कच्ची रसोई श्रीविहारी जी को भोग लगायी जाती है, जिसमें दूध-भात का स्थान प्रमुख होता है। भोग के पश्चात् पुनः मुख-प्रक्षालन कर तांवूल निवेदित कर राजभोग आरती की जाती है। आरती के पश्चात् पट वंद हो जाते हैं और उपासक प्रेमपूर्वक वस्त्र उतार कर श्रीविहारी जी को सुगंधित पदार्थों का अभ्यंजन करता है और चरण-सेवा कर उन्हें शयन कराता है।

सायंकाल लगभग छः वजे पुनः सेवा आरंभ होती है। पूर्वोक्त प्रकार से लगभग आठ वजे दर्शन खुलते हैं जो लगभग दो घंटे तक रहते हैं। तदुपरांत शयन आरती होती है और पुनः श्रीविहारी जी को शयन कराया जाता है।

मान्यता है कि रात्रि में श्रीविहारी जी निधिवन में नित्यविहार के लिये पधारते हैं। उस समय उपासक का दिव्य भावदेह अन्य सखी-जनों के साथ

ही प्रिया-प्रियतम की लीलाओं का आनंद लेने के लिये निधिवन-निकुंजों में पहुँच जाता है।[1]

इष्ट की इस नित्य-सेवा को 'आह्निक' भी कहा जाता है। ऋतुओं का सेवा में विशेष महत्त्व माना गया है। प्रिया-प्रियतम के नित्य-स्वरूप को विभिन्न ऋतुओं में ऋतु के अनुकूल श्रृंगार धारण कराया जाता है और इस प्रकार नित्य सेवा में प्रतिदिन विशेष चमत्कार रहता है। दैनिक सेवा के अतिरिक्त नित्य-भावना से संबन्धित विशेष उत्सव भी सेवा के अंग हैं। इनमें नैमित्तिक उत्सव प्रायः नहीं होते। ऋतुओं के आनंद को कुछ विशेष दिनों में केन्द्रित कर इन उत्सवों को मनाया जाता है। ये उत्सव विशेषरूप से वर्ष में एकबार ही मनाये जाते हैं।

मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी श्रीविहारी जी के प्राकट्योत्सव की तिथि है। इसे 'विहार-पंचमी' कहते हैं। इस दिन विशेष रूप से श्रीविहारी जी को पुष्पों का श्रृंगार कराया जाता है और विशेष भोग का आयोजन होता है।

वसंत का सम्पूर्ण आनंद होली में केन्द्रित होता है। श्रीविहारी जी भी जमकर पाँच दिन होली खेलते हैं। यह विशेष उत्सव अत्यंत आनन्दमय होता है। ग्रीष्मर्तु का उत्सव वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के दिन होता है। उस एक दिन ही श्रीविहारीजी के चरण-दर्शन होते हैं। सायंकाल अंग-दर्शन भी होते हैं। चरणों में चंदन का बड़ा गोला रखा जाता है, एवं अंगों में भी चंदन-लेप होता है। पावस का विशेष उत्सव श्रावण शुक्ला हरियाली तृतीया के दिन होता है। इस एक ही दिन श्रीविहारी जी दिव्य हिंडोले में झूला झूलते हैं। शरद का उत्सव कार्तिकी शरद पूर्णिमा को होता है, इस दिन श्रीविहारी जी वंशी, मुकुट और कटिकाछनी धारण करते हैं। इनके अतिरिक्त नैमित्तिक उत्सवों में जन्माष्टमी को विशेष रूप से, संभवतः बाद में, ग्रहण कर लिया गया है। जन्माष्टमी का संबन्ध व्रजलीला से है परंतु नित्यलीला में नित्य प्रकट श्रीहरि का जन्मोत्सव लोक-प्रथा से मिला कर मनाया जाता है। इसमें रात्रि में बारह बजे जन्म और प्रातःकाल मंगला आरती होती है। नैमित्तिक उत्सवों का और भी थोड़ा बहुत आयोजन होता है परंतु प्रमुखतया यहाँ नित्य-उत्सव ही मनाये जाते हैं।

श्रीस्वामी जी का जन्मोत्सव भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को मनाया जाता है।

---

[1] अपूर्वगुच्छा, गो० रामनाथ जी शास्त्री, वृन्दावन।

केवल उसी एक दिन श्रीविहारी जी के मंदिर में रासलीला होती है और निधिवनराज को चाव जाती है[1], जिसमें समस्त गोस्वामी 'समाज' करते हुए चलते हैं। रात्रि में निधिवन में रासलीला होती है।[2]

निधिवन की सेवा-सुरक्षा भी गोस्वामी-वर्ग के अधीन है। वहाँ श्रीहरिदास एवं अन्य रसिक आचार्य वर्ग की समाधियाँ हैं। यह स्थल श्रीविहारी जी का नित्यक्रीडा-स्थल है एवं श्रीवृंदावन की प्राचीनता का द्योतक है। वृंदावन का प्राचीन स्वरूप यहीं देखने को मिलता है। सेवाकुंज प्राचीन वृन्दावन का प्रतीक रूप दूसरा स्थल है, जहाँ श्रीराधारानी का नित्यपीठ है। इस स्थान का संबन्ध राधावल्लभ-संप्रदाय से है।

प्रकटसेवा का स्वरूप नित्यविहार की प्रत्यक्ष उपासना है। पहिले हम देख चुके हैं कि निकुंज की निभृत लीला में किसी प्रकार का शोर-शराबा नहीं होता; समस्त वाद्य-गायन आदि शांत रहता है। उसी के अनुसार श्रीविहारी जी की सेवा में आरती के साथ शंख-घंटा आदि बजाने का विधान नहीं है। मंदिर में किसी प्रकार का वाद्य-यंत्र नहीं बजाया जा सकता। ताल देकर गाना भी वर्जित है। वहाँ पूर्ण शांति रहती है और सहस्रों भावुक रसिक प्रारंभ से अंत तक इष्ट के स्वरूप की ओर टकटकी लगाये रूप-सुधा का पान करते रहते हैं।

स्वामी हरिदास जी इन्हीं कुंजविहारी के अद्भुत मुख की ओर निरंतर निहारते रहते थे। "मन क्षण भर भी इधर-उधर न जाने पाये, इससे अधिक और कोई सुख नहीं है। इस मन को अनेक प्रकार से दर्शन में रोक रखा है, नहीं तो यह बहुत दुःख पाता। कोटि कामों का सौन्दर्य 'विहारी' के मुख पर है उसी की ओर आमने-सामने वे रुख लिये रहते हैं।"[3]

---

[1] पदों का गान करता हुए गोस्वामी-समाज निधिवन को प्रस्थान करता है, इसी को चाव जाना कहते हैं।

[2] श्रीविहारीजी के उत्सवों के विशेष वर्णन के लिये देखिये, 'अपूर्व गुच्छा', लेखक गो० रामनाथजी शास्त्री, वृन्दावन।

[3] कबहूँ कबहूँ मन इत उत जात, यातें अब और कौन अधिक सुख?
बहुत भांतिन घत आनि राख्यौ नाहिं तौ पावतौ दुख।
कोटि काम. लावण्य विहारी; ताके मुहाँ-चुहीं सब लिये रहत रुख।
श्रीहरिदासके स्वामी स्यामा कुंजविहारी कौ दिन देखत रहौं विचित्र मुख।
अष्टादश सिद्धांत के पद, ३

श्रीविहारी जी के झांकी-झरोखे से दर्शन करना ही स्वामी जी ने अपना नित्यध्येय माना है। वे कहते हैं 'प्रेम के समुद्र में रूप का गहरा रस भरा है। परंतु इसके घाट पर कैसे पहुँचा जाय? संसार के प्राणी बड़े ज्ञानी बनते हैं परंतु वास्तव में वे जानकारी का रास्ता भी नहीं जानते। किसी का मस्तिष्क तत्व वस्तु को सीधे नहीं पहिचान पाता, व्यर्थ ही लोग गली-हाट में बकवास करते फिरते हैं। हरिदास ने तो समझ लिया है कि उनके सेव्य ठाकुर श्रीविहारी जी ही सर्वस्व-ज्ञाता हैं अतः वे उन्हीं का पाट की ओट से दर्शन करते रहते हैं'।[1]

भाव-सेवा

सेवा चाहे जिस प्रकार की हो उसका मूल आधार उपासक के हृदय की भक्ति या प्रेम है। हृदय का विशुद्ध सत्त्व ही प्रेम है। प्रेम कभी अपने आश्रय से विलग नहीं रह सकता। उपासक भी प्रत्येक क्षण अपने इष्ट के ध्यान में मग्न रहता है। वह भाव से प्रियतम की सेवा में तन्मय रहता है। प्रतिक्षण प्रिय का स्वरूप झलकता रहे, उसी में ध्यान लगा रहे, यही भाव-सेवा है। भाव-सेवा रूप और लीला के दर्शन-ध्यान पर आधृत है। आंखें उन्हीं गौर-श्याम के अंजन में अंजी रहती हैं।[2] वही आनंद-रूप पलकों में झलकता है, भगवतरसिक ने बताया है कि रसिक जन वृन्दावन में निवास करते हुए श्रीविहारी जी के दर्शन करते हैं, यमुनाजल पान करते हैं और वाणी-गान करते हैं। साथ ही वे रास-विलास का अनुभव करते हैं, उनके मन में श्रीविहारिणी जी प्रकट होती हैं। नित्यविहार-प्रेम उमंग कर हृदय में रस-सागर हो जाता है। उपासक अभिराम कुंज-कुटी की भावना में नागर विहारी को देखते रहते हैं।[3]

---

[1] प्रेम समुद्र रूप रस गहरे कैसे लागैं घाट?
बेकारयौ दै जान कहावत जानपन्यौ की कहां परी बाट?
काहू कौ सर सूधौ न परत, मारत गाल गली गली हाट।
कहि श्री हरिदास जान ठाकुर विहारी तकत ओट पाट।
अष्टादश सिद्धान्त के पद, १८।

[2] गौर श्याम अंजन अँजी अंखियां आनन्द रूप।
पलकन में झलकत रहै दोऊ सुखद स्वरूप। बिहारिनदास, साखी, ६३७।

[3] नागर रसिक अनन्य सँग वर वृन्दावन जान।
गान विहारी को दरस बानी यमुना पान।
बानी यमुना पान पुलिन पुलकावलि तन में।

नित्यविहार को भाव में पूर्णतया रमाने के लिये और उसे जाग्रत करने के लिये उपासक को प्रारंभ में प्रयत्न करना होता है। वास्तव में तो उपासना विषयगत भावों के संघर्ष में भक्ति-भावों की विजय ही है। जो मन लौकिक काम में लगा है, उस मुलम्मा काम को समझ की अग्नि से जला कर दूर कर दिया जाता है और तब दिव्य काम में मन को ढाल लेना होता है।[1] भाव-सेवा की विधि उपासक को गुरु द्वारा प्राप्त होती है। सर्वप्रथम गुरु उपासक को उस रस का अधिकारी बनने के लिये अपने मन को अत्यन्त सुकोमल और प्रेममय बनाने की साधना कराते हैं। उपासक को उसका दिव्य भाव-स्वरूप बताया जाता है, जिसका वह निरंतर चिन्तन करता है। यह उसका सखी-स्वरूप होता है जो प्रतिक्षण प्रियतम की सेवा में संलग्न है। बिना सखी-स्वरूप के अनुभव के नित्यविहार की भाव-सेवा पग भर नहीं चलती। सखी-भाव के उदय होने पर ही नित्यविहार में प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है। निर्मलचित्त उपासक भाव-साधना के लिये मक्खी-मच्छर, चींटी-चींटों से रहित यमुना के निकट पुलिन में रम्य कुंजों में बैठ भाव-साधना करता है।[2]

भगवतरसिक जी, रसिक की दिनचर्या में भावना करने का स्थल स्वच्छ और उपाधि रहित होना चाहिये, ऐसा बताते हैं।[3] उनके अनुसार वृन्दावन की किसी निकुंज में स्वच्छ स्थल पर बैठ सर्वप्रथम अपनी देह को भूलने का

अनुभव रास विलास विहारिनि प्रकटत मन में।
'भगवत' नित्य विहार प्रेम उमगन रस सागर।
कुंज-कुटी अभिराम भावना निरखै नागर। अनन्य निश्चमात्म ग्रंथ

[1] ग्यान अग्नि करि औटि तन मैन मुलम्मा जारि।
दिव्य विहारनिदासि कसि लीनी साँचे ढारि।
विहारिनदास, साखी १०३।

[2] जहं मच्छर माखी नहीं चैंटा चिंटी न गम्य।
स्वच्छ सुथल जल निकट ही तहं कुंज रमण कों रम्य।
विहारिनदास, साखी ५८२।

[3] करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेइ प्रसाद लगै सब भोजन खाधा॥
अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, भगवतरसिक, पृ० ७९

यत्न करना चाहिये, अपनी देह को भूले विना रास की भावना नहीं हो सकती और उसके विना स्वामी जी की रस-रीति प्राप्त नहीं होती।

वे कहते हैं—सर्वप्रथम किसी भक्त के मुख से श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करनी चाहिये। श्रीमद्भागवत के श्रवण से ज्ञान और वैराग्य के साथ भक्ति का उदय होता है। द्वितीय स्थिति में नवधा भक्ति का पालन करना चाहिये। भक्ति-पंथ का अनुसरण करते हुए उसकी विशिष्ट साधना करने के लिए किसी चतुर रसिक व्यक्ति को अपना गुरु बनाना चाहिये और तब उसी की शरण ले विरक्त होकर वृन्दावन-निवास करना चाहिये। वैराग्य भाव को क्रमशः बढ़ाते हुए साधना द्वारा देहादि के अभिमान को भूलने का यत्न करना चाहिये। तभी रास की भावना का उदय होता है। रास की भावना से भी आगे जाकर स्वामी हरिदास जी द्वारा कथित निकुंज की परम गुप्त रस-रीति को हृदयंगम कर उपासक प्रिया-प्रियतम की नित्य केलि का अवलोकन करने में समर्थ होता है। उपासना के पहले क्रम से अंत तक ये स्थितियाँ इस प्रकार गिनाई गई हैं :—

प्रथम सुनै भागौत, भक्त-मुख भगवत-वानी।
द्वितीय अराधै भक्ति, व्यास नव भांति बखानी॥
तृतीयकरै गुरु समझि दच्छ सर्वज्ञ रसीलौ।
चौथे होइ विरक्त, बसै बनराज जसीलौ॥
पांचैं भूलैं देह निज, छठें भावना रास की।
सातैं पावै रीति रस श्री स्वामी हरिदास की॥[1]

यह पद्धति संक्षेप में ही कही गई है। भाव-साधना के लिये आवश्यक माना गया है कि सर्वप्रथम अपने गुरु का सखी रूप में ध्यान करे।[2] तदनंतर अपने आचार्य श्रीस्वामी जी के ललिता-स्वरूप को बहुत समय तक हृदय में धारण करे।[3] उन्हीं की कृपा मानते हुए अपने सखी रूप को उनके अनुग भाव में लगावे। श्रीवृंदावन की नित्य निकुंज भूमि की भावना करे। वृंदावन की कृपा होने पर ही उसका भाव मन में आता है। तदनंतर प्रिया-प्रियतम

---

[1] अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, पृ० ७९।

[2] ललितकिशोरी की साखी, पृ० २२०।

[3] निज मन में अनुभव भयौ ललिता सखी प्रसाद।
फुरी अगोचर वस्तु जग नित्य अनन्त अनाद॥
अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, पृ० १३।

के स्वरूप का चिंतन करे। प्रिया-प्रियतम के स्वरूप का सुख नेत्रों द्वारा पीता रहे और तब जैसी उनकी इच्छा हो उनका अनुगमन करता रहे।

'भाव सेवा' का आरंभिक अभ्यास विशेष स्थल पर बैठकर भले ही किया जाय, धीरे-धीरे यह प्रत्येक क्षण चलने लगता है। सोते-जागते, उठते-बैठते इष्ट का ध्यान ही उपासक को रहता है। तब किसी स्थिति में कहीं भी भाव-सेवा में बाधा नहीं आती। भाव-सेवा में नित्य सेवा आवश्यक है। प्रकट सेवा में जिस प्रकार उपासक इष्ट-सेवा करता है, उसी प्रकार भाव-सेवा में भी करना चाहिये। प्रातःकाल ही कुंज-महल के द्वार पर जब श्रीललिता जी वीणा बजाकर प्रिया-प्रियतम को जगाती हैं, रसिक भी सखी-रूप में खड़ा उनके के रूप-सुधा-पान में मत्त रहता है। सभी सखियों के साथ उपासक भी सेवा में जुट जाता है। उसका कर्तव्य है कि वह युगल की इच्छा को देखता रहे और जब जैसा उनका भाव हो उसी के अनुकूल सेवा करे। जब जिस वस्तु की आवश्यकता हो, लाकर तत्काल उपस्थित करे। प्रिया-प्रियतम को जल-विहार कराये। बाद में उनके लिये दिव्य सिंहासन की रचना कर उस पर बिठाये, दिव्य पदार्थ भोजन के लिये सामने रखे। युगल प्रेमियों के परस्पर हास-विलास पर अपने मन को लुटाता जाय। इसी प्रकार उनके कुंज-शयन तक की सेवाओं की भावना करे।

नित्य-सेवा में नित्य-उत्सव भी सम्मिलित हैं। रात, दिन, तिथि, मास और ऋतु एवं अन्य सभी त्यौहार भावक भावना में ही करता है।[1] विभिन्न उत्सवों में वह प्रिया-प्रियतम को कभी हिंडोले में झुलाता है, कभी होली खिलाताहै, कभी ग्रीष्म-महल में बिठा उनके दर्शन करता है।

भाव-उपासना की कोई सीमा नहीं है। यह व्यक्तिगत अनुभूति पर आधृत है। किसी अन्य भावक की नकल करना भी संभव नहीं है। प्रेम की अनुभूति प्रत्येक की निजी होती है। देखा-देखी प्रेम नहीं होता, अपने दूखे बिना कोई रोता नहीं है।[2] और अपना प्रेम जब तीव्र होता है तो विभिन्न प्रकार से वह प्रियतम-मय हो जाता है। उस समय रसिक और निकुंज परस्पर एक होकर झूम उठते हैं और यह पता नहीं चलता कि कौन किसमें है। वस्तुतः दोनों एक दूसरे में समाये हुए हैं :—

---

[1] निशि बासर तिथि मास ऋतु जे जग के त्यौहार।
ते सब देखौ भाव में छोड़ि जगत व्यौहार ॥ अनन्य निश्चयात्म १४–१०।

[2] श्रीविहारिनदास की साखी, ४१२।

CC0. In Public Domain, D1gitizagtion by eGangotri

हम में कुंज कुंज में हम हैं। कुंजविहारी सोई मम हैं ॥
ललित प्रिये के रस में सम हैं। अब काहू की रही न गम है ॥[1]

भावना की अंतिम अवस्था में रसिकों की इष्ट श्यामा महारानी स्वयं रसिक के प्राण बन जाती हैं। देह वृन्दावन हो जाता है और रसिक का मन सखी बन कर ललित केलि को निरखता रहता है।[2]

नित्यविहार की उपासना

पिछले अध्याय में 'नित्यविहार' के उपास्य स्वरूप का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया गया था। यहाँ, जिन्हें नित्यविहार के दर्शन का अधिकार प्राप्त हो जाता है, उन उपासकों की भावभूमि का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। साधारण ज्ञानोपासना के क्षेत्र में जिसे जीवन्मुक्त दशा कहा जाता है, इस विशिष्ट मार्ग में उस दशा के प्राप्त होने पर ही उपासक नित्यविहार का अधिकारी बनता है। जैसा पीछे निर्देश किया जा चुका है, श्रीभगवत-रसिक जी ने उपासना-क्रम में देह-विस्मरण की अवस्था को पाँचवाँ, रास की भावना को छठा और रसरीति-प्राप्ति को सातवाँ स्थान दिया है।[3] उपासक अब तक जिस भावना को सखीभाव से संजोता आ रहा था, इस सिद्ध दशा में वह स्वयं सखी-रूप होकर सखी-सुख का अधिकारी बन जाता है। स्वामी हरिदासजी के संबन्ध में भक्तमालकार ने कहा है:—

अवलोकत रहैं केलि, सखी-सुख के अधिकारी।[4]

प्रेम-साधना में प्रेम का जो भाव अबतक केवल कभी-कभी झलक ही मारता था, अब अपने विशुद्ध रूप में उपासक को रूपांतरित कर लेता है। उसका सर्वांग प्रेममय हो जाता है। उसका पंचभूतात्मक शरीर मायिक नेत्रों से सामान्य दिखाई देते हुए भी पूर्णतया प्रेम से प्रकाशित रहता है। वास्तव

---

[1] श्रीललितकिशोरी की साखी, १०५।

[2] प्रान हमारे लाड़िली, देह विपुन की आहि।
ललित-केलि निरखैं सदा छिन छिन बाढ़ै चाहि ॥
श्रीललितकिशोरी, साखी, १०६।

[3] पाँचैं भूले देह निज, छठे भावना रास की।
सातैं पावै रीति रस श्रीस्वामी हरिदास की ॥ अनन्य निश्चयात्म, पृ० ७९।

[4] भक्तमाल, नाभा जी, छप्पय सं० ९१।

में उपासक को जो सिद्ध देह प्राप्त हो चुकी होती है, उसी से वह लीलानंद का अनुभव करता हुआ सामान्य देह से विदेह होकर रहता है।[1]

उपासक का उस समय जो निजी स्वरूप होता है, उसकी चर्चा कर लेना भी आवश्यक है यद्यपि इस अंतरंग स्थिति के संबन्ध में इन रसिकों ने प्रकाशित होने के भय से स्वयं बहुत स्वल्प लिखा है।

दिव्य-सिद्ध-देह

हमें अपने चर्म-चक्षुओं से परस्पर जो मानव-देह दिखाई देती हैं, उन पार्थिव पिंडों से ही हम देह के रूप में परिचित हैं। तत्त्वदर्शी विद्वान् जानते हैं कि यह देह भी अनेक प्रकार की होती हैं। बौद्धों की निर्माण देह, जैनों की आहारण देह अथवा औपपादिक देह इसी प्रकार के देह-भेद हैं। कर्म देह, भोग देह और उभयात्मक देह की चर्चा भी आती है। पुराणों में लिंगदेह, अथवा सूक्ष्मदेह के विस्तृत वर्णन भी भरे पड़े हैं परंतु उपासना की दृष्टि से जिसे भावदेह कहा जाता है, वह उपासक को निरंतर उपास्य स्वरूप की भावना करते-करते प्राप्त होने वाली सिद्ध देह है।[2] निरंतर भावना से चित्त को उपास्य के प्रति जो तदाकारता प्राप्त होती है, वह तदाकार आंतरिक रूप ही सिद्ध भावदेह कहलाती है। पं० गोपीनाथजी कविराज ने सहजिया और वैष्णवों के इस भावदेह को सिद्धलिंगदेह के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना है। सिद्ध देह होने के कारण इसमें लौकिक संस्कार एवं कर्माशय का अभाव भी उन्होंने माना है।[3]

प्रत्येक उपासना की अंतिम सिद्धि उपासक को दिव्य देह की प्राप्ति के बिना नहीं होती। पारमार्थिक दृष्टि से एक होते हुए भी, अथवा कह सकते हैं कि अलौकिक, नित्य और विभु होने पर भी विभिन्न उपासना-भावों के अनुसार सिद्ध देह उपास्य-स्वरूपके अनुकूल ही प्राप्त होती है। सखीभावोपासकों को यह सिद्धदेह सखीरूप की प्राप्त होती है। यह सखी-देह

---

[1] देह विदेह भये जीवत ही विसरे विस्व विलास।

भक्त कवि व्यासजी, पद सं० १९३।

[2] विस्तार के लिये देखिये देवतत्त्व और मुक्ति, लेखक म० म० पं० गोपीनाथ जी कविराज, कल्याण, वेदांतांक, पृ० ६२–६८।

[3] वही पृ० ६८।

उपासक में आनंदांश का आविर्भाव हो जाने के कारण उत्पन्न होती है।[1]

'सुधर्म-बोधिनी में कहा गया है कि उपासक का निजी सखी रूप इस त्रिगुण देह से सर्वथा पृथक् है। इसी सिद्ध भावदेह को प्राप्त कर, उसमें स्थित हो उपासक नित्यविहार का दर्शन करता है।[2] उस सिद्ध देह में प्रविष्ट होने पर त्रिगुण देह का अभिमान छूट जाता है, सुख दुःख, लाभालाभ और मानापमान में उपासक की स्थिति समान हो जाती है।[3] अपना निजी रूप (सखी रूप) त्रिगुण देह से पृथक् तुरीय रूप है, जहाँ से तुरीयातीत नित्यविहार का सुरस उपासक को प्राप्त होता है।[4] ऐसी स्थिति में अंतर्मुख होकर साधक 'रस' का गान करता है और अंतरंग रूप से ही उसे श्रवण करता है। अंतरंग रूप से ही वह प्रिया-प्रियतम की छवि-माधुरी का अनुभव कर हृदय को आनंदित करता है।[5] उपासकों के इस निजी सखी-रूप का वर्णन यत्र-तत्र रसिकों ने किया है। श्रीनवलदासजी कृत विहारिनदासजी के इस स्वरूप का वर्णन पाद-टिप्पणी में उद्धृत है।[6]

---

[1] रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, ग्रन्थ की भूमिका पृ० १३।

[2] त्रिगुण देह तें पृथक है, सखी आपनौ रूप।
तामें स्थित ह्वै कै निरखि नित्यविहार अनूप॥
सुधर्मबोधिनी, लाड़िलीदास पृ० ६६

[3] वामें स्थित ह्वै कै तजौ त्रिगुन देह अभिमान।
सुख दुख लाभ अलाभ तन मानापमान समान॥ वही, पृ० ३६

[4] त्रिगुन देह तें पृथक है तुरीय आपनौ रूप।
तुरीयातीत परा सुरस नित्यविहार अनूप॥ वही, पृ० ६६

[5] अन्तरमुख रस मान करि तहाँ सुनो दै कान।
अंतरंग छवि माधुरी अनुभव हिये सिरानि॥ वही, पृ० ६६

[6] श्रीविहारिनदास किधौं विहारिनि रानी है।
एक ही सिंगार तन एक प्रान एक मन,
एक ही स्वरूप कापै परत बखानी है॥
एक ही वरन अंग भूषन वसन सुरंग,
एक ही सुभाउ राग रंग सुखदानी है॥
नवल विहार दोऊ पटतर कौ न कोऊ।
श्रीविहारिनदास किधौं विहारनि रानी है॥ श्रीनवलदास जी

उपासक की दशा

सिद्धदेह में उपासक की चित्त-वृत्ति 'तन्मयी' रहती है। उस समय उपासक के समस्त कृत्य प्राकृत से अप्राकृत क्षेत्र में होने लगते हैं। उपासक को इष्ट का सहज साक्षात्कार होने से लोक में उसके अनेक चमत्कार पूर्ण कार्य देखने में आते हैं। रसिक के जिन चमत्कारों को रस की भूमिका से सर्वथा अपरिचित व्यक्ति केवल कल्पना या भक्तों का अंधविश्वास मानते हैं, रसिकों के उस अप्राकृत क्षेत्र में वे बातें सहज सत्य होती हैं। स्वामी हरिदासजी के संवन्ध में ऐसे अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं।[1]

रसिकों को नित्यविहार की उस रसानुभूति की दशा में अपने बाह्य जीवन की कोई ज्ञान नहीं रहता। सरस रूप-सुख को प्राप्त करने वाला उपासक आनंदसिंधु में निमग्न रहता है। ऐसी स्थिति में विहारिनदास जी भोजन, स्नान भी भूल जाते थे। भोर उठे, तीन काल व्यतीत हो गये परंतु उन्हें

---

[1] कहा जाता है, किसी भक्त ने एकवार स्वामी हरिदासजी को बहुमूल्य चोवा (इत्र) लाकर भेंट किया। स्वामी जी ने शीशी उठाकर रेणुका में उलटा दी। भक्त के चित्त को बड़ा क्षोभ हुआ। स्वामीजी उसके हृदय की बात समझ गये। जब वह अन्दर विहारीजी के दर्शन करने गया, उसे वन में वही सुगन्धि प्राप्त हुई और श्रीविहारी जी के वस्त्र उसी सौरभ में सरावोर दिखाई दिये। बाद में यह रहस्य खुला। जिस समय स्वामीजी को भक्त ने इत्र की शीशी भेंट की थी, उस समय वे प्रिया-प्रियतम के साथ खेल रहे थे, उन्हीं के ऊपर स्वामी जी ने इत्र उंडेल दिया था। इस घटना की चर्चा प्रियादासजी ने भी संक्षेप में की है :—

स्वामी हरिदास रस रास को बखानि सकै,
रसिकता छाप जोई जाप मधि पाइयै ॥
लायौ कोऊ चोवा वाकौ अति मन भोवा तामें,
डारचौ लै पुलिन, यहै खोवा हिये आइयै ॥
जानि के सुजान कही, लै दिखावो प्यारे लाल,
नैंसुक उघारे पट सुगंध बुड़ाइयै ॥
पारस पषान करि जल डरिवाय दियौ,
कियौ तब सिष्य ऐसे नाना बिधि गाइयै ॥

प्रियादास कृत टीका, भक्तमाल पृ० ६०८,

अपना अनुसंधान ही कहाँ था, अपनी इस स्थिति का वर्णन उन्होंने स्वयं ही किया है।[1] रसिक निशि-वासर रस में मत्त रहता है। लौकिक मद भाँग और अफीम आदि का नशा उस नशे के सामने क्या है? इस जगत में कोई भाँग अफीम में मत्त रहता है परंतु उपासक रसमाधुरी में झूमता है। मद के प्याले पिये मत्त ये रसिक आनंद-लोक में विचरण करते हैं, विमुख-विषयी उनकी वास्तविकता को नहीं जान पाते।[2] इस रस के आनंद में मग्न की दशा लोक से विलक्षण हो जाती है। समस्त शोभा, सकल प्रेम, सुख और स्वरूप उसके अंग-अंग से झलकने लगता है। सिद्ध हरिदासी जी का रसिक स्वरूप इस दिव्यता का साक्ष्य दे रहा है।[3]

हम पहिले कह चुके हैं कि नाम-जप उपासना का महत्वपूर्ण अंग है परंतु नित्यविहार में नामी को स्वयं अपना नाम नहीं भाता। जहाँ नित्यविहार में नाम-नामी एकरस हो रहे हैं, वहाँ नाम है ही नहीं। उस आनंद में रसिक मौन ही हो जाते हैं। नित्यविहार में प्रकट सेवा भी विलीन हो जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्रकट सेवा छूट जाती है अपितु यह कि प्रिया-प्रियतम का साकार विग्रह और प्रिया-प्रियतम दोनों एक होकर सर्वत्र सर्वदा रसिक के साथ रहते हैं। फिर सेवा की साधारण विधि भी छूट जाती है। रात दिन मन जिन पर न्यौछावर हो आरती उतारा करता है, उनकी

---

[1] सरस रूप सुख में सने अटक्यो मन गुन गान।
विहारीदास जानै नहीं कित भोजन अस्नान॥
उठि बैठ्यौ हो भोर ही एक तान गुण गान।
आवत जात अथै गयो तीन काल अस्नान॥
विहारिनदास जी की साखी ४७६–४७७

[2] कोऊ मदमाते भाँग के कोऊ अमल अफीम।
विहारीदास रस-माधुरी मत्त मुदित तो फीम॥
विहारीदास घूमत रहे मत्त पियाले नित्त।
सावधान सोफी मुखी विषयी विमुख नसत्त॥ वही, २९८–२९९

[3] सोभा कौ सोभा सुप्रेम कौ प्रेम महारस आनन्द केलि विलासी।
सुष कौं सुष देत सरूप कौं रूप, सनेह कौ सागर श्रीहरिदासी।
रस कौं रस सार महारिझवार उदार विहार विहारनिदासी।
अभै पद कौं अभय करि देत महामधुरे रस पीवत प्यासी॥
श्रीललितकिशोरी, सिद्धान्तरत्नाकर, पृ० १८

रस-आरती के सम्मुख आग की आरती किस काम की? इससे तो स्वामी खीझेगा ही :—

आरति करत विहार की रस-आरती विहाय।
आगि वारि आरति करैं सेवत खसम खिजाय ॥[1]

नित्यविहार की प्राप्ति पर नेत्र मूँद कर ध्यान भी कोई महत्व नहीं रखता। जब प्रिया-प्रियतम समक्ष हैं, तो ध्यान किसका? भावना का ध्यान-तत्त्व नित्यविहार में विलीन हो जाता है। भाव-सेवा भी प्रत्यक्ष सेवा में नहीं चलती। यह बात समझ रखनी चाहिये कि उपासक के न तो शरीर के हाथ-पैर सेवा में चलते हैं, न ध्यान द्वारा भावना के हाथ-पैर। वस्तुतः जैसा पीछे कहा गया है, सखीभाव की भावना करते हुए उपासक को प्रिया जी की कृपा होने पर जो नित्य सखी-रूप प्राप्त हो जाता है, वही नित्यविहार में प्रिया-प्रियतम की सेवा करता है। उपासक का वास्तविक शरीर वही हो जाता है जो पूर्णतया दिव्य आभूषणों शुचि वस्त्रों एवं दिव्य रूपमय है। वह नित्य षोडशी अवस्था में स्थित है। वही उपासक का वास्तविक रूप है, जगत का शरीर तो केवल दूसरों के देखने के लिये है।

सखी-रूप में सेवा

नित्यविहार के उपासक को सेवा में ही सुख मिलता है। वह सेवा स्वाभाविक है। उस सुख का वर्णन विहारीदास ने किया है। शय्या पर विराजे प्रिया-प्रियतम के चरणों को सखी दबा रही है, अभ्यंजन कर रही है। उनकी एड़ी सखी की ठोड़ी से लगी है, यह सुख अद्भुत है :—

चांपति चुपरति सेज पर बिहारीदास सुख मौन।
ठोड़ी सौं एड़ी लगी यह सुख समुझै कौन ॥[2]

महल की टहल प्राप्त करने पर बोलना और डोलना अपनी इच्छा पर नहीं रहता। प्रिया-प्रियतम की अङ्ग-संगिनी बन कर वहाँ रहना होता है।[3] युगल के तनिक से भी इङ्गित को समझ कर ही कोई शब्द निकलता है। 'नैन की कोर' हिली नहीं कि कार्य संपन्न हुआ नहीं।[4] सखी सदैव ही काम-केलिवश

---

[1] विहारिनदास की साखी १०४। [2] श्रीविहारिनदास, साखी १०।

[3] यों बोलियै न डोलियै टहल महल की पाय।
श्रीविहारीदास अङ्ग संगिनी कहत सखी समुझाय।
विहारिनदास की साखी, १०५।

[4] स्वास समुझि सुर बोलिये डोलि नैन की कोर।
मैननि चैन न पावही विहरैं जुगलकिसोर। वही १०६।

हुए प्रिया-प्रियतम की सेवा में तत्पर रहती है। सखियों ने प्रिया-प्रियतम को जो आभूषण धारण करा रखे हैं, वे भी विहार में दूषण जान पड़ते हैं। भूषणों को हटाकर नित्यविहार का आनंदोल्लास निष्पन्न होता है। सखी युगल के मन के मर्म को जानती हैं, तदनुसार उनकी सेवा करती हैं और आनन्द प्राप्त करती हैं।[1]

विहार की आवर्त-तरङ्गों में पड़े प्रिया-प्रियतम को सखी ही विहार में प्रवृत्त किये रहती हैं।[2] वही उनके श्रम को दूर करती हैं, उन्हें क्रीडा के किनारे लगाती हैं और धीरज देती हैं।[3] सखीत्व ही उपासक का परम साध्य है। इससे आगे और कोई सुख नहीं। सखी नित्यविहार का एक आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग है। प्रेम-लीला में प्रेम का वह अन्यतम रूप है। उस प्रेमलीला के सुख को लोक में कोई नहीं पहिचान सकता। उसे तो, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव किया है, वही जानता है।

"जिसने अनुभव नहीं किया वह मान भी कैसे सकता है। प्रसूती की पीर को बांझ क्या जाने? नपुंसक रति के सुख की कल्पना भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार माया-ग्रस्त रस से दूर पुरुष रस को नहीं समझ सकता। रसिक ही नित्यविहार के आनन्द का हृदय में अनुभव करते हैं। मयूर ही आकाश में मेघ की गति को पहचान सकता है।"[4] अनुभवी द्रष्टा ही उपासना के इस तत्त्व को जानते हैं। रस की उपासना ही सखीभाव का लक्ष्य है और सभी रूप से नित्यविहार की प्राप्ति उसकी चरम स्थिति है।

* * *

---

[1] बुरौ शृंगार विहार में भूषण दूषण जानि।
बिहारीदास सेवत सुखहि मन को मर्म पिछानि। वही १०८।

[2] तरुन तरंगनि में परे उरझे बार सिवार।
पैरहि साहस सखिन के अति आवर्त बिहार। वही १२९।

[3] स्रमहिं निवारति कर धरति कवहू लावति तीर।
बिहारिनदासी हुलास मन देति अधीरनि धीर। वही १३०।

[4] जो जानै मानै सोई मानै क्यों बिन जान।
पीर प्रसूती की कहा जानै बांझ अजान।
जानै बांझ अजान नपुंसक रति-सुख नाहीं।
ऐसेहिं नीरस पुरुष कहा समुझै रस माहीं॥
भगवत नित्यविहार रसिक अनुभव उर आनै।
गूढ़ बात नभ जाति जात बरही जो जानै॥
अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, भगवतरसिक जी पृ० ४१-१।

साहित्य-पक्ष

२६ कु०

प्रथम अध्याय

साहित्य-विचार

सखीभाव-सम्बन्धी साहित्य

हिन्दी-भक्ति-काव्य की कृष्ण-भक्ति-धारा और राम-भक्ति-धारा दोनों में ही सखीभाव-संबंधी साहित्य विपुल मात्रा में प्राप्त है। कृष्णभक्ति-धारा का सखीभाव-सम्बन्धी साहित्य अधिक प्राचीन और मौलिक है। वास्तव में भक्तिकाल का अधिकांश मधुर रस का साहित्य सखीभाव से सम्बन्धित है और उसकी रचना सम्प्रदायों के माध्यम से हुई है। प्रमुख रूप से सखीभाव से उपासना करने वाला सम्प्रदाय स्वामी हरिदास जी का सखी-सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के सखीभाव का वैशिष्ट्य सिद्धान्त भाग में दिखाया जा चुका है, अन्य सम्प्रदायों के सखीभाव की भी अपनी अपनी विशेषताएं हैं। परन्तु जिन आधारभूत मान्यताओं को सखीभाव के साहित्य की कसौटी माना जा सकता है उनकी संक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार है:—

१. उपास्य के रूप में नित्यविहारी अथवा राधाकृष्ण की नित्य युग्म-रूप में मान्यता। केवल राधा अथवा केवल कृष्ण को लेकर लीला-प्रसार नहीं होता। इसी प्रकार युग्म जहाँ 'एक' का निषेध करता है, वहाँ 'दो' से अधिक को भी स्वीकार नहीं करता। अनेक नायिकात्व का सिद्धान्त सखीभाव के अनुकूल नहीं बैठता। नित्ययुगल की उपासना सखीभाव के साहित्य की प्रथम विशेषता है।

२. सखीभाव विशुद्ध प्रेम की उपासना है। यह प्रेम राधा और बिहारी के बीच 'सम' है। विषमता अखण्ड आनन्द में बाधक होती है। अतः सखी-भाव-सम्बन्धी साहित्य की दूसरी आधारभूत मान्यता प्रियाप्रिय का 'सम' प्रेम है।

३. मूल रूप में प्रेम 'सम' होते हुए भी लीला के आनन्द-वैचित्र्य के लिये इस साहित्य में श्रीराधा की प्रधानता अनिवार्य है।

४. प्रेम की समानता और तीव्रता के कारण इस साहित्य में वियोग स्वीकार्य नहीं है। मान, प्रवास, विरह और करुण इन चार वियोगदशाओं में से किसी का चित्रण सखीभाव के साहित्य में नहीं होता है। यहाँ जो मान का चित्रण होता है, वह वियोग का अंग न होकर संभोग शृङ्गार की तीव्रता

का विधायक है। केवल संयोग श्रृङ्गारलीलाओं का चित्रण सखीभाव के साहित्य की अपनी विशेषता है।

५. नित्यविहारी की नित्य लीलाएं अखण्डनीय अनाद्यंत हैं। यहाँ व्रजलीला के समान किसी अन्य रस आदि का अंतराय नहीं है। सखीभाव के साहित्य में मधुर रस की लीलाओं में अन्य रसों का मिश्रण नहीं होता।

६. नित्य युग्म की सेवा केवल सखीभाव से मान्य है।

७. सखीभाव तत्सुखीभाव है। सखियों में रिरंसा नहीं होती। उनका प्रत्येक कार्य प्रिया-प्रियतम के सुखार्थ होता है।

सखीभाव की उपर्युक्त मान्यताएं अविकृत रूप में हरिदासी सम्प्रदाय में प्राप्त हैं। अन्यत्र व्रजलीलाओं की आधारभूमि ग्रहण होने अन्य प्रकार का तात्विक सम्मिश्रण भी हुआ है। इस कारण विभिन्न सम्प्रदायों में रूपात्मक भिन्नता को स्थान प्राप्त हो जाता है। अन्य सम्प्रदायों का जो मूल उपास्यभाव है, उससे और सखीभाव में जो तारतम्य है, उसका निदर्शन प्रत्येक सम्प्रदाय के आरंभ में प्रस्तुत किया जायगा।

सखीभाव सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन के लिये आठ कृष्णभक्त-सम्प्रदायों की इस दृष्टि से समीक्षा की जा रही है। ये सम्प्रदाय हैं—

१. स्वामी हरिदास जी का सखी-सम्प्रदाय।
२. हित हरिवंश जी द्वारा प्रवर्तित राधावल्लभ-सम्प्रदाय।
३. निम्बार्क-संप्रदाय।
४. गौड़ीय या चैतन्य-सम्प्रदाय।
५. वल्लभ सम्प्रदाय।
६. वंशीअलि जी द्वारा प्रवर्तित ललित-सम्प्रदाय।
७. प्राणनाथ जी द्वारा प्रवर्तित प्रणामी-सम्प्रदाय।
८. चरणदास जी द्वारा प्रवर्तित शुक-सम्प्रदाय।

सखीभाव-साहित्य की रचना विभिन्न सम्प्रदायों के वृत्त में होने के कारण उसकी एक सामान्य भावभूमि होती है परन्तु कालान्तर में सम्प्रदाय में भी विचारों के परिवर्तन के कारण मान्यताओं में अंतर दृष्टिगोचर होने लगता है। इसे ही सखीभाव का सम्प्रदायगत विकासक्रम माना जा सकता है।

सम्प्रदाय की एक भूमि होने पर भी उपासना के व्यक्तिगत होने के कारण सखीभाव के साहित्य का अध्ययन व्यक्तित्व के साथ करना आवश्यक हो जाता है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों का व्यक्तित्व कभी एक नहीं हो सकता,

अतः एक सम्प्रदाय के अंतर्गत होते हुए भी प्रत्येक कवि का अपना विशिष्ट प्रकार का काव्य होता है। उसका कवि की साधना अथवा व्यक्तित्व से पूर्ण सम्बन्ध होता है। अतः व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक भूमिका के आधार पर साहित्य का अध्ययन सुलभ हो सकता है।

सखीभाव सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन सम्प्रदाय, उसके अंतर्गत सखीभाव का सामयिक रूप और व्यक्तिगत साहित्य तीनों दृष्टियों से अपेक्षित है।

साहित्यिक वैशिष्ट्य

प्रत्येक क्षेत्र की अपनी विशिष्ट मान्यताओं के कारण तत्संबंधी साहित्य की अपनी विशिष्ट सीमाएँ और स्वरूप निर्द्धारित हो जाता है। साहित्य का रूप-परिवर्तन तभी हुआ करता है, जब किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के कारण समाज की अन्तश्चेतना में परिवर्तन होता है। रूढियों का विरोध कर नव चेतना की सूक्ष्मता और भावमयता को लेकर जब साहित्य में किसी नवीन विधा जन्म होता है, तब वर्गीकृत साहित्य से मुक्त और विशृंखलित नवीन धारा को आलोचकों द्वारा स्वच्छंद काव्य का नाम दिया जाता है। हिन्दी साहित्य में छायावाद और उससे पूर्व रीतिकाल में घनानंद आदि के स्वच्छंदतावादी साहित्य का निकष यही है। भक्तिकाल के वर्गगत साहित्य की सूक्ष्म प्रतिक्रिया विशुद्ध सखीभाव की धारा में उपलब्ध होती है। एक ओर पुराणों की राधाकृष्ण सम्बन्धी विस्तृत और व्यापक स्थूल लीलाएँ और दूसरी ओर उन्हीं के आधार पर ब्रज, मथुरा और द्वारिका की कृष्णलीलाओं की सुदीर्घ स्थूल श्रृङ्खला में विशुद्ध प्रेम तत्व का अविकृत प्रकाशन नहीं हो पा रहा था। अतः इस सूक्ष्म प्रेम की उपलब्धि के निमित्त सखीभाव के साहित्य का पुरस्सरण हुआ। भक्तिकाल में प्रचलित साधारण काव्यशैलियों के स्थान पर स्वामी हरिदास जी और ध्रुवदास जी ने मनोवैज्ञानिक आधार लेकर अनुभूति और कला दोनों ही दृष्टियों से काव्य की नूतन विधा को जन्म दिया। एक ओर सखीभाव की उपासना-पद्धति विधि-निषेध से परे है, उसका उपास्य निर्मुक्त स्वच्छंद युगल है, जो भाव-जगत् की सूक्ष्मतम उपलब्धि है साथ ही साहित्यिक अभिव्यक्ति में भी नवीनता है। उपास्य और उपासना-पद्धति के सम्बन्ध में विस्तार से कहा जा चुका है। साहित्यिक अभिव्यक्ति का जहाँ तक प्रश्न है उस संबंध में कहा जा सकता है कि—

१. सखीभाव का साहित्य प्रधानतया अनुभूतिपरक होने के कारण शास्त्रीय रूढ़िवाद से विमुक्त है।

२. रचना-शैली में छंद के सामान्य बंधन की अस्वीकृति, साथ ही आत्माभिव्यंजन की संगीत-प्रधान पद-शैली का आश्रय लिया गया है।

३. काव्य के कृत्रिम अलंकरण की ओर इन कवियों का ध्यान प्रायः नहीं है।

४. सूक्ष्मानुभूति का प्रकाशन भाषा की अभिधा शक्ति से संभव नहीं होता अतः घनानंद से भी पूर्व लक्षणा शक्ति का मुक्त प्रयोग और व्यंजना का आश्रय इन कवियों ने लिया है।

रस-परिपाटी

'काव्य की आत्मा रस है,' सखीभाव के समस्त साहित्यकारों को एकमत से यही सिद्धान्त मान्य है, ऐसा कहना युक्तियुक्त होगा। उनकी दृष्टि में संपूर्ण जगत् की आत्मा वही रस है और वही नित्यविहारी का लीला रस उनके काव्य का प्राण है।

'रस' शब्द का प्रयोग बहुविध होता है। 'आस्वाद्यते इति रसः' अथवा 'रस्यते इति रसः' रस की ये परिभाषाएँ सामान्य ही हैं। प्रश्न है कि रस का क्षेत्र क्या है और सखीभावोपासकों ने किस रस को अपने काव्य की आत्मा माना है। साधारणतया रस के तीन क्षेत्र माने जा सकते हैं :—

१. लौकिक विषयानन्द।

२. काव्यगत रस।

३. ब्रह्मानंद अथवा भक्ति-लीला-रस।

लौकिक विषयानन्द प्राकृत होने के कारण स्थूल है। उसका आस्वाद क्षणिक और बंधनकर भी है, अतः रसिकों की दृष्टि में वह हेय है।

काव्यरस की विशेषता है कि वह सत्त्वप्रधान होता है, अर्थात् इसमें ऐन्द्रियता नहीं होती। अखण्ड होता है, अर्थात् यह एक संपूर्ण चेतना होती है (विभाव अनुभावादि की पृथक् अनुभूति नहीं होती)। चिन्मय होता है, अर्थात् इच्छा और बुद्धि सहित होता है। उसे वेद्यान्तरस्पर्शशून्य कहा गया है, क्योंकि इसकी अनुभूति के समय अन्य किसी सत्ता का अनुभव नहीं

होता। यह ब्रह्मास्वाद के निकट ही जा पहुँचता है। इसे लोकोत्तर-चमत्कार-प्राण कहा गया है।[1]

लौकिक अनुभूति और काव्यानुभूति में बहुत अन्तर होता है। काव्यानुभूति कवि के अनुभव अथवा उसके मनन आदि पर अवलंबित परन्तु संस्कारोत्थित आनन्द का नाम है। कवि उसका भावन करता है और काव्य द्वारा आस्वाद-गोचर कर उसे प्रत्येक सहृदय तक पहुँचा देता है। कवि के समान ही पाठक भी उस सूक्ष्म भावना का, वासना के सत्त्व के जागने पर, अनुभव करता है, वही रसानुभूति है। जिन विभिन्न अङ्गों के समवाय से रसानुभूति होती है, भरत के अनुसार उसका सूत्र है, 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति'।

ब्रह्मास्वाद अथवा लीला-रस काव्यरस से भी परे की वस्तु है। काव्यरस अपनी समस्त विशेषताओं के होने के पश्चात् भी केवल ब्रह्मास्वाद की झलकमात्र दे पाता है। वह ब्रह्मास्वाद नहीं हो पाता। काव्य-रस अन्ततः लौकिक विषयों की अनुभूति का ही प्रकारान्तर से उन्नयन है, जो ब्रह्मास्वाद की सीमाओं को छूने का यत्न करता है। ब्रह्मास्वाद वस्तुतः अनिर्वचनीय और रसिकों द्वारा केवल अनुभवगम्य आनन्द है।

काव्यरस और भक्तिरस का सम्बन्ध क्या है, यह एक बहुत ही विचारणीय प्रश्न रहा है। देवादि विषयक रति को काव्यशास्त्रियों ने भाव-मात्र माना है, रस नहीं। प्रारम्भिक काव्यशास्त्री भक्ति का उतना अधिक विशाल आधार प्राप्त नहीं कर सके, और परवर्ती रूढ़ि के कारण उसे काव्य-रस में स्थान नहीं दे पाये। भक्ति-रस को भिन्न कोटि में रखने के कारण उन्होंने उसे काव्यक्षेत्र में रसरूप में स्वीकृत नहीं किया। जो हो, यह काव्य-शास्त्र का एक विवादास्पद विषय है।

भक्तिकाल में भक्तिरस सम्बन्धी अनेक रचनाएं हुईं। उस समय इसकी रस-परिपाटी का भी निर्धारण किया गया। श्री रूप गोस्वामी ने 'हरिभक्ति-

---

[1] सत्वोद्रेकादखण्डः स्वप्रकाशनन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः। साहित्य दर्पण।
डा० सत्यव्रतसिंह, पृ० १०५

रसामृतसिंधु' और 'उज्वलनीलमणि' की रचना की। उनके अनुकरण पर 'सिद्धान्त-रत्नाञ्जलि', 'भक्ति-रसायन' आदि ग्रन्थों की रचना हुई। इन लोगों ने लौकिक विषयानुभूति के आधार पर निर्मित काव्य को रस-कोटि से वहिर्गत कर दिया और भगवद्रस से सम्बन्धित विषय को ही रस-दृष्टि से देखा। इनके अनुसार भक्तिरस ही प्रधान है, जिसमें रुचि की भिन्नता के कारण शान्त, प्रीति, प्रेयस्, वात्सल्य और मधुर ये पांच प्रधान और हास्यादि ये सात गौण रस माने गये। बारहों रस भक्ति से ही सम्बन्धित हैं। यह भक्ति-शास्त्रियों की एक नवीन पद्धति थी परन्तु इस रस की सिद्धि के लिये उन्होंने किंचित् परिवर्तन के साथ भरत के काव्यसूत्र को ही स्वीकृत कर लिया।

वास्तव में काव्यशास्त्रियों की और भक्तिशास्त्रियों की ये दोनों दो भूमिकाएं हैं। दोनों के सहृदय भी भिन्न हैं। वैष्णव-रस-शास्त्रियों की दृष्टि में काव्य का सहृदय, "भक्तिजल से धुले दोषों से प्रसन्न चित्त वाला वह व्यक्ति जो भक्तों में अनुरक्त है, रसिकों के रंग में रंगा, गोविन्द के चरणों में प्रीति रखने वाला और प्रेम के अंतरंग कृत्य करने वाला है"।[1]

इन दोनों दृष्टियों का कहीं भी मेल नहीं है। दोनों की दो भूमिकाएं हैं परन्तु जब भक्ति काव्यगत रस रूप में प्रस्तुत होती है तब वहाँ सामान्य काव्यशास्त्री और वैष्णव रस-शास्त्री को एक स्थान पर आना ही होता है। यदि भक्तिकाव्य का सहृदय कोई भक्ति—साधना करने वाला रसिक है, तब तो उसे काव्य के माध्यम से भी लीला-रस का ही अनुभव होगा परन्तु यदि वह साधारण काव्य का सहृदय है, तब उसे काव्य-रस का अनुभव होगा, जिसे भक्ति रस कहा जा सकता है। यह भक्ति-रस काव्य-रस ही है। भक्तिरस जहाँ उपासना का रस है, वहाँ उसकी क्रिया और स्वरूप अनिर्वचनीय परन्तु भक्त के व्यक्तिगत अनुभव की वस्तु होता है। वही काव्यगत होने पर साधारण काव्य-रसिकों के लिये काव्यानन्द के ही समान होता है। जिस प्रकार प्रकृत विषयों का आलम्बन करने वाली कविता रस-दृष्टि से काव्य में सूक्ष्मता, अलौकिकता आदि ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार भक्तिरस काव्यगत होने पर अपनी उच्चतम सूक्ष्म और व्यक्तिगत अनुभूति से उतर कर सामान्य

---

[1] हरिभक्तिरसामृत सिंधु, दक्षिए विभाग, विभाव लहरी, श्लोक सं० ८ से १० तक।

पाठक के लिये काव्यरस की कोटि में आ जाता है। उपासक तो इस काव्यपाठ के समय भी अनिर्वचनीय भक्तिरस का आनन्दानुभव करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि काव्यगत होने पर भक्तिरस के दो पक्ष हो जाते हैं, एक रसिक भक्तों का लीलानन्दास्वाद; दूसरा सामान्य सहृदयों का भक्तिकाव्यानन्द। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का सूर की कविता के विषय में कथन है, 'यद्यपि सूर का काव्य कृष्ण के निर्विषय भक्तों के ही सम्यक् आनन्द का हेतु है परन्तु काव्य और कलाओं के सत्पात्र पाठक भी अपने अपने मनोनुकूल उससे रस प्राप्त करते हैं। कला की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता यही है कि उसका तत्व तो पारदर्शी रसिकजनों को ही प्राप्त हो, किन्तु उसका सामान्य आनन्द सर्वजन सुलभ बन जाय'।[1] डॉ० दीनदयालु गुप्त की भी यही सम्मति है।[2]

ब्रह्मानन्द से भी परे जो लीलारस है, रसिकों के अनुसार उसकी प्राप्ति सखीभाव द्वारा ही होती है। इस भाव द्वारा स्वयंसिद्ध लीलारस का अनुभव होता है परन्तु काव्यगत होने पर वह रस भरत की रस-परिपाटी द्वारा निष्पन्न होता है।

* * *

---

[1] महाकवि सूरदास, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ८८

[2] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ५ ६

द्वितीय अध्याय

सखी-सम्प्रदाय के प्रमुख कवि और उनका काव्य

इस अध्याय के आरम्भ में ही यह स्मरण करा देना उपयुक्त जान पड़ता है कि स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय का मूल उपास्य-भाव सखीभाव के विशुद्ध स्वरूप की समीक्षा सिद्धान्त पक्ष में विस्तार से की जा चुकी है, अतः यहाँ इस सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों और कृतित्व की समीक्षा ही उपस्थित की जा रही है।

स्वामी हरिदास जी का जीवन-परिचय—

स्वामी हरिदास जी के जीवनवृत्त के लिये अन्तस्साक्ष्य के रूप में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है। सम्प्रदाय के क्षेत्रों में जो जीवनचरित्र अभी तक लिखे जाते रहे हैं, उनमें स्पष्ट रूप से वैमत्य दिखाई देता है। शोध-प्रवन्ध के रूप में डा० गोपालदत्त जी ने 'स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य' में स्वामी जी के जीवन के सम्बन्ध में विचार किया है परन्तु उनके अप्रकाशित प्रबंध को देखने से उनके अनेक निष्कर्षों के साथ सहमत होना कठिन जान पड़ता है। प्रस्तुत प्रवन्ध में जीवन सम्बन्धी विवेचन के लिये अधिक स्थान न होने पर भी डा० गोपालदत्त जी के निर्णयों की समीक्षा के साथ स्वामी हरिदास जी के जीवन के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है।

स्वामी हरिदास जी के जीवन के सम्बन्ध में जिस ग्रन्थ को गोपालदत्त जी ने आधार बनाया है, वह है निजमतसिद्धान्त। स्वयं डा० गोपालदत्त जी इस ग्रन्थ को पूर्ण प्रामाणिक नहीं मानते परन्तु विवेचन में इसी की मान्यताओं से प्रभावित होते दिखाई देते हैं। 'निजमतसिद्धान्त' के सम्बन्ध में उनका मत है—'ग्रन्थकर्ता की रुचि अन्य वार्ताकारों की भाँति वहुत बढ़ा चढ़ाकर कथन करने की है। कहीं कहीं तो ये कथन इतने काल्पनिक होगये हैं कि सारा ग्रन्थ एक पुराण बन गया है······संतों की वार्ताओं में प्रायः सभी लेखक चमत्कारों का वर्णन करते हैं, परन्तु यह लेखक इस सम्बन्ध में उनसे

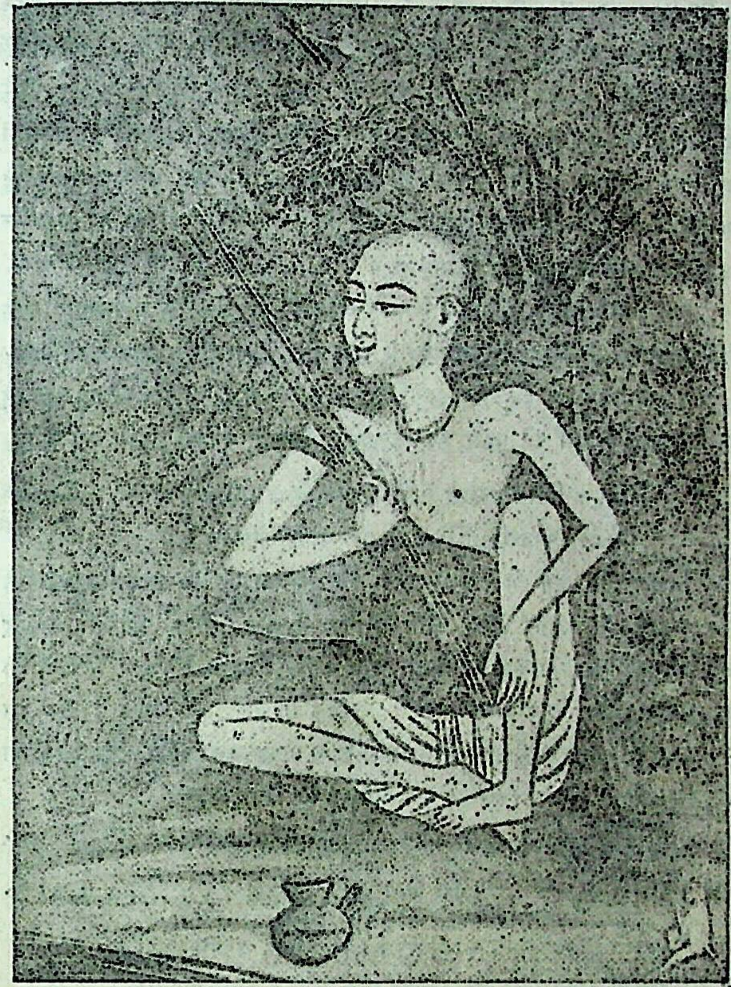

स्वामी हरिदास जी का 'भारत कला भवन' से प्राप्त चित्र
रचनाकाल १८ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध
मस्तक पर निम्बार्क तिलक।

दो कदम आगे बढ़ गया है। लेखक की कल्पना की उड़ानों के कारण इसे पूर्ण प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता है।'[1]

'निजमत-सिद्धान्त' के संवतादि के सम्बन्ध में विद्वान् शोधकर्ता का कथन है कि 'इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर आचार्यों के जन्म, मृत्यु, दीक्षा आदि के संवत् दिये गये हैं। हमारा अनुमान है कि स्वामी हरिदास जी से लेकर अपने गुरु तक के महानुभावों के गद्दी पर बैठने तथा निधन-संवत् के लिये तो इस ग्रंथ के लेखक के पास पुष्ट परंपरा प्राप्त आधार रहे होंगे। स्वामी हरिदास जी तथा अपने निकट भूतकाल के आचार्यों के जन्म-संवत् आदि का ज्ञान भी इन्हें रहा हो, ऐसा संभव है। परन्तु अन्य संवतों का आधार कहीं-कहीं कल्पना मात्र ही हो सकता है'।[2]

हम स्वामी जी के पश्चात् होने वाले आचार्यों के सम्बन्ध में भी जो स्पष्ट ऐतिहासिक समय की भूलें इस ग्रंथ में भरी पड़ी हैं, उनका उल्लेख करते हैं—

१. स्वामी जी के शिष्य बीठल विपुल का जन्म १५३२ वि० लिखा गया है वे, गृह में तीस वर्ष रहे परन्तु विरक्त होने की तिथि १५५० लिखी गई है।

विपुल शिष्य स्वामी किये तब ते जन्म प्रकाश।
संवत पन्द्रासै अधिक, ता ऊपर पंचाश॥[3]

विचारणीय यह है कि स्वामी हरिदास जी का विरक्त होना उन्होंने सं० १५६२ में माना है। ऐसी स्थिति में यह संवत् पूर्णतया अशुद्ध और अमान्य है। आश्चर्य है कि इस भूल को टट्टी स्थान के अन्य ग्रंथों में भी दुहराया गया है।[4] यदि जन्म-संवत् १५३२ में ३० वर्ष जोड़ दें तब भी सं० १५६२ आता है। इस सम्बन्ध में डा० गोपालदत्त जी ने पृष्ठ २२४ की पाद-टिप्पणी में विचार किया है, पर चलता कर दिया है।

२. इस ग्रन्थ में बीठल विपुलजी का वृन्दावन-निवास ७० वर्ष लिखा है।[5] यदि वे सं० १५५० में वृन्दावन आये तो उनकी मृत्यु इस हिसाब से १६२०

---

[1] स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणीसाहित्य पृ० १६१

[2] स्वामी हरिदासजी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य,
डा० गोपालदत्त

[3] निजमत सिद्धांत, अवसान खंड पृ० ५ पांडु लिपि पृ० १२०

[4] ललित प्रकाश, सहचरि शरण, पृ० २०२, (हस्त०)

[5] निजमतसिद्धांत, किशोरदास, अवसान खंड, पृ० ५

में होनी चाहिये। 'निजमत' के अनुसार यह तिथि १६३२ है। इसमें परस्पर असंबद्धता है।

३. बीठल विपुल जी के शिष्य थे विहारिनि दास। विहारिनि दास का जन्म विरक्त अवस्था में स्थित स्वामी जी के आशीर्वाद से हुआ था, ऐसा निजमत-सिद्धांत' का कथन है। उनका जन्म सं० १५६१ लिखा गया है।[1] पुनः यहाँ भी वही प्रश्न है कि 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार सं० १५६२ में विरक्त होनेवाले स्वामी जी के आशीर्वाद से सं० १५६१ में ही बिहारिनिदास का जन्म कैसे हो गया?

दूसरे, बिहारिनिदास, जो अकबर के दीवान मित्रसेन के पुत्र थे, बैरम खां के पुत्र अब्दुर्रहीम खानखाना के साथ आसाम के वानर-राज्य से लड़ने गये। अब्दुर्रहीम खानखाना ने धोखे से वहाँ के मंत्री कमलापति को विष दे दिया। विहारिनिदास जी ने इससे दुखी हो अपनी बांह काट डाली और कमलापति के पुत्रों को दे दी कि इसे पिता की लाश के साथ रख दें। पन्द्रह दिन पश्चात् वृन्दावन आने पर उनकी बांह भी पुनः उग आई और कमलापति भी जीवित हो गया। वृन्दावन लौटने का संवत् १५९४ 'निजमत सिद्धान्त' ने दिया है।[2] इस घटना पर विचार करने से ज्ञात होता है :—

(अ) जब अकबर सं० १६१२ में गद्दी पर बैठा तब उसके दीवान के पुत्र बिहारी दास सं० १५६१ में कैसे उत्पन्न हुए?

(आ) अब्दुर्रहीम खानखाना का जन्म वर्ष इतिहास के अनुसार सं० १६१३ (दिसम्बर १७, १५५६ ई०) है।[3] तब सं० १५९४ के पूर्व की लड़ाई में कैसे उन्होंने धोखा देकर कमलापति को मार डाला?

(इ) विहारिनिदासजी का वृन्दावन-आगमन-काल सं० १५९४ पूर्णतः अशुद्ध है, तब तक अकबर गद्दी पर भी न बैठा था।

---

[1] निजमत सिद्धांत, किशोरदास, अवसान खंड, पृ० १०३।

[2] वही, पृ० १०३।

[3] Abdurahim was born at Lahore on Dec. 17, 1556 = Safar 14 A. H. 964 (Beale and Blochman).

Akbar, the Great Moghul P. 118, note 2.

और देखिये मआसिरे रहीमी, हिन्दुस्तान साप्ताहिक १२ फरवरी १९५६ पृ० १५ पर उद्धृत।

(ई) वानरों से युद्ध और भुजा का निकलना, कमलापति का जीवित होना केवल कल्पना हैं।

४. बिहारिनिदास के शिष्य थे सरसदास। बिहारिनिदास का निधनकाल सं० १६५९ लिखा गया है[1] और उनके शिष्य सरसदास का जन्म सं० १६६१ लिखा है।[2] गुरु की मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् शिष्य का जन्म और उनका गुरु से दीक्षा लेना स्पष्ट ही भूल है।

५. सरसदास और नागरीदास कमलापति के पुत्र थे। सं० १५९४ में वे युवक दिखाये गये हैं[3] और आगे सं० १६०० में नागरीदास का जन्म लिखा गया है।[4]

ऊपर स्वामी हरिदास जी के पश्चात् होने वाले कुछ महात्माओं से सम्बन्धित संवत् रखे गये हैं, जिनमें भयंकर भूलें हैं। जो लेखक द्वापर के अंत से प्रत्येक आचार्य का संवत लिखने बैठ गया हो कल्पना का ऐसा धनी, ऐतिहासिक सत्य की रक्षा भी कैसे कर सकता है? पीछे केवल कुछ ही उदाहरण दिये गये हैं, परन्तु 'निजमत-सिद्धान्त' में पग-पग पर यही सब है। चरित्रों की गढन्त करनेवाले, प्रत्येक घटना पर अशुद्ध तिथि देने वाले, लेखक की अशुद्धियों को जान कर भी, शोध-कर्ता विद्वान् ने चरित्र-निर्णयों में इसी के अनुवाद कर उन्हें प्रामाणिक मान लिया है, यह स्थिति उपहासास्पद ही है। 'निजमत-सिद्धांत' निश्चित् रूप से 'मूलगोसाईं चरित' की कोटि का अप्रामाणिक ग्रन्थ है।

यहाँ हमने इस ग्रंथ के कुछ भाग का विवेचन इसीलिये किया है कि यह स्वामीजी के सम्बन्ध में भयंकर भ्रान्ति उत्पन्न करता है और इस संप्रदाय के शिष्य-परंपरा के अन्य ग्रंथों का मूलाधार यही है।

अब रहा स्वामी हरिदासजी का जीवन-सम्बन्धी प्रश्न! डा० गोपालदत्त के अनुसार इस सम्बन्ध का प्राचीनतम ग्रंथ 'निजमत सिद्धान्त' ही है, दूसरे पक्ष को प्रस्तुत करने वाला कोई ग्रन्थ इससे प्राचीन नहीं है। हम भी इसी ग्रंथ को अपने अध्ययन का आधार बनाकर कुछ नये निष्कर्ष निकालते हैं।

---

[1] निजमतसिद्धान्त, किशोरदास, अवसान खण्ड, पृ० १०३,

[2] वही पृ० १०५

[3] वही पृ० ९४।

[4] वही, पृ० ९४।

स्वामी हरिदास जी के जीवन के सम्बन्ध में 'निजमतसिद्धांत' का कहना है कि 'ये आशुधीर जी के शिष्य थे, उनके पिता का नाम गंगाधर था, माता का नाम चित्रा था, राजपुर में उनका जन्म हुआ था, वे सनाढ्य ब्राह्मण थे। जगन्नाथ, जो गोस्वामियों के पूर्वज थे, वह पंजाब के सारस्वत ब्राह्मण थे। वे बिहारी जी के केवल पुजारी थे। स्वामी हरिदासजी का संप्रदाय निम्बार्क संप्रदाय था।'

इस सम्बन्ध में द्वितीय पक्ष है कि 'स्वामी हरिदास जी आशुधीर जी के पुत्र थे, जगन्नाथ और गोविंद जी उनके भाई थे, उनकी माता का नाम गंगा था। उनका जन्म हरिदासपुर में हुआ था। वे विष्णुस्वामी संप्रदाय में थे।' प्रसन्नता की बात यह है कि निजमत-सिद्धांत ने परपक्ष के रूप में द्वितीय पक्ष की बातें भी कह दी हैं। उसका कहना है कि—

१. स्वामी आशुधीर जी सारस्वत ब्राह्मण थे और कोल 'हरिदासपुर' के निकट रहते थे।[1]

२. जगन्नाथ सारस्वत ब्राह्मण थे। ये पंजाब से आये थे। उनके तीन पुत्र थे। बिहारिनिदास से इन्होंने बिहारीजी लिये।[2]

३. झगड़ों का वर्णन करने के बाद वे कहते हैं...रासदास, मेघश्याम, मुरारि दास ये जगन्नाथ के तीन पुत्रों के नाम थे। वे क्रमशः शृंगार, भोग और शयन सेवा के अधिकारी थे।

यहीं 'निजमत-सिद्धांत' ने यह महत्वपूर्ण उल्लेख किया है—'इन्होंने द्विज से 'गोसाईं' छाप धारण की। अपने को बड़ा समझने लगे। भाटों को बुलाकर धन दिया। उन्होंने पोथी में यह निश्चय कर दिया कि आशुधीर जी के दो पुत्र थे। हरिदास बड़े थे। उन्होंने पहले विवाह किया फिर वैराग्य ले लिया। बांके बिहारी प्रकट कर उनकी सेवा की। जगन्नाथ उनके छोटे भाई थे। उन्हें सेवा दे दी। उनके तीन पुत्र थे। उन्हीं के वंश में हम हैं।'

आगे निजमत-सिद्धांत-कार अपनी ओर से कहता है :—

'आशुधीर जी गृही कहे जाते हैं। उन्होंने भी पहले पुत्र 'उपजाये' थे। उनका नाम भी जगन्नाथ था। पर उन्होंने विवाह नहीं किया था। उन्होंने

---

[1] निजमत सिद्धांत, आदि खंड, पृ० ५०, ५१।

[2] निजमत सिद्धांत, अवसान खंड, पृ० ९६।

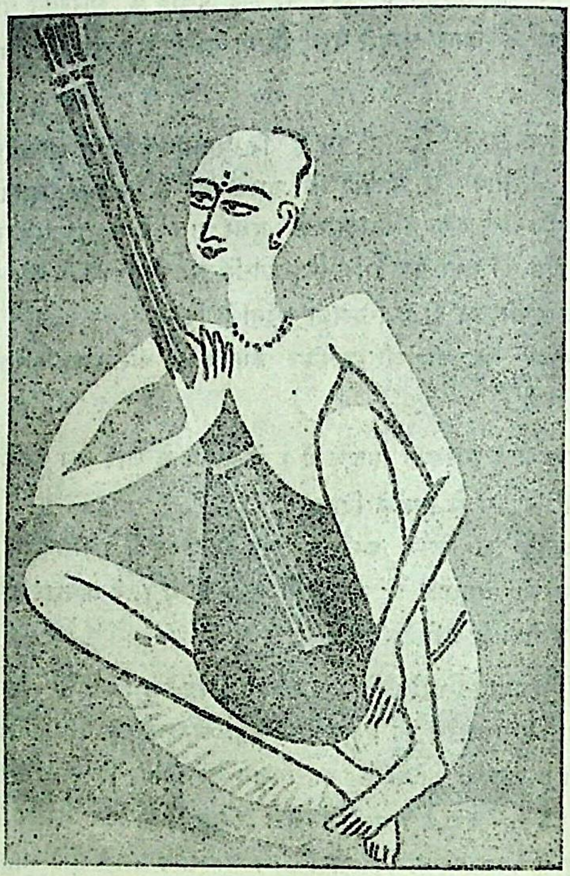

स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय में प्रचलित चित्र
मस्तक पर विष्णुस्वामी तिलक

जीते जी विहारी जी को अपनी सब सम्पत्ति भेंट कर दी। जो कुएँ-भवन बनवाये वे हरिदास नाम सहित थे।"[1] आशुधीर जी के पुत्र होने की चर्चा उसने आदिखंड में भी अलग से की है। वहाँ उस 'नीके' पुत्र का नाम नहीं बताया गया है।[2] फिर उसकी अपनी टिप्पणी है कि गोस्वामियों ने भाटों से नाम से नाम मिलाकर लिखा लिया है।[3]

इन्हीं शब्दों में दूसरा इतिहास छिपा है। यदि एक पक्ष के लिये प्राचीनतम प्रमाण 'निजमत-सिद्धांत' ग्रंथ है, तो दूसरे पक्ष के लिये 'निजमत-सिद्धांत' में लिखित उससे भी प्राचीन यह अभिमत। इससे यही सिद्ध होता है कि किशोरदास से पूर्व ही भाटों की ऐसी पोथियाँ थीं, जिनमें गोस्वामियों को आशुधीर और स्वामी हरिदास जी का वंशज कहा गया था। निजमत-सिद्धांत-कार की दृष्टि में वे लेख 'छल' से लिखवाये गये थे पर इस सम्बन्ध में उसे साक्ष्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका दृष्टिकोण इस दूसरी परम्परा का विरोधी है।

दो जगन्नाथों की कल्पना एक क्लिष्ट कल्पना ही है। जगन्नाथ अवश्य ही गोस्वामियों के पूर्वज थे और उन्होंने जो कूप-भवन बनवाये उन पर 'निजमत-सिद्धान्त' के अनुसार हरिदास जी का नाम था। अतः इन दोनों का भाई होना स्वतः सिद्ध है। 'निजमत सिद्धान्त' में किस भाट की पोथी का उल्लेख है, यह नहीं ज्ञात होता। डा० गोपालदत्त ने अपने ग्रंथ पृ० सं० ७३ पर मथुरा के तन्नू चौवे के पुत्र चीते चौबे के यहाँ प्राप्त एक प्राचीन सनद का उल्लेख किया है जो सं० १८६३ में लिखी गई थी। उसमें लिखा है—"चौवे जादों तिनके वेटा चिंतामन लालमन तिन पै हमारे बड़ेन को लिख्यो निकस्यो सं० १६०५ (१६०८) कौ स्वामी आसधीर जी के पुत्र स्वामी हरिदास जी स्वामी जगन्नाथजी स्वामी गोविंददासजी इनके हाथ कौ देखि कैं अब हमन यह नयो कागद लिपि दीनौ। वह कागद पुरानौ जीरन होइ गयौ हो याते अब नयो लिषि दीनों के हमारे प्रोहित मौजी……हशी व इनकूं जो

---

[1] निजमतसिद्धान्त अवसानखंड, पृ० १०१, १०२।

[2] वही, आदि खंड, पृ० ८४

[3] वही, अवसानखंड, पृ० १०२

हमारौ होय सो माने जाइ। सं० १८६३ मिति भादौं सुदी रोज दपपत गुलाब के सुवन के कहै लिष्यौ सुभमस्तु"।[1]

इस सनद पर जिन गोस्वामियों के हस्ताक्षर हैं, उनमें से कई के हस्ताक्षर अन्य प्राचीन सनदों में भी मिलते हैं और वे समान हैं। यह एक प्रामाणिक साक्ष्य है। जो १५०५ या १६०८ सं० में स्वामी आसधीर जी, स्वामी हरिदासजी आदि के हाथ का कागज़ था उसी को देखकर अगली पीढ़ी ने उसे नवीन किया। इसी प्रकार का एक लेख सं० १६२४ का उज्जैन के पंडे के यहाँ है। यह लेख तथा पंडे का फोटो लेखक के पास सुरक्षित है।[2]

जो हो, प्राचीन सनदों की यह परम्परा थी अवश्य और निजमत-सिद्धांतकार भी इनके अस्तित्व पर मुहर लगाता है। 'निजमत-सिद्धांत' के इस स्थल पर डा० गोपालदत्त भी थोड़े रुके हैं और उन्होंने अपना मत प्रकट किया है—"किशोर दास जी के अनुसार गोस्वामियों ने अपने स्वार्थ के लिये भाटों को धन देकर स्वामी हरिदास जी को आशुधीर जी के पुत्र एवं जगन्नाथ के अग्रज होने की कथा उनकी वहियों में छल से लिखवाली, संभव है, यह सत्य हो। किन्तु यह भी संभव है कि किशोरदास अपने मत के प्रतिपादन के लिये ही ऐसा कहते हैं और स्वयं उनकी दी हुई कथा ही कल्पित है"।[3] यदि डा० गोपालदत्त यहाँ विषय के विवेचन में थोड़ी तटस्थता और वरतते तो बात स्पष्ट ही थी, निश्चित ही वे स्वामी हरिदासजी को स्वामी आशुधीर जी का पुत्र मान लेते।

वस्तुतः 'निजमत-सिद्धान्त' की आलोचना शिष्य-वर्ग के सभी ग्रंथों का आधार समाप्त कर देती है। अब हम आगे स्वामीजी के जीवन-पक्ष पर तटस्थ सूत्रों को लेकर ही विचार करेंगे।

स्वामी हरिदास जी के पिता

स्वामी जी के जीवन-परिचय के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात उनके पिता के सम्बन्ध में निर्णय करना है। इसके स्पष्ट हो जाने पर अन्य अनेक सम्बन्धित समस्याएं स्वयं सुलझ जायेंगी। जैसा हम पीछे कह चुके हैं,

---

[1] स्वामी हरिदासजी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ० ७३
डा० गोपालदत्त

[2] इस लेख का परिचय जन्म संवत् के प्रसंग में देखिये।

[3] स्वामी हरिदासजी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य
डा० गोपालदत्त, पृ० १७७

'निजमत-सिद्धान्त' से भी इस बात की सूचना मिल जाती है कि उसकी रचना से पूर्व ही आसुधीर जी को स्वामी जी का पिता माना गया था और बहियों में उसके लेख भी थे। साथ ही हम तन्नू चौबे की सनद को भी प्रमाण मानते हैं। इस संबंध में कुछ अन्य निष्पक्ष प्रमाण निम्नलिखित हैं—

१ नाभाजी के 'भक्तमाल' का छप्पय, जिसकी अंतिम पंक्ति है :—

आसुधीर-उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की।[1]

यहाँ 'उद्योतकर' शब्द के सम्बन्ध में मतभेद प्रकट किया जाता है कि इसका अर्थ पुत्र न होकर शिष्य भी हो सकता है। हम अनेक भक्तमाल-कर्ताओं के ही इस पंक्ति के उद्धरण देते हैं, जो अपने आप में प्रमाण हैं—

(अ) जयपुर के प्रसिद्ध नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र सवाई महाराज ईश्वरीसिंह ने, जिनका राज्यारोहण काल १७४३ ई० (सं० १८०० वि०) है, तथा टाड–राजस्थान के अनुसार जिन्होंने उसी वर्ष अपने अनुज माधौसिंह के पक्ष में राज्य-त्याग कर दिया था, अपनी संपादित 'भक्तमाल' में नाभा जी के अनुसार स्वामी हरिदास जी की प्रशंसा करने के साथ ही निम्न श्लोक लिखा है :—

अयमाशुधीरतनयो हरिदासः परम रसिकवरः।
संचित वैरारयधनः कृष्णप्रेमैक पूर्ण पाथोधिः।[2]

अर्थात् ये आशुधीर जी के पुत्र हरिदास जी परम रसिक, वैराग्यवान् और कृष्ण-प्रेम के पूर्ण पारावार थे।

महाराज ईश्वरीसिंह जी का यह उद्धरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका रचनाकाल 'निजमतसिद्धान्त' (लगभगसं० १८३६) से बहुत पूर्व का है।

(आ) श्री चन्द्रदत्त कृत संस्कृत-भक्तमाल में निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होता है।

आसधीरेति नाम्नासीद्विप्रोगुर्जरसंभवः।
तस्य पुत्रेति विख्यातो हरिदास इति स्मृतः।[3]

अर्थात् गुर्जर प्रदेश (पंजाब, गुजरांवाला) में उत्पन्न आसधीर के पुत्र हरिदास नाम से प्रसिद्ध हुए।

(इ) काश्मीर-नरेश महाराजा रणजीतसिंह के समकालीन कवि मीहासिंह ने भी अपनी रचना 'भक्त-विनोद' में लिखा है :—

---

[1] भक्तमाल, छप्पय सं ९१।

[2] जयपुर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित ग्रन्थ।

[3] संस्कृत भक्तमाल, बंबई, गो० मगन विहारी जी, वृन्दावन के पास।

गुर्जर देस प्रसिद्ध इक, विप्र आसधर नाम।
तासु पुत्र हरिदास वर, जगत विदित गुन धाम।[1]

कवि मीहासिंह का जन्म समय सं० १८४० माना जाता है।

(ई) 'भक्तसिन्धु' का उल्लेख ग्राऊज महोदय ने किया है और उसके आधार पर उन्होंने आशुधीर जी को हरिदास जी का पिता माना है।[2]

(उ) नाभा जी की छाया पर ही लिखे गये किसी प्राचीन भक्तमाल का यह श्लोक भी आशुधीर जी को ही हरिदास जी का पिता बताता है :—

स्याम्याशुधीरात्मजपादपंकजं प्रणौमि सद्भागवतं सरागम्।
कुंजान्तरे येन स्वयं प्रकाशितं श्यामानिपीतं स्वयमेव गीतम्॥[3]

(ऊ) नाभा जी की भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार रूपकला जी ने भी अपनी सहज बुद्धि से इस छप्पय का अर्थ किया है..."स्वामी हरिदास जी श्रृङ्गार-उपासना में बड़े ही धीर हुए। अपने पिता आसुधीर जी के सूर्यवत् प्रताप से रसिकों में आप प्रसिद्ध हुए।"[4]

नाभाजी के छप्पय की व्याख्या में ही ये इतने उदाहरण दिये गये हैं। इनमें स्वामी हरिदासजी को आशुधीरजी का पुत्र ही लिखा गया है। फिर भी जो विद्वान् आसुधीर 'उद्योतकर' का केवल शिष्य अर्थ लगाते हैं, उन्हें किसी प्रकार का पूर्वग्रह ही हो सकता है।

डा० गोपालदत्त 'उद्योतकर' के दोनों अर्थ मानते हैं परन्तु वे निर्णय कुछ नहीं कर पाये। उनका कहना है कि 'उद्योतकर का अर्थ पुत्र के अर्थ में भी लग सकता है और शिष्य के पक्ष में भी'।[5] यदि उपर्युक्त महानुभावों की दृष्टि से विचार किया जाय तो पुत्र अर्थ प्रकट है शिष्य अर्थ भी साथ में रहे तो आपत्ति नहीं है अन्य प्रमाणों से वह भी स्पष्ट है।

(२) श्रीराधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध वाणीकार चाचा वृन्दावन दासजीने स्वामीजी को आशुधीरजी का पुत्र लिखा है। इनका जन्म सं०

---

[1] हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ, वृन्दावन, पृ० ७६।

[2] मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मैमोयर पृ० २१।

[3] केलिमाल, वृन्दावन, भूमिका पृ० १९।

[4] भक्तमाल, रूपकला पृ० ६१८।

[5] स्वामी हरिदासजी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य।
डा० गोपालदत्त, पृ० १७४।

१७६५–७० के लगभग निश्चित किया गया है।[1] इनकी रचनाएं सं० १८०० के आस-पास की हैं। इनका एक पद श्रीललिताचरणजी ने अपने ग्रंथ "श्रीहित हरिवंश गोस्वामी, सम्प्रदाय और साहित्य" में उद्धृत किया है, पद है :—

सबके जु मुकुट मणि व्यास नन्द।
पुनि सकुल सुमोखन-कुल सुचन्द॥
सुत-आसधीर मूरति अनन्द।
धनि भक्ति थंम परबोधानन्द॥

(श्रीहरिवंश चन्द्र जू कौ परिकर सहित बसंत-खेल-वर्णन)।[2]

(३) अत्यन्त प्राचीन और सम-सामयिक महात्माओं की वाणियों में स्वामी आशुधीर जी और स्वामी हरिदासजी का संबन्ध इतना निकट का दिखाया गया है कि वे परस्पर पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य साथ-साथ प्रतीत होते हैं, देखिये :—

(१) गुरुनि कौ गुरु श्रीहरिदास आसधीर कौ। विहारिनदासजी[3]
(२) आसू कौ हरिदास रसिक, हरिवंश न मोहि बिसारौ। व्यासजी[4]

(३) लाल स्वामी के जो दोहे मिलते हैं, उनमें से प्रथम एक दोहा जो 'निजमत' एवं अन्य प्राचीन वाणियों की प्रतियों में भी प्राप्त है, वह है :—

रवनि रसायन परिहिरी साह न मानत कौन।[5]
आसू के हरिदास की लगै 'लाल' पग पौन॥

इन सभी महानुभावों ने 'आसू के हरिदास' में कौन सा सम्बन्ध रखा है। कुछ लोग केवल शिष्य अर्थ मानना चाहते हैं, पुत्र नहीं। हमारी समझ में अपने इस सम्बन्धवाची पद का ध्यान इन महात्माओं को भी रहा होगा परन्तु दोनों अर्थों को अभीष्ट जान कर ही इन्होंने इस पद का प्रयोग करना उचित समझा है। यहाँ भी 'उद्योतकर' वाली ही निष्पक्ष स्थिति है। ऊपर केवल वे ही प्रमाण उद्धृत किये गये हैं, जो निर्विवाद हैं और जिनके

---

[1] श्रीहित हरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य पृ० ४९२
[2] वही, पृ० २१८
[3] श्रीबिहारिनदास, सिद्धांत के पद सं० १
[4] भक्त-कवि व्यास जी, पद २१ पृ० १९६।
[5] निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० १११।

रचयिता तटस्थ व्यक्ति हैं। इनमें से अनेक प्रमाण 'निजमत सिद्धांत' की रचना से बहुत पूर्व के हैं। निजमत की परम्परा को छोड़कर किसी भी लेखक ने स्वामी आशुधीरजी के पितृत्व का निषेध नहीं किया है। अतः यह बात असंदिग्ध रूप में स्वीकार करने योग्य है कि स्वामी आशुधीर जी ही स्वामी हरिदासजी के पिता थे। आधुनिक विद्वानों में, मिश्रबन्धु, एफ० एस० ग्राउज,[1] डा० दीनदयालु गुप्त[2] श्री कृष्णदत्त वाजपेयी,[3] श्री चिंतामणि शुक्ल[4] आदि विद्वान् भी स्वामी हरिदासजी को आशुधीरजी का पुत्र मानते हैं।

स्वामी हरिदासजी की जितनी भी बधाइयां प्राप्त होती हैं, उनमें 'निजमत' के अनुसार गंगाधर अथवा चित्रा के पक्ष की बधाई आज तक देखने को नहीं मिली। इसके विपरीत आशुधीरजी के घर हरिदास जी के उत्पन्न होने की अनेक बधाइयां प्राप्त होती हैं। बैन कवि की रचनाओं से ऐसी कुछ बधाइयां उद्धृत हैं :—

(१) बधाई बाजै रे आसधीर दुजराज के वास।
गंगारानी कूख सिरानी प्रगटे श्रीस्वामी हरिदास ॥[5]

(२) धनि-धनि भाग हमारौ।
आसधीर घर प्रगट भयौ है, भगति प्रतापी वारौ।
गौर बरन तन नीकी झगुली, गंगा जू कौ प्यारौ ॥
कर चरनन कटि कडे कौंधनी, फरगुल दायै निहारौ।
स्वामी श्री हरिदास नाम नर सरनागत कौंतत छिन तारौ।
परम उदार बैन-स्वामी की वार्ता कहि न सकत मन मतवारौ।[6]

(३) दुजराज-भमन के द्वारे आजु बधाइयाँ।
श्री सुकुमार उदार बैन प्रभु प्रघटे, ताते आसुधीर मन भाइयां।[7]

इनके अतिरिक्त भानु कवि द्वारा लिखित एक बधाई और प्राप्त होती है। बाबा

---

[1] मथुरा डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, पृ० २१९

[2] अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय, पृ० ६९।

[3] स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रंथ, वृंदावन, पृ० १।

[4] स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रंथ, वृन्दावन, पृ० ७६–७७।

[5] बैन कवि का एक पद-संग्रह लेखक के पास है। ऐसी ही एक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी में भी है। पद सं० १३

[6] वही, पद सं० १ [7] वही, पद सं ४

कन्हैयादासजी का कथन है कि यह बधाई अब भी टट्टी-स्थान में राधाष्टमी के दिन समाज में गाई जाती है। इसमें स्वामीजी के अनेक शिष्यों के नाम हैं, जो 'निजमत' के ही अनुकूल हैं परन्तु इसकी प्रारम्भिक पंक्तियां हमारे निष्कर्ष की पुष्टि करती हैं। यह बधाई अट्ठाईस पंक्तियों में हैं, केवल कुछ पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं :—

आसुधीर जस गाइहौं जाके प्रघटे श्रीहरिदास, रसिक मन लाड़िली हो।
नीरस लखि संसार कोर सुचर घर दीनों वास रसिक मन लाड़िली हो।

... ...

ऐसौ रसिक समाज आजु लखि 'भानु' होत बलिहारी।

माता

स्वामी आशुधीरजी की पत्नी का नाम गंगा था, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं।[1] अतएव गंगादेवी ही स्वामी हरिदासजी की माता थीं।

भाई

'निजमत-सिद्धांत' में उल्लिखित परपत्त एवं गोस्वामियों के वंश-वृक्ष, अनेक बधाइयों आदि से ज्ञात होता है कि स्वामीजी के भाई गोस्वामी जगन्नाथजी तथा गोविंदजी थे।

जाति

स्वामी हरिदासजी को निजमतसिद्धांत कारने 'सनाढ मोचन' लिखा है—

द्विज सनाढ मोचन कुल पायौ।[2]

अन्यत्र भी उन्हें 'सनाढ' ही लिखा गया है। कह नहीं सकते सनाढ का तात्पर्य सनाढ्य है या नहीं। वैसे सभी जगह सनाढ्यों के लिये उन्होंने 'सनौढ़िया' लिखा है। परमानन्ददेव,[3] हरिदेव,[4] , नरहरिदास,[5]

---

[1] निजमत-सिद्धांत भी कहता है—बधू बुलाय लई निज गंगा। आदि खंड पृ० ८८।

[2] निजमत सिद्धांत, आचार्य खंड, पृ० १२८।

[3] वही आचार्य खण्ड, पृ० ११६,

[4] वही, पृ० १२५,

[5] वही, पृ० १३२

आदि को उन्होंने स्पष्टरूप से द्विज सनौढिया लिखा है। जो हो, बाद के लेखकों ने सनाढ़ का अर्थ सनाढ्य ही कर लिया है।

सहचरिशरण ने लिखा है :—

> द्विज सनाढ्य सिरताज रसिक-सिरमौर अनीहा।[1]

परन्तु सनाढ्य हम उन्हें तभी मान सकते हैं, जब स्वामीजी को आशुधीरजी का पुत्र न मानें। स्वामी आशुधीरजी सारस्वत ब्राह्मण थे, ऐसा 'निजमत-सिद्धांत' भी मानता है। जगन्नाथजी को भी सर्वत्र सारस्वत ब्राह्मण माना गया है, अतः स्वामी जी को भी सारस्वत-ब्राह्मण ही मानना चाहिये।

वंशज

स्वामी आशुधीरजी के वंश के संवन्ध में गोस्वामियों की वंश-परंपरा को प्रामाणिक मान लेने पर गर्गाचार्यजी को वंश का आदि पुरुष मानना पड़ता है। इनके क्रमशः शाण्डिल्यजी, सर्वेश्वरजी, नन्दीलालजी, सुमुखजी, सर्वगतजी, सुयशजी, सुकर्माजी, सुयोग्यजी, युवरथजी, सर्वरीजी, कर्णदेवजी, विष्णु शर्माजी, गजाधर या गदाधरजी, आशुधीरजी, हरिदासजी हुए।

स्वामी हरीदास जी के भाई गो० जगन्नाथजी का वंश अनेक शाखाओं में फैल कर चला, जिनके वंश में तेरहवीं-चौदहवीं पीढ़ी में वर्तमान गोस्वामी वर्ग है।

'निजमत-सिद्धांत' में आसधीर के पिता ज्ञानधीर, उनके पिता ब्रह्मधीर बताये गये हैं। परन्तु ये नाम अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। ये नाम आसुधीर की तुक मिलाते हुए कल्पित कर लिये गये ज्ञात होते हैं। स्वामीजी के वंश के लोग विहारीजी के गोस्वामी कहलाते हैं। प्रारंभ से ही श्रीबांके विहारीजी की सेवा-पूजा और श्रीनिधिवन का सेवाधिकार उन्हीं के हाथ में है। ये स्वामीजी को अपना पूर्वज मानते हैं।

डा० गोपालदत्त के अनुसार उनका सनाढ्य होना इसलिये सन्दिग्ध है कि "निजमत-सिद्धांत या उसके आधार पर लिखे ग्रन्थों के अतिरिक्त इस सनाढ्य वंश के अस्तित्व तक का कोई प्रमाण नहीं है। इस समय न तो कोई यह कहने वाला है कि स्वामी हरिदासजी हमारे वंश में हुए थे,

---

[1] सहचरि शरण कृत गुरु-प्रणालिका

न राजपुर में कोई मन्दिर, स्थान या स्मारक ही है, जिसका दूरागत सम्बन्ध भी बताया जासके। 'निजमत-सिद्धांत' के बाद इस ब्राह्मण-वंश का पता ही नहीं चलता।"[1]

डा० गोपालदत्त आगे कहते हैं—

"स्वामीजी के बाद वह संतति कहाँ गई। वृन्दावन में अनेक भक्तों और सन्तों के वंश के लोग अपने को 'गोस्वामी' कहते हैं तथा मन्दिरों के अधिकारी हैं। पूर्वजों के विरक्त होते हुए भी उनके वंशजों ने उनके नाम का अपने स्वार्थ के लिये उपयोग किया है। तब इतने बड़े सम्प्रदाय-प्रवर्तक का वंश क्या अपनी प्रतिष्ठा की आकांक्षा भी न करता और वंश यों लुप्त हो जाता। यह स्थिति देख कर यह सन्देह किया जा सकता है कि ऐसा कोई था ही नहीं।"[2]

पत्नी

स्वामीजी का विवाह हुआ था या नहीं इस सम्बन्ध में मतभेद है। जो लोग इसका निषेध करते हैं, वे भावात्मक दृष्टि से विचार करते हैं परन्तु उनके वंश की परम्पराएं बताती हैं कि उनकी पत्नी का नाम 'विजया' या 'हरिमती' था। उनकी एक विशेष घटना के ही कारण गोस्वामी वंश में अभी तक लाख का चूड़ा नहीं पहना जाता। डा० गोपालदत्त अनुमान करते हैं कि विजया सती गोस्वामियों की कोई कुलदेवी रही होगी, स्वामीजी का विवाह नहीं हुआ था परन्तु उनके काव्य में श्रृंगार-शोभा का जैसा वर्णन है, वह बताता है कि उन्हें गृहस्थी का अनुभव अवश्य था।

जन्म-स्थान

स्वामी जी के जन्म-स्थान के रूप में दो ही स्थानों के नाम लिये जाते हैं:—

(१) राजपुर :

(२) हरिदासपुर।

राजपुर वृन्दावन के निकट एक छोटा सा गांव है। राजपुर को जन्म-स्थान मानने के सम्बन्ध में गोपालदत्तजी ने भी सन्देह प्रकट किया है।[3]

---

[1] स्वामी हरिदास जी सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, डा० गोपालदत्त, पृ० १८०

[2] स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ० १८०

[3] वही, पृ० १८२

'नजमत' में आशुधीरजी को कोल का निवासी कहा गया है। यह स्थान अलीगढ़ से दो मील दूर खैर की सड़क पर है। वहाँ अब भी एक महादेवजी का मन्दिर है, जहाँ भारी संख्या में मेला लगता है। इस ग्राम का नाम स्वामी हरिदासजी के नाम पर हरिदासपुर हो गया है।

आज तक भी इस गाँव के निवासियों में यह कथा प्रचलित है कि स्वामी हरिदास जी यहीं के थे। डा० दीनदयालु गुप्त का कथन है, "श्रीग्राउज महाशय ने आसधीर जी को स्वामी हरिदास जी का पिता माना है, और इन दोनों को अलीगढ़ के निकट स्थित हरिदासपुर गाँव का रहने वाला कहा है... लेखक ने हरिदासपुर स्थान को अनेक वार देखा है। वहाँ आजकल महादेव जी का मंदिर है, आस-पास के यात्री शिवजी पर जल चढ़ाने आया करते हैं। यह स्थान और गाँव हरदासपुर और हरिदासपुर दोनों नामों से प्रसिद्ध है। वृन्दावन वाले स्वामी हरिदास जी के इसी स्थान के निवासी होने की भी लेखक ने वहाँ कथा सुनी है।"[1] डा० गोपालदत्त भी इसी की पुष्टि करते हैं—"यदि आसुधीर जी स्वामी जी के पिता हैं तो स्वभावतः हरिदासपुर ही स्वामी जी का जन्म-स्थान रहा होगा। सम्भव है पीछे से इस छोटे से गाँव का नाम उन्हीं के नाम पर रखा गया हो। हरिदासपुर के लोगों में भी यह जनोक्ति चली जाती है कि स्वामी हरिदास जी यहीं पैदा हुए थे।"[2]

स्वामी जी के गुरु

सम्प्रदाय की गृहस्थ अथवा विरक्त दोनों परंपराओं में यह मान्यता है कि स्वामी हरिदास जी के गुरु श्री आशुधीर जी थे। अन्य सम्प्रदायों के लोगों ने समय-समय पर स्वामी जी को अपना शिष्य बताया है परन्तु वे तथ्य के अविश्वस्त प्रयास मात्र हैं।

स्वामी जी का सम्प्रदाय

स्वामी जी के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों ने भ्रमवश यह उल्लेख कर दिया है कि वे टट्टी-सम्प्रदाय के संथापक थे।[3] वास्तव में टट्टी सम्प्रदाय नाम का कोई सम्प्रदाय नहीं है। इस नाम का एक आश्रम अवश्य है,

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ० ६९।

[2] स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य। पृ० १८१

[3] मिश्र-वन्धु-विनोद, भाग १, पृ० २८८

जो स्वामी जी से लगभग २०० वर्ष पश्चात् ललित मोहनी दास ने बनाया था। बांस की टट्टियाँ होने के कारण ही यह स्थान टट्टी-स्थान कहलाया। यहाँ के साधुओं को भ्रमवश ही टट्टी-सम्प्रदाय का अनुयायी कहा जाता है।

स्वामी जी के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में प्रमुखतः दो मत हैं :—

१. वे निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

२. वे विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

निम्बार्क संप्रदाय का आग्रह 'निजमत सिद्धान्त' ग्रन्थ से आरम्भ होता है। इधर भ्रांतिम रूप से डा० गोपालदत्त ने भी इस मत को मानने में उत्साह दिखाया है। हम डा० गोपालदत्त के प्रमाणों की सतर्क शमीक्षा प्रस्तुत करते हैं :—

१. सम्प्रदाय का निश्चय सिद्धान्त के अनुसार होता है। निम्बार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद है। डा० गोपालदत्त जी ने श्री विहारिनिदास जी की वाणियों में द्वैताद्वैतवादी मत को सिद्ध करने की चेष्टा की है।[1] आजकल महात्मा सूर और तुलसी जैसे कवियों की वाणियों में से अद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी अथवा विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तों को स्वमतानुसार निकाल लेने का भी प्रयत्न किया जाता है परंतु वास्तव में ये महात्मा किस सिद्धान्त को माननेवाले थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार विहारिनिदास आदि रसिकों की वाणियों में से निकालने भर के लिये अद्वैताद्वैतवाद को भी निकाला जा सकता है परंतु देखना यह होगा कि क्या इन सम्प्रदायों का वास्तव में कोई सीधा सम्बन्ध दार्शनिक सिद्धान्तों से था। डा० गोपालदत्त शर्मा स्वयं तर्क करते हैं— 'सिद्धान्त-विवेचन से जाना जा सकता था कि उनकी वाणियों पर किस सम्प्रदाय का प्रभाव है परन्तु स्वामी जी के सम्प्रदाय में रस की उपासना ही प्रधान है, अतः दार्शनिक विवेचन का उनकी वाणी मं पूर्णतः अभाव है।'[2] उपर्युक्त कथन होने पर भी उनके संप्रदाय के रसिकों को किसी विशेप संप्रदाय से निबद्ध करने का प्रयत्न अपनी कही हुई बात का विरोध करना ही है। निश्चित है कि इस सम्प्रदाय की कसौटी दर्शन-विवेचन किसी प्रकार

---

[1] स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य, डा० गोपालदत्त, पृ० १८८

[2] स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य, डा० गोपालदत्त, पृ० १८८

भी नहीं है। भगवतरसिक जी ने स्पष्ट ही कह दिया है कि हमारा सम्प्रदाय और उसका उपास्य न तो द्वैताद्वैत है, न विशिष्टाद्वैत। वह तो मतवाद से निरपेक्ष है :—

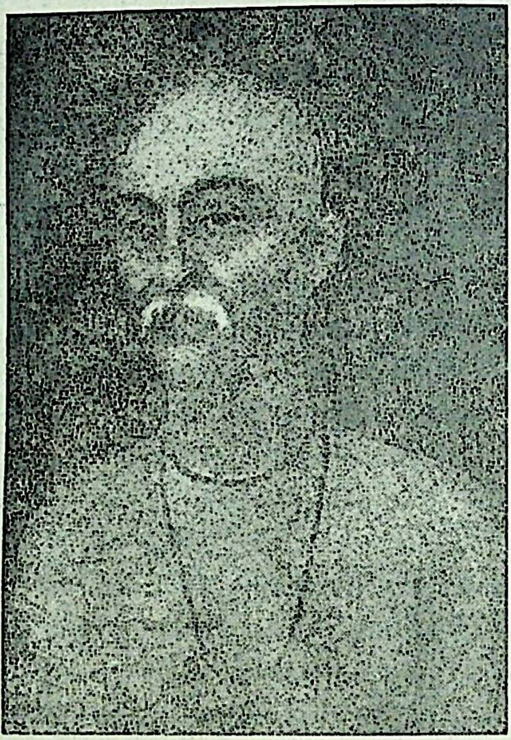

स्वामी हरिदास जी, कलकत्ते की आर्ट गैलरी से प्राप्त चित्र।
मस्तक पर किसी प्रकार का तिलक नहीं है।

नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नहीं विशिष्टाद्वैत।
बंध्यौ नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छाद्वैत ॥[1]

भगवतरसिक जी ने प्रचलित संप्रदायवाद को स्पष्ट ही ठगाठगी का विषय कहा है।[2] अतः यह निर्विवाद है कि इन रसिकों की वाणियों में किसी विशेष प्रकार का सांप्रदायिक सिद्धान्त नहीं है।

---

[1] अनन्य निश्चयात्म ग्रन्थ, भगवतरसिक, पृ० ८३।

[2] आँधे के सिर सम्प्रदा नकटे कैसौ पंथ।
ठगाठगी संसार में समुझि लगौ संग कंथ। अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ, पृ० ८६।

२. डा० गोपालदत्त ने हरिदासी सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय के साथ सम्बद्ध करने के लिये प्राचीन चित्रों का आश्रय लिया है। भारत कला भवन, काशी, राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली आदि के कुछ चित्र उन्होंने इस बात के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किये हैं कि उन चित्रों में स्वामी हरिदास जी के

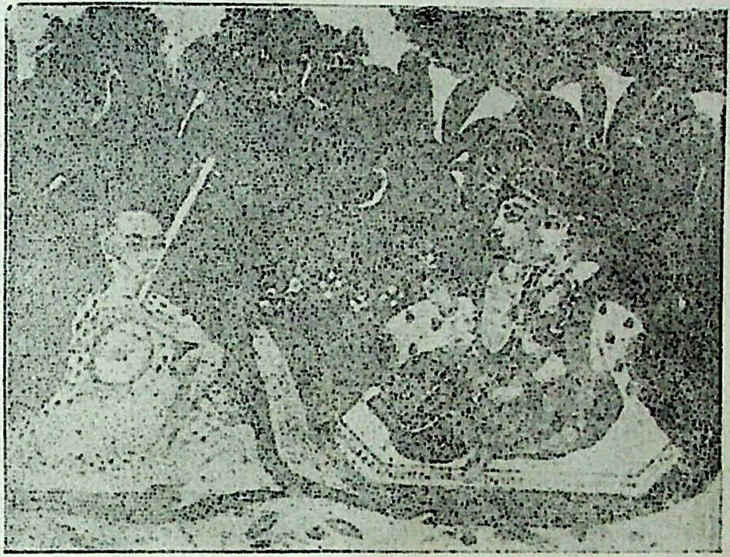

प्रिया-प्रियतम को संगीत सुनाते हुए स्वामी हरिदास जी

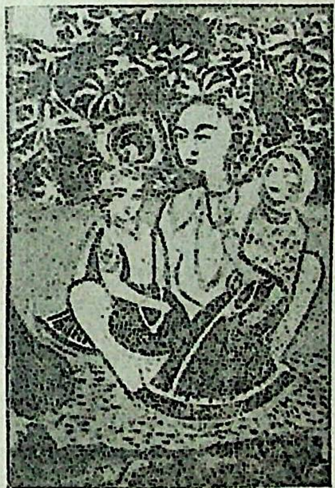

स्वामी हरिदासजी की गोद में प्रिया-प्रियतम

मस्तक पर निम्बार्कीय तिलक विद्यमान है। नेशनल म्यूज़ियम दिल्ली के चित्र में स्वामी हरिदास जी बैठे हुए हैं, उनके सामने तानसेन हैं और पीछे बादशाह अकबर को खड़ा हुआ दिखाया गया है। यदि चित्र के तिलक से ही किसी व्यक्ति के सम्प्रदाय का निर्णय हो सकता है तब तो तानसेन भी निम्बार्कीय सिद्ध होंगे और अकबर के माथे पर त्रिपुंड्र लगा होने के कारण उन्हें शैव मानना

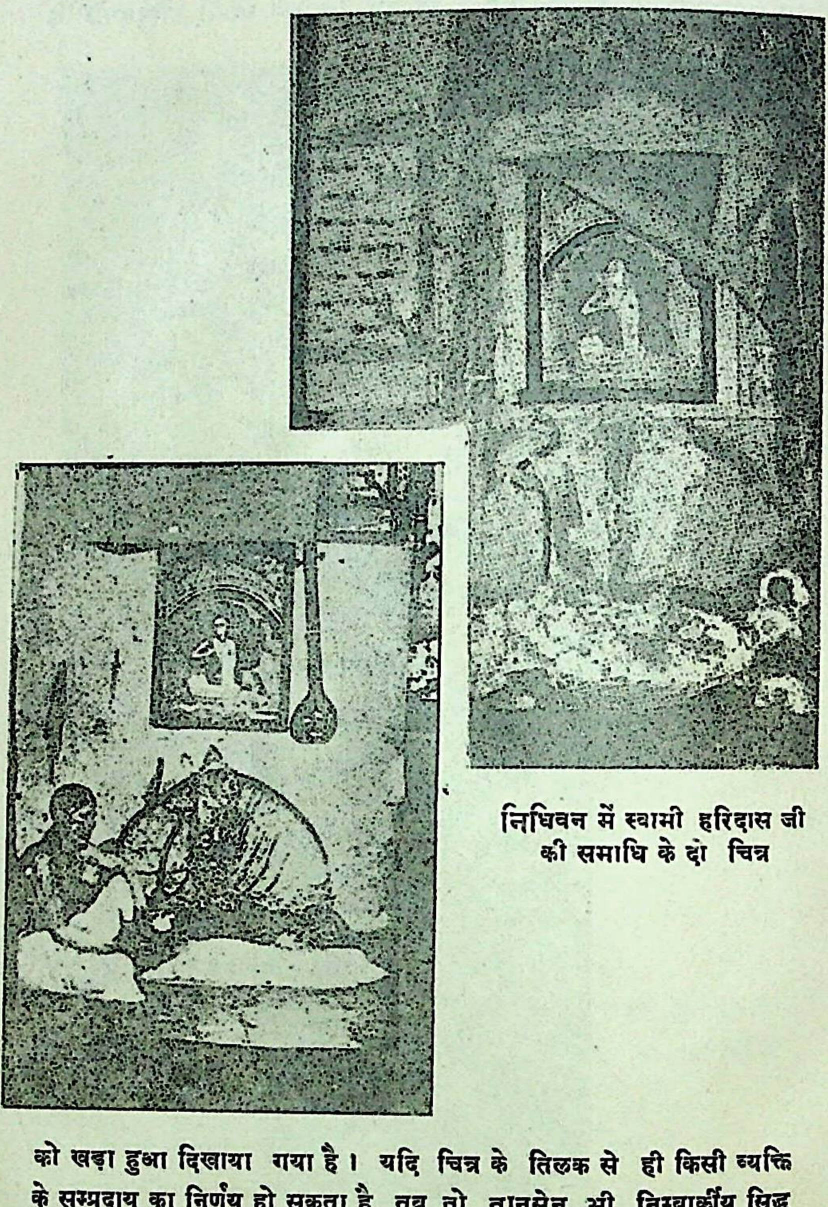

निधिवन में स्वामी हरिदास जी की समाधि के दो चित्र

होगा। परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं हैं। वास्तव में स्वामी हरिदास जी के जो विभिन्न प्राचीन चित्र प्राप्त हैं, उनमें विभिन्न सम्प्रदायों के तिलक प्राप्त होते हैं। हमारी खोज के अनुसार स्वामी हरिदास जी के जो प्राचीनतम चित्र प्राप्त हैं, उनमें से अनेक चित्रों में उनके मस्तक पर कोई भी तिलक नहीं है। डा० गोपालदत्त द्वारा प्रस्तुत भारत-कला-भवन के एक चित्र, का निर्माणकाल १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध बताया गया है। भारत-कला-भवन के ही सुरक्षित और उसी समय का बना हुआ दूसरा स्वामी हरिदास जी का चित्र संख्या ५२९ में कोई तिलक है ही नहीं। कलकत्ते से प्राप्त स्वामी जी के एक चित्र में, जिसे वहां अत्यन्त प्राचीन माना जाता है, किसी प्रकार का तिलक नहीं है।[1] यही नहीं हम एक परंपरा प्राप्त स्वामी हरिदास, तानसेन और अकबर का चित्र यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जो विद्वानों की राय में 'भारत-कला-भवन' के चित्र से पूर्ववर्ती है।[2] स्वयं चित्र पर जो तिथि दी हुई है, वह है आषाढ़ वदी १६६६। इस चित्र का कागज, इसके रंग, चित्र-शैली और चित्र की सजीवता सभी इस तथ्य के साक्षी हैं कि यह चित्र अवश्य ही इतना प्राचीन है। वैसे भी यह चित्र स्वामी हरिदास जी की परम्परा में पूजा-परंपरा का चित्र है।[3] इस चित्र में भी स्वामी जी के मस्तक पर किसी प्रकार का तिलक नहीं है। अतः चित्रों का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर उपनीत होना पड़ता है कि स्वामी जी किसी सम्प्रदाय विशेष का तिलक नहीं धारण करते थे। समस्त शरीर में लिपटी हुई रज ही उनका तिलक थी।

३. डा० गोपालदत्त जी ने नौरङ्गस्वामी की वाणी का उद्धरण दे कर यह सिद्ध किया है कि स्वामी हरिदास जी का निम्बार्क सम्प्रदाय था।[4] नौरङ्गस्वामी प्राणनाथ जी के अनुगामी थे। परन्तु इस सम्प्रदाय का एक बड़ा वर्ग अपने को स्वामी हरिदास जी का अनुयायी नहीं मानता नौरंगस्वामी का उल्लेख स्वयं ऐसे ही एक सांप्रदायिक विवाद के कारण है। इस सम्बन्ध में

---

[1] देखिये, पीछे भारत-कला-भवन का चित्र।

[2] प्रस्तुत ग्रन्थ का आरंभिक चित्र।

[3] इस चित्र के संबंध में भारत-कला-भवन के अध्यक्ष रायकृष्णदास जी की सम्मति है कि यह चित्र लगभग २५० वर्ष प्राचीन है। उनकी दृष्टि में उसका रचनाकाल १७७० के आसपास का है। इस चित्र में से केवल स्वामी जी का चित्र दिया जा रहा है।

[4] स्वामी हरिदास जी का साम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ० १७९।

जो मतभेद हैं और स्वयं स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय में दो-तीन प्रकार के तिलक प्रचलित होने के कारण अन्य सम्प्रदाय के एक महात्मा की वाणी के विवादग्रस्त विषय को सम्प्रदाय-निर्णय का आधार नहीं बनाया जा सकता।

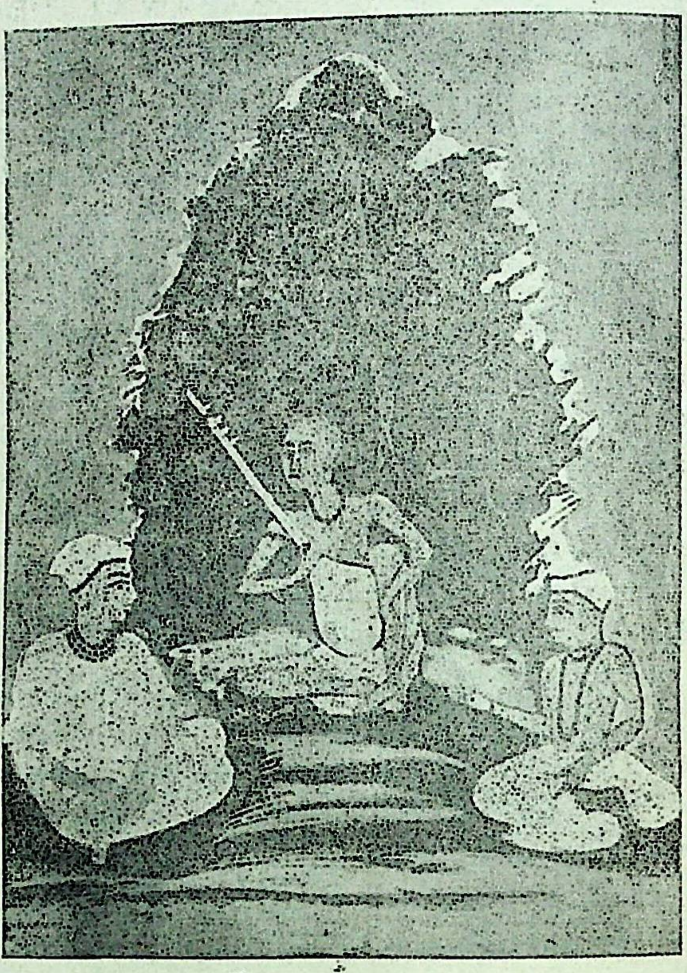

स्वामी हरिदास जी, हित हरिवंश जी और व्यास जी
रसिकविहारीजी के मंदिर की प्राचीन प्रति से

४. गुरु-परम्पराओं से सम्प्रदाय का निर्णय अवश्य ही किया जा सकता है। परन्तु आज स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय में जो दो वर्ग हैं, उनमें से एक स्वामी हरिदास जी के पिता और गुरु आशुधीर जी का सम्बन्ध निम्बार्क

से जोड़ता है और दूसरा विष्णुस्वामी से। इस दृष्टि से प्राचीनतम गुरु-परम्परा, जो निम्बार्क-सम्प्रदाय के साथ हरिदासी सम्प्रदाय की सम्बद्धता प्रकट करती है, वह निजमतसिद्धान्तकार और उसके गुरु की है। इनका समय स्वामी जी से बहुत बाद का है। स्वामी हरिदास जी ने अपने सम्प्रदाय अथवा गुरु-परम्परा का स्वयं कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। उनके शिष्य बीठल विपुल जी, उनके शिष्य विहारिनिदेव जी ने अपने को किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं बताया है। विहारिनिदास जी ने अपनी गुरु-परम्परा स्वामी आशुधीर जी से ही प्रारम्भ की है।[1] नागरीदास जी या सरसदास जी ने भी हरिदास जी को ही अपना प्रधान पुरुष माना है। नागरीदास जी के शिष्य नरहरिदास जी के नाम से प्रचलित एक संस्कृत गुरु-परम्परा का उल्लेख यत्र-तत्र हुआ है। परन्तु नरहरिदास की वाणी को देखने से ज्ञात होता है कि वे संस्कृत के ज्ञाता नहीं थे। उनकी व्रजभाषा की वाणी भी बहुत ही स्वल्प है। यह गुरु-परम्परा उनकी वाणी के साथ अथवा स्वतंत्र रूप से हस्तलिखित रूप में कहीं भी प्राप्त नहीं है। स्वयं डा० गोपालदत्त जी का अभिमत है कि यह रचना संदिग्ध है।[2] इसी प्रकार रसिकदेव जी कृत गुरु-परम्परा को भी प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह भी वाणियों के साथ संकलित नहीं मिलती। ज्ञात होता है कि इसका भी बाद में किसी समय उनके नाम से प्रचार किया गया है।

वास्तव में माननीय गुरु-परम्परा प्राप्त होती है पीताम्बरदास जी की और किशोरदास की। किशोरदास जी के निजमतसिद्धान्त में जिस रीति से आग्रहपूर्वक निम्बार्क सम्प्रदाय की चर्चा है, उससे उनका निम्बार्कीय होने का नया जोश स्पष्ट प्रकट होता है। निजमतसिद्धान्त की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है। वास्तव में किशोरदास जी के युग में ही हरिदासी सम्प्रदाय का एक वर्ग निम्बार्क सम्प्रदाय के साथ सम्बन्धित हुआ। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

५. डा० गोपालदत्त जी ने हरिदासी सम्प्रदाय के जो मंत्र दिये हैं, उनमें से विहारी जी के गोस्वामियों द्वारा प्रदत्त मंत्र का उन्होंने गलत उल्लेख किया

---

[1] गुरुन कौ गुरु श्री हरिदास आसधीर कौ···इत्यादि। विहारिनिदास जी की वाणी।

[2] स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य पृ० १२२–३।

है। शेष मंत्रों से भी स्पष्ट है कि इन मंत्रों का निम्बार्क सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1]

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पीतांबरदास और किशोरदास के ही समय में निम्बार्क-सम्प्रदाय से सम्बन्ध जोड़ने की घटना घटित हुई है। इसके ऐतिहासिक कारण हैं, जिनकी ओर अभी विद्वानों का ध्यान नहीं गया है।

इतिहास से पता चलता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जयपुर-नरेश सवाई जयसिंह मथुरा प्रदेश के शासक रहे थे। उस समय वृन्दावन में हरिदासी, राधावल्लभीय, गौड़ीय आदि अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। इन सम्प्रदायों की अपनी लोक-वेद से अलग परिपाटी थी। साथ ही उनमें अनेक ऐसे भी व्यक्ति थे, जिनके कारण समाज के सामान्य आचारों का भी पालन नहीं किया जाता था। वेद और कर्मकाण्ड में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों ने जयसिंह के पास जाकर इन सम्प्रदायों की अनेक शिकायतें कीं और कहा कि इनका आचरण धर्म-विरोधी है। जयसिंह ने उस समय एक धर्मसभा की और इन सम्प्रदायों के लोगों से उनके आचरण का दार्शनिक आधार पूछा। गौड़ीय संप्रदाय के विद्वान् बलदेव विद्याभूषण ने 'गोविन्द-भाष्य' की रचना कर अपने संप्रदाय की स्थिति को स्पष्ट किया। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने किसी भाष्य आदि की रचना नहीं की परन्तु इसके बदले में उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़े।[2] हरिदासी संप्रदाय में उस समय कोई ऐसा विद्वान् नहीं था, जो अपने संप्रदाय के सिद्धान्त को अपने ग्रन्थों से प्रामाणिक सिद्ध कर सकता। फल यह हुआ कि उस समय ब्रजक्षेत्र में जो संप्रदाय सबसे प्रभावी था उसी के अन्तर्गत हरिदासी संप्रदाय के शिष्यवर्ग ने प्रवेश किया और अपनी प्राण-रक्षा की। राजा जयसिंह द्वारा रसिकदास और पीतांबरदास को सताये जाने तथा उनकी कुञ्ज को ढहाये जाने का उल्लेख प्राप्त है[3]। निजमत सिद्धान्त से निम्बार्क सम्प्रदाय में प्रविष्ट होने का उसका नयापन भी प्रकट होता है। इसी समय आपस में सम्प्रदाय के विषयों को लेकर संप्रदाय के दो वर्गों में झगड़े उठ खड़े हुए। उन्हीं झगड़ों में स्वपक्ष-पोषण का आग्रही रूप निजमतसिद्धान्त के रूप में सुरक्षित है।

---

[1] वही, पृ० १५८–१६०

[2] श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृ० ७१–७२।

[3] निजमतसिद्धान्त, अवसानखंड, पृ० १४७–१४९।

सम्प्रदाय के साधुओं द्वारा निम्बार्क सम्प्रदाय को अपना लिये जाने पर भी रस-निष्ठ साधु इसके विरोध में रहे। ललितकिशोरीजी ने अपने सम्प्रदाय की उपासना को ही महत्त्व दिया और भगवतरसिकजी ने खुले शब्दों में अपने सम्प्रदाय को निम्बार्क सम्प्रदाय से भिन्न घोषित कर उसकी स्वतंत्रता की अक्षुण्णता को बनाये रखा। उन्होंने कहा है कि अन्य संप्रदाय गंगाजल के समान हैं परन्तु हमारी उपासना सिंहिनी के दूध के समान है। हमारा संप्रदाय सखी-संप्रदाय है।[1]

हरिदासी संप्रदाय के साहित्य के विवेचन से, उसके सिद्धान्त के आलोचन से तथा प्राचीनतम प्राप्त चित्रों से यही ज्ञात होता है कि स्वामी हरिदासजी ने जिस परंपरा को जन्म दिया, वह किसी संप्रदाय से संबंधित न होकर पूर्णतया स्वतंत्र और निराली थी। इस संप्रदाय के रसिकों की निर्भ्रान्त धारणा यही जान पड़ती है।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि आखिर आशुधीरजी भी तो किसी संप्रदाय में रहे होंगे। आशुधीरजी या स्वामीजी के पूर्ववर्ती संप्रदाय के संबंध में जानने के लिये कोई बहुत स्पष्ट सामग्री हमारे पास नहीं है। नाभाजी के भक्तमाल के एक छप्पय का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि उनकी पद्धति विष्णुस्वामी की पद्धति थी। छप्पय इस प्रकार है :—

> नाम त्रिलोचन शिष्य सूर शशि सदृश उजागर।
> गिरा गंग उनहार काव्य रचना प्रेमाकर॥
> आचारज हरिदास, अतुल बल आनन्द दायन।
> तेहि मारग वल्लभ विदित पृथुपधति परायन॥
> नवधा प्रधान सेवा सुदृढ, मन वच क्रम हरिचरण रति।
> विष्णुस्वामि संप्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति॥[2]

प्रस्तुत छप्पय में विष्णुस्वामी संप्रदाय के भक्तों के नाम हैं और इसमें आचार्य हरिदास भी हैं। साधारणतया हरिदास का अर्थ भक्त भी किया जा सकता है, परन्तु यहाँ अन्य भक्तों के नाम के साथ, अतुल बल और आनंददाता हैं वहाँ आचार्य विशेषण के साथ प्रयुक्त होने के कारण यह स्वामी हरिदासजी

---

[1] अनन्य निश्चयात्म०, पृ० ४६।

[2] भक्तमाल, नाभा जी, छप्पय सं० ४८।

के लिये भी संकेत हो सकता है। अतः संभव है कि इनका संबंध विष्णुस्वामी की किसी उच्छिन्न परंपरा से रहा हो। इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य स्वामी हरिदासजी के ही समकालीन, संप्रदाय की रस-रीति के सुदृढ स्तंभ विहारिनिदासजी का भी प्राप्त है। उन्होंने नित्यविहार को सबसे परे का शुद्ध जल बताते हुए, नारद और सनकादिक को निर्धार कर बताने वाला आचार्य शिव (रुद्र) को बताया है :—

शुद्ध नीर सबसे परे, ऐसैं नित्यविहार।
शिव सनकादिक नारदै, कह्यौ कछू निरधार ॥[1]

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का दूसरा नाम रुद्र संप्रदाय भी है, क्योंकि उसके आचार्य शिव ही हैं। इस साक्ष्य से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। अतः सम्भव है कि आशुधीरजी या स्वामीजी पहले विष्णुस्वामी सम्प्रदाय से सम्बन्धित हों परन्तु उनके द्वारा प्रवर्तित सखी-सम्प्रदाय अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र है।

स्वामी हरिदासजी के समय-संवत्

स्वामी हरिदासजी के जन्म का वर्ष निश्चित नहीं है। विभिन्न सूत्रों से उनके जन्म सं० इस प्रकार प्राप्त हैं। (क) १४४१ वि० (भक्त सिंधु),[2] (ख) १५०९ वि० (गोपाल कवि),[3] (ग) १५१५ वि० (बलदेव कवि),[4] (घ) १५३५ वि० (सहचरिशरण),[5] (ङ) १५३७ (निजमतसिद्धान्त),[6] (च) १५६९ (श्री सुदर्शन सिंह चक्र)[7] और (छ) १५८४ वि० (गो० रामनाथजी शास्त्री)[8]।

इन अनेक जन्म-संवतोंमें से निर्भ्रान्त आधार पर किसी एक को ठीक मान लेने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। ऐसी स्थिति में अन्य बाह्य आधारों पर ही कुछ निर्भर किया जा सकता है।

---

[1] विहारिनिदास जी की साखी, सं० ६२५।

[2] मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मैमोअर, ग्राउज, पृ० २२१।

[3] वृन्दावनधामानुरागावली, हस्तलिखित।

[4] बलदेवकृत वंशावली।

[5] सहचरिशरण कृत गुरु प्रणालिका।

[6] निजमतसिद्धान्त, मध्यखंड, पृ० ५४।

[7] श्रीसुदर्शनसिंहचक्र कृत केलिमाल की भूमिका पृ० २१।

[8] हरिदास कुंजविहारी सर्वस्व, हस्तलिखित।

स्वामी हरिदासजी के जीवन-काल के जो कुछ संवतों के प्रमाण मिलते हैं, वे इस प्रकार हैं :—

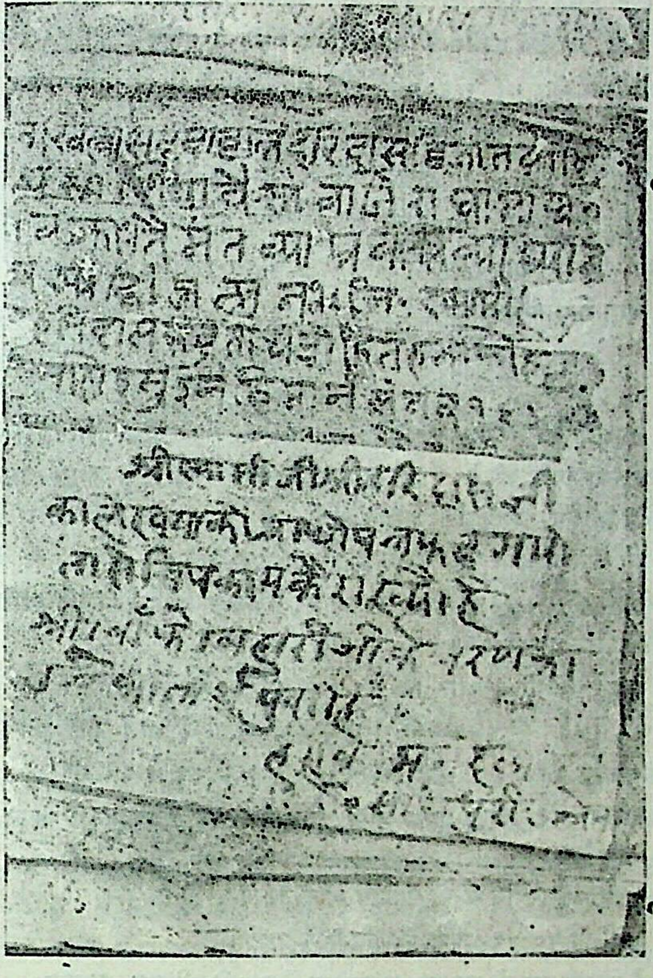

स्वामी हरिदास जी के हस्तलिखित अंश। उज्जैन के वशांनुगत तीर्थपुरोहित से प्राप्त। लेखन सं० १६२४।

(१) मथुरा के तन्नू चौबे के यहाँ प्राप्त सं० १८६३ के एक लेख में बताया गया है कि सं० १६०५ में किये गये स्वामी हरिदासजी,

जगन्नाथजी और गोविन्ददेवजी के हस्ताक्षर देख कर यह लेख लिखा गया है।[1] इससे सं० १६०५ वि० में स्वामीजी की स्थिति थी, ऐसा निश्चित होता है।

(२) सं० १६२४ का एक और स्वामी हरिदास के हाथ का लेख प्राप्त है जो उन्होंने उज्जैन के तीर्थ-पुरोहित को वृन्दावन में ही दिया था। इस प्राचीन लेख की फोटो प्रतिलिपि संयोजित है।[2] इससे उनका सं० १६२४ में रहना निश्चित् होता है।

(३) प्राचीन लेखों[3] और चित्रों से सिद्ध है कि तानसेन स्वामी हरिदासजी का शिष्य था और अकबर को लेकर वह एक बार स्वामीजी के दर्शनों के लिये भी आया था। अकबर और स्वामीजी का यह मिलन सं० १६२७ में हुआ, ऐसा विद्वानों का कथन है।[4]

(४) स्वामी हरिदासजी का निकुञ्ज-गमन व्यासजी के समक्ष हो गया था, जैसा कि उनके "विहारहिं स्वामी बिनु को गावै" पद से पता चलता है। व्यासजी का वृन्दावनवास-काल सं० १६५५ है।[5] ऐसा ज्ञात होता है कि व्यासजी स्वामीजी के बहुत समय बाद तक जीवित रहे। अतः स्वामीजी का निकुञ्जगमन काल सं० १६२७ और १६४९ के बीच होना चाहिये। व्यासजी के जीवनक्रम को देखते हुए यदि यह अनुमान किया जाय कि वे स्वामी हरिदासजी के बाद कम-से-कम १५ वर्ष और जीवित रहे तो स्वामीजी का निकुञ्जगमनकाल १६३५ के आसपास ठहरता है।

अब स्वामीजी के जन्म सं० पर विचार किया जा सकता है। यह बात सिद्ध है कि स्वामी हरिदासजी ने दीर्घ आयु प्राप्त की थी। निजमतसिद्धांत का कथन है कि वे इस पृथ्वी पर ९५ वर्ष रहे। यद्यपि ९५ वर्ष की आयु का उनका अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलता परन्तु उनके दीर्घ जीवन की

---

[1] स्वा० हरिदासजी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ० ७३।

[2] देखिये पृ० ४३७ पर, उज्जयिनी से प्राप्त।

[3] नागरीदास जी कृत पद-प्रसंगमाला में स्वामी हरिदास, तानसेन, अकबर सम्बन्धी उल्लेख।

[4] भक्त-कवि व्यास जी, श्री वासुदेवजी गोस्वामी, पृ० ८९, तथा देखिये, गजेटियर आफ मथुरा, पृ० १९१।

[5] श्रीहितहरिवंशगोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, गो० ललिताचरणजी, पृ० ४०६।

परंपरा को मानते हुए उनकी ९५ अथवा १०० वर्ष की आयु मान लेना ठीक ही है। इसके अनुसार उनका जन्म सं० १५३५ सिद्ध होता है। सं० १५३५ की मान्यता इसलिये भी ठीक बैठ जाती है कि स्वामी हरिदासजी का शिष्य तानसेन भी सं० १५५० के लगभग उत्पन्न हुआ था। इसका प्रमाण यह है कि अकबर के दरबारी इतिहासकार मुल्ला बदायूनी ने अपने ग्रन्थ मुन्तखिबुत्तवारीख में लिखा है कि ग्वालियर के राजा विक्रमाजीत ने तानसेन को 'तानसेन' उपाधि दी थी। फजलअलीशाह का 'कुल्लियाते गवालियर' भी इस तथ्य की पुष्टि करता है।[1] विक्रमाजीत का राज्यकाल केवल दो वर्ष अर्थात् सं० १५७३ से १५७५ तक है। निश्चित है कि तानसेन को यह उपाधि इसी बीच प्राप्त हुई होगी और तानसेन उस समय इस उपाधि के पात्र होंगे। यदि उस समय उनकी अवस्था २५ वर्ष की भी मानली जायी तो भी तानसेन का जन्म सं० १५५० के लगभग मानना होगा। यदि स्वामी हरिदासजी की आयु तानसेन की आयु से १५ वर्ष भी अधिक

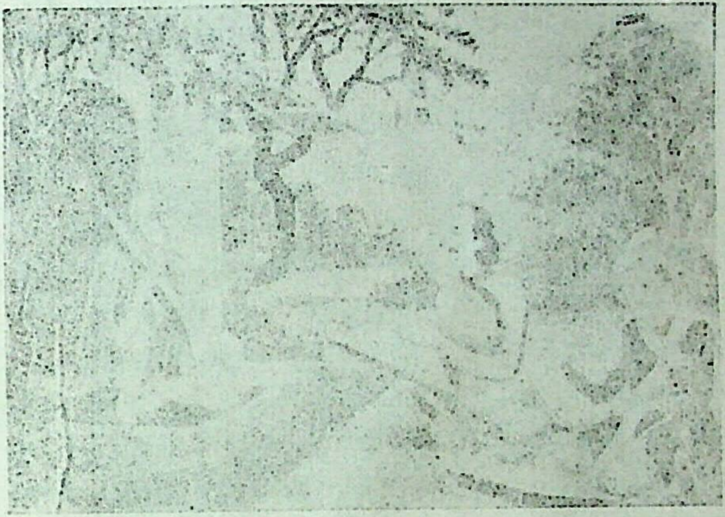

स्वामी हरिदास जी तानसेन और अकबर। एक प्राचीन प्रति के आधार पर चित्रकार जगन्नाथ का बनाया चित्र। गीताप्रेस, गोरखपुर के सौजन्य से।

---

[1] आजकल, उर्दू, अगस्त, १९५६ में मौलाना इम्तियाज अली अर्शी का लेख।

मानी जाय तो यह १५३५ ही बैठती है। प्रसिद्धि है कि बैजू भी स्वामीजी के शिष्य थे। वे शिष्य थे या नहीं, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु वे स्वामीजी के समकालीन अवश्य थे। बैजू मानसिंह तोमर के दरबार में थे, अतः स्वामीजी का यह जन्म संवत् इस दृष्टि से भी उचित है।

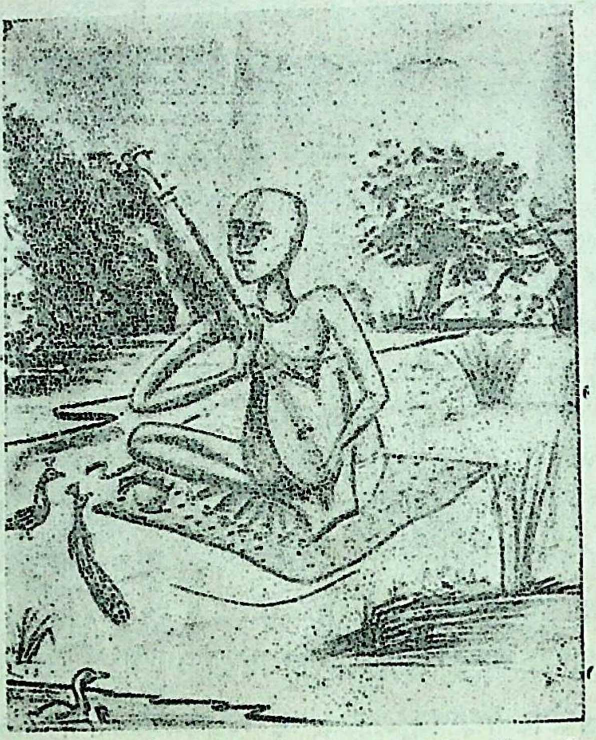

स्वामी हरिदास जी का एक प्राचीन चित्र। इस चित्र में स्वामी जी का तिलक निम्बार्कीय नहीं है।

हमारे अनुमान से स्वामी हरिदासजी का जन्म सं० १५३५ और निकुञ्ज-गमनकाल सं० १६३५ मानना उचित है।

स्वामी हरिदासजी का व्यक्तित्व

इतिहासकारों ने सदा शासनकर्ता अथवा उसके सम्पर्क के लिये लालायित लोगों का यश गाया है परन्तु इतिहास के पृष्ठों से बाहर रहकर भी स्वामी हरिदास, सूर, तुलसी सर्वदा अमर रहेंगे। स्वामीजी के सम्बन्ध में जो विभिन्न

क्षेत्रों में उल्लेख मिलते हैं, वे उनके अत्यन्त दृढ़ और महान् व्यक्तित्व के परिचायक हैं। हम उनके व्यक्तित्व को विभिन्न रूपों में देख सकते हैं।

स्वामी हरिदासजी भारतीय धर्मसाधना में एक महान् क्रान्तिकारी के रूप में अवतरित हुए। भक्ति के सोये हुए आन्दोलन को अपने प्रेमावेश से भर कर उन्होंने ऐसा प्रवाहित किया कि वह लोक की मर्यादाओं को तोड़ कर उफन पड़ा। जितने बड़े-बड़े संत उनके संपर्क में आये वे स्वामीजी से प्रभावित हुए। उनकी सखी-भाव की उपासना-पद्धति का ऐसा प्रचार हुआ कि वही भक्ति का चरम लक्ष्य मान्य हो गया। अनेक संप्रदाय इस 'रसतत्व' को लेकर उठ खड़े हुए। स्वामीजी का धार्मिक क्षेत्र में यह व्यापक प्रभाव है।

स्वामीजी सिद्ध रसिक थे। उन्हें किसी से कुछ लेना-देना न था। प्रसिद्धि ऐसी हो चुकी थी कि राजा लोग उनके द्वार पर खड़े रहा करते थे। अकबर से कोई सेवा न लेना उनकी निस्पृहता का परिचायक है।[1]

स्वामी हरिदासजी महान् संगीतज्ञ थे। उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे रस-विभोर महात्मा थे। तानसेन, जिसके सम्बन्ध में अकबर ने कहा था, ऐसा गायक १००० वर्ष से नहीं हुआ, स्वामी का शिष्य था। और भी उनके अनेक शिष्य बताये जाते हैं। स्वामीजी ने कोई संगीत-शास्त्र नहीं लिखा, वह उनका काम भी न था। उन्हें तो संगीत द्वारा भगवत्प्राप्ति करनी थी और वह उन्होंने की।

स्वामी हरिदासजी संगीत के साथ ही उसके विभिन्न अङ्ग अभिनय, नृत्य आदि के भी ज्ञाता थे। प्रसिद्धि है कि उन्होंने ही व्रज में रासलीलानुकरण का आरम्भ कराया था। यद्यपि सभी संप्रदायों के व्यक्ति अपने-अपने यहाँ के महापुरुषों को उसका प्रारम्भकर्ता मानने का आग्रह करते हैं परन्तु स्वामीजी का नाम सभी ने अपने साथ रखा है। इस सम्बन्ध में लेखक ने त्रिपथगा अक्टूबर १९५७ में "स्वामी हरिदास और रासलीलानुकरण" नामक तुलनात्मक विस्तृत लेख लिखा है। यहाँ विस्तार की गुञ्जाइश नहीं है।

स्वामी हरिदास जी का कवि-रूप भी अपनी विलक्षण स्थिति रखता है।

---

[1] नृपति द्वार ठाड़े रहें दरसन आसा जास की।
भक्तमाल, छप्पय, सं० १९१।

उनके काव्य का विषय और उसकी अभिव्यक्ति-शैली दोनों में नवीनता है। आगे हम उस पर विस्तार से विचार कर रहे हैं।

स्वामी हरिदासजी की प्रशंसा केवल सम्प्रदाय के अनुयायियों ने ही नहीं की अपितु अन्य सम्प्रदाय के व्यक्तियों ने भी खुले हृदय से की है। ऐसी कुछ श्रद्धांजलियाँ यहां परिचय के लिये दी जा रही हैं।

श्री अग्रदासजी (रामानन्दी संप्रदाय)

नमो नमो श्रीहरिदास, वृन्दाविपिन-वास, वर प्रान सर्वस बांके बिहारी।
स्यामा-स्याम जुगल रूप माधुर्ज के रसिक रिझवार, प्रेमावतारी।
परम वैराग-निधि, वसत निधिवन सदा, भावना-लीन सुप्रवीन भारी।
कामना-कल्पतरु, सकल संताप-हरु, 'अग्रदास अलि' कल्यानकारी।[1]

स्वामी नाभाजी (रामानन्दी)

आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की।
जुगल नाम सों नेम जपत नित कुंजबिहारी।
अवलोकत रहैं केलि, सखी-सुख के अधिकारी।
गान-कला-गन्धर्व, स्याम-स्यामा को तोषें।
उत्तम भोग लगाय मोर-मर्कट-तिमि पोषें।
नृपति द्वार ठाड़े रहैं दरसन आसा जास की।
आसुधीर-उद्योतकर 'रसिक' छाप हरिदास की।[2]

श्रीगोविंद स्वामी (वल्लभ सम्प्रदायी)

रसिक अनन्यनि कौ पथ बांकौ।
जा पथ कों पथ लेत महामुनि मूंदत नैन गहै नित नांकौ।
जा पथ कों पछितात हैं वेद, लहैं नहिं भेद, रहै जकि जाकौ।
सो पथ श्रीहरिदास लह्यौ रस रीति की प्रीति चलाय निसांकौ।
निसाननि वाजत गाजत 'गोविंद' रसिक-अनन्यनि कौ पथ बांकौ।[3]

श्रीलाल स्वामी

रवनि रसायनि परिहरो साह न मानत कौन।
आसू के हरिदास की लगै लाल पग पौन।[4]

---

[1] लेखक के संग्रह में प्राचीन हस्तलिखित वाणी, पृ० २४६।

[2] वही पृ० २४६।

[3] वही पृ० २४७।

[4] वही पृ० २४७।

श्रीध्रुवदासजी (राधावल्लभीय)

रसिक अनन्य हरिदास जू गायौ नित्यविहार।
सेवा में हू दूरि करि विधि-निषेध जंजार।
सघन कुंज न रहत दिन बाढ़यौ अधिक सनेह।
एक विहारी हेत लगि छांड़ि दिये सुख गेह।
रंक छत्रपति काहु की, धरी न मन परवाह।
रहे भीजि रस-माधुरी, लीने कर करुवाह।[1]

स्वामी प्रियादासजी (चैतन्य सम्प्रदायी)

स्वामी हरिदास रस रास को बखानि सकै,
रसिकता छाप जोई जाप मध्य पाइयै।
लायौ कोऊ चोवा वाकौ अति मन भोवा वामें,
डारयो लै पुलिन यहै पोवा हिये आइयै।
जानिकै सुजान कही लै दिखावौ लाल प्यारे,
नैसुक उघारे पट सुगंध बुड़ाइयै।
पारस पषान करि जल डरिवाय दियौ,
कियौ तब सिष्य ऐसे नाना विधि गाइयै।[2]

स्वामी हरिदास जी की रचनाएँ

विलक्षण बात यह है कि पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेवाले स्वामी हरिदासजी जैसे गायक रसिकों की लिखित वाणी अत्यन्त स्वल्प है। इनकी कृतियों के रूप में हमें केवल दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनमें से प्रथम है केवल अठारह पदों का संग्रह जिन्हें साधारण अथवा 'अष्टादश सिद्धान्त के पद' कहा जाता है। दूसरा, ग्रन्थ है 'केलिमाल', जिसमें श्रृंगार रस के ११० पद हैं। कुछ प्रतियों में इनकी संख्या ११२ है, इस प्रकार इनकी कुल रचना-निधि १२६ या १२८ पद हैं। स्वामी हरिदास जी की इतनी संक्षिप्त रचना में ही उनके सखीभाव के प्रथम दर्शक होने के प्रमाण जडित हैं। इन पदों में जो विलक्षण अनुभूति-सौकर्य है वह साहित्य में उनके ऐतिहासिक स्थान की दृष्टि से पूर्णतया नवीन और एक विचित्र ताजगी लिये हुए है। उनकी यह प्रेमानुभूति उन्हें अन्य कवियों से छांटकर अलग रख देती है।

---

[1] वही, पृ० २४७–२४८। तथा भक्तनामावली लीला, ध्रुवदासजी।

[2] भक्तमाल, रूपकला, पृ० ६१८।

स्वामी हरिदास जी की रचनाओं के उल्लेख में अनेक इतिहासकार और आलोचकों ने भ्रान्तियां की हैं। मिश्रबंधुओं ने स्वामी हरिदासजी के ग्रन्थों की संख्या सात बताई है। ये हैं—

१—बानी।

२—साधारण सिद्धान्त।

३—रस के पद।

४—पद।

५—भरथरी वैराग्य।

६—हरिदास जू कौ ग्रन्थ।

७—केलिमाल।

उन्होंने इन ग्रन्थों के नाम छतरपुर संग्रहालय एवं खोज-रिपोर्टों के अनुसार दिये हैं।[1] इनमें भरथरी-वैराग्य तो किसी प्रकार स्वामी हरिदास जी की रचना नहीं हो सकती और शेष ग्रंथ इन्हीं दो के विभिन्न संग्रहों के नाम हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल की सूचना में स्वामी हरिदास जी के कुछ संग्रह ग्रन्थ ही थे, उनके नाम हैं—

१—हरिदास जी को ग्रन्थ।

२—स्वामी हरिदास जी के पद।

३—स्वामी हरिदास जी की बानी। आदि[2]

ऐसे ही पदों के संग्रह विभिन्न खोज रिपोर्टों में बताये गये हैं, विशेषकर नागरी-प्रचारिणी-सभा की सन् १९०० संख्या ३७, सन् १९०५ संख्या ६७, सन् १९०९ संख्या १४ तथा संख्या १०९ देखनी चाहिये। इनके अतिरिक्त विभिन्न गायन-संग्रहों आदि में भी स्वामी हरिदास जी के पद प्राप्त होते हैं। एक बात इन सब में देखने में आती है कि अधिकांश संग्रहों में संगृहीत विभिन्न हरिदास नामक महात्माओं के पदों को एक साथ जोड़कर आलोचकों ने अपनी राय बना ली हैं, स्वामी हरिदास जी के साहित्य के साथ यह एक बड़ी भ्रान्ति है।[3] परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है स्वामी हरिदास जी की दो स्वल्प

---

[1] मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम खंड २८८।

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२६।

[3] देखिये लेखक का एक लेख 'तानसेन के संगीत-गुरु स्वामी हरिदास या हरिदास डागुर' साप्ताहिक हिन्दुस्तान ३० दिसम्बर १९५६।

रचनायें ही विभिन्न रूपों में सर्वत्र फैली हुई हैं तथा उनके बंधे हुए रूप संप्रदाय के स्थलों में बड़ी मात्रा में प्राप्त होते हैं। इन पदों की संख्यां भी पूर्व कथनानुसार प्रायः निर्दिष्ट है। नहीं कह सकते कि स्वामी जी की वाणी के साथ लगी हुई फलस्तुति का समय क्या है, परन्तु उसमें केलिमाल के पदों की संख्या और राग निश्चित रूप से उल्लिखित हैं।

फलस्तुति का यह संख्या-विषयक छंद इस प्रकार है—

अनिन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदास जू के पद,
रस अमल बीज वकुला न जासमैं।
प्रथम राग कान्हरे में तीस सुखदाई सब,
बाईस केदारे मांझ सरस रस रास मैं।
बारह कल्यान ग्यारह सारंग में सुख (सुर) बंधान
दस है विभास द्वै विलावल प्रकास मैं।
आठ हैं मलार, द्वै गौड़, पांच हैं बसंत,
गौरी छह, नट द्वै जुगल विलास मैं।[1]

प्राप्त केलिमाल के पदों की रागों के अनुसार यह संख्या ठीक ही है। सिद्धान्त के अठारह पद इससे अलग हैं, पर उनकी संख्या आदि की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। इसके अतिरिक्त स्वामी हरिदास की छाप के पदों को भेंट के पद समझना चाहिये, यह बात फलस्तुति में भी कही गई है।

और कोऊ पद है ताहि भेंट जानि लीजै,
जीजै, पावै पद कमल जुग नागरि निहारी जू।[2]

स्वामी हरिदास जी के ग्रंथों का अभी तक कोई सुन्दर सुसंपादित संस्करण प्राप्त नहीं है, प्रतियों में पाठ-भेद भी बहुत है, अतः इस ओर ध्यान देने की परम आवश्यकता है।

टीकाएँ

केलिमाल के पद अत्यन्त गहन गम्भीर हैं। उन्हें पढ़-सुन कर विचारने वाला, भावसागर में पैठ कर कोई 'मरजीया' ही विहार-रूपी रत्न को प्राप्त

---

[1] फलस्तुति सं० २। लेखक की संगृहीत वाणी, नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट सन् १९०० के सं० ३७ में भी उद्धृत फलस्तुति।

[2] वही सं० ३।

कर सकता है। कुछ रसिकों ने केलिमाल की टीका करने का यत्न किया है। इनमें नरहरिदेव, पीतांबर देव एवं राधासरनदेव आदि की टीकाएँ ही प्रसिद्ध हैं। राधासरनदेव की टीका से ज्ञात होता है कि उस समय उनके समक्ष नौ टीकाएँ थीं। प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है, नौ टीकान को मंगलाचार समासम्र।

१—अष्टादश सिद्धान्त के पद—

स्वामी हरिदास जी द्वारा सामान्य जीवों को राधा-कृष्ण की उपासना की ओर अग्रसर करने के लिये साधारण सिद्धान्तों का कथन है। इन पदों में दार्शनिक मतवाद न होकर सीधे-सादे अनुभूतिपरक उपदेश संकलित हैं। फिर भी उनको अपने दार्शनिक संप्रदायों के अनुसार कोई वाद-विवादों के ढांचे में ढालने का यत्न करे तो उसका उपाय ही क्या है? स्वामी हरिदास जी का सिद्धान्त सीधा-सादा है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है—

१—हरि स्वतंत्र हैं, जीव भगवदाधीन है।

२—हरि की कृपा से ही सब कुछ होता है, उन्हीं से प्रीति करनी चाहिये।

३—मन कभी-कभी भटकता है, पर उस कोटिकामलावण्यमय विहारी जैसा दूसरा और कोई नहीं है।

४—सब छोड़कर हरि को भज।

५—जीव का स्वभाव दुष्टता है, पर हरि की माया से पार कैसे पा सकता है?

६—कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसमर्थ प्रभु के पथ का ही आलंबन कर।

७—उसका प्रेम-रंग अविनश्वर है।

८—सभी उसके वशीभूत हैं।

९—उसी के चरणों में आनंद है।

१०—उसके नाम का आलस्य कभी न करो, मृत्यु सामने खड़ी है।

११—लोग भूल कर जन्म यों ही गँवा रहे हैं, जीवन तो वह है जब हरि चित्त में आ जायें।

१२—उसी से प्रेम करना चाहिये जैसे सर पर भरी मटकी रखे रहने पर ग्वालिन का चित्त उसमें लगा रहता है।

१३—यह जग प्रभु का खेल है, यह तीर्थ का सम्मिलन जैसा ही है।

१४—जग-स्वप्न के जागरण, जैसा है।

१५—जगत के लोग एक ही प्रकृति के हैं, कुञ्जविहारी ही सच्चे मीत हैं।

१६—और कोई भले भूल जाय, इस पथ का पथिक तो उसे कभी न भूले।

१८—प्रेम-समुद्र का घाट खोज।

सिद्धान्त के अठारह पदों का यह सार है। सिद्धान्त में तीव्रता है, गंभीरता है। यह भक्ति का उपदेश है। एक-एक बात को कई-कई वार दुहरा कर इसीलिये कहा गया है कि विषय बराबर ध्यान में रहे। इन पदों का मूलमंत्र है जगत् के प्रति वैराग्य-भावना रखते हुए, गौ की अपने वत्स के प्रति अथवा मृगी की अपने शावक के प्रति जो तन्मयीभूत चित्तवृत्ति होती है, उसी भाव से श्याम-श्यामा की उपासना।

२—केलिमाल

यह नाम विषय-वस्तु का बोध कराता है। यह प्रिया-प्रियतम की नित्य 'केलि' की 'माल' है। केलि-समय जो प्रेम-जल अंग से स्रवित होता है, उन बिन्दु-मुक्ताओं को लाल जी पंछी बन कर चुनते हैं।

चुनौं सुभाव प्रेम जल अंग स्रवत, पीवत न अघात, रहे मुख निहारी।[1]

इन श्रम-जल-कणों का सखीभाव की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व है। शुद्धापह्नुति के ब्याज से इन श्रम-जल-कणों की मोती-माला केलिमाल के रूप में गुम्फित की गई है।

स्रम जल कन नाहीं, होत मोती माला कौ देहु।
देखे बहुत अमोल, मोल नहिं, तन मन धन न्यौंछावर करि लेहु।[2]

माला में १०८ दाने होते हैं और एक मेरु। यहाँ की उपासना में एक तो होता नहीं, युगल होते हैं अतः कुल ११० पद इस माला के प्रतीक हैं। यह भावना सांप्रदायिक तो है ही, साहित्यिक भी है। जैसा कहा जा चुका है कि सखीभाव का उपास्य लोक की पृष्ठभूमि में नहीं देखा जा सकता अतः घटनाक्रम के लिये यहां किंचित् भी गुंजाइश नहीं है। प्रिया-प्रियतम की नित्य लीला अप्राकृत है और उनके प्रेम का अप्राकृत गुण है कि वह प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। रूप और प्रेम परस्पर आकर्षित होकर एक ओर दर्शन के

---

[1] केलिमाल पद, सं० ९।

[2] केलिमाल पद, सं० २७।

अभाव में विकल हो पुनः एक से दो होकर लीला-रत रहते हैं। सखी इस नित्य रूप को नेत्रों के चषक में भर कर दर्शन-पान करती रहती है।

श्रीविहारी जू, श्रीप्रिया जू, सहचरि विशेषकर ललिता और वृन्दावन की प्रकृति पशु-पन्छी बस केवल-मात्र यही इस अमर वाङ्मय के लीला के आधार अथवा सहायक हैं। लीला में सहचरी के सम्मुख प्रिया-प्रियतम का प्रकट होना, राग-रंग में तन्मय होना, एक दूसरे में समाये मनों को अधिकाधिक प्रतीति देना, मान न करने की प्रार्थना, यदि कहीं तनिक भी पलकांतर हुआ तो प्राणों का अस्तव्यस्त होना, मनुहार करना, विहारी जी द्वारा पैरों पड़कर मनाना, नृत्य करना, रूप पर मुग्ध होना, राग भरना, केलि की त्रिसाल विछाना, डोल, बसंत, पावस, शरद, आदि ऋतुओं में विहार करना, इसी सबसे 'केलिमाल' के कलेवर की निर्मिति हुई है। सच पूछा जाय तो सखीभाव के सम्पूर्ण विशाल साहित्य की विषय-वस्तु केवल मात्र इतनी ही है। इन्हीं की रूप-शोभा और प्रेम की वृत्ति को इन रसिकों ने रीझ-रीझकर न्यौंछावर हो-होकर गाया है। प्रिया-प्रियतम की इन लीलाओं को सखियां विभिन्न रूप ग्रहण कराती हैं। केलि-विलास के विभिन्न रूपों को योजित करने में वे बड़ी चतुरा हैं। दोनों के चित्त की प्रीति की मूर्ति वही हैं, जब जैसे चाहती हैं, लाल-ललना की वैसी ही शोभा को देख-देखकर आनन्दित होती रहती हैं।

प्रकृति-वर्णन

प्रेममय वृंदावन की अप्राकृत प्रकृति प्रिया-प्रियतम की क्रीड़ा के लिये प्रतिपल रूप बदलती रहती है। जब जब ऋतुओं का रूप बदलता है वह केलि-रस के उपयुक्त प्रकृति की पृष्ठभूमि को सजाता है, विस्तार देता है। काव्य-दृष्टि से हम कह सकते हैं कि यदि प्रकृति का यह अनुपम परम सुन्दर रूप इन रसिकों के पास न होता तो ये रसिक जन लीला-विस्तार नहीं कर सकते थे। स्वामी हरिदास जी का प्रकृति-वर्णन कितना सजीव और लीलामय है, देखते ही बनता है—

नाचत मोरनि संग स्याम, मुदित स्यामाहिं रिझावत।
तैसीयै कोकिला अलापत, पपीहा देत सुर,
मेघ गरजि मृदंग बजावत।
तैसीयै स्याम घटा निसि-सी कारी,

तैसीयै दामिनी कौंधि दीप दिखावत ।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी,
रीझि राधे हंसि कंठ लगावत ।[1]

रूप-चित्रण

स्वामी जी के रूप-सौन्दर्य-सिद्धान्त का विवेचन पीछे किया जा चुका है। यहाँ हम यह देखेगें कि उनके युग का समस्त सौन्दर्य अपनी उच्चतम छवि के साथ किस प्रकार उनके द्वारा वर्णित श्रीराधा के रूप-सौन्दर्य में सिमिट गया है। इस रूप-सौन्दर्य में लौकिक और अलौकिक दोनों तत्वों का समावेश किया गया है। प्रकट रूप में श्रृंगारादि तत्कालीन व्रज-क्षेत्र के हैं, एवं श्रीप्रिया जी की शरीर-कांति आदि तथा इन सबकी शोभा परम अप्राकृत हैं। उपासना की दृष्टि से तो श्रृङ्गारादि सभी आनन्दमय हैं, वहां लौकिक पदार्थ नहीं हैं। सीधे-सादे रूप-चित्रण की एक छटा देखिये—

द्वै लर मोतिनि की, एक पुंजा पोति कौ सदा नेत्रनि,
दृष्टि लागौ जिनि मेरी।
हाथनि चारि-चारि चूरी, पाइनि इकसार चूरा चौपहल,
इकटक रहे हरि हेरी।
एक तौ मरगजी सारी, तन तै कंचुकी न्यारी,
अरु अंचरा की बाई गति मोरि उरसनि फेरी।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी, या रस ही बस भये,
हरै हरै सरकनि नेरी।[2]

रूप-वर्णन इस स्वल्प रचना में भी भरपूर है। इससे हमें स्वामी जी के समय के प्रसिद्ध वस्त्रों के भेद तनसुख, लाही, अतलस, मखतूल, मरगज आदि के सम्बन्ध में ज्ञात होता है। हाथों में चार-चार चूड़ी, कलाइयों में पहुँची, नाक में नकफूल, हृदय पर मोतियों और पोत की लरें तथा चौका, कानों में वीरें, पैरों में चौपहल चूड़ा यह सभी श्रृङ्गार का सादा प्रकार ही है। इसी के साथ वस्त्रों में जो वर्ण मेल (Match) की रुचि होती है, वह भी स्वामी जी को ज्ञात है। यह वर्ण मेल दो प्रकार से होता है। एक ही रंग के

---

[1] केलिमाल ९६।

[2] केलिमाल २०।

वस्त्राभूषण पहनना, अथवा ऐसे वस्त्राभूषण पहनना जो परस्पर एक दूसरे के विरोधी होकर एक दूसरे के रंग को सुन्दर बनाते हैं। 'तन तैं कंचुकी न्यारी' का यही तात्पर्य है कि उनके सोने से गात से कंचुकी की शोभा न्यारी थी। सारी पहनने के विभिन्न ढंगों में से उसके आंचर को बांई ओर से मोडकर उरसनें के फेर की ओर भी उनकी दृष्टि है। ये वर्णन स्वामी हरिदास जी का लोकानुभव प्रदर्शित करते हैं।

श्रीराधा जी का श्याम-रूप और विहारी जी का श्रीराधा-रूप भी स्वामी हरिदास जी ने चित्रित किया है। अंग में कस्तूरी का मर्दन किये, पीताम्बर पहिने, मुरली धरे श्रीराधा श्याम-रूप में दिखाई गई हैं—

कस्तूरी कौ मर्दन अंग में कीयैं, मुरली धरैं, पीतांवर ओढैं
कहत राधे, हौं ही स्याम।[1]

दोनों की परस्पर जो 'बानिक' बनी है उसका युगपत् वर्णन भी कितना सुन्दर और शोभामय है। एक पद देखिये—

आजु की बानिक प्यारे, तेरी प्यारी,
तुम्हारी बरनी न जाय छवि।
इनकी स्यामता, तुम्हारी गौरता जैसे,
सित असित बेनी रही भुवंगम ज्यों दवि।
इनकौ पीतांवर तुम्हारौ नील निचोल,
ज्यों ससि कुंदन जेव रवि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी की सोभा,
बरनी न जाय जो मिलै रसिक कोटि कवि।[2]

रूप-शोभा का अलौकिक वर्णन करने में स्वामी हरिदास जी विशेष पटु हैं। 'जोन्ह में जोन्ह सी फूली' अथवा 'कोटि चंदों का दुराना' आदि वाक्यों से वे अतिशय द्वारा अनुभूति को उच्च क्षेत्रों में ले जाते हैं।

यह रूप-शोभा कभी भी स्थिर नहीं है। स्थिरता में सौन्दर्य कहाँ? 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति' वाला माप-दंड ही स्वामी हरिदास का सौन्दर्य-माप है, वे कहते हैं—

---

[1] केलिमाल पद सं० ५६।

[2] वही, २९।

प्यारी जू जब जब देखौं तेरौ मुख, तब तब नयौ-नयौ लागत।
ऐसौ भ्रम होत, मैं कबहूँ देखी न री।[1]

अथवा

यह कौन जु अबहि और, अबहि और, अबहि औरै।[2]

रूप की यह गति अद्भुत है, और की और होने वाली है। लीलामयी श्रीराधा का रूप भी विचित्र लीलामय है। सौन्दर्य जहां अपनी गति भूल जाता है, कोटि रसिक कवि भी जिसका वर्णन करने में असमर्थ होते हैं, वह रूप है, पर अलौकिक है, एक मात्र वही है। इसी प्रकार प्रियाजी 'गुण' में अद्वितीय हैं।

प्रेम-व्यंजना

रूप की पूर्ति है रीझ। श्रीविहारी जी अतृप्त रीझ के मूर्त-रूप हैं। हम लौकिक श्रृङ्गार की मूल जिस रति को देखते हैं, वह समर्था रति नहीं है। अपनी सीमाओं तक ही उसका प्रसार है। उदात्त प्रेम की प्रगाढ़ व्यंजना 'लोक' में संभव नहीं है। यहां प्रेम की तीव्रता का जो एक हड्डियों की छैनी बनाकर पहाड़ फोड़ने वाला साहसिक रूप है, वह भी परीक्षा के अवसर पर ही प्रकाशित होता है। कुछ आदर्शवादी आलोचक 'ऐकान्तिक प्रेम' को उत्कृष्ट मानने में हिचकिचाते हैं और सूर के गोपी-प्रेम की भी मनमानी आलोचना कर बैठते हैं। उनके लिये सखीभाव का साहित्य नहीं है। परन्तु इतना कहा जा सकता है कि प्रेम की जो आतुरता, आवेश और प्रगाढ़ता यहां प्रिया-प्रियतम के मध्य है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ ही है। यहाँ हमें उपास्य के स्तर का ध्यान रखना आवश्यक है।

रूप और रीझ की लीला ही निकुंज-लीला है। पुनः स्मरण दिलाना आवश्यक है कि निकुंज में विशुद्ध प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वामी हरिदास का नित्यविहार-वर्णन पूर्णतया आभिजात्यमय है परन्तु उसमें भाव की उमंग सर्वत्र है। शिथिलता, गतिहीनता, बासीपन कहीं भी नहीं है। उन्होंने प्रेम-वर्णन की बंधी-बंधाई परम्पराओं को छोड़कर अपनी अनुभूति से नया मार्ग और नयी दिशाएं ढूंढ़ निकाली हैं। वे इस क्षेत्र में पूर्णतया स्वच्छंद हैं।

---

[1] वही, ३४।

[2] वही, ५४।

उन्होंने जिस मंगलमय दिव्य प्रेम को देखा फिर बाद में तो उसका न जाने कितने रसिकों ने रीझ-रीझ कर अनुकरण किया।

रस-व्यंजना

स्वामी हरिदास जी के पदों की फलस्तुति के रूप में प्राप्त होनेवाली प्राचीन समालोचना दर्शनीय है। उसमें बताया गया है कि ये पद-महा मिही रस के फल हैं, इनमें न छिलका है, न बीज। लीला और माहात्म्य के ये पद बिहार माधुरी का 'सद' सार है। ये प्रतिपल युगल दम्पति की आसक्ति को प्रकट करनेवाले हैं तथा काव्यगत नव रसों को 'रद' करने वाले हैं। जिसे और कुछ भी नहीं सुहाता, ऐसा रसिक ही इस रस का पान कर सकता है, ये पद अत्यन्त मादक हैं और प्रिया-प्रियतम को वश करने वाले हैं।' पूरा कवित्त इस प्रकार है :—

महा मिही रस के फल फलित भये कल्पद्रुम,
ऐसे श्री स्वामी हरिदास जू के पद हैं।
जामें न बकुल बीज, लीला औ महातम के,
वर बिहार माधुरी के सार के जो सद हैं।
दंपति आसक्तताइ प्रगट करत छिन छिन प्रति,
नव रस सिंगार आदि कीने सब रद हैं।
पीवे रसिक सोई जाकों न सुहात और,
दम्पति बस करिवे कौ मादिक बेहद हैं।[1]

स्वामी हरिदास जी की वाणी में प्रकट होने वाला नित्य निकुंजविहार लीला-रस है, इसे ही महामधुर रस भी कहा जाता है। यह रस योगियों को भी दुर्लभ है, अन्य की तो बात ही क्या? काव्यगत रस की दृष्टि से यह महामधुर रस शृंगारादि नव रसों से विलक्षण है। इनको पढ़-सुनकर जो इनका मनन करता है, मरजीया बन कर गोते लगाता है, वही विहार-रत्न को ढूँढ़कर लाता है।

भरत की परिपाटी के अनुसार प्रिया-प्रियतम को आलंबन माना जायगा। सखियां रति का उद्दीपन करने वाली हैं।[2] उनके वचन, चेष्टा आदि भी

---

[1] फलस्तुति, कवित्त ११।

[2] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ६२२।

उद्दीपन के अन्तर्गत आते हैं।[1] वृन्दावन एवं प्रकृति की अन्य क्रीड़ाएँ भी उद्दीपन के अन्तर्गत होंगी। प्रिया-प्रियतम की लीला में विभिन्न भावानुगामी अनुभावों की इन पदों में सुन्दर योजना है और प्रेम के अनुकूल संचारियों का भी सर्वत्र प्रसार है। अतः भरत की रस-परिपाटी से काव्यगत मधुर रस इसमें सर्वत्र उच्छलित दिखाई देता है।

अभिव्यंजना-शैली

अलौकिक, असाधारण और अपार्थिव को साकार करने वाले काव्य की शैली भी असाधारण होनी स्वाभाविक है। अनुभूतियों में अपनी एक सरलता होती है। यदि कवि का ध्यान काव्य के कला-पक्ष पर भी कवित्व दृष्टि से रहे तो अनुभूति अधिक रमणीय और वर्गीकृत (Classical) हो सकती है। परन्तु काव्य-क्षेत्र में यह गुण होते हुए भी अनुभूति की वास्तविकता की दृष्टि से उपादेय नहीं है। भक्ति-पंथ के रसिकजन कभी काव्याभिमान लेकर कविता करने नहीं बैठे। वे तो प्रिया-प्रियतम के अनुभूत 'वार्तालाप' को ही गुनगुनाते थे। अतः इस काव्य में काव्य की कलात्मक कृत्रिमता के स्थान पर स्वाभाविकता, सरलता और ऋजुता ही अधिक है। स्वामी हरिदास जी की वाणी का यह प्रधान गुण है। उनकी 'बोलनि', निकुंज की 'बोलनि' है। उनके पद प्रिया-प्रियतम के परस्पर वार्तालाप हैं। अभिव्यंजना में बोलचाल की यह निश्छल स्वाभाविकता स्वामी हरिदास जी के पदों में सर्वत्र है। प्रियतम कहते हैं :—

"भूलै भूलै हू मान न करि, री प्यारी।
तेरी भौंहे मैली देखत, प्रान न रहत तन।"

तनिक से मान में जो प्यारे की दशा होती है, वही अपनी विवशता प्रियाजी के सम्मुख सीधे-सादे ढंग से निवेदन की है। परन्तु प्रियाजू चुप हैं, कुछ तो कहैं वे अपने प्राण निछावर करने को प्रस्तुत हैं :—

"ज्यौं न्योछावर करौं प्यारी री तोपर,
काहे तैं तू मूकी" कहत स्यामघन।

लालजी आगे कहते हैं :—

"तोहि ऐसे देखत मोहि अब कल कैसें होइ जु प्रान-धन"।

---

[1] उद्दीपन के भेद बहु सखी वचन है आदि।
समय साज लौं वरनिये कविकुल की मरजादि॥ हिततरंगिणी ११।

अपना वश नहीं चलता तो हरिदास-सखी से कहते हैं, कि अब ये अपना पन—मान का प्रण—छोड़ दें।

> सुनि हरिदास काहे न कहत या सों,
> छांड़ैऽब छांड़ै आपनौ पन।[1]

अभिव्यंजना-शैली कितनी सरल है। दूरारूढ़ कल्पना नहीं कहीं, घुमाव-फिराव नहीं। पद की ऋजुता में से प्रेम की मृदुता ही टपक रही है। अलंकृत नहीं है पर प्रेम की विकलता सटीक है। यही है सीधा-सादा, सच्चा काव्य। स्वामी हरिदास जी के अधिकांश पदों में यही वार्तालाप की सामान्य स्वाभाविक शैली अपनाई गई है। इन पदों में कवि भी अलग बैठा-सा ज्ञात नहीं होता, वह भी सखी-रूप में लीला में सम्मिलित है। वह भी वार्तालाप में भाग लेता है, और अपनी ओर से भी कभी-कभी कुछ कह उठता है। भाव का आवेश प्रत्येक पद में है। अपनत्व के प्रेमालाप में संबोधन का प्रयोग सुखकर होता है। इससे मृदुता और स्वाभाविकता आती है। राधे, के साथ 'री' का प्रचुर प्रयोग स्वामी जी ने किया है :—

> तू रिस छांडि री राधे, राधे।
> ज्यों-ज्यों तोकों गहरु, त्यों-त्यों मोकों बिथा री साधे साधे।[2]

तू, तेरी, मैं, मेरी आदि सर्वनाम भी अपनत्व का, नैकट्य का सूचन करते हैं। सुनि, देखि, मानि, आदि क्रियापद भी बोल-चाल का स्वाभाविक वातावरण बनाते हैं। बोलचाल में बात पर बल देने अथवा विश्वास दिलाने के लिए 'ई' निपात का प्रयोग बहुत होता है। स्वामी जी ने इसका भी प्रयोग किया है। ऐसौई, तैसौई आदि बहु-प्रयुक्त हैं।

प्रेम में, प्रार्थना में, आग्रह में एक-एक शब्द को दुहराया जाता है।

'तू रिस छांडि री राधे, राधे'—संबोधन का प्रयोग श्याम की विनय और दीनता को ही प्रकट करता है।

'भूलैं भूलैंहू मान न करि री प्यारी' में भी भूलैं का दो बार प्रयोग प्रार्थना और कृपा का आग्रह स्पष्ट करता है। 'प्यारी जू आगे चलि, आगे चलि, गहवर बन भीतर जहां बोलैं कोइल री।'[3] में भी यही भाव है।

---

[1] केलिमाल, स्वामी हरिदास जी, पद सं० १०।

[2] केलिमाल, स्वामी हरिदास जी, पद सं० १७।

[3] केलिमाल, स्वामी हरिदास जी, पद सं० ४६।

शब्द और संबोधनों का ही प्रयोग नहीं इन पदों की वाक्य-रचना ही वार्तालाप के ढंग की है। कवि ने मानों अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, प्रिया प्रियतम के वार्तालाप ही उद्धृत कर दिये हैं। भाव के अनुसार ही ये वाक्य छोटे-बड़े हैं, परन्तु उलझे हुए नहीं है। विचार वाक्यों को उलझाते हैं, भावों में सुलझापन होता है।

स्वामी हरिदास जी भाववादी हैं। विचार साधकों के लिये हैं, रसिक सिद्धों के लिये सभी प्रकट, प्रत्यक्ष है। तभी स्वामी जी के काव्य में अनुभूति की स्पष्टता है।

अलंकार-विधान

अभिव्यंजना को बोधगम्य बनाने के लिये रूप-सज्जा की आवश्यकता होती है, अनुभूति को आभूषण पहनाये जाते हैं। अलंकारों से भावों को अलंकृत किया जाता है। अलंकारों का कार्य ही शोभाधायक है, भाव, गुण, कर्म को अधिक स्पष्ट कर प्रकाशित करना है, परन्तु अलंकारों का अधिक अथवा प्रयत्नसाध्य प्रयोग सर्वत्र वर्जित है।

स्वामी हरिदास जी अलंकरण के पक्षपाती नहीं हैं। उनकी अनुभूति ही इतनी स्पष्ट है कि उन्हें अधिक अलंकारों की आवश्यकता ही नहीं होती। प्रकाश की अभिव्यक्ति के लिये काजल की रेखायें संभवतः सर्वत्र आवश्यक नहीं हैं। जो सर्वाङ्ग सुन्दर है, स्पष्ट है, उसे प्रयत्नसाध्य अलंकार नहीं चाहिये। स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय मानो इस अलंकार-साधना का मूलतः विरोधी है। उसे प्रिया-प्रियतम के नित्य मिलन में शरीर पर धारण किये हुए शृंगार, आभूषण 'रस' के बाधक के रूप में लगते हैं। वे भूषण 'दूषण' जान पड़ते हैं।

> बुरौ सिंगार विहार में, भूषन दूषन जानि।
> विहारीदास सेवत सुखहि मन कौ मर्म पिछानि।[1]

जिस प्रकार प्रिया-प्रियतम की लीला में भूषण व्यर्थ की बाधा खड़ी कर अनुभूति के घातक हो जाते हैं, उसी प्रकार 'मन के मर्म' को पहिचानने में कविता में अलंकार भी बाधक हो सकते हैं। लीला-काव्य में इसीलिये स्वा-

---

[1] विहारीदास साखी १०८।

भाविक अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों को लादना उचित नहीं है। स्वच्छन्दतावादी काव्य में जहाँ अनुभूति उथली होती है, कलात्मकता पर अधिक बल दिया जाता है परन्तु जहाँ अनुभूति तीव्र होती है, वहाँ कला-कल्पना अपना काम स्वयं कर लेती है, स्वाभाविक रीति से। स्वामी हरिदास जी की रचनाएँ बहुत ही स्वल्प हैं। उनका वर्ण्य विषय भी सीमित ही है। अतः स्वाभाविक रीति से प्रयुक्त अलंकारों की सौंदर्य-छटा को हम एक सीमा में ही देख सकते हैं। प्रयत्न यहां बिलकुल नहीं है, स्वाभाविक समावेश है।

शब्दालङ्कार

शब्दालंकारों में "अनुप्रास" सर्वसम्मान्य अलंकार है। लम्बी-लम्बी वृत्तियों में तो अवश्य ही प्रयत्न करना होता है, परन्तु छेकानुप्रास, अथवा छोटे वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास स्वाभाविक ही होते हैं। स्वामी जी अनुप्रास के पीछे नहीं पड़े हैं। कहीं-कहीं स्वाभाविक रीति से यह स्वयं आ गया है। देखिये—

राग ही में रंग रह्यौ रंग के समुद्र में ये दोऊ झागे।

श्लेष और यमक ये दोनों अलंकार प्रयत्नसाध्य हैं। केलिमाल के एक पद में अत्यन्त स्वाभाविक रीति से प्रयुक्त हुए यमक का उदाहरण मिल जाता है। जहाँ लक्षणा द्वारा दूसरे श्याम शब्द का अर्थ काजल ग्राह्य है, देखिये—

कस्तूरी को मर्दन अंग में किये, मुरली धरे, पीतांबर ओढ़ै,
कहत राधे हौं ही स्याम।
किशोर कुमकुमा कौ सिंगार किये, सारी, चुरी, खुभी,
नेत्रन दीये स्याम।

भंग-पद यमक का भी एक उदाहरण है—

१. बैठे रसिक संवारन वारन कोमल कर ककही सौं।

भाव के आग्रह से शब्दों की पुनरुक्ति जहाँ होती है, वहाँ 'वीप्सा' अलंकार माना जाता है। जैसा कहा जा चुका है, स्वामीजी का वार्तालाप-शैली में शब्दों के दोहरे प्रयोग बहुत हुए हैं, अतः वीप्सा अलंकार वहां प्रचुर है।

अर्थालङ्कार

अर्थालंकार ही वास्तव में वे महत्त्वपूर्ण अलंकार हैं, जिनके बिना सरस्वती

को विधवा भी कह दिया गया है।[1] शुक्लजी के शब्दों में "वे भावों का उत्कर्ष दिखाते हैं। वस्तु के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में वे कभी-कभी सहायक होते हैं"। उपमा काव्य का सर्वसम्मान्य अलंकार है। श्याम-श्यामा के वर्णसाम्य के आधार स्वामी जी घन-दामिनी की अधिक उपमा देते हैं।

'माई री सहज जोरी प्रगट भई, रंग की गौर श्याम घन-दामिनी जैसे।'

यह उपमा पूर्णोपमा है। घन-दामिनी की उपमा कहीं-कहीं साहचर्य के लिये भी दी गई है।

ज्यों घन दामिनि संग रहत नित, बिछुरत नाहिंन और बरन को।

स्वामीजी के काव्य में मूर्त की अमूर्त से, अथवा अमूर्त को मूर्त से विभिन्न रूपों में उपमित किया गया है। "अमृत से वचन" में वचन अमूर्त है, अमृत मूर्त है।

स्वामी-स्यामा की प्रीति-वृद्धि को, 'पुरइनि-जल' की रीति से उपाधि दी गई है। सादृश्य-मूलक अलंकारों में दूसरा स्थान उत्प्रेक्षा का है। स्वामी हरिदास जी की उत्प्रेक्षाएं सचित्र और सटीक हैं, उत्प्रेक्षा के एक-दो उदाहरण देखिए—

१. मनहुं कनक सुदाह करि करि, देह अद्भुत ठनी। ३१।
२. कर सों कर टेके अंगुरिनि पेच, मानों ससि मंडल बैठ्यौ।
अति सुदेस। ७७।

स्वामी जी को रूपक भी सहज और प्रिय हैं। रूपक के दो सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. दृष्टि-चंप वर फंदा, मन-पिंजरा राख्यौ लै पंछी-बिहारी।
चुनौं सुभाव प्रेम-जल अंग स्रवत, पीवति न अघात, रहे मुख निहारी।
इत्यादि।

२. प्यारी तेरौ वदन-चंद देखें, मेरै ह्वै-सरोवर तैं कुमुदिनी फूली।
मन के मनोरथ-तरंग अपार, सौन्दर्यता तहां गति भूली।
तेरौ कोप-ग्राह ग्रसैं लिये जात, छुड़ायौ न छूटत, रह्यौ,
बुद्धि बल यह भूली।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा चरन-बंसी गहि कढ़ि रहे लटपटाय
गहि भुज भूली। ५७

---

[1] अग्निपुराण।

थोड़े से अन्य अलंकारों के उद्धरण देखिये।

प्रतीप—प्यारी तेरी पूतरी, काजर हू ते कारी। (पद ७१)

अपह्नुति—श्रम जल कन नाहीं, होत मोती माला कों देह (२७)

प्रतिवस्तूपमा—नीलांबर पीतांबर चलत चंचल धुजां फहिरात कलनां।

संदेह—प्यारी जू जैसे तेरी आंखिन मै हौं अपनपौ देखत हौं,
तैसें तुम देखत हो किधौं नाहीं। (६)

काव्य को सजाने की ओर स्वामी जी का ध्यान बिलकुल नहीं रहा है। उनके कथन में सर्वत्र ऋजुता और भोलापन है। इसीलिये जटिल अलंकारों का समावेश इस काव्य में नहीं है। काव्य में जिसे स्वभावोक्ति अलंकार कहा जाता है, वही सर्वत्र प्राप्त होता है।

भाषा-शैली

भाषा शैली किसी भी कवि के व्यक्तित्व की परिचायक है। विषय के अनुसार भी भाषा की अभिव्यंजना-शैली में परिवर्तन होता है। स्वामी हरिदास जी की भाषा एक ओर ऋजु, सरल और स्वाभाविक है जो उनके हृदय की सरलता और सहज अनुभूति की सजीवता का परिचय देती है दूसरी ओर भाषा की लाक्षणिकता है, जिसमें शब्द और वाक्य अभिधार्थ को व्यक्त न कर अपनी तरलता द्वारा किसी दूसरे रूप का परिचय कराते हैं। भाषा का लाक्षणिकता स्वामी जी के उपास्य श्रीबिहारी-विहारिणि के दिव्य स्वरूप का परिचय कराती है, जिनका रूप मानवीय होते हुए भी दिव्यातिदिव्य सूक्ष्म और भावगम्य है। हमने कहा है कि विषय में स्वामी हरिदास ने क्रांतिकारी परिवर्तन किया है और इस दृष्टि से हमने उन्हें 'स्वच्छन्द' प्रवाह का पथिक माना है, उसी प्रकार कलात्मक क्षेत्र में भी रूढ़ियों का परित्याग कर पूर्ण आवेशमय स्वाभाविकता का स्वरूप भी उन्होंने निर्माण किया है। इस परिवर्तन का प्रमुख क्षेत्र भाषा ही है।

जब-जब साहित्य में सूक्ष्म ने स्थूल का विरोध किया है, तब-तब विचार-सरणि में सूक्ष्मता आई है, साथ ही कला-क्षेत्र में भी सूक्ष्मता आती है। द्विवेदी युगीन स्थूलता के विरोध में उत्पन्न छायावाद के स्वच्छन्दवादी काव्य के इन दोनों रूपों से हिन्दी के साहित्यकार परिचित हैं। उनसे भी पूर्व रीतिकाल में शास्त्रीय स्थूलता से विरोध कर उन्मुक्त प्रेम का प्रदर्शन करने वाले कवि घनानंद, बोधा, आलम और ठाकुर के काव्य में भी विषय और कला एवं भाषा

की दृष्टि से सूक्ष्मता आई थी। उसी प्रकार लक्षणाशक्ति के सुंदर प्रयोग स्वामी हरिदास जी की भाषा में भी हमें प्राप्त हैं।[1]

स्वामी हरिदास जी की लक्षणा शक्ति कलात्मक प्रदर्शन के लिये उद्भूत नहीं हुई है अपितु लौकिक परिधान में वे अलौकिक रूप, प्रेम आदि का परिचय कराते हैं इसी कारण लक्षणा का प्रयोग स्वाभाविक हुआ है। लक्षणा शक्ति का प्रयोग कहीं शब्द के अभिधार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, कहीं अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त के रूप में चित्रित करता है। कहीं पूरे वाक्य किसी अनुभूति के सूक्ष्म भेद प्रकट करने में सहायक होते हैं।

उपास्य के दिव्य चेतन स्वरूप को स्वामी हरिदास ने 'रुचि का प्रकाश' कहा है। प्रिया-प्रियतम रुचि के प्रकाश हैं। परस्पर एक दूसरे की रुचि के, या सखी की रुचि के। रुचि के वे भाव-ग्राह्य चमत्कृत रूप खेलने लगते हैं, उपासक को उनका दर्शन होता है।

"रुचि के प्रकाश परस्पर खेलन लागे"। वे रंग के समुद्र में झाग के समान हैं। रस में पगे हुए हैं।

लक्षणा के कारण भाव-वाचक शब्दों अथवा वृत्तियों का मानवीकरण एक ओर होता है, दूसरी ओर क्रियापद में अन्यार्थ की प्रतीति होती है। प्यारी जी का वदन 'अमृत की पंक' कहा गया है, उसमें दो नेत्र (नेत्रों की वृत्तियां)

---

[1] डा० मनोहरलाल गौड ने अपने ग्रंथ 'घनानंद और स्वच्छन्द काव्यधारा' में पृष्ठ १०५ पर लिखा है—'आनंदघन जी ने हिन्दी साहित्य में लक्षणा शक्ति का प्रथमावतार किया है और वह उच्च कोटि की है।' घनानंद जी की कविता में लक्षणा शक्ति अवश्य ही उच्च कोटि की है, परन्तु उनके द्वारा ही उसका हिन्दी में प्रथमावतार हुआ, यह बात तथ्यों के विपरीत है। यह लेखक स्पष्ट ही कहना चाहता है कि ऐसे लेखक सखीभाव का साहित्य देखें और उसमें भी लक्षणा शक्ति के प्रथमावतार कर्ता स्वामी हरिदास जी के साहित्य को देखें। लक्षणा-शक्ति के विकास का उत्कृष्ट रूप भक्तवर ध्रुवदासजी के काव्य में देखा जा सकता है। और भी ऐसे अनेक कवि घनानंद से पूर्ववर्ती मिलेंगे।

विंध गये हैं। चित्त उन्हें निकालने के लिये चला है, वह भी संधि में सम्पुट बन कर रह गया।

प्यारी तेरौ वदन अमृत की पंक, तामें बींधे नैन द्वै।
चित चल्यौ काढ़न को विकच संधि सम्पुट रह्यौ द्वै। आदि।

भावानुभूति की तीव्रता इतनी है कि प्यारी जी के चरण जहां-जहां पड़ते हैं, लालजी का मन वहाँ वहाँ परछांही करता फिरता है :—

जहां जहां चरन परत प्यारी जू तेरे,
तहां तहां मन मेरौ करत फिरत परछाही।

अन्यत्र 'इच्छाओं की कमोदनी' मन के मनोरथ की अपार तरंगें, कोप का ग्राह, 'छवियों का संग्रह 'आलस भीजै नैनों का जंभाना' रीझि का लगना। गुण का मंदिर, रूप का बगीचा 'भौंहैं मैली होना' प्राणों का शरीर में न रहना, जोन्ह सी फूलना 'फूल होना' प्रेम का प्रकाश होना, श्रम बरसना एवं कहीं कहीं व्यक्तिविशेष के गुणवाचक नील (श्रीकृष्ण) और (राधा) आदि शब्दों का व्यक्तिवाचक रूप में प्रयोग होना, ये सभी लाक्षणिकता के विभिन्न भेद हैं। कहीं विशेषण के रूप में, कहीं पर्याय के रूप में अनेक प्रकार से लाक्षणिकता का प्रयोग हुआ है। इन्हीं सबसे स्वामी हरिदास जी के काव्य में एक दिव्यता है, तरलता है, अलौकिकता है।

लक्षणा की बात संक्षेप में समाप्त हुई। अब भाषा की अन्य विशेषताओं पर दृष्टिपात करें। स्वामी हरिदास जी की भाषा विशुद्ध ब्रज भाषा है। इस भाषा में साहित्यिक कृत्रिमता का आवरण न होकर व्यावहारिकता और घरेलूपन अधिक है। इस दृष्टि से यह उस समय के सामान्य जीवन के प्रयोग के अत्यधिक निकट है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस भाषा का महत्व है क्योंकि इसमें अपने समय और स्थान की अनेक विशेषताएं विद्यमान हैं।

व्यंजना-शक्ति

स्वामी हरिदास जी के काव्य में व्यंजना शक्ति का निर्वाह भी स्थान-स्थान पर बड़े सामर्थ्य के साथ हुआ है। सिद्धान्त और लीला दोनों ही क्षेत्रों में व्यंजना अपना काम करती है।

"बात तौ कहत कहि गई अब कठिन परी बिहारी।"

इस पद में न तो यह बताया गया है कि कौन सी बात कह दी गई है, जिसके कारण अब बड़ी कठिनाई हो गई है, न यही कि कठिनाई क्या है,

परन्तु इस पद की व्यंजना प्रिया-प्रियतम की विभिन्न मन की सूक्ष्म लीलाओं की सुन्दरता की ओर संकेत करती हैं। वृन्दावन के आनन्दमय वातावरण का चित्रण करने के लिये स्वामी हरिदास जी बहुत थोड़ा सा दृश्य चित्रित करते हैं परन्तु व्यंजना द्वारा उसका सम्पूर्ण वैभव ही सामने आ खड़ा होता है। उल्लास और उमंगों का चित्रण तो उसमें और भी स्वाभाविक हो जाता है। थोड़े शब्दों में भाव की असीम व्यंजना स्वामी जी के काव्य का विशिष्ट गुण है।

भाषा की परीक्षा

भाषा की परीक्षा के लिये उसका शब्दकोष देखना आवश्यक है। स्वामी हरिदास जी की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुलता से हुआ है, तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त है। यत्र-तत्र देशज शब्द भी बिखरे पड़े हैं।

तद्भव शब्दों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

माई, जोरी, सुघराई, उजराई, आँखें, नैंना, न्याव, बहोत, दै, स्वै, ह्वै, निहचल, दूपर, धूपर, अस्तविस्त, औचक, अरबराइ, लटपटात, उनहारि, झारि, परमान आदि।

तत्सम शब्द विशेष वातावरण बनाने एवं लालित्य के स्थलों में प्रयुक्त हुए हैं। कुछ शब्द हैं। रंग, श्याम, घन, दामिनी, प्रथम, अलौकिक, समुद्र, दृष्टि, अमृत, वदन, पंक, प्रकृति, मन, समाधि, सुकुमार, श्रम, कुंज, द्रुम, वेलि, प्रफुल्लित, मंडल, कंचन, रूप, अद्भुत, अंबुज, कस्तूरी, मर्दन आदि।

देशज शब्दों में नरीच, गठोंदन, पैंड, धूपर, खटात, उठंगि, ढोटा, छिरका आदि हैं। अन्य भाषाओं के शब्दों में भोजपुरी के प्रयोग मोइल, सोइल, आदि भी एक पद में आये हैं।

विदेशी भाषाओं में अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। संभवतः यह उनके पितृ-चरण के पंजाब-निवासी होने के कारण हो। ऐसे शब्दों में—बंदे, अख्त्यार, दर, पिदर, सदकें, सुराही, प्यालौं, दारु, बिसात, सतरंज, रुख, फील, पयादे, मौज आदि हैं।

स्वामी हरिदास का शब्द-चयन सर्वत्र भावानुकूल है। कहीं-कहीं शब्दों के प्रयोग प्राचीन और स्थानीय होने के कारण आज के पाठक के लिये क्लिष्ट हो गये हैं परन्तु शब्दार्थ के विज्ञ व्यक्ति के लिये भाषा में एक तरल सजीवता का सर्वत्र निदर्शन है। विषय के अनुसार भाषा बदलती भी गई है और तत्सं-

न्धी शब्दों का प्रयोग हुआ है। शतरंज के खेल के रूपक में शतरंज संबंधित फारसी शब्दों का प्रयोग है। सम्पूर्ण काव्य में विस्तार से संगीत सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग उनके संगीतसम्बन्धी अगाध पांडित्य को प्रकट करता है।

ऐसे शब्दों में—राग रागिनी, अलाप, सुर, नृत्य, मृदंग, वंधान, प्रकृति, डफतार, तालनि के भेद, तत्व, शुद्ध सुरूप रेख, परमान, गुनी, ताताथेई, श्रुति, केदारौ, अद्‌भुत गति, चंद्रागति, घान, भापा, ताल, रवाव, रास, ताण्डव, लास, अधौटी, वीन, तार, मदिर मन्द्र, तिरप, लाग डाट, किन्नरी, तान वंधान; अंगहार, धुरपद, अग्रनाभि, आरंभटी, आदि हैं।

इनमें कुछ तो संगीत सम्बन्धी वाद्यादि हैं परन्तु कुछ प्राचीन संगीत के रहस्य को खोलने वाले विशेष पारिभाषिक शब्द हैं। शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया में भी स्वामी जी ने स्वाभाविकता वरती है। राग संज्ञा शब्द से उन्होंने 'रागति' क्रिया बना ली है। झाग से भूतकालिक क्रिया 'झागे' सिद्ध की है। तुकांत के लिये उन्होंने तुक को मान कर भी वंधन नहीं माना है। ऐसे कई पद हैं, जिनके अंत में एक ही शब्द प्रत्येक पंक्ति के अंत में आया है। केलिमाल के ३२, ३६, ५६ आदि पद इसके उदाहरण हैं। तुकांत के लिये उन्होंने शब्दों को तोड़-मरोड़ भी लिया है, या उनमें उच्चारण मिलाने के लिये कुछ और भी अक्षर जोड़ लिये हैं। २७वें पद में देह की तुक मिलाने के लिये लेहु का लेह, यह का एह, और वे का वेह बना लिया है। इसी प्रकार और भी कई पदों में हुआ है।

स्वामी हरिदास के व्याकरण की दृष्टि से लिंग सम्बन्धी प्रयोग भी भिन्न हैं। राग और जिय को उन्होंने स्त्रीलिंग में भी प्रयुक्त किया है। विदेशी शब्दों को स्वामी जी ने भापा के अपने सांचे में ढाल कर ग्रहण किया है। फरियाद का फिराद, शोहवत का सुहवत, जानवर का जनावर, और प्याला का प्यालौ शब्द इसी के परिचायक हैं।

मुहावरे

स्वामी हरिदास जी की भापा में साहित्यिक और घरेलू बोल चाल की भापा का अत्यन्त आकर्पक सम्मिश्रण है। इस भापा में इसकी सजीवता ही इसका प्राण है। मुहावरे लक्षणा के ही रूढ़ प्रयोग हैं। ये भापा में सजीवता लाते हैं। स्वामी जी के काव्य में से कुछ मुहावरे नीचे दिये जाते हैं।

पेंड़ भरना, तिल तिल जोड़ना, बुनना-उधेड़ना, शर सीधा न पड़ना, सर सांधे फिरना, कंधे चढ़े रहना, पत्तियों में ढेल फेंकना, तीर्थं का सा मिलना, गाल मारना, सिर के ऊपर करना, भौंहैं मैली होना, तृण टूटना, इत्यादि हैं। कहावतों की गुंजाइश इस छोटे काव्य में कम थी फिर भी एक-दो उदाहरण उसके भी मिल जाते हैं। एक देखिये…

दूवरे की रांधी खीर कहौ कौन खाई है।

भापा की परीक्षा करने के पश्चात् हम पुनः यही कहना चाहते हैं कि स्वामी हरिदास जी की भापा में जो ऋजुता और स्वाभाविकता का गुण है, वह उनकी वार्तालाप अथवा सरल नाटकीय शैली के कारण है। एक पद देखिये :—

प्यारी जू जैसे तेरी आंखिन में हौं अपनपौ देखत हौं,
ऐसै तुम देखत हौ किधौं नाहीं।
हौं तो सौं कहौं प्यारे आंखि मूँदि रहौं,
तौ लाल निकसि कहां जाहीं।
मोकों निकसिबे कों ठौर बतावौ,
सांची कहौं, बलि जाऊं, लागौं पाहीं।
हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी,
तुम्हें देख्यौ चाहत, और सुख लागत काहीं।

स्वामी हरिदास की भापा पर रस-वहन करने का बहुत बड़ा दायित्व था। और हम कह सकते हैं, कि प्रदर्शन की भावना तनिक न होने पर भी उनकी कला ने उनके रसमय उद्गारों को अपनी पूर्णता के साथ अभिव्यंजित किया है। स्वामीजी की कला निश्छल, निर्दोप, सरल और स्वाभाविक कला-शक्ति का अनुपम उदाहरण है।

रचना-शैली

जिन उपासकों का 'आत्म' विशुद्ध अपार्थिव प्रेम की विभिन्न लीला-तरंगों से अभिभूत हो गया हो, उनका आत्माभिव्यंजन तीव्र, आवेशयुक्त और उल्लासमय ही हो सकता है। उल्लास और आनंद की यह अनुभूति तरंगों में ही प्रकट होती है, एक-एक हिलोर अपना अलग-अलग अस्तित्व लेकर उठती हैं और अन्त में रस-सागर में विलीन होती चलती है। यह एक-एक हिलोर ही मुक्तक के रूप में काव्य-सागर का कारण होती है।

सखीभाव के साहित्य में प्रबन्ध की गुंजाइश नहीं है। लौकिक घटनाओं का समावेश विषयवस्तु में न होने के कारण विषय-विस्तार में वैभिन्न्य और घटनात्मक दीर्घ एकतारता का आधार प्राप्त नहीं होता। सखीभाव से सम्बन्धित कोई प्रबन्ध के वास्तविक गुण रखने वाला ग्रन्थ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है।

आत्माभिव्यंजन में एक स्वाभाविक संगीत और उसकी लय होती है। छंद उसकी सरलतम अभिव्यक्ति है परन्तु कभी-कभी रस की ग्रन्थियां छन्द को अपने में उलझा लेती हैं। अनुभूति की तीव्रता छंद के बन्धन को भी कहां मानती है। वह तो अपनी अभिव्यंजना चाहती है, रूप की उसे चिन्ता नहीं है। स्वामी हरिदास जी के काव्य में प्रेम की तीव्रानुभूति और उसका आवेशमय प्रकाशन तो है ही; उनका स्वयं का महान् संगीतज्ञ होना भी उनकी अनुभूतियों के प्रकाश-प्रकार को, एक विशिष्ट लय और संगीत प्रदान करता है। किसी भी चरण को छोटा-बड़ा कर देने की स्वतंत्रता स्वामीजी ने बरती है। उनके छंद की सामान्य परिधि में न बंध सकने वाले पदों को जब सामान्य काव्याभ्यासी पढ़ते हैं तो उन्हें वे रचनाएं ऊबड़-खाबड़ सी प्रतीत होती हैं।[1] हमें इस प्रकार के छन्दों के सम्बन्ध में भारतीय काव्य परम्परा के एक प्राचीन अंग को देखना अनिवार्य हो जाता है।

स्वामी हरिदास के युग में हमें संगीतमय काव्य की दो परम्पराएँ देखने को मिलती हैं। इनमें से एक को 'विष्णुपद' और दूसरे को 'ध्रुपद' की परम्परा कहा जा सकता है। विष्णुपद और ध्रुपद ये दोनों नाम प्रारंभ में विषय की दृष्टि से ही छंदों को दिये गये थे परन्तु इनकी छन्दगत विशेषता भी पृथक् है। मौ० इम्तियाजअली अर्शी ने लिखा है कि मानसिंह तोमर ने सर्वप्रथम विष्णुपदों को जन्म दिया था। उसीके समय में पूर्वजों के गौरव से सम्बन्धित पदों को स्तुति और नायक और नायिकाओं से सम्बन्धित पदों को 'ध्रुपद' कहा गया था।[2] परन्तु 'आइने अकबरी' में अबुल फजल ने ध्रुपद की विशेषता निम्नलिखित बताई है :—

ध्रुपद किसी भी लम्बाई की तीन चार लय-बद्ध पंक्तियों का एक पद्य

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल। पृ० २२६।

[2] देखिये, मौं० इम्तियाज अली अर्शी का लेख, आजकल, उर्दू, अगस्त १९५६, दिल्ली।

होता है । ये प्रायः उन व्यक्तियों की प्रशंसा से सम्बन्धित होते हैं, जो अपनी वीरता और गुणों के लिये प्रसिद्ध होते हैं ।[1]

ध्रुपद का प्रदेश आगरा, ग्वालियर, बेरी और उसके आस-पास का प्रदेश बताया गया है ।[2] क्रमशः विष्णुपद[3] अथवा कीर्तन और ध्रुपद अथवा गायन-प्रधान पदों की शैली में रचना-सम्बन्धी एक यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ सूरदास जैसे कवियों की पद-शैली संगीतमय होते हुए भी छन्द में भी निबद्ध थी, वहाँ स्वामी हरिदास की ध्रुपद-शैली संगीत-प्रधान होने के कारण अनिबद्ध थी । सूर और स्वामी हरिदास इन दोनों शैलियों के विशेष कवि हैं । कविवर गोपाल ने अपने एक पद के अन्त में कहा भी है "सूर कौ पद और धुरपद हरिदास कौ ।"

कीर्तन में जहाँ शब्दों का अर्थ प्रधानता रखता है, वहां ध्रुपद में शब्दार्थ के साथ संगीत की प्रधानता रहती है । दोनों ही गेय हो सकते हैं, पर प्रश्न प्रधानता का है । स्वामी हरिदास जी के छन्दों में संगीत की सर्व-प्रधानता है ।

'ध्रुपद' अथवा 'ध्रुवपद' भरतनाव्यशास्त्र में वर्णित प्राचीन प्रबन्ध ध्रुवा का ही विकसित रूप है । भरतनाट्यशास्त्र के बत्तीसवीं अध्याय में ध्रुवा गीति पर विशेष रूप से विचार किया गया है और उसका परिचय इस प्रकार दिया गया है :—

"जो ऋचाएँ पाणिका, गाथा तथा सप्तरूपांग हैं और जो सप्त रूप प्रमाण हैं, उन्हें ध्रुवा कहते हैं" ।[4] यहाँ ध्रुवा छंद के अनेक भेद भी बताये गये हैं ।[5]

---

[1] The Dhroopad consists of stanzas of three or four rythmical lines of any length. They are chiefly in praise of men, who, have been famous for their valour and virtue.

Ain–E–Akabari, Gladwin, p. 130.

[2] Ain–E–Akabari, Gladwin, p. 130.

[3] Those of Mehtra (Mathura) are called Bishenpad, consisting of stanzas of four or six lines and are in praise of Kishen.

Ain–E–Akabari. Gladwin, p. 130.

[4] या ऋचः पाणिका गाथा सप्तरूपांगमेव च ।
सप्तरूप प्रमाणं च तद्ध्रुवेत्यभिसंज्ञितम् । भरतनाट्यशास्त्र ।

काव्यमाला० ३२ । २

[5] वही ३२ । ४ ।

एक स्थान पर पुनः ध्रुवा की विशेषताएं बताते हुए कहा गया है कि वाक्य, वर्ण, (गान-क्रिया) अलंकार, यति, पाणि और लय ये जहां निश्चित रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, उसे 'ध्रुवा' कहते हैं।[1]

आगे कहा गया है, "अक्षरों से युक्त जितना भी है उस सबकी पद संज्ञा होती है परन्तु यह दो प्रकार का होता है, निबद्ध या अनिबद्ध"।[2]

नियत अक्षरों में संबद्ध छन्द और यति से समन्वित अक्षरों पर ताल पड़ने वाले पदों को निबद्ध कहा जाता है।[3]

स्पष्ट है कि छन्द और यति से रहित पदों को अनिबद्ध कहा जाता था।

गान के क्षेत्र में अनिबद्ध पदों के प्राचीन प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। संगीत में जिन पदों को ब्रह्मगीति या दक्षप्रोक्त कहा जाता है, उनकी चर्चा प्राचीन संगीतग्रन्थों में आई है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में इन्हें अत्यन्त प्राचीन ऋग्गाथा के रूप में माना गया है।

ऋग्गाथाः पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिकाः।[4]

बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध संगीत-ग्रन्थ-कर्ता शार्ंगदेव ने अपने ग्रन्थ "संगीगरत्नाकर" के जातिप्रकरण में इन अनिबद्ध छन्दों के उदाहरण दिये हैं और उनके गायन की शैली बताई है। इन अनिबद्ध छन्दों में चरणों का समान होना अथवा कभी-कभी तुक मिलना भी आवश्यक नहीं था, परन्तु 'गीति' की दृष्टि से ये पूर्ण सफल थे।

देखिये :—

कान्तं वामैकदेशप्रेंखोलमानकमलनिभंवरसुरभिकुसुमगन्धाधिवासितमनोज्ञ-
नगराजसूनुरतिरागरमसकेलिकुचग्रहलीलकम्।

---

[1] वाक्य वर्णाह्यलंकारा यतयः पाणयो लयाः।
ध्रुवमन्योन्य संबद्धा यस्मात्तस्मात् ध्रुवास्मृताः।
वही, पृ० ३२। ८।

[2] यत्स्यादक्षरसंबद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितं।
निबद्धं चानिबद्धं च येन येन द्विधास्मृतं॥
वही, ३२।३८

[3] नियताक्षर संबद्धं छंदो यतिसमन्वितं।
निबद्धं तु पदं ज्ञेयं सतालपतनाक्षरम्॥
वही, ३२।३

[4] याज्ञवल्क्यस्मृति। ११३। नाट्यशास्त्र, प्रथमखंड, गायकवाड सीरीज, प्रथम परिशिष्ट, पृ० ३८२।

तं प्रणमामि देवं चन्द्रार्धमण्डितविलासकीलनविनोदकम् ।[1]

इस पद्य में केवल दो पंक्तियां हैं, पहली बहुत बड़ी है, दूसरी बहुत छोटी। छन्द की दृष्टि से यह ऊबड़-खाबड़ है, परन्तु संगीत की दृष्टि से उपयुक्त है। ऐसे अनेक उदाहरणों में से एक और प्रस्तुत है—

सौम्य गौरीमुखाम्बुरुहदिव्यतिलकपरिचुम्बितार्चितसुपदि
प्रविकासितहेमकमलनिभम् ।
अतिरुचिरकान्तिनखदर्पणामलनिकेतं,
मनसिजशरीरताडनं प्रणमामि गौरीचरण-युगमनुपमम् ।[2]

बात यह है कि छंद की एक मात्रा में जो एक निमेष का प्रमाण माना जाता है, संगीत की ताल में उसका पांच गुना होता है। संगीत की ताल अपनी लय से चलती है, जो छंद को भी अपने में फिट कर लेती है और स्वच्छन्द भी उसमें फिट हो जाता है। गायन के समय पद के दीर्घाक्षरों को प्लुत कर लिया जाता है और उन्हें दो या तीन मात्राओं से कहीं अधिक बढ़ा कर गाया जाता है। ऐसे अक्षरों को जिन्हें बढ़ाकर गाया जाता है, संगीत की दृष्टि से कृव्य कहते हैं। संगीत का स्वर प्रयोग ऐसे वर्णों की कृव्यता में विशेष-रूप से आनन्द की सृष्टि कर काव्यार्थ को अधिकाधिक अनुभूतिमय बना देता है। संगीतरत्नाकर में एक उदाहृत काव्य-पंक्ति है :—

तं भवललाटनयनाम्बुजाधिकं नगसूनुप्रणयकेलिसमुद्भवं ।

इस पंक्ति का प्रस्तार इस प्रकार किया गया है—

१.	सा	सा	सा	सा	पा	निध	पा	धनि
	तं		भ	व	ल	ला		ट
२.	री	गम	गा	गा	सा	रिग	धस	धा
	न	य	नां		बु	जा		धि
३.	रिग	सा	री	गा	सा	सा	सा	सा
	कं							
४.	धा	धा	̥नी	सिसं	निध	पा	सां	सां
	न	ग	सू		नु	प्र	ण	य

---

[1] संगीत-रत्नाकर, प्रथम स्वरगताध्याय, जातिप्रकरणम्, पृ० २५९ ।

[2] वही, पृ० २४० ।

५.	नी	धा	पा	धनि	री	गा	सा	गा
	के	लि			स	मु		द्र
६.	सा	धां	धंनि	पा	सा	सा	सा	सा
	वं							

इस प्रस्तार में हम देखते हैं कि अनेक वर्णों को कई स्वरों तक आगे खींचा जाता है। तीसरी पंक्ति का कं और छटी पंक्ति का वं तो आठ मात्राओं में अकेले ही हैं।

संगीत-ग्रंथों में ताल के भी तीन मार्ग कहे गये हैं। दक्षिण मार्ग, चित्र मार्ग और वार्तिक मार्ग। दक्षिण मार्ग का प्रयोग ध्रुपद में विशेषरूप से होता है। यह मार्ग एक विलम्बित प्रधान मार्ग है। इसीलिये 'ध्रुपद' गान में एक विशेष प्रकार की गम्भीरता होती है।

स्वामी हरिदास जी के पूर्ववर्ती संगीतज्ञों के 'ध्रुपद' हमें अनिबद्ध छन्दों में भी प्राप्त होते हैं। नायक गोपाल का एक पद उदाहरण के लिये पाद-टिप्पणी में दिया जा रहा है।[1]

हमारा तात्पर्य यह है कि स्वामी हरिदास जी ने जिस अनिबद्ध पद-रचना शैली का आश्रय लिया है, वह भारतीय प्राचीन परम्परा का ही एक अंग है। छन्द के निकट रहते हुए भी वह बहुत कुछ छन्द के बन्धनों से मुक्त है। कुछ पदों में उन्होंने छन्दज्ञान का भी सुन्दर परिचय दिया है, परन्तु कुछ विद्वानों का उनके अनिबद्ध छन्दों को ऊबड़-खाबड़ कहना उनकी पद-शैली के साथ न्याय न करना ही है। इन अनिबद्ध छन्दों में भी जो सुन्दर सरस भाव आदि हैं, उसके उदाहरण दिये जा चुके हैं। हमें तो ऐसा लगता है कि जिन आलोचकों ने स्वामी हरिदास जी के पदों की समीक्षा में लिखा है "पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है, पर भाव उत्कृष्ट हैं", उन्होंने शीघ्रता में या तो उनके केवल सिद्धान्त के ही कुछ पद देखे होंगे या अन्य हरिदासों के पदों को उनका समझकर ऐसा लिख दिया होगा, और यह भूल से अभी तक होता आया है।

---

[1] कहावे गुनी ज्यों साधे नाद शवद जाल कर थोक गावै।
मार्ग देशी कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साध चावै,
सो पंचन मध दर पावै।
उक्ति जुक्ति भुक्ति मुक्ति गुप्त होवै ध्यान लगावै।
तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगत मध पावै।

—संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं, श्री नर्मदेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ० ४५।

इस अनिबद्ध पद-परंपरा को ग्रहण करने का एक कारण तो यह दिखाई देता है कि स्वामीजी बहुत बड़े संगीतज्ञ थे, संगीत इन पदों में प्रधान था। दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि आत्माभिव्यंजन कभी-कभी छन्द को छोड़कर भी स्वतः उमड़ पड़ता है। साहित्य के इतिहास में स्वच्छन्दवादी 'छायावाद' के सम्बन्ध में रामरतन भटनागर लिखते हैं—"अभिव्यंजना को सफल करने के लिये किसी भी चरण की मात्राओं को घटाने-बढ़ाने की स्वतंत्रता यहाँ बरती गई है"।[1] अतुकान्त छन्दों की योजना भी इसी का परिणाम है।

छन्द के शास्त्रीय बन्धन से मुक्त, पर संगीत की लहरों पर सधी स्वामी जी की वाणी में अपूर्व मिठास और सादगी है? छोटी सी बात है, प्रिया-प्रियतम वर्षा के मन्द-मन्द बरसने वाले जल में भींग रहे हैं। उसी सुखद आनन्दमय वातावरण की कैसी स्वाभाविक और कोमलतम अभिव्यक्ति स्वामी जी के शब्दों में हुई है :—

भीजन लागे रीं दोऊ जन।
अंचरा की ओट करत दोऊ जन।
अति उन्मत्त रहत निसिवासर, राग ही के रंग रंगे दोऊ जन।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुञ्जविहारी, प्रेम परसपर नृत्य
करत दोऊ जन।
(केलिमाल, ९३)

गोस्वामी श्री जगन्नाथ जी

गोस्वामी जगन्नाथ जी स्वामी हरिदास जी के छोटे भाई थे। स्वामी हरिदास जी के वृन्दावन-आगमन के कुछ समय पश्चात् ये भी वृन्दावन आ गये। ये गृहस्थ थे। इनके तीन पुत्र थे। स्वामी जी ने श्री बिहारी जी की सेवा का भार श्री जगन्नाथ जी पर ही डाला, क्योंकि वे जानते थे कि श्री बिहारी जी की सेवा का जो भव्य आयोजन करना होता है, उसे कोई गृहस्थ रसिक ही कर सकेगा। स्वामी हरिदास जी के भ्रातृ-वंशज ही अब तक बिहारी जी की सेवा के अधिकारी हैं।

'स्वामी' शब्द प्रायः विरक्त साधुओं के लिये प्रयुक्त होता था, गोस्वामी गृहस्थों के लिये। जगन्नाथ जी गोस्वामी ही कहलाते थे, उनके वंशज भी गोस्वामी कहलाते हैं।

---

[1] छायावाद, ले० रामरतन भटनागर, पृ० ७२।

महात्मा सन्तदास जी ने सं० १५५१ (यह शक संवत् ज्ञात होता है, वि० १६८६) में एक ग्रंथ 'विहार-रसामृत' की रचना की है। इसके आचार्य-परम्परा के प्रारम्भिक अंश इस प्रकार हैं :—

अथ विहार-रसामृत ग्रंथ लिख्यते। तामें प्रथम श्री इष्टदेव श्री वृन्दावन विहारी जी महाराज जी की विनती करी है सो कहिये है, दोहा—

श्री प्रिया विहारी कुञ्ज में विहरत मदन हुलास।
सखि सेवत श्री चरन जुग, मम हृदि करौ प्रकास ॥ १ ॥

इसके आगे आचार्य के रूप में स्वामी हरिदास जी की विनती कर जगन्नाथ जी की वन्दना की गई है—तत्पश्चात् अब गुसाईं जी श्री जगन्नाथ जी महाराज जी की विनती कीनी है, सो कहिये है।

ललिता रूप प्रघट भये श्री जगन्नाथ महाराज।
निर्गुन चातिक रसिक जन सनमुख करिवे काज ॥ २ ॥

अब श्री गुसाईं जी के जेठे पुत्र श्री मेघस्याम जी महाराज तिनकी विनती कीनी है। सो कहिये है।

आनन्द उदधि विहार रस रंगा नाम सुरंग।
ता आनन्द समुद्र की मो मन करो तरंग ॥ ४ ॥[1]

ऐसा ज्ञात होता है कि संतदास इन्हीं के कोई शिष्य रहे होगें। इन्होंने श्री जगन्नाथ जी को भी ललिता-'अवतार लिखा है। स्वामी हरिदास जी भी ललिता-अवतार माने जाते हैं। संभव है, दोनों भाइयों के प्रति भिन्न रूप से समान श्रद्धा रखने के कारण ऐसी मान्यता रही हो।

बेन कवि एवं गुपाल कवि ने भी जगन्नाथ जी की प्रशंसा में अनेक छन्द लिखे हैं। गुपाल कवि का एक छंद देखिये :—

स्वामी जी के भाई श्री गुसाईं जगन्नाथ भये,
ललिता स्वरूप भाव भगति में भीनौ हैं।
जुगल स्वरूप में समान प्रीति करि, कुंज-
भवन-विहार सखी-रूप ह्वै कै चीनौ हैं।
क्वार सुदी आठैं पंध्रैसें दुआदस की,
प्रगट पहर दिन चढ़े वपु कीनौ है।

---

[1] लेखक के पास ग्रन्थ की प्रति।

सिरी महाराज आसुधीर जू के घर,
श्री गुसाईं जगन्नाथ जू ने अवतार लीनौ हैं।
स्वामी जी सेवा दई अति हित करि सुप पाइ।
बांह गही तिनकी सु पुनि आप विहारी आइ।[1]

अनेक वंशावलियों में भी इनका विरुद-गान हुआ है। आयु में ये स्वामी जी से कुछ ही छोटे थे। निधिवन में स्वामी हरिदास जी के बिलकुल निकट इनकी भी समाधि स्थित है।

श्री जगन्नाथ जी द्वारा रचित एक 'अनन्य सेवा विधि' वताई जाती है, जिसके दर्शन नहीं हो सके हैं। इसके अतिरिक्त उनके कुछ स्फुट पद भी मिलते हैं। इनकी कविता-रीति का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है :—

लियैं सकल सौंज ओरी की नवल किसोरी जू नैननि मैं।
कुटिल कटाच्छ छुटत पिचकाई प्रीति रंग भरि-भरि नैननि मैं।
लाल गुलाल अरुन अरुनाई मिलवत ललित सखी नैननि मैं।
रसभीजे रीझे पिय प्यारी जगन्नाथ तन मन नैननि मैं।[2]

श्री वीठल विपुल जी

श्रीवीठल विपुल जी स्वामी हरिदास जी के प्रधान शिष्य थे। ये प्रसिद्ध रस-सागर महात्मा थे। 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार ये स्वामी जी के ममेरे भाई थे और आयु में उनसे पांच वर्ष बड़े थे। इनके सम्बन्ध में दिये गये समय-संवत् निजमत सिद्धान्त में अशुद्ध हैं। हम उनकी आलोचना कर चुके हैं। वंश-परम्परा के अनुसार स्वामी वीठल विपुल जी स्वामी हरिदास जी के भतीजे थे। ये उनके सबसे कनिष्ठ भ्राता गोविन्द जी के पुत्र थे। श्री बेन[3] कवि की वधाई में भी ऐसा ही उल्लेख है :—

वगर-वगर में आजु वधाई बाजै रे।
श्रीवीठल विपुल प्रभु व्रज प्रघटे भक्ति-भजन के काजै रे।

---

[1] वृन्दावन-धामानुरागावली, श्रीवांकेविहारी जी कथा। १२-१३

[2] श्री जगन्नाथ जी की हस्तलिखित वाणी से। श्री जगन्नाथजी का उद्धृत पद वल्लभ-सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में भी प्राप्त है। देखिये कीर्तन-संग्रह, भाग २, पृ० २०।

[3] बैन कवि के पद (हस्त०)

कह्यौ न परत सुप वा घर कौ अब जा घर प्रभु गोविंद-सुत राजै रे।
दास बेन मुख निरखि लाल कौ आसधीर मन गाजै रे।

श्रीवीठल विपुल जी अपने गुरु श्री हरिदास जी में अनन्य निष्ठा रखते थे। स्वामी हरिदास जी के निकुञ्ज-गमन के पश्चात् ये उनका वियोग न सह सके और दुखी होकर नेत्रों से पट्टी बांध ली। उस समय अन्य रसिकजनों ने इन्हें 'रासलीला' में आमंत्रित किया। रास में जाने पर जब इन्होंने नेत्र खोले तो स्वामी जी को वहां न देखा। तत्काल इन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया और निकुञ्ज में पहुँच गये।

श्रीप्रियादास जी ने 'भक्ति-रस-बोधिनी' टीका में यह प्रसंग इस प्रकार लिखा है :—

स्वामी हरिदास जू के दास नाम बीठल विपुल,
गुरु के वियोग दाह उपज्यौ अपार है।
रास के समाज में विराजे सब भक्तराज,
बोलिके पठाये आये आज्ञा बड़ौ भार है।
जुगल स्वरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद,
गान तान कान सुनि रही न संभार है।
मिल गये वाही ठौर पायौ भाव तन और,
कहे 'रस-सागर' ताकौ यह विचार है।[1]

श्रीनाभा जी ने इन्हें 'रस-सागर' ही कहा है[2]। श्रीध्रुवदास जी ने इनकी प्रशंसा में लिखा है :—

विट्ठल विपुल विनोद रस गाई अद्भुत केलि।
विलसत लाड़िली-लाल सुख, अंसन पर भुज मेलि।
(भक्त नामावली लीला)

काव्य-समीक्षा

श्री वीठल विपुल जी द्वारा रचित केवल ४० रस के पद ही प्राप्त हैं। ये ४० पद हरिदासी-वाणी-संकलनों में मिल जाते हैं। नाभा जी द्वारा प्रदत्त 'रस सागर' उपाधि श्री वीठल विपुल जी के पदों के लिये भी उतनी ही सत्य है। इनका प्रत्येक पद मधुर रस की माधुर्यपूर्ण अभिव्यक्ति करता है। श्री स्वामी

---

[1] भक्तमाल, रूपकला सं० पृ० ६२१।

[2] भक्तमाल, वही, पृ० ६१९।

हरिदास जी की उच्च रस-मनोभूमि के प्रकटकर्ता उन्हीं के पदों के समान इनके भी पद हैं। अन्तर यह है कि इनके पद अधिक तत्सम-प्रधान हैं। अतः काव्य-पाठ में भी माधुर्य की वृद्धि हो गई है।

लाल और ललना की नित्यलीला ही बीठल विपुल जी का काव्य-विषय है। यहां भी रूप की उज्ज्वल छटा बिखर रही है और प्रेम-समुद्र हिलोरें ले रहा है।

गर्व-गहेली प्रिया के वदन की झलक-मात्र को देख कर प्रिय रस के वश हो जाते हैं। वे अपनपा खो देते हैं, प्रियो जी को सहज और स्वाभाविकी रूप-माधुरी और ललाट पर बिथुरी उनकी एक पतली सी अलक ने बिहारी जी को विवश कर दिया है। प्रिया जी ने श्याम की ओर इस चितौनी से देखा कि मोहन तब से ठगे से रह गये हैं, पलकें भी नहीं डालते। बीठल विपुल जी यही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रियाजी, प्रति पल 'मदन' की ललक बढ़ती रहे अतः आप प्रियतम से हिलमिल कर विहार कीजिये :—

रस-बस होत लाल प्यारी, तेरी वदन झलक।
अपनैं सुभाव सहज की माधुरी, बनी है लिलाट पर पतरी अलक।
कौनहू भांति चितवनी चितयौ, तब तैं मोहन जू की लागै न पलक।
श्री बीठल विपुल विहारी सों हिलिमिलि जैसे बाढ़ै छिन-छिन मदन-ललक।४

प्रेम रूप के सदा अधीन है। प्रियतम इसीलिये प्रिया जी के द्वार के सदा याचक हैं। प्रिया जी प्रिय की जीवन हैं, दोनों जल-मीन हैं। सखी प्रिया जी से प्रिय की पराधीनता निवेदित करती हैं :—

लालन तेरेई आधीन।
सुनि री सखी हौं सांचु कहति हौं तू जल ए हैं मीन।
तेरेई रस बस स्याम सुन्दरवर, जांचत है ज्यौं दीन।
श्री बीठल विपुल विनोद विहारी होत नगाद्रत लीन। (१८)

प्रेम के पंथ में प्रसिद्ध है कि जो पीर देता है, वही उसका उपचार भी करता है। लाल का जिस गुण-चातुरी से प्रिया जी ने सर्वस्व हरण कर लिया है, उसी गुण-चातुरी से वे उनका प्रतिपालन कर सकती हैं। प्रेम के इस मर्म को सखी-जन भली भांति जानती हैं।

तैं मोह्यौ प्यारी मेरौ लाल।
जिहि गुन सर्वंस चोरि लियौ, नागरि, ते गुन अब प्रतिपाल।
तैं कछु प्रेम ठगौरी मेली, तुव मुख जोवत नैन बिसाल।
भामिनि कनकलता ह्वै लिपटी, बीठल विपुल उर
स्याम तमाल (१६)

निकुञ्ज में मान ठहरता नहीं। सूक्ष्म मान इसी का नाम है। प्रिया जी के हृदय में तो लबालब प्रेम भरा हुआ है, परन्तु लीला-रस-पान करने के लिये ही यह हठ है। वे कभी-कभी बातें करना भी छोड़ देती हैं। तब सखी उस रति को जोड़ने का कार्य करती है। अधिक मान में रस नहीं रहता :—

हठ करि रही प्यारी बातौ न कहई।
ललिता तू समुझाइ जुगति करि जैसे रस रहई।
तन मन वारौं एक रोम पर जो नैंकु इत चहई।
बीठल विपुल बिहारी कहत सखी सों करि जतन रस रहई। (३७)

बिहारी जी को तो रस की ही चिंता है। परन्तु प्रियतमा का 'मान' केवल दिखावे का है, सखी इस तथ्य को जानती हैं। मान की अवस्था में भी प्रिया जी के नेत्र प्रिय-प्रेम को प्रकट कर रहे हैं। प्रिया जी मान के जो उत्तर दे रही हैं, वे बनावटी हैं। मान का 'नेम' छोड़ना ही होगा। दिखाने के लिये कोप कर रही हैं परन्तु वह कपट है। अधर-कंप हृदय के हुलास का सूचन करता है। आलम्बन पक्ष के ये सात्विक अनुभाव रति के उद्दीपन-कर्ता हैं और हृदय के प्रेम-भाव की मार्मिक व्यञ्जना करते हैं। सखी द्वारा कहा गया यह पद निम्न प्रकार है :—

नैना प्रकट करत प्रिय प्रेमैं।
झूठेई ऊतर कित ठानति हौ, छांडि मान के नैमैं।
कोप कपट को अधर कंप सखी अति हुलास हिरदे मैं।
बीठल विपुल बिहारी नगवर जटत सु तुव तन हेमैं। २२।

निकुञ्ज में लीला की तरंगें उमडती ही रहती हैं। इनके प्राकार-प्रकार अनेक हैं। न जाने कितनी भाँति के खेल निकुञ्ज में होते रहते हैं, ये सब रस-रीति को प्रकट करते हैं, एक ऐसी ही लीला देखिये :—

प्रिया पीतांबर मुरली जीती।
हा हा करत न देत लाडिली, चरन लुटत निसि बीती।

राषौ याहिं दुराइ सखी, ललितादिक रहौ सचीती।
बीठल विपुल विनोद विहारिनि, प्रगट करति रस रीती। (३९)

बीठल विपुल जी ने 'सुरतांत' के अनेक पद लिखे हैं। रूप-शोभा, प्रेम-निवेदन इन्हीं के ताने-बाने से बुना हुआ है इनका काव्य-पट। इस प्रेम-नेम की संचालिका हैं सखियां,। लीलाओं की संपादिका, संयोजिका वे ही हैं। रस-रीति की उद्घाटनकर्त्री और उस सुख से सुखी होना केवल उन्हीं के बांटे आया है। बीठल विपुल जी उसी पथ के पथिक हैं।

बीठल विपुल जी ने वृन्दावन को रसोपासना का अनिवार्य अङ्ग माना है। इस दिव्य वृंदावन का यश महान् है, जहाँ मानिनी और मनोहर केलि करते हैं और परवश हो जाते हैं। इस वन में युगल की नित्य नवीनता है। यहाँ के द्रुम-पल्लवों से प्रतिपल रस-सरिता प्रवाहित होती रहती है। इसके यश के रस को ही रसना प्रतिपल पान करना चाहती है :—

सुनहु रसिक वृंदावन कौ जस।
कुञ्ज केलि भामिनी मनोहर, परवस भए नाहिं अपने बस।
इहि वन नित्य नवीन जुगल वर, द्रुम दल दिव्य स्रवति सलितालस।
बीठल विपुल विनोद विहारी को पान कियौ चाहत रसना रस।[1]

अपने सीमित संख्यक पदों में ही बीठल विपुल जी ने सखी-भाव का सांगोपांग वर्णन कर दिया है। अतः रचना अल्प होते हुए भी वे नित्य-विहार के श्रेष्ठ गायक माने जाते हैं।

अभिव्यंजना-शैली

श्री बीठल विपुल जी के गुरु स्वामीजी ललिता सखी के अवतार माने जाते थे। बीठल विपुल जी ने इस नित्यविहार-रस को गुरु 'ललिता सखी' के माध्यम से ही देखा था। अतः उनके पदों में श्यामा-श्याम की लीला के साथ ही 'ललिता सखी' सर्वत्र लगी हुई हैं। स्वामी हरिदासजी के पदों में प्रिया-प्रियतम के आपसी वार्तालाप की शैली को अपनाया गया है वहाँ बीठल विपुलजी के अधिकांश पद सखी द्वारा सखी के प्रति उक्ति रूप हैं। यह शैली भी अत्यन्त ऋजु और मृदु है। सखी के माध्यम से वे प्रिया-प्रियतम के मनोभावों को भली भाँति व्यक्त कर पाये हैं।

---

[1] श्री बीठल विपुल जी की वाणी, १२।

अलंकार-विधान

श्री बीठल विपुलजी की अभिव्यंजना स्वाभाविक होते हुए भी अलंकृत है। जहाँ कपट मान को बनाये रखने में चातुर्य चाहिये वहाँ सखी भी उसके पहिचानने में अपने चातुर्य का परिचय देती है। इसी चतुराई के कारण तथा दिव्य स्वरूपानुभूति से पुलकित होकर लीला-वर्णन द्वारा 'उक्ति' में सज्जा आगई है। इसीलिये बीठल विपुल जी की वाणी में भाषा के श्रृंगार शब्दालङ्कारों के साथ अर्थालङ्कारों का भी सहज प्रयोग हुआ है।

शब्दालंकार

छेकानुप्रास—

प्यारी तेरी चल चितवनि बांकी।
बांके बसन आभरन बांके बंक रेख उर आँची॥

वृत्त्यनुप्रास—

बंकि सुभाव मिलनि बांकी प्रिया बंक कोर रही झाँकी।
बीठल विपुल बिहारी बाँके मिले, तातैं तू फिरति निसांकी॥

भंगपद यमक—

लालहिं बस करनी मदन मद हरनी। आदि

अर्थालंकार

उपमा—

बीठल विपुल बिहारी के उर, राजति ज्यों चम्पे की माला। (३४)

उत्प्रेक्षा—

प्यारी तेरे नैननि पर त्रनु टूटत।
मानहुँ कुन्द कली पर भौंरा हित अमृत रस घूँटत॥ (२४)

असंगति—

कहाँ री कहाँ इन बान बिसेपै, इत लागत उत फूटत। (२४)

अतिशयोक्ति—

अचल चले चल रहे री रहित गति पग मृग व्रत मानौ
धर्यौ है मुनी। (३२)

व्यतिरेक—नव मराल जित अवनि धरति पग॥ (२४)

भाषा

श्री वीठल विपुलजी की भाषा सर्वत्र माधुर्यगुणमयी है। विन्यास इतना स्वाभाविक और श्रुति-सुखद है कि रस की लड़ी बँधती ही जाती है। यों तो उनकी भाषा विशुद्ध ब्रज है परन्तु उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भली भाँति हुआ है। अनुप्रास का प्राचुर्य होने से लालित्य पर्याप्त मात्रा में आ गया है। उनकी भाषा में कहीं भी वासीपन नहीं है। केवल कुछ ही पंक्तियाँ उनकी मधुर रचना के उदाहरण के लिए पर्याप्त हैं :—

नव वन नव निकुञ्ज नव वाला।
नव रंग रसिक रसीलौ मोहन,
विलसत कुञ्ज विहारी लाला॥
नव मराल जित धरति अवनि पग,
कूजत नूपुर किंकिनि जाला॥
वीठल विपुल विहारी के उर,
यों राजति चम्पे की माला॥ (२४)

रचना-शैली

वीठल विपुल जी के पदों में रचना-वैषम्य नहीं है। प्रायः सभी पद चार पंक्तियों के हैं। पद-शैली के अनुसार प्रथम पंक्ति छोटी है, शेष तीन बड़ी। तीनों पंक्तियाँ मात्रा में प्रायः बराबर हैं और छन्द के अत्यंत निकट हैं, इसीलिये इनके पढ़ने में भी मधुरता है। बीठल-विपुल के पहले का 'श्री' छन्द के बाहर है पर इन समस्त वाणियों की प्रवृत्ति है इसको लगाये रखने की। भक्तों की श्रद्धा का यह परिणाम है। रचनाकार के नाम के साथ यह नहीं है।

श्री विहारिनिदासजी

सखी-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या और साहित्य-रचना में मूर्द्धन्य स्थान श्री विहारिनिदासजी का है। अपनी रचनाओं में इन्होंने अपने आपको विहारिनिदास अथवा विहारीदास कहा है। उनका कथन है कि यह नाम उन्हें स्वामी हरिदासजी ने ही प्रदान किया था :—

श्री स्वामी हरिदासि कर अंबुज परसत माथ।
मानों रचि पचि चन्द्रिकनि राखी सखियन साथ॥

राखी सखियन साथ नाम धृत दास विहारिनि ।
निरखत नित्यविहार लता-गृह-रंध्र-निहारिनि ॥
अति नागर वर जानि निकटि स्यामा अभिरामी ।
दुतीय रूप इक धर्म धुरा वाहत श्री स्वामी ॥[1]

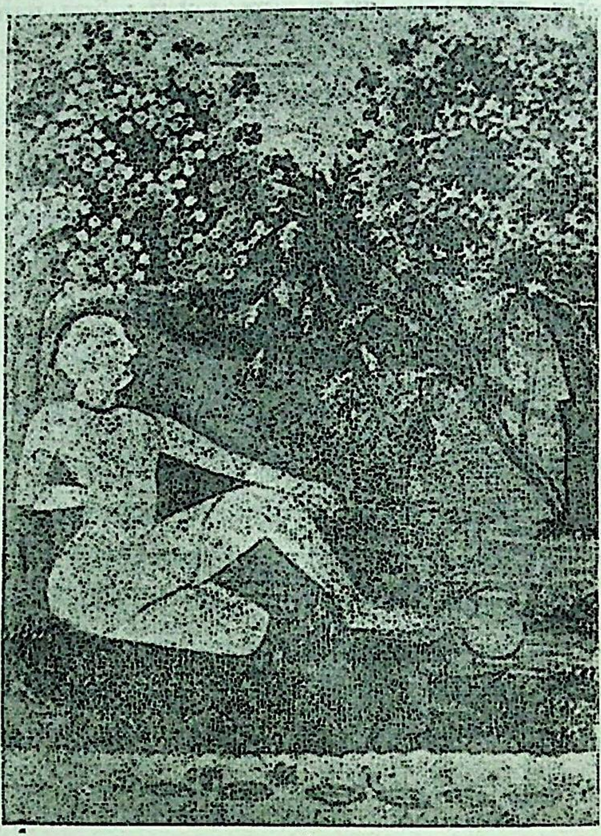

श्री विहारिनिदास जी का एक प्राचीन चित्र

श्री विहारीदासजी के जीवन के संबन्ध में अन्तःसाक्ष्य के रूप में बहुत कम सामग्री प्राप्त होती है। उनकी रचनाओं से पता चलता है कि उनका केवल एक हाथ था :—

---

[1] विहारीनिदास जी की वाणी। कुंडलिया पृ० १०।

काहू कै वल वाँह को, काहू शिष्य पचास।
एक हथिया हरिदास कौ नाम विहारीदास ॥[1]

निम्नलिखित साखी से भी यही स्पष्ट होता है :—

द्वै-द्वै बांह सिलट सजे साधारण संसार।
एकै हाथ विकासनौ, एकै भजन विहार ॥[2]

विहारीदासजी की रचनाओं से एक बात यह भी ज्ञात होती है कि संभवतः उनका अकवर से साक्षात् हुआ था। वड़ी श्रद्धा के साथ उन्होंने अनेक स्थानों पर अकवर का नाम लिया है। हो सकता है उनका साधु होने से पूर्व अकवर के दरवार से कुछ सम्वन्ध रहा हो या अकवर स्वामी हरिदासजी के पास आया था, इसलिये उसके प्रति इतना स्नेह हो।

विहारीदासजी के जीवन-परिचय के सम्वन्ध में विस्तार से हमें वाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

निजमत सिद्धान्त के आधार पर उनका संक्षिप्त जीवन-चरित्र इस प्रकार है:—

एक थे राजा मित्रसेन। उनकी पत्नी थी गोदावरी। इन्द्रप्रस्थ के निवासी थे। कभी-कभी मथुरा में आकर रहते थे। ये सूरध्वज ब्राह्मण थे और अकवर के दीवान थे। इनके सव कुछ था परन्तु कोई पुत्र न था। अतः वड़े दुखी थे। वहुत से उपाय किये पर सफलता नहीं मिली। मित्रसेन के एक मित्र थे चतुर्भुज गौड़। वे भी अकवर के दीवान थे। उन्होंने मित्रसेन को वताया कि स्वामी हरिदास जी की कृपा से मेरे एक पुत्र हुआ है और मैंने उनसे वर मांगा है कि तुम्हारे भी पुत्र हो।

दोनों मित्र वृंदावन आये। स्वामी जी को एक सौ मोहरें भेंट की। स्वामी हरिदास जी ने आशीर्वाद दिया, "एक वर्ष उपरान्त पुत्र होगा।" उनकी कृपा से पुत्र हुआ। स्वामी जी ने कहा ३३ वर्ष तक यह तुम्हारा है, फिर हमारा हो जायगा। पुत्र उत्पन्न होने पर स्वामी जी ने ही उसका नाम विहारीदास रखा और वैष्णव वनाया।

विहारिनिदास ने वड़े होकर अकवर के यहां नौकरी की। राजा मानसिंह ने उन दिनों आसाम का प्रदेश जीता, वहां के लोग जादूगर थे। खग, मृग, सिंह आदि वन जाते थे। ब्रह्मपुत्र से उत्तर की ओर एक राजा था। उसका

---

[1] विहारिनिदास, साखी, ६४५।

[2] श्रीविहारिनि दास जी की साखी सं ६४६।

नाम कुमुद था। उसका मंत्री था कमलापति। मानसिंह इस बलवान् राजा से मित्रता कर लौट आया।

अकबर ने बैरमखां के पुत्र अब्दुर्रहीम खानखाना को आज्ञा दी कि वह जाकर उस राज्य को जीते। खानखाना ने बिहारीदास को अपने साथ मांगा। इनकी युद्ध-यात्रा प्रारम्भ हुई। उधर राजा को हनुमान जी ने बताया कि बिहारीदास आ रहे हैं, उनकी शरण जाओ। परन्तु युद्ध हुआ बन्दरों का और मुगलों का। दस हजार मुगल मारे गये। बाकी घिर गये। बिहारीदास जी ने मंत्री कमलापति से कहा "तुम्हारा शरीर छूट जायगा परन्तु पन्द्रह दिन पश्चात् फिर जी उठोगे।"

युद्ध फिर चलता रहा। मुगलों ने कमलापति को धोखे से बुलवाकर विप दे दिया। बिहारीदास को बहुत दुःख हुआ उन्होंने अपना एक हाथ काट दिया। बिहारिनिदास ने उस अपने कटे हुए हाथ को कमलापति के पुत्र नानिगराम को यह कहते हुए दे दिया कि—'इसे अपने पिता के शव के साथ रख दो। वे १५ दिन में जी उठेंगे और मेरा हाथ भी निकल आयेगा'। वहाँ से बिहारीदास वृंदावन चले आये। स्वामी जी ने उनके सिर पर हाथ रखा, उनकी दोनों भुजाएं निकल आईं। वे बीठल विपुल जी के शिष्य हुए।[1]

उपर्युक्त कथानक ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वांश में स्वीकरणीय नहीं है। निजमतसिद्धान्त की आलोचना करते हुए हम कह चुके हैं कि निजमत सिद्धान्तकार के दिये संवतों के अनुसार ये घटनाएं संभव ही नहीं हैं। बताया गया है कि बिहारीदास का जन्म-संवत् १५६१ है।[2] तेतीस वर्ष की अवस्था में वे अब्दुर्रहीम खानखाना के साथ रहकर, कामरूप का युद्ध कर वृन्दावन आकर विरक्त हो गये। इसका सं० १५९४ आता है, परन्तु इतिहास बताता है अकबर का राज्यारोहण-काल सं० १६१२ है और अब्दुर्रहीम का जन्म संवत् १६२३। (दिसम्बर, १७, १५५६ ई०)।[3] अतः तिथियों के अनुसार ये घटनाएं पूर्णतया कपोल-कल्पित सिद्ध होती हैं। स्वामी जी के आशीर्वाद

---

[1] देखिये, निजमत सिद्धान्त, मध्यखण्ड, पृ० १२८ से १५७ तक।

[2] प्रथम विहारिनिदास को सुनो जन्म सुख सार।
संवत पन्द्रासै अधिक इकसठ वर्ष विचार।

निजमत सिद्धान्त, अवसानखंड, पृ० १०३।

[3] मआसिरे रहीमी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १२ फरवरी १९५६, पृ० १५।

से विहारीदास का जन्म भी १५६१ में संभव नहीं है क्योंकि निजमत के ही अनुसार वे सं० १५६२ में वृन्दावन आये थे।

यदि इन घटनाओं को ही अपने आप में देखा जाय तो भी सिवाय चमत्कारों के इनमें और कुछ नहीं है। युगल-बन्दरों की लड़ाई पौराणिक कल्पना है। विहारीदास के चमत्कार भी श्रद्धा-प्रेरित हैं और हाथ काटना, शव का जी उठना आदि कोरे अन्धविश्वास मात्र हैं। वृन्दावन आने पर विहारीदास की दोनों भुजाओं का यथावत् हो जाना भी मनगढ़ंत है क्योंकि विहारीदासजी की बाद की रचनाओं से भी उनके 'इक हथिया' होने का प्रमाण मिलता है। निश्चिय ही निजमत-सिद्धान्त के ये उल्लेख भ्रान्ति का प्रसार करने में ही समर्थ हैं।

स्वामी हरिदासजी के वंशधरों की परम्परा श्री विहारिनदासजी को गो० जगन्नाथजी का प्रपौत्र और गोस्वामी गोपीनाथजी का पुत्र बताती है। इनका गृहस्थ नाम हरिराय था और विरक्त होने पर ये विहारीदास या विहारिनदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस दृष्टि से ये भी सारस्वत ब्राह्मण ही ठहरते हैं।

विहारिनदासजी के जन्म की तिथि उनके शिष्य-प्रशिष्यों की बधाइयों में प्राप्त होती है, वह है सावन तीज।[1] विवरण से ज्ञात होता है कि यह श्रावण शुक्ला हरियाली तीज ही है। परन्तु उनका जन्म-संवत् क्या था इसका निजमत-सिद्धान्त के अतिरिक्त और कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

श्री व्यासजी, नाभाजी, और ध्रुवदासजी ने विहारिनदासजी की प्रशंसा लिखी है। व्यासजी का निकुञ्ज-गमन-काल सं० १६६९ है[2] और ध्रुवदासजी का सं० १७०० के आसपास है।[3] भक्तमाल की रचना का समय सं १६४२ के आसपास[4] माना जाता है। व्यासजी के पद से ज्ञात होता है कि उनके

---

[1] सावन तीज मन भावनी आई।
प्रगटी श्री विहारिन दासि विहारनि कै सरस प्रेम झर लाई। आदि।
बधाई नरहरिदास द्वारा लिखित।

[2] भक्त कवि व्यास जी, पृ० १०४। श्री ललिताचरण जी के अनुसार यह सं० १६५५ है।

[3] राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य। पृ० ४२७

[4] भक्त कवि व्यास जी, पृ० १९ तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास, शुक्लजी, पृ० १४७।

समय में वे वर्तमान थे और ध्रुवदासजी के उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय तक उनका निकुञ्ज-गमन हो चुका था। विहारीदासजी की रचनाओं से ज्ञात होता है कि उनके सामने वीरवर (वीरवल) की मृत्यु हो चुकी थी। वीरवल का मृत्यु-काल सं० १६४० है। अतः व्यासजी के निकुञ्ज-गमन समय सं० १६६९ के पीछे तक विहारीदास जीवित थे और ध्रुवदासजी की भक्तनामावली की रचना के समय तक उनका निकुञ्ज-गमन हो चुका था, ऐसा उन वर्णनों के क्रिया-पदों से ज्ञात होता है। यदि व्यासजी के समक्ष विहारिनदासजी का निकुञ्ज-वास हो चुका होता तो वे अवश्य उनके सम्बन्ध में खेद प्रकट करते, जैसा उन्होंने अन्य महात्माओं के सम्बन्ध में किया है। अतः सं० १६५९ उनका निकुञ्जवास समय ठीक नहीं है। यह वात निश्चित् है कि उनकी शरीर-प्राप्ति सं० १६७० के लगभग ही किसी समय हुई।

व्यक्तित्व

विहारिनदासजी का व्यक्तित्व अपनी रस-निष्ठा के गौरव का परिचायक है। उनकी उपासना 'ऐंड़' की थी अतः वे जगत् से भी ऐंड़े रहते थे। वे बेपरवाह और फक्कड़ थे। जगत् की किसी वस्तु की उन्हें इच्छा नहीं थी। अतः किसी के सामने झुकने का प्रश्न ही न था। उनके काव्य में निर्भयता की यह वृत्ति अधिक मात्रा में बढ़ी-चढ़ी है और शुष्क परम्पराओं और रूढ़ियों को उन्होंने खूब आड़े हाथों लिया है। उनमें कवीर जैसी तेजस्विता है और हरिराम व्यास जैसा गर्व। परन्तु विहारिनदास जी का हृदय अत्यन्त भावुक था। वे रस में प्रतिक्षण डूबे रहते थे। 'कोई भांग के मतवाले होते हैं, कोई अफीम के नशे में धुत्त रहते हैं परन्तु विहारीदास रस-माधुरी में झूमते रहते हैं :—

कोऊ मदमाते भांग के कोऊ अमल अफीम।
विहारीदास रस माधुरी मत्त मुदित तोफीम।[1]

स्वामी हरिदास जी के प्रत्यक्ष संपर्क में रहने के कारण इन्होंने सखी-भाव के रहस्य को भली प्रकार समझा था। इन्होंने अपनी रचनाओं में उस सिद्धान्त और रस को पल्लवित किया है। अतः विहारीदास जी संप्रदाय के सिद्धान्तों के लिए विशेष रीति से प्रमाण हैं।

---

[1] विहारिनिदास जी की साखी सं० २९७।

उनकी प्रीति-रीति से केवल उनके सहयोगी ही प्रभावित नहीं थे अपितु हरिराम व्यास जैसे स्वामी जी के मित्र भी उनसे प्रशंसक थे। उन्होंने विहारिनदास के सम्बन्ध में जो लिखा है वह उनके व्यक्तित्व को जानने के लिये महत्वपूर्ण है :—

सांची प्रीति विहारिनदासै।
कै करुआ कै कुञ्ज कामरी कै धरु श्री स्वामी हरिदासै।
प्रतिबाधक सह सकत त तिनकौं, जानत नहीं कहा कहि त्रासै।
महामाधुरी मत्त मुदित ह्वै, गावत रस जस जगत उदासै।
छिन ही छिन परतीत बढ़त रस रीति निरखि विवि वदन विलासै।
अंग अंग नित्यविहार विलोकत यहै आसु निजु वन वसि व्यासै।[1]

उनके सम्बन्ध में ध्रुवदास जी के ये दोहे भी महत्वपूर्ण हैं।

श्री विहारीदास निजु एक रस ज्यों स्वामी की रीति।
निरवाही पाछें भली, तोरी सब सों प्रीति।
मत्त भयो रस माधुरी करी न दूजी बात।
विनु विहार निजु एक रस और न कछू सुहात।
(भक्त नामावली लीला)

काव्य-समीक्षा

रचनाएँ

विहारीदास जी की रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती हैं। इनकी रचनाओं की संख्या इस प्रकार है—

साखी (सिद्धान्त और रस-सिद्धान्त की)	६७३
चौबोला (सिद्धान्त)	७१
सवैया, कवित्त और कुण्डलियां (सिद्धांत)	१५१
पद (सिद्धान्त के)	१७९
पद (रस के)	१९१

उपर्युक्त रचनाओं का विवरण लेखक ने अपने पास की एक अष्ट कवियों की सम्पूर्ण सुन्दर संकलित सं० १८९० की वाणी में से दिया है। श्रीगोपालदत्त शर्मा की वाणी में साखी संख्या ६७६ है, शेष समान हैं। हां रस के १९१ पद उनकी वाणी में बिलकुल नहीं हैं। बहुत थोड़े से हेरफेर के साथ हमारे पास

---

[1] भक्तकवि व्यास जी, पृ० १९५।

अन्य तीन वाणियोंमें भी विहारीदास की रचनाओं की संख्या इतनी ही मिलती है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में विहारिनदास का एक ग्रन्थ 'समय प्रबन्ध' नाम से अंकित किया गया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ विहारिनदास जी का नहीं है। जैसा कि उसके अन्तिम पद्यों में लिखा है वह ग्रन्थ स्वामी हरिदास जी की शिष्य परम्परा में होने वाले सहचरिशरण जी के कृपापात्र किसी महात्मा, ने किन्हीं यमुनादासी को भेंट करने के लिये लिखा था। देखिये—

श्री मत्सहचरसरन जू कृपा करी निज जानि।
इन पद रेनु प्रसाद तें बन्यों ग्रन्थ रसखानि।
श्रीयमुनादासी सुखद भरी प्रेम रस सार।
अप्यौं तिनहिं बनाय यह रस रतन कौ हार।

इति श्री समय प्रबन्ध की पुस्तक हरिराम त्रिपाठी के हस्तलिखित संपूर्ण। मार्गशीर्ष मासे कृष्णा मावस्या सं० १९१८ शुभमस्तु।

(देखिये खोज : रिपोर्ट, प्रकाशन-वर्ष १९१४ सं० ३१)

सैद्धान्तिक रचनाएँ

सिद्धान्त सम्बन्धी रचनाओंके भी दो विभाग हैं। एक में साधारण सिद्धान्त का कथन किया गया है, दूसरे में रस-सिद्धान्त का। साधारण सिद्धान्त में गुरु की पहिचान, शिष्य के लक्षण, मित्र की पहिचान, साधु की पहिचान, जगत् का स्वरूप, जगत् की नश्वरता, पांडित्य की निंदा, श्राद्ध-तर्पण की व्यर्थता, भक्ति की ओर उन्मुख होने के उपदेश आदि हैं। विशेष सिद्धान्त में, रसिकों की परिपाटी, उनका रहन-सहन, प्रेम-सिद्धान्त, प्रिया-प्रियतम का स्वरूप, वृन्दावन का महत्व, सखी-स्वरूप, साधक के कर्तव्य आदि आते हैं।

सखीभाव के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए विहारिनदास के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा चुके हैं। इनकीविशेषता यही है कि विहारीदास जी अपने सिद्धान्त में स्पष्ट हैं, किसी के साथ लागलगाव नहीं रखते, जो कहना होता है कहने में नहीं चूकते। दूसरी बात यह है कि वे अपने 'रस' को भली-भांति पहिचानते हैं अतः मिश्रण से बचने के लिये उन्होंने चारों ओर दृष्टि रखी है। इसीलिए अन्य प्रचलित भक्ति-सिद्धान्तों के प्रति अनेक निषेधात्मक कथन उन्होंने किये हैं। वे मेंड़ तोड़ कर चलने वाले हैं, लकीर के फकीर नहीं, अपनी राह स्वयं बनाने वाले समर्थ चिंतक हैं, यही उनका सैद्धान्तिक वैशिष्ट्य है।

सिद्धान्त-सम्बन्धी काव्य में उपदेश-प्रधान होने के कारण काव्य-सौन्दर्य उच्च कोटि का नहीं है। इस पक्ष में फक्कड़पन ज्यादा है, भावात्मक शृङ्गार नहीं। फिर भी कहीं 'गुरु' को लेकर, कहीं 'वैरागी' को लेकर, कहीं 'गोसाईं' को लेकर उन्होंने अनेक अलंकारों अथवा उक्ति-वैचित्र्य का प्रदर्शन किया है। 'वैरागी' की विशेपता देखिये।

रूठे से रिस में फिरैं लिये वैर अरु आगि।
आपुन ही जरि जरि मरै विन वैराग अभाग।[1]

साखी में वैराग्य शब्द को तोड़ कर उन्होंने चमत्कार उत्पन्न किया है। वे कहीं-कहीं दृष्टकूट की शैली भी अपना लेते हैं—

जो नहिं आयौ हाथ पसेरी आठ कौ।[2]

आठ पसेरी का एक मन होता है यहाँ मन का दूसरा अर्थ इन्द्रियों का स्वामी है परन्तु कहीं-कहीं विहारीदास श्लीलता की सीमा को भी उलांघ गये हैं, जो उनके काव्य का दोप ही माना जायगा।

रस-सम्बन्धी रचनाएँ

विहारीदास जी की रस-माधुरी 'रस' की वाणियों में देखने में आती है। यहीं कवि का हृदय भी है। सखी-सुख में जटी विहारिनदासी प्रिया-प्रियतम के अंग-संग में रहकर महल की टहल करती है, और उनकी विभिन्न लीलाओं को अपने नेत्रों से निरख जीवन को सफल और धन्य करती है।

प्रातःकाल ही निकुञ्ज-द्वार पर खड़े हो ललिता ने ललित वीणा बजाई है। 'प्रवीन-प्रवीना' पर्यंक से अभी उठे नहीं हैं, शयन-तल्प पर पौढ़े हुए ही वे वीणा सुनकर प्रसन्न हो रहे हैं। उनका अनुराग बढ़ रहा है। पुनः नवीन होकर वे क्रीड़ा में उन्मत्त हो रहे हैं।[3]

भोर के इस सुरतांत से ही रस की वाणी का आरम्भ होता है। सखी के जागने पर दोनों अनुरागी निकुञ्ज-महल से निकलते हैं। सखियां रुचि-पूर्वक उनकी सेवा करती जाती हैं। मज्जन-पान कराती हैं। विभिन्न प्रकार के सुस्वादु भोजन उनके समक्ष रखती हैं। विहार कराती हैं।

---

[1] विहारिनिदास जी की साखी, सं० २७५।

[2] विहारिनिदास चौवोला, पृ० ३४।

[3] विहारिनिदास रस के, पद १।

इन सभी क्रीड़ाओं में कहीं भी इनका स्थूल रूप प्रधान नहीं है। ब्रजलीला के कवि यदि भोजन का वर्णन करने बैठे तो पकवानों की गिनती पर उतर आते हैं। रस-व्यंजना वहां नहीं हो पाती। परन्तु सखीभाव के उपास्य प्रिया-प्रियतम भोजनपान जो भी करते हैं, उसमें अनुराग ही प्रधान है। वे भूखे हैं, दर्शन के, पान करते हैं रूप का मकरंद। देखते-देखते भूल जाते हैं, कि मैंने कभी प्रियको देखा भी है। कठिनता से निश्चय कर पाते हैं, कि यह वही हैं। भोजन का एक पद विषय-वस्तु की दृष्टि से देखिये :—

भोजन करत भली भांति, सोभा बहु भांति न कही जात।
कोमल करनि लेत, देत लाल प्रिया के मुख, मुरि मुरि मुसिक्यात जात।
विविध विंजन मन रंजन वदन नीकी कांत।
अतिसै त्रस्ना त्रसित छुधित पाइ सुधारस विवस भूलि न जात।
बारम्बार निहारत आरत, इनहि यहै हितात।
बिहारिनदास यौं सुष सेवत निरपि हरपि आंपिनि सिरात।[1]

× × ×

भोजन करत दुहूं दिसि देखौं।
कहत न बनत विनोद बिहारी बिहारिनि लै उर लेपौं।
अंग अंग अवलोकि लेत दोऊ छुधित स्वाद की सेपौं।
बचन रचन रुचि में रुचि पावत सब रस रसिक विसेपौं।
पान करत मकरंद प्रिया-प्रिय अवधि प्रेम की रेपौं।
यहैं अहार विहार निरंतर करत न पाक परेपौं।
इहि रस तुष्ट-पुष्ट मेरे प्यारे तुम सुन्दर वर बेपौं।
बिहारिनिदास कहत नैननि सौं तुम जिनि लगहु निमेषौं।[2]

ऐसे अनुराग का पान नेत्र करते ही रहें, यही सखी की भावना है, विहारीदास नेत्रों से कहते हैं कि तुम पल भर भी बन्द न होओ। कहीं 'रस' की गति पर, कहीं मृदु 'बोलनि' पर, कहीं 'मुसकान' पर, 'आनन की ओट' कर कवि का हृदय विका हुआ है।

नित्यविहार के विषय को विस्तार देने के लिये विहारिनदास जी ने ऋतुओं का आलंबन लिया है। कहीं ग्रीष्म में फूलों का श्रृङ्गार, कहीं पावस की भीनी फुहारें, कहीं चन्दन के पद, कहीं होलीकी केसर-कीच, कहीं वसन्त का पीतिमा

---

[1] बिहारिनिदास रस के पद, सं० ३६।
[2] बिहारिनिदास जी रस के पद, सं० ३७।

उनके काव्य में छाई हुई है पर उनकी रस-दृष्टि में रूप-शोभा के साथ मन के भाव ही अधिकाधिक स्पष्ट होते चलते हैं। अति आतुर प्रिया-प्रियतम विहार-सुख में मत्त हैं।

सखी-भाव के गायकों का प्रत्येक पद शैली की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण होता है। पद के आरम्भ में ही किसी भाव की उद्भावना कर, उसमें तनिक सा मान या सन्देह उत्पन्न कर भाव को अन्तिम पंक्तियों में प्रतिफलित कर दिया जाता हैं। अतः प्रत्येक पद स्वतंत्र रीति से रस का सागर है। प्रिया-प्रियतम का मिलन ही भाव की चरमावस्था है। एक पद की प्रथम और अन्तिम पंक्तियां देखिये—

मानत नाहीं री मनायौ प्यारी तू कौलों करि रही री हठ मोसौं।
× × ×
श्रीविहारिनदासि की विनती मानि रसिक राधे रहसि मिली री
तकि रोसौं।[1]

विहारीदास जी ने एक ओर प्रेम की हृदय-गत उमंग चित्रित की है, दूसरी ओर उनकी अनुभाव-व्यंजना भी उसी प्रकार सुन्दर है। लाल अपनी लालच भरी निगाहों से प्रिया जी को देखते हैं, पर उन्हें प्यारी से झिझक भी है, तनिक उनके अनुभाव देखिये :—

अंखियां लाल की ललचौंही।
इत-उत चितै हंसत सकुचत से वात कहत गहि गौंही।
नैन-स्रवन-नासा अवलोकत भाल तिलक दरसौंही।
श्रीविहारिनिदास स्वामिनी रस वरसत यह सुख समझति हौं ही।

तात्पर्य यह है कि विहारीदास जी भाव, अनुभाव आदि की व्यंजना में पूर्ण कुशल हैं और इसीलिये उनकी कविता में श्रेष्ठ रीति से रस-परिपाक हुआ है।

विहारिनदास जैसे कवि के बृहद् काव्य में से छांटकर कुछ अलंकार उपस्थित कर देने का कोई अर्थ नहीं होता। इस रस-निधि का तो अलग से ही मंथन होना आवश्यक है। हां, उनकी अलंकारों के सम्बन्ध में जो मान्यता है, वह हम बता चुके हैं कि विहार में भूषण दूषण जान पड़ते हैं, रस का घात हो जाता है, अतः स्वाभाविक अलंकार ही उनको मान्य हैं। फिर भी विस्तृत कविता-क्षेत्र में सभी अलंकार अनेक प्रकारों से उनके काव्य में प्राप्त हो सकते हैं।

---

[1] वही सं० ६९।

विहारीदास जी की भाषाशैली में विविधता है। सिद्धान्त के पदों में, जहां उन्होंने फक्कड़पन दिखाया है, वहां उनकी भाषा में वज्रों की फटकार बरसती है तथा जहां वे रस-मग्न होते हैं वहां भाषा में माधुर्य गुण प्रचुर मात्रा में है। उनके कुछ पदों में पंजाबी भाषा भी मिलती है। अवधी, बुन्देली, आदि के प्रयोग भी बहुत हैं। विहारीदास के पद अधिकांश में छंद के ढांचे में आते हैं परन्तु सर्वत्र ही वे उसके उनमें फिट नहीं हैं। अनेक स्थानों पर यति, गति, लय, अधिक-पदत्व, लघु-पदत्व आदि के दोष मिल सकते हैं। फिर भी मुख्यतः विहारीदास मधुर रस के सिद्धहस्त कवि हैं। उनके एक पद को देकर यह विषय समाप्त किया जाता है :—

महामत्त मानिनी मनोहर मान सरोवर बेलैं।
छिरकत छींट कटाछनि छविसों, छैल उमंगि रस खेलैं।
बाढ़त अति अनुराग परस्पर प्रेम भुजनि बल पेलैं।
ह्वै गयौ षंड पंड जल इत उत सुख-सागर की रेलैं।
उदित मुदित जुग राज विराजत लाज नवल अवहेलैं।
ह्वै रहे मगन लगन अंग-अंग तन चीर चिकुर न सकेलैं।
भीजे वसन निवारि सिंगारति सखी गुहि माल धमेलैं।
श्रीविहारिनिदास दरसि सुप बरनत जल थल कुञ्जनि केलैं।
(विहारिनिदास रस के पद ३५)

श्रीनागरीदास जी तथा श्रीसरसदास जी

श्रीविहारिनदास जी शिष्य थे नागरीदास और सरसदास। नागरीदास और सरसदास का जीवन-परिचय निजमत-सिद्धान्त के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता। परवर्ती ग्रन्थों में जहां उनका उल्लेख है भी वह 'निजमत' के आधार पर ही है।

निजमत-सिद्धान्त में इन्हें गौड़ ब्राह्मण और मंत्री कमलापति का पुत्र बताया गया है। ये कमलापति वानरों के राजा के मन्त्री थे, जिनके साथ विहारिनदेव और खानखाना का युद्ध हुआ था। इस प्रसंग की चर्चा पहिले की जा चुकी है और बताया जा चुका है कि यह प्रसंग और इसके संवतादि पूर्णतया कल्पित हैं। श्रीगोपालदत्त शर्मा का भी निष्कर्ष हमारे ही अनुकूल है। वे लिखते हैं, "अतः निजमत-सिद्धान्त के ये सभी उल्लेख भ्रमात्मक हैं। तथ्य

के प्रकटीकरण के लिये अन्य प्रमाणों का एकदम अभाव है।"[1] श्रीध्रुवदास जी कृत भक्तनामावली में इनके सम्बन्ध में एक दोहा मिलता है—

कहा कहौं मृदुल सुभाव अति, सरस, नागरीदास।
विहारी विहारिनि को सुयश गायौ हरपि हुलास।
(भक्त नामावली)

श्रीनागरीदास जी के एक अन्तःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि ये वीठल विपुल जी और विहारिनदास के साथ बहुत दिन तक रहे थे—

विपुल विहारिनदास कौ मैं पूरौ पायौ संग।
नागरीदास फूलत सदा देपि दुहुनि को रंग।
(साखी,१७)

इस साखी के अनुसार यह सिद्ध होता है कि वे स्वामी हरिदास जी के समय में भी वृंदावन रहे होंगे क्योंकि स्वामी जी और वीठल विपुल जी का निकुञ्जगमन केवल ८ दिन के अन्तर पर माना जाता है। वीठल विपुल जी का इन्हें यदि पूरा संग मिला होगा तो ये विहारिनदास जी के पश्चात् अधिक समय तक जीवित नहीं रहे होंगे। यदि विहारिनदास जी का निकुंज-गमन हम अपने हिसाब से १५७० के लगभग मानें (निजमत के अनुसार उनका निकुञ्ज-गमन सं० १५५९ है) तो भी वे उनके पश्चात् लगभग पांच वर्ष ही जीवित रहे होंगे।

सरसदास जी नागरीदास जी से छोटे थे। ये ही महन्त बने थे। इनका जन्म सं० निजमत-सिद्धान्त के अनुसार सं १६६१ है, जो अशुद्ध है। उसी के अनुसार वे ३० वर्ष घर रहे और ४२ वर्ष वन में। निकुञ्ज गमन सं० १७३३ लिखा गया है। इसके विपरीत इसे शुद्ध किया है, उसी परम्परा के श्री सहचरिशरण ने 'आचार्योत्सव सूचना' में—जन्म सं० १६११, तीस वर्ष घर में, ४२ वर्ष वन में, ७२ वर्ष की आयु। सं० १६८३ में निकुञ्ज-गमन माना है। परन्तु गुरु-प्रणालिका में उनका ३६ वर्ष वन में रहना लिखा है। इस सबके पीछे क्या प्रयत्न है, समझ में नहीं आता। तात्पर्य है यह कि इस उलझन में से सत्य की प्राप्ति कठिन है और बाहर के प्रमाण अभी प्राप्त नहीं हैं।

---

[1] स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ० २३३।

काव्य-समीक्षा

श्रीनागरीदास जी की काव्य-रचना स्वल्प है। उनकी २० सखियाँ, ४२ चौवोले, ३९ कवित्त, सवैया आदि और ७० रस के पद प्राप्त हैं। अपनी साखियों में श्रीनागरीदास जी ने एक स्थान पर लिखा है :—

नागरीदास अनन्यनि कौ गढ़ वन वांकौ कहा कोउ पावै।
नित्यविहार नित्य सिद्धनि कौं तू काहे कौं मूंड़ मुंड़ावै।[1]

नागरीदास जी की अन्य वाणियों को देखने से भी ऐसा लगता है कि इनके समय में सखीभाव के उपासकों में एक स्थिरता-सी आ गई थी। उनमें वैसी उमंग और ताज़गी अब नहीं दिखाई देती जो स्वामी हरिदासजी और बिहारिनदास जी के काव्य में विद्यमान है। उनमें वस्तु को गोप्य रखते हुए भी प्रसार की भावना है, क्योंकि उमंग का स्वरूप ही फैलना है। परंतु उक्त साखी में नागरीदास किसी साधक को मानों हतोत्साहित कर रहे हैं।

नागरीदास जी के रस के पदों में कुछ पद तो बहुत ही बड़े हैं, शेष सामान्य। विषय है प्रिया-प्रियतम का नित्यविहार-वर्णन। अनेक पद स्वामी जी के पदों की पुनरुक्ति मात्र हैं। एक पद तुलनार्थ प्रस्तुत है :—

स्वामी हरिदास जी का पद :—

ऐसो रितु सदा सर्वदा ज्यों रहैं बोलत मोरनि।
नीके वादर, नीकी धनुप, चहुँ दिसि नीकौ।
श्रीवृन्दावन आछी मेघनि की घोरनि।
आछी नीकी भूमि हरी हरी,
आछी नीकी वूंदनि की रेंगनि, काम की रोरनि।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा के मिल गावत,
जम्यौं राग मलार किसोर, किसोरनि।

(केलिमाल ८९.)

श्रीनागरीदास जी का पद :—

पावत रितु आई, सबनि के मन भाई, तैसोई श्रीवृंदावन राजै सुपदाई।
तैसीयै घन की घोर, धनप चहुँ ओर, तैसौई नाचत मोर, तैसीयै
चातक पिक बोलनि सुहाई।

---

[1] नागरीदास जी की साखी, सं० ८

तैसी भूमि हरी हरी, डोलै बूँदें रंग भरी लता अनुराग ढरी रही छवि छाई।
निरखि नागरीदासि प्रिया प्रिय सुपरासि विलसत मन हुलास गावत राग
मलार लाल ललना लड़ाई।[1]

इनके कुछ पद रस-परंपरा के अच्छे पद भी हैं। नागरीदास जी की भापा जमी हुई ब्रज भापा है। इस क्षेत्र में भापा अब तक पुष्ट हो चुकी थी। परन्तु नागरीदास जी के छंद गान प्रधान होने से अस्त-व्यस्त प्रतीत होते हैं। गेय पद तो अपने गेयत्व की कसौटी पर खरा उतरने के कारण छंद-बन्धन को शिथिल भी कर देता है, परन्तु दोहा जैसा छोटा छन्द भी कहीं-कहीं उखड़ा-उखड़ा है, जो कवि के छंद सबन्धी असामर्थ्य का ही परिचय देता है।

सरसदास जी की रचनाओं की संख्या कम है। इनके सिद्धान्त सम्बन्धी छन्द २७ हैं और रस-सम्बन्धी पद ३९ हैं। सिद्धान्त के पदों में अधिकांश अपने गुरुजनों की प्रशंसा के ही हैं। इनके रस के पद अच्छे बन पड़े हैं। कल्पना में नवीनता है और अभिव्यक्ति भी उदार है। 'प्रिया के गोरे तन में वृंदावन के पुष्पों की परछाई पड़ रही है। लाल जी उन्हें पुष्प समझ कर बीनना चाहते हैं। जब वे प्रिया के शरीर का स्पर्श करते हैं, तो प्रिया हँस पड़ती हैं' :—

गोरे तन में प्रतिबिम्बित फूल बीनत लाल बिहारी।
जब जब हाथ न परत तब ही हँसि जात प्यारी।
अरबराइ अंकौ भरत, करत हैं छिन छिन मनुहारी।
सुरति-बिबस विहरत दोऊ प्रीतम 'सरस' सदा बलिहारी।[2]

श्रीनरहरिदासजी

नरहरिदास जी सरसदास जी के शिष्य थे। कहा जाता है कि वृन्दावन पर औरंगजेब का आक्रमण इनके समय में ही हुआ था। रसिकों की परिपाटी यह रही थी कि वे वृंदावन छोड़ कर बाहर नहीं जाते थे परन्तु इस समय तक वे परम्परायें बहुत कुछ टूट चुकी थीं। नरहरिदास जी वृंदावन को छोड़ प्रायः बाहर ही घूमते रहते थे।[3]

---

[1] नागरीदास जी की वाणी पद सं० २७।

[2] सरसदास जी की वाणी पद सं० २।

[3] निजमत सिद्धान्त, अवसान खंड पृ० १०५ से ११४ तक नरहरिदास जी का चरित्र।

इनकी वाणी बहुत ही स्वल्प है—केवल ५ साखियां, एक सिद्धान्त का पद और १० रस के पद हैं। इनका एक पद विरह का भी मिलता है, मानों भ्रमर गीत की उक्ति हो। ध्यान रहे, सखीभाव में स्थूल विरह पूर्णतया वर्जित है। यह पद देखिये :—

अरे कारे बदरा तोही में स्याम हिरानैं।
ताहीं ते तू अन्तर गरब्यौ विरहिनि पीर न जानैं।
परसि दुकूल दामिनी अति चमकति, सनमुख सारँग तानैं।
मंद मंद मुरली धुनि गाजत बाजत मदन निसानैं।
रङ्ग रङ्ग मिलि सुख उपजति अति आन रंग क्यों बानैं।
'नरहरिदास' जे अन्तर कारे कारे सों रति मानैं।[1]

अन्य पदों में सखी भावानुकूल सुन्दर अभिव्यक्ति है। इनकी एक-दो प्रसंगोद्भावनाएँ भी उत्कृष्ट हैं। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

एक सखी राधा के भोरे गुहत स्याम की बैनी।
भूषन बसन संवारति अंग अंग चकृत भई मृगनैनी।
राधा हंसि मोहन तन चितई सखिनि दई कर सैनी।
'नरहरिदास' प्रिय मन में व्रीड़ति लियैं लाल कर लैनी।[2]

स्वामी रसिकदासजी

श्रीरसिकदास जी नरहरिदास जी के शिष्य थे। कहा जाता है कि प्रारम्भ में गुरु ने रुष्ट होकर इन्हें अपने यहां से निकाल दिया था परन्तु ये छिप करके भी गुरु की सेवा करते रहे। अन्त में गुरु ने इनको अपना लिया।

रसिकदास क्रियाशील महात्मा थे। इन्होंने अपने ५२ शिष्य किये। स्वयं डूंगरपुर से एक ठाकुर मंगवाकर उनका मन्दिर बनवाया, जो रसिकविहारी के नाम से विख्यात है। 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार राधावल्लभ सम्प्रदाय के गो० रूपलाल जी ने किसी हरजी बनिया से स्वामी हरिदास जी को हरिवंश जी का शिष्य लिखवा दिया। उसे कोढ़ हो गया। अन्त में रसिक दास जी की शरण में आने पर ही वह ठीक हो सका।[3]

---

[1] नरहरिदास जी की वाणी, पद सं० ४।

[2] नरहरिदास जी की वाणी, पद सं० ५।

[3] श्री रसिकदास जी के चरित्र के लिये देखिये। निजमत सिद्धान्त, अवसान खंड, पृ० ११।

श्री रसिकदास जी के समय से स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के तीन टुकड़े हो गये। श्री पीताम्बर दास से रसिकविहारी की परम्परा चली, श्रीललितकिशोरी दास से टट्टी-स्थान की और गोविन्द देव जी ने गोरीलाल मन्दिर की गद्दी संभाली। एक विलक्षण बात यह देखने में आती है कि जहां निजमत-सिद्धान्त द्वापर के महात्माओं से लेकर अपने समय तक के सभी महात्माओं के जन्म, मृत्यु आदि के सभी संवत् देने का प्रयत्न करता है, वहां रसिकदास जी का उसने कोई संवत् नहीं दिया। वे तो उसके गुरु के ही गुरु थे। सहचरिशरण जी ने इनका निकुञ्ज-गमन सं० १७५८ लिखा है।

रसिकदास जी का साहित्य

हमारे पास संगृहीत वाणी में रसिकदास जी की १६ साखियां, ५ सिद्धान्त के पद और केवल २२ रस के पद हैं। स्वतन्त्र ग्रंथों के रूप में इनके ८ ग्रन्थ और प्राप्त हैं। ये हैं—

१—गुरु : मंगल
२—बाल-लीला
३—भक्ति-सिद्धान्तमणि
४—पूजा-विलास
५—वाराह-संहिता
६—रसार्णव पटल
७—कुञ्ज-कौतुक
८—रस-सार

इनके अतिरिक्त एक संस्कृत में रचित 'गुरु-परम्परा' और बताई जाती है।[१] इन सभी ग्रन्थों का डा० गोपाल दत्त ने विस्तार से परिचय दिया है। जैसा हम कह चुके हैं, क्रमशः इस सम्प्रदाय ने अपने विचारों और भाव के प्रति एक शिथिलता को दूर तो किया पर ये आचार्य अपने घर की मूल रस-निष्ठा खो बैठे। जिस रस को उनके गुरुओं ने बचा-बचा कर अत्यन्त गुप्त कह कर रखा था, उसे इन्होंने दूसरे ही प्रकार से फैला दिया।

सखीभाव का उपासनाभाव अत्यन्त कोमल है। निकट का ही क्यों न हो, विरोधीभाव के आते ही वह त्रस्त हो जाता है। इसके महा मधुर रस को तो अनन्यता चाहिये और श्री रसिक दास में अनन्यता का अभाव है। डा० गोपालदत्त भी इस विचार का समर्थन करते हुए कहते हैं..."इन ग्रन्थों के वर्ण्यविषय को देखने से ज्ञात होता है कि स्वामी रसिकदास जी ने अपनी पूर्व परम्परा से चले आते विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों को भी अपनी

---

[१] स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृ० ४०१। इनके ग्रन्थ कुंज-कौतुक और पूजा-विलास का उल्लेख ना० प्र० सभा की रिपोर्ट। सं० १९०१ में पृ० ६६ पर हुआ है।

वाणी में स्थान दिया। इनमें से कुछ सम्प्रदाय में चली आती उपासना-पद्धति के विरुद्ध भी थीं। प्रिया-प्रियतम का जन्म, विवाह, निकुञ्ज के आवरण, व्यूह आदि विषय-परिपाटी के स्पष्टतः विरुद्ध थे। आगे भी इन विषयों को सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति में प्रतिष्ठा नहीं मिली। स्वामी ललितकिशोरी देव जी ने तो अपने गुरु की गद्दी स्वीकार न कर अलग गद्दी की स्थापना की। सम्भवतः गुरु की उपसना-पद्धति से मतभेद होने के कारण ही उन्हें अलग स्थान बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी"।[1]

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि स्वामी रसिकदेव विशुद्ध सखी-भाव के उपासक नहीं थे। उन्होंने इस 'रस' की अप्रतिष्ठा ही की। एक तो उन्होंने विरोधी रसों को अपनाया, दूसरे उन्होंने इस सीधे सरल प्रेम मार्ग को व्यूह और आवरणों से ढकने की चेष्टा की। सखी-भाव की विरोधी होने के कारण ही सम्भवतः उनकी बहुत थोड़ी रचनाएँ वाणी-संकलनों में संगृहीत की गई हैं। हम उनकी वाणी में दी हुई रचना का ही थोड़ा स्वरूप-परिचय यहां प्रस्तुत करते हैं।

रसिकदास जी की १६ साखियों में सखीभाव के सिद्धान्त का परिचय कराया गया है। वे कहते हैं "जब स्याम से मन लग जाय, प्रियाभाव हो जाय, मन से पुरुषभाव मिट जाय तब समझना चाहिये कि सखीभाव हुआ।"

उलटि लगै मन स्याम सौं प्रिया-भाव ह्वै जाइ।
सखी-भाव तब जानियै पुरुस-भाव मिटि जाइ।[2]

यह साखी कान्त-भाव (गोपीभाव) को ही सखीभाव बताती मालूम होती है। यदि इसका यह अर्थ करें कि श्याम और प्रिया से भाव हो जाय तभी सखीभाव हुआ, तो ठीक है। इनकी वाणी को संभाल कर उपयोग करने की आवश्यकता है। इनकाप्रिया-प्रधानता का एक पद यहां उद्धृत करते हैं:—

प्यारी जू तैं मोहिं मोल लियौ।
तेरी कृपा तैं मदन दल जीत्यौ तेरौ जिवायौ जियौ।
उमड़ी सेन महा मनमथ की तैं अधरामृत दियौ।

---

[1] स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृ० ४०५।

[2] रसिकदास जी, साखी सं० १३।

'रसिक विहारी' कहत दीन ह्वै धनि स्यामा कौ हियौ।[1]

वनीठनी जी

वनी ठनी जी प्रसिद्ध कृष्णगढ़नरेश महाराज नागरीदास (सावन्तसिंह) की 'पासवान' अथवा रखैल थीं। जब भक्ति का अंकुर उनके स्वामी के हृदय में जमा तो वनीठनी भी कैसे. उस आनन्द से वंचित रह जातीं। वे भी अपने स्वामी के साथ वृंदावन चली आईं। उनके साथ ही रहीं। इससे ज्ञात होता है कि उन दिनों भक्ति के मानने वाले कितने उदाराशय थे, जिन्होंने एक पासवान को साथ में रखते हुए भी नागरीदास जी को उच्च स्थान दिया।

नागरीदास जी स्वयं वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित थे परन्तु वनीठनी जी स्वामी हरिदास जी की शिष्य-परम्परा में रसिकदास जी की शिष्या हुईं। उनके जीवन का विशेष वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। हां, उनकी समाधि-छत्री जो वृन्दावन में वनी हुई है, उससे उनके सम्प्रदाय और परलोक-गमन का संवत् निश्चित होता है। इनका परधाम-गमन सं० १८२२ आषाढ़ शुक्ला १५ बुधवार है। इनकी समाधि पर इनका रचा हुआ यह छन्द लिखा है :—

श्री विहारिनि विहारी ललितादिक हरिदास।
नरहरि रसिकन की कृपा दियौ वृन्दावन वास।
श्री रसिक दास गुरु की कृपा लहमा भर सत्संग।
विष्णुहि वृन्दावन मिल्यौ भक्त विहार अनंग।
रसिकविहारी सांवरी व्रजनागरि सुरकाज।
इन पद-पंकज माधुरी सेवत विष्णु समाज।

इन्होंने अपने निर्मित पदों में अपने इष्ट श्री रसिकविहारी की ही छाप रखी है, इसका उल्लेख 'नागर समुच्चय' में ही मिल जाता है—

वनी विहारिन रस-सनी निकट विहारी लाल।
पान कियौ इनि दृगनि तैं अनुपम रूप रसाल।
तहँ पद गाये औसर संजोग।
विच रसिक विहारी जी के भोग।[2]

हम कह चुके हैं कि रसिकदास जी के पदों में हमें स्वामी हरिदास जी की विशुद्ध निकुंज भावना के स्थान पर व्रज का ही रूप अधिक मिलता है।

---

[1] श्री रसिकदास जी के पद सं० २।

[2] नागर-समुच्चय, संपादक कवीश्वर जयलाल, भूमिका, पृ० २०, २१।

वनीठनी जी में भी व्रजभाव का प्राधान्य है। इनके संयोग श्रृङ्गार के पद सुंदर हैं—

कुञ्ज-महल में आज रंग होरी हो।
फाग खेल में वनावनी की ह्वै रही पट गठजोरी हो।
मुदित ह्वै नारि गुलाल उडावै, गावैं गारि दुहूँ ओरी हो।
दूलह 'रसिकविहारी' सुंदर, दुलहिनि नवल किसोरी हो।[1]

इनकी भाषा में राजस्थानी रंग साफ दिखाई देता है, परन्तु भाव सुन्दर हैं।

श्रीपीताम्बरदास जी और किशोरदास जी

रसिकदास जी ने अपने ज्येष्ठ शिष्य ललितकिशोरी दास को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा परन्तु ललितकिशोरी ने गुरु-आज्ञा न मानी। गुरु की उपासना-दृष्टि में उन्हें मौलिक मतभेद दिखाई दे रहा था। दूसरे शिष्य गोविन्ददास ने भी वह गद्दी अस्वीकृत कर दी। अन्त में उन्होंने पीताम्बरदास से रसिकविहारी के स्थान की गद्दी संभालने के लिये कहा। ये तत्काल प्रस्तुत हो गये।

'निजमत-सिद्धान्त' में इन्हें नारनौल (शाहजहांपुर) के चौबेलाल गौड़ का पुत्र बताया गया है। इनका पूर्व नाम प्रयागदास था। मनोहरदास वैश्य के मध्यम से ये रसिकदास जी के संपर्क में आये और उनके शिष्य हो गये।[2]

निजमत-सिद्धान्तकार किशोरदास इन्हीं पीताम्बरदास जी के शिष्य थे। सं० १७९१ में ये पीताम्बरदास जी के शिष्य हुए। यह बात स्पष्ट है कि रसिकदास जी की प्रवृत्ति उपासना की ओर न होकर झगड़े-झंझटों की ओर अधिक थी। पीताम्बरदास जी का भी ध्यान इसी ओर अधिक था, साथ ही उन्हें एक सुयोग्य शिष्य भी मिल गया। सवाई जयसिंह ने इन्हें इनके कार्यों के लिये दण्ड देना चाहा, तभी अपने सम्प्रदाय को स्थिर करने के लिये इन्होंने उसे निम्बार्क सम्प्रदाय में मिला दिया। पीताम्बरदास जी ने नई गुरु-परम्परा लिखी। सबसे पहली प्रमाणित रीति से लिखी गई यही गुरु-परंपरा प्राप्त होती है। इनसे पहिले रसिकदास और नरहरिदास जी गुरु-परंपराएं संदिग्ध हैं और उनसे

---

[1] नागर-समुच्चय से संकलित रसिकविहारी के पद सं० १६ पृ० ६०३।

[2] जीवन-परिचय के लिये देखिये निजमत-सिद्धान्त, अवसान खंड, पृ० १३४ से १६६।

पूर्व के सभी महानुभावों ने अपने संप्रदाय को आसुधीर जी तक सीमित रखा है। किसी ने निम्वार्क संप्रदाय का नाम तक न लिया था।

महंत किशोरदास जी अपने गुरु से दो पग आगे बढ़ गये और अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर निम्वार्क संप्रदाय से संवन्धित विशाल साहित्य की रचना कर डाली। केवल सम्प्रदाय की बात को सिद्ध करने तथा गोस्वामियों के अधिकार को समाप्त करने के लिये उस समय झगड़े भी हुए और निजमत-सिद्धान्त जैसे ग्रंथों की रचना भी हुई। अस्तु।

पीताम्वरदास की की रचनाओं में केलिमाल की टीका, समय-प्रवन्ध, गुरु परम्परानामावली, गुरु-मंगल, सिद्धान्त और रस की साखी, सिद्धान्त और रस के पद, मांझ और वधाई प्राप्त होती हैं। हमारे पास इनकी इन समस्त रचनाओं का संग्रह है, जिस पर 'श्रीपीताम्वर देव जी की वाणी' लिखा है। इनकी वाणी का कोई अंश अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित नहीं किया गया है।

पीताम्वरदास जी की रचनायें भी ,वहुत प्रौढ़ नहीं हैं। पिछली पीढ़ियों, जैसा भाव या जड़ाव इनकी कविता में नहीं है। पता नहीं कैसे श्री गोपालदत्त जी ने लिखा है कि इनके कुछ पद वहुत ही सुन्दर वन पड़े हैं। प्रायः सभी पद साधारण कोटि के हैं उदाहरणार्थ केवल एक ही पद यहां उद्धृत है।

मन मेरौ लपेटें लपेट्यौ।
रुचिर संभारि सीस पर बांध्यौ, नगन-जटित सिरपेंच दपेट्यौ।
आंवरे वावरे पेच दये द्वै तापर कलङ्गी तुर्रा चपेट्यौ॥
'पीताम्वर' दर्पन लै सम्मुख, निरषत ही मेरौ प्रान झपेट्यौ॥[1]

महन्त किशोरदास जी की रचनाएँ परिमाण में वहुत हैं। इनकी प्रमुख कृतियाँ अभी तक केवल निजमत-सिद्धान्त ही प्रकाश में थी। अभी हाल में निम्वार्क-शोध-मण्डल वृन्दावन से सिद्धान्त-रत्नाकर में इनके कई ग्रन्थ प्रकाशित किये गये हैं। श्रीगोविन्द शर्मा ने भूमिका में लिखा है···"सिद्धान्त सार-संग्रह, सिद्धान्त-सरोवर, अद्भुत-आनन्द-सत, उपदेश-आनंद-सत, सवैया-पचीसी, स्वामी श्री विहारिनदास जू को चरित्र, स्वामी श्री आसुधीर जू कौ चरित्र तथा अन्य फुटकर कवित्तों के रचयिता श्रीकिशोरदास जी हैं। श्रीकिशोरदासजी की

---

[1] पीताम्वरदास जी की वाणी, लेखक के निजी संग्रह से।

रचनाओं के प्रकाशन-हेतु ही इस समस्त संकलन का आयोजन हुआ है।"[1] इन सभी ग्रन्थों की प्राचीन प्रतियाँ देखने से ही इनकी प्रामाणिकता पर विचार किया जा सकता है, परन्तु क्योंकि वे ग्रन्थ दुर्लभ हैं, अतः प्रकाशित रूप में उन्हें संप्रति किशोरदासजी की रचनाएं ही स्वीकार कर लिया जाता है।

जहाँ तक निजमत-सिद्धान्त का सम्बन्ध है, उसकी विषय-वस्तु की अनेक बार चर्चा की जा चुकी है। अन्य चरित्र-ग्रन्थों में भी कोई नवीन बात नहीं है। जहाँ तक सिद्धान्त और रस के पदों का सम्बन्ध है, वे अवश्य ही विचारणीय हैं और महत्त्वपूर्ण भी हैं।

निजमत-सिद्धान्त को यदि हम काव्य की दृष्टि से परखें तो एक परंपरा-काव्य के रूप में उसमें अनेक त्रुटियाँ हैं। जहाँ तक अभिव्यक्ति का प्रश्न है, निजमत के अनेक स्थलों के अर्थ ही भाषा के बेढंगेपन के कारण नहीं लगते। काव्य में ओज, माधुर्य अथवा प्रसाद गुण इनमें से कोई भी नहीं है। हम उसे काव्य न कह कर 'पद्य' ही कहेंगें। यदि यह इतिहास-ग्रन्थ गद्य में लिखा गया होता तो अधिक उपादेय बन जाता।

वास्तव में भाव का क्षेत्र है 'रस-सम्बन्धी-रचनाएं'। उनके सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थ भी हमारे सखीभाव-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं, पर 'भाव' की क्रीड़ाभूमि और कवि का हृदय-चमत्कार रस के पदों में ही मिल सकता था। दुर्भाग्य से 'रस के पदों' का ही संकलन इस 'रत्नाकर' में नहीं है।

सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थों में भी कवि का कौशल देखा जा सकता है। प्रथम तो यह कि इतने विशाल साहित्य का रचयिता निश्चित रूप से कल्पना का धनी होगा, निजमत-सिद्धान्त में उसका विचारक रूप सामने नहीं आसका है, वहाँ वह झगड़ों में उलझा रह गया है, परन्तु इन सिद्धान्त के पदों में सखीभाव के सिद्धान्तों को कवि समझता है, ऐसा जान पड़ता है।

यद्यपि रसिकदासजी के समय से सखीभाव की विशुद्ध भावभूमि लुप्त हो रही थी परन्तु उनके शिष्य ललितकिशोरीजी ने उस तत्त्व को पुनः हृदयंगम करने का यत्न किया था। महंत किशोरदास ने उनके पास से सम्भव है, कुछ सीखा हो। परन्तु उनके सिद्धान्त-प्रतिपादन में भी सर्वत्र एक उग्रता और निम्बार्क-सम्प्रदाय के प्रति अतिरिक्त आग्रह दिखाई देता है। अद्भुत आनन्द सत में "निंबारक संप्रदाय स्वामी हरिदास जू की, सनि है

---

[1] सिद्धांत-रत्नाकर, भूमिका, पृ० ४०

किसोरदास नित्य केलि गाइये" पंक्ति को सभी सवैयों में दुहराया गया है, जो हलका प्रचारमात्र जान पड़ता है।

इनकी रचनाओं से दो-एक उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

दास किसोर उपास रस, नित्य विहार प्रकास।
प्रगट करन हित उदित वपु श्री स्वामी हरिदास॥

(सिद्धान्तसरोवर…८८५)

ईश्वर अच्छर सार सुख, गोपिन मध्य विलास।
किशोरदास इन कै परै, नित्य विहार उपास॥

(सिद्धान्तसरोवर…९७८)

स्यंघ चलत निज चाल स्वान करि सोर कूं।
समुझत नाहिंन विमुप आपने जोर कूं॥
जैसे सन्त निहारि धरत पल रोस कूं।
हरि हाँ, दास किशोर न भयौ लिये जग जोस कूं॥

(उपदेस आनन्दसत १८)

प्रेम रूप दंपती परसपर केलहीं।
चोज प्रेम भरि भोज वचन वद पेलहीं॥
प्रेम वसन भूपन अद्भुत तन धारहीं।
हरि हाँ, दास किशोर सपी कर चिकुर संवारहीं॥

(उपदेस आनन्दसत ३९)

यहाँ उनके काव्य के सम्बन्ध में अधिक न कह कर इतना कहना पर्याप्त है कि कवि की भापा-शैली बहुत प्रौढ़ नहीं है। शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने में उसे बिलकुल झिझक नहीं 'सिंघ को स्यंघ, परम को पर्म, मरम को मर्म, सरनि को सर्नि, सिन्धु को स्यंध, वक को वुग, द्रव्य को दर्व्वि आदि भापा-रूप कवीर के युग के समान ही हैं किशोरदासजी का युग तो रीतिकाल था, ब्रज-भापा का भापा की दृष्टि से उत्कृष्ट काल। एक बात अवश्य महत्वपूर्ण है। सिद्धान्त-रत्नाकर की भूमिका में बताया गया है कि इन ग्रन्थों की प्राप्त प्रतियाँ किशोरदासजी के ही हाथ की हैं। अतः रचनाओं से उस समय की ध्वनियों के उच्चारण का विशेप रूप से अध्ययन हो सकेगा।

श्रीललितकिशोरीदास जी

ललितकिशोरीदास जी का व्यक्तित्व इस सम्प्रदाय में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। ललित-प्रकाश के अनुसार अपने "गुरु द्वारा बताये" 'ब्रज-रस' से

संतुष्ट न होकर, उन्हें भी छोड़कर ये पुलिनों में चले आये। बाद में प्राचीन आचार्यों की वाणी से विचार कर इन्होंने स्वामी हरिदासजी के सखीभाव को; नित्य विहार-रस को ग्रहण किया।[1]

'ललितप्रकाश' के अनुसार एक घटना यह भी है कि बादशाह मुहम्मदशाह ने इनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की, क्योंकि पूर्वजों के चित्र देखते समय उसने तानसेन और अकबर के सामने बैठे स्वामी हरिदासजी का चित्र देखा था। उन्हीं के वंश के होने के कारण बादशाह की ऐसी इच्छा हुई। परन्तु ललितकिशोरीजी ने न तो दिल्ली जाना, न उससे मिलना ही स्वीकार किया। तब, मुहम्मदशाह ने इनका एक चित्र बनवा कर ही संतोष किया।[2]

ललितकिशोरीजी का महत्त्व इसलिये भी है कि इन्होंने अपने गुरु से अलग हो निजी स्थान बनाया, जिसे इनके शिष्य ललितमोहिनीदास जी ने खूब चमकाया। यही स्थान टट्टी-स्थान कहलाता है। यह सखी सम्प्रदाय की शाखामात्र है, कुछ लोगों ने भ्रमवश स्वामी हरिदासजी को टट्टी-संप्रदाय का प्रवर्तक लिखा है, जो ठीक नहीं है।

ललितकिशोरीदास जी प्रायः बाहर घूमते रहते थे, श्रीसहचरिचरण जी के अनुसार ९० वर्ष की अवस्था में सं० १८२३ में इन्होंने निकुञ्ज-प्रवेश किया।

साहित्य

श्रीललितकिशोरीदासजी की रचनाएं अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित की गई हैं। इस संकलन में उनकी ३२८ साखियाँ, ४ कवित्त-सवैये, १०७ सिद्धान्त के पद, १०८ रस के पद तथा ४ बधाइयाँ हैं। इनके अतिरिक्त भी इनकी रचनायें मिलती हैं। डॉ० गोपालदत्त के अनुसार इनके "कुल मिला कर १२०० साखियाँ, ५० रस की चौपाइयाँ १३० सिद्धान्त के पद, १४७ रस के पद तथा २५ बधाई के पद हैं।" वचनिका-सिद्धान्त इन्हीं के उपदेशों का संग्रह बताया जाता है।

श्रीललितकिशोरीदासजी का काव्य उत्कृष्ट कोटि का है। इनकी रचनाओं में केवल सिद्धान्त की कोरी समझ ही नहीं, उपासना की अनुभूति और तीव्रता भी ज्ञात होती है। एक प्रकार से उखड़े हुए सम्प्रदाय की परम्परा को

---

[1] ललितप्रकाश, उत्तरार्ध सहचरिशरण, पृ० ७२, ७४

[2] ललितप्रकाश, उत्तरार्ध सहचरिशरण, पृ० ७२, ७४

विरक्तों के बीच पुनः जमाने का कार्य इन्होंने किया और विपुल साहित्य की रचना की। ये प्रायः सांप्रदायिक आग्रह में भी नहीं पड़े और अपने सखी-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर ही आस्था रखे रहे।

इनकी रचनाओं में स्वामी हरिदास जी एवं अन्य पूर्व पुरुषों के प्रति अनन्य निष्ठा का भाव छिपा हुआ है। इसी निष्ठा के बल से ये उस छिपे हुए सत्य को पहिचान सके थे। अपनी साखियों में इन्होंने सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों को समेटा है साधारण 'उपदेश और भक्ति, भक्त के लक्षणादि के अतिरिक्त 'रस-रीति' का सांगोपांग विवरण भी इन्होंने अपनी साखियों में प्रस्तुत किया है। श्रीराधा और लाल की प्रेम-प्रकृति का स्वरूप समझाते हुए ये कहते हैं :—

गर्व-सिरोमनि लाड़िली, दीन-सिरोमनि लाल।
ललित-प्रिये अंग-संग सदा, छिन-छिन करति निहाल॥
(साखी ११९)

विशुद्ध प्रेम की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है :—

बिछुरन मिलन जहाँ रहै सुध्ध प्रेम नहिं होइ।
मिलत-मिलत में चाह अति सुध्ध प्रेम है सोइ॥ (साखी ३०२)

स्पष्ट है कि विचारों की स्पष्टता के कारण साखी में पूर्ण प्रसाद गुण है और अभिव्यक्ति बहुत ही सुन्दर और सरल है।

रस के पदों में भी इनकी दृष्टि पूर्णतया 'रस' पर रही है। समस्त उपास्य-तत्त्व इन्हें रस के रूप में ही दिखाई देता है—

रस मैं रस पीयैं कुञ्जविहारी।
रस की बात घात पुनि रस की, रस ही सों रस-दृष्टि निहारी।

रस की प्रीति रीति सब रस की, रस की उमगनि सहज हियारी॥
रस की सखी रसिक हरिदासी, रस भयौ 'ललित' प्रिये उरहारी।

सरस, स्वाभाविक, प्रसन्न और माधुर्यपूर्ण अभिव्यक्ति-कर्ता के नाते भी ललितकिशोरी जी का स्थान इस सम्प्रदाय के काव्यक्षेत्र में अत्युच्च है।

श्रीललितमोहनीदास जी

श्री ललितमोहनीदास जी श्री ललितकिशोरीदास जी के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु के स्थान को प्रतिष्ठित करने में अपना अधिकाधिक समय लगाया। सम्प्रदाय को संगठित कर इन्होंने निधिवन को प्राप्त करने की इच्छा

से गोस्वामियों से लड़ाई-झगड़ा ठाना। झगड़े का संवत् १८४२ है, ऐसा श्री चक्रजी ने केलिमाल की भूमिका में लिखा है।[1] इस झगड़े का फैसला तत्कालीन सिंधिया के किसी बड़े कर्मचारी ने किया था, जिसमें दोषी पाकर मोहनीदास को वृन्दावन से वाहर निकल जोने का आदेश दिया गया था।[2] ललितमोहनीदासजी का अधिकांश समय इन्हीं झगड़ों में बीता। हमारे वाणी-संग्रह में उनकी ११ साखियाँ और केवल ४ पद ही हैं। उदाहरण के लिये एक पद निम्नलिखित है :—

विहारी तेरे नैना रूप भरे।
निरपि निरषि प्यारी राधे कौं, अनत न कहूँ टरे।
सुप कौ सार समूह किशोरी, उमंगि-उमंगि अंकौ भरे॥
'ललितमोहनी' की निजु जीवनि उर सों उरज अरे[3]।

श्रीभगवतरसिक जी

भगवतरसिक जी के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएं 'वृन्दावन धामानुरागावली' से प्राप्त होती हैं। साम्प्रदायिक क्षेत्रों में इनके सम्बन्ध में वहुत कम लिखा गया है, यद्यपि मौखिक चर्चा वहुत मिलती है।

'वृन्दावनधामानुरागावली' के अनुसार भगवतरसिक और प्राणप्यारे दोनों वृन्दावन आये। स्वामी जी की वाणी के ये प्रेमी थे। यहाँ से स्वामी हरिदासजी की वाणी लेकर ये पुनः छत्रपुर लौट गये और उसके मनन से प्रभावित हो अपनी लाखों की संपत्ति का परित्यान कर दिया। बड़े भाव सहित, विरक्त होकर ये वृन्दावन आगये। यहाँ ये मोहनीदास की शरण में आये। ये बड़े धीर, गम्भीर, उदार, 'धरम-धुर' और तेजस्वी थे, नित्यविहार का अनुभव कर ये रसिक कहाये।[4]

भगवतरसिक जी का जन्म सं० १७९५ मिलता है। मिश्रबन्धु-विनोद में इनका रचना-काल सं० १६२७ लिखा है, जो किसी भी प्रकार ठीक नहीं है।[5] इनका रचना-काल निजमत-सिद्धान्त की रचना का लगभग समकालीन

---

[1] केलिमाल, श्री सुदर्शनसिंह चक्र, पृ० ३९

[2] यह कागज वृन्दावन में गो० छबीलेवल्लभ जी के पास सुरक्षित है।

[3] ललितमोहनी दास की वाणी पद सं० ४

[4] वृंदावनधामानुरागावली, टट्टी-स्थान का वर्णन

[5] मिश्रवंधु-विनोद, भाग १ पृ० ४८

है। कहते हैं भगवतरसिक जी इस सम्प्रदाय में प्रविष्ट तो हो गये पर यहाँ के महात्माओं की झगड़े-झंझटों में प्रवृत्ति देखकर ये बड़े क्षुब्ध हुए। इन्होंने अपने गुरु का भी विरोध किया, जो ऐसी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दे रहे थे। ये स्वामी जी के रस के सच्चे अनुभवी महात्मा थे अतः इन्होंने गुरु के स्थान को छोड़ना स्वीकार किया, झगड़ों में पड़ना नहीं। भगवतरसिक जी, ज्ञात होता है, निजमत सिद्धान्तादि जैसे सांप्रदायिक प्रचार के वातावरण को पसंद नहीं करते थे। उन्हें निजमत का सम्प्रदाय-परिवर्तन कभी उचित न जान पड़ा। इसीलिये जहाँ मंहत किशोरदास सौ-सौ बार निम्बार्क सम्प्रदाय का नाम लेते हैं, उसके द्वैताद्वैत को सर्वोपरि बताते हैं, वहीं उनके समकालीन, निर्द्वंद महात्मा भगवतरसिक स्पष्ट शब्दों में उसका विरोध करते हैं :—

> नाहीं द्वैताद्वैत हरि नहीं विशिष्टाद्वैत।
> बँधे नहीं मतवाद में ईश्वर इच्छाद्वैत॥[1]

द्वैताद्वैतवाद निम्बार्क सम्प्रदाय का मान्य सिद्धान्त है, जिसका खण्डन भगवतरसिक जी ने स्पष्टरूप से सर्वप्रथम किया है। अपनी इसी स्वच्छन्द प्रकृति के कारण तत्कालीन महन्तों ने उनसे भय माना और उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट दिये। दुःखी होकर भगवतरसिक जी अपने-अनेक शिष्यों के साथ वृन्दावन छोड़ गये और भ्रमण करते हुए प्रयाग चले गये।

इनके शिष्य विहारीवल्लभ ने 'भगवतरसिक नाम-प्रताप' में बताया है कि प्रयाग में ही इन्होंने अपना शरीर छोड़ा। वहाँ इनका अब तक एक स्थान माना जाता है। सांप्रदायिक चक्रों में सम्मिलित न होने के कारण ही भगवतरसिकजी का विरोध हुआ और उनके चरित्र की उपेक्षा की गई अथवा तोड़-मरोड़ कर लिखा गया परन्तु भगवतरसिकजी की वाणी जो सूर्य के समान प्रखर और तेजस्वी भावमयी थी, उसकी कोई उपेक्षा न कर सकता था। वास्तव में विहारिनदासजी के पश्चात् भगवतरसिक ही ऐसे महात्मा हुए, जिन्होंने नित्यविहार को ठीक रूप में समझा। इनकी वाणी एक प्रकार से नित्यविहार का भाष्य कही जा सकती है।

इनके लिखे ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :—अनन्यनिश्चयात्मक, श्रीनित्य-विहार युगल ध्यान, अनन्य रसिकाभरण, निश्चयात्म ग्रन्थ उत्तरार्ध, निर्विरोध मनरंजन। वास्तव में ये ग्रंथ उनकी वाणी के बहुत छोटे-छोटे भाग हैं। अनन्य-

---

[1] अनंन्यनिश्चयात्म ग्रंथ, भगवतरसिक जी पृ० ८३

निश्चयात्म ग्रन्थ वृन्दावन से दो वार प्रकाशित भी हो चुका है। इस ग्रन्थ के उद्धरणों का उपयोग हमने प्रचुरता से सिद्धान्त-पच्च में किया है।

श्रीभगवतरसिकजी की रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट हैं। सर्वप्रथम तो इन्होंने जिस विपय को लिया है, उसके सम्बन्ध में इनकी अभिव्यक्ति बहुत ही स्पष्ट है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण और दृष्टान्तों का ये बहुत प्रयोग करते हैं, इससे इनका विपय और भी सरल हो जाता है, देखिये :—

जो जानै मानैं सोई, मानै क्यों विन जान।
पीर प्रसूती की कहा जानै वांझ अजान॥
जानैं वांझ अजान, नपुंसक रति-सुख नाहीं।
ऐसे हि नीरस पुरुप कहा समझै रस माहीं॥
भगवत नित्यविहार रसिक अनुभव उर आनै।
गूढ़ वात नभ जाति जात वरही जो जानै॥

(अनन्य निश्चयात्म पृ० ४१)

इनका एक रस का पद भी भाव और भापा की दृष्टि से देखने योग्य है।

आज तो छबीली राधे रस-भरी डोलही।
सांवरे पिया के संग, भीजी है मदन रंग,
मोद की उमंग अंग गुन गथ खोलही।
जैसे दामिनि घन माहीं, ऐसे भामिनी तनु माहीं,
लखि अपनी परछाही हंसि-हंसि वोलही।
भगवत लालविहारी, पाई है कहा वर नारी,
गुण रूप वैस हमारी करत कलोल ही।

भगवतरसिक जी भापा अत्यन्त प्रौढ़ और परिष्कृत है। उनकी भापा मुहावरेदार है, लोकोक्तियां उसमें भरी पड़ी हैं :

'चलनी में गैया दुहैं दोप दई को देहिं' 'अनहोनी नहि होय कछु होनी मिटे न कोय' इत्यादि छन्द मुहावरे और लोकोक्तियों की दृष्टि से विशेष द्रष्टव्य हैं। भगवतरतिक जी को शब्द-शक्तियों की बड़ी परख थी। अलङ्कारों ने स्वाभाविक रीति से इनके काव्य का अनुगमन किया हैं। इनके सिद्धान्त के पदों में ओज गुण, रस के पदों में माधुर्य और इन सबमें प्रसाद गुण सर्वत्र हैं। छन्द की दृष्टि से ये उनके सफल प्रयोक्ता हैं। दोहा, कुण्डलिया, सवैया, कवित्त, मांझ, रेखता, अरिल्ल, अष्टपदी, छप्पय,

चौबोला, तथा विभिन्न शैलियों के पद इन्होंने इन सबका प्रयोग किया है और कहीं भी इनके छन्द उतरे नहीं है। भगवतरसिक जी सखी-संप्रदाय के मूर्द्धन्य कवियों में अपना स्थान रखते हैं।

चरणदास जी

श्रीचरणदास का विस्तृत जीवन-परिचय प्राप्त नहीं होता। इनके रचे ४ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इतना ज्ञात होता है कि ये रसिकदासजी के शिष्य थे जैसा शिक्षाप्रकाश के मंगलाचरण में इन्होंने लिखा है :—

श्रीरसिकदेव रसिकन मुकुट श्रीस्वामी सिरताज।
रसिक अनन्यता रीझि कछु वरनत हौं महाराज॥

इस ग्रंथ का लिपि-काल सं० १८३६ है। शिक्षाप्रकाश के अतिरिक्त इनके भक्तिमाला, रहस्यदर्पण और रहस्यचन्द्रिका ग्रन्थ भी प्राप्त हैं। इनमें रहस्यदर्पण की रचना-तिथि सं० १८१२ ग्रन्थ में दी हुई है और रहस्यचन्द्रिका की तिथि १८१८ सं० है।

श्री हरिदासजी की कृपा विना नित्यविहार की प्राप्ति नहीं होती ऐसा चरणदासजी का विश्वास है :—

रामकृष्ण के, विष्णु के, भक्तन कौ नहिं पार।
पै हरिदासी कृपा विनु लहै न नित्यविहार॥
(रहस्यचन्द्रिका)

इन्होंने अपनी सखीभाव की साधना के सम्बन्ध में भी स्पष्ट ही लिखा है।

श्री ललिता हरिदास नित सहचरि कुञ्जनि केलि।
तिनकी कृपा मनाय कहूँ, कछु दंपति रस-केलि॥
कछु दंपति रस केलि, कहत हौं वर विहार की।
विहरत कुसुमित कुञ्ज सेव्य नित कोटि मार की॥
तहाँ अखंडित वहत, प्रेम पूरित सुख-सरिता।
नेह-नाव-खेवक-प्रवीन हरिदासी ललिता॥

श्रीचरणदासजी की कविता प्रवाहपूर्ण और सुन्दर है। इनका उल्लेख खोज-रिपोर्ट, प्रकाशित १९२४ में भी सं० ३७ पृ० ५१ पर हुआ है। इनके सम्बन्ध में लिखा गया है कि इनके चार में से तीन ग्रन्थ १७५३ से १७६१

ई० के बीच लिखे गये। बाई इन्दुकुँवरि और बाई श्यामादासी के लिये इन्होंने ये ग्रन्थ लिखे थे।

शीतलदास जी

शीतलदास टट्टी-स्थान के महंत ठाकुरदास के शिष्य माने जाते हैं अतः इनका समय १९ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है। इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं होता। इनकी रचनाओं के नाम हैं—गुलजार-चमन, आनन्दचमन और बिहारचमन। ये तीनों रचनाएँ छोटी-छोटी हैं। शीतलदासजी की रचनाएँ ख्याल के ढंग पर हुई हैं, अतः उन्होंने उर्दू के ही शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। हिन्दी-उर्दू का यह विलक्षण मेल भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वैसे शीतलदास मँजे हुए कवि थे। इनका एक छन्द उद्धृत किया जाता है :—

जानी इन गुलरुखसारों पर, शबनम का जड़ा पसीना है।
या लाल बदख्शां पर दिलबर, इलमासी जड़ा नगीना है॥
समझे यह राज वही जालिम, जो इश्क दरद में बीना है।
हिमकर पर अफशा जड़े हुए, या किया जौहरी मीना है॥

सहचरिशरण जी

ये राधाशरणदेव के शिष्य थे। सं० १८७८ से १८९४ तक ये स्वयं भी टट्टी-स्थान के महंत रहे। इनकी रचनाओं के नाम हैं :—

ललित-प्रकाश, गुरु-प्रणालिका, आचार्योत्सव-सूचनिका, सरस-मञ्जावली, नख-शिख-ध्यान और वचनिका-सिद्धान्त।

इन ग्रन्थों में कुछ तो परम्परा का यश-गायन करते हैं और कुछ नित्य-विहार-कीर्तन। कवित्व की दृष्टि से इनका काव्य अवश्य ही उत्कृष्ट माना जाना चाहिये। इनके भाव सुकोमल, भाषा सर्वत्र गठी हुई, प्रसाद एवं माधुर्य गुणयुक्त है। सरसमंजावली में भाषा-दृष्टि से ये शीतलदास जी के अनुयायी हैं।

सरसमंजावली के सम्बन्ध में लिखा इनका एक कवित्त उद्धृत कर रहे हैं :—

मृदु मकरन्द राग आनन्द पराग मित्र
विमल विराग रति परिमल धीर है।

अरथ अमोल मुकताली त्यों कलोल भाव
सुवरन घाट सो अतोल छवि नीर है ॥
रसिक रसाल मन मधुप मरालन की
मीनधी विसालन की तामें अति भीर है ।
सरसमञ्जावली को कियौ है तिलक मंजु
मानहुं कञ्जावली को मानस गम्भीर है ॥

श्रीरूपसखी जी

रूपसखी जी की वाणी का एक भाग 'सिद्धान्त-रत्नाकर' में प्रकाशित किया गया है। इसकी भूमिका में बताया गया है कि ये रसिकदास जी के शिष्य थे। सिद्धान्त के पदों के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित रस के लगभग ८०० पद तथा १०० कवित्त-सवैया भी प्राप्त होते हैं, जिनका प्रतिलिपि-काल सं० १८०९ है।

सिद्धांत रत्नाकर में रूपसखी जी की साखियाँ और पद उद्धृत हैं, उनसे ज्ञात होता है कि ये स्वामी हरिदास जी की उपासना-शैली में अनन्य निष्ठा रखते थे तथा उस रस-रीति के भेदोपभेदों का भी इनको ज्ञान था। स्वामी जी के प्रति उनकी निष्ठा को व्यक्त करने वाला एक पद देखिये :—

घन तें लसति नीलमनि तन दुति अति अद्भुत कल सोभा छवी ।
झल-मलात मुप दृग स्नुति कुण्डल ललित पाग पर कलगी फवी ॥
मनमथ रति दंपति पर वारौं, कमल चन्द सुन्दरता रवी ।
श्री स्वामी हरिदास रसिकवर कौ डंका वज्यो, औरनि की डुगडुगी दवी ॥

गोस्वामी वैन जी

एक ओर सखीभाव सम्बन्धी साहित्य की रचना विरक्त शिष्यगण कर रहे थे दूसरी ओर स्वामी जी के वंशज गोस्वामीगण भी इस साधना में लीन थे। वृन्दावनधामानुरागावली से ज्ञात होता है कि इस वंश में बड़े-बड़े दैवी अवतार हुए हैं :—

स्वामी जू के वंश में अनेक अवतार भये
आज तोली हैं ही और हौंहिगे धरन तें ।
कहत गुपाल भगवत अवतारन तें,
भरयौ भयौ है बंस सर्वोपरि नरन तें ॥

नाना परवार दैवी इनके चरित्र सव,
कहत सुनत अवलोकन करन ते ।
जेते जग जन ब्रज अभिलाषी वहु,
कृतारथ भए हैं ते इनकी सरन तें ॥

इस वंश में अनेक पण्डित, विद्वान् और सुकवि हुए। कथा-वार्ताओं द्वारा स्वामी जी की रसरीति का प्रचार करना इस वंश का कार्य रहा। प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण इस परम्परा के अनेक संस्कृत के ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। भाषा में रचना कम हुई है। जिन्होंने भाषा में रचना की भी उनकी रचनाएँ अव प्रायः अप्राप्त हो गई हैं। गुपाल कवि ने गो० रसिकारसिक, गो० जयकिशोर आदि की कविता के सम्वन्ध में लिखा है परन्तु खेद है कि अव ये सभी रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं। गोस्वामी वैन इसी वंश के रत्न थे। उन्होंने भाषा में रचना की, जो वहुत सुन्दर है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह हमारे पास भी है और एक संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में सुरचित है। उससे इनका रचनाकाल सं० १८७९ जान पड़ता है।

गोस्वामी वैन की रचनाएँ—वधाइयाँ उद्धृत की जा चुकी हैं। यहाँ एक रस का पद देना ही पर्याप्त है—

निरतत कुंजविहारी सघन वन वृंदावन की कुञ्जन ।
थेई-थेई करत राधिका रानी संग सखियन के पुञ्जन ॥
ताल मृदंग वीन सुर भेद जनावत सवही के मनरञ्जन ।
श्री सुकुमार उदार वैन के स्वामी स्यामा चितवत कोर
द्रगनि की पञ्जन ।[1]

गोस्वामी नवनागरीदास जी

इनका परिचय श्रीगोपालदत्त जी ने भी दिया है। इनका एक विशाल संस्कृत-ग्रन्थ 'प्रभावती-परिणय' है। संगीत-विन्दु में इनके कुछ पदों का संग्रह है, जो सं० १९९४ में प्रकाशित हो चुका है। अन्योक्ति विन्दु और रस-विन्दु भी इनकी प्रौढ़ रचनाएँ हैं।[2] संगीत-विन्दु का एक पद उद्धृत किया जा रहा है :—

---

[1] लेखक के पास सुरक्षित हस्तलिखित प्रति से ।

[2] ये सभी रचनाएँ लेखक के संग्रह में हैं ।

रसिक नहीं प्रगटैं जो हरिदास ।
तौ अनन्य पथ जुगल उपासन को करतौ परकास ।
शंभु विधि सनकादिक जाकौ,
कर कर जतन अनेक थकित भये लखि न सकत ताकौं ।
निगम जाकों नेत-नेत गावैं ।
सोई स्वरूप श्रीकुञ्जविहारी दरसन को पावैं ।
प्यास कैसे कै नैनन की,
विन देखै छवि कुञ्जविहारी मिटती रसिकनि की ।
जहाँ नहिं पहुँच सकत कोऊ ।
साधन विविध जोग मन बस करि ध्यान धरत जोऊ ।
रमा जहाँ दरसन कौं तरसैं ।
उमा भारती सची करें सब विनती वाहर सैं ।
लीला तिन कुञ्जनि अलबेली ।
विन श्रीललिता कौन दूसरौ वरन सकत केली ।
साधन सब पीठ देइ सेतौ ।
ऐसे पतित दास 'नागर' को शरण कौन लेतौ ।[1]

यह पद राधाष्टमी के दिन अब भी 'चाव' के साथ गाया जाता है ।

गोस्वामी नन्दकिशोर जी

ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके अनेक ग्रंथ आज भी प्राप्त हैं इनके द्वारा रचित "हरिदास-महिमामृत" निजमतसिद्धान्त के साथ तथा अलग भी प्रकाशित हो चुका है। यह रचना सुन्दर है। इनका समय सं० १९१९ है। व्रजभाषा में इन्होंने प्रेमपचीसी, वारहमासा एवं स्फुट पदों की रचना की है। एक पद उद्धृत है।

आजु भयौ मेघन को अति सोर ।
गरजि-गरजि उनये अलि वदरा, कूकत दादुर मोर ।
दै गरबाहीं विहरत लाडिलि, प्रीतम करत निहोर ॥
उघटत ताल उचंग चंग सखि जन जुरि आई अथोर ।
पवन बहुत फहरत पीताम्बर प्यारी कौ पटछोर ॥
'नन्दकिशोर' मधुर धुनि छाई हरसत जुगल किशोर ॥[2]

---

[1] संगीत विन्दु पृ० ७

[2] लेखक के निजी संग्रह में

गोस्वामी केशवदेव जी

इनकी बनाई हरिस्मरण-पद्धति और कुंज-केलिका काव्य दो संस्कृत ग्रंथ हैं। ये आज से दो पीढ़ी पूर्व वर्तमान थे। इनकी भाषा-रचना अप्राप्त है।

गोस्वामी जगदीश जी

ये मथुरा डिस्ट्रिक्ट मैमोअर के लेखक एफ० एस० ग्राउज के समकालीन थे। स्वामी हरिदास जी के संबन्ध में ग्राउज़ को अनेक सूचनाएं इनसे प्राप्त हुई थीं। संस्कृत में 'यमुना-लहरी' इनकी प्रसिद्ध रचना है। कुंजविहारी अष्टक भी उपासना का सुंदर-ग्रंथ है। ये आशु कवि थे। इनकी भाषा-रचना सरल और मार्मिक है।

एक उदाहरण है—

सांवरों सलोंनौं री बांकुरौ विहारी।
झांकी अनौखी री सोभा अति न्यारी॥
लाल औरु प्रिया की छवि पर तृन तोरूं।
आंखिन में भरूँ रूप चित्त नहीं मोरूं॥
रास में विलास प्रिया कुंज केलि करना।
सहचरि 'जगदीश' प्रान-प्यारे जुगल भरना॥[1]

गोस्वामी वंशीधर जी

गोस्वामी वंशीधर जी स्वामी हरिदास जी के भ्रातृवंश में राजभोग-परंपरा में थे। बलदेव कवि ने इनकी उदारता, श्रीविहारी जी की सेवा और वाणी की बड़ी प्रशंसा की है। इनके लगभग दो सौ पद प्राप्त हैं।

उदाहरण।

वृंदावन की कुंज-कुंज में क्रीडत कुंजविहारी।
पुंज-पुंज छवि सोभा सिरजत, मदन-सदन सुखकारी॥
विविध भांति फूलन फूल्यौ री, सेत पीत रतनारी।
परयौ हिंडोरौ लेत उमंहियौं, झुलवति ललिता प्यारी॥
'वंशीधर' ये जुगल ललित छवि कही न जात, महा री।[2]

---

[1] निजी पद-संग्रह से

[2] निजी पद-संग्रह से

गोस्वामी निधिवनदास जी

गो० निधिवनदास जी, व्यावहारिकी नाम नारायण हरि जी, वर्तमान गो० ओंकारनाथ जी के पिता थे। वाणी-रचना में ये बड़े निपुण थे। इनकी वाणी के लगभग ७०० पद प्राप्त हैं। भाषा ललित और भाव आत्मीयता पूर्ण है अतः रचना सरस है।

उदाहरण।

दिये गलाबाहीं दोऊ उठि धाये।
पगे प्रेम गति मन्द मधुर सों नपुर धुनिन बजाये।
पहुंचे जाय निकुञ्ज-सदन में ललिता-ललित विठाये॥
नम्र होई अति चतुर-शिरोमणि कर सों चमर ढुराये।
विजन लिये कोमल निज कर सों 'निधिवनदास' सुखाये॥

... ...

राधा अचल सुहाग दोऊ प्रेम उमगे सुखद।
प्रात होत निशि जागत सुख में सोवत श्रीहरि॥
रहें याम भरि सोय, उठत अबेरी नींद बस।
मानस प्रघट न होय, सेवैं श्रीहरिदास वर॥

गोस्वामी रामनाथ जी शास्त्री

गोस्वामी रामनाथजी शास्त्री संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और व्रजभाषा के सुकवि थे। इनका जन्म सं० १९५८ में हुआ। परिवार में श्रीमद्भागवत के धुरंधर विद्वान् सर्वदा होते रहे थे अतः संस्कृत के प्रति इनका प्रबल अनुराग था। आचार्य परीक्षा पास कर इन्होंने बहुत समय तक कुञ्जविहारी संस्कृत पाठशाला में अध्यापन कार्य किया। तत्पश्चात् ये दिल्ली चले गये जहाँ प्रथम श्रेणी की वक्तृत्व-कला, पांडित्य और आशु-कवित्व के बल पर हरिदासी-उपासना का व्यापक प्रचार किया। इनका देहावसान अल्पायु में ही सं० १९९४ में हो गया। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में विहारी-भजनावली, अपूर्व गुच्छा, गंगालहरी, कुञ्जविहारी-अष्टक तथा अन्य सैकड़ों पद हैं। स्वामी हरिदास जी के जीवन और सिद्धांत के सम्बन्ध में भी इन्होंने एक ग्रन्थ 'कुञ्जविहारी-सर्वस्व' की रचना की थी, जो अमुद्रित ही रहा।

इनकी कविता सुबोध और ललित होती थी।

उदाहरण

निरतत कुञ्जविहारी, सखि री नैन सिरात।
भुज भरि नित्यविहारिनि प्यारी, मन्द-मन्द मुसिकात॥

अलिकुल गुंजत श्रीवृन्दावन, चरन कमल लपटात।
विथकित रतिपति इन्दु, विसुध जमुना जल थकि थहरात॥

ताल-ताल मंजुल कदंब सखि सौंधों सरि सहरात।
'राम' मधुर नूपुर धुनि सुनि सखि मृग-मन बलि-बलि जात॥

गोस्वामी जयविहारी जी

गोस्वामी जयविहारी जी सखी-सम्प्रदाय के आचार्य

श्री गोस्वामी जयविहारी जो हरिदासी सम्प्रदाय के विद्यमान आचार्य हैं। आपका जन्म सं० १९५१ है। ये संस्कृत के विद्वान हैं और श्रीमद्भागवत के अद्वितीय वक्ता हैं। दिल्ली एवं अन्य नगरों में हरिदासी-उपासना का प्रचार किया। पिछले नौ वर्षों से विरक्त होकर ये वृंदावन में ही निवास कर रहे हैं

तथा स्वामी हरिदास जी की तपस्थली निधिवन की नित्य सेवा करते हैं। वर्तमान में ये स्वामी जयविहारिनिदास जी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं की प्रेरणा से निधिवन का वर्तमान जीर्णोद्धार हुआ है। इनका जीवन चमत्कारों से पूर्ण है। नित्यविहार रस के ये अनुभवी महात्मा हैं। श्रीजयविहारिनिदास जी की वाणी प्रसाद गुण-युक्त है।

उदाहरण—

जय जय श्री स्वामी हरिदास।
कुञ्जविहारी रस जस गायौ, कियौ विहार उजास।
सिव सनकादि भेव ना पायौ नारद तुंबरु व्यास॥
गोपिन तें हू दुर्लभ यह रस, पायौ परम प्रकास।
अङ्ग सङ्ग लाल विहारिनि रानी, कुंज महल उल्लास॥
महल बाहिरे निकसि न जाने निधिवन लतनि निवास।
'जयविहारिनी' दास तिहारी निसदिन करत खवास॥

गोस्वामी छबीलेवल्लभ जी

गो० छबीलेवल्लभ जी का जन्म संवत् १९७६ में हुआ। ये हरिदासी-संप्रदाय के विद्वान लेखक थे। इन्होंने शास्त्री, साहित्यरत्न और साहित्यालंकार उपाधियां अर्जित कीं। हरिदासी-उपासना का इनको विशेष ज्ञान था। इनके प्रयत्न से श्रीकेलिमाल और हरिदास-अभिनन्दन ग्रंथ आदि का प्रकाशन हुआ। कुंजविहारी अष्टक, राधिका स्तवराज, रस तरंग आदि इनकी रचनाएँ हैं। ये ब्रजभाषा के सुकवि थे।

उदाहरण—

तजि सब आस करें वृंदावन वास खास,
कुंजनि की सेवा में निसंक चित्त धारे हैं।
जप तप योग यज्ञ संयम समाधि राग,
ज्ञान ध्यान धारण में मन नाहिं धारे हैं॥
देव पितृ भैरव भवानी भूत प्रेत यच्छ,
लोक परलोक तें 'छबीले' भये न्यारे हैं।
एक बात जाने जग दूजी पहिचाने नाहिं,
हम हैं विहारी के, विहारी जो हमारे हैं॥

* * *

तृतीय अध्याय

राधावल्लभ सम्प्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय

राधावल्लभ सम्प्रदाय भी सखीभाव से उपासना करने वाला प्रमुख सम्प्रदाय है। इतना अवश्य है कि स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय की उपासना और इस सम्प्रदाय की उपासना में कुछ मौलिक मतभेद हैं। इन अन्तरों का वर्णन हम विस्तार से पीछे कर चुके हैं यहाँ इतना स्मरण करा देना पर्याप्त है कि हित हरिवंश जी के उपास्य एक ओर नित्य लीलाविहारी हैं, परंतु साथ ही वे जन्मादि धारण कर वृन्दावन में खेलने वाले श्रीकृष्ण हैं जब कि हरिदासी सखी-संप्रदाय में वे अवतारी नित्य विहारी ही हैं। उपास्य की इस भिन्नता से उपासना का तात्त्विक स्तर भिन्न हो जाता है। फिर भी अपने निश्चित क्षेत्र में यह संप्रदाय सखीभाव को ही स्वीकृत करता है।

स्वामी हरिदास जी सं० १५६० के लगभग वृन्दावन आ गये थे। श्रीहित हरिवंश जी ने सं० १५९१ में यहाँ आकर अपना प्रथम पाटोत्सव किया। उस समय विपिन की निकुञ्जों में स्वामी जी का सखीभाव विषयक संगीत गूंजता होगा। निस्संदेह स्वामी हरिदास जी और श्रीहित हरिवंशजी दोनों वृन्दावन में मित्रवत् रहे और दोनों ने सखीभाव का और अधिकाधिक प्रकाश किया। इस प्रकार एक दूसरे से प्रकाश प्रेरणा ग्रहण कर वृन्दावन में दोनों के संप्रदाय चलते रहे।

राधावल्लभ सम्प्रदाय का साहित्य प्रचुर मात्रा में है और इसका अधिकांश सखीभाव से ही सम्बन्ध रखता है। राधावल्लभ संप्रदाय के अध्ययन सम्बन्ध में दो ग्रन्थ भी पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित हुए हैं, जो उनके सिद्धान्तों के साथ उनके साहित्य पर भी प्रकाश डालते हैं। इनमें एक शोध-ग्रन्थ है डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का 'राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' तथा दूसरा ग्रन्थ है, श्रीललिताचरण गोस्वामी का 'श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य' दोनों ग्रन्थ अपने विषय की उत्तम कृतियाँ हैं। डॉ० स्नातक ने साहित्यखंड में संप्रदाय के दस विशिष्ट कवियों का परिचय कराया है, एवं उनके काव्य की समीक्षा प्रस्तुत की है।

श्रीललिताचरण जी ने अपने ग्रन्थ में २२ महात्माओं का परिचय दिया है। इनमें से कुछ परिचय बहुत ही संक्षिप्त हैं। श्रीकिशोरीशरण 'अलि' ने वृन्दावन से 'साहित्य-रत्नावली' नाम से राधावल्लभीय साहित्यकारों की एक लम्बी सूची प्रकाशित की है। इसमें यद्यपि अन्य संप्रदायों के कवि भी सम्मिलित कर लिये गये हैं, यहाँ तक कि स्वामी हरिदास जी आदि भी गिन लिये गये हैं, परन्तु इन सबको निकाल भी दिया जाय तो भी इस सम्प्रदाय के ही सैकड़ों साहित्यकार महात्मा निकलेंगें और उनकी रचित वाणियों की संख्या भी कई सौ में होगी। इनमें से कुछ चुने हुए नाम डॉ० स्नातक ने परिशिष्ट में उल्लिखित किये हैं। इनके अतिरिक्त १० साहित्यकार वे हैं, जिनकी विस्तृत समीक्षा वे स्वयं ग्रन्थ में कर चुके हैं।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के साहित्य-निर्माण का समय-क्षेत्र भी हित हरिवंश जी से लेकर अद्यावधि माना जाना चाहिये। विषय वस्तु के एक ही होने पर भी विभिन्न समय की प्रवृत्तियों के अनुसार वस्तु के प्रति दृष्टिकोण अथवा उसकी अभिव्यञ्जना-शैली में अन्तर आ जाता है। विभिन्न वृत्तियों के विश्लेपण से प्रत्येक साहित्य में कुछ काल-खण्ड निर्धारित किये जाते हैं। पहले साहित्य-रत्नावली की भूमिका में, फिर श्रीललिताचरण जी द्वारा राधावल्लभ सम्प्रदाय के साहिय का काल-विभाजन हुआ है। श्रीललिताचरण जी ने व्यक्तित्व की प्रधानता मान कर इस काल-विभाजन को—

१. श्रीहित हरिवंश-काल सं० १५९० से १६५० तक।
२. श्रीध्रुवदास-काल सं० १६५० से १७७५ तक।
३. श्रीहितरूपलाल-काल सं० १७७५ से १८७५ तक।
४. अर्वाचीन काल सं० १८७५ से............

शीर्षकों से प्रस्तुत किया है। साहित्य का विस्तार से अध्ययन करने में यह विभाजन सम्भवतः सहायक होगा।

हमारा लक्ष्य इस समस्त साहित्य के अंश की समीक्षा और परिचय देना है। एक विशेष स्तर पर सखीभाव मान लेने से इसका अधिकांश हमारे क्षेत्र के अन्दर ही पड़ता है, फिर भी इस साहित्य का सखीभाव की दृष्टि से मूल्यांकन करने में स्थान-स्थान पर कुछ विशेपताएँ द्रष्टव्य हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन आगे किया जा रहा है।

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी

केवल ५० वर्ष की आयु पाने वाले परम रसिक श्रीहित हरिवंश जी ने भक्ति-रस की नवीन धारा बहाने का श्रेय प्राप्त किया। श्रीवृन्दावन में ये केवल १९ वर्ष रहे परन्तु इतने ही बीच एक प्रबल सम्प्रदाय का संघटन खड़ा कर देना इन जैसे विलक्षण प्रतिभा-संपन्न महात्मा का कार्य था।

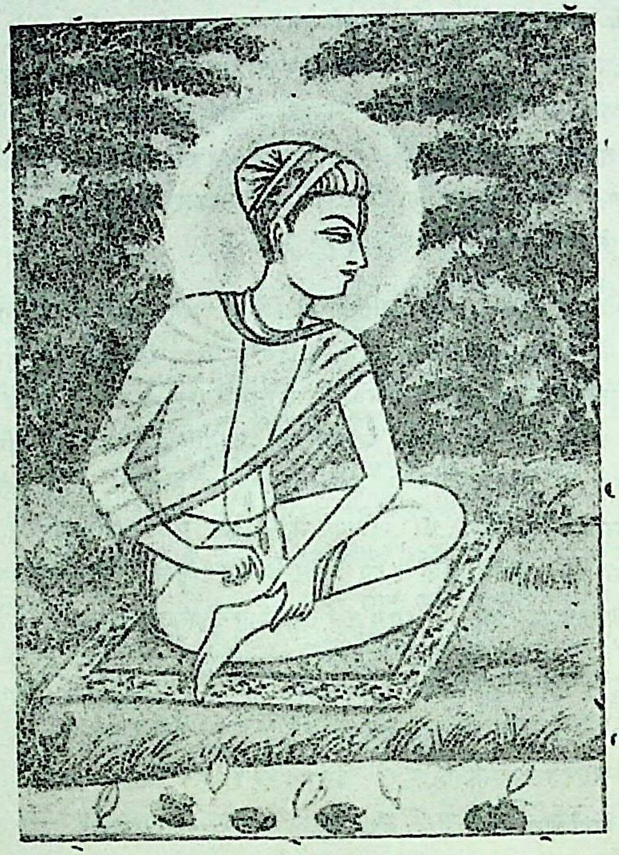

श्री हित हरिवंश गोस्वामी

यों तो श्रीहित हरिवंश जी के चरित्र को उनके सम्प्रदाय के सैकड़ों भक्तों ने गाया है परन्तु प्रमाण रूप में आने वाली सामग्री में श्रीभगवतमुदित कृत 'रसिक अनन्यमाल' (रचनाकाल सं० १७२० के लगभग), उत्तमदास कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' (सं० १७४५ के लगभग) एवं जयकृष्ण रचित

'हितकुल शाखा' (रचनाकाल सं० १७६०) है । इनमें से 'रसिक अनन्यमाल' में श्रीहित जी का चरित्र ही नहीं हैं, अन्य भक्तों की वार्ता में से उनके जीवन के प्रसंग संकलित किये जा सकते हैं । उत्तमदास कृत ग्रन्थ में श्री हित जी का प्रथम संकलित चरित्र है, साथ ही अन्य भक्तों के चरित्र भी संयोजित हैं । इस रचना के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमें साम्प्रदायिक दृष्टि को पूरा स्थान मिला है । उदाहरण के लिये लेखक द्वारा समय संवत् का विना ध्यान रखे ही स्वामी हरिदास जी को हित जी का कृपा-पात्र बना दिया गया है ।[1] श्रीरूपसनातन भी हितजी के कृपापात्र बताये गये हैं, ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ का उपयोग सावधानी से करना चाहिये । साम्प्रदायिकों का उत्साह इसे भी 'निजमत सिद्धान्त' की कोटि में रख देता है । 'हितकुल शाखा' में हित जी का चरित्र संक्षेप में दिया गया है । इतना अवश्य है कि श्रीहित जी का चरित्र अधिक विवादास्पद नहीं है ।

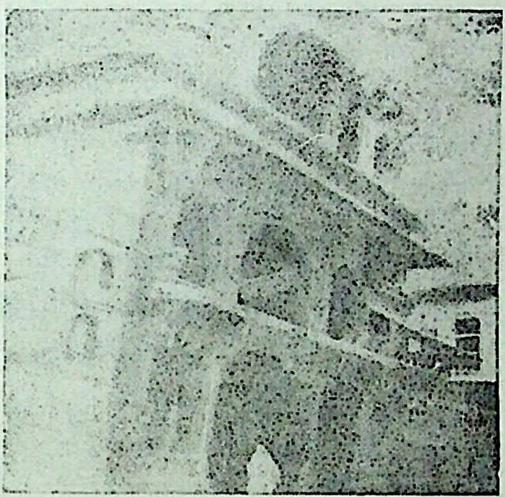

श्री राधावल्लभ जी का प्राचीन मन्दिर

हित जी के पिता श्रीव्यास मिश्र थे । श्रीनाभा जी ने भी हितजी की प्रसंशा के छप्पय में इन्हें व्यास-सुवन कहा है ।[2] ये देववन (सहारनपुर) के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे, ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता थे । बहुत समय

---

[1] देखिये 'अथ श्री हरिदास जी कौ प्रसंग' में (हस्त०)

[2] भक्तमाल, नाभा जी, छप्पय सं० ९० ।

तक इनके कोई पुत्र न हुआ, अतः ये और इनकी पत्नी तारारानी दोनों दुखी रहते थे। कहते हैं, व्यास मिश्र के भाई नृसिंहाश्रम जी की तपश्चर्या के बल से इन्हें पुत्र होने का आशीर्वाद मिला।

व्यास मिश्र तत्कालीन बादशाह के राज-ज्योतिषी थे। एक बार बादशाह के साथ ही ये यात्रा पर गये हुए थे। इनकी पत्नी भी साथ थीं। मथुरा से पाँच मील दूर 'बाद' में ये ठहरे हुए थे। यहीं सं० १५५९ वैशाख शुक्ला एकादशी सोमवार को हित जी का जन्म हुआ।[1] इसका उल्लेख सेवक जी ने भी किया है।

> मथुरा मण्डल भूमि आपनी। जहँ बाद प्रगटे जग धनी॥
> भनी अवनि वर आपु सुख।[2]

देववन में ही हित जी का आरंभिक काल व्यतीत हुआ। इनका विवाह भी वहीं हुआ तथा तीन पुत्र और एक कन्या ने जन्म लिया। ३२ वर्ष की आयु में हित जी वृन्दावन चल दिये। मार्ग में चडथावल ग्राम में एक ब्राह्मण ने इन्हें श्री राधावल्लभ जी की मूर्ति और अपनी दो कन्याएँ प्रदान कीं। सं० १५९१ में ये वृन्दावन आगये।

सं० १५९१ में ही उन्होंने राधावल्लभ जी की प्रतिष्ठा की और वृन्दावन आने वाले अनेक व्यक्ति इनके शिष्य होने लगे। वृन्दावन में आतङ्क मचाये रखने वाले राजा नरवाहन भी हित जी के शिष्य हुए।

स्वामी हरिदास जी की भाँति हित हरिवंश जी को भी कुछ सम्प्रदाय अपने यहाँ का शिष्य मानते हैं, जिनमें गौड़ीय सम्प्रदाय प्रमुख है। उनका कथन है कि ये गोपाल भट्ट जी के शिष्य थे परन्तु डॉ० स्नातक और ललिता चरण जी ने सप्रमाण इस मत का खण्डन कर दिया है।[3]

श्री हरिवंश जी का निकुंजगमन-काल सं० १६०९ है।

व्यक्तित्व—

श्री हित हरिवंश जी के व्यक्तित्व की छाप उनके समय के अनेक महापुरुषों पर देखी जा सकती है। अपने बड़ों के प्रति वे जितने विनम्र थे, उतनी

---

[1] जयकृष्ण जी की वाणी पद सं० ५, ६।

[2] सेवकवाणी १।६।

[3] राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० स्नातक। पृ० ९९, १०५ श्री हित हरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ४२, ५१

ही उनमें दूसरों को विनम्र बना लेने की सामर्थ्य थी। उनके हृदय में प्रेम का अखण्ड साम्राज्य था। वे रस-सिद्ध उपासक थे, जिनसे अनेक रसिकों ने रसिकता का आधार प्राप्त किया। श्री व्यास जी के पदों में हित जी के प्रति अनुराग और उनके व्यक्तित्व की महत्ता छलकी पड़ती है। उनके निकुंज-गमन पर लिखा गया व्यास जी का एक पद अत्यन्त मार्मिक है।[1] श्री नाभा जी ने भी उनकी भक्ति-पद्धति की बड़ी प्रशंसा की है और उन्हें

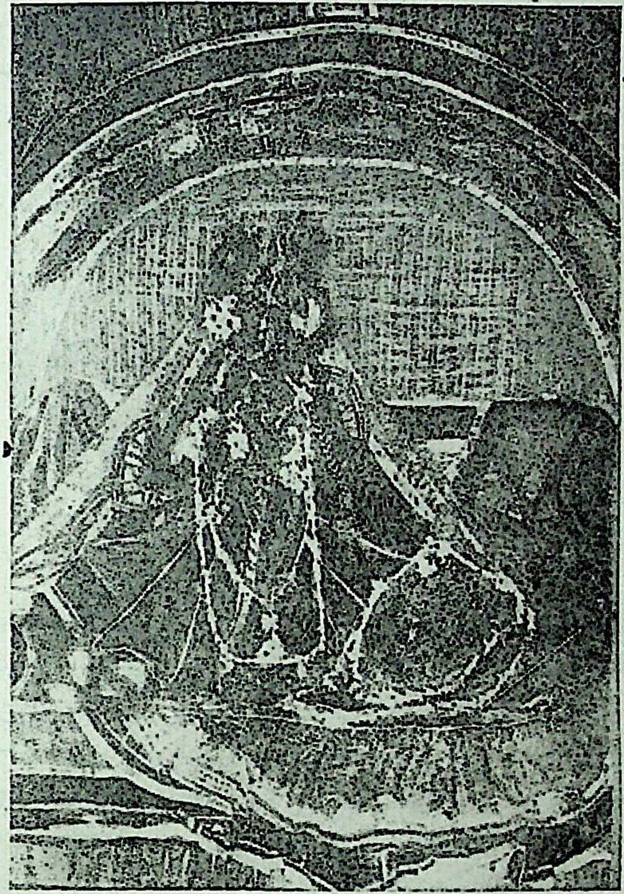

श्री राधावल्लभलाल जी महाराज

---

[1] व्यासवाणी, हरिराम व्यास, पद सं० ८१

'दंपति की कुञ्ज-केलि की खवासी' करने वाला बताया है।[1] इसमें उनका सखी-रूप ही वर्णित है।

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम तत्त्व को हित नाम से अभिहित किया गया है और हित हरिवंश को उसकी साकार मूर्ति माना गया है। प्रिया-प्रियतम का जितना खेल है, वह हित का ही खेल है। हित के बिना हरि भी कुछ नहीं है। श्री विहारिनिदास जी की स्वामी हरिदास जी के प्रति जो अनन्य निष्ठा थी, उसका प्रकाशन करते हुए उन्होंने कहा था :—

बिनु हरिदास, हरि को है, कहाँ कौ ?[2]

सेवक जी ने भी अपनी उसी निष्ठा का परिचय हरिवंश जी प्रति दिया है, वे कहते हैं, "वंश बिना हरि नाम न लैहौं,"[3] इस अभिन्नता के ही कारण हित जी का व्यक्तित्व प्रेम का साकार रूप था।

काव्य-परिचय

श्रीहित हरिवंश जी द्वारा लिखित रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं :—

१. राधा-सुधानिधि।
२. यमुनाष्टक।
३. हित चतुराशी या हित चौरासी।
४. स्फुट पद।
५. दो पत्रियाँ।

इनमें से राधा-सुधानिधि और यमुनाष्टक संस्कृत-रचनाएँ हैं। इनका उपयोग सिद्धान्त-पक्ष में किया जा चुका है। रस की दृष्टि से इनका प्रमुख ग्रन्थ है हित-चतुराशी।

हित चौरासी में केवल ८४ पद हैं, जैसा कि नाम से विदित होता है। इसमें प्रायः रस और लीला के ही पद हैं परन्तु कुछ पद सिद्धान्त के भी हैं। स्फुट वाणी में भी बधाई और उपदेश के पदों के साथ सिद्धांत और रस के पद हैं। ये सिद्धान्त और रस के पद हित जी की सखीभाव विषयक भावना को स्पष्ट करते हैं।

---

[1] भक्तमाल, सं० ९०

[2] श्री विहारिनिदास की वाणी (हस्त०) पृ० सं० ५७

[3] हितवाणी। पृ० सं० २७२,
"जो हरिनाम जगत्र शिरोमणि, वंश बिना कबहूँ नहिं लैहौं।

श्री हित जी के उपास्य श्री नन्द-नन्दन और वृषभानुनन्दिनी हैं। उनका उपासना का क्षेत्र व्रजलीला से सम्बन्धित है परन्तु हित-चौरासी के पदों में उनकी नित्यविहार की भावना तात्विक दृष्टि से अधिक प्रस्फुटित हुई है। विशेष कर उनका प्रेम-सिद्धान्त निकुंज की भावना के पूर्णतया अनुकूल है। इनके उपास्य श्री राधा-कृष्ण प्रेम और विरह का युगपत् अनुभव करते हैं और इस प्रकार उनके मिलन की चाह छिन-छिन चौगुनी होती जाती है। नेत्रों की इस चटपटी बान की एक झलक देखिये :—

कहा कहौं, इन नैननि की बात।
ये अलि प्रिया बदन अम्बुज रस अटके अनत न जात।
जब-जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात॥
लम्पट लव निमेप अन्तर तें अलप कलप सत सात।
श्रुति पर कञ्ज दृगञ्जन कुच बिच मृगमद ह्वै न समात॥
हित हरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सांवल गात।[1]

श्री हित जी का नेत्रों की विवशता का यह पद स्वामी हरिदास के निम्नलिखित पद से कितना साम्य रखता है।

प्यारी तेरौ बदन अमृत की पंक, तामें बीधे नैन द्वै।
चित्त चल्यौ काढ़न कों विकच सन्धि संपुट रह्यौ ह्वै॥
बहौत उपाइ आहि री प्यारी, पै न करत स्वै।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुञ्जविहारी, ऐसे ही रहौ व्है।[2]

श्री हित जी द्वारा किया गया रूप-वर्णन और प्रेम-व्यंजना सखीभाव से देखी गई दंपति की क्रीड़ा का प्रगाढ़ रस-रूप प्रस्तुत करती है। राधा-कृष्ण की लीला को हित जी ने अपने नेत्रों के चपक में भर-भर कर पिया है—

आजु देखि व्रज सुन्दरी मोहन बनी केलि।
अंस-अंस बाहु दै, किसोर जोर रूप रासि,
मनौ तमाल उरझि रही सरस कनक बेलि।
नव निकुंज भंवर गुञ्ज, मंजु घोप प्रेम पुञ्ज,

---

[1] हित चौरासी, पद सं० ६०।

[2] केलिमाल, पद सं० ७

गान करत मोर पिकनि अपने सुर सौं मेलि ।
मदन मुदित अङ्ग-अङ्ग, वीच-वीच सुरत रंग,
पल-पल हरिवंश पिवत नैन चपक झेलि ।[1]

अभिव्यक्ति

श्री हित जो का लीला-गान सरस और अलंकृत है । वे हिन्दी के 'जयदेव' माने जाते हैं । यह वात उनके कला-विलास और ललित-कोमल-कान्त-पदावली को देख कर उचित ही जान पड़ती है । उनके रस के पदों में राधा-कृष्ण ही नृत्य नहीं करते, उनके नूपुर और किंकिणी ही नहीं वर्णित होतीं, उनके साथ वजने वाले वाद्यों की ही गमक नहीं होती, वृन्दावन में वहने वाली शीतल समीर का झकोरा ही नहीं सरसराता अपितु हित हरिवंश जी के पदों की भापा ही मानों नृत्य करती है, उसमें अनुप्रास और यमक का वर्णन है, यति और लय की गमक सुनाई पड़ती है और ऊपर से नीचे तक भाव का सरसरा सहसा झकोर जाता है । 'नरवाहन' की छाप से लिखा गया उनका एक पद ही उनकी काव्य-कला को दिखाने के लिये पर्याप्त है—

चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख-निधान,
रास रच्यौ स्याम तट कलिन्दनन्दिनी ।
निर्तत युवती समूह, रास रंग अति कुतूह,
वाजत रस मूल मुरलिका अनन्दिनी ॥
वंसीवट निकट जहाँ, परम रमनि भूमि तहां,
सकल सुखद मलय वहै वायु मन्दिनी ।
जाती ईपद विकास, कानन अतिशय सुवास,
राका निसि सरद मास, विमल चन्दिनी ॥
नरवाहन-प्रभु निहार, लोचन भरि घोष नारि,
नखसिख सौंदर्य काम दुख-निकन्दिनी ।
विलसहिं भुज-ग्रीव मेलि, भामिनि सुख-सिंधु झेलि,
नव निकुञ्ज श्यामकेलि जगत-वन्दिनी ॥[2]

---

[1] हित चौरासी, हित हरिवंश, पद सं० १७

[2] हित चौरासी, हित हरिवंश, पद सं० १२ ।

श्री हरिराम व्यास

श्री हरिराम व्यास के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में मतभेद है। श्री वासुदेव गोस्वामी ने उन्हें मध्व-सम्प्रदायी माना है[1] तथा उनके अन्य वंशज भी अपने को इसी सम्प्रदाय में दीक्षित मानते हैं। श्री वासुदेव गोस्वामी की दृष्टि में श्रीहित हरिवंश जी एवं स्वामी हरिदास जी उनके सद्गुरु थे।[2] डॉ० विजयेन्द्र स्नातक और श्री ललिताचरण जी उन्हें राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीहित हरिवंश जी का ही शिष्य मानते हैं।[3] व्यास जी की वाणी के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंचा जा सकता है कि व्यास जी को सखीभाव की उपासना श्रीहित हरिवंश जी द्वारा प्राप्त हुई थी, फिर चाहे वे उनके दीक्षा गुरु रहे हों चाहे केवल सद्गुरु। इसीलिये सखी-भावोपासना की दृष्टि से उन्हें राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना ही उचित है।

व्यास जी के पिता का नाम सुमोखन शुक्ल था। नाभा जी के साक्ष्य से भी उनके पिता का यही नाम ठहरता है।[4] वे ओरछा के रहने वाले थे। वहीं व्यास जी का जन्म हुआ। श्री वासुदेव जी के अनुसार इनका जन्म सं० १५६७[5] और गो० ललिताचरण जी के अनुसार १५४९ है[6]।

व्यास जी प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष थे। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अनेक बार इन्होंने राजसभाओं में विद्वानों के मध्य शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर प्रतिष्ठा अर्जित की। ओरछानरेश के ये राजगुरु थे ही। एक बार एक रसिकमण्डली से इनका सम्पर्क हुआ, जिसके कारण इनकी हित हरिवंश जी में श्रद्धा जाग्रत होगई और ये वृन्दावन चले आये। श्री वासुदेव जी के अनुसार हित जी से उनका प्रथम मिलन सं० १५९१ में हुआ तथा सं० १६१२ में वे सर्वदा के लिये ओरछा छोड़ कर वृन्दावनवास करने के लिये आगये।[7]

---

[1] भक्तकवि व्यास जी, श्री वासुदेव गोस्वामी, पृ० ६५

[2] भक्तकवि व्यास जी, श्री वासुदेव गोस्वामी, पृ० ६८

[3] राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० स्नातक, पृ० ३७९
श्री हित हरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ४०२

[4] भक्तमाल, नाभा जी, छ० ९२

[5] भक्तकवि व्यास जी, पृ० ३८

[6] श्री हित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ३९०

[7] भक्तकवि व्यास जी, वासुदेव गोरवामी, पृ० ८४।

व्यास जी की भक्तनिष्ठा प्रसिद्ध है। भक्तों को ही वे अपना देवी-देवता मानते थे।[1] उनकी इस वृत्ति से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ श्री प्रियादास जी ने भक्तमाल की अपनी टीका में लिखी हैं।[2] प्रसाद के सम्वन्ध में व्यास जी की अनन्यता प्रसिद्ध है। एक वार प्रसाद न मिलने पर इन्होंने श्वपच के टोकरे में से प्रसाद की पकौड़ी लेकर खा ली थी। भक्तिक्षेत्र में ये छूआछूत विलकुल भी न मानते थे।

सम्पर्क

सखीभाव के उपासकों में व्यास जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहा जा चुका है कि स्वामी हरिदास जी के प्रति भी उनकी अनन्य निष्ठा थी तथा हरिवंशी-हरिदासी जी के साथ ही रहने की कामना उन्होंने सर्वदा की थी। उन्होंने अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए लिखा है—

हरिवंशी हरिदासी जहाँ, मोहि कृपा करि राखहु तहाँ।
नित विहार आधार दै।[3]

इससे निश्चित है कि हरिवंश जी और हरिदास जी से ये मिलते रहते होंगे और रसचर्चा करते रहते होंगे। इन महात्माओं में एक दूसरे को समझने की वृत्ति प्रधान थी। व्यास जी ने अपने पुत्र को स्वामी हरिदास जी का ही शिष्य कराया था।

रचनाएँ

व्यास जी की रचनाओं का सामूहिक नाम 'व्यास-वाणी' है। इनके वनाये ७५७ पद और १४८ साखियाँ हैं। इनके अतिरिक्त एक पद 'रास पंचाध्यायी' का भी प्राप्त है, जो अकेला ३० छन्दों के वरावर है। व्यासवाणी का प्रकाशन अनेक वार हो चुका है और अव सम्पादित रूप में यह ग्रन्थ भक्त-कवि व्यास जी के साथ प्रकाशित है।[4]

---

[1] मेरे भक्त हैं देई देऊ। भक्तकवि व्यास जी, पद सं० २२ पृ० १९६

[2] भक्तमाल छ० सं० १९२ की टीका।

[3] भक्तकवि व्यासजी, पृ० ४०७।

[4] भक्तकवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

व्यास-वाणी के पदों का सम्पादन ६ परिच्छेदों में किया गया है। ये परिच्छेद हैं, सिद्धान्त के पद, शृङ्गार रस विहार, समय के पद, व्रजलीला, रास-पञ्चाध्यायी और साखी। सभी साखियाँ सिद्धान्त-सम्बन्धी हैं। शृङ्गार-रस-विहार में सभी पद लीला के हैं, व्रजलीला सम्बन्धी पदों को व्रजलीला और समय के पदों में रखा गया है।

सिद्धान्त के पदों में व्यास जी ने गुरु-महिमा, साधु-स्तुति, महाप्रसाद की स्तुति, नाम की महिमा, वृन्दावन की महिमा, रसिकों की महिमा आदि विषयों का कथन किया है। इन पदों में नित्य निकुञ्ज विहार के प्रति व्यास जी की अनन्य आस्था प्रकट होती है। इष्ट की अनन्यता व्यास जी विशेषता है। विवाह के समय 'गणेश जी' का पूजन हुआ करता है। इनकी कन्या के विवाह के समय भी इनकी इच्छा के विरुद्ध गणेश जी का पूजन हुआ। व्यास जी, सिवाय राधाकृष्ण के, और किसी का पूजा नहीं कर सकते थे। उनके घर में शक्ति-पुत्र गणेश का पूजन होना उन्हें बहुत ही बुरा लगा और उन्होंने पूजन कराने वालों की बड़ी भर्त्सना की, क्योंकि इससे उनके अनन्य धर्म में दाग लग गया। उनका पद है—

> मरें वे, जिन मेरे घर गनेस पुजायौ।
> जे पदार्थ संतन के काजैं, ते सारे साकतन नें खायौ।
> 'व्यासदास' कन्या पेटहिं क्यों न मरी, अनन्य-धर्म में दाग लगायौ॥[1]

उनका यह रोष केवल एक ही पद में शान्त नहीं हो गया अपितु उन्होंने अन्य पदों में भी उन लोगों को इसके लिये बहुत ही बुरा भला कहा।[2] इन पदों में व्यक्त व्यास जी की यह उग्रता उनकी सखीभाव की उपासना की दृढ़ता और विश्वास का परिचय कराती है। अपने ब्राह्मणत्व के भी विरोधी, श्वपच के हाथ का भी भोजन पा लेने वाले व्यास जी निकुञ्ज की उपासना के प्रबल प्रहरी हैं। उन्होंने दिखा दिया है कि इस उपासना में ढील नहीं बरती जा सकती। यह रस इतना कोमल है कि अन्य किसी विजातीय वस्तु का व्याघात होते ही तत्काल विलीन हो जाता है। अनन्यता की विशेषता इस कोमलता में ही है, किसी समझौते में नहीं।

व्यास जी यज्ञोपवीत धारण करते थे परन्तु उसका उपयोग क्या था?

---

[1] भक्तकवि व्यास जी, पद सं० २८९।

[2] वही पद सं० २९० आदि

एक बार रास के समय प्रिया जी का नूपूर टूट गया। व्यास जी ने तुरन्त अपना नौगुना तोड़कर उनका नूपुर बांध दिया। श्री नाभा जी ने व्यास जी की अनन्यता का परिचय अपने निम्नलिखित छप्पय में दिया है :—

काहू के आराध्य मच्छ कच्छ नरहरि सूकर।
वावन परसाधरन सेतुबंधनहु सैल कर॥
एकन में यह रीति नैम नवधा सों लायें।
सुकल सुमोखन-सुवन अच्युतगोत्री जु लड़ायें॥
नौगुनौ तोरि नूपुर गुह्यौ, महत सभा मधि रास के।
उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ, भक्त इष्ट अति व्यास के॥[1]

रस के पदों में व्यास जी सखी-रूप में निकुञ्ज की टहल करते दिखाई देते हैं। उन्हें महल का किंकरीत्व प्राप्त हो गया है। वे महलों में पीकदानी लिये खड़े रहते हैं—

"व्यास महलनि लिये पीकदानी"।[2]

प्रिया-प्रिय की लीलाओं को देखकर प्रसन्न होना, यही सखी का आनन्द है। प्यारीपिय को नाचना सिखा रही हैं। वृन्दावन में यह रास हो रहा है। प्रिया जी मान-गुमान का लकुट लिये खड़ी हैं। कुञ्ज विहारी को डर है कि प्रिया जी कहीं अधिक रुष्ट न हो जायें। व्यास जी अपनी स्वामिनी के इस विचित्र भाव को देखकर ताली वजा-वजा कर हंस रहे हैं—

पिय कों नाचन सिखवत प्यारी।
वृन्दावन में रास रच्यौ है सरद चन्द उजियारी॥
मान गुमान लकुट लिये ठाडी, डरपत कुञ्जविहारी।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखत, हंसि हंसि दै कर-तारी॥[3]

लीला के पदों में व्यास जी ने अपने को 'व्यासदासी' या 'व्यास-सखी' के रूप में भी अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया है। व्यास-सखी प्रियाप्रिय का मेल कराती हैं। प्रिया जी से श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रार्थना की कि वे मान न करें, क्योंकि उनका अन्तर विरहाग्नि से दग्ध हो रहा है अतः वे विम्बाधर-जलधरों

---

[1] भक्तमाल, छप्पय सं० ९२

[2] भक्तकवि व्यास जी, मथुरा, पद सं० ७५।

[3] कविव्यास जी, मथुरा, पद सं० ६२२।

को बरसायें और प्राण-दान दें। तभी व्यास सखी की ओर देखकर प्रिया जी ने तनिक मुसका कर प्रियतम को कण्ठ से लगा लिया। लीला का यह आनन्द इतने निकट से सखी-रूप में ही सम्भव है।

मान और प्रेम का पर्यवसान रास में होता है। यों तो काम-प्रेम की तरंगें ही लीला को सदा गतिशील रखती हैं परन्तु रास में आनन्द की चरम दशा होती है। व्यास जी के रास के पद अन्य पदों की अपेक्षा अधिक अलंकृत और गुंफित हैं। भाषा की दृष्टि से तत्सम-प्रधान होकर ये गतिमय हैं। रास के पदों का यह अलंकरण सखीभाव के प्रायः सम्पूर्ण साहित्य की विशेषता है। व्यास जी ने रास के इन पदों में ऐसी व्यापक और प्रभावी अभिव्यंजना की है कि रति-रंग और आनन्द केवल प्रिया-प्रियतम के बीच ही नहीं, द्रुम-द्रुम, पल्लव-पल्लव में समाया हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि रास का रंगमंच वृन्दावन भी रास में थिरक रहा है, गा रहा है, ताल दे रहा है, प्रसन्न हो रहा है। एक पद देखिये—

कुञ्ज-कुञ्ज प्रति रति वृन्दावन, द्रुम-द्रुम प्रति रति-रंग।
वेली-वेलि प्रति, केलि फूल प्रति, फल प्रति विमल विहंग॥
कंठ-कंठ प्रति राग रागिनी, सुर प्रति तान-तरंग।
गौर श्याम प्रति, श्याम वाम प्रति, अंग प्रति सरस सुधंग॥
मुख प्रति मंद हास, नैननि प्रति सैन, भौंहनि प्रति भंग।
रास विलास पुलिन प्रति, नागर प्रति नागरि कुल संग॥
रूप-रूप प्रति गुन सागर, सहचरि प्रति ताल मृदंग।
अधरनि प्रति मधु, गंडनि प्रति विधु, उर प्रति उरज उतंग॥
कहत न आवै सुख देखत मुख, मोहे कोटि अनंग।
व्यास स्वामिनी राधाहिं सेवत, श्याम धरे वहु अंग॥[1]

व्यास जी का कला-पक्ष उच्च कोटि का है। उनमें कल्पना की ऐसी शक्ति है कि किसी भी छोटे से दृश्य का वर्णन विशदता के साथ और विस्तृत वस्तु का सूक्ष्म वर्णन करने में वे कुशल हैं। यदि उन्होंने नेत्रों को नट बना दिया तो पूरे पद में वे नटों की क्रिया करते ही दिखाई देंगे। इससे नेत्रों का क्रिया-क्षेत्र तो बढ़ता ही है, नेत्रों का उपमेय पाकर नटों की क्रिया में कितना अधिक

---

[1] भक्तकवि व्यास जी, पद सं० ४३२, पृ० ३०५

विस्तार हो जाता है, यह देखने की बात है। "नटवा नैन सुधंग दिखावत" वाला पूरा पद ऐसा ही है।[1]

व्यास जी अलंकारों के धनी हैं। पर कृत्रिमता या प्रयत्न उनमें कहीं नहीं है। भाषा की दृष्टि से उनके पद चलती हुई ब्रजभाषा के सुन्दर उदाहरण हैं। उनके पद साहित्यिक दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं और अपनी विशेषताओं के कारण वे सूर के पदों की समता करते हैं। यही कारण है कि उनके अनेक पद सूर की रचनाओं में सम्मिलित हो गये हैं, जिनको शोध-दृष्टि से ही अलग किया जा सकता है, सामान्य दृष्टि से नहीं। व्यास जी का रास पञ्चाध्यायी वाला पूरा पद 'सूर-सागर' में भी ज्यों का त्यों दिया हुआ है। और भी अनेक पद ऐसे हैं जो सूर की वाणी का शृङ्गार बने हुए हैं।

व्यास जी संगीत-शास्त्र के भी विद्वान् थे। काव्य, संगीत और अविचल आस्था के बल पर ही व्यास जी ने निकुञ्ज-रस का गान किया है। उनकी वाणी रसिकों के हृदय का हार है।

श्री दामोदरदास जी सेवक

श्री सेवक जी का चरित्र भगवत मुदित जी ने अपने रसिक-अनन्य-माल में दिया है।[2] उनके अनुसार वे गढ़ा ग्राम (वर्तमान जबलपुर से दो मील दूर) के निवासी थे। ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। इनका पारिवारिक नाम दामोदरदास था।

गढ़ा में ही इनके परिवार से सम्बन्धित एक और व्यक्ति थे चतुर्भुजदास, ये भक्ति के रंग में रंगे हुए पुरुष थे। चतुर्भुजदास जी और सेवक जी में परस्पर बड़ी प्रीति थी। सत्संग से सेवक जी में भी भक्ति का रंग प्रकट होने लगा। भगवच्चिन्तन में उनकी ऐसी अवस्था रहने लगी कि वे प्रायः मत्त रहने लगे। किसी सच्चे गुरु को पाने के लिये ये व्याकुल थे। साधुओं की संगति से सेवक जी के मन में यह आस्था घर कर गई कि वृन्दावन-रस ही उपासना की सारभूत वस्तु है। राधावल्लभीय वैष्णवों से उन्होंने श्री हित हरिवंश जी का नाम और परिचय सुना। उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे श्री हित जी से ही दीक्षा लेंगे परन्तु कुछ कारणोंवश वे उस समय वृन्दावन

---

[1] भक्तकवि व्यास जी, पद सं० ३४२, पृ० २७९

[2] रसिक अनन्यमाल, हस्तलिखित, सेवक चरित्र, पृ० ४४ से ४७ तक।

न आ सके। इसी बीच श्री हित जी का लीला-प्रवेश हो गया। सेवक जी ने जब यह समाचार सुना तो वे बहुत ही विकल हुए। वे उन्हें अपना गुरु मान चुके थे, अतः उन्हीं का ध्यान लगा कर बैठ गये। कहते हैं कि श्री राधा जी ने स्वयं आकर सेवक जी को दीक्षा दी।

श्री सेवक जी को लीला का स्फुरण हुआ। श्री हित जी के पद उनके सामने थे। उनको पढ़-पढ़ कर वे सदैव गद्गद् और भाव-विभोर रहा करते थे। उनके समक्ष वाणियों की लीलाएं और पदों के गूढ़ मर्म प्रत्यक्ष होते जाते थे। अपनी उसी भावना के अनुसार सेवक जी ने हित-वाणी की व्याख्या के रूप में अपने छन्दों की रचना की। सेवक जी की वाणी जब वृन्दावन पहुँची तो रसिकों में उसका बड़ा सम्मान हुआ और हरिवंश जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचन्द्र जी ने आज्ञा कर दी कि सेवक-वाणी सदैव हित-वाणी के साथ संयोजित करके पढ़ी जाय।

सेवक जी जब वृन्दावन पधारे, श्री वनचन्द्र जी ने राधावल्लभ जी का सारा प्रसादी भण्डार लुटा दिया। वृन्दावन में सेवक जी ऐसे भाव-विभोर रहते थे कि दस दिन से अधिक शरीर धारण न कर सके। डॉ० स्नातक के अनुसार इनका जन्म सं० १५७७ के आसपास और निकुञ्जगमनकाल सं० १६१० है।[1]

सेवक जी की वाणी का इससे अधिक वैशिष्ट्य क्या माना जा सकता है कि वह सदैव हरिवंश जी की चौरासी के साथ मिला कर पढ़ी जाती है। इनकी वाणी १६ प्रकरणों में विभाजित है और हित-तत्त्व को आधार मान कर यह सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या करती है। हित वस्तुतः प्रिया-प्रियतम के मांगलिक प्रेम का ही पर्य्यायवाची शब्द है। सेवक जी की दृष्टि में हित के मूर्तरूप हित हरिवंश जी ही थे। अतः जहाँ-जहाँ प्रेम का प्रकाशन है, वहाँ-वहाँ श्री हरिवंश की ही लीला है। वास्तव में गुरु एवं उपास्यतत्त्व की जैसी ऐक्यनिष्ठा सेवक-वाणी में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

श्री सेवक जी ने बताया है कि हित जी ने साधारण भक्ति-सिद्धान्त, अवतार-भेद, श्रीकृष्ण की मथुरा-लीला, व्रज की रीति, सभी का वर्णन किया है परन्तु उनका निज धर्म नित्य वृन्दावन की उपासना ही है :—

---

[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० स्नातक, पृ० ३४९

अब निज धर्म आपनौ कहत ।
तहाँ नित्य वृन्दावन रहत ॥
वहत प्रेम सागर जहाँ ।[1]

सेवक जी के अनुसार उनकी उपासना नित्य विहार की उपासना है। श्यामा-श्याम का गान उनके यहाँ एक साथ किया जाता है। वे एक प्राण दो देह हैं। राधा और श्याम कभी भिन्न नहीं हैं। चण-चण श्याम राधा की आराधना करते हैं इसीलिये वे राधा हैं। उनकी लीला का सुख ललितादिक सखियों को ही मिल सकता है :—

श्री हरिवंश सुरीति सुनाऊँ। श्यामा-श्याम एक संग गाऊँ ॥
चण इक कबहुँ न अन्तर होई। प्राण सु एक देह हैं दोई ॥
राधा संग बिना नहीं श्याम। श्याम बिना नहिं राधा नाम ॥
चण-चण प्रति आराधत रहहीं। राधा नाम श्याम तब कहहीं ॥
ललितादिकनि संग सचु पावै। श्रीहरिवंश सुरत रति गावै ॥[2]

सेवक-वाणी, जैसा कहा गया है, हित-सिद्धान्तों की विशद व्याख्या है। परन्तु है तो यह रस का सिद्धान्त। सेवक जी की वाणी में इसीलिये उनका मस्तिष्क पच्च न उभर कर हृदय पच्च ही उभरा है। उनकी वाणी के प्रत्येक छन्द में उनके हृदय की तीव्रानुभूति स्पन्दित है। सेवक-वाणी की भाषा व्रजभाषा है। व्रज-प्रदेश से इतनी दूर रहते हुए भी उन्होंने जैसी प्रौढ़ व्रजभाषा का प्रयोग किया है, यह उनके कवि-सामर्थ्य को ही सूचित करती है। निस्सन्देह सेवक जी सखीभावोपासना के प्रधान सिद्धान्तकर्ता हैं।

स्वामी चतुर्भुजदास जी—

स्वामी चतुर्भुजदास का उल्लेख सेवक जी के प्रसंग में आया है। इनकी भक्ति, कविता और गुरुनिष्ठा का परिचय नाभा जी ने अपने एक छप्पय में अलग से दिया है :—

गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व बढ़ायौ ।
राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायौ ॥
मुरलीधर की छाप कवित अति ही निर्दूषन ।

---

[1] सेवक-वाणी, प्रथम प्रकरण ।

[2] सेवक-वाणी, चतुर्थ प्रकरण ।

भक्तनि की अंघ्रिरेनु वहै घाटी सिर भूपन ॥
सत्संग महा आनन्द में, प्रेम रहत भीज्यौ हियौ ।
हरिवंश चरन वल चतुरभुज गौड देस तीरथ कियौ ॥[1]

स्वामी चतुर्भुजदास की महत्ता इसलिये भी है कि ये न केवल स्वयं अन्तरंग साधक थे, अपितु इन्होंने अपने सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार भी किया और सहस्रों व्यक्तियों को राधावल्लभ सम्प्रदाय की रीति का अनुगामी वनाया। अपने प्रभाव से इन्होंने गोंडवाना प्रदेश में भक्ति की सरिता वहा कर उसे पवित्र कर दिया।

चतुर्भुजदास का जन्म गढ़ा के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये भी कुछ महात्माओं की संगति से राधावल्लभ सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट हुए थे। जब ये वृन्दावन पहुँचे श्री हित जी का निधन हो चुका था। तव इन्होंने उनके पुत्र श्री वनचन्द्र जी से दीक्षा ले ली।[2] इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द्वादश यश' में इसका रचना-काल सं० १६८६ मिलता है, जिससे इनके उपस्थितिकाल का अनुमान किया जा सकता है।

'रसिक अनन्यमाल' में चतुर्भुजदास का चरित्र विस्तार से दिया गया है। इसमें इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं के प्रसंग हैं, जिनसे इनकी भागवत की कथा कहने की कुशलता, त्याग और साधुनिष्ठा का परिचय मिलता है।[3]

श्री चतुर्भुजदास जी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'द्वादशयश' है। यह छोटे-छोटे वारह ग्रन्थों का संकलन है। 'द्वादशयश' की टीका भी इन्होंने स्वयं लिखी, जो संस्कृत भाषा में है। ऐसा ज्ञात होता है कि इनके अध्ययन की सामान्य भाषा संस्कृत हो रही होगी। डॉ० स्नातक का अनुमान है कि व्रजभाषा इन्होंने व्रज में आने के पश्चात् सीखी होगी।[4] परन्तु जिस गोंड़वाना प्रदेश में रह कर सेवक जी ने टकसाली व्रजभाषा में कविता की, तो चतु-

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० १२३ पृ० ७४५।

[2] ये चतुर्भुजदास अष्टछापी चतुर्भुजदास से भिन्न हैं। इनके सम्बन्ध में कभी कभी भ्रम हो जाता है। एक ऐसे ही विवाद का परिहार लेखक ने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में एक लेख लिखकर किया था।

[3] स्वा० चतुर्भुजदास जी का प्रसंग

[4] राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ४११

भुंजदास भी वहाँ रह कर व्रजभाषा में स्वाभाविक रीति से कविता कर सकते थे।

'द्वादशयश' के अन्तर्गत १२ यशों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. शिक्षा सकल समाज यश। २. धर्म विचार यश। ३. भक्ति प्रताप यश ४. सन्त प्रताप यश। ५. शिक्षासार यश। ६. हितोपदेश यश। ७. पतितपावन यश ८. मोहिनी यश। ९. अनन्य भजन यश। १०. राधा सुप्रताप यश। ११. मंगलसार यश १२. विमुख सुख भंजन यश।[1]

ग्रंथों के नाम से ही स्पष्ट है कि स्वा० चतुर्भुजदास जी ने संसार के जनों को भक्तिमार्ग अथवा रस-मार्ग में प्रवृत्त करने के लिये उपदेश अथवा सिद्धान्तों की रचना की है। इन सिद्धान्तों में मोटी बात यह है कि जगत् अन्ततः दुखदायी है। इससे बचने का सरलतम उपाय है श्री राधाकृष्ण की भक्ति। प्रेमलक्षणा भक्ति ही सबसे उच्चकोटि की वस्तु है। उसे प्राप्त करना ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है।

स्वा० चतुर्भुजदास जी की वाणी की प्रशंसा ध्रुवदास जी ने भी की है और उसे अत्यंत गंभीर बताया है।[2] चतुर्भुजदास जी ने पदरचना में सिद्धान्त-कथन किया है परंतु विशेषता यह है कि उसमें भी उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण आदि दिये हैं और इस प्रकार सिद्धान्त को पुष्टरूप में प्रस्थापित किया है। उनका 'द्वादशयश' ग्रंथ भक्ति-शास्त्र का एक छोटा सा कोष कहा जा सकता है। सांप्रदायिक सिद्धान्तों की व्याख्या इस ग्रन्थ में बड़ी सरलता से की गई है। राधा नाम की व्युत्पत्ति के संबंध में इनका सीधा और सरलता से व्यक्त किया हुआ मत देखिये :—

राधा नाम जु यातें कहत। छिन छिन हरि आराधत रहत।
श्री राधा सुप्रताप जस।[3]

सखीभाव के सिद्धान्तों की विशद व्यंजना 'द्वादशयश' के विभिन्न प्रकरणों में हुई है। लीलात्मक साहित्य की रचना इन्होंने पद-शैली में की है। उदाहरण रूप में इनका निकुंज से संबंधित एक पद प्रस्तुत है :—

---

[1] लेखक के संग्रह में हस्तलिखित, अहमदावाद से प्रकाशित भी हो चुका है।

[2] चतुर्भुज वैष्णवदास की बानी अति गंभीर, भक्त नामावली लीला, पृ० ३५

[3] द्वादशयश, पृ० ४६

चलि कुंज गली, दृग देखैंगी अली।
प्रिय सीतल राज रुचिर भ्राजत अति सब भांति भली।
श्याम सुभग करि करिनी प्यारी, कनक बेलि निर्मल सी कली।

... ...

जै श्री चत्रभुज हित मुरलीधर वर रति गति जानत ललितादिक महली।

नेही नागरीदास जी

नागरीदास जी हित जी के रस-मार्ग के अनन्य सेवी थे। ये भी गोंडवाना प्रदेश में बेरछा नामक स्थान के रहने वाले थे। जाति के क्षत्रिय थे। स्वामी चतुर्भुजदास जी जब उस प्रदेश में धर्म-प्रचार कर रहे थे, ये भी उनके संपर्क में आकर पवित्र हुए। इनके मन में जगत् से वैराग्य हुआ और धन-धाम छोड़कर पत्नी सहित वृन्दावन आ गये। ये दोनों ही श्री वनचंद्र जी के सेवक हुए।

वृन्दावन रस की कोमलता के प्रति इनका चित्त सहजरूप से आकर्षित हुआ था। श्री हित जी की वाणी के अतिरिक्त ये अन्य पुराणादि ग्रन्थों का भी पारायण नहीं करते थे। कहते हैं कि एक बार बड़े आग्रह पर ये श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करने गये। ये कथा में बैठे हुए श्री हित जी के एक पद की भावना में मग्न थे। श्रीकृष्ण प्रिया जी के चिबुक को सहला रहे थे। इतने में ही कथा के प्रसंगानुसार इन्होंने सुना कि श्रीकृष्ण ने धेनुकासुर के पैर पकड़ कर उसे मार डाला। ये तत्काल कथा में से उठ कर चले आये। वैष्णवों ने इसका कारण पूछा तो इन्होंने कह दिया कि भगवान जिन हाथों से प्रिया जी के चिबुक को सहलाते हैं, उन हाथों में गदहे के पग कैसे शोभा दे सकते हैं। रसिक अनन्यमाल में इनकी रस-भावना के ऐसे सुन्दर उदाहरण दिये गये हैं।

नागरीदास जी की अनन्यता इनके कुछ साथियों को पसंद न थी। उनसे अलग रहने के लिये ये वृन्दावन से वरसाना चले आये।

श्री नागरीदास जी की रचनाओं की संख्या पर्याप्त है। उनके लिखे ९३७ दोहे और ३३१ पद प्राप्त हैं। इनकी वाणी का बहुत थोड़ा सा भाग वृन्दावन

से प्रकाशित हुआ है। वाणियों का रचनाकाल सं० १६२० से १६६० तक अनुमानित किया गया है।[1]

नागरीदास जी की वाणी में इनके प्रेमी हृदय की छाप सर्वत्र है। सिद्धान्त के पदों में अनुभव की गम्भीरता और रस के पदों में सरसता इनकी वाणी की विशेषता है। सखी बन कर प्रिया-प्रियतम के केलिरस का पान करने की भावना रस के पदों में सर्वत्र गोचर है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

आजु सखि अद्‌भुत भांति निहारि।
प्रेम सुदृढ की ग्रन्थि परि गई, गौर स्याम भुज चारि।
अवही प्रात पलक लागी है, मुख पर श्रमकन वारि।
'नागरीदास' रस पिवहु निकट ह्वै, अपने वचन विचारि।

श्री लालस्वामी जी

श्री लालदास जी श्री हित जी के तृतीय पुत्र गोपीनाथ जी के शिष्य थे। गोपीनाथ जी अपने पूर्व पुरुषों के स्थान देववन में ही रहते थे। वहीं इनका एक मन्दिर था, जहाँ ये पूजन साधन किया करते थे। यहीं लालदास जी, जो थे तो ब्राह्मण, परन्तु क्षत्रियों की भांति रहा करते थे तथा मुगलों के यहाँ चाकरी करते थे, मन्दिर में दर्शन करने के लिये आये। मन्दिर में भगवान् का दर्शन कर इन्हें कुछ ऐसा आनन्द मिला कि ये वहीं बैठ गये और साथियों से एक दोहा बना कर कहा :—

अति सुगन्ध हरिवंश-सुत मलयागिरि को बूंट।
लालदास ढिंग गढि रह्यौ या मन्दिर को खूंट॥

पीछे उनकी उत्कट भक्ति देखकर गो० गोपीनाथ जी ने उन्हें दीक्षा दी और भगवद्भजन की पद्धति बताई। लालदास जी विरक्त होकर वहीं रहने लगे और लालस्वामी कहे जाने लगे। बाद में ये गुरु की आज्ञा मान कर अपने घर चले गये।

'रसिक-अनन्य-माल' में लालस्वामी का चरित्र लिखा है। उसमें भक्तों के प्रति उनकी निष्ठा के अनेक प्रसङ्ग लिखे गये हैं। ये भक्तों को अपने पति के समान मानते थे।

---

[1] श्री हित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य,
गो० ललिताचरण, पृ० ४३२

स्वामी लालदास की वाणी प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये सुकवि तो सम्प्रदाय में आने के पूर्व से ही थे। कोमल हृदय में जहाँ एकबार राधाकृष्ण का लीला-रस उमँगा कि काव्य-सरिता वेग से फूट पड़ी। इनके छन्द बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। रचना अधिकांश सवैये, कवित्त, छप्पय, कुंडलिया, दोहे आदि में हुई है। इन्होंने सिद्धान्त और रस दोनों से सम्बन्धित रचनाएँ की हैं। इनके काव्य की भाषा अत्यन्त प्रभावशील और साहित्यिक है। अनुप्रास की सुन्दर छटा पद-पद में है। अनुभूति और कल्पना के साथ ही इनका कलापक्ष भी उत्कृष्ट है। राधाकृष्ण के लीला-विलास को सखियाँ निकुञ्ज-रंध्रों से देखती हैं, इसका सरस वर्णन निम्नलिखित सवैये में देखिये :—

अलसैं विलसैं रस मध्य लसैं, अरुझी पट सं लट फंदन सों।
उकसी उर तें न उरोज अनी, नन्दलाल जगे भुज बन्धन सों॥
चपला परिरंभन सोदमई, कल झूमत अंबुद कंधन सों।
सखि दंपति प्रेम के पुञ्ज भरी, सुख देखत कुञ्ज के रंध्रन सों॥

कल्याण पुजारी

कल्याण पुजारी श्री वनचन्द्र जी गोस्वामी के शिष्य थे। रसिक-अनन्य-माल में श्री भगवत मुदित जी ने कहा है कि ये रसिकों का 'सीथ' प्रसाद खाने में प्रसन्न रहते थे। उन्हीं के अनुसार ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और राधावल्लभ जी के मन्दिर की सेवा-पूजा का कार्य इन्हें प्राप्त था। इसीलिये ये पुजारी उपाधि से प्रसिद्ध हुए। रसिक संतों को भोजन करा कर ये उनका प्रसाद स्वयं खा लिया करते थे, इसलिये अन्य बहुत से लोग इनसे अप्रसन्न रहते थे और इन्हें हीन दृष्टि से देखते थे। उन्होंने गोस्वामी जी से उनकी इस बात की शिकायत भी की। कल्याण पुजारी को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने स्वयं ही सेवा का अधिकार छोड़ दिया। कहते हैं कि उसी रात को गोस्वामी जी को श्री जी का दर्शन हुआ और उन्होंने कहा कि कल्याण पुजारी के हाथ का ही भोग हमें लगना चाहिये। पुनः प्रातःकाल कल्याण पुजारी को बुला कर सेवा उन्हें यथावत् सौंप दी गई।

कल्याण पुजारी का जन्म सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार सं० १६०० वि० है।[1]

---

[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० स्नातक, पृ० ४८४।

से प्रकाशित हुआ है। वाणियों का रचनाकाल सं० १६२० से १६६० तक अनुमानित किया गया है।[1]

नागरीदास जी की वाणी में इनके प्रेमी हृदय की छाप सर्वत्र है। सिद्धान्त के पदों में अनुभव की गम्भीरता और रस के पदों में सरसता इनकी वाणी की विशेषता है। सखी बन कर प्रिया-प्रियतम के केलिरस का पान करने की भावना रस के पदों में सर्वत्र गोचर है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

आजु सखि अद्‌भुत भांति निहारि।
प्रेम सुदृढ की ग्रन्थि परि गई, गौर स्याम भुज चारि।
अबही प्रात पलक लागी है, मुख पर श्रमकन वारि।
'नागरीदास' रस पिवहु निकट ह्वै, अपने वचन विचारि।

श्री लालस्वामी जी

श्री लालदास जी श्री हित जी के तृतीय पुत्र गोपीनाथ जी के शिष्य थे। गोपीनाथ जी अपने पूर्व पुरुषों के स्थान देवबन में ही रहते थे। वहीं इनका एक मन्दिर था, जहाँ ये पूजन साधन किया करते थे। यहीं लालदास जी, जो थे तो ब्राह्मण, परन्तु क्षत्रियों की भांति रहा करते थे तथा मुगलों के यहाँ चाकरी करते थे, मन्दिर में दर्शन करने के लिये आये। मन्दिर में भगवान् का दर्शन कर इन्हें कुछ ऐसा आनन्द मिला कि ये वहीं बैठ गये और साथियों से एक दोहा बना कर कहा :—

अति सुगन्ध हरिवंश-सुत मलयागिरि को बूंट।
लालदास ढिंग गढि रह्यौ या मन्दिर को खूंट॥

पीछे उनकी उत्कट भक्ति देखकर गो० गोपीनाथ जी ने उन्हें दीक्षा दी और भगवद्भजन की पद्धति बताई। लालदास जी विरक्त होकर वहीं रहने लगे और लालस्वामी कहे जाने लगे। बाद में ये गुरु की आज्ञा मान कर अपने घर चले गये।

'रसिक-अनन्य-माल' में लालस्वामी का चरित्र लिखा है। उसमें भक्तों के प्रति उनकी निष्ठा के अनेक प्रसङ्ग लिखे गये हैं। ये भक्तों को अपने पति के समान मानते थे।

---

[1] श्री हित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य,
गो० ललिताचरण, पृ० ४३२

स्वामी लालदास की वाणी प्रौढ़ एवं परिमार्जित है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये सुकवि तो सम्प्रदाय में आने के पूर्व से ही थे। कोमल हृदय में जहाँ एकबार राधाकृष्ण का लीला-रस उमँगा कि काव्य-सरिता वेग से फूट पड़ी। इनके छन्द बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। रचना अधिकांश सवैये, कवित्त, छप्पय, कुंडलिया, दोहे आदि में हुई है। इन्होंने सिद्धान्त और रस दोनों से सम्बन्धित रचनाएँ की हैं। इनके काव्य की भाषा अत्यन्त प्रभावशील और साहित्यिक है। अनुप्रास की सुन्दर छटा पद-पद में है। अनुभूति और कल्पना के साथ ही इनका कलापक्ष भी उत्कृष्ट है। राधाकृष्ण के लीला-विलास को सखियाँ निकुञ्ज-रंध्रों से देखती हैं, इसका सरस वर्णन निम्नलिखित सवैये में देखिये :—

अलसैं विलसैं रस मध्य लसैं, अरुझी पट सं लट फंदन सों।
उकसी उर तें न उरोज अनी, नन्दलाल जगे भुज बन्धन सों॥
चपला परिरंभन मोदमई, कल झूमत अंबुद कंधन सों।
सखि दंपति प्रेम के पुञ्ज भरी, सुख देखत कुञ्ज के रंध्रन सों॥

कल्याण पुजारी

कल्याण पुजारी श्री वनचन्द्र जी गोस्वामी के शिष्य थे'। रसिक-अनन्य-माल में श्री भगवत मुदित जी ने कहा है कि ये रसिकों का 'सीथ' प्रसाद खाने में प्रसन्न रहते थे। उन्हीं के अनुसार ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और राधावल्लभ जी के मन्दिर की सेवा-पूजा का कार्य इन्हें प्राप्त था। इसीलिये ये पुजारी उपाधि से प्रसिद्ध हुए। रसिक संतों को भोजन करा कर ये उनका प्रसाद स्वयं खा लिया करते थे, इसलिये अन्य बहुत से लोग इनसे अप्रसन्न रहते थे और इन्हें हीन दृष्टि से देखते थे। उन्होंने गोस्वामी जी से उनकी इस बात की शिकायत भी की। कल्याण पुजारी को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने स्वयं ही सेवा का अधिकार छोड़ दिया। कहते हैं कि उसी रात को गोस्वामी जी को श्री जी का दर्शन हुआ और उन्होंने कहा कि कल्याण पुजारी के हाथ का ही भोग हमें लगना चाहिये। पुनः प्रातःकाल कल्याण पुजारी को बुला कर सेवा उन्हें यथावत् सौंप दी गई।

कल्याण पुजारी का जन्म सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार सं० १६०० वि० है।[1]

---

[1] राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० स्नातक, पृ० ४८४।

कल्याण पुजारी का प्राप्त रचना-परिमाण लगभग दो सौ छंदों का है। इन्होंने कवित्त, सवैया, दोहा आदि में ही अधिक रचना की। अधिकतर रचना का विषय भक्ति और उपदेश है। जगत की असारता का ज्ञान कराकर जीव को भगवद्भक्ति की ओर प्रेरित करना यही उनकी वाणी का प्रमुख लक्ष्य है। उपासना की दृष्टि से गुरु के महत्त्व और लीला-रस का गान भी उन्होंने बड़े चाव से किया है। काव्य-दृष्टि से उनकी कविता अच्छे कवियों की कोटि में स्थान पाने की अधिकारिणी है। कल्पना शक्ति के साथ ही प्रौढ़ भाषा और संतुलित अलंकार-योजना इनकी कविता को उत्कृष्ट बनाने में सहायक हुई हैं। कविता में इनका नाम 'कल्याण' या 'कली' रहता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

गुन रूप रसैं धुरवा वहरैं, गरजैं कटि किंकिनी नूपुर री।
अधरा मधु सव्द झला झलकैं, रति नीर वह्यौ सजि भू पर री॥
ललितादि 'कली' सलिता उमंगी, उभै संगम सिंधु मिलै वर री।
वरसै वरसाने की गोरी घटा, नन्दगांव के सामरे ऊपर री॥[1]

श्री ध्रुवदास जी

राधावल्लभ संप्रदाय के वाणीकारों में श्री ध्रुवदास जी अन्यतम हैं। डॉ० स्नातक इनके परिचय में कहते हैं, 'राधावल्लभ संप्रदाय के भक्त-कवियों में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का जैसा सर्वांगपूर्ण विवेचन ध्रुवदास जी की वाणी में उपलब्ध होता है, वैसा अन्य किसी महानुभाव की वाणी में नहीं है'।[2] श्री ललिताचरण जी ने इनकी वाणी, व्यक्तित्व और प्रभाव के आधार पर इनके काल को 'ध्रुवदास-काल' नाम दिया है। उन्होंने ध्रुवदास जी की विशेषता बताते हुए कहा है, "हिताचार्य की वाणी से उनके अनन्य साधारण प्रेम दर्शन को समझना कठिन हो जाता है। ध्रुवदास जी ने प्राप्त परिपाटी का सर्वथा परित्याग करके प्रेम का वर्णन उसके सहज मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है"।[3] हमारी दृष्टि में ध्रुवदास जी की वाणी का महत्त्व न केवल अभिव्यक्ति की

---

[1] कल्याण पुजारी की वाणी (हस्ता०)

[2] राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डॉ० स्नातक, पृ० ४२६

[3] श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य,
गो० ललिताचरण, पृ० ४४२

नवीनता से है अपितु विषयवस्तु की नवीनता की दृष्टि से भी उनका महत्त्व है।

राधावल्लभ संप्रदाय के कवि, जिनका परिचय दिया जा चुका है, वे भी सखीभाव के उपासक थे परंतु उनका सखीभाव अंततः गोपीभाव ही था, क्योंकि उनके उपास्य व्रज के राधाकृष्ण ही थे। श्री हित हरिवंश काल के कवियों की दृष्टि में गोपिकाएं ही प्रेम की सर्वश्रेष्ठ आदर्श थीं। श्री हित महाप्रभु के शब्दों में उनका उपास्य रस 'गोप्यैकभावाश्रय' है। व्यास जी के शब्दों में :—

> या रस कों गोपिन घर छांड़्यौ, सह्यौ जगत उपहास।
> यह लीला मन महँ आवत ही, सुकदेव विसर्‍यौ व्यास।[1]

स्वामी चतुर्भुजदास ने भी हरिवंश जी की उपासना की आदर्श गोपियां ही बताई हैं।

> सब तजि ज्यों गोपी भजी सांची। तिनकी रज उद्धव विधि जाँची।
> श्री हरिवंश सु दयौ बताई। भक्त अनन्य भेद सुनो भाई।[2]

श्री हरिवंश-काल की इस विषय वस्तु को यहां से उठा कर ध्रुवदास जी आगे ले जाते हैं। स्वामी चतुर्भुजदास जी के उपर्युक्त शब्दों के मिलान में ही ध्रुवदास जी के संशोधन को देखियेः—

> गोपिनु के सम भक्त न आहीं। उद्धव विधि तिनकी रज चाहीं।

परंतु,

> तिन मन कछू सकामता आई। तातें बिच अंतर पर्‍यौ भाई।

क्योंकि,

> दुख कौ मूल सकामता, सुख कौ मूल निहकाम।
> विरह वियोग न तहां कछु, रसमय ध्रुव सुखधाम।

गोपियों के सकाम भाव से भी ऊपर वह स्थान कौन सा है, ध्रुवदास जी के अनुसार वह धाम नित्य वृन्दावन हैः—

> अब सोई ठांव कहौं सुनि लीजै। तहां सु प्रेम एक रस पीजै।
> वृन्दाविपिन एक रस ऐना। तहां सेवत मैननि की सेना।[3]

---

[1] व्यास-वाणी, ६३४।

[2] अनन्य भजन यश, द्वादशयश, पृ० ३९।

[3] आनन्दलता लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास जी, पृ० २७३।

ध्रुवदास जी ने इस वात को अनेक स्थानों पर कहा है कि गोपियों से भी ऊपर सखियों का प्रेम और स्थान हैं।[1] वह निकुंज रस गोपियों की पहुँच से परे है। वह स्थान सखियों द्वारा सेवित है। यहां यह वात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है कि ध्रुवदास जी ने विहारिनिदास जी के सखीभाव की पृष्ठभूमि को अपना लिया है क्योंकि वे पहले ही कह चुके थे कि निकुंज रस में गोपियों का भी प्रवेश नहीं है, वे उस रस के लिये ललचाती रहती हैं।[2]

इस पृष्ठभूमि के वदल जाने से स्वयं ही प्रेम की सूक्ष्माभिव्यक्ति होने लगती है। विना इस स्तर को स्वीकृत किये प्रेम का विशुद्ध रूप वन नहीं पाता, ऐसा रसिकों का विचार जान पड़ता है। नागरीदास जी के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इस नित्य शुद्ध रस में पौराणिकता के मिला देने से वाधा उत्पन्न होती है। ध्रुवदास जी ने भली भांति रस तत्त्व का मंथन किया और अंत में उन्होंने नित्यलीलाओं के इस चेत्र से व्रजलीलाओं को अलग कर दिया। भगवत मुदित जी ने उनके संवंध में लिखा है :—

प्रेम नेम सिद्धान्त जु कीनौ। व्रज विनोद न्यारौ करि दीनौ।[3]

भाव-जगत् में इतनी वड़ी क्रान्ति ध्रुवदास जी ने इस निपुणता के साथ की कि संप्रदाय के लोगों को आनंद ही हुआ। उन्होने स्वयं भी यही कहा कि यह अमिश्र उपासना तो हित जी की ही है,[4] यद्यपि ध्रुवदास जी ने स्वयं ही नित्य और निमित्त को अलग-अलग किया था। ध्रुवदास जी की वाणी में कृष्ण का नाम 'कृष्ण' भी नहीं मिलता अथवा राधा को 'उन्होंने वृषभानु-नंदिनी आदि नामों से नहीं पुकारा, जो व्रज से संवंधित नाम थे। उनकी यह भावना पूर्णतया सखी-संप्रदाय के अनुकूल ही थी। उन्होंने नित्य निकुंज-विहार का गान किया, विशुद्ध सखीभाव की उपासना की और साथ ही अपने संप्रदाय की रीति के अनुसार अलग से एक व्रजलीला भी लिख दी।

---

[1] प्रेमलता लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास जी, पृ० २७८।

[2] उमा रमा को सची सरसुती, व्रज जुवती ललचाहिं।
विहारिनदास की साखी।

[3] रसिक अनन्य माल, ध्रुवदास जी का चरित्र (हस्त०), पृ० ८९।

[4] सिद्धान्त विचार लीला, बयालीस लीला,
ध्रुवदास जी, पृ० ५३।

विषय-वस्तु में परिवर्तन होते ही, उसकी सूक्ष्मता के प्रकाशन के लिये अभिव्यक्ति की नूतन शैली की आवश्यकता हुई। इसके लिये उन्होंने स्वाभाविक रीति से स्वामी हरिदास जी की लक्षणा और मूर्त-अमूर्त शैली का अवलंबन किया। निस्संदेह स्वामी हरिदास जी की शैली का पूर्ण विकास ध्रुवदास जी में ही हुआ। अपनी रचना के समय ध्रुवदास जी के समक्ष स्वामी हरिदास जी की 'केलिमाल' आदर्श के रूप में थी, जिसके सिद्धान्त ही नहीं भाव, भाषा और शैली का भी उन्होंने पूर्ण उपयोग अपनी वाणी में किया है। दोनों की रचनाओं में अनेक स्थानों पर पूर्ण समता देखी जा सकती है। कुछ स्थल नीचे मिलान के लिये दिये जा रहे हैं :—

जहां जहां चरन परत प्यारी जू तेरे,
तहां तहां मन मेरौ करत फिरत परछाहीं।
बहु मूरत मेरी, चौर ढुरावत कोऊ,
बीरी खवावत एक आरसी लै जाहीं।
—केलिमाल, स्वामी हरिदास जी।

जहां जहां राधा प्यारी धरत चरन,
पिय तहां तहां नैनके पांवड़े बिछावहीं।
महा प्रेम रंगे तिनही के प्यार पगे,
सेवा सब अंगनि की करैं सचु पावहीं।
—ध्रुवदास जी।

रोम रोम जो रसना होती तौऊ तेरे गुन न बखाने जात।
—स्वामी हरिदास जी।

कोटि कोटि रसना जो रोम रोम प्रति होइ,
प्यारी जू के रूप कौ न प्रमान कह्यौ जात है।
—ध्रुवदास जी।

श्रम जल कन नाहीं होत मोती माला कों देहु।
—स्वामी हरिदास जी।

श्रम जल कन दुति कहा बखानों।
छवि के मोती राजत मानों।
—ध्रुवदास जी।

ऐसे अनेक उद्धरण ध्रुवदास जी की वाणी में से और भी दिये जा सकते हैं। वैसे भी ध्रुवदास जी ने अपने संप्रदाय के अतिरिक्त स्वामी हरिदास जी और विहारिनिदास जी को ही अपने ग्रन्थ में प्रमाण कोटि में रखा है।[1]

श्री ध्रुवदास जी की सखीभावोपासना राधावल्लभ संप्रदाय में अपना एक निश्चित प्रभावशाली महत्व रखती है। उनके सामयिक और परवर्ती कवियों पर उनकी छाप बहुत ही स्पष्ट है। यहाँ उनके काव्य का स्वरूप जानने से पूर्व उनका संक्षिप्त जीवन-परिचय जानना भी आवश्यक है।

जीवन-परिचय

श्री ध्रुवदास जी जैसे समर्थ रचनाकार के सम्बन्ध में हमें राधावल्लभ सम्प्रदाय के सूत्रों से अधिक सामग्री प्राप्त नहीं होती। भक्त-नामावली में भी उन्होंने अपना परिचय नहीं लिखा है। थोड़ा सा परिचय भगवत-मुदितकृत 'रसिक-अनन्य-माल' अथवा गो० जतनलाल जी कृत 'अनन्यसार' में मिलता है। इनके अनुसार ध्रुवदास जी देववन के निवासी थे। कायस्थ-कुल में इनका जन्म हुआ था। इनके बाबा बीठलदास जी श्री हित हरिवंश जी के एक प्रमुख शिष्य थे। इनके पिता श्यामदास जी भी हित कुल में दीक्षित थे। ये परंपरा से ही अनन्य उपासी थे, ऐसा कहा गया है।[2]

इनका बाल्यकाल देववन में ही व्यतीत हुआ। भक्ति की ललक उसी समय से लग गई थी। बचपन में ही इन्होंने गोपीनाथ जी से दीक्षा लेली थी। जब ये दस साल के हुए, घर बार छोड़ कर वृन्दावन चले आये। वृन्दावन के रसमय वातावरण में ही इनका लालन-पालन हुआ। वृन्दावन-वास के समय की इनकी अनेक भावात्मक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि काव्य-रचना की प्रेरणा और आज्ञा इन्हें श्री राधा रानी से ही मिली।

श्री ध्रुवदास जी का जन्म सं० डॉ० स्नातक के अनुसार १६३० के आसपास निश्चित होता है। इनके ग्रन्थों में जो रचना-काल दिये हैं, वह

---

[1] देखिए, सिद्धान्त विचार लीला, बयालीस लीला, ध्रुवदास जी।

[2] कायथ कुल देववन के वासी। परम्पराय अनन्य उपासी।
श्री गोपीनाथ शिष्य निश्चेष्ट। सेवत राधावल्लभ इष्ट।
रसिक अनन्य-माल, हस्त० पृ० ८९।

सं० १६५० और १६९८ के बीच के हैं अतः इनका निकुञ्जगमनकाल सं १७०० के लगभग मानना चाहिये।

काव्य-समीक्षा

ध्रुवदास जी ने छोटे-छोटे बयालीस ग्रन्थों की रचना की है, जो बयालीस लीला के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें विभिन्न लीलाओं अथवा सिद्धान्तों का कथन किया गया है। इन ग्रन्थों को रसिकों की विशिष्ट परिपाटी के ही कारण लीला का नाम दिया जा सकता है अन्यथा इनमें से अधिकांश सिद्धान्त-ग्रन्थ ही हैं। बयालीसं लीला के अतिरिक्त इनके १०२ फुटकर पद भी प्राप्त होते हैं।

ध्रुवदास जी सखीभाव के उत्कृष्ट कवि हैं। उन्होंने जो कुछ गाया है, वह सखियों की कृपा मना कर ही गाया है :—

"तिन सखियनि की कृपा मनाऊँ, या रस की कनिका जो पाऊं।

ध्रुवदास जी ने अपने को अनेक स्थानों पर सखीरूप में प्रस्तुत किया है। इनके सखीभाव के सिद्धान्तों का विवेचन सिद्धान्तपत्त में किया जा चुका है।

जहां तक काव्य के कलापत्त का प्रश्न है, कहा जा चुका है कि इन्होंने स्वामी हरिदास जी की शैली को ही विशेपरूप से पल्लवित किया है। विभिन्न रूपों में 'लत्तणा' नामक शब्द शक्ति के प्रयोग के साथ ही मूर्त और अमूर्त के परस्पर उपमेयोपमान भी कुशलतापूर्वक व्यवहृत हुए हैं। निकुञ्ज के भावात्मक विपय के अनुसार ही अभिव्यक्ति की श्रेष्ठता ध्रुवदास जी की अपनी विशेपता है। एक उदाहरण है :—

छवि ठाड़ी कर जोरैं, गुनकला चौर ढोरैं,
दुति सेवैं तन गोरे, रति बलि जाति है।
उजराई कुञ्ज ऐन, सुथराई रची सैन,
चतुराई चितै नैन अति ही लजाति है।
राग सुनि रागिनी हू होत अनुराग बस,
मृदुताई अङ्गनि छुवति सकुचाति है।
हित 'ध्रुव' सुकुमारी, पुतरीन हू ते प्यारी,
जीवत देखैं बिहारी मुख बरसाति है।

दामोदर स्वामी

दामोदर स्वामी का परिचय मिश्रबन्धुओं ने 'विनोद' में दिया है। उन्होंने इनके ग्रन्थों के नाम भी लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं :—

नेमबत्तीसी, रेखता, भक्ति सिद्धान्त, सिद्धान्त के पद, विहावला, चौपड खेल, रास विलास, स्वगुरु प्रताप, रास लीला, गुरु प्रताप लीला, बसंत लीला, जजमान कन्हाई जस आदि। इनकी रचना सं० १६८७ बताया गया है, जो नेमबत्तीसी का रचना-काल है।[1]

रसिक-अनन्य-माल में भी दामोदर स्वामी के जीवन के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। बताया गया है कि ये लालस्वामी के शिष्य थे। इनका जन्मस्थान कीरतपुर था। प्रारंभ से ही ये श्रीमद्भागवत के प्रेमी थे। यहां तक कि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् भी सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अतिरिक्त भागवत का पारायण करते रहते थे। श्रीमद्भागवत की अनेक प्रतिलिपियां कर भेंट करने का इनका व्यसन था।

दामोदर स्वामी वृन्दावन में ही निवास करते थे। अपने सेव्य ठाकुरजी की सेवा-पूजा ये बड़े ठाठ-बाट से करते थे। एक बार चोरों ने इनके घर में सेंध लगाई और सब धन-संग्रह कर गठरी बांध लेकर चलने लगे। गठरी भारी होने के कारण चोर से उठ न सकी। तब इन्होंने चुपके से आकर उसकी गठरी उठवा दी। चोर गठरी लेकर जा रहा था कि लोग जाग उठे और चोर को मार डाला। इन्हें अत्यंत खेद हुआ और उसी धन से इन्होंने चोर का क्रिया-कर्म कराया। उसके पश्चात् स्वामी जी ने धन-संग्रह करना छोड़ दिया।[2]

दामोदर जी की रचनाओं में सखीभाव का स्वरूप ब्रजलीला को लेकर ही बना है। संप्रदाय के मूल भाव के साथ ही श्रीमद्भागवत के अध्ययन के कारण इनकी ब्रजलीलाओं पर आस्था बनी रही ऐसा ज्ञात होता है। जहां तक काव्य-कला का प्रश्न है, इनकी अनेक रचनाएँ बहुत सुन्दर बन सकी हैं। भाषा प्रौढ है और उसमें प्रवाह है। काव्य को स्थान-स्थान पर अलंकृत किया गया है। कहीं-कहीं ये चित्रकाव्य बनाने के फेर में पड़े हैं। मध्याचरी इनकी ऐसी

---

[1] मिश्रबन्धुविनोद भाग २, पृ० ४०४।

[2] रसिक अनन्यमाल, दामोदर स्वामी कौ चरित्र।

ही रचना है। एक रचना भक्ति-सिद्धान्त व्रजभाषा-गद्य में लिखी गई है। इनका रचनाकाल सं० १६७० से १७०० तक माना गया है।[1]

नीचे इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है :—

भज मन रास रसिक किसोर।
गौर सांवल सकल गुन निधि, चतुर चित के चोर।
हरि रस भाजि प्रपंच छुट्यौ सब, रही न कछू संभार।
'दामोदर' हित देखत भूलें, सुर मुनि कौतिक हार।

सहचरि-सुख जी

सहचरि सुख का उपनाम 'सुख सखी' था। शिवसिंह-सरोज में ये नरवर के ब्राह्मण बताये गये हैं[2]। इनके पुत्र कविंद थे। इनका स्थितिकाल सं० १८०० के लगभग था। सम्प्रदाय में इनके सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं चलता।

श्री सहचरि सुख के एक ग्रन्थ 'रंगमाला' का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट सन् १९११ में हुआ है। संप्रदाय के साहित्य में इनके अनेक पद, मांझ, कवित्त, सवैया आदि प्राप्त होते हैं। इनके पद भी यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं।

श्री ध्रुवदास जी की जो मूर्त-अमूर्त की लक्षणात्मक विलक्षण शैली थी, उसका अनुकरण प्रत्येक कवि नहीं कर सकता था। ध्रुवदास जी की पद्धति के लिये विषय के प्रति अधिक संवेदनशीलता और भाषा पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। सहचरि सुख जी ने ध्रुवदास जी की पद्धति को विशेषरूप से अपनाया और अपने ढंग से उसे पल्लवित भी किया है।

इनकी सखीभावोपासना प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओं में नित्यविहार के विभिन्न अङ्गों का सुष्ठु वर्णन हुआ है। श्री ललिताचरण जी गोस्वामी के संग्रह में से इनके नीचे लिखे दो पद उदाहरण के लिये दिये जा रहे हैं :—

हेली कुंजनि रंग उलह्यौ अनंत।
मन मोहन तन फूल्यौ वसंत।
मैन लपेटी रूप कलि नव जोवन प्रगटत,
खिलति खुलति छवि विविध फूल बरसत लसंत।

---

[1] श्री हित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, पृ० ४६३।

[2] शिवसिंह सरोज, पृ० ५०२।

नव किशोरता मिलि मधु वरसत, कान्ह कुंवर पिय,
चित चिकनावत भये हैं सकामी महा संत ॥
'सहचरि सुख' वारी प्यारी तू लपटि ललना लाल,
उर है सिंगार की, अति ओपैगी स्याम कंत ॥
रूप वावरौ नंद महर कौ बहुरि वन्यौ होरी कौ छैल ।
रोकत टोकत घूंघट खोलत, भर पिचकारी तकत उरोजनि,
गोकुल की माई चलत गैल ।
छल सों मसलि गुलाल मुठी भरि, निरखि रहत पुनि
लाज न आवत, हिये मो होरी के फैल ।
कहियै कहा और 'सहचरि सुख', मंदन मवास रहत व्रज जाके,
अंग अंग जु कटीली सैल ।[1]

अनन्य अलि

अनन्य अलि जी का जीवन-परिचय उन्हीं की एक रचना 'स्वप्न-विलास' में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में कवि ने अपने जीवन के पूर्व वृत्त को स्वप्न के पन्द्रह प्रसङ्गों में स्मरण किया है। उसके अनुसार उनके जीवन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

अनन्य अलि का प्रारम्भिक नाम भगवानदास था। इनका परिवार परंपरा से राधावल्लभीय था। वड़े भाई भी इसी सम्प्रदाय के शिष्य थे। आठ वर्ष की आयु में ये भी इसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये।

वाल्यकाल में ही श्री हित जी के पद इन्होंने कंठस्थ कर लिये थे। क्रमशः इनकी भक्ति-भावना वढ़ती गई और ये प्रसिद्ध 'रसिक' हो गये। श्री राधा जी ने ही इन्हें 'अनन्य अलि' नाम दिया, जो सखीभाव का नाम है।

इनके गुरु का नाम गोस्वामी गोविन्द लाल था। वृन्दावन में ये ध्रुवदास जी की कुटी के पास रहते थे। इनका वृन्दावन आगमन-काल सं० १७५९ है। ग्रन्थों का रचनाकाल सं० १७५९ से १७९० तक मिलता है।

श्री अनन्य अलि सम्प्रदाय के एक वड़े वाणीकार हैं। इनके लिये ग्रन्थों की संख्या ७९ वताई जाती है। डॉ० स्नातक ने इनके ग्रन्थों की सूची भी

---

[1] श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य, गो० ललिताचरण, पृ० ४७१-४७२।

प्रस्तुत की है।[1] अनुमानतः इनके पदों की संख्या ६००० है। 'स्वप्न-विलास' गद्य-ग्रन्थ है।

अनन्य अलि जी की रचनाएँ सखीभावोपासना के विविध अंगों पर लिखी गई हैं। सिद्धान्त और लीला-विहार दोनों के ही पद बड़ी मात्रा में प्राप्त हैं। इनकी वाणी विशेषतः प्रसाद गुण युक्त है। इनके द्वारा रचित गद्य भी बहुत ही परिमार्जित और प्रवाहपूर्ण है। यहाँ इनके 'स्वप्न-प्रसङ्ग' अथवा 'स्वप्न विलास' ग्रन्थ में से श्रीराधा द्वारा इनका अनन्य अलि नाम रखने के प्रसङ्ग का उद्धरण दे रहे हैं :—

अथ त्रयोदश प्रसङ्ग

एक दिन सुपने में श्री जमुना जी को अति अद्भुत मंजुल अति अलौकिक दर्शन भयौ। रंग रंग मनि कुन्दन सों दोऊ कूल खचित झलमलात देखे। और छत्री भांति भांति की। भांति भांति के बंगला। दोऊ ओर के कूल पर चकाचौंधी ह्वै रही है। और दोऊ ओर के तरु बेली आपस में मिले हैं, लिपट रहे हैं। रंग रंग के फूल दल श्री जमुना जी में झूमि झूमि रहे हैं। तिन पर रंग रंग के विहंग भृंग खेलत हैं। किलकत हैं। मधुर मधुर सुर गावत हैं। श्री राधावल्लभ जी के भांति भांति रस जस गावत हैं। और रंग रंग बहु भांति के कमल फूल रहे हैं और रंग रंग मनि कुन्दन खचित सतेसा जल में झलक रहे हैं तिनकी सोभा तेज कोटि कोटि सूरज चन्द वृन्द से झलकत हैं। तिनके मधि सतेसा में श्री लाडिलीलाल और थोड़ी सखी हैं और अनेक सतेसानि में कोटानि कोटि सखी बैठी हैं। तिनके रूप सौंदर्यता छविन के पुंज मोपै कहे नहिं जाइं। मैं एक छत्री में ठाडौ ठाडौ सोभा देखत हौं। मन में अति अचरज मानत हौं। मोकों श्री लडैती जू मन्द मुसिकाइ 'अनन्य अलि' नाम लै लै बुलावत हैं। इतने में हौं जागि उठ्यौ। मैं अपने मन में धनि धनि बड़भागी मान्यौ। ता दिन ते मैं अपनौ नाम अनन्य अली वाणी में धर्यौ है। इति।

श्री रसिकदास

रसिकदास नाम के अनेक वाणीकार हुए हैं। ये रसिकदास राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य श्री वनचन्द्र जी के पौत्र धीरीधर जी के शिष्य थे।

---

[1] राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य,
डॉ० स्नातक, पृ० ४९४–४९७।

इनका समय सं० १६७० से १७६० तक माना जाता है। रसिकदास जी ने अपने ग्रन्थ 'प्रसाद-लता' में सं० १७४३, माधुर्यलता में १७४४ और रतिलता में १७४९ रचनाकाल दिया है। इनके ग्रन्थ 'रस-कदम्ब-चूडामणि' की रचना सं० १७५३ में हुई थी। इनके कुल २२ ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें विभिन्न छन्दों की सम्मिलित संख्या १३७६ है।

रसिकदास जी ने राधाकृष्ण की लीलाओं का गान विस्तारपूर्वक किया है। लीला के विभिन्न अंगों को विस्तार देने का इन्होंने प्रयत्न किया है। सखियों के यूथ और उनकी सेवाओं का क्रम 'रहस्य-लता' में वर्णित है।

कला की दृष्टि से इनकी कविता सर्वत्र प्रौढ़ नहीं है। यों तो इस रचना-राशि में अच्छे, सुगठित छंद भी मिल जाते हैं परन्तु अधिकांश में कला उत्कृष्ट नहीं है। कवि का ध्यान कलात्मकता की ओर विशेष रहने से कृत्रिमता का रंग आ गया है। शब्दों की तोड़-मरोड़ देखने को मिलती है। अलंकारादि के निर्वाह में भी प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। फिर भी अनेक स्थानों पर कविता सरल और सुन्दर है। एक उदाहरण प्रस्तुत है:—

उडमंडल सहचरिजन वृन्दा, मंडित मंडल विवि वन चन्दा।
अवलंबे आलंबन रहैं, महा सिंगार सार रस लहैं।
विविध विनोदन मोद बढ़ावैं, तिनके प्रेम कहे क्यों आवैं।
नित प्रति प्रीति रीति दुलरावैं, हित चिंतक अति हित दरसावैं।

थलक्रीड़ा स्रम उपसमन जलक्रीड़ा सुख देत।
जलक्रीड़ा स्रम समन थल, विवि क्रीडा रसहेत।
परसनि सरसनि अंक की, हुलसत हिय दुहुँ ओर।
नैन बैन अंग माधुरी, लये चित्त वित चोर।

(सुखसारलता से)

श्री हित अनूप और वंशीधर

संप्रदाय के साहित्य में लीला-विलास का विभिन्न दृष्टियों से विस्तार करने वाला ग्रंथ 'माधुर्य विलास' है। इस ग्रंथ के दो भाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की रचना श्री हित अनूप जी द्वारा हुई है और संभवतः उनकी मृत्यु हो जाने के कारण उसका उत्तरार्द्ध उनके मित्र वंशीधर जी द्वारा लिखा गया। हित अनूप गोस्वामी कमल-नयन के शिष्य थे और सहसवान

जिला वदायूं के निवासी थे। वाद में ये वृन्दावन आकर रहने लगे। वृन्दावन में ही इनकी मित्रता वंशीधर जी से हुई।

हित अनूप कृत 'माधुर्य-विलास' में केवल २९१ दोहा-चौपाई हैं। वंशीधरकृत उत्तरार्द्ध में लीला-संबंधी विविध मान्यताओं के उदाहरण हैं। ग्रंथ का रचनापूर्ति-काल सं० १७७४ प्राप्त होता है।

पूर्वार्द्ध में रचनाकार अपने युग में नायिका भेद एवं नख-शिख आदि के लेखन की जो परंपरा थी, उससे पूर्णतया प्रभावित ज्ञात होता है। जिस प्रकार वीर रस के कवि भूषण को रीतिकाल में होने के कारण नायिका भेद लिखना पड़ा था, उसी प्रकार इस युग में भक्त-कवियों ने भी अपनी दृष्टि से नायिका-भेदों का निर्माण किया। यद्यपि यह परंपरा सूर की साहित्य-लहरी और नंददास की रस-मंजरी आदि से वरावर पुष्ट थी परंतु रीतिकाल में इसका और भी विस्तार हुआ है। हित अनूप ने भी माधुर्य-विलास में ऐसा ही विस्तार किया है। अनेक स्थलों पर यह ग्रंथ भक्ति-सिद्धान्तों का विवेचन करता है परंतु नायिकाभेद के स्थलों पर यह सामान्य नायिका कथन का ही रूप ले लेता है। परकीया नायिका का भी विस्तार से वर्णन किया गया है, यद्यपि राधावल्लभीय पद्धति में परकीया को स्थान नहीं है। विलास के जो चार भेद वताये गये हैं, उनमें नवीनता तो है परंतु विभाजन मौलिक नहीं है। वपु, सौंदर्य, सजाति और काम संवंध के आधार पर क्रमशः आत्मता रस, रूप रस, सख्य रस और श्रृंगार रस का भेद भी स्पष्ट नहीं है वरन् भ्रांतिकारक है। सख्य और श्रृंगार को इस उपासना शैली में अलग-अलग नहीं किया जा सकता। वृन्दावन के वर्णन में लेखक ने विशेष नैपुण्य दिखाया है। परिभाषाएं सरल और सुंदर हैं। 'माधुर्यविलास' की परिभाषा है—

ईश्वरता ब्रह्मत्व कौ जहां न कोऊ त्रास।
केवल लीला लोकवत सो माधुर्य विलास।

वस्तुतः यह संपूर्ण ग्रंथ ही भक्ति-सिद्धान्तों को जानने के लिये अतीव उपयोगी है।

रानी वखतकुंवरि 'प्रियासखी'

डॉ० सावित्री सिन्हा के अनुसार ये दतिया राज्य की रानी प्रतीत होती हैं। राधावल्लभ संप्रदाय ही इनका गुरुकुल जान पड़ता है। प्रियासखी इनका

उपनाम था। इनकी एक पुस्तक 'प्रियासखी की वानी' के नाम से प्राप्त होती है, जिसका रचनाकाल सं० १७३४ है।[1]

प्रिया सखी की वानी से ज्ञात होता है कि ये सखीभाव की उपासिका थीं। प्रिया-प्रियतम के विहार का इन्होंने सुन्दर वर्णन किया है। नीचे उदाहरण के लिये दो पद प्रस्तुत किये जाते हैं :—

सखी ये दोई होरी खेलैं।
रंग महल में राधावल्लभ रूप परस्पर झेलैं।
रूप परस्पर खेलत होरी, खेलत खेल नवेलैं।
प्रेम पियक पिय नैन भरे तिय, रूप गुलाल सुमेलैं।
कुन्दन तन पर केसरि फीकी स्याम गौर भये मेलैं।
समर समर के सूर लरत दोई टूटत हार हमेलैं।
सन्मुख रुख मुसक्याति झपकि झुकि लाडिली लालहिं पेलैं।
'प्रियासखी' हित यह छवि निरखत, सुख की रासि सकेलैं।
प्रीतम हरि हिय वसत हमारे।
जोई करूं सोइ करत रैन दिन, छिन पल होत न जिय तें न्यारे।
जित तित तन मन रोम रोम में ह्वै रहे मेरे नैननि तारे।
अति सुन्दर वर अन्तर्यामी, 'प्रियासखी' हित प्रानहिं प्यारे।[2]

टीकाकार

इनके किसी अज्ञात टीकाकार ने इन पदों के पांच प्रसंगों द्वारा अर्थ निकाल कर टीका की है। ये पांच प्रसंग हैं...सिद्धान्त, रस कौ अर्थ, सखी कौ वचन सखी सों, श्री लाल जू को वचन श्री सखी -प्रिया सखी जू सों तथा वेप पलट। उपर्युक्त पद की पांचवें प्रसंग के अनुसार टीका उद्धृत की जा रही है :—

वेष पलट कहा कै। श्री प्रिया जू के रूप कों देखत। सखी प्रीतम रूप कौ रस पीकैं। छकि कें यह जानत हैं कै हम प्रिया हैं ये प्रीतम हैं। सो श्री लाल जी वा समय कहत हैं सखी सों। कै सुनो सखा प्रीतम उर हरि वसत हमारे।

---

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, डा० सावित्री सिन्हा, पृ० १७१।

[2] वही, पृ० १७२।

के हमारे प्रियतम हमारे हिय में बसत हैं यह बात प्रीतम के मुखारविंद की सुनिकें सखी सब परस्पर हँसत हैं...इत्यादि ।[1]

श्रीचंदसखी

उत्तर भारत के प्रसिद्ध लोकगीतकार चंदसखी के नाम से प्रायः सभी परिचित हैं। इस प्रसिद्ध लोकगीतकार और भक्त-कवि के सम्बन्ध में इधर कई ग्रन्थों की रचना हुई है, जिनमें से कुछ में उन्हें स्त्री और कुछ में पुरुप ठहराया गया है। इधर प्रभुदयाल जी मीतल ने उनके सम्बन्ध में अनेक लेख और कुछ ग्रन्थ लिखकर उन्हें पुरुप कवि ही सिद्ध किया है।[2] वे पुरुप ही थे अपने सखी भाव के नाम के कारण ही इनके सम्वन्ध में स्त्री होने का भ्रम हुआ है। ये राधावल्लभीय गोस्वामी हरिलाल जी के शिष्य बालकृष्ण स्वामी के शिष्य थे। चंदसखी नाम की छाप के साथ बालकृष्ण की छाप भी ये अपनी अनेक रचनाओं में रखते हैं। इनका समय सं० १७५० के लगभग निश्चित होता है। ये चाचा जी से पूर्ववर्ती थे, चाचा जी ने इनके संबंध में 'रसिक अनन्य परिचयावली' में लिखा है :—

> महत सभा आभरन, अनन्त सन्त रहैं लारे।
> अति कमनीय किसोर चरित पद रचि विस्तारे।
> जिते भूप हरि भक्त रहैं आज्ञा अनुसारी।
> श्रीहरिलाल प्रसाद भजन प्रभुता भई भारी।
> श्रीहरिवंस प्रसंस चित, बालकृष्ण की छाप तें।
> श्री चंदसखी जग जगमगे, निज राधा इष्ट प्रताप में।[3]

चंदसखी लोकगीतकार के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं परन्तु इधर इनकी पदावली भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुई है। संप्रदाय की मान्यता के अनुसार बाललीला और वियोग वर्णन को छोड़कर इनकी रचनाओं में नित्य विहार एवं अन्य लीलाओं का वर्णन अच्छा हुआ है। नीचे उनका रास-सम्बन्धी एक पद प्रस्तुत किया जा रहा है :—

---

[1] वही, पृ० १७३। १०

[2] उत्तरप्रदेश सरकार और ब्रज साहित्य मंडलद्वारा प्रकाशित संबंधित ग्रंथ तथा देखिए हिन्दी-अनुशीलन, सितंबर १९५७।

[3] रसिक अनन्य परिचयावली १९६।

ए दोऊ निर्तत नवल कमल मंडल में अंसनि पर भुज दीयैं री।
गावत मोद बढ़ावत भावत संग सहचरी लीयैं री।
बाजत ताल मृदंग बांसुरी, गति सों मिलि तन कीयैं री।
बरसत रंग अनंद बिमोहत, निरखि थकित रति जीयैं री।
काहू सुधि न रही तन मन की, प्रेम सुधा रस पीयैं री।
'चंदसखी' दंपति छवि सजनी, सदाई बसौ मेरे हीयैं री।

चंदसखी की परम्परा में 'रसिक सखी' और 'वल्लभसखी' भी अच्छे रचनाकार हुए हैं।

गोस्वामी रूपलाल जी

गोस्वामी रूपलाल जी का जन्म सं० १७३८ और अन्तर्धानकाल सं० १८०१ है। श्री ललिताचरण गोस्वामी ने श्रीरूपलाल जी के नाम से राधावल्लभीय साहित्य में एक काल माना है, जो उनके अनुसार १७७५ से १८७५ तक है।[1] यद्यपि इस काल की मान्यता के लिये विशेष आधार नहीं हैं फिर भी गोस्वामी रूपलाल जी और चाचा हित वृन्दावनदास जी दो ही इतने बड़े समर्थ वाणीकार हुए हैं कि इनकी रचनाएँ राधावल्लभीय साहित्य का एक बड़ा अंग हैं। इस काल के साहित्य की विशेषता ही यह है कि इस समय के वाणीकारों ने साहित्य के अन्तर्गत जीवन के अधिक क्षेत्रों को समेटने का यत्न किया है। सूक्ष्म निकुंजलीलाओं के सीमित क्षेत्र से निकल कर इस समय का साहित्य भगवान् के ऐश्वर्य और माधुर्य—सभी ओर विकसित हुआ है। चाचा वृन्दावनदास जी ने तो और एक पग आगे बढ़ कर श्री रामचरित्र का भी गान किया है। इन वाणीकारों की व्यापक चरित्र-वर्णन की प्रवृत्ति जहाँ साहित्य के लिये अच्छी बात है वहीं संप्रदाय की अनन्य निष्ठा के दृष्टिकोण से विचारणीय भी है।

श्री वृन्दावनदास जी ने अपने गुरु श्री रूपलाल जी का चरित्र लिखा है। इस रचना का नाम 'श्री हित रूप-चरित्र-वेली' है। अन्य ग्रन्थों में भी उन्होंने गुरू के संबंध में अनेक उल्लेख किये हैं, जिनसे उनकी उच्चकोटि की भावुकता और भक्ति के प्रमाण मिलते हैं। इनके जीवन की सबसे बड़ी घटना मानी जा सकती है जयपुर नरेश राजा जयसिंह द्वारा आयोजित एक धर्मसभा में राधा-

---

[1] श्री हित हरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य, पृ० ३५५।

वल्लभीय मत की वेदानुकूलता दिखाना। सखी-संप्रदाय के रसिकदास और पीतांबरदास को भी इस आह्वान का सामना करना पड़ा था परन्तु वे स्वतंत्र सत्ता सिद्ध न कर सकने के कारण निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत चले गये। वे भाष्यादि के झंझट से बच गये, परन्तु राधावल्लभीय गोस्वामी रूपलाल जी और चाचा जी ने अपनी स्वतंत्रता ही घोषित की। इतना अवश्य हुआ कि

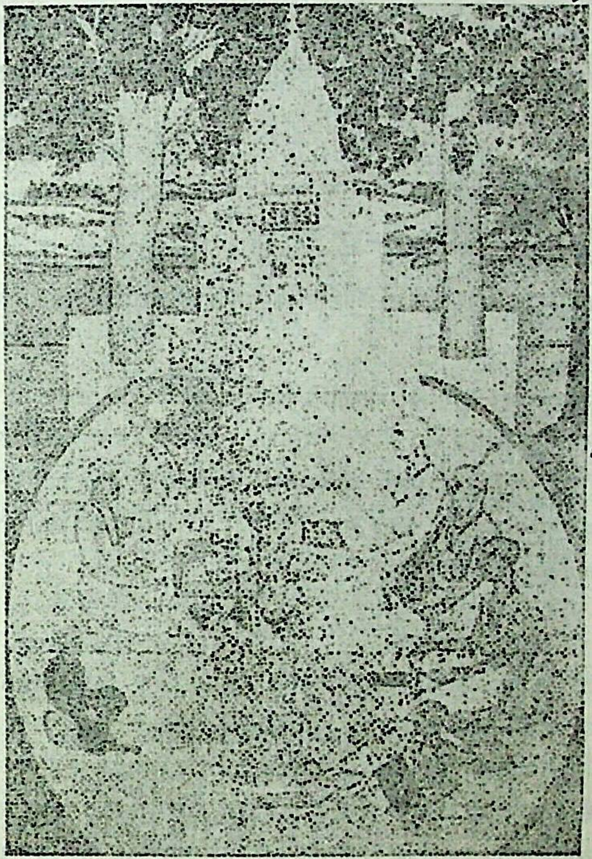

आसन पर श्री हित रूपलाल जी, सामने अन्य रसिकगण
चाचा वृन्दावनदास जी बांई ओर तृतीय

उन्होंने निकुञ्ज की सूक्ष्म उपासना के स्थान पर प्रकट रूप में श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं का ही अधिक गान किया। इसका कारण यह था कि राधाकृष्ण

की व्रज लीलाओं के महत्व के संबंध में अन्य अनेक आचार्य पहले से ही लिखते चले आ रहे थे। अतः इस रूप में इन्होंने अपने को बचा लिया। परन्तु इसके लिये उन्हें अपना बहुत-सा समय लगाना पड़ा और प्रायः वे बीस वर्ष वृन्दावन से बाहर रहे।

गोस्वामी रूपलाल जी के ग्रन्थों की संख्या 'साहित्य-रत्नावली' के अनुसार ८३ है।[1] इनके प्रमुख प्राप्त ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—'वर्षोत्सव, रस-रत्नाकर, राधा-स्तोत्र, वंशी-अवतार, प्रकट-विलास, हरिवंस-नामावलि, गादी-सेवा-प्रकट, वनलीला, निकुञ्ज-केलि-लीला, हित-प्राकट्य-प्रमाण, श्री राधावल्लभीय संप्रदाय-निर्णय, सर्वस्व सिद्धान्त भाषा सार, आचार्य गुरु सिद्धान्त, समय-प्रबंध, मानसिक सेवा, वृन्दावन-रहस्य, प्रिया ध्यान, वाणी विलास, मन शिक्षा-बत्तीसी आदि।

इनके कुछ ग्रन्थों के नाम मिश्रबन्धुओं ने भी लिखे हैं। उनके अनुसार इनका रचनाकाल सं० १७७५ और इनके गुरु का नाम गो० हीरालाल बताया गया है।[2]

काव्य-गुण की दृष्टि से गोस्वामी रूपलाल जी के पद उत्कृष्ट तो नहीं हैं परन्तु प्रसादगुण-संपन्न हैं। सिद्धान्त-प्रतिपादन की ओर लगन होने के कारण भाषा सीधी सादी है। इनके अनेक पद वर्षोत्सवों में गाये जाते हैं। लीला संबंधी पद साधारणतया अच्छे हैं। वर्षोत्सवों में गाये जाने वाले पदों में से उदाहरणार्थ छंद दिये जाते हैं—

फाग

खेलत फाग सुहाग भरे अनुराग सों, दंपति नित्य किसोर रसिक बड़भाग सों।
ताल मृदंग उमंग पणव डफ बाजहीं, मुरली धुनि सुनि श्रवन मैन मन लाजहीं।
झुकि झुकि झुंडनि झुंडनि सहचरि गावहीं, लाल लडैती प्रेम छकी दुलरावहीं।
अपने अपने मेलि लियैं चहुँ ओर तें, रुपे सूर सनमुख कछु कहत मरोर तें।
चपला सी चमकाति चहूं दिसि भामिनी, घेरि लिये घनस्याम किये दिन जामिनी।
रंग भरी पिचकारी छुटति हैं हेम की, दुरि दुरि भरति लरावति गारी प्रेमकी।
सौंधै भरी कमोरी जोरी लावहीं, कुमकुम मेलि फुलेल सुखैं लपटावहीं।

---

[1] साहित्य रत्नावली, सं० किशोरीशरण अलि, वृन्दावन।

[2] मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ६१५।

लियौ करपूर पराग झोरि भरि भरि तवै, उडवत अबीर गुलाल कहत होहो सवै।
झूमकि दै दै नाचतिं दम्पति लाडिले, नेह भरे खिलवाड भरे चित चाडिले।
नील पीत पट गांठ जोरि ललिता दई, निरखि हंसति मुँह मोरि 'रूपहित' वलि गई।[1]

यह रस दुर्लभ जग में जानौ।
नित्यविहार केलि वृन्दावन, प्रीति रीति पहिचानौ।
निगमागम शिव विधि सनकादिक, परम तत्व उर आनौं।
'रूपलाल हित' रसिक उपासक, प्रेमी प्रेम वखानौं।

चाचा वृन्दावनदास जी

व्रजभाषा के रचनाकारों में परिमाण की दृष्टि से लिखनेवालों में चाचा वृन्दावनदास जी अग्रगण्य हैं। इनके साहित्य की विपुलता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इनकी प्राप्त रचनाएँ महाकवि सूर की प्राप्त रचनाओं से कहीं अधिक हैं। अनुश्रुति के अनुसार सूर ने सवा लाख पदों की रचना की थी, परन्तु प्रसिद्धि है कि चाचा जी का कृतित्व चार लाख पद परिमाण का था।

चाचा वृन्दावनदास जी का जन्म और मृत्यु संवत् निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं। उनकी रचनाओं से उनका रचनाकाल अवश्य ज्ञात होता है। इनका रचनाकाल सं० १७९५ से सं० १८४४ तक है। डॉ० स्नातक ने रचनाकाल के आधार पर ही चाचा जी का जन्म सं० १७५० से १७६५ के वीच और अवसानकाल १८४४ के आसपास माना है।[2]

चाचा जी की जाति के संवंध में मतभेद है। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण मानते हैं, कुछ किंवदंती के अनुसार वैश्य और कुछ इन्हें कायस्थ भी मानते हैं। उनका जन्मस्थान कहां था यह भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। शुक्ल जी ने उनका निवासस्थान पुष्कर क्षेत्र लिखा है,[3] परन्तु वे वहाँ के निवासी नहीं थे, कुछ समय वहाँ रहे अवश्य थे। उनके ग्रन्थों से यही ज्ञात

---

[1] शृङ्गार रस सागर, वृन्दावन।
[2] राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, डा० स्नातक, पृ० ५१२, ५१३।
[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १८८।

होता है कि ये जन्म से ही व्रज में रहे थे परन्तु विभिन्न विप्लवों के कारण इन्हें प्रायः बाहर जाना पड़ा था। 'आर्तपत्रिका' में व्रज छोड़ने की व्याकुलता में इन्होंने लिखा है—

जन्म से सेई चु व्रजरज, अब हियौ अकुलाइ।

वृन्दावनदास जी के नाम के साथ 'चाचा' जुड़ा है। इसका कारण है कि तत्कालीन गोस्वामी उन्हें पिता के गुरुभाई होने के कारण 'चाचा जी' कहा करते थे। बाद में ये उसी नाम से प्रसिद्ध हो गये।

चाचा वृन्दावनदास जी के साहित्य का परिमाण विपुल है। 'साहित्य रत्नावली' में उनके १५८ ग्रन्थ बताये गये हैं, श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार यह संख्या दो सौ है। उनके प्रमुख ग्रन्थों की संख्या मीतल जी ने इस प्रकार दी है......७ सागर, ५ पदावली, ४ इतिहास संबंधी काव्य-कृतियाँ, २ सांझ, २० अष्टक, २ षोडशी बत्तीसी, १४ पच्चीसी, ६० बेली, ४२ छद्म, तथा ४० अन्य ग्रन्थ।[3] चाचा जी का उल्लिखित सम्पूर्ण साहित्य न तो अभी तक उपलब्ध है और न उनके ग्रंथों के संपूर्ण नामों का संकलन ही हो पाया है। अभी कुछ समय पूर्व उनका राम-चरित्र सम्बन्धी एक विशाल ग्रन्थ वृन्दावन में उपलब्ध हुआ है, जो इस सम्प्रदाय के भक्त-कवि के लिये अनोखी बात ही समझी जा सकती है।

चाचा जी के ग्रन्थों के विषय और वृत्तियां विस्तृत हैं परन्तु वे प्रमुख रूप से राधाकृष्ण की रहस्यलीलाओं के गायक हैं। उन्होंने राधाकृष्ण की निकुञ्ज लीलाओं और व्रजलीलाओं का सम्मिलित रूप से वर्णन किया है। इनकी यह पद्धति राधावल्लभ सम्प्रदाय की मूल मान्यता के अनुकूल ही है। सम्प्रदाय के अनुसार ही व्रजलीलाओं में भी राधा-प्राधान्य सभी लीलाओं में रहता है।

वृन्दावनदास जी केवल शृङ्गार तक ही सीमित नहीं रहे हैं। उन्होंने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य का भी भरपूर वर्णन किया है। 'लाड़-सागर' में राधा के बाल्य-वर्णन भरे पड़े हैं। दोनों का ही बाल-चापल्य और बाल विनोद इस ग्रन्थ के विषय बने हैं परन्तु क्रमशः राधाकृष्ण की प्रेम-सगाई, विवाह और इसके अनन्तर माधुर्य भाव की छटा दिखाई गई है। इन लीलाओं में

---

[3] सम्मेलन-पत्रिका सन् १९५२ में श्री प्रभुदयालमीतल का लेख, पृ० ८७ से ९३।

राधाकृष्ण का पूरा परिवार ही नहीं सबका सब ब्रज-गोकुल भागीदार है। केवल दम्पति का अनुराग ही नहीं माता-पिता, सखियों आदि सभी के मनोरागों की व्यंजना इस काव्य में अधिक हुई है। श्री राधाकृष्ण की स्वकीया दाम्पत्य लीलाओं का आनन्द तो कवि सखीभाव से प्राप्त करता ही है, अन्य लीलाओं में भी उसकी यही वृत्ति है। वस्तुतः यह ब्रजक्षेत्र में सखीभाव का प्रसार ही है।

'लाड़-सागर' के समान ही चाचा जी का दूसरा विशाल ग्रन्थ 'ब्रज-प्रेमानन्द-सागर' है। इसमें भी श्री राधाकृष्ण के शैशव का क्रमशः विकास दाम्पत्य में परिणत हो जाता है। कवि ने विभिन्न लीला-तरंगों से इस आनन्द-सागर का निर्माण किया है। ब्रज-संस्कृति की स्वाभाविक छटा इसमें सर्वत्र परिलक्षित है।

चाचा जी के अष्टक ग्रंथों में प्रायः स्तुतियां हैं। वेलियों में लीला, सिद्धान्त या इतिहास वर्णित है। छद्म-ग्रन्थों में प्रायः राधाकृष्ण का लीला-विलास ही ग्रथित है। चाचा जी के ये छद्म ग्रन्थ राधाकृष्ण की लीलाओं का विस्तार करने वाले सुन्दर वर्णनात्मक काव्य हैं। 'श्री रास-छद्म विनोद' नाम से ३७ लीलाओं का संग्रह श्री रूपलाल गोस्वामी ने वृन्दावन से प्रकाशित कराया था। डॉ० स्नातक ने रास-छद्म-विनोद की समीक्षा को अपने ग्रन्थ में अधिक महत्व नहीं दिया है परन्तु सखीभाव के उपासकों के लिये इन ग्रंथों की लीलाओं का पूर्ण महत्त्व है। रासलीलानुकरण में भी इन छद्मों को अभिनीत किया जाता है।

छद्मों की लीलाओं का ढांचा प्रायः एक जैसा ही है। विभिन्न लीलाओं में श्रीकृष्ण विभिन्न रूप धारण कर श्रीराधा जी से मिलने जाते हैं। सखियाँ उनकी सहायता करती हैं। अन्त में प्रिया जी के समक्ष जाकर लाल जी का भेद खुल जाता है और प्रिया-प्रियतम मिल जाते हैं। इन लीलाओं में गौनेवारी लीला, चितेरिन लीला, सुनारिन लीला, मनिहारिन लीला, बिसातिन लीला, पटविन लीला, मैनावारी लीला, सात-आठ प्रकार की जोगी लीला, होरी विवाह लीला, महाराज लीला, प्रिया जी की भुराई लीला आदि हैं। इन लीलाओं को लिखने का उद्देश्य असीमित वृंदावन रस का वर्णन करना ही है। लेखक ने स्वयं कहा है :—

प्रेम हिये इत उत वली, हौं कौतिक रचत अनंत।
श्री व्यास सुवन परसाद तें, कछु वरनैं तदपि न अंत।
सागर मित जु सुमेर मित, अरु मित नद-नदी प्रवाह।
वृन्दावन हित रूप रस व्रज विनु मित सिंधु अथाह।[1]

अष्टयाम, वेली, अष्टक आदि में माधुर्य रस का सागर लहरा रहा है। इन सभी में शैली-भेद से चाचा जी ने हित-तत्व को प्रकाशित किया है। प्रिया-प्रिय के सूक्ष्म प्रेम की व्यंजना स्थान-स्थान पर चाचा जी ने की है। प्रिया के निकट होते ही लाल जी की मति ऐसी बौरी हो जाती है कि व्याकुल होकर 'हा राधा, हा राधा' पुकार उठते हैं......

प्रिया रूप सब ठौर, तदपि कहत प्यारी कहाँ।
भई प्रेम गति और, श्री राधा करि कृपा मम।
व्याकुल विरह व्रजेस, हा राधा पुनि पुनि कहत।
करुना भई विसेस, श्री राधा करि कृपा मम।
तजि कौतुक अकुलाइ, प्रिया लाल आंकौ लये।
दियौ मधुपान अघाइ, श्री राधा करि कृपा मम।[2]

'रसिक पथ चन्द्रिका' नामक संकलन में भी नित्यविहार के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है। 'रस हद, गुन-हद, रूप-हद, वन-हद नित्य विहार' के दर्शन करने के लिये तत्सुख अलिभाव (सखीभाव) ही एकमात्र उपाय वताया गया है :—

गौर स्याम कानन रमैं, नित रस लीला कृत्य।
तत्सुख वरनैं भाव अलि, हित पद भजनी भृत्य।[3]

चाचा जी कहते हैं कि नित्यविहार-रस अनुभव-जन्य है अतः अनुभव में ही चित्त लगाना चाहिए—

यह रस अनुभव जनित है, मन दै गाढ़ी रीति।

इस रस को रसिक जन छिपाये फिरते हैं, किसी से कहना नहीं चाहते,

---

[1] वृन्दावनदास जी की छद्म लीलाएँ, लेखक का निजी संकलन पृ० २०२।
[2] कृपा अभिलाष बेली, चाचा वृन्दावनदास, ७१-७३।
[3] रसिक पथ चन्द्रिका २१, पृ० ३।

परन्तु बिना कहे रहा भी नहीं जाता। वास्तव में इस सुख को उपासक के नेत्रों को देख कर ही जाना जा सकता है—

मन हू सों दबकाऊँ बतियां, पुनि बिन कहे बनै ना।
जो गरुवौ सुख देख्यौ चाहौ, तौ देखौ मो नैना।
गौर स्याम राजत सेज्या पर, ओढ़ैं एक उपरैना।
'वृन्दावन हित रूप' स्रवन सुनि, रति रन वदत जु वैना।[1]

काव्य-गरिमा

चाचा वृन्दावनदास जी का काव्यक्षेत्र और रचना-परिमाण इतना विशाल है कि संक्षेप में उसके संबंध में कुछ भी कहना संभव नहीं है। उनके काव्य में काव्य-रचना की समस्त भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन शैलियाँ सम्मिलित हैं। गेय पदों से लेकर प्रायः सभी प्रकार के प्रबन्ध, वृत्त एवं छंदों के साथ ही लोकगीतों की विभिन्न परम्पराओं को भी उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया है। साथ ही इन सब में ये अनेक स्थानों पर पूर्णतया सफल भी हुए हैं, सच्चे कवि रूप में उभरे हैं। अनेक स्थल इसमें ऐसे भी हैं जहां उनकी रचना साधारण श्रेणी की हो गई है परन्तु यदि उनकी श्रेष्ठ रचनाओं को भी छांट लिया जाय तो भी वे व्रजभाषा के प्रमुख कवियों में स्थान पा सकेंगे, परिमाण की दृष्टि से तो वे मूर्द्धन्य हैं ही।

चाचा जी की कविता में एक स्वाभाविक वर्णनात्मकता है। काव्यगुण लाने के लिये उन्होंने प्रयत्न, परिश्रम किया है, ऐसा कहीं नहीं लगता, न उनकी ओर उनकी दृष्टि ही है। चाचा जी काव्य-रचना लिख कर नहीं करते थे, अपितु बोलते जाते थे और उनका 'लिखिया' लिख लिया करता था। ऐसी स्थिति में अलंकरण की गुञ्जाइश भी नहीं रहती फिर भी उसमें अनेक स्थानों पर सच्ची अनुभूति के साथ ही स्वाभाविक अलंकरण है, प्रौढि है। ढूंढने पर उनके काव्यसागर में सभी अलंकारों के उदाहरण मिल जायेंगे परन्तु एक ही स्थल पर अनेक अलंकार उनकी रचना में कदाचित् ही मिल सकें।

उनकी भाषा बोलचाल की घरेलू बोली जैसी है परन्तु वही कहीं-कहीं पूर्ण साहित्यिक भी हो जाती है। मुहावरे और लोकोक्तियों को उन्होंने अपनी भाषा में अधिक महत्व दिया है, जिससे वह व्यावहारिकता के निकट रही है।

---

[1] रसिक पथ चन्द्रिका, पृ० १९।

चाचा जी की भाषा प्रधानतया भाव का अनुगमन करती है। भाव अथवा लीला भाषा के बोझ से कहीं छिपती नहीं। कला भावों की सहायक ही हुई है, वह भी ऋजुता के साथ। उनके पदों में एक उल्लास है, भाषा मिठास के साथ उसी को उठाये चलती है। उनके द्वारा लिखा 'वसंत' का एक पद देखिये :—

रच्यौ है वसंत कुञ्ज दुआर।
प्रथम मही रितुराज आगम बढ्यौ मोद अपार।
सखी ललिता करति विनती, सुनहु प्रान अधार।
देखिये वनराज सोभा, चालियै इहिं बार।
जहां तहां नव भये पल्लव, झुके कुसुमनि भार।
कोकिला कल पढति बानी, करत अलि गुञ्जार।
कीजियै मन सफल इच्छा, दीजियै सुख-सार।
वचन-रचन विचारि हंसि-हंसि, कियौ दुहुँनि सिंगार।
अति सुगंध अवीर अरगज औरु वसि वनसार।
विविध भांति संवारि सखियनि भरे कंचन थार।

... ...

वृन्दावन हित रूप सहचरि, मुदित निरखि विहार।[1]

तत्सम प्रधान शैली के एक पद का उदाहरण देखिए :—

किंकिणि दुन्दुभी चंद्रिका धुज मनौं, मदन गढ़ लैन कौं नवल नागरि चली।
कियौ प्रस्थान उत्साह मन कौं दियौ, सुरत रन खेत सिज्या जु सोभित अली।
अंग हरखे, सुभट अगमने पग जु धरत, परम कौतुक करत मन जु यह
अति वली।
लाल के भाल पर तेज अति जगमग्यौ, डहडहे नैन ज्यौं खिल्यौ वारिज कली।
सजी सेना जु अभिलाष नाना मनौ, महल में अपूरव होगयी रंगरली।
कोक की कला सब लाजु अब होयगी, पगेंगी सुविधि चित्त वृत्ति रूपा अली।
वलय कंकण विजय सुजस अब गाइहैं, प्रेम बस निरखि वन्दें मदन पग तली।
'वृन्दावन हित रूप' राधिका लाल मिलि, सेज निवसित भये वारि पुहुपावली।

---

[1] लेखक के पास चाचा वृन्दावनदास जी का वाणी-संग्रह (हस्तलिखित)

इनका एक कवित्त भी प्रस्तुत है :—

रचि पचि वनाई, किहिं भांति धौं उपाई,
किधौं मथि कें निकाई रची विधि काहू और है।
लेत ही पिचक हाथ, कटि हू लचकि जात,
रंग की भरनि कैसें चलिहै यह दौर है।
वृंदावन हित रूप स्वामिनी त्रियानि भूप,
खेलि हौं विचारि स्याम यह होरी और है।
फुटक गुलाल एक परी है कपोल आइ,
ताके डर भार होत मेरी मति वौर है।

श्री चन्द्रलाल गोस्वामी

ये गोस्वामी जी चाचा जी के समकालीन थे और वनचंद जी की कन्या किशोरी जी के वंश में थे। इनके पिता का नाम गोवर्धननाथ था। इनकी रचना रीतिकालीन कवियों की उत्कृष्ट कविता से होड़ लेती है। भाषा की सजावट और चमक-दमक भी वैसी ही है। इनके नौ ग्रंथों तथा कुछ पदावली का उल्लेख डा० स्नातक ने किया है।[1] लेखक ने इनके हस्तलिखित ग्रन्थों का अवलोकन किया है, जिनमें एक प्रबोधानंद सरस्वतीकृत वृन्दावन-महिमा का पद्यानुवाद भी है। इनकी कविता के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

रूप के सरोवर में अली कुमुदावली हैं,
लाल हैं चकोर तहां राधा मुख चन्द है।
छवि की मरीचिन सों सींचत हैं निसिदिन,
कोटि कोटि रवि ससि लागैं अति मंद हैं।
इकटक रहैं मुख नाम मुख लहैं फिर,
कृपा-दृष्टि चहैं सुख रूप नन्दनन्द हैं।
जाकों वेद गावैं, मुनि ध्यान हू लगावैं,
तेतौ वलि वलि जावैं हित फँसे प्रेम-फंद हैं।

(भावना पच्चीसी से)

चञ्चल ह्वै वैनी सुष्ठ पुष्ट है जघन अति,
कृश कटि राजत किसोरी रंग भीनी है।

---

[1] राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, परिशिष्ट १।

नाना भांति कंचुकी में राजत अनूप कुच,
तिन मांझ हार छवि सोहत नवीनी है।
नाना दिव्य आभरन बरन मनोहर हैं,
केसर सी गोरी अंग अंग में प्रवीनी है।
वृन्दावन मांझ राधा जू की निज 'सखी चन्द',
हित सो सुमिरि रस रूप व्है अधीनी है।
(—वृंन्दावन महिमा, द्वितीय शतक २२)

राधावल्लभ संप्रदाय में अनेक सुकवि हुए हैं, एवं अब भी विद्यमान हैं। व्रजक्षेत्र एवं बाहर भी यह एक जीवित-जाग्रत सम्प्रदाय है, जिसके सहस्रों अनुयायी हैं।

* * *

चतुर्थ अध्याय

निम्बार्क सम्प्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि

निम्बार्क संप्रदाय का मूल उपास्यभाव और सखीभाव

सिद्धान्त पक्ष में विस्तार से विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर उपनीत हुए हैं कि श्री निम्बार्क की अपनी उपासना श्री, भू और लीला सहित नारायण की उपासना थी, जो बहुत कुछ रामानुज के अनुसार थी[1]। वासुदेव शब्द भी उनके भाष्य में यत्र-तत्र मिलता है, परन्तु प्रधानता रमाकान्त पुरुषोत्तम की ही है।[2] श्रीनिवासाचार्य विरचित 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक ब्रह्मसूत्र भाष्य में श्रीकृष्ण की उपासना का परिचय प्राप्त होता है। उनके अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं।[3] आगे चल कर प्रमुख रूप से श्री केशव काश्मीरि भट्ट ने श्री निम्बार्क और श्रीनिवासाचार्य के ग्रन्थों का उल्लेख कर अपना मत-संकलन किया है और 'वेदान्त-कौस्तुभ प्रभा-वृत्ति' में उन्होंने श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना है। निम्बार्क-संप्रदाय के उपास्य देवता प्रारम्भ में नारायण, कालक्रमानुसार श्रीकृष्ण और उनके गोपालादि अनेक रूप रहे हैं। श्रीराधा का उल्लेख श्रीकृष्ण के साथ कम ही हुआ है, जहाँ हुआ भी है, वहाँ कृष्ण की ही प्रधानता है। उपासना-पद्धति भी वैधी, कर्मकाण्डमय अथवा तांत्रिक रही है। स्वामी हरिदास जी के समय के लगभग ही इसमें सखीभाव की उपासना का प्रवेश हुआ। केशव काश्मीरि भट्ट के शिष्य श्रीभट्ट जी ने प्रथम बार संस्कृत के स्थान पर ब्रजभाषा में साहित्यरचना की और ब्रज रस का गान किया। उनके शिष्य हरिव्यासदेव जी ने 'महावाणी' की रचना की (?) जो इस सम्प्रदाय का प्रमुख रस-ग्रन्थ है।

निम्बार्क संप्रदाय में दर्शन और भक्ति की व्यापक मान्यताएं स्वीकृत हैं। इस सम्प्रदाय की मूल विचारधारा में भगवान् के ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों पक्षों का बराबर योग रहा है। लीलारस के साथ दर्शन का योग रहा आने से

---

[1] देखिये, भागवत संप्रदाय, श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१४।

[2] देखिये सू० १.१.४ की व्याख्या तथा १.१.१ आदि।

[3] देखिये, सू० १.१.१ की व्याख्या।

राधा-कृष्ण के अन्दर ब्रह्म-भाव की प्रधानता स्वाभाविक थी। निम्बार्क संप्रदाय के विद्वान् स्वामी परमानन्ददास जी का कथन है कि "श्री निम्बार्काचार्य ने साधकों को परम मोक्ष की प्राप्ति कराने के लिये, ब्रह्म की साधना प्रवर्तित की है...निम्बार्क सम्प्रदाय के साधक सत्व गुणाधिपति भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना को ही मुख्य रूप से ग्रहण करते हैं। इस श्रेणी के वैष्णवजन श्रीकृष्ण और राधिका रूप युगलमूर्ति की उपासना का विशेष रूप से आलंबन करके भी उसको सर्वविषयक ब्रह्मबुद्धि के अंगरूप में ही ग्रहण करते हैं।"[1] इसका निष्कर्ष है :—

१. निम्बार्क संप्रदाय की मूल उपासना ब्रह्मभाव की है।

२. उसकी एक श्रेणी राधाकृष्ण की उपासक है।

३. राधाकृष्ण की मान्यता ब्रह्मबुद्धि के अंगरूप में है, स्वतन्त्र रसरूप में नहीं।

संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी निम्बार्क संप्रदाय का साहित्य प्रचुर मात्रा में है परन्तु अभी तक उसकी सम्यक्रूपेण शोध समीक्षा नहीं हो सकी है। यह साहित्य अधिकांश में सखीभाव का ही साहित्य है, जिसमें कहीं-कहीं निकुंज का स्तर स्वीकृत है परन्तु विशेषतः यह ब्रजलीलाओं से ही संबंधित है। वर्तमान काल में इस संप्रदाय के अनेक विद्वन् अपने संप्रदाय को सखीभाव का ही संप्रदाय मानते हैं।

संप्रदाय की रस-पद्धति का आधारग्रन्थ 'महावाणी' है। इसका लक्ष्य एक विद्वान् द्वारा बताया गया है—"सखीभाव से प्रिया-प्रियतम की निकुञ्ज केलि में सेवा करना।" स्वामी हरिदास जी की रस-पद्धति से इस उपासना में अन्तर है, इसका उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—"स्वामी हरिदास जी के उपासनीय रस के अङ्गों से महावाणी के निकुञ्ज का स्वरूप थोड़ा भिन्न है। महावाणी में भी नित्यविहार का वर्णन है, किन्तु साथ ही जन्म, विवाह आदि की नैमित्तिक लीलाएँ भी आ गई हैं। स्वामी हरिदास जी की, सहचरी के स्वरूप में, श्री लाडिली जी के प्रति विशेष आत्मीयता है जब कि श्री हरिव्यासदेव जी के सहचरी स्वरूप में सेव्य-सेवक भाव अधिक है। स्वामी जी की निकुञ्ज में सखियों के यूथ नहीं हैं। श्री हरिव्यासदेव जी की निकुंज में सहस्रों सखियां अलग-अलग यूथों में बँटी सेवा में तत्पर रहती हैं।'[2] दोनों की पद्धति में अन्तर बताते हुए वे कहते

---

[1] कल्याण, भक्ति अंक, पृ० १८४।

[2] स्वामी हरिदासजी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृ० ४३८।

हैं, साधारण कर्मकाण्ड में श्री मूल निंबार्क सम्प्रदाय की उपासना स्वामी हरिदास जी की उपासना से भिन्न है। स्वामी जी की उपासना में वेदशास्त्र की मर्यादा, विधिभक्ति आदि का खंडन है, जबकि हरिव्यासी परंपरा में शास्त्रानुमोदित पूजा-पद्धति, तीर्थव्रत आदि ग्रहण किये जाते हैं।[1] यह उद्धरण हमारी पहले कही हुई बात का समर्थन करता है।

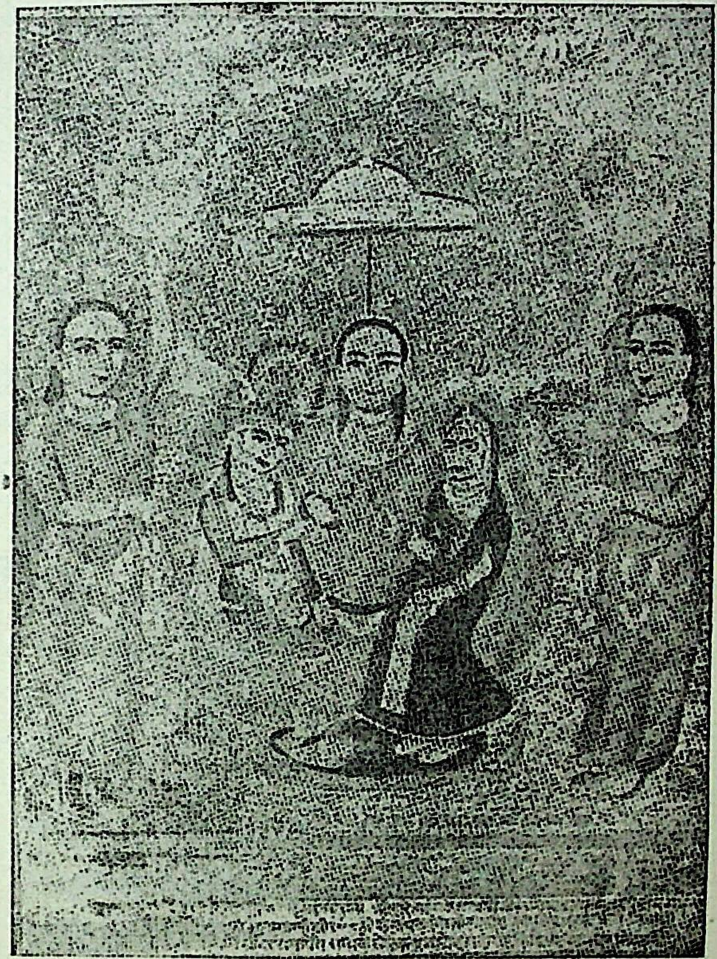

श्री श्रीभट्ट जी, प्रिया-प्रियतम को लिये हुए

---

[1] स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य, पृ०४३९।

श्रीभट्ट जी

भक्तमाल में श्रीनाभा जी ने श्रीभट्ट जी के सम्बन्ध में निम्नलिखित छप्पय लिखा है :—

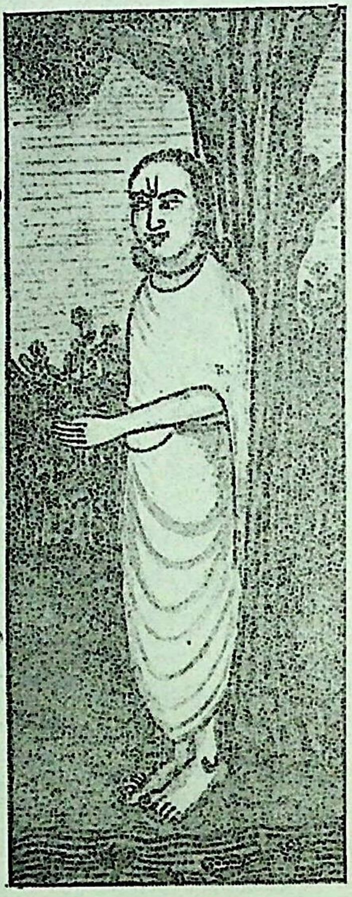

श्रीभट्ट जी, पूजा की मुद्रा में

मधुर भाव सम्मिलित ललित लीला सुवलित छवि ।
निरखत हरषित हृदय प्रेम वरसत सुकलित कवि ।
जग निस्तारन हेतु, देत हरिभक्ति सवनि नित ।
जासु सुजस ससि उदित हरत अति तम भ्रम स्रम चित ।

आनन्दकन्द श्री नन्दसुत, श्री वृषभानु-सुता-भजन ।
श्रीभट सुघट प्रघटे अघट रस-रसिकन-मन-मोद-घन ।[1]

उपर्युक्त छप्पय को पढ़ने से ज्ञात होता है कि श्रीभट्ट जी ने ही संप्रदाय में प्रथम वार मधुर-भाव सम्मिलित कर छवि सुवलित ललित लीलाओं का गान किया था । श्रीकृष्ण और राधा के सम्मिलित भजन के अघट रस रसिकों के मन-मोद-घन श्रीभट्ट जी थे । निम्बार्क संप्रदाय के विद्वान् भी श्रीभट्ट जी को युगल किशोर की माधुर्य लीलाओं का व्रजभाषा में वर्णन करने वाला प्रथम कवि मानते हैं ।[2]

जाति और जन्मस्थान

श्रीभट्ट जी के जीवन के संबंध में अन्तस्साक्ष्य के रूप में कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती । रूप रसिक जी के अनुसार ये द्विजवंश में उत्पन्न हुए थे ।[3] सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि ये गौड ब्राह्मण थे । कहा जाता है कि इनका परिवार हिसार जिले का निवासी था, वाद में किसी कारणवश इनके माता-पिता मथुरा आकर निवास करने लगे थे । मथुरा में ध्रुवटीला, जो निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रमुख स्थल है, श्रीभट्ट जी का जन्मस्थान माना जाता है ।

समय

श्रीभट्ट जी के समय के संबंध में विवाद है । उनके ग्रन्थ 'युगल शतक' की पुष्पिका के अनुसार उसका रचनाकाल सं० १६५२ सिद्ध होता है ।[3] परन्तु पुष्पिका के दोहे में भ्रांति से 'राग' के स्थान पर 'राम' पढ़े जाने के कारण सं० १३५२ भी माना जाने लगा । यह भ्रांति नागरी-प्रचारिणी सभा के एक शोधकर्ता महोदय को हुई थी, तथा खोज-रिपोर्ट के संपादक ने इस भ्रान्ति की ओर विद्वज्जनों का ध्यान भी आकर्षित कर दिया था,[4] फिर भी कुछ लोगों ने

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० ७६ ।

[2] देखिये, युगल शतक, भूमिका, पृ० ३ । निम्बार्क शोध मंडल, वृन्दावन ।

[3] हरिव्यास यशामृत से ।

[4] नयन वान पुनि राग शशि गनौं अंक गति वाम ।
युगलशतक पूरन भयौ संवत अति अभिराम ।

[5] ना० प्र० सभा खोजरिपोर्ट, प्रका० १९४४ ई० सं० ४०० पृ० १३२ का नोट ।

उनका सं० १३५२ मानना ही ठीक समझा। यहां यह बात स्पष्ट कही जा सकती है कि वास्तव में इस १३५२ सं० की मान्यता के लिये कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। यही नहीं इसके अनेक बाधक प्रमाण प्राप्त होते हैं, जिन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

१. केशव काश्मीरि भट्ट और श्री चैतन्यदेव के मिलन की वार्ता को निम्बार्क और गौडीय दोनों सम्प्रदायों में प्रसिद्ध तथ्य के रूप में ग्रहण किया जाता है। केशव काश्मीरि जी श्रीभट्ट जी के गुरु थे। श्री चैतन्य का समय सं० १५४२–१५९० निश्चित है, अतः श्रीभट्ट जी का समय १३५२ न होकर १६५२ ही हो सकता है।

२. श्रीहरिराम व्यास ने अपने समय और पूर्व के प्रायः सभी रसिकों की चर्चा व्यास-वाणी में की है, परन्तु उसमें श्रीभट्ट जी का नाम नहीं है। व्यास जी का समय श्री वासुदेव जी गोस्वामी के अनुसार १५६७ से १६६९ तक है, अतः कहा जा सकता है कि इस समय तक श्रीभट्ट जी प्रसिद्ध नहीं हुए थे।

३. श्रीध्रुवदास जी ने अपनी 'भक्त नामावली' में (रचनाकाल १६५०-१६९८) श्रीभट्ट जी और उनके शिष्य हरिव्यास देव जी का स्मरण किया है, अतः स्पष्ट है कि इसी बीच ये दोनों महात्मा प्रसिद्ध हुए। अतः श्रीभट्ट जी का रचनाकाल सं० १६५२ ही हो सकता है।

४. भक्तमालकार नाभा जी ने श्रीभट्ट जी, उनके शिष्य हरिव्यास जी उनके शिष्य परशुराम जी, सोभूराम जी तथा सोभूराम जी के शिष्य कान्हर जी तक का वर्णन किया है,[1] अतः शंका हो सकती है कि इतनी पीढ़ियाँ एक साथ कैसे निकट रह सकती हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इस गुरु शिष्य परम्परा में कुछ व्यक्ति अपनी वृद्ध आयु में शिष्य हुए होंगे, ऐसी स्थिति में इतनी पीढ़ियों का संगम सम्भव है।

५. सर्वप्रमुख बात जो किसी कवि का समय-निरूपण करने में सहायक होती है, वह है ग्रन्थ की रचनाशैली और भाषा। इस एक ही दृष्टि से कहा जा सकता है कि श्रीभट्ट जी के काव्य में जिस भाषा और रचनाशैली का प्रयोग हुआ है, वह किसी प्रकार भी चौदहवीं शताब्दी की नहीं हो सकती। श्री

---

[1] देखिये भक्तमाल के विभिन्न संबंधित छप्पय।

शुक्ल जी ने उनका समय जन्म सं० १५९५ और कविताकाल सं० १६२५ या उससे आगे माना है,[1] जो उचित ही है ।

रचनाएँ

श्रीभट्ट जी की कवि-कीर्ति उनके ग्रन्थ 'युगल शतक' अथवा 'जुगल सत' पर आधारित है । बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' में पृष्ठ ४५ पर श्रीभट्ट जी का एक ग्रन्थ 'आभास-दोहा' लिखा गया है और कहा गया है कि वे किसी ठाकुर युगल किशोर के आश्रित थे । शोधकर्ता विद्वान् का यह कथन उचित नहीं है क्योंकि 'आभास-दोहा' अलग से ग्रन्थ न होकर 'युगल शतक' के पदों के पूर्व के दोहों को ही 'आभास-दोहा' कहा गया है । इसी प्रकार ठाकुर युगल किशोर उनके आश्रयदाता न होकर सेव्य ठाकुर का नाम है ।[2]

विषयवस्तु

सम्प्रदाय के अन्दर श्रीभट्ट जी को हितूसखी का अवतार माना जाता है । युगलशतक के एक टीकाकार बरसानावासी लडैतीदास (सं० १८७७) ने लिखा है—

श्रीभट ह्वै हितू सहचरी, प्रगट कियौ शृङ्गार ।
जुगलसत्त विख्यात है, रसिकन कौ आधार ॥[3]

श्रीभट्ट जी की रचना 'युगलशतक' से भी उनका सखीरूप स्थान-स्थान पर प्रकट होता है परन्तु उनका उपास्य-क्षेत्र ब्रजलीला ही है । ब्रज क्षेत्र में इनका मधुरभाव उच्चकोटि का है, इसमें संशय नहीं । इनकी उपासना में सखीभाव के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं, जैसे इनकी उपासना युगल उपासना ही है ।[4] इन युगल में भी श्री राधा की ही प्रधानता है । निकुञ्ज में मोहन लाल प्यारी जू के चरण पलोटते हैं :—

प्यारी जू के चरण पलोटत मोहन ।
नील कमल के दलन लपेटे, अरुन कमल दल सोहन ।
कबहुँक लै लै नैन लगावत, अलि धावत मानौं गोहन ।
जै श्रीभट्ट छबीली राधे, होत जगे में छोह न ।[5]

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४७ ।

[2] जुगलकिसोर हमारे ठाकुर...आदि पद ।

[3] जुगलसत्त की टीका ।

[4] पाद टिप्पणी सं० २ ।

[5] युगल शतक, वृन्दावन, छ० सं० ७६ ।

प्रेम के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीभट्ट जी ने राधाकृष्ण के दो मनों को ही एक नहीं बताया है, अपितु दोनों के शरीर में एक दूसरे का निवास है। प्यारी के शरीर में श्याम और श्यामा जू के शरीर में प्यारे का बसना, तथा एक दूसरे के नेत्रों में एक दूसरे का निरन्तर प्रतिबिम्बित होते रहना दोनों के सूक्ष्म प्रेम का परिचायक है। श्रीभट्ट जी की भावुकता इस प्रसंग में फूट पड़ी है और वे दोनों की एकमेकता का परिचय देते हुए कहते हैं—

प्यारी तन स्याम, स्यामा तन प्यारौ।
प्रतिविम्बित तन अरस परस दोऊ, एक पलक दिखियत नहिं न्यारौ।
ज्यों दरपन में नैन, नैन में, नैन सहित दरपन दिखवारौ।
'श्रीभट' जोरी की, अति छवि ऊपर, तन मन धन निवछावर डारौं।[1]

श्रीभट्ट जी ने 'युगल शतक' के छओं प्रकरण, सिद्धान्त सुख, व्रजलीला, सेवा-सुख, सहज सुख, सुरत सुख और उत्साह सुख में श्रीराधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का गोपीभाव (सखीभाव) से ही गान किया है। उन मधुर रस की लीलाओं में सखी के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश भी नहीं है। सखी के रूप में एक ओर खड़े श्रीभट्ट जी दम्पति की रस रेलि वेलि का आनन्द ले रहे हैं—

रस की रेलि बेलि अति बाढ़ी।
दम्पति की हित वारि विहारनि, रहो सदा मेरे चित चाढ़ी।
निरखत रहौं निपट हितकारिनि, पिय प्यारिनि की गुन गति गाढ़ी।
जै 'श्रीभट' उतकट संघट सुख, केलि सहेलि निरन्तर ठाढ़ी।[2]

जहाँ तक काव्यकला का सम्बन्ध है, श्रीभट्ट जी के पद अत्यन्त सरस हैं और उसी के अनुसार उनकी वर्ण योजना है। इनके पदों में सर्वत्र एक कोमलता और लालित्य है परन्तु यह कोमलता हित जी की संस्कृत प्रधान शैली के कारण नहीं, अपनी व्यास गुण युक्त अभिव्यक्ति शैली के कारण है। प्रयत्न-साध्य न होने पर भी इनकी भाषा अलंकृत है। इनके पदों की भक्त-प्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अनेक सम्प्रदायों के कीर्तनों में इनके पद गाये जाते हैं। नीचे इनकी अभिलाषा का एक पद दिया जाता है—

---

[1] श्री युगल शतक, वृन्दावन, पद सं० ६०, पृष्ठ २५।

[2] वही, पद सं० ७८, पृ० ३२।

बैठे लाल कुञ्जन में जो पाऊँ।
श्यामा श्याम भाँवती जोरी, अपने हाथ जिमाऊँ।
घृत पक्व व्यंजन मोदक मेवा, रुचि सों भोग लगाऊँ।
सखिन सहित जैंवैं पिय प्यारी, हरपि हरपि गुन गाऊँ।
'श्रीभट' देत पान की वीरी, युगल चरण चित लाऊँ।[3]

श्रीहरिव्यासदेव जी

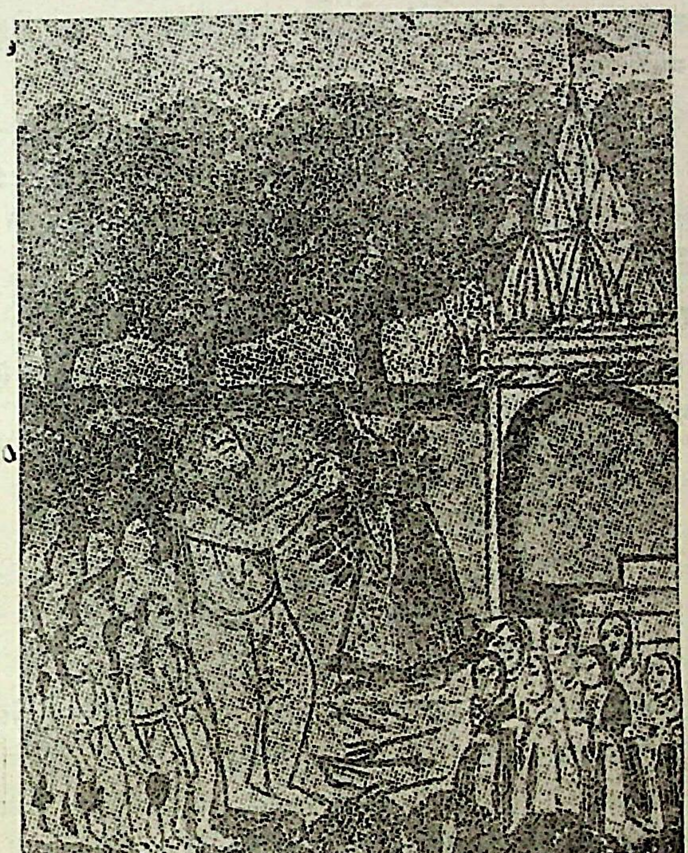

श्री हरिव्यासदेव जी, देवी को दीक्षा देते हुये

---

[3] वही पद सं० १४, पृ० ६।

निम्वार्क सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रतापी महात्माओं में श्री हरिव्यासदे व सर्वाग्रगण्य हैं। इनका महत्त्व उत्तर भारत के साधुओं के पुनर्गठन विषय को लेकर भी कम नहीं है.। निम्वार्क सम्प्रदाय के बारह अखाड़े इन्हीं के शिष्यों को लेकर बने। इन्हीं के यश के कारण निम्वार्क सम्प्रदाय हरिव्यासी सम्प्रदाय भी कहलाता है।

श्री हरिव्यासदेव जी के जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ भी ज्ञात है वह अत्यल्प है। सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अनुसार ये गौड ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। मथुरा इनकी जन्म-भूमि थी। नारद-टीला इनका निवासस्थान था।

हरिव्यासदेव जी नाभा जी समसामयिक हैं। इनके हाथ की लिखी एक पोथी 'नृसिंह-परिचर्या' सं० १६२५ की प्राप्त है।[1] अनुमान किया जाता है कि इनका रचनाकाल सं० १६२५ से १६८० तक है। ये स्वामी हरिदास जी के पश्चात् हुये थे।[2]

रचनाएँ

श्री हरिव्यास देव जी रचित ग्रन्थों की संख्या पाँच बतायी जाती है। ये ग्रन्थ हैं :—

१. सिद्धान्त रत्नांजलि	संस्कृत
२. निम्वार्काष्टोत्तरशतनाम स्तोत्र	संस्कृत
३. तत्त्वार्थ पञ्चक	संस्कृत
४. पञ्च संस्कार निरूपण	संस्कृत
५. महावाणी	व्रजभाषा

इनमें से 'सिद्धान्त रत्नांजलि' और 'निम्वार्काष्टोत्तरशतनाम स्तोत्र' के संबंध में कहा जा चुका है कि ये ग्रन्थ निश्चित रूप से उनके नहीं हैं।[3] तीसरे और चौथे ग्रन्थ अप्राप्त हैं। वास्तव में इनका कवि-यश 'महावाणी' जैसी विशाल और व्रजभाषा की सुन्दर रचना पर ही आधारित है। परन्तु 'महावाणी' के सम्बन्ध में भी प्रवाद है कि यह रचना हरिव्यास देव जी की नहीं है। इस

---

[1] सरस्वतीभवन पुस्तकालय, काशी, महीधर संग्रह में सुरक्षित।

[2] स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृ० ४३४

[3] पीछे देखिये प्रथम भाग, द्वितीय अध्याय।

प्रवाद के कुछ तर्क पाद-टिप्पणी में दिये जा रहे हैं।* इन पर गम्भीरता से विचार किया जाना आवश्यक है। आश्चर्य है कि महावाणी जैसे रस-ग्रन्थ के

---

* १. इस ग्रंथ का नाम महावाणी है, जो रचनाकार द्वारा न दिया जाकर बाद में प्रसिद्ध किया गया ज्ञात होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इससे पूर्व अनेक वाणियों की रचना हो चुकी होगी।

२. महावाणी में रचनाकार का नाम हरिप्रिया है। ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि जिससे इस नाम का हरिव्यास जी के नाम के साथ अभेद ज्ञात हो सके।

३. परवर्ती महात्माओं ने भी महावाणीकार के रूप में हरिव्यास जी की वन्दना नहीं की है। घनानन्द जी द्वारा इस सम्बन्ध में अवश्य ही उल्लेख किया जाना चाहिये था।

४. नाभा जी ने प्रत्येक भक्त-कवि के विशिष्ट रूप को अवश्य सम्मुख रखा है, परन्तु हरिव्यास देव जी का वाणीकार या मधुर रस का उपासक होना उन्होंने भी नहीं लिखा। उन्होंने देवी को दीक्षा देने वाली घटना का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया है।

५. ध्रुवदास जी, भगवत रसिक जी, प्रियादास जी आदि अनेक भक्त चरितकर्त्ताओं ने भी इनकी किसी रचना का उल्लेख नहीं किया है।

६. सखी सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में महावाणी के कोई पद संकलित नहीं हुए हैं, जब कि श्रीभट्ट जी आदि महात्माओं के पद इन संग्रहों में संकलित हैं।

७. श्री हरिव्यास देव जी की उपासना यदि महावाणी जैसे ग्रन्थ के अनुकूल होती तो उनके शिष्य स्वभूराम, परशुराम आदि पर उस रस की छाया अवश्य होती परन्तु परशुराम का काव्य निर्गुण रंग में रंगा दिखाई देता है।

८. इस ग्रंथ की भाषा-शैली पूर्णतया रीतिकालीन है। इसमें कृत्रिमता अधिक है।

९. रतनदास जी कृत सेवकवाणी की टीका में इसके एक दोहे को रूप-रसिककृत बताया है।

१०. रूप-रसिक रचित 'बृहदुत्सव मणिमाल' और 'महावाणी' की शैली में समता है जो दोनों रचनाओं को एक कवि की कृति सिद्ध करती है।

वृन्दावन के विविध व्यक्तियों से संकलित २१ प्रवादों में से यहाँ उदाहरणार्थ उपर्युक्त १० प्रवाद ही उद्धृत किये गये हैं।—लेखक

कर्त्ता के रूप में हरिव्यासदेव जी का परिचय नाभा जी ने भी नहीं दिया है। इन्होंने इस ओर इंगित ग कर केवल इनके चामत्कारिक जीवन का ही परिचय दिया है। उनका छप्पय देखिये :—

खेचर नर कौ शिष्य निपट यह अचरज आवै।
विदित वात संसार संत सुख कीरति गावैं।
वैरागिनि के वृन्द रहत संग स्याम सनेही।
ज्यों जोगेस्वर मध्य मनौं सोभित वैदेही।
हरिव्यास तेज हरिभजन वल, देवी कौं दीछा दई।
श्रीभट्ट चरन रज परसिकें, सकल सृष्टि जाकी नई।[1]

सम्प्रदाय में भी प्रसिद्धि है कि इनके शिष्य रूप-रसिक जी इनकी मृत्यु के अनन्तर इनके शिष्य वने। श्री हरिव्यास देव जी ने प्रकट होकर उन्हें शिष्य किया और महावाणी का प्रचार इन्हीं रूपरसिक जी द्वारा हुआ।[2] श्री रतनदास जी द्वारा रचित सेवकवाणी की टीका में महावाणी के जिस दोहे का उल्लेख है, वह निम्नलिखित है और उसे रूपरसिक जी द्वारा लिखा वताया गया है—

साखी रूपरसिक—

प्रिया शक्ति आह्लादिनी प्रीतम आनंद रूप।
तन वृन्दावन जगमगै इच्छा शक्ति अनूप।

श्री किशोरी अलि जी की वाणी में उनके द्वारा रचित पद निर्भ्रांत रूप से रूपरसिक जी को ही महावाणी का प्राकट्यकर्त्ता वताता है। यह महत्त्वपूर्ण पद निम्नलिखित है—

रूपरसिक से रूपरसिक वर।
दिव्य 'महावानी' रससानी प्रगट करत प्रगटे अवनी पर।
अति रहस्य रस की परिपाटी लखिवे इनकी कोउ न सरवर।
उमड़ि घुमड़ि हिय भाव-घटा सों, वरसत नित प्रति आनंद कौ झर।

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० ७७ पृ० ५७१।

[2] देखिये, हरिव्यास यशामृत, भूमिका पृ० ३, तथा निम्वार्क माधुरी पृ. ९७, ९९।

गौर स्याम के रंग झकोरे, कोरे जे आये नारी नर।
नैननि की सैंननि सों 'अलि' कों दरसायौ नवकेलि कुंज घर।[1]

उक्त रूपरसिक जी महावाणी के प्रकटकर्ता हैं, अतः निम्बार्कीय तो हैं ही। कुछ समय ये जयपुर में भी रहे थे। राधावल्लभीय गोस्वामी चंद्रलाल जी ने, श्री किशोरी अलि जी को लिखे गये अपने पत्रों में रूपरसिक जी को अपना प्रणाम लिखा है—

रूपरसिक जू सों वहाँ कहियो अमित प्रणाम।
उनकौ पत्री आय हौ, करिहौं सब विधि काम।[2]

श्री किशोरी अलि जी का समय सं० १७८० से १८६० तक माना जाता है। यही समय रूपरसिक जी का भी है। मुनि कान्तिसागर जी के पास रूपरसिक जी की एक रचना 'लीलाविंशति' में उसका रचनाकाल १७८७ वि० लिखा गया है।[3] अतः अब यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि रूपरसिक जी ने ही १९ वीं शताब्दी के आरंभ में 'महावाणी' नामक ग्रन्थ की रचना कर उसे अपने भाव-गुरु श्री हरिव्यास जी के नाम से प्रचलित किया। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'महावाणी' को १९ वीं शताब्दी की रचना माना है।[4]

जो हो, महावाणी है निम्बार्क सम्प्रदाय की रचना ही। सामान्य मान्यता के अनुसार यहाँ महावाणी की चर्चा हरिव्यास देव जी के प्रसंग में ही की जा रही है।

---

[1] किशोरी अलिजी की वाणी, हस्तलिखित पृ० ५—लेखक के संग्रह में सुरक्षित सं० १८३४ की प्राचीनतम प्रति।

[2] उक्त वाणी में संगृहीत पत्रों से।

[3] मुनि कांतिसागर जी की प्रति में यह पुष्पिका है—

सतरासै सत्यासिया मासोत्तम आसौज।
यह प्रबन्ध पूरन भयो सुकला सुभ दिन द्यौज॥

[4] १९ वीं शताब्दी में रस-रूपोपासना ने सम्प्रदाय को बहुत प्रभावित किया और महावाणी नामक रसग्रन्थ का निर्माण हुआ।

हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, १९५२, पृ० १९८

प्रस्तुत महावाणी ग्रन्थ में पाँच सुख हैं, जिनके नाम हैं, सेवा सुख, उत्साह सुख, सुरत सुख, सहज सुख और सिद्धान्त सुख। रचनाशैली प्रायः एक दोहा और एक पद की युगल-शतक वाली है, परन्तु कहीं-कहीं इस क्रम का अतिक्रमण भी हुआ है।

यद्यपि इस रचना पर दार्शनिक रंग चढ़ा दिखाई देता है फिर भी इस ग्रन्थ को निकुञ्ज-रस के ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। श्री विहारीशरण के अनुसार जुगल सत में व्रज रस है, श्री महावाणी में शुद्ध नित्य विहार रस है, व्रज एवं व्रज से सम्बन्धित, राधाकृष्ण का वर्णन नहीं है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि महावाणी में शुद्ध नित्य-विहार-रस रस को ही ग्रहण करने का यत्न किया गया है। प्रिया प्रियतम के नाम भी प्रायः निकुञ्ज सम्बन्धी ही हैं, सहचरी को नित्य प्रेम रूपा और प्रिया प्रियतम की केलि की संयोज्किा और लीला सर्वानन्दिनी के रूप में ही स्वीकृत किया गया है तथा वृन्दावन धाम को नित्य विहारस्थल माना गया है।

श्री राधाकृष्ण की सुरति क्रीडा का वर्णन कवि ने सखीभाव से किया है। उनकी मधुर शृंगार लीलाओं में कवि ने अपने को सखीरूप में ही प्रस्तुत किया है, पीछे सिद्धान्त-पक्ष में इस ग्रंथ के अनेक उदाहरण दिये जा चुके हैं, यहाँ सखीभाव सम्बन्धी एक पद प्रस्तुत किया जा रहा है :—

विहरत जुगल दिये भुज ग्रीवा।
सुन्दरता सौभाग्य सिरोमनि, रस की रासि, रूप की सींवा।
हावभाव आलिंगन चुम्बन देत परसपर प्रियतम प्यारी।
रति अधीर अनुराग विवस दोऊ, सुरत रंग रंग-रंगे महा री।
रसमय रसिक रसीली भामिनि, रसमय रसिक रसीली केली।
रसमय रहसि निरखि हरषत हिय, रसिक हितू 'हरिप्रिया' सहेली[2]।

'महावाणी' काव्यदृष्टि से उत्कृष्ट ग्रन्थ है। स्तुतिपरक लम्बे-लम्बे पदों को छोड़कर शेष पद सरस हैं। अनेक स्थल मार्मिक भावों का उद्घाटन करने में समर्थ हैं।

इस ग्रन्थ की भाषा विशेष रूप से आकर्षक है। प्रायः तत्सम प्रधान शैली का प्रयोग इन्होंने किया है। तत्सम प्रधान समस्त शैली होने से भाषा कहीं

---

[1] महावाणी, सं० विहारीशरण, भूमिका, पृ० १७।

[2] महावाणी, सं० विहारीशरण, पृ० १४३।

कहीं भाव से अधिक प्रधान हो गई है और ऐसा ज्ञात होता है कि पदों में केवल सुन्दर-सुन्दर शब्द ही चुनकर रख दिये हैं। यह रेशमी शब्दों की जाली से बन जाते हैं। परन्तु जहाँ भाव हैं, वहाँ की भाषा भी उतनी समस्त नहीं है।

भाषा में सजावट का प्रयत्न रीतिकालीन कविता की परिपाटी का स्मरण दिलाता है। अनुप्रास के लिये लम्बी-लम्बी पद योजनाएं की गई हैं, देखिये—

चकी चक चकी सी, जकी जक जकी सी, छकी छक छकी सी, टकी टक टकोया।

स्पष्ट है कि भाव की उद्भावना के लिये इससें से बहुत कम शब्द लेकर काम चलाया जा सकता था।

श्री परशुराम देव जी

श्री हरिव्यास देव जी के अनेक शिष्य हुए, जिनमें बारह शिष्य प्रधान माने जाते हैं, ये हैं :—

१. श्री स्वभूदेव, २. श्री वोहित देव, ३. श्री मदन गोपाल देव, ४. श्री घमण्ड देव, ५. श्री वाहुबल देव, ६. श्री परशुराम देव, ७. श्री गोपाल देव, ८. श्री हृषीकेश देव, ९. श्री माधव देव, १०. श्री केशव देव, ११. श्री लापर देव, १२. श्री मुकुन्द देव।

इन सबमें श्री परशुराम देव का ही सम्प्रदाय और साहित्यिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व है। इन्होंने राजस्थान में निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रचार किया और वर्तमान निम्बार्कपीठ सलेमाबाद के ये ही संस्थापक कहे जाते हैं। श्री नाभा जी ने भक्तमाल में इनके सम्बन्ध में लिखा है :—

ज्यों चन्दन को पवन निम्ब पुनि पावन करई।
बहुत काल तक निविड उदय दीपक ज्यों हरई।
श्री भट पुनि हरिव्यास सन्त मारग अनुसरई।
कथा कीरतन नेम रसन हरिगुण उच्चरई।
गोविन्द-भक्ति-गद रोग-गति, तिलक दाम सद वैद हद।
जंगली देश के लोग सब परशुराम किया पारसद।[1]

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० १३७।

नाभा जी ने परशुराम जी के भक्ति-प्रचार पर ही अधिक बल दिया है और उनको श्री भट्ट जी, पुनः हरिव्यास देव जी का अनुगामी बताया है।

साम्प्रदायिक जनश्रुति के अनुसार ये जयपुर क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्म पंचगौड़ ब्राह्मण कुल में बताया गया है। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि इनकी झड़प किसी यवन फकीर से हुई थी जो अनेक सिद्धि और चमत्कार जानता था। इन्होंने उसे अपनी सिद्धियों द्वारा परास्त किया और वहीं भक्तिभावना का प्रचार करने के लिये अपना निवासस्थान बना लिया। यह स्थान सलेमाबाद था।[1]

इनकी रहन-सहन बहुत ही राजसी ढंग की थी। समृद्धि इनके चरण चूमती थी, ऐसा प्रियादास जी के कवित्त से ज्ञात होता है।[2]

ये सूर के परवर्ती महात्मा हैं। इनकी भाषा में राजस्थानी पुट होने के कारण ही श्री शिवप्रसाद सिंह इनको सूर का पूर्ववर्ती मानने के भ्रम में पड़ गये हैं।[3] ये नाभा जी के समकालीन महात्मा थे।

श्री परशुराम देव पूर्णतया सखीभाव के कवि नहीं हैं। पूर्णतया तो वे सगुण मार्ग के उपासक भी नहीं हैं। उनके अनेक ग्रंथ निर्गुण भक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। यह बात विचारणीय है कि श्री भट्ट और हरिव्यास देव जी का अनुयायी किस प्रकार निर्गुण सिद्धान्तों का हामी हो सका? एक ओर इनकी रचनाएँ सगुण भक्ति से सम्बन्धित हैं और उनमें अपने प्रकार का सखीभाव भी है, दूसरी ओर वे निर्गुण सिद्धान्त का भी कथन करते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय में इस प्रकार के कवि परशुराम अकेले ही हैं। इनकी इन प्रवृत्तियों के लिये मूल स्रोत ढूँढ़ना होगा। अवश्य ही ये दोनों प्रकार की रचनाएँ या तो भिन्न कवियों की हैं या एक ही व्यक्ति के भिन्न जीवनकालों से सम्बन्ध रखने वाली भिन्न प्रवृत्तियों की हैं।

श्री मोतीलाल जी मेनारिया के अनुसार परशुराम जी के ग्रन्थों की सूची निम्न प्रकार है—

१. साखी का जोड़ा, २. छन्द का जोड़ा, ३. सवैया दस अवतार का, ४. रघुनाथ-चरित, ५. श्रीकृष्ण-चरित, ६. सिङ्गार-सुदामा-चरित, ७. द्रौपदी का

---

[1] निम्बार्क माधुरी, पृ० ६८ से ७४ तक।

[2] भक्तमाल छं० सं० १३७ पर प्रियादास कृत टीका।

[3] सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, डा० शिवप्रसादसिंह, पृ० २०१।

जोड़ा, ८. छप्पय गज ग्राह कौ, ९. प्रह्लाद-चरित, १०. अमर-बोध-लीला, ११. नाम-विधि-लीला, १२. शौच-निषेध-लीला, १३. नाथ लीला, १४. निज-रूप लीला, १५. हरिलीला, १६. श्री निवर्ण लीला, १७ समझणी लीला, १८. तिथि लीला, १९. नन्दलीला, २०. नचत्र लीला, २१. श्री बावनी लीला, २२. विप्रमतीसी तथा ७५० के लगभग पद।[1]

उपर्युक्त ग्रंथों में तिथि लीला, विप्रमतीसी आदि ग्रन्थ कबीर के हैं या परशुराम के, यह निर्णय होना शेप है। शेप ग्रंथों का भी प्रामाणिक संस्करण प्राप्त होने पर समीक्षा की जा सकती है।

यहाँ परशुराम जी के सम्पूर्ण काव्य का अवलोकन करना हमारा अभीष्ट नहीं है। उनकी सखीभाव सम्बन्धी मान्यताएँ भी उतनी पुष्ट नहीं हैं। यहाँ हम उनका एतत्सम्बन्धी एक पद उद्धृत कर रहे हैं:—

वन फूले अति सोहहीं, आयौ री सखी मास बसन्त।
नाना रङ्ग वास नवी नवी, नव नव तर, नव पल्लव विकसंत।
नव नव सुर कोकिल बोलहीं, गुञ्जत अति मधुकर मैमंत।
पची बहु बानी चवै गुन, नव नव गावै सुर सन्त।
नव नव किसलय दल बीनहीं, नव नागरि करि भरि बरसंत।
नव संगीत नव नेह सों नव नागर नव रस विलसंत।
रति नायक रितु विहरहीं राजत अति तामें हरि कंत।
'परसुराम' प्रभु भजि लीजै हरि, सुख सब सोभा को अन्त।[2]

श्री रूपरसिकदेव

श्री रूपरसिकदेव महात्मा हरिव्यास जी के शिष्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि हरिव्यासदेव जी के अवसान के अनन्तर अपने आग्रह के कारण ये उन्हीं के शिष्य हुए, परन्तु इनके ग्रन्थ 'लीला-विंशति' से ऐसा कोई आशय प्रकट नहीं होता। वहाँ इन्होंने गुरु रूप में हरिव्यास जी का स्मरण किया है।[3]

'लीला-विंशति' का रचनाकाल सं० १७८७ है, जैसा पीछे कहा जा चुका है। श्री निकुञ्ज, वृन्दावन में इस ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त है, जिसमें १७८७

---

[1] राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया, पृ० १४२।

[2] निम्बार्क माधुरी, पृ० ९०।

[3] प्रथम सुमिरि हरिव्यास जू सकल अर्थ के धाम।
तिन पद कमलहिं बल रच्यौ, लीलाविंशति धाम। ग्रन्थ का आरम्भ।

के स्थान पर १५८७ सं० दिया हुआ है।[1] परन्तु यह संवत् ठीक नहीं ज्ञात होता क्योंकि इनके द्वारा रचित दूसरे ग्रन्थ 'हरिव्यास-यशामृत' से इनका समय परवर्ती ठहरता है। इसमें ऐसे अनेक कवियों का उल्लेख है, जिनका समय १८वीं शताब्दी है। उदाहरण के लिये हुसेन (१७०८), मीर रुस्तम (१७३५), मीर अब्दुल वाहिद (१७७०), मीर अहमद (१८००) आदि कवि हैं।[2] इस आधार पर मिश्रबन्धुओं ने इसका रचनाकाल सं० १७६० के निकट माना है।[3] अतः लीला-विंशति का समय १७८७ वि० ही शुद्ध है। इसी से रूप रसिक जी के समय का अनुमान किया जा सकता है।

सम्प्रदाय के विद्वानों द्वारा श्री रूपरसिक जी के तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। ये हैं, १. वृहदुत्सव मणिमाल, २. हरिव्यास यशामृत और ३. नित्य विहार पदावली। 'लीला-विंशति' इनका नवीन प्राप्त ग्रन्थ है।[4]

'वृहदुत्सव मणिमाल' रूपरसिककृत विशाल ग्रंथ है, जिसमें २९९४ छन्द हैं। इसमें वसंत पञ्चमी से लेकर व्यंजन द्वादशी तक के समस्त उत्सवों के पद वर्णित हैं। इस ग्रन्थ के अन्त में भी यह बात कही गई है।[5]

कहा जाता है कि यह ग्रन्थ महावाणी के उत्सव सुख का अनुकरण है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में इस ग्रन्थ का उपास्य तत्व महावाणी के उपास्य तत्व से भिन्न है। उनकी मान्यता है, "श्री महावाणी में नित्यविहारी केनित्य के लि में ही नित्य को नैमित्त बना कर केवल एक विशेषानन्द के लिये, उत्सव क्रम में वर्णित है, वृहदुत्सव मणिमाल इस रीति से सर्वथा भिन्न है, इसमें नैमित्त प्रमुख है, नित्य नहीं। इसमें नंदनंदन वृषभानु-नन्दिनी के जन्म-मंगल, बधाई से लेकर नित्य वसन्त, होरी, झूला प्रभृति समस्त उत्सव सुन्दर एवं व्यवस्थित रूप से वर्णित हैं। श्री कृष्णावतार के सिवा श्रीराम, श्रीनृसिंह, श्री वामनादि दशों अवतारों के भी प्रादुर्भाव दिवस के मंगल बधाई उत्सवादि के पद हैं।"[6] स्पष्ट है कि संप्रदाय के विद्वानों की दृष्टि में यह ग्रन्थ नित्य विहार का नहीं है

---

[1] श्री व्रजवल्लभशरण जी के पास हस्त० प्रति। अब वृंदावन से प्रकाशित है।

[2] इनके समय संवत् 'मिश्रवंधु-विनोद' के अनुसार हैं।

[3] मिश्रवंधु विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ५२९।

[4] टिप्पणी सं० २

[5] करि आरम्भ वसंत तें विजन द्वादशी ताऊँ।
रूपरसिक या नाम को सो अब सत्य कहाऊँ। ग्रन्थ का अन्तिम भाग।

[6] निम्बार्क माधुरी, सं० विहारीशरण, पृ० ९४।

परन्तु निम्बार्क-संप्रदाय में अधिकांश जिस कोटि का लीलास्तर स्वीकृत है, उसकी सूचना इस ग्रन्थ से मिल जाती है। नैमित्तिक लीलाओं के मध्य इस ग्रन्थ में नित्यलीलाओं का भी आयोज़न किया गया है और ऐसे शृङ्गार लीला वर्णन में कवि सखीभाव से लीलानन्द में निमज्जित होता है। रूप के चहल में अहले प्रिया-प्रिय की होली का आनन्द सहचरिगण लेती हैं :—

आज फाग अनुराग भरे, नव नागर नवल निकुञ्ज विहारी।
सिथिलित वसन गुलाल सगोवग, रंगे हैं रंगोवग रंग विहारी।
उमग्यौ है रति रंगधार अपार छुटे, पिचकारी कटाच्छ अपारी।
रूप चहल में रहे अहल दोऊ, सुख लूटत सन्मुख सहचारी।[1]

प्रेम हिंडोले के झूलन का एक पद प्रस्तुत है……

दोऊ जन झूलत प्रेम हिंडोरे।
स्यामास्याम सहज सुख संपति, हिय ही लेत हिलोरे।
भृकुटी भौंह ललाट तिलक कच, लछनि कटाछ झकोरे।
बानी सुखदानी मृदु मुसकनि, ललकनि मलकनि थोरे।
जहां जहां चलि जात परस्पर, नेह डोरि करि बोरे।
तहां तहां चित फिरत संग ही, मानों लेत झुलोरे।
भीजे अङ्ग स्वेदकन झलकनि, पुलकि अंग तृन तोरे।
रीझे अंग अंग सखियनि के, 'रूपरसिक' रस बोरे।[2]

काव्य दृष्टि से यह ग्रन्थ अवश्य ही सुंदर है। महावाणी के समान ही इसमें भी शब्द-योजना तत्सम प्रधान और लालित्यमयी है। इस ग्रन्थ में अलंकारों का भी प्राचुर्य देखने में आता है। भावों का आस्वाद भी इसमें उच्चकोटि का है। छन्दों में विविधता है। रीतिकाल का प्रमुख छन्द कवित्त भी प्रचुरता से व्यवहृत हुआ है। अन्य दृष्टियों से भी इस ग्रन्थ पर रीतिकालीन प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

'हरिव्यास यशामृत' इनका दूसरा ग्रन्थ कहा जाता है। इस ग्रन्थ में हरिव्यास जी को ही उपास्य नित्य विहारी, विहारिणि के रूप में देखा गया है। हरिव्यास जी के अनुयायी सखीभावोपासकों को इन्होंने श्रेष्ठ माना है। इनका कथन है कि "दैवी जीवों में लीला-रस-लीन व्यक्तियों को ढूंढ़ना चाहिये, उनमें भी युगल-उपासकों को, उनमें सखीभावोपासकों को, उनमें वृन्दावनीय

---

[1] निम्बार्क माधुरी, वृंदावन, पृ० १०२। [2] वही, पृ० १०९–११०।

उपासकों को, उनमें भी हरिव्यासियों को तथा उनमें भी जो महावाणी में रुचि रखते हों, उन्हें ढूंढ़ कर उनसे मिलना चाहिये।"[1]

इस पुस्तक में नित्यविहार के सिद्धान्त का भी वर्णन है और रसिकों के अनेक आचार-विचारों का भी उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ पर इस दृष्टि से हरिराम जी व्यास आदि रसिकों का प्रभाव स्पष्ट है। इस ग्रन्थ में अनेक भक्त-कवियों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें उन्होंने सखीभाव में रेल-पेल बताया है। यदि इस रचना की प्रामाणिकता असंदिग्ध होती तो यह सूची अवश्य ही बड़े महत्व की होती। इसमें आये कुछ नाम इस प्रकार हैं—श्री हरिव्यास, परशुराम, स्वभूराम, केशव, घमंडी, लपरा गुपाल, मदन गुपाल, गोपाल दयालु, मोहन, नरसिंह, विष्णु, विट्ठल, सारंग स्वामी, श्रीधर, वल्लभ, रिषिकेश, टूटा गुपाल, धौंधी, भगवान सखी, सुरंग, मंगल, बाहबल, गोपाल भट, हरिराम व्यास, लीलाशुक, द्वादश गुपाल, जन मुकुन्द, प्रेमचन्द, श्यामदास, ईश्वर, विज्ञानघन, पद्मावती, पद्मा, प्रेमस्वामी, मधुसूदन, दामोदर, करमा, माधव, धरमा, मीरा, हुसेन, वाजीद, मीर, पीरदास, जनहरण, हंसदास, रंगदेवीदास, हितदास, चतुरा, लघुमोहन, मुरली, अनंत, गंगग्वाल, सूरश्याम, विल्वमंगल, जोसी, हंसदास, रघुनाथदास, छेमदास, कल्याण, गोविन्दाचारज, व्रजवल्लभ, गिरिधारी, कन्हर, गुरु गोपाल आदि। एक अन्य पद में भी अनेक नाम हैं, जिनमें से कुछ तो समान ही हैं, कुछ नवीन भी हैं, जैसे तानसेन, अलि भगवान, आचार्य शेखर, लक्ष्मीदास, टीकमदास, पूरनदास, विद्यापति, रसिकानन्द, अल्ह, जसूस्वामी, कृष्ण, रामदास, आसकरण आदि।[2] इनमें से अलग

---

[1] प्रथम दईवी जीव में, करम ज्ञान हरि लीन।
फिर तिन ही में सोधिये लीलारस में लीन॥
लीलारस के जीव में युगलध्यानरत जोय।
युगलध्यानरत में कोऊ सखीभावयुत होय॥
सखीभावयुत में कोऊ वृन्दावनी उपास।
तिनहू में पुनि देखिये श्रीहरिव्यासीदास॥
श्रीहरिव्यासीदास में महावाणी रुचि जाहि।
तिनसों हिलमिल कीजिये हिय की बात उमाहि॥
हरिव्यास यशामृत, पृ० १३

[2] हरिव्यास यशामृत, पृ० १७ से २२ तक।

अलग नामों को पढ़ लेना कठिन है, क्योंकि बहुत से नाम विशेषण की भांति प्रयुक्त हैं। इन महात्माओं में से बहुत से अपरिचित हैं, बहुत से ग्रन्थ के संभावित रचनाकाल के परवर्ती हैं। यह इस रचना के संबंध में सन्देह उत्पन्न करता है। एक बात और है कि 'हरिव्यास यशामृत' में उल्लिखित रसिकों की सूची में स्वामी हरिदास और हित हरिवंश जी का नाम भी नहीं है। जो लोग स्वामी हरिदास जी का निंबार्क सम्प्रदाय से सम्बन्ध मानते हैं, उन्हें देखना चाहिये कि निम्बार्क संप्रदाय के रचनाकार उनका नाम भी रसिकों की सूची में नहीं रखते।

'नित्यविहार पदावली' १२० पदों की रचना है। इसमें व्रजलीला का सर्वथा अभाव है।

लीलाविंशति नामक ग्रन्थ की चर्चा की जा चुकी है। यह ग्रन्थ भाव-विवेचन और साहित्यिक दृष्टि से प्रौढ़ रचना है। राधिकादास द्वारा प्रतिलिपि किये गये इस ग्रन्थ के आदि और अन्त के कुछ उद्धरण पीछे दिये जा चुके हैं। इस ग्रन्थ में सिद्धान्त विवेचन हुआ है, जो महत्त्वपूर्ण है। उपासनाओं की विभिन्नता बताते हुए नारायण को इन्होंने सर्वश्रेष्ठ माना है। परन्तु नारायण भी धर्ममात्र हैं, धर्मी तो श्रीकृष्ण ही हैं। उनकी लीलाएँ दो प्रकार की बताई गई हैं। ये हैं, व्रज और वृन्दावन की लीलायें जिन्हें नित्य और निमित्त लीलायें भी कहा जाता है। इस प्रकट और अप्रकट विहार का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है :—

द्वै प्रकार कर करत हैं, प्रगटाप्रगट विहार।
व्रज वृन्दावन में सदा नैमिति निति विहार॥
कलियुगादि क्रीड़ा करैं अरु द्वापर में अन्त।
यह लीला नैमित्ति व्रज गावत हैं सब संत॥
लीला नित्यविहार की श्री वृन्दावन माहिं।
श्रीहरिप्रियाजू की कृपा विना लहैं कोऊ नाहिं॥

× × × ×

अति अपार आश्चर्यमय, आदि अनादि स्वतंत्र।
सेवैं सुख सब सहचरी, निमिख न पावहिं अंत॥

इस ग्रन्थ के एक भाग सिद्धान्त माधुरी में ध्रुवदास जी की 'सिद्धान्त विचारलीला' का अनुकरण कर गद्य का प्रयोग किया गया है। आचार्य के

सखीस्वरूप और ललिता जी के स्थान पर श्रीरंगदेवी की उपासना का कारण बताते हुये वे कहते हैं :—

"यहाँ कोऊ प्रश्न करै कि सखी दूरि देखैं अरु हरिप्रियाजू तहाँ की खवासी करतु हैं सो यह तो एक सखी हैं, इनकों निरन्तर सुखप्राप्ति कैसैं संभवै। तो तहां कहिऐ कि श्री हरिप्रिया जू हैं सु युगल की इच्छाशक्ति निजदासी स्वरूप धारन कीनौ है। इनि विनु विहार वनत नाहिं, काहैं तें जु इच्छा होइ तो विहार होइ'''और कोऊ कहै कि अष्ट सखियनि में ललिता जू मुख्य सुनियतु हैं।" इत्यादि—

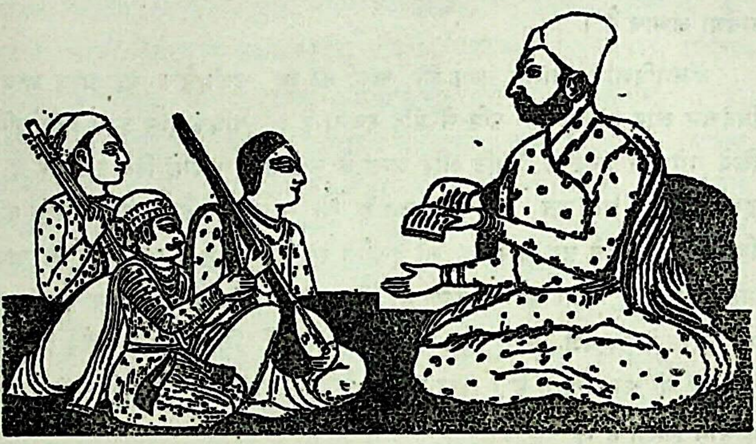

श्री वृन्दावन देव जी, सामने अन्य रसिकगण।

श्री वृन्दावन देव जी

"श्री परशुराम जी के शिष्य हरिवंश देव थे, हरिवंशदेव के शिष्य नारायणदेव हुए। इन्हीं के शिष्य वृन्दावनदेव थे। इनका आचार्य पद पर रहने का समय सं० १७५९ से सं० १८०० तक माना जाता है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि घनानन्द जी इन्हीं के शिष्य थे। घनानन्द जी ने अपनी गुरु—परम्परा इस प्रकार दी है'''श्रीभट्ट जी, हरिव्यास जी, परशुराम जी, हरिवंश जी, नारायणदेव जी और वृन्दावन देव जी। अपने गुरु की प्रशंसा में वे लिखते हैं—

जगवोहित मोहित प्रगट हरि विनोद निज धाम।
अवनीमनि श्रीयुत सदा वृन्दावन अभिराम॥

विसे बीस महिमा तिन्हें, ताहि कोस है बीस।
सदा बसौ नीके लसौ, कृपा ईस मो सीस ॥[1]

वृन्दावनदेव जी की रचना निंवार्क-माधुरी के अनुसार 'कृष्णामृत गंगा' है और सर्वेश्वर 'मासिक' के अनुसार 'गोतामृत गंगा' इनकी सुन्दर रचना है।[2] निम्बार्क माधुरी में इनके कतिपय छंद दिये गये हैं, उन्हीं से यह ज्ञात हो जाता है कि ये महात्मा केवल निकुञ्ज भाव तक ही सीमित नहीं रहे अपितु इन्होंने कृष्णलीला का गान ब्रजलीला के स्तर पर ही किया है। वात्सल्य और श्रृंगार के वियोग पक्ष के पद भी इनकी रचनाओं में सम्मिलित हैं। जहां-तहां नायिकाभेद के रूप के पद भी प्राप्त हो जाते हैं। सवैया और कवित्त आदि रीतिकालीन छन्दों का प्रयोग भी इन्होंने प्रचुरता से किया है। घनानन्द की शैली के छन्द भी इनकी रचनाओं में सम्मिलित हैं। एक पद इस दृष्टि से उद्धृत किया जाता है :—

प्रेम की मरोरनि मसोसैं मन मारियै।
दृगनि के साथ ह्वै बिकानौ पर हाथ यह,
दीजै काहि दोष, कहो कौन पै पुकारियै।
भूल्यौ धन धाम अब कहां घनश्याम आली,
बिना काम देह ज्यों वियोग आग जारियै।
'वृंदावन' प्रभु कहुँ नैक हू निहारियै,
सुतन मन धन प्रान वारि वारि डारियै।[3]

श्री घनानन्द जी

हिन्दी-साहित्य के अध्येता घनानन्द जी से परिचित हैं। वे हिन्दी के रीतिकाल की स्वच्छन्दधारा के प्रतिनिधि कवि हैं। वियोग के वे सबसे बड़े गायक हैं, प्रीति की रीति को उनके बराबर कौन जानता है? उनकी काव्य-गरिमा से भी सभी परिचित हैं। इतना होते हुए भी उनके भक्त-कवि-रूप से हिन्दी के अनेक विद्वान् भी अपरिचित थे। प्रायः पदावलीकार 'घनानन्द और कवित्त-सवैयों के लेखक घनानन्द को भिन्न व्यक्ति समझा जाता रहा है। इधर

---

[1] परमहंस वंशावली। घनानन्दकृत
[2] निंवार्क माधुरी, पृ० १४५ तथा सर्वेश्वर, वृन्दावनांक, पृ० २२३।
[3] निंवार्क माधुरी, पृ० १६१।

कुछ विद्वानों ने इस भ्रम का परिहार किया है।' इस सम्बन्ध में श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी के ग्रन्थ तथा सद्यः प्रकाशित डॉ० मनोहरलाल गौड़ का 'घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा' नामक ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु प्रेमी कवि घनानन्द के रूप का जितना अध्ययन अभी तक हुआ है, उतना भक्तकवि घनानन्द का नहीं हो सका है। इस प्रसङ्ग में गौड़ जी ने थोड़ा-सा प्रकाश डाला है, वह महत्त्वपूर्ण है और उन्होंने घनानन्द जी को भक्त रूप में सखीभाव का उपासक माना है।

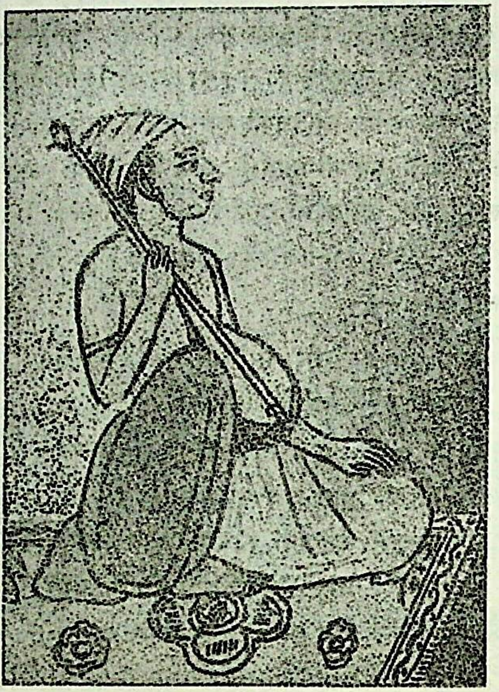

श्री घनानन्द जी

घनानन्द जी के जीवन के संबंध में पर्याप्त शोध की जा चुकी है। इनका जन्म संवत् विद्वानों ने वि० १७३० निर्धारित किया है। इनका निवास प्रायः प्रारम्भ ही से दिल्ली में हुआ। उस समय दिल्ली का बादशाह मुहम्मद शाह था। ये उसके यहाँ मीर मुंशी थे। इनका सुजान नामक किसी वेश्या से प्रेम करना प्रसिद्ध है। एक बार कुछ लोगों ने बादशाह से कहा कि घनानन्द

गाते बहुत अच्छा हैं, बादशाह ने इनसे गाने के लिए कहा परंतु ये प्रस्तुत न हुए। तब लोगों ने जड़ ही तो दिया कि यदि सुजान कहे तो ये कभी नहीं टाल सकते। फलतः सुजान से कहलवाया गया और घनानन्द ने गाया भी खूब। बादशाह की ओर पीठ करके गाने के कारण इन्हें दिल्ली से निकलवा दिया गया। ये वृन्दावन आ गये और निम्बार्क सम्प्रदाय के महात्मा वृन्दावन देव जी से दीक्षा लेकर सखीभाव की उपासना में प्रवृत्त हुए। अन्त में अहमदशाह अब्दाली के दूसरे आक्रमण में यवनों ने इनकी जीवनलीला समाप्त कर दी।[1]

घनानन्द जी एक समर्थ कवि थे। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार इनके द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या ४२ है।[2] इनमें अनेक ग्रंथ अल्प परिमाण के हैं परन्तु कुछ एक रचनाएँ बड़ी भी हैं। मूलतः इनके पदों में भक्ति सम्बन्धी भाव हैं और कवित्त सवैयों में प्रेम सम्बन्धी। फिर भी यह वर्गीकरण पूर्णतया शुद्ध नहीं कहा जा सकता। भक्ति सम्बन्धी कवित्त सवैये भी बड़ी मात्रा में प्राप्त हैं। यों यदि रचना-परिमाण की दृष्टि से देखा जाय तो प्रमुख रूप में ये भक्त-कवि ही ठहरते हैं।

घनानन्द जी के काव्य का उनके जीवन से निकट का सम्बन्ध है। वे अपनी अनुभूतियों के गायक हैं, इसीलिये उनकी कविता में भी जीवन है, जब हम घनानन्द जी के कविरूप को देखते हैं तो भी ऐसा ज्ञात होता है कि इस भक्त-कवि ने परम्परा से प्राप्त भक्ति के सिद्धान्तों को भी अपने रङ्ग में रँगा है और इस दृष्टि से सखीभाव के साहित्य के अध्ययन के लिये भी घनानन्दजी की रचनाएँ कुछ नवीन सामग्री प्रस्तुत करती हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय में सखीभाव की मान्यता स्वीकृत थी परन्तु इसके उपासकों ने विशुद्ध सखीभाव का गान कम ही किया है। रसिकता में निकुञ्ज-लीलाओं के प्रति जैसी अनन्यता चाहिये, वैसी प्रायः इन भक्त-कवियों में कम रही है। घनानन्द जी ने भी श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य सभी अवतारों की वन्दना की है। श्रीकृष्ण के जीवन के भी प्रायः समस्त पक्षों को उन्होंने चित्रित किया है। श्रीकृष्ण से संबंधित स्थल व्रज, वृन्दावन, यहाँ के तृण, वृक्ष, यमुना सभी को दिव्य सौन्दर्य से मण्डित रूप में देखा है। इन सबके बीच श्रीकृष्ण

---

[1] घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा, श्री मनोहरलाल गौड़, पृ० २७।

[2] घनानन्द ग्रंथावली, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ७३-७४।

के बाल-विनोदों का वर्णन किया है परन्तु उनके काव्य में प्रमुखता शृङ्गार-रस की ही है। यह शृङ्गार-रस सर्वत्र व्रजभाव का ही है। उन्होंने रस की परावधि व्रजलीलाओं में ही मानी है। अपने ग्रन्थ 'व्रज-व्यवहार' में वे कहते हैं :—

व्रजरस परम परे तें परैं, अनुरागी याकों व्रत धरैं।

× × × ×

व्रज व्यौहार मोहि अति भायौ। रुचि-रस-रसना व्रजरस गायौ।[1]

घनानन्द व्रजलीलाओं के ही गायक हैं। व्रजरस की अधिकारिणी गोपियाँ हैं। गोपियों की महिमा घनानन्द जी ने पुलकित होकर गाई है और अपने अनेक ग्रन्थों में उन्होंने गोपीभाव पाने की याचना की है। कुछ स्थल देखिये:—

कहा कहौं गोपिन को प्रेम। बिसरे जहाँ सबै विधि नेम।
प्रेम पंथ अति बाँको आहि। सूधैं इन अवगाह्यौ याहि।
इनके चरन सीस लै धरै। तब यह अगम गैल अनुसरै।
इनको भाव इन्हें बनि आयौ। कहूँ न पैयै सो इन पायौ।
इनको परम प्रेम पद दूरि। महाभूरि इन पाँयनि धूरि।
सो अति अलभ हाथ क्यों लगै। परम प्रेम कैसे उर जगै।
सिव विधि सुक उद्धव जे जाचत। महिमावस अचरज रस पावत।

अपने लिये वे इन्हीं गोपियों का भाव चाहते हैं :—

गोपी प्रबल भाव उर फुरै, तब सब ओर आप ही दुरै।
घूमत फिरै सुरति भूल्यौ सौ, तन मुरझान्यौ मन फूल्यौ सो।
ये व्रज वधू परम बड़ भाग, यह रस इनही को निज भाग।
इनको गैल छैल रस लहियै, तातें सब तजि व्रज बसि रहियै।[2]

घनानन्द द्वारा गोपी-महिमा का गान और उनके पथ पर चलने की चाह का प्रकाशन उनकी अधिकांश रचनाओं में हुआ है। वस्तुतः वे गोपीभाव के ही कवि हैं। उनका सखीभाव गोपीभाव ही है।

घनानन्द में गोपीभाव प्रायः दोनों प्रकार का मिल जाता है। एक रूप में यह गोपीभाव कान्ताभाव है और दूसरे रूप में वे सखीभाव की मान्यता रखते हैं। जहाँ कान्ताभाव है, वहाँ उनका स्वयं का श्रीकृष्ण के प्रति निवेदन है, वे उनके साथ ही क्रीडा करना चाहते हैं। मिलन के अभाव में वे जिस पीड़ा का

---

[1] व्रज-व्यवहार, घनानन्द, छं० सं० १९९ तथा २१२।

[2] प्रेम पद्धति, घनानन्द कृत, घनानन्द ग्रन्थावली १-२३५।

अनुभव करते हैं, वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के समान ही पीरक है। उनके वियोग का एक पद प्रस्तुत है—

मेरौ मन मेरे हाथ नहीं, कहा करौं री वीर।
व्रजमोहन के बिछुरन की, निपट अनौखी पीर।
कैसें दुराऊँ हे सखी, नैननि भरि आवत नीर।
आनंदघन पिय के दरसे बिन, प्रान पपीहा अधीर।[1]

सखीभाव युगल उपासना का भाव है। वहाँ क्षण भर के लिए भी राधा-कृष्ण का वियोग सम्भव नहीं है। न वहाँ अकेले राधा का स्मरण किया जाता है, न कृष्ण का। घनानन्द जी ने राधा और कृष्ण का अकेले भी स्मरण किया है और अपना उपास्य कृष्ण को बताया है।[2] इसी प्रकार राधा का भी अकेले स्मरण इन्होंने किया हैं।[3] वहाँ उनका श्रीकृष्णप्रिया का रूप तो है ही, वे कीरति-कन्या हैं, श्रीदामा की अनुजा हैं, गोपाल की उपासिनी हैं और श्रीकृष्ण की शिरोमणि भी हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी उपासना में राधा के स्वरूप की एक विस्तृत स्वीकृति है। इसी प्रकार उनकी उपासना में कहीं कान्ताभाव के तत्त्व हैं, कहीं सखीभाव के।

घनानन्द के गोपीत्व में सखीभाव का स्वरूप यत्र-तत्र बहुत स्पष्ट है। उनका अपना सम्प्रदाय का सखी नाम भी है, वह है 'बहुगुनी'। वृषभानुपुर-वर्णन में उन्होंने अपने को राधा की चेरी और नाम बहुगुनी बताया है :—

राधा की हौं चौकस चेरी, सदा रहति घर बाहिर नेरी।
नीकौ नांव 'बहुगुनी' मेरौ, बरसाने ही सुन्दर खेरौ।
याही घर की जाई बाढ़ी, सदा रहति राधा ढिंग ठाढी।
राधा दृष्टि लिये ही रहौं, जो कछु बूझैं सोई कहौं।
मन की पाय टहल अनुसरौं, अपनी को मनभायौ करौं।
राधा हौं सब भाँति पढाइ, पांइ झंवाइ गुमान बढ़ाइ।
रस सिंगार सौंज सजि जानौं, कबरी सो धौं बहु विधि बानौं।
राधा नाम 'बहुगुनी' राख्यौ, सोई अरथ हिये अभिलाखौं।

---

[1] पदावली सं० ५१, घनानन्द ग्रन्थावली पृ० ३४१।
[2] विचार सार, घनानन्दकृत, घनानन्द ग्रन्थावली पृ० २४९।
[3] पदावली सं० ९६१ घनानन्द ग्रन्थावली पृ० ५६१।

चित हित की समुझति अति औंड़ी, राधा करी लाडिली लौंड़ी।
ललिता सखी मोहि अति मानैं, राधा को हित लै पहिचानै।[1]

उपर्युक्त छन्द में घनानन्द जी ने अपनी राधा-प्रधान युगल उपासना के सखीभाव का प्रायः पूरा परिचय दे दिया है। उन्होंने अन्य अनेक पदों में भी राधामदन गोपाल की टहल का विस्तार से वर्णन किया है।[2]

घनानन्द जी के सखीभाव के पदों पर शैली की दृष्टि से स्वामी हरिदास जी के पदों की छाया दिखाई देती है।[3] इस दृष्टि से रास, सुरतांत, होरी आदि के अनेक पद पठनीय हैं।

घनानन्द जी की उपासना के स्तर विविध रहे हैं। उनके काव्य में एक क्रम-विकास परिलक्षित है। उपासना का ज्ञान एक साथ होता भी नहीं, इसमें बुद्धि भ्रमित होने लगती है, क्योंकि लीला रस का मर्म जानना कठिन ही है—

लीला–रस कौ मरम न जान्यौ जाइ।
कैसें कै करियै उपासना, समुझत मति बौराइ।[4]

---

[1] वृषभानुपुर सुषमा वर्णन। छं० सं० ८ से २६ तक।

[2] राधा मदनगुपाल की हौं सेज बनाऊँ।
दूध फेन फीको करै वर वसन बिछाऊँ।
बासन्ती नव कुसुम लै, रचि रुचिहिं रचाऊँ।
नव पराग भरि भाव सों तिनपर बगराऊँ।
× × × ×
टेरि लेंहि तव लाडिली हित हुलसि सिहाऊँ।
कछू कहैं लगि कान सौं सुनि जीव ज़िवाऊँ।
ता सुख की सम्पति सखी मन मांझ दुराऊँ।
नैन सैन जोवन छकी लखि भाग मनाऊँ।
× × × ×
सहज रङ्गीलै जोट कों जिय बीच बसाऊँ।
चित्त चातक 'आनन्दघनै' रस परस रमाऊँ।
पदावली सं० ५४। घनानन्द ग्रन्थावली पृ० ३४।

[3] तान सुर तार सों जमाई है मोहन मुरलीमें मलार। आदि पद, सं० १८

[4] पदावली, ४८४।

परन्तु अन्त में वे व्रजभक्ति के मार्ग से सखीभाव तक पहुँचे हैं। यही उनकी चरम साधना दिखाई देती है।

भाव की दृष्टि से घनानन्द जी ने जो चमत्कार प्रेम-सम्बन्धी कविता में दिखाया है, वह भक्ति-काव्य में उलझाव को छोड़कर अधिक सुलझ गया है। स्वामी हरिदास जी एवं हित हरिवंश जी के काव्य में जो संयोग और वियोग की स्थिति निकुञ्ज में रहती है, वह घनानन्द ने अपनाई है और कविता में भाव की दृष्टि से एक नूतनता को जन्म दिया है। नूतनता यह है कि जहाँ स्वामी हरिदास जी आदि संयोग और वियोग में संयोग को प्रधान रखते थे, वहाँ घनानन्द जी के 'बांटे वियोग पड़ा रहने' के कारण वे संयोग में वियोग का अनुभव करते हुए भी दूसरे रास्ते ही निकल गये हैं, वे चिर वियोगी हो गये हैं। घनानंद का चिर वियोग सखीभाव के आनन्दवादी लीलातत्व से मेल नहीं खाता, अतः जैसे जैसे उनकी वियोग की खुमारी उतरती गई, वैसे वैसे ही वे राधाकृष्ण की लीलाओं के आनंद में अपने उस वियोग को भुलाते गये और अन्त में सखी-रूप में निकुञ्जलीला के उस अनन्त आनन्द के दर्शक वन गये।

घनानंद के कलापक्ष की गरिमा उनके विरोधाभासयुक्त वक्रोक्ति-कथन में मानी जाती है। वे भाषा की लक्षणाशक्ति के समर्थ प्रयोक्ता हैं। भक्ति सम्बन्धिनी रचनाओं में उन्होंने जानबूझकर वक्र वक्तृता को छोड़ दिया है फिर भी घनानंद की अभिव्यक्ति स्वभावतः समाप्त नहीं हो सकी है और उनकी वक्रता अधिक स्वाभाविक होकर भक्तिकाव्य में प्रस्फुटित हुई है। पदावली का कलापक्ष प्रायः प्रांजल, सरल और सुवोध है।

श्री गोविन्ददेव जी

श्री वृन्दावनदेव जी के पश्चात् उनके शिष्य गोविन्ददेव जी सलेमाबाद की गद्दी पर बैठे। ये घनानंद जी के समकालीन थे। घनानन्द जी ने इनके सम्बन्ध में श्रद्धा का भाव व्यक्त किया है। भोजनादि धुन में वे कहते हैं :—

श्री वृन्दावनदेव सनातन, चातक रसिकन को आनन्दघन।
जो यह भोजनादि धुन गावै, श्री गोविंददेव पद पावै।

गोविन्ददेव जी का समय श्री व्रजवल्लभ शरण जी के अनुसार वृन्दावनदेव जी के पश्चात् गद्दी पर सं० १८१४ तक है।[1] निंबार्क माधुरी के लेखक के

---

[1] सर्वेश्वर, वृन्दावनांक, पृ० २२४।

अनुसार उनका कविताकाल लगभग सं० १६७० है,[1] जो पूर्णतः अशुद्ध है। निम्बार्क माधुरीकार ने इन्हें भाव-सिद्ध सखी रूप धारण कर प्रेमभक्तियुत उपदेशामृत का पान कराने वाला लिखा है। इनकी कविता की एक पुस्तक 'जयति चतुर्दश' प्राप्त होती है, परन्तु इसके उद्धरण प्रामाणिक ज्ञात नहीं होते। गुरु परम्परा जयति के उद्धरण में केशव काश्मीरी भट्ट के शिष्यों में कृष्ण चैतन्य और नित्यानन्दादिक का नाम भी लिया गया है, जो स्पष्ट ही सांप्रदायिक पक्षपात और ऐतिहासिकता का विरोधी है।[2] नीचे उनकी एक रचना 'राधिका स्वामिनी जयति' में से कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं :—

जयति श्री राधिका कृष्ण सुख साधिका, भक्तदुख वाधिका महा भामा।
जयति पियमोहिनी, सकल अंग सोहिनी, कृष्ण छवि जोहिनी प्रियास्यामा।
जयति नव नागरी, रूप गुन आगरी, कृष्ण सुख सागरी महोदारा।
जयति श्री स्वामिनी, महा अभिरामिनी, देह दुति दामिनी छवि अपारा।
जयति आहलादिनी प्रान प्रियावादिनी, प्रेम उत्पादिनी कृष्ण मित्रा।
जयति पिय वस करी, भरी रति रंग सहचरी, अमित रानी विचित्रा।
जयति नव नायिका, कृष्ण रस दायिका, प्रान प्रिय गायिका अति नवीना।
जयति नव भामिनी, महा कल कामिनी, व्रजेश्वर नामिनी पिय अधीना।

× × ×

जयति वृषभानुनन्दिनी, जग वन्दिनी, कृष्ण हिय चन्दिनी रंगसेवी।
प्रनत 'गोविन्द' नन्द नन्द सुखकन्द, सर्वेश निजदास हरिप्रिया देवी।[3]

रानी बांकावती जी 'व्रजदासी'

जयपुर राज्य के लिवाणा प्रदेश के कछवाहा राजवंश में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम आनन्दराम था। इनके वंश के राजा भगवानदास जी को अकबर ने बांका की पदवी दी थी, इसीलिये इस राजघराने के पुरुष बांकावत और स्त्रियाँ बांकावती उपाधि से प्रसिद्ध रही हैं। इनका विवाह कृष्णगढ़ नरेश राजसिंह के साथ वृन्दावन में सं० १७७८ में हुआ था। ये

---

[1] निंवार्क माधुरी, पृ० १६६। श्री रसिकगोविंद देव के प्रकरण में पृ० ४८७ पर यह भूल ठीक कर दी गई है।

[2] निंवार्क माधुरी, पृ० ४९१।

[3] वही, पृ० ४९१।

स्वभाव-सिद्ध कवयित्री थीं। विशेष बात यह है कि इनके पुत्र प्रसिद्ध नागरी दास जी और पुत्री सुन्दरकुंवरि भी उच्चकोटि के रचनाकार हुए।[1]

रानी बांकावती जी का उपनाम 'व्रजदासी' था। ये निम्बार्क सम्प्रदाय के महन्त वृन्दावनदेव जी की शिष्या कही जाती हैं। श्रीमद्भागवत का व्रजभाषा में अनुवाद इनका साहित्यिक महत्त्व का कार्य माना जाता है। यह अनुवाद व्रजदासी-भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। परम्परा के अनुसार ये सखीभाव की उपासिका थीं। इनके अलग से पद प्राप्त होने की आशा है।

बाई सुन्दरिकुंवरि जी

बाई सुन्दरिकुंवरि जी अपने स्वनामधन्य पिता कृष्णगढ़नरेश राजसिंह और माता व्रजदासी जी की पुत्री थीं, इनकी कविता उच्चकोटि की है, अतः भक्त और कवि दोनों दृष्टियों से इनका विशेष महत्त्व है। इनका विवाह सं० १८१२ में ३१ वर्ष की आयु में रूपनगर के खींची वंश के राजकुमार बलवंत सिंह के साथ हुआ। राजनैतिक विषमताओं के कारण इन्हें जीवन भर आराम न मिला और अपनी उद्विग्न दशा में ही इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की।

इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि ये निम्बार्क संप्रदाय के तत्कालीन आचार्य वृन्दावनदेव जी की शिष्या हुई थीं, परन्तु उनका देहावसान शीघ्र ही हो गया और तब इन्हें अपनी साधना का मार्गनिर्देश सर्वेश्वरशरणदेव द्वारा प्राप्त हुआ।

इनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की संख्या १२ है, जिनमें मित्रशिक्षा को छोड़ कर अन्य सब प्राप्त हैं।[2] प्रसन्नता की बात यह है कि इनकी रचनाओं में प्रायः रचनाकाल दिये हुए हैं। डॉ० सावित्री सिन्हा के अनुसार इनके ग्रन्थों के नाम और रचना संवत् निम्न प्रकार हैं :—

१. नेह निधि (१८१७), २. वृंदावन-गोपी-माहात्म्य (१८२३), ३. ३. संकेत युगल (संकेत सुगल) (१८३०), ४. रसपुञ्ज (१८३४) ५. सार-संग्रह (१८४५), ६. भावना प्रकाश (१८४५), ७. रङ्गझर (१८४५), ८. गोपी माहात्म्य (१८४६), ९. प्रेम संपुट (१८४८), १०. राम रहस्य (१८५३)।

---

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० १६९-१७०।

[2] निम्बार्क माधुरी, सं० विहारीशरण पृ० ५९४।

निम्बार्क माधुरी के अनुसार उनका 'मित्रशिक्षा' नामक ग्रन्थ अप्राप्त है, जिसका संवत् उसके अनुसार सं० १८६२ है। इसी प्रकार एक पुस्तक 'पदावली' की प्राप्त है।

सुन्दरिकुंवरिबाई के ग्रंथ 'रामरहस्य' को छोड़कर शेष सभी कृष्णभक्ति से संबंधित हैं। संप्रदाय की भावना के अनुसार ये युगल उपासक तो हैं ही। उन्होंने 'वृन्दावन-गोपी-माहात्म्य' में कहा है :—

जुगल उपासक रसिकमनि, निंबादित सम्प्रदाय।
जिन दास्यता मैं लई बड़े भाग्य वर पाय।'

इनके अधिकांश ग्रन्थों में सखीभाव के अनुसार ही राधाकृष्ण का नित्य-विहार वर्णित है। 'रसपुञ्ज' में उन्होंने व्रज के राधाकृष्ण को विष्णु आदि के लिए भी गूढ़ बताया है और राधाकृष्ण के प्रति अपने किंकरीत्व का परिचय दिया है। श्रीराधा जी को कृष्ण की भाग्यरूपा कहा गया है :—

भानुकुल भूषण लडैतो वृषभानु जू को,
कृष्णचन्द्र भाग्यरूपी प्रगटी हैं राधा जू।
वेद हू न भेद लहै, विष्णु जाय नाम रहै,
गूढ़ गहि राखै शिव सुकृत से साधा जू।
जा पद परस व्रजधर को प्रभाव भूरि,
चाहत दरस सुर परस अगाधा जू।
गायैं कृपाकिंकरि नवल नेह मतवारी,
'सुंदरिकुंवरि' पद वन्दि हरि राधा जू।

काव्यदृष्टि से इनकी रचनाएं उत्तम हैं। भाव और कला का सुन्दर समन्वय इनके काव्य में हुआ है। पद, कवित्त, सवैया आदि अनेक छन्दों का सिद्ध प्रयोग इन्होंने अपने काव्य में किया है। उदाहरण के लिये एक सवैया प्रस्तुत है :—

प्याय महा मदिरा निज माधुरी, लोचन लोभिन लायौ हवेपौ।
चेटक ज्यों सुख स्वाद लुभाय, बढाय विलास हुलास विसेपौ।
लै ललचाय भुराय दुराय सुहाय विहास जु गौ अब मेषौ।
जानि परी निठुरानि की वानिपै रीझ के आगे न सूझै परेपौ।

छत्रकुंवरि जी

छत्रकुंवरि जी नागरीदास जी के वंश की विदुषी थीं। ये उनके पुत्र की पुत्री थीं, जैसा कि अपने परिचय में उन्होंने स्वयं लिखा है :—

रूपनगर नृप राजसी, निजसुत नागरीदास।
तिनके सुत सरदार, सो हौं तनया मैं तास।
छत्रकुंवरि मम नाम है, कहिवे को जग मांहि।
प्रियासरन दासत्व से, हौं अति चूर सदाहिं।
सरन सलेमाबाद की पाई तासु प्रताप।
आश्रय ह्वै जिन रह सके, वरन्यौ ध्यान सजाप।[1]

इनका विवाह सं० १८३१ में कांठडे के गोपालसिंह जी खींची के साथ हुआ था। कविता इनको पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त थी। ये रहती भी अधिकांश रूपनगर में ही थीं। अतः कविता करने का उपयुक्त वातावरण इन्हें प्राप्त था। डा० सावित्री सिन्हा ने इनका समय सं १७४५ (रचनाकाल) लिखा है, जो ठीक नहीं है।[2] वास्तव में यह १८४५ है, जैसा कि इनके ग्रंथ से ज्ञात होता है।

इनका एक ग्रन्थ 'प्रेमविनोद' प्राप्त है, जो सुन्दरिकुँवरि जी के ग्रन्थों के साथ, बूंदी की राजमाता द्वारा प्रकाशित भी कराया जा चुका है।

छत्रकुँवरि जी ने अपने ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि काव्यदोष आदि देखना मेरा काम नहीं है, वह तो कवि जानें, इसमें तो रसिक जनों के लिये 'रहसि' है, उसे ही देखना चाहिये, फिर भी इनकी कविता काव्यगुण मंडित है। डॉ० सिन्हा का कथन है कि "वर्णनों की सजीवता तथा प्राणोपमता लेखिका की प्रचुर कल्पना-शक्ति की परिचायक है। श्रृंगार के संचारियों तथा अनुभावों का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कामशास्त्र के विशेषज्ञ के लिये ही संभव हो सकता है। छत्रकुंवरिबाई में प्रेम की विविध दशाओं के अन्तर्गत अनुभूतियों तथा चेष्टाओं में केवल कल्पना नहीं, सूक्ष्म निरीक्षण तथा मनोवैज्ञानिक पुट भी है। उनकी प्रांजल भाषा, अलंकृत तथा संगीतमयी शैली प्रशंसनीय है।"[3] इनकी कविता का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है:—

चौपर रमन माहिं प्यारी छवि हेरि प्रिय,
विवश छकाने दृग सकत न टारि कै।

---

[1] प्रेमविनोद से।

[2] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, पृ० २००।

[3] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, डा० सावित्री सिन्हा, पृ० २००, २०१।

चुहल मचावै, ललिताजू सम्हरावै,
रंग सरसावै, लखि पाने मतवार कै।
पासे लै चलावै, दांव नजर विलंव हेरैं,
आठ न अठारै, कहि चौहे जुगसार है।
जटैं कर लूटैं लाह, वाढै सुख स्वाद सनैं,
प्रिया भौंह ताने ये विकाने गति हार कैं।[1]

श्री गोविन्दशरण देव

श्रीगोविन्ददेवजी के पश्चात् निम्वार्क संप्रदाय की गद्दी पर गोविन्दशरण देव विराजमान हुए। इनका आचार्यकाल सं० १८१४ से सं० १८६० तक है।

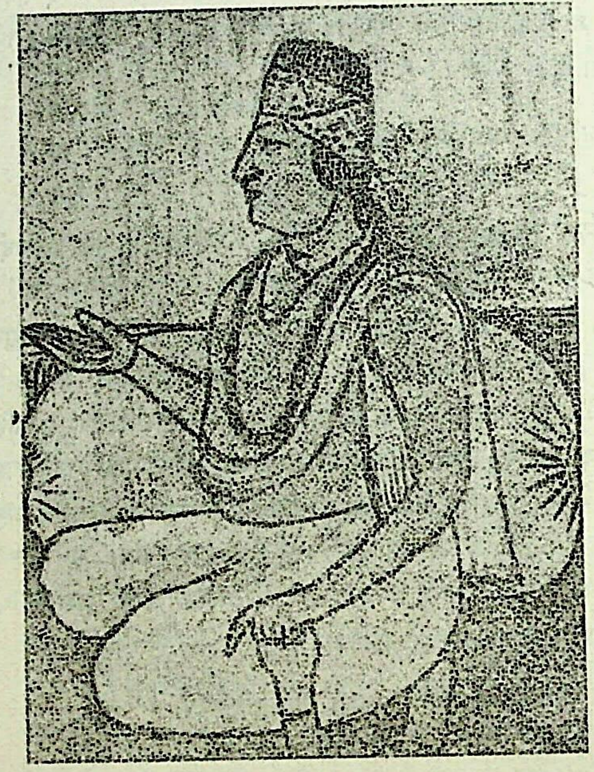

श्रीगोविन्दशरण देव जी

इनके सम्बन्ध में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनका वाणी—संग्रह सलेमाबाद

---

[1] प्रेमविनोद से।

में सुरक्षित है, जिसमें बहुत से पद एवं अन्य छन्द हैं। वृन्दावन में भी इनके कुछ पद और अन्य छन्द देखने में आये हैं। कवित्त सवैये भी इन्होंने बड़े चाव से लिखे ज्ञात होते हैं। सखियों की सेवा का एक कवित्त देखिये, जिसमें आनंद की तन्मयावस्था का दर्शन होता है:—

जुगल टहल हित सखी रंगमंगी डोलैं,
कनकलता सी'मानों एक सांचे काढ़ी हैं।
पानदान पीकदान विजन वसन हाथ,
काहु काहु कर चौर चहूँ ओर ठाढ़ी हैं।
गावतिं विभास, गुणमंजरी बजावै वीन,
अति ही नवीन सुख सलिता सी बाढ़ी है।
पीव रूप माधुरी न अंग अंग की सम्हार,
मानौं विवि चन्द सौं चकोरी चाह बाढ़ी है।[1]

रूपवर्णन में चमत्कार का सुन्दर योग देखिये:—

लछिमी लुनाई, चंद वदन सुधा, मृदुवानी कामधेनु सम सब सुखदानी है।
चाप भौंह, रम्भा हर्ष, कम्बु कण्ठ विष परत, कुचकुंभ बारुनी सो मादिक महानी है।
धनवंतरि अश्व पति मो रथ रागमनि, सूर ह्र आचरन लै बखानी है।
रूपसिंधु प्यारी तन चौदह रतन भरयौ, याहीं तें विहारी भयौ अति अभिमानी है।[2]

श्री राधाजी का एक चित्र प्रस्तुत है, जिसे देखकर रीतिकालीन सामान्य नायिका का स्मरण हो जाता है। रीतिकाल की कविता और इनकी कविता में आत्मा का ही अन्तर हो सकता है, रूप का अन्तर नहीं है। ये उपासक थे, अतः इनकी कविता के नायक-नायिका राधाकृष्ण ही थे, प्राकृत नायक नहीं।

राजै मृगनैनी पिकबैनी. बिरैनी बोरी,
लचकत छीन कटि सोभा भर भार है।
बैगनियां सारी पै किनारी जरतारी भारी,
देखिकै सुमार भयौ अतिही सुकुमार है।
मनौ रूपसागर में सरस सिवार लसै,
किधौं चन्द लपटाने पन्नगकुमार है।

---

[1] निम्बार्क माधुरी, पृ० १८७
[2] वही १८६-१८७

किधौं मखतूल स्याम, मरकत के तार किधौं,
ठाढ़ी फुलवारी माँहिं सुखवत बार है।[1]

श्री रसिकगोविन्दजी

श्री गोविन्दशरण जी के शिष्य सर्वेश्वरशरण देव थे और उनके शिष्य थे श्री रसिक गोविन्द। इनकी गणना हिन्दी के प्रसिद्ध रीतिकालीन कवियों में होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इनका उल्लेख किया है। उनके अनुसार ये निम्वार्क सम्प्रदाय के एक महात्मा हरिव्यास की गद्दी के शिष्य थे। हरिव्यास जी की शिष्य-परम्परा में श्री सर्वेश्वरशरणदेव जी बड़े भारी भक्त हुए हैं। रसिक गोविन्द जी उन्हीं के शिष्य थे। ये जयपुर के रहने वाले और नटाणी जाति के थे। इनके पिता का नाम शालिग्राम, माता का नाम गुमाना, चाचा का मोतीराम और बड़े भाई का नाम बालमुकुंद था। इनका कविताकाल सं० १८५० से १८९० तक अर्थात् विक्रम की उन्नीसवीं शदाब्दी के मध्य से लेकर अन्त तक स्थिर होता है। अब तक इनके ९ ग्रन्थों का पता चला है। संभवतः और भी होंगे। शुक्ल जी के अनुसार इनके ग्रन्थों के नाम हैं—

१. रामायण सूचनिका। २. रसिक गोविन्दानन्दघन, ३. लछिमनचन्द्रिका। ४. अष्टदेश भाषा। ५. पिंगल। ६. समय-प्रबंध। ७ कलिजुग रासौ। ८. रसिक गोविन्द। और ९. युगल-रस-माधुरी।[2]

इन ग्रन्थों में से सं० २, ३, ५, ८ रीति-सम्बन्धी हैं, जिनके ऊपर इनका रीतिकालीन आचार्यत्व टिका है। शुक्ल जी ने इनके 'रसिक-गोविन्दानंदघन' की बहुत प्रशंसा की है। विशेष बात यह है कि इस ग्रन्थ में विवेचन के लिये आवश्यकतानुसार गद्य का भी प्रयोग किया गया है। इनके ग्रंथ सं० १ में रामायण की ३३ दोहों में संक्षिप्त कथा है और कलिजुग रासो में 'कलि' की बुराइयों का विवरण है। इनके शेष ग्रन्थ कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित हैं। समय-प्रबन्ध और युगल-रस-माधुरी ये दोनों लीला के ग्रंथ हैं। युगल-रस-माधुरी की भी शुक्ल जी ने प्रशंसा की है। इसमें रोला छन्द में राधाकृष्ण विहार और वृन्दावन का बहुत ही सरस और मधुर भाषा में वर्णन है, जिससे

---

[1] वही, पृ० १८५

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २९४–२९५ ११ वां संस्करण।

इनकी सहृदयता और निपुणता पूरी पूरी तरह टपकती है।[1] निस्संदेह भक्तिभाव की यह रचना एक अच्छे काव्यकार के हाथों निर्मित हुई है इसलिये उत्कृष्ट है।

'युगल-रस-माधुरी' ग्रन्थ का आरम्भ आचार्य हरिव्यासदेव जी की वन्दना से होता है। कथा का आरम्भ वृन्दावन के दिव्य वर्णन से हुआ है।

सखीभावोपासकों की यह मान्यता कि वृन्दावन चिदानन्दघन है, सर्वोपरि है, युगल की क्रीड़ा के निमित्त ही इसने जडिमा धारण कर रखी है, यहां भी बताई गई है :—

परम रम्य घन चिदानन्द सर्वोपरि सोहै।
तदपि जुगल रस केलिकाज जड़ ह्वै मन मोहै।

वृन्दावन का सैद्धान्तिक वर्णन करने के बाद कवि ने उसका दिव्य रूप वर्णित किया है। यहां प्रायः सभी वृक्षों और पुष्पों की सूची प्रस्तुत कर दी गई है। इस वस्तु परिगणनात्मक शैली को यद्यपि काव्य में रूखा माना जाता है, परन्तु कभी कभी आध्यात्मिक वातावरण बनाने में ऐसे विवरण उपयोगी रहते हैं। वृन्दावन के अन्दर कुंज और महल का सुन्दर वर्णन है। वहां सखियों के मध्य श्यामा और श्याम सुशोभित हैं। रूपवर्णन में कवि ने काव्य-शक्ति का प्रचुर प्रयोग किया है। श्याम और श्यामा मानों श्रृङ्गार रस और श्रृङ्गार किये सुंदरता की मूर्ति हैं। दोनों के शरीर एक दूसरे के शरीर में प्रतिबिंबित हैं, अतः इन परछाइयों के कारण आभूषण दुगुने, चौगुने और अनेक गुने होकर दिखाई दे रहे हैं :—

प्रीतम सुन्दर स्याम प्रिया छवि फवी गुराई।
मनु सिंगार रस संग सिंगार किय सुंदरताई।
दोऊ तन दर्पन अंग अंग प्रतिबिम्बित सरसैं।
दुगुन तिगुन चौगुन अनेक गुन भूषन दरसैं।[2]

कहीं-कहीं अन्य कवियों की छाया भी रूप-वर्णन में आ गई है। एक उदाहरण विहारी के दोहे की समता का देखियेः—

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २९५ वही संस्करण।

[2] युगलरस माधुरी ६०, ६३।

कर्न तरौना तरल झलमलत नीलांचल में।[1]
परयौ प्रात प्रतिबिंब भानु जनु जमुनाजल में।

बिहारी का दोहा है—

लसतु सेत सारी ढप्यौ, तरल तरयौना कान।
परयौ मनौ सुरसरि सलिल रवि प्रतिबिंब बिहान।[2]

प्रिया-प्रियतम का केलि विहार वृन्दावन में हो रहा है। सखियां ही नित्य विहार का रस लेती हैं। वे अपनी अपनी भांति सेवा में निरत हैं :—

संग सखी सुखरासि ललित ललिता रंग देवी।
निरखति नित्यविहार जुगल रस सरस सुसेवी।
अरु सखि सब सुख-देन, रुखहिं लिय सुखहि निहारैं।
अपनी अपनी उमंग सहित सब सौंज संवारैं।[3]

श्री कृष्णदास

कृष्णदास जी विंध्याचल के निकट, सुरधुनी के तट पर गिरिजापत्तन ग्राम के निवासी थे। यह स्थान मिर्जापुर जिले में लगता है। वहीं इन्होंने अपने ग्रन्थ 'माधुर्य लहरी' की रचना की। माधुर्य-लहरी का रचना सं० १८५२ में राधाष्टमी को प्रारम्भ हुई और रचना की पूर्ति १८५३ के वैशाख मास में हुई।[4] इस गति से ग्रन्थ लिखने वाले कवि की रचनाएँ अवश्य ही और भी उपलब्ध हो सकती हैं।

---

[1] वही, ९१।

[2] बिहारी रत्नाकर, सं० १०६।

[3] युगल रस माधुरी, १३८।

[4] विन्ध्य निकट सुर्धुनी गिरिजापत्तन ग्राम।
हरिभक्तन के आश्रय कृष्णदास विश्राम।
ग्रंथ माधुर्य सु लहरि अस कहियै जाको नाम।
कृष्णदास सुख की कृपा प्रगट भयौ ता ठाम।
अष्टादश सह संवत अरु बावन पुनि संग।
भाद्र मास सुखसिन्धु श्री जन्मारंभ तरंग।
तिरपन संवत कौ अमल अति वैसाख सुमास।
लहरिमाधुरी सुख लह्यौ संपूरन मन आस।
—माधुर्य लहरी।

माधुर्य-लहरी विशाल ग्रन्थ है। इसमें कवि ने लीलाओं का गान बड़ी तन्मयता के साथ किया है। स्थान-स्थान पर उन्होंने तात्त्विक व्याख्याएँ भी की हैं। एक बात इस ग्रन्थ में यह भी विशेष है कि कवि की उपासना का प्रमुख भाव ललिता के आनुगत्य को लेकर चलता है, जब कि साधारणतया निंबार्क संप्रदाय में रंगदेवी को प्रधान मान कर उपासना होती है। कृष्णदास जी के अनुसार युगल की प्रमुख गायिका ललिता जी ही हैं, उन्हीं को लेकर यहां सब क्रीडाओं का ताना-बाना बुना गया है। कवि उनका परिचय देता है:—

युगल तन जो माधुरी, सो सखी ललिता गावहीं।
रसिकजन करि पान श्रवनन अवधि सुख की पावहीं।
सखिन के सर्वस्व स्यामास्याम जिय आधार जो।
प्रथम तिनकौ रूप वरनैं, पीय सुदवर सार जो।

राधा और श्याम दोनों एक ही अङ्ग की कान्ति के दो रूप हैं—

प्रिया प्रियतम अङ्ग एकै द्विधा कान्ति बखानियै।
निज रूप ही तैं प्रेम अतिसय लोक हू परमानियै।

ललिता के आनंद के लिये ही विभिन्न प्रकार की लीलाएँ यहां हो रही हैं। एक ओर श्रीराधा तनिक ओट में व्याकुल हैं और उधर लाल जी राधा के बिना विकल हैं। ललिता से यह विकलता नहीं देखी जाती। वही दोनों लाल और लाड़िली को मिलाती हैं—

लगी खोजन कुञ्ज कुञ्जन दुख पुञ्ज अपार है।
जाय पाये सखीगन में युगल प्रान अधार है।
करैं केलि अनेक विधि की परसपर आनँद भरैं।
देखि ललिता ठगी सी व्है खरी अचरज बहु करैं।

यह ग्रन्थ ऐसे ही रसमय प्रसंगों को लेकर चलता है, जिनमें कवि ने प्रेम प्रकाशित करने वाली लीलाओं को पल्लवित किया है। श्रीकृष्णदास का काव्य सहज कवित्व की दृष्टि से आदरणीय है। इसमें काव्य के गंभीर तत्व अथवा अलंकारादि की अधिक योजना नहीं मिलती। लीलागान में अनुभूति की सचाई और उसकी सहज अभिव्यक्ति ही इनकी विशेपता है। इनकी भाषा भी सीधी सच्ची है। वह सुबोध और प्रवाहपूर्ण है।

श्री सुन्दर-सखी

निंबार्क सम्प्रदाय के नित्यविहार के गायकों में सुन्दर सखी का नाम महत्त्वपूर्ण है। सम्प्रदाय में उनके सम्बन्ध में प्रायः कुछ भी ज्ञात नहीं है।

नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी के पुस्तकालय का निरीक्षण करते हुए लेखक को सुन्दर सखी के एक ग्रन्थ की प्राप्ति हुई। यह सखीभावोपासना का सुन्दर ग्रंथ था और कवि अज्ञात थे। बाद में इनका एक ग्रन्थ 'रास-रस-माधुरी' और देखने को मिला जो सुन्दर कवि कृत है। दोनों के कवि एक ही हैं। वस्तुतः ना० प्र० सभा के पुस्तकालय वाला ग्रन्थ सुन्दर कवि की रचनाओं का एक बृहत् संकलन है और यह ग्रन्थ उसका एक अंश मात्र है। सभा वाले ग्रन्थ में इन्होंने अपना थोड़ा सा परिचय दिया है, जो इस प्रकार है :—

इनके पिता का नाम सुखलाल था। ये जयपुर के निवासी और जाति के कायस्थ थे। सखीभाव की रस-रीति से ये युगल किशोर की उपासना करते थे। इन्होंने लिखा है :—

कायथ सुत सुखलाल कौ, जैपुर वास पुनीत।
सेवग जुगल किसोर को, सखीभाव रस रीत।

कुछ दिन इनका निवास बौंली के गढ़ में हुआ। यह बहुत ऊँचा और सुन्दर दुर्ग है। यहां के रक्षक आदि भी बड़े ही वीर, सुजान और हरिभक्त थे। पुराण की कथा सुनते थे।[1] एक ब्राह्मण होडुराम पुजारी थे। वे पिय-प्यारी की सखीभाव से सेवा करते थे। भगवान् का विविध प्रकार से यशगान करते और गान-विद्या भी जानते थे। श्री श्यामा जी ही उनकी इष्ट थीं और उनकी छाप 'कलकंठी' थी। उनका और सुंदर कवि का नित्य सत्संग था। उनके प्रति कवि का सद्गुरु का भाव था। फौजसिंह चौहान भी रसिक थे। चतुर्भुजदास कृत 'एकादश भागवत' को वे प्रेमपगे चित्त से सुनते थे। उन्होंने भी सुंदर कवि से पिता के समान ही स्नेह किया। बलदेवसिंह कछवाहा भी बड़े कृपालु थे। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १९१७ है तथा प्राप्त ग्रन्थ का प्रतिलिपिकाल सं० १९२५ है।

मंगलाचरण में उन्होंने अपना संप्रदाय निम्बार्क बताया है और हरिप्रिया जी की प्रशंसा की है। अपने संप्रदाय की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं :—

श्री निंबादित विदित जग रंगदेवी अवतार।
जिनकी संपरदाय यह रसनिध रस कौ सार।

---

[1] ब्राह्मण होडुराम पुजारी, सखीभाव सेवैं पिय प्यारी।
विविध भांति हरिजस नित गावै। करै गानविद्या सुख पावै।
नित श्री स्यामा जिनके इष्ट। कलकंठी की छाप अभिष्ट—इत्यादि।

जिनके दासन दास कौ है यह सुंदर दास ।
गावूं रस जस माधुरी सफल फली मन आस ।

सुन्दर-सखी के सभा के संग्रह में अनेक ग्रन्थ संकलित हैं । इनमें से कुछ के नाम हैं, शिक्षा-मंजरी, प्रेम-मंजरी, रसिक-मंजरी, रंग-मंजरी, नाम-माधुरी, विपिन-माधुरी, भक्त-माधुरी, सिद्धान्त-माधुरी, रहस्य-मंजरी, माधुर्य-माधुरी, नवल-विलास, फूल-विलास, अनूप-विलास, भक्त-विलास, हित-विलास, भावना-विलास, सार-सुख, सनेह-सुख, सुहाग-सुख, सिंगार-सुख, सरूप-सुख आदि । इन्होंने अन्य ग्रन्थकर्ताओं की एक सूची भी दी है और बताया है कि जिन-जिन ने उत्तम रस-ग्रंथों की रचना की है, उनका संसार में निश्चल पंथ है ।

सुन्दर सखी नित्यविहार-रस में डूबे हुए रसिकों में से हैं । ये सखीभाव के छके हुए गायकों में से हैं । सिद्धान्त कथन में भी ये संप्रदाय में अद्वितीय हैं । प्रायः सर्वत्र ही इन्होंने महावाणी की शैली और उसी जैसे शब्दों को लेकर सिद्धान्त-कथन किया है । दोनों की समानता का एक उदाहरण देखिये :—

निगम न गम पावत कछु अगम सकल गुन ग्रिन्थ । सुन्दर कवि
नेमा प्रेमा तें परे परग परा कौ पंथ ।
निगम निगम आगम अगम लहि न सके गुन ग्रंथ ।
नेम प्रेम ते पर चल्यौ परम परा कौ पंथ । महावाणी ।

नित्यविहार में विहार करने वाले परम प्रभु का स्वरूप—वर्णन उन्होंने निम्बार्क संप्रदाय के सिद्धान्त भेदाभेदवाद के अनुसार किया है :—

आपुहि विलसत आपु में आपुहि द्रष्टाद्रष्ट ।
आपुहि पावै द्रष्टि तौ सब द्रष्टन के इष्ट ।
वैदिक बरनत वेद विधि, भावक ध्यावत भाव ।
अगम अगम पर तें परे स्यामा स्याम प्रभाव ।
जुगल कहूँ तौ जुगलवर एक कहूँ तौ एक ।
भिन्न न भेद न 'सुन्दरी' एकामेक अनेक ।
आपुहि राधा आपु हरि आपुहि सखी अनंत ।
आपुहि वृन्दाविपिनवर जथामान विलसंत ।

वे सहचरीभाव से ही राधाकृष्ण की उपासना करने का उपदेश देते हैं :—

भूलि न भटकौ मर्म तजि, गहौ सुगत सत पंथ ।
सेवौ सहचरिभाव धरि, राधा राधाकन्त ॥

सब मूलन कौ मूल सुख सब सारन कौ सार।
लीन होय निज रूप में निरखैं नित्यविहार ॥

ब्रज-विहार का वर्णन भी इन्होंने सर्वत्र बड़े प्रेम से किया है। 'रास-रस-माधुरी' इनका भागवत की रास-पंचाध्यायी का भाष्य रूप है। उनकी दृष्टि में रास-पंचाध्यायी में शुकदेव जी ने रास रस की गुप्त रीति को बताया है :—

पंच अध्यायी रास की, उत्तम परम पुनीत।
गुप्त कही शुकदेव जू, नितविहार की रीत।

श्लोकों का अर्थ करते समय रचनाकार ने बराबर अपनी ओर से विशद व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, सखियों के विस्तृत वर्णन, उनके नाम, जन्मादि के कारण आदि सभी इसमें बताये गये हैं। कथाओं की व्याख्या मार्मिक और ब्रजरस के अनुकूल है।

अपने सभी ग्रन्थों में सुंदर सखी ने सरल और सीधे काव्य का रूप रखा है। भाषा सर्वत्र सीधी अर्थवती है। उसमें प्रायः बनावट नहीं है। जहाँ सिद्धान्त-कथन किया गया है, वहां भी भाषा का गठन कठिन नहीं है। सिद्धान्त को सरलता से बोधगम्य बना देना इनके काव्य का गुण है।

कवि ने कहीं भी जानबूझ कर काव्य में अलंकार ठूंसने का प्रयत्न नहीं किया है। निकुञ्जलीलाओं में जहाँ कवि अत्यधिक भावुक हुआ है, स्वतः ही अनेक अलंकार भाव के साथ लिपटे चले आते हैं। स्वाभाविक काव्य और सखीभाव के सिद्धान्त की दृष्टि से आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व रचा गया यह काव्यसंग्रह निंबार्क-संप्रदाय का गौरव बढ़ाने वाला है। सुंदर सखी का ग्रंथ वास्तव में सुन्दर है, प्रकाशन योग्य है।

श्री किशोरीदास जी

किशोरीदास जी पंजाब के सारस्वत ब्राह्मण थे। अधिकांश वृन्दावन में ही रहते थे। ये निंबार्क सम्प्रदाय के महात्मा गोपालदास जी के शिष्य थे। सखी-भाव के उपासक थे। पद रचना अच्छी करते थे। इनके द्वारा रचित ९ ग्रन्थों का परिचय मिलता है। ये हैं, १. मन सुबोधिनी, २. अष्टयाम, ३. वार्षिकोत्सव, ४. युगल विनोद, ५. श्रीकृष्णनामामृत, ६. श्रीकृष्णनामावली, ७. श्रीकृष्ण बाराखरी ८. आचार्य-प्रार्थना और ९. आचार्य-परम्परा।

इनके कुछ ग्रन्थ बहुत छोटे और कुछ बड़े हैं। भाषा इनकी अच्छी है

और कहीं कहीं कविता भावपूर्ण है। सखीभाव के उपासकों के प्रति इनकी बड़ी श्रद्धा थी। रसिकों की वंदना का एक पद प्रस्तुत है :—

मेरे परम गुरु हरिदास।
मन क्रम वचन विचार कियौ यह मन में दृढ विस्वास।
श्री हरिदास रसिक चूड़ामनि नित्यविहार उपास।
परिकर सहित द्रवहु मो मन की पूरन करियै आस।
श्रीहरिवंस व्यासकुल मंडन खंडन यम की फांस।
याचत गोपद सार देह प्रभु, सेवा कुञ्ज निवास॥
श्रीहरिवंश प्रसाद लडाये, श्री किशोर सुखरास॥
वन्दौं व्यासदास दिनमनि सदा, मो हिये करहु प्रकास।
भये जे, अहैं, होंयगे जिनकी पद रज सों भव नास।
चरन सरन तिनकी जो आवत, मिटत ताप त्रय तास।
ज्ञान विराग भक्ति बल कर निज, चेरी करि देवी अनयास।
'किशोरीदास' प्रभु हंसकुल दीपक, जय जय श्री हरिव्यास।[1]

पं० दुर्गादत्त जी

इनका जन्म मैनपुरी के जगतनगर ग्राम में हुआ था। सं० १९१३ में ये उत्पन्न हुए और सं० १९७५ में इनका अवसान हुआ। ये विलक्षण विद्वान और विशाल ग्रन्थराशि के रचनाकार थे। इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी के ९५ ग्रन्थ लिखे हैं। ये निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित सखीभाव के उपासक थे। एक पद प्रस्तुत है :—

कुञ्ज सदन लीला सुखसार।
पराभक्ति रसगम्य महामुद, सुषमासिंधु अपार।
सन्मुख ह्वै आसन पर राजैं, चौसरि रमा विछाई।
रत्नजटित कंचन के पासे, फेंकत झुकि छवि छाई।
मानौ साधक बुद्धि गोट कूं रंग गेह लै आवत।
वंधनदायक करमफंद के पासे दूरि चलावत।
झगरत दोऊ हंसि आपस में सखी निवेरत न्याय।
'दुर्गा' श्रीदंपति छवि निरखत, नित नित चित्र बनाय।[2]

× × × ×

---

[1] निम्बार्क माधुरी पृ० ६६६।

[2] वही, पृ० ६८९।

श्री सुदर्शनदास जी

गया जिले में सुपठा नामक ग्राम में इनका जन्म हुआ था। ये ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १९०३ में हुआ। वचपन ही से इनका सन्तों का सत्संग हुआ और घर से निकल पड़े। ये अयोध्या में वहुत दिन रहे और रामोपासना करते रहे। वाद में वृन्दावन आये। यहाँ मन ऐसा रमा कि निंवार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये और सखीभाव से राधाकृष्ण की उपासना में लग गये। सं १९७९ में इनका देहावसान हुआ।

कहा जाता है कि इन्होंने एक सौ ग्रन्थ लिखे। इनमें से अनेक प्राप्त हैं। पदरचना अच्छी करते थे। पदों में इन्होंने अपना सखीभाव का नाम 'ललितप्रिया' रखा है। एक पद प्रस्तुत है :—

ब्रज रज में लख्यौ निज भाग।
लाड़िली पद परस पावन, अचल मोर सुहाग।
श्रीकृपा विन नेकु यहि में होत नहिं अनुराग।
मोह रजनी नींद वस रज परसि आतम जाग।
माल मन मोती विथुरि रज प्रीति दृढ़तर लाग।
सुमिरु पद 'ललितप्रिया', ध्रुव मेटिहैं सव दाग।[1]

× × × ×

गोस्वामी किशोरीलाल जी

गोस्वामी किशोरीलाल जी हिन्दी के आधुनिक युग के उन्नायकों में से एक हैं। हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी उन्हें हिन्दी की प्रथम कहानी 'इन्दुमती' के लेखक के रूप में जानते हैं। भारतेन्दु वावू हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से इन्होंने पर्याप्त मौलिक साहित्य का सृजन किया और इसी रूप में वे जाने जाते हैं।

गोस्वामी किशोरीलाल जी का जन्म सं० १९२२ में हुआ था। इनके पिता का नाम गोस्वामी वासुदेवशरण था। ये वृन्दावन में ही निवास करते थे और निम्बार्क संप्रदाय के अनुयायी थे।

गोस्वामी किशोरीलाल जी के साहित्यिक रूप से तो सभी परिचित हैं, परन्तु वे वैष्णव साधक थे और सखीभाव के उपासक भी थे, यह कम को ही ज्ञात होगा। उन्होंने इस संबंध में अनेक रचनाएँ भी की हैं। इनके सखीभाव के पद भी वहुत भावपूर्ण हैं। नीचे उनके पदों के उदाहरण दिये जाते हैं :—

---

[1] वही, पृ० ६९५।

लाल लली दोऊ झूलत कुञ्जन।
चलो सखी सब मिल जुल ह्वांई, लै सँग निज अलि-पुञ्जन।
कूकत कोकिल कलित कंठ सों, लता लता अलि गुंजन।
'रसिक किसोरी' वहु विधि बाजत, साज ताल पर झुंझन।
श्री पुरुषोत्तम मनहिं विराजे।
मोरमुकुट मकराकृत कुण्डल, वनमाला छवि छाजे।
नटवर वेष तिलक मृगमद शुभ, अधर मुरलिया बाजे।
'रसिक किसोरी' निरखत दोऊ, कोटिन रतिपति लाजे।[1]

× × × ×

श्रीमाधवदास जी अलीमाधुरी

अलीमाधुरी जी का जन्म सं० १९१९ में ब्राह्मण कुल में हुआ था। २४ वर्ष की आयु में वृन्दावन आकर ये टोपीवाली कुञ्ज के महंत श्री कल्याणदासजी के शिष्य हो गये। उनके पश्चात् ये बहुत समय तक कुञ्ज के महन्त रहे।

अलीमाधुरी जी की रचनाएं प्राचीन रसिकों के समान ही सुंदर और सरस हैं। अनेक स्थानों पर तो इन्होंने प्राचीन रसिकों के वाणी-पाठ लगभग ज्यों के त्यों ही या बहुत थोड़े से हेर फेर के साथ अपने ग्रन्थों में रख लिये हैं। इनके दो ग्रन्थ श्री निकुञ्ज-केलि-माधुरी और श्री निकुञ्ज-प्रेम-माधुरी हैं, जो वृन्दावन से प्रकाशित भी हो चुके हैं—दोनों रचनायें वस्तुतः अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थों के संग्रह हैं। इनमें संप्रदाय की भावना का परिचय बड़ी ही सरल रीति से कराया गया है। रस के चारों अङ्गों का इसमें पूर्ण परिचय हुआ है। श्री श्यामाश्याम दोनों एक प्राण दो देह हैं। दोनों के अङ्ग अङ्ग सकुमार हैं और क्रीड़ा के रंग में रंगे हुए हैं। परस्पर दोनों एक दूसरे की मुसकान देख कर प्राण न्यौछावर करते हैं :—

नित्यविहारिनि लाडिली, नित्यविहारी लाल।
युगल-केलि रस माधुरी, आनन्द रूप रसाल।
एक रंग में रंग रहे, अङ्ग अङ्ग सुकुमार।
गौर स्याम निज वदन छवि, मृदु मुसक्यानि निहार।

श्यामाश्याम का नित्यविहार नित्य ही सखीजनों द्वारा सेवित है। वे दोनों

---

[1] गो० किशोरी लालजी के पद। उन्हीं के पौत्र गो० बालकृष्णजी से प्राप्त।

प्रिया-प्रिय की इच्छानुसार सेवा करती हैं और चकोर की भांति देखती हुई युगल चन्द्र को लाड़ लड़ाया करती हैं :—

विधि इच्छा अनुसारिनी, सेवत सहचरि संग ।
निरखति चन्द्र चकोर इव, भरी प्रेम रस रंग ।
रुचि लै सुचि सेवा करैं, उमग न अङ्ग समाय ।
समय सुहावत रागिनी गावत मन हरसाय ।

श्री अलीमाधुरी जी ने १०८ सखियों के नाम, उनके यूथ एवं सेवाओं के विस्तार को अपने ग्रंथ में स्थान दिया है । विभिन्न सेवा करते हुए सखियां प्रमुदित रहती हैं और राधाकृष्ण के एकान्त विहार को निकुञ्ज-रन्ध्रों से देख अपने को धन्य मानती हैं—

जोरी नवल किसोर किसोरी, पियरी ओढ़ें एक पिछौरी ।
निद्रावस लखि वाहिर आई, फेरि किवार लिय हरसाई ।
अवलोकत सहचरि समुदाई, रन्ध्रन लग लगि रूप सुहाई ।
अछुन अछुन सखि करहु उचारा, अब हीं सोये दोऊ सुकुमारा ।
अङ्ग अङ्ग सोभा के सागर, गौर स्याम दोऊ रस-नागर ।
सखियनि के सुखरूप दोऊ, अभिलाषा नव नित्त ।
दरस परस विन पलक हूँ, रहत नहीं थिर चित्त ।
(मानसी-सेवा)

लीला का आधार क्षेत्र है श्रीवृन्दावन धाम । यह माया, काल और त्रिगुण प्रपंच से परे है । इन्होंने वृन्दावनशतक में रसिकवर ध्रुवदास जी के 'वृन्दावन-सत' का ही पूर्णतया अनुसरण किया है । उसी के अनेक दोहों को लगभग उसी रूप में अपनी वाणी में रख दिया है । मिलान के लिये देखियेः—

सबै सखी सब सौंज लै, रँगी युगल ध्रुव रंग ।
समै समै की जानि रुचि, लियै रहत हैं संग ।
आदि अन्त जाकौ नहीं नित्य सुखद वन आहि ।
माया त्रिगुन प्रपंच की पवन न परसत ताहि ।
वृन्दाविपिन सुहावनौ, रहत एक रस नित्त ।
प्रेम सुरंग रंगे तहां एक प्रान द्वै मित्त । (ध्रुवदास जी)

मिलाइये—

सबै सखी सब सौंज लै, रंगी युगल के रंग ।
रुचि लै सुचि सेवा करैं, सदा रहत हैं संग ।

आदि अन्त जाकौ नहीं नित्य सुखद वनराज।
वायू त्रिगुन प्रपंच की परसत आवै लाज।
वनपति महिमा अगम है, एक रंग रस नित्त।
प्रेम रंग में रंगे तहँ, एक प्रान द्वै मित्त। अलीमाधुरी जी

ये तो कुछ उदाहरण मात्र हैं। प्राचीनों की वाणी को इस प्रकार अपनाना नित्य पाठ आदि की दृष्टि से भले ही उचित हो साहित्यिक दृष्टि से इसका अधिक मूल्य नहीं है। वैसे जहाँ इनकी अपनी रचनाएँ हैं, वे भाव प्रधान और प्रसाद गुण युक्त हैं। इनकी रचनाओं में सखीभाव के प्रति उत्कट अनुराग है। वास्तव में वर्तमान समय में तो निम्बार्क संप्रदाय में उपासना की दृष्टि से सखीभाव की उपासना की ही प्रमुखता है।

निम्बार्क संप्रदाय वृन्दावन एवं उसके बाहर अनेक प्रदेश और स्थानों में फैला हुआ विशाल संप्रदाय है। इसके सखीभाव के अनुयायी उपासक अब भी सखीभाव सम्बन्धी रचना करने में संलग्न हैं। अभी तक यह प्रवाह मन्द नहीं हुआ है।

* * *

पंचम अध्याय

गौड़ीय संप्रदाय, प्रमुख सखीभावोपासक कवि

गौड़ीय संप्रदाय का मूल उपास्य भाव और सखीभाव

श्रीमद्भागवत पर पूर्णतया आधारित होने के कारण गौड़ीय संप्रदाय की उपासना श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं को केन्द्रित कर होती है। परन्तु जिस प्रकार श्रीमद्भागवत का हृदय-रास-पंचाध्यायी है, उसी प्रकार गौडीय संप्रदाय का मुख्य उपास्यभाव कांतासम्मित गोपीभाव है।[1] श्रीमद्भागवत के साथ ही यहां एक बात विशेष रूप से सम्मिलित हो गई है कि इन वैष्णवों ने श्रीराधा को भी प्रारंभ से ही श्रीकृष्ण लीलाओं में प्रमुख स्थान दिया है, और इसका कारण है बंगाल में राधाकृष्ण की लीला का गान, जो वहाँ के अनेक कवियों द्वारा पहले ही समृद्ध रूप में किया जा चुका था। वहाँ जयदेव, चण्डीदास और मैथिलकोकिल विद्यापति के गीत गूँजते थे। राधा को लेकर कृष्णलीला का जो रूप वल्लभ संप्रदाय में क्रमशः विकसित हुआ, वह गौड़ीय संप्रदाय में पहले से ही विद्यमान था। इसीलिये गौडीय संप्रदाय में बाल-लीलाओं पर उतना अधिक बल नहीं दिखाई देता। प्रायः विभिन्न रूपों में वहाँ श्रृङ्गार-रस की ही उपासना है।

इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की द्वारिका, मथुरा और व्रजलीलाओं में व्रज-लीलाओं को ही श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृंगार-रस में श्रृङ्गार रस को ही प्रमुखता दी गई है।

भाव का उच्चतम विकास महाभाव है, परन्तु महाभाव केवल मात्र श्रीराधा में ही संभव है। अन्य जीवों की भावोपासना की परिसीमा गोपीभाव ही है। यह गोपीभाव ही इस संप्रदाय में सखीभाव कहलाता है। अनेक स्थलों पर ये गोपिकाएं स्वयं भी श्रीकृष्ण की नायिकाएं होती हैं परन्तु अधिकांश में यहाँ राधाकृष्ण की केलि में सुख प्राप्त करना ही सखी का प्राप्तव्य है, और उपासक का भी चरम लक्ष्य माना गया है। श्रीमद्रूप गोस्वामी ने 'निकुंज

---

[1] आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयो सद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता······इत्यादि श्लोक।

रहस्यस्तव' की समाप्ति पर उसके फल-रूप में राधा की सखियों में सख्यभाव की प्राप्ति निर्दिष्ट की है ।[1] सम्प्रदाय के अन्य भक्त इसी गोपीभाव की याचना करते हैं ।[2] तात्पर्य यह है कि चैतन्य संप्रदाय में यही सखीभाव उपासना का भाव है परन्तु इसका मूल स्वरूप वृन्दावनीय संप्रदायों के सखीभाव से पृथक् ही है । विशेषकर इस संप्रदाय में सखीभाव के साथ दास्य अथवा किंकरीत्व की प्रधानता रही है ।

इस संप्रदाय का प्रचुर साहित्य संस्कृत तथा बंगला भाषा में है । हिन्दी के क्षेत्र में इस संप्रदाय का साहित्य अन्य संप्रदायों के अनुपात में कम और अज्ञात रहा है । फिर भी इस संप्रदाय के कुछ महात्मा ऐसे हैं, जिनके साहित्य की चर्चा हिन्दी के उच्चकोटि के कवियों के साथ की जाती है । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्प्रदाय के सुकवि गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन के नाम अपने इतिहास में प्रशंसापूर्वक सम्मिलित किये हैं । अन्य अनेक कवियों का साहित्य भी शोधकर्ताओं को व्रज में प्राप्त हुआ है और उसका सस्ते मूल्य का प्रकाशन भी किया जा चुका है ।[3]

प्रत्येक संप्रदाय के आदि प्रचारकों की भक्ति-भावना और उसके प्रकट करने की अपनी एक अलग शैली होती है । भाव और शैली का जो घनिष्ठ सम्बन्ध साहित्य में देखा जाता है, वैसा ही उपासना और साहित्य के सम्बन्ध में समझना चाहिये । क्योंकि इस सम्प्रदाय के मूल रचनाकार संस्कृत या बंगभाषा में लिखने वाले थे, अतः उन भाषाओं में उनकी अपनी टकसाली काव्य-शैलियां भी निर्मित हो गईं । इधर हिन्दी में इस सम्प्रदाय की रचनाओं को अन्य शैलियों के मिलान में अपने को रखना पड़ा और इस प्रकार इस सम्प्रदाय के कवि हिन्दी-क्षेत्र के अन्य कवियों की शैलियों से प्रभावित हुए हैं ।

---

[1] पठति य इह रात्रौ नित्यमव्यग्रचित्तः। विमलमतिषु राधालीषु सख्यं लभेत् ।
निकुञ्जरहस्यस्तव : ३२ ।

[2] वृन्दारण्यनिकुञ्जरन्ध्रविलसन्नेत्रः सखीरूपवान् ।
स्तम्भस्वेदविवर्णतायुततनुः कम्पाश्रुरोमांचितः ।
राधामाधवकेलिवारिधिरसं पातुं समुत्कंठसे ।
त्वंचेद्रूपपदाम्बुजं भज सखे तर्हि प्रतीत्यादृतः । गोवर्द्धन भट्ट कृत रूप-सनातनस्तोत्र ४६ ।

[3] इस सम्प्रदाय की अनेक वाणियों का प्रकाशन बाबा कृष्णदास कुसुम सरोवर, मथुरा वालों ने किया है ।

हम देखते हैं कि इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिये हिन्दी कभी सम्प्रदाय की भाषा नहीं रही, क्योंकि संस्कृत अथवा बंगला ही उनकी अधिकृत भाषा थी, अतः जिन कवियों ने हिन्दी में रचनाएं कीं उन महात्माओं की उपासना और काव्यशैलियों पर हम स्थानीय सम्प्रदायों का प्रभाव देखते हैं। भगवत् मुदित आदि ने तो राधावल्लभीय वैष्णवों का इतिहास लिखा, जिसमें वैसी ही तल्लीनता दिखाई देती है, जैसी किसी राधावल्लभीय भक्त में होती।[1] आगे चल कर अनेक भक्त ऐसे भी हुए जिन पर हरिदासी, हरिवंशी महात्माओं का प्रभाव देखने में आता है और वे किसी प्रकार भी इन सम्प्रदायों के लिये पराये नहीं हैं। इस दृष्टि से वल्लभ रसिक जी का नाम लिया जा सकता है।

पुनः स्मरण रखें कि इस सम्प्रदाय में सखीभाव और गोपीभाव में भेद नहीं है।

श्री गदाधर भट्ट जी

गदाधर भट्ट जी के सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ा बहुत हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में एवं अन्यत्र लिखा गया है, उसमें जीवनी और रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तियां हैं। गदाधर नाम के अनेक वैष्णवों के हो जाने के कारण ही यह भ्रम हुआ ज्ञात होता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि वे चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे और उन्हीं को वे भागवत सुनाया करते थे[2]। 'ब्रज-माधुरी सार' में भी लिखा गया है कि वे चैतन्यदेव को कथा सुनाते थे[3]। यह मत ठीक नहीं है। इस सम्प्रदाय के एक दूसरे विद्वान् थे गदाधर पण्डित। वे ही चैतन्य महाप्रभु को श्रीमद्भागवत की कथा सुनाते थे[4]। वैसे ये भट्टजी भी भागवत के अद्वितीय प्रवक्ता थे। इसका उल्लेख नाभाजी ने अपनी भक्तमाल में किया है[5]। वास्तव में ये चैतन्यदेव के शिष्य न होकर उनके परिकर के श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी के शिष्य थे[6]। इस आधार पर इनका

---

[1] भगवत मुदित कृत रसिक अनन्य माल।

[2] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २२१।

[3] ब्रज माधुरी सार, पृ० ७५।

[4] गदाधर भट्ट जी की वाणी, भूमिका, पृ० ४।

[5] भक्तमाल छ० सं० १३८।

[6] श्री गोवर्द्धनभट्ट ग्रन्थावली, भूमिका पृ० १।

रचनाकाल सूर से पूर्व का नहीं हो सकता, जैसा कि शुक्ल जी ने अनुमान किया है[1]।

श्री गदाधर भट्ट के सम्बन्ध में नाभा जी ने एक छप्पय और प्रियादास जी ने उसकी टीका में ७ कवित्त लिखे हैं। नाभा जी ने इनके स्वभाव का परिचय कराते हुए कहा है कि "वे सज्जन, सुहृद्, सुशील और आर्यवचनों के पालनकर्ता थे। वे निर्मत्सर, निष्काम और करुणा के आलय थे। उन्होंने अनन्य भजन-भाव दृढ़ करने के लिये ही शरीर धारण किया था। वे परम धर्म के सेतु थे और वृन्दावन में श्रीमद्भागवत की कथा का अमृत अपने मुख से बरसाते थे। वे किसी के लिए भी दुःखद न थे, सभी को सुख देने वाले थे"[2]। इस छप्पय में नाभा जी ने उनका कुछ भी भौतिक जीवन वृत्तान्त नहीं दिया है। प्रियादास जी ने लिखा है कि वृन्दावन आने से पूर्व ही ये भक्ति-भावना से युक्त सुंदर कविता करते थे। उनका वनाया एक पद एक वार श्री जीव गोस्वामी ने सुना। पद था :—

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरति माहिं पगी।
संग हुतो अपनौ सपनौ पुनि, सोइ रही रस भोइ।
जागेहु आगे दृष्टि परे सखि, नेकु न न्यारौ होइ।
एक जु मेरी अंखियनि में निसिद्यौस रह्यौ करि मौन।
गाइ चरावनि जात सुन्यौ सखि, सोधौं कन्हैया कौन।
कासौं कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद।
कैसै कै कहि जात 'गदाधर', गूंगे कौ गुर स्वाद।

प्रियादास जी ने 'स्याम-रंग-रंगी' इतना ही संकेत किया है। यह पद सुन कर जीव गोस्वामी ने साधुओं के हाथ एक पत्र भेज कर भट्ट जी को लिखाः—

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्ममनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदांकम्।
असंभाव्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कुतः श्यामसिंधो रसस्यावगाहः॥

अर्थात् जिसने श्री राधिका के चरण-कमल-रज की आराधना नहीं की तथा जो उनके चरण कमलांकित श्री वृन्दावन के आश्रित नहीं हुआ और

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२२।

[2] भक्तमाल, नाभा जी, सं० १३८।

जिसने राधाभाव से गम्भीर चित्त वाले रसिकों का संग नहीं किया, वह कैसे श्री श्याम-रस-रूप के महा-समुद्र में गोता लगा सकता है ?

इस पत्र को लेकर दो साधु भट्ट जी के पास उनके गांव आये और पूछा कि भट्ट जी कहां रहते हैं ? भट्ट जी कुएं पर बैठे दांतुन कर रहे थे। उन्होंने पूछा कि आप कहां से आये हैं ? साधुओं ने उत्तर दिया—'वृन्दावन से।' वृन्दावन का नाम सुनते ही भट्ट जी मूर्च्छित हो गये। सन्तों ने पत्र दिया। मूर्च्छा से उठ कर भट्ट जी ने पत्र लिया और उसे पढ़ कर वैष्णवों का स्वागत सत्कार कर उन्हीं के साथ वृन्दावन चले आये।

उनकी श्रीमद्भागवत की कथा इतनी प्रभावशाली होती थी कि अनेक व्यक्ति उसे सुनकर भगवद्भक्ति में लग गये। एक वार एक राजपूत इनकी कथा सुनकर विषयों से विरक्त हुआ।[1]

शुक्ल जी ने भट्ट जी को दक्षिणी ब्राह्मण लिखा है,[2] जिसका आधार उनका भट्ट होना ज्ञात होता है परन्तु जब वे वृंदावन नहीं आये थे, तब कहां रहते थे, यह ज्ञात नहीं होता। उनकी पद-रचना से जान पड़ता है कि उस समय तो कम से कम वे दक्षिण के किसी ग्राम में नहीं होंगे क्योंकि ऐसी शुद्ध ब्रज-भाषा मद्रास, केरल आदि के किसी व्यक्ति द्वारा विना उत्तर भारत के संपर्क में आये, लिखा जाना स्वाभाविक एवं विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। हो सकता है उनके पूर्वज कहीं ब्रज के आसपास आकर ही बस गये होंगे।

इनका जन्म-संवत् क्या है, यह भी किसी सूत्र से ज्ञात नहीं होता। शुक्ल जी ने इनका रचनाकाल सं० १५८० से १६०० के पीछे तक माना है।[3] मिश्रबन्धुओं ने पहले इनका कविताकाल सं० १७२२ के लगभग लिखा था, वाद में उसे शुद्ध कर सं० १६३२ कर दिया।[4] यह समय ठीक ही वैठता है।

मिश्रबन्धुओं ने इनकी 'वानी' का उल्लेख किया है, जो उन्होंने छत्रपुर में स्वयं देखी थी।[5] टिप्पणी में उन्होंने इनका 'ध्यानलीला' नामक ग्रन्थ और

---

[1] इन कथाओं के लिये देखिये प्रियादासकृत कवित्त, सं० १३८ छप्पय की टीका।

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२०।

[3] वही, पृ० २२१।

[4] मिश्रवंधुविनोद, प्रथम भाग, पृ० ३५२।

[5] वही, पृ० ३५२।

लिखा है।[1] वियोगी हरि जी ने लिखा है कि इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता, केवल कुछ फुटकर पद मिलते हैं।[2] बाबा कृष्णदास जी ने यत्र-तत्र फैले हुए बहुत से पदों को एकत्र किया और सं० २००० में जयपुर से इनका एक संग्रह प्रकाशित कराया। इस ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण वृन्दावन से हाल में हुआ है। इसमें केवल ८५ पद संगृहीत हैं। इस 'बानी' का संग्रह प्रायः वल्लभ-संप्रदाय के कीर्तन-संग्रहों से किया गया है, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु जबतक इनका कोई प्रामाणिक संकलन नहीं मिल जाता, तबतक इनकी रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध ही रहेगी, क्योंकि इस नाम के अनेक व्यक्ति वल्लभ-संप्रदाय में भी हो चुके हैं। ऐसी कोई कसौटी संकलनकर्ताओं के पास नहीं है कि जिससे वे उनके पदों की ठीक से पहिचान कर सकें। फिर भी जो पद हिन्दी-साहित्य में गदाधर भट्ट जी के नाम से प्रसिद्ध हो चुके हैं, उन्हीं के आधार पर हम अपने विषय की चर्चा करेंगे।

भट्ट जी की रचना का विषय भक्ति का उपदेश अथवा श्री कृष्णलीलाओं का वर्णन है। अनेक पद स्तुतियों के रूप में लिखे गये हैं। बाल-लीलाओं के पद इनकी रचनाओं में प्रायः नहीं हैं। प्रायः पद श्रीकृष्ण की कैशोर लीलाओं से ही संबंधित हैं। इनमें श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन, रास, होरी आदि लीलाएं, विवाह, ज्यौनार आदि वर्णन के पद ही प्रमुख हैं। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि गौड़ीय संप्रदाय में परकीया की मान्यता है, वहां श्रीराधा को परकीया माना भी गया है परन्तु गदाधर भट्ट ने राधा-कृष्ण को नित्य दुलहिनी और नित्य दूलह ही माना है। साथ ही व्रजलीला का गान करते हुए उन्होंने राधाकृष्ण का विवाह भी कराया है। ऐसे अनेक पद हैं, एक यहाँ दिया जाता है :—

दूलह सुन्दर स्याम मनोहर, दुलहिनि नवल किसोरी जू।
मंगल रूप लोक लोचन कों, रची विधाता जोरी जू।
रास विलास ब्याह विधि नित प्रति, थिर चर मन आनंदा जू।
शारद निशा दिशा सब निर्मल, डहडहे पूरन चंदा जू।

---

[1] वही, पृ० ३५२ की पाद टिप्पणी।
[2] व्रज माधुरीसार, पृ० ७६।

यमुना पुलिन नलिन रस रंजित, सुभग संवारी चौरी जू।[1]
वोलत मधुर वेद वाणीसी, मिले भौंर और भौंरी जू।

विवाह के पश्चात् कंकण खोलने का भी सरस वर्णन है।[2] नंदादिक वरातियों का वृषभानु जी के यहां भोजन करने जाना, साथ ही 'गारी' आदि गाये जाने आदि अनेक रीति-रिवाजों का भी वर्णन है।[3] यही ब्रज की लीला क्रमशः युगल की लीला वन जाती है और सखियां गाँठ जोड़ कर आते हुए युगल को देख कर तृण तोड़ने लगती हैं :—

युगल वर आवत हैं गठजोरैं।
सँग शोभित वृषभानुनन्दिनी, ललितादिक तृन तोरैं।
सीस सेहरौ वन्यौ लाल कें, निरखि हँसत मुख मोरैं।
निरखि-निरखि वलि जाय 'गदाधर', छवि न वढी कछु थोरैं[4]।

रास के पदों में कवि की तन्मयता सखी के रूप में ही है। राधा नन्दकिशोर नृत्य कर रहे हैं। सखियाँ ताल-मृदंग वजा रही हैं। वीच-वीच में मोहन की मधुर मुरली की ध्वनि होती जा रही है। इस सुन्दर नृत्य पर 'गदाधर' रीझ कर वारी जा रहे हैं :—

निरतत राधा नन्दकिशोर।
ताल मृदंग सहचरी वजावत, विच विच मोहन मुरली कल घोर।
उरप तिरप पग धरत धरनि पर, मंडल फिरत भुजनि भुज जोर।
शोभा अमित विलोकि 'गदाधर', रीझ-रीझ डारत तृन तोर[5]।

ऋतुओं के वर्णन में अत्यन्त उल्लास और राधाकृष्ण की अधिक समीपता सूचित हुई है। शीत की यह रीत कितनी नीकी है :—

यह रीत नीकी लागत शीत की।
अंसनि भुज धर पौढ़ैं पिय प्यारी, वात करत रस रीत की।

---

[1] गदाधर भट्ट की वाणी, सं० ५१।

[2] वही, सं० ५२ आदि।

[3] वही, सं० ५३।

[4] वही सं० ५४।

[5] वही सं० ५०।

वन गई एक रजाई मीता, राधा मोहन मीत की ।
'गदाधर' प्रभु हँसत सरस रितु चाह परसपर जीत की[1] ।

होली और हिंडोले के पदों में भी आनन्द की हिलोरें लहरें ले रही हैं।

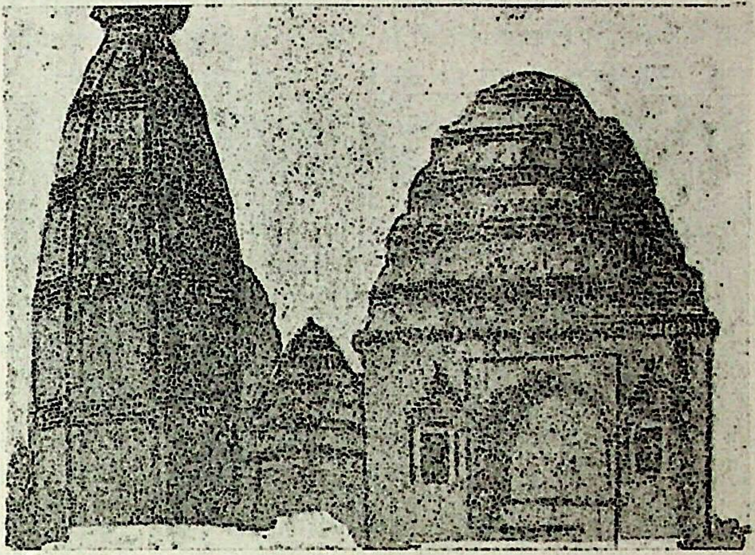

श्री मदनमोहन जी का मन्दिर, वृन्दावन

श्री वृन्दावन-कुंज में झूलत जुगल किसोर ।
मधुर-मधुर सुर गावहीं प्रेम सहित व्रज गोरि ।
कुसुमनि लता सुहावनी, वोलत कोकिल मोर ।
मधुप मधुर गुंजारत चहुं दिसि, दादुर सोर ।
मन्द वृष्टि जलधर करैं मलयज पवन झकोर ।
झूलत अति आनंद करि शोभित सुंदर जोर ।
रीझि देत वृषभानुजा, पिय के प्रान अंकोर ।
शोभा निरखत 'गदाधर', मुदित उभय कर जोर[2] ।

श्री गदाधर भट्ट जी की रचना की प्रशंसा उनके सभी समालोचकों ने की है। उनकी रचना सरस और भावपूर्ण है। भाव के साथ भाषा भी अत्यन्त

---

[1] गदाधर भट्ट जी की वाणी पद सं० ५७ ।

[2] वही सं० ७९ ।

सुष्ठु और साहित्यिक है। संस्कृत के अगाध विद्वान् होने के कारण उनकी भाषा इतनी संस्कृतमयी हो गई है कि कहीं कहीं उनके पद ब्रजभाषा के होते हुए भी संस्कृत जैसे ही जान पड़ते हैं। कुछ पद संस्कृत के भी हैं। उनकी कविता के प्राणों में सखीभाव ही प्रधान है और अभिव्यक्ति में वह हरिवंश जी से होड़ लेती है। वियोगीहरि जी ने लिखा है कि इनकी रचना अष्टछाप के उत्कृष्ट कवियों के जोड़ की है[1]। नीचे उनकी रचना का एक सुंदर उदाहरण दिया जा रहा है :—

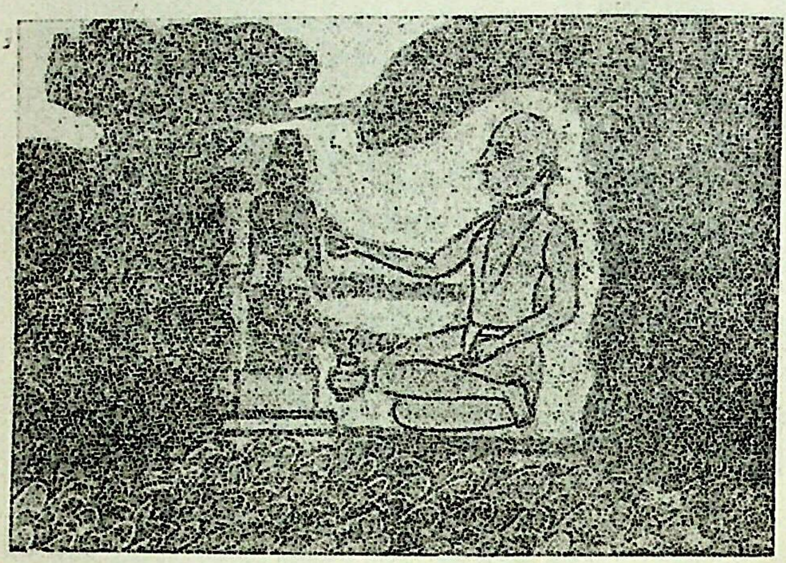

श्री सनातन गोस्वामी महाप्रभु और उनके ठाकुर

जयति श्री राधिके, सकल सुख साधिके, तरुनिन मनि नित्य नवतन किसोरी।
कृष्णतनुलीन, मन रूप की चातकी, कृष्णमुख हिम-किरन की चकोरी।
कृष्ण दृग भृंग विश्राम हित पद्मिनी, कृष्णदृग-मृगज-बंधन-सुडोरी।
कृष्ण अनुराग मकरंद की मधुकरी, कृष्ण गुन गान रस-सिंधु बोरी।
विमुख परचित्त तें चित्त जाको सदा, करत निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृति यह 'गदाधर' कहत कैसे बनै, अमित महिमा, इतै बुद्धि थोरी।[2]

---

[1] ब्रज माधुरी सार, पृ० ७६।

[2] वही सं० २९।

श्री सूरदास मदनमोहन।

सूरदास मदनमोहन गौड़ीय संप्रदाय के हिन्दी के दूसरे बड़े कवि हैं। प्रस्तुत प्रबंध में इनका महत्त्व इसलिये भी है कि नाभा जी ने इन्हें सखीभाव का उपासक और सहचरी का अवतार बताया है।

जिस प्रकार गदाधर भट्ट जी के जीवन और रचनाओं के विषय में उन्हीं के नाम के अनेक कवियों के कारण भ्रम हो जाता है, वही बात सूरदास मदनमोहन के सम्बन्ध में भी सत्य है। इनके नाम और यश को आच्छादित करने वाले एक ही सूर हिन्दी में ऐसे हैं, जिनकी प्रतिभा-प्रभा के सम्मुख अनेक प्रकाशवान् फीके हो जाते हैं, इसका प्रभाव सूरदास मदनमोहन पर भी पड़ा है। फिर भी इनका नाम यत्र-तत्र साहित्यिकों के समक्ष आता रहा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य' के इतिहास में, वियोगी हरि ने व्रज-माधुरी-सार में, एवं अन्य स्थलों पर इनका नामोल्लेख और काव्य की चर्चा होती रही है। डा० सरयूप्रसाद ने 'अकबरी-दरबार के हिन्दी कवि' मेंउन पर विचार किया है। इनके पदों के कुछ संकलन भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें बाबा कृष्णदास द्वारा प्रकाशित 'सुहृद बानी' में १०५ पद संगृहीत किये गये हैं। श्री प्रभुदयाल मीतल ने भी 'सूरदास मदनमोहन जीवनी और पदावली' नाम से उनके पदों का समीक्षात्मक संकलन प्रकाशित किया है।

सूरदासजी के जीवन-चरित्र केसम्बन्ध में सूत्ररूप से नाभा जी की भक्तमाल, उसपर प्रियादास जी की टीका और नागरीदासकृत पद-प्रसंगमाला ही प्राप्त हैं। नाभा जी का छप्पय उनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश नहीं डालता। प्रियादास जी के अनुसार उनके जीवन की रूप-रेखा इस प्रकार है।

इनका नाम सूरदास था। इनके नेत्र कंज के समान बहुत ही सुंदर थे। ये संडीले के अमीन थे। सुन्दर गुड़ देखकर बीस गुना दाम देकर इन्होंने गुड़ खरीदा और मदनमोहन जी के भोग के लिये छकड़े में भरकर वृन्दावन भेज दिया। वृन्दावन आते-आते रात्रि हो गई, फिर भी भगवान् की आज्ञा हुई कि इसका भोग अभी लगाओ और ऐसा ही किया गया :—

इन्होंने एक बार एक पद बनाया, जिसमें लिखा था :—

सूरदास मदनमोहन लाल गुण गाऊं।
संतन की पानहीं को रचक कहाऊं।

किसी साधु ने इसे सुना और इनकी परीचा लेनी चाही। एक बार जब ये मदनमोहन जी के दर्शन को आये तब उस संत ने जूते खोल कर कहा—कि 'देखना मैं अभी आता हूं।' बहुत देर हो गई। अन्दर से गोस्वामी जी ने इन्हें बुलाया, ये तब भी न गये। यह सब जानकर वे संत लौटकर इन पर बड़े प्रसन्न हुए।

संडीले में तेरह लाख रुपये बादशाह के कर के इकट्ठे हुए। इन्होंने वे सब साधु-सन्तों को खिला दिये और बादशाह के पास संदूकों में कंकड़ पत्थर भर कर भेज दिये। साथ ही एक रुक्का भी लिख भेजा, जिसमें लिखा था :—

तेरह लाख संडीले उपजे, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन बृन्दावन कों सटके॥

और ये वृन्दावन चले आये। कहा जाता है कि बादशाह पढ़कर बहुत प्रसन्न हुए परन्तु ये उनके पास न गये। उधर दीवान टोडरमल ने इन्हें अपराध में पकड़वा मंगाया और कारागार में डाल दिया। तब इन्होंने एक दोहा लिख कर बादशाह के पास भेजा, जिससे इनकी मुक्ति हो सकी।

पुनः ये वृन्दावन आ गये। मन कृष्ण-माधुरी में भीग गया था। जो पद बनाते थे, वह रूप-रस का अनुभव कराता था। जिस दिन पद बनाते थे, उसी दिन वह एक शत योजन दूर पहुंच जाता था। जगत को, पद सुनकर प्यास बढ़ जाती थी। 'सूर द्विज' महल की टहल पाकर आनन्दित हुए। जिनके इष्ट मदनमोहन जी और महाप्रभु हैं, उन पर ऐसी कृपा-दृष्टि होना उचित ही है[1]।

नागरीदास जी की 'पद प्रसंगमाला' से इनका सूरध्वज ब्राह्मण होना, नाम सूरदास, नेत्र सुंदर होना, गृहस्थ होना, पातसाही दीवान होना आदि बातें सिद्ध हैं[2]।

ये सूरदास जी श्री सनातन गोस्वामी जी के शिष्य थे और उन्हीं के ठाकुर श्री मदनमोहन जी के सेवक थे। इनका जन्म संवत् अनुमानतः १५७० वि० है। शुक्ल जी ने इनका रचना-काल सं० १५९० और १६०० के

---

[1] भक्तमाल छ० सं० १२६ पर प्रियादास जी की टीका के कवित्त सं० ४९८ से ५०२ तक।

[2] पद प्रसंगमाला, नागरीदास जी।

बीच माना है।[1] मिश्रबंधुओं ने भी इनका कविताकाल १५९५ के लगभग लिखा है।[2]

सूरदास मदनमोहन की प्रकाशित पदावली के सम्बन्ध में पहले थोड़ा सा लिखा जा चुका है। इनकी पदावली की प्रामाणिकता का निर्धारण होना अभी शेष है, क्योंकि इनकी पदावली के अन्तिम संपादनकर्ता श्री मीतल जी ने जिस प्राचीन प्रति का आधार लिया है, वह उनकी दृष्टि में भी अशुद्ध और संदिग्ध पदों से युक्त है। उस प्रति के १२६ पदों में से केवल ८६ पद ही मीतल जी ने इस प्रति में लिये हैं परन्तु जो पद मीतल जी ने लिये हैं क्या वे भी किसी विशेष कसौटी पर कस कर लिये हैं? यह प्रश्न इसलिये विचारणीय है कि इनकी रचनाओं में बाल-लीला सम्बन्धी जो पद हैं, वे प्राचीनों की सम्मति के अनुसार इनके नहीं होने चाहिये। नाभा जी, प्रियादास जी एवं नागरीदास जी आदि सभी ने लिखा है कि इनकी रचना केवल शृङ्गार रस से ही सम्बन्धित है, देखिये :—

"नव रस मुख्य सिंगार, विविध भांतिन करि गायो।" नाभा जी।
"पद सुन्यौ रूप रस रास है।" प्रियादास जी।
"केवल सिंगार रस के ही पद बनावते।" नागरीदास जी।

इन रसिकों के साक्ष्य के अनुसार वात्सल्य रस के पद सूरदास मदनमोहन के नहीं होने चाहिये परन्तु अब तक के सभी संकलनों में वात्सल्यरस सम्बन्धी पद संगृहीत हैं। ये पद सूरदास जी के हो सकते हैं, जिनमें किसी प्रकार नाम भेद हो गया है। इसी प्रकार इनके अनेक पद सूर की वाणी में अभीतक सम्मिलित होंगे, जिन्हें पहिचाना नहीं जा सका है।

सूरदास मदनमोहन के पदों का विषय निश्चित रूप से सखीभाव ही है। नाभा जी ने कहा है कि 'वे सखी के अवतार थे और राधाकृष्ण उनके उपास्य थे। वे उनके एकान्त रस के मुख्य अधिकारी थे। उन्हें मदनमोहन जी ने इस प्रकार अंगीकार किया कि सूरदास के साथ ही मदनमोहन का नाम भी उसी प्रकार जुड़ गया, जैसे यमल भ्राताओं का जुड़ा होता है।' सूरदास मदनमोहन के काव्य की प्रशंसा भी नाभा जी ने की है, उनका छप्पय है :—

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १७३

[2] मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग, पृ० ३४१।

गान काव्य गुन-रासि, सुहृद सहचरि-अवतारी।
राधाकृष्ण उपास्य, रहसि सुख के अधिकारी।
नव रस मुख्य सिंगार, विविध भाँतिन करि गायौ।
वदन उच्चरत बेर, सहस पांयन ह्वै धायौ।
अंगीकार की अवधि यह, ज्यौं आख्या भ्राता यमल।
सूरदास मदनमोहन की नाम श्रृंखला जुरी अटल।[1]

इनके पदों की लोकप्रियता का पता चलता है, प्रियादासजी के पदों से। उनका कहना है कि जिस दिन उनके पद रचे जाते थे, उसी दिन वे शत योजन तक पहुंच जाते थे। इसका तात्पर्य यही है कि उनके पद उनके सामने ही व्यापक रूप से गाये जाने लगे थे और वहुत प्रसिद्ध हो गये थे।

सूरदास जी के पदों का विषय श्रृङ्गार लीलाएं हैं। संप्रदाय की मान्यता के अनुसार व्रजलीला की पृष्ठभूमि होने के कारण अभिसारिका, नायिका का विरह, खंडिता, नायक का विरह, मान, मुरली, रास, वसंत, होरी, फूलडोल, वर्षा-विनोद, हिंडोर-झूलन, प्रेमानुराग, रूपवर्णन आदि के पद उन्हीं के जान पड़ते हैं।

सूरदास-मदनमोहन की कविता वहुत ही भावुकतापूर्ण है। उसमें उनके हृदय की स्वाभाविक सरसता और राधाकृष्ण के प्रति उनके अनुराग की सहज उत्कण्ठा व्यंजित होती है। भावों की सद्यता और शैली की जिस ऋजुता के दर्शन हमें स्वामी हरिदास जी की कविता में होते हैं, वस्तु के प्रति वही उल्लास इनकी रचनाओं में भी व्यक्त होता है। उसी उल्लास में उमँग-उमँग कर कवि एक ही लीला को वार-वार कहता है पर सर्वदा नवीन उपस्थापना और नवीन प्रसंग के माध्यम से। स्वामी हरिदास जी की अभिव्यक्ति के साथ इनकी अभिव्यक्ति ऐसी मिल जाती है कि विशेष अंतर नहीं जान पड़ता। प्यारी जी का मुख अमृत की पंक है, जिसमें श्याम के नेत्र-भंवर विंध गये हैं। हटाने से भी हटते नहीं। इस रूपासक्ति पर दोनों का भाव-साम्य स्पष्ट है :—

स्वामी हरिदास कहते हैं :—

प्यारी तेरौ वदन अमृत की पंक, तामें बींधे नैन द्वै।
चित चल्यौ काढन कों, विकच संधि संपुट रह्यौ ह्वै।[2]

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० १२६।

[2] केलिमाल, पद सं० ७।

सूरदास मदनमोहन कहते हैं—

तेरौ री वदन कमल अमल री, ताकौं नंदलाल नैंना-मधुप लोचत।
जद्यपि नीलांबर राजत री, मानौं अलि लालची तजि न सकत,
इहांईं उडिबे कौं उनकौं सोचत ॥[1]

स्वामी जी के कुछ शब्द श्यामा प्यारी के संबंध में हैं :—

प्यारी तू गुननिराय सिरमौर।
गति में गति उपजावति नाना, राग रागिनी तार मंदिर सुर घोर।[2]

सूरदास जी कहते हैं—

प्यारी तू मोहनलाल रिझावति।
मधुर मधुरताननि गावति सुख समूह बढ़ावति।
रूप गुननि की सरि कोऊ न पावति······आदि।[3]

वसंत की कुछ पंक्तियां स्वामी हरिदास जी की देखिये :—

कुच-गडुवा जोवन मोर कंचुकी, वसन ढांपि लै राख्यौ वसंत।[4]

सूरदास जी की पंक्तियां हैं—

जोवन मोर रोमावली सुफल फली कंचुकी वसंत,
ढांपि लै चली वसंत पूजन[5] आदि।

उपर्युक्त भाव-साम्य के दिखाने का यही तात्पर्य है कि वे सखीभाव के कितने निकट थे। उनकी अधिकांश रचनाओं में आनंद की वही उमंग छाई हुई है, जो सखीभावोपासकों का सामान्य प्राण है और जिसके कारण लेखक ने उनमें स्वच्छंदतावाद की विशेपता देखी है।

सूरदास मदनमोहन की रचनाओं में श्री राधा जी की प्रधानता है और इन लीलाओं में सखी सर्वत्र साथ है। प्यारी जी के चरण जहां-जहां पड़ते हैं, वहां लाल का मन परछाईं करता फिरता है, स्वामी जी ऐसा कहते हैं। सूरदास जी के लाल मार्ग में फूल विछाते जाते हैं, कठोर फूलों को वीनते भी जाते हैं, जिससे प्यारी जी के पगों में कठोर कुसुम गड़ न जायें :—

---

[1] सूरदास मदनमोहन जीवनी और पदावली, पद सं० ६४।

[2] केलिमाल, पद सं० ९५।

[3] सूरदास मदनमोहन जीवन पदावली, पद सं० ६३।

[4] केलिमाल, पद सं० ९८।

[5] सूरदास मदनमोहन जीवनी और पदावली, पद सं० १६०।

पाछें ललिता आगे स्यामा प्यारी,
ता आगैं पिय मारग में फूल बिछावत जात ।
कठिन कली बीनि करत न्यारी न्यारी,
प्यारी के चरन कोमल जानि, सकुचत गड़िबे डरात ।
अरुझी लता सु कर निरवारत, पाछें डारत द्रुम पल्लव पात ।
'सूरदास मदनमोहन' पिय की अधीनताई, देखत मेरे नैन सिरात ।[1]

सूरदास मदनमोहन के काव्य में राधाकृष्ण की लीला सखीभाव द्वारा ही देखी गई है । लाल और ललना के मध्य सखी ही उनके आनंद की संयोजिका बनती है । कवि का सुख भी सखी का ही सुख है ।

सूरदास जी के काव्य का कला पक्ष भी पूर्ण प्रौढ़ है । भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिये जिस निश्छल शैली की आवश्यकता है, उसी का सूरदास जी ने प्रयोग किया है । अलंकारों का प्रयोग भी बहुत समुचित रीति से पुष्ट रूप में हुआ है । काव्य में भाषा पूर्ण प्रांजल, प्रौढ़ और प्रसादगुणयुक्त है । छंद यद्यपि दीर्घाकार हैं, फिर भी कहीं विकृत नहीं हुए हैं । कहीं से भी इनकी कविता उतरी हुई ज्ञात नहीं होती । भाषा की सुंदर लक्षणा-शक्ति, अलंकारों की रमणीयता, मूर्त-अमूर्त की भावानुकूल सुगढ़ योजना और छंद की सुगुम्फितता एक साथ ही इनके काव्य में सुसंयोजित हैं । अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनका स्थान भक्तिकाल के श्रेष्ठ कवियों में मानना चाहिये ।

श्री रामराय

श्री रामराय जी के संप्रदाय के सम्बन्ध में मतभेद है । 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में ये श्री विट्ठल नाथ जी के शिष्य बताये गये हैं और वहां इनका विस्तार से चरित्र लिखा गया है ।[2] साथ ही इनके वंशज कहलाने वाले सज्जन इन्हें श्री चैतन्य का अनुयायी मानते हैं । उनके द्वारा रामराय जी की जिन रचनाओंका प्रकाशन हुआ है, उनसे भी ये गौड़ीय ही ज्ञात होते हैं ।[3] दोनों ही इन्हें सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं । नाभाजी ने भी इन्हें सारस्वत

---

[1] वर्ष पद १४२ ।

[2] दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृ० भाग सं० द्वारकादास परीख, पृ० ३६९ ।

[3] देखिये आदि वाणी, वृन्दावन से गो० यमुनावल्लभ जी द्वारा प्रकाशित ।

ब्राह्मण लिखा है, परन्तु इसके संप्रदाय का उल्लेख उन्होंने भी नहीं किया है।[1] ऐसी दशा में यह निर्णय कर सकना कठिन है कि ये किस संप्रदाय से संबंधित रसिक थे ?

श्री रामराय जी के साथ 'भगवान' का नाम भी जुड़ा हुआ है। कहा जाता है कि ये भगवानदास राजा थे, जो रामराय जी के शिष्य थे। वार्ता-साहित्य में जहां इनका परिचय दिया गया है, वहां इतना अवश्य लिखा गया है कि भगवान पहले किसी अन्य संप्रदाय के गोविन्ददेव के शिष्य थे। प्रसंग से इनका गौड़ीय होना ही जान पड़ता है। उनके अनुसार रामराय जो वल्लभ संप्रदाय में थे, उन्होंने भगवानदास जी को गोस्वामी जी के दर्शन कराये और उनसे प्रभावित होकर वे वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए।[2] जहां तक वार्ता साहित्य की प्रामाणिकता का प्रश्न है, बहुत से विद्वान उसे सर्वथा प्रामाणिक मानने को प्रस्तुत नहीं हैं, हमारा भी ऐसा ही विचार है। उसमें ऐसे अनेक चरित्र दिये गये हैं, जिनमें लेखक का अपने संप्रदाय के प्रति स्पष्टतया पक्षपात ज्ञात होता है। जिन भक्तों के विषय में बाह्य प्रमाण वार्ता का समर्थन नहीं करते, उनके चरित्र भी वल्लभीय भक्तों के रूप में विस्तार से लिखे गये हैं। ऐसी स्थिति में इन विवादास्पद विषयों पर वार्ताओं का प्रयोग विवेकपूर्वक ही करना चाहिये। उदाहरण के लिये वार्ताओं में राजा आसकरण को वल्लभ संप्रदायी लिखा गया है, जब कि भक्तमाल के अनुसार वे रामानंदी कील्हदेव के शिष्य ठहरते हैं।[3] तानसेन की वार्ता पर भी विचार की आवश्यकता है और इसी प्रकार भगवान और रामराय के जीवन चरित तथा संप्रदाय-निर्णय में भी सतर्क विचार की आवश्यकता है।

हम कह चुके हैं कि वृन्दावन में एक परिवार ऐसा है, जो अपने को रामराय जी का वंशज मानता है। वर्तमान गो० यमुनावल्लभ जी ने इस परंपरा के अनेक महात्माओं का साहित्य भी संकलित किया है। और वे ही इस साहित्य को प्रामाणिक बनाने के लिये यत्नशील हैं।[4]

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० १९७।

[2] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृ० ३७०।

[3] भक्तमाल, नाभाजी, छ० सं० १७४।

[4] गो० यमुनावल्लभ जी के परिवार के अन्य व्यक्ति न तो अपने को

गो० यमुनावल्लभ जी के अनुसार रामराय जी का जन्म प्रसिद्ध गीत-गोविंदकार श्री जयदेव जी के वंश में उनसे १४ वीं पीढ़ी में हुआ था। उनके अनुसार श्री रामराय का जन्म सं० १५४० है। वैसे श्री रामराय जी द्वारा लिखित गीतगोविन्द की टीका में श्री जयदेव जी को सारस्वत ब्राह्मण बताया गया है और इस रचना का सं० १६२२ दिया गया है।[1] अतः यह संबंध और समय ठीक हो सकता है।

श्री रामराय जी के संबंध में भक्तमाल से इतना ही ज्ञात होता है कि ये ब्राह्मण थे। शेष इनके स्वभाव और विद्वत्ता के संबंध में ही उल्लेख हैं। प्रियादास जी ने इनके सम्बन्ध में कोई टीका-टिप्पणो नहीं की है। इनके विषय में लिखा भक्तमाल का छप्पय निम्न प्रकार है—

भक्ति ज्ञान वैराग्य योग अंतरगति पागे।
काम क्रोध मद मोह लोभ मत्सर सब त्यागे।
कथा कीरतन मगन सदा आनन्द रस झूले।
सन्त निरखि मन मुदित, उदित रवि पंकज फूले।
वैर भाव जिन द्रोह किय, तासु पाग खसि भू परी।
विप्र सारस्वत घर जनम रामराय हरि-रति करी।[2]

यहां रामराय जी के सहछापी भगवान की भी चर्चा नहीं है, अन्यथा नाभाजी ऐसे स्थलों पर इन विशेषताओंका उल्लेख अवश्य कर देते हैं।

रामराय जी के दो ग्रंथ हमारे देखने में आये हैं, ये हैं, १. आदिबानी और २. गीत गोविन्द की हिन्दी व्याख्या। इनके अतिरिक्त और इन्हीं ग्रंथों के अनेक उद्धरण कीर्तन-संग्रहों में भी मिलते हैं। गो० यमुनावल्लभ जी इनके पदों की सं० ४००० बताते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में रामराय जी की चर्चा नहीं मिलती परन्तु इनके प्राप्त पद सखीभाव की दृष्टि से इतने महत्वपूर्ण हैं कि इन्हें अपने इस अध्ययन में सम्मिलित किये विना यह अध्ययन पूर्ण न माना जायगा।

गोस्वामी लिखते हैं और न श्री जयदेव जी की परंपरा में ही अपने को मानते हैं। उनका आस्पद मिश्र है। श्री जगन्नाथ मिश्र इनमें वयोवृद्ध हैं।

[1] गीतगोविन्द, वृन्दावन, पृ० ९३ और ९४।

[2] भक्तमाल नाभा जी, छ० सं० १९७।

रामराय जी की 'आदि वानी' में मूल ग्रन्थ के कुल एक सौ पद हैं। ये पद राधाकृष्ण के लीलारस से ही सम्बन्धित हैं। इनकी रचना उच्चकोटि की है और स्वामी हरिदास एवं हित हरिवंश जी से काव्यगुण में समानता करती है। अनेक पद स्वामी हरिदास जी और हित हरिवंश जी के पदों के पूर्ण साम्य में लिखे गये ज्ञात होते हैं। देखिए स्वामी हरिदास जी का उद्धृत पद—

प्यारी तेरौ बदन अमृत की पंक, तामें बींधे नैन द्वै।
चित चल्यौ काढनकों, विकच सन्धि सम्पुट रह्यौ ह्वै। इत्यादि[1]

श्री रामराय जी का पद—

तेरौ मुख पीयूष-पंक प्यारी, तामें प्रगटे द्वै इंदीवर।
मेरौ मन मत्त मधुप सौ जाय बस्यौ पुतरी ह्वै तिन अंतर। आदि[2]

इसी प्रकार आदिवानीका प्रथम पद :—

प्यारी जू प्यारे कौं भावै सो सहज करैं,
करैं सोई प्यारे जो भावै प्यारी कौं सदा। इत्यादि[3]

हित हरिवंश जी का पद :—

जोई जोई प्यारौ करै सोई मोहिं भावै,
भावै मोहिं जोइ सोइ सोइ करैं प्यारे। इत्यादि[4]

इन सभी महात्माओं का भावसाम्य और काव्यरूप बहुत कुछ एक ही ढांचे का है, यही दिखाना हमारा अभिप्रेत है, यद्यपि सभी की अपनी वैयक्तिकता इन पदों में सुरक्षित है। जैसा कहा जा चुका है, इन गौडीय रसिकों की अभिव्यक्ति भी सखीभावोपासकों से भिन्न नहीं है।

रामराय जी की उपासना सखीभाव की है। अपने गुरु श्री नित्यानन्द जी को वे सखीरूप में देखते हैं और अनंग मंजरी नाम से ही उनका काव्यमें स्मरण किया गया है। उन्हीं की चरणकृपा से उन्हें युगल-सम्पदा प्राप्त हुई है :—

जय-जय श्री रामराय श्री अनंगमंजरी के पांय,
परि परि पाई जुगल प्रेम-सम्पदा।[5]

---

[1] केलिमाल, पद सं० ७

[2] आदिवानी, पद सं० २०

[3] वही, पद सं० १

[4] हित चतुराशी, पद सं० १

[5] आदिवानी, पद सं० १

रामराय जी ने सखी-मंजरियों की जिस सेवा का उल्लेख किया है, वह गौडीय सम्प्रदाय के अनुकूल है। सखी-मञ्जरियों की यह सेवा ही रसिकों की आनुगत्य है।

श्री रामराय जी की कविता में अनुभूति की सचाई के साथ कुशल अभिव्यक्ति की भी पूर्ण क्षमता है। उनकी भाषा स्वाभाविक, तत्समप्रधान और सुगठित है। अनुवाद की क्षमता भी इनमें अद्भुत है, गीतगोविन्द का इनका अनुवाद इसका प्रमाण है।

श्री वल्लभरसिकजी

श्री गदाधर भट्ट जी के दो पुत्र हुए। बड़े थे रसिकोत्तंस और छोटे थे वल्लभरसिक। ये दोनों भाई अपने पितृचरण द्वारा ही दीक्षित हुए और दोनों रसिकों के मध्य प्रसिद्ध हुए। रसिकोत्तंस जी का प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रन्थ 'प्रेमपत्तनम्' है। इसमें उन्होंने वल्लभरसिक जी को अपना छोटा भाई बताया भी है।[1] 'प्रेमपत्तनम्' की भूमिका में श्रीकृष्ण पन्त ने रसिकोत्तंस जी का जन्म सं० १६९५ वि० निश्चित किया है और वल्लभरसिक जी का १७०० वि०।[2] मिश्र बन्धुओं ने वल्लभरसिक जी का जन्म सं० १६८१ लिखा है।[3] परन्तु हमारी दृष्टि में ये दोनों ही संवत् ठीक नहीं ज्ञात होते। इनके समय का मेल इनके पिता श्री भट्ट जी के समय के मेल में होना चाहिये। उनका रचनाकाल मिश्र बन्धुओं ने १६३२ वि० माना है और शुक्ल जी ने १५९५ से १६०० के पीछे तक। ऐसी स्थिति में इन दोनों भाइयों का जन्म भी इस अवधि से पीछे नहीं जा सकता। हमारे अनुमान से यह संवत् अधिक से अधिक १६५० तक जा सकता है, मिश्रबन्धुओं ने इनका रचनाकाल सं० १७१० लिखा है,[4] वह भी विचारणीय हो जाता है।

वल्लभरसिक जी के ग्रन्थों में मिश्रबंधुओं ने 'सांझी', 'बारह-बाट-अठारह-पैंडे' और 'सुरत उल्लास' का उल्लेख किया है।[5] इनकी समस्त प्राप्त वाणियों का एक संकलन बाबा कृष्णदास जी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

---

[1] प्रेमपत्तनम्, काशी, सं० १९८९, पृ० ११

[2] वही, भूमिका, पृ० ३७

[3] मिश्रबन्धुविनोद, द्वि० भा०, पृ० ४५८

[4] वही

[5] वही

वल्लभरसिक जी की वाणी का प्रधान प्रतिपाद्य श्री प्रिया-प्रियतम का लीला-विहार ही है है। इनकी भावना और शैली वृन्दावन के अन्य रसिकों के साथ विशेष रूप से मिलती है। गो० ललिताचरण जी का कहना है कि "इनकी वाणी में कहीं भी गौड़ीय रस-पद्धति की छाया नहीं मिलती। इनको तो बताने से ही चैतन्य संप्रदायानुयायी मानना पड़ता है[1]।" वल्लभ-रसिक जी ने उसी एक रस का जो वृन्दावनीय रसिकों का गेय है, गान किया है। सखीभाव के संयोग पक्ष का इन्होंने जिस उल्लास से गान किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वियोग का ये कभी नाम भी नहीं लेते। निकुञ्ज की अन्तरंगलीला में ये इतने पगे हैं कि कभी कुञ्ज-महल का आंगन उलांघना भी नहीं जानते। श्रीकृष्ण के अन्य सब चरित्रों को छान कर इन्होंने केवल वृन्दावन रस ही ग्रहण किया है। इसके लिए यदि वन के निवासी उनकी निन्दा भी करते हैं तो वल्लभरसिक जी को आनन्द ही होता है—

> हम जुगल-महल-रस लिंदा, कुञ्ज अलिंदा उलंघि न जानैं।
> रस दारिंदा वृन्दावनगण चरितन हू गहि छानैं।
> वन के वासिंदा सब निंदा करैं सु को मन आनैं ?
> 'वल्लभरसिक' चुनिंदा विन को निंदा सुख पहिचानैं।

वल्लभरसिक जी निकुञ्ज-रस के छके रसिक हैं। वे प्रिया-प्रिय को अंक में भर-भरकर लिपटाते हैं, आनन्दित होते हैं। वे जानते हैं कि उनके प्रिया-प्रिय की देह विशुद्ध प्रेम का प्रकाश है, समस्त जग भी उसी प्रेम से प्रकाशित है। जिन रसिकों ने उस श्यामगौर शरीर का स्पर्श किया है, स्नेह से उनके रोम-रोम चिकने हो गये हैं। इन रसिक लाल-लाडिली के प्रेम में जो दाग लगाते हैं, वे नरपशु हैं, वल्लभरसिक उनकी बातें भी नहीं सुनना चाहते, वे निश्शंक होकर प्रिया-प्रिय को अंक में भर लेते हैं।[2]

वल्लभरसिक जी के काव्य में युगल-उपासना का सुदृढ़ सुन्दर सिद्धान्त

---

[1] श्री हितहरिवंश गोस्वामी, संप्रदाय और साहित्य, पृ० ३४७

[2] जिनके देह नेह परिपूरण ते जगमगात जग मांहीं।
जिन दरसें जिन परसें चिकने रोम रोम ह्वै जाहीं।
नरपसु दाग लगन उर जिनकी बातें सुनत डराहीं।
वल्लभरसिक निसंक अंक भरि भरि तिन सौं लपटाहीं।
वल्लभ रसिक जी की वाणी।

वर्णित है। साथ ही हिंडोरा, पवित्रा, वर्षगांठ, सांझी, दशहरा, दिवाली, होली, वसन्त, फूलडोल, चन्दनयात्रा, रथयात्रा, रास की मांझ, गुलाव की मांझ, जल क्रीडा, वर्षा, सुरत-उल्लास और नित्योत्सव के पदों का गान उन्होंने किया है। लीला-गान में उन्होंने अपने को प्रायः सखी रूप में ही प्रस्तुत किया है, और वल्लभ-रसिक-सखी नाम रखा है।

वल्लभरसिक जी के काव्य का वाह्य पक्ष भी उतना ही चमत्कारपूर्ण है, जितना पुष्ट उनका आन्तरिक पक्ष है। कविता में भाषा का लालित्य और यमक, अनुप्रासादि की ऐसी छटा सर्वत्र विखरी है कि इनका भाषा पर सहज अधिकार परिलक्षित होता है। साधारण पढ़े लिखे लोगों के लिए इनकी कविता एक पहेली भी वन सकती है, परन्तु जो रस और काव्य के मर्मज्ञ हैं, वे जान सकते हैं कि किस प्रकार वल्लभरसिक जी अपनी अनुभूतियों और भावों की पर्तों को एक के वाद एक खोलते चले जाते हैं...उनकी अनुभूति अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र है। कहीं-कहीं उनकी कविता अपनी इसी सूक्ष्मता के कारण घनानंद की तरह बौद्धिक भी हो गई है। 'वारह वाट अठारह पैंडे' में कवि ने अपनी उपासना, रसिक-रूप और सखी-सुख का वास्तविक परिचय दिया है। वे कहते हैं—

वल्लभरसिक सहचरी वानी। जुगल लगन आसवँ सों सानी।
मदमतवारी अंखियनि वांचौ। मदमतवारे की अंखियनि वांचौ।

भाषा की लाक्षणिकता का एक रूप देखिये—

सुन्दरता के नैन की गली गये जव नैन।
अटकत अटकत से चले वोल न आवैं वैन।
जव नैननि कों वैना भूलैं।
तव नैननि में नैना फूलैं।
वैननि के नैनानि सों दरस्यौ जुगल स्वरूप।
नैननि के वैनानि सों वरन्यौ रूप अनूप।[1]

प्रिया-प्रिय के परस्पर प्रेम का आधार है प्रियके हृदय का लोभ और प्रिया के तन की कान्ति। वल्लभरसिक जी ने कहा है कि प्रिय के शरीर का अंग-अंग प्रिया के शरीर का लोभी है, और प्रिया के शरीर की सुंदर शोभा तो है ही। इस शोभ और लोभ की वात ही विलक्षण है—

---

[1] वल्लभरसिक की वाणी, पृष्ठ १७२

लोभ सने सब अङ्ग पिया के।
गोभ सने सब अङ्ग तिया के।
गोभ लोभ सों अति ही सनी।
लोभ लगन बाननि की अनी।

युगल की प्रेम-कीडा परस्पर की एकरसता में चलती है। रूप के फुहारों में मन छूट कर भी बँध जाता है। वल्लभरसिक इसी में नेत्रों का सुख लूटते हैं :—

नैंन फुहारे रूप के, रूप-रूप बंधि जाहिं।
इनकी छूटनि में बंधनि, फिर नैंननि का आहिं।
छूटि बंधनि में बंधि बंधि छूटैं।
वल्लभरसिक नैंन-सुख लूटैं।[1]

वल्लभरसिक जी की वाणी आनन्द की स्रोतस्विनी है, जिसका अखंड प्रवाह रसिकों और साहित्यिकों को समान रूप से आप्लावित कर सकने में समर्थ है। नीचे उनका एक पद उदाहरणार्थ दिया जाता है, जिसमें रति-रस में झूलने वाले प्रिया-प्रिय के साथ ही वल्लभरसिक सखी के नेत्र भी झूल रहे है—

आजु दोऊ झूलत रति रस सानें।
ठाडे लचकैं लचकि तरुनि के, गहि फल-फूलहिं आने।
सूहे पट पहरैं द्वै पटुली, बैठे सामल गोरी।
अलिनु रंगीली तिय पद अंगुली पिय डोरी सँग जोरी।
श्याम काम बस झूलि-झूलि पग मूलनि झुलनि बढाहीं।
कामिनि चरण तामरस छुटि अलि काम लूटि मचि जाहीं।[2]
जोवन मधि जोवन-मद झलए झूलनि फंदनि जाने।
'वल्लभरसिक' सखी के नैना एही झुलनि झुलाने॥

भगवतमुदित जी

श्री भगवतमुदित जी के विषय में नाभा जी ने अपनी 'भक्तमाल' में एक छप्पय लिखा है और उस पर प्रियादास जी ने ५ कवित्तों में टीका की है, जिनमें एक कवित्त उनके पिता माधव मुदित जी के सम्बन्ध में है।

नाभा जी के अनुसार ये सखीभाव के उपासक थे। कुञ्जविहारी की केलि

---

[1] वही, पृष्ठ ७४

[2] वही, ७४

वर्णित है। साथ ही हिंडोरा, पवित्रा, वर्षगांठ, सांझी, दशहरा, दिवाली, होली, बसन्त, फूलडोल, चन्दनयात्रा, रथयात्रा, रास की मांझ, गुलाव की मांझ, जल क्रीडा, वर्षा, सुरत-उल्लास और नित्योत्सव के पदों का गान उन्होंने किया है। लीला-गान में उन्होंने अपने को प्रायः सखी रूप में ही प्रस्तुत किया है, और वल्लभ-रसिक-सखी नाम रखा है।

वल्लभरसिक जी के काव्य का बाह्य पक्ष भी उतना ही चमत्कारपूर्ण है, जितना पुष्ट उनका आन्तरिक पक्ष है। कविता में भाषा का लालित्य और यमक, अनुप्रासादि की ऐसी छटा सर्वत्र बिखरी है कि इनका भाषा पर सहज अधिकार परिलक्षित होता है। साधारण पढ़े लिखे लोगों के लिए इनकी कविता एक पहेली भी बन सकती है, परन्तु जो रस और काव्य के मर्मज्ञ हैं, वे जान सकते हैं कि किस प्रकार वल्लभरसिक जी अपनी अनुभूतियों और भावों की पर्तों को एक के बाद एक खोलते चले जाते हैं...उनकी अनुभूति अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्र है। कहीं-कहीं उनकी कविता अपनी इसी सूक्ष्मता के कारण घनानंद की तरह बौद्धिक भी हो गई है। 'बारह बाट अठारह पैंडे' में कवि ने अपनी उपासना, रसिक-रूप और सखी-सुख का वास्तविक परिचय दिया है। वे कहते हैं—

वल्लभरसिक सहचरी बानी। जुगल लगन आसवँ सों सानी।
मदमतवारी अंखियनि बांचौ। मदमतवारे की अंखियनि बांचौ।

भाषा की लाक्षणिकता का एक रूप देखिये—

सुन्दरता के नैन की गली गये जब नैन।
अटकत अटकत से चले बोल न आवै बैन।
जब नैननि कों बैना भूलैं।
तब नैननि में नैना फूलैं।
बैननि के नैनानि सों दरस्यौ जुगल स्वरूप।
नैननि के बैनानि सों बरन्यौ रूप अनूप।[1]

प्रिया-प्रिय के परस्पर प्रेम का आधार है प्रियके हृदय का लोभ और प्रिया के तन की कान्ति। वल्लभरसिक जी ने कहा है कि प्रिय के शरीर का अंग-अंग प्रिया के शरीर का लोभी है, और प्रिया के शरीर की सुंदर शोभा तो है ही। इस शोभ और लोभ की बात ही विलक्षण है—

---

[1] वल्लभरसिक की वाणी, पृष्ठ १७२

लोभ सने सब अङ्ग पिया के।
गोभ सने सब अङ्ग तिया के।
गोभ लोभ सों अति ही सनी।
लोभ लगन बाननि की अनी।

युगल की प्रेम-क्रीडा परस्पर की एकरसता में चलती है। रूप के फुहारों में मन छूट कर भी बँध जाता है। वल्लभरसिक इसी में नेत्रों का सुख लूटते हैं :—

नैन फुहारे रूप के, रूप-रूप बंधि जाहिं।
इनकी छूटनि में बंधनि, फिर नैननि का आहिं।
छूटि बंधनि में बंधि बंधि छूटैं।
वल्लभरसिक नैन-सुख लूटैं।[1]

वल्लभरसिक जी की वाणी आनन्द की स्रोतस्विनी है, जिसका अखंड प्रवाह रसिकों और साहित्यिकों को समान रूप से आप्लावित कर सकने में समर्थ है। नीचे उनका एक पद उदाहरणार्थ दिया जाता है, जिसमें रति-रस में झूलने वाले प्रिया-प्रिय के साथ ही वल्लभरसिक सखी के नेत्र भी झूल रहे है—

आजु दोऊ झूलत रति रस सानें।
ठाडे सचकैं लचकि तरुनि के, गहि फल-फूलहिं आने।
सूहे पट पहरें द्वै पटुली, बैठे सामल गोरी।
अलिनु रंगीली तिय पद अंगुली पिय डोरी सँग जोरी।
श्याम काम बस झूलि-झूलि पग मूलनि झुलनि बढाहीं।
कामिनि चरण तामरस छुटि अलि काम लूटि मचि जाहीं।[2]
जोवन मधि जोवन-मद झलए झूलनि फंदनि जाने।
'वल्लभरसिक' सखी के नैना एही झुलनि झुलाने॥

भगवतमुदित जी

श्री भगवतमुदित जी के विषय में नाभा जी ने अपनी 'भक्तमाल' में एक छप्पय लिखा है और उस पर प्रियादास जी ने ५ कवित्तों में टीका की है, जिनमें एक कवित्त उनके पिता माधव मुदित जी के सम्बन्ध में है।

नाभा जी के अनुसार ये सखीभाव के उपासक थे। कुञ्जविहारी की केलि

---

[1] वही, पृष्ठ ७४
[2] वही, ७४

सदा इनके हृदय में प्रतिभासित रहती थी। ये अनन्य भजन और रस-रति को देखकर उसी में प्रवृत्त थे। इनका हृदय साधारण विधि-निषेधों से ऊपर उठा हुआ था और विशेषकर उसी प्रीति में पगा था। ये माधवदास जी के पुत्र थे। रसिकों से सम्मत तिलक आदि धारण कर इन्होंने भागवत-सेवा की और उनके उदार यश का आस्वाद अपनी वाणी से किया।[1] नाभा जी के छप्पय में भगवतमुदित जी की उपासना के लिये उन्हीं टकसाली शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो वृन्दावनीय रसिकों के उपासना-क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं।

प्रियादास जी के अनुसार ये सूजा के दीवान थे। संभवतः ये शुजाउलमुल्क के आगरा के दीवान रहे होंगे। बड़े रसवंत भक्त थे। व्रजवासियों में इनकी अनन्य निष्ठा थी। जो कोई ब्राह्मण, गोस्वामी इनके पास पहुँच जाता था ये उसका बड़ा सत्कार करते थे। ये गौड़ीय संप्रदाय के मन्दिर के अधिकारी श्री हरिदास जी के शिष्य थे। एक बार उन्होंने सुना कि उनके गुरु कृपा कर उन्हें दर्शन देने आ रहे हैं तो उन्होंने अपनी पत्नी से सम्मति कर केवल शरीर पर एक एक वस्त्र छोड़कर अपना सर्वस्व गुरु जी की भेंट करने का निश्चय कर लिया। मार्ग में गुरु जी को जब यह ज्ञात हुआ तो वे प्रसन्न तो हुए परन्तु मार्ग में से ही वापिस लौट गये। गुरु जी के लौट जाने का समाचार जानकर इनको बड़ा क्लेश हुआ। तत्काल ये अपनी पत्नी के साथ वृन्दावन चले आये और वहीं निवास कर पद-रचना करने लगे।

इनके पिता माधवमुदित जी के संबंध में प्रियादास जी ने लिखा है कि जब इनका मृत्युकाल निकट आया, इन्हें बेहोश जान पालकी पर बैठा कर वृन्दावन लाया गया। मार्ग में इन्हें कुछ ज्ञान हुआ तो इन्होंने पूछा कि कहां लिये जा रहे हो। उत्तर मिला 'वृन्दावन'। इन्होंने तत्काल कहा कि मुझे लौटा ले चलो। यह शरीर वहां जाने का पात्र नहीं है। प्रिया-प्रियतम को इसकी दुर्गन्धि लगेगी। अतः ये पुनः आगरा ही लौट आये।[2]

भगवतमुदित जी के ग्रन्थ 'वृन्दावनशतक', 'रसिक-अनन्यमाल' और 'स्फुट पदावली' है। मिश्रबंधुओं के अनुसार 'हितचरित्र' और 'सेवकचरित्र' भी इन्हीं की रचनाएं हैं। परन्तु 'सेवकचरित्र' 'रसिक-अनन्यमाल' का ही एक भाग है और प्राप्त 'हितचरित्र' उत्तमदास कृत माना जाता है। इनका ग्रन्थ 'वृन्दावन-

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० १९८

[2] उक्त छप्पय पर प्रियादास जी कृत टीका, कवित्त सं० ६२७ से ६३०

शतक' प्रबोधानन्द जी द्वारा विरचित 'वृन्दावन महिमामृत' के शतक का अनुवाद है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति लेखक के पास सुरक्षित है और इसका प्रकाशन भी एक बार वृन्दावन से हो चुका है। इस ग्रन्थ का रचना-काल ग्रन्थ के अनुसार ही सं० १७०७ है :—

सम्वत दस पै सात सै, सात बरस है जानि।
चैत्र मास में चतुरवर भाषा कियौ बखानि।

'रसिक अनन्यमाल' में राधावल्लभीय सम्प्रदाय के भक्तों का जीवनचरित्र संकलित किया गया है। एक प्रकार से यह इतिहास-ग्रन्थ ही है। परन्तु इसमें संवतादि अधिक नहीं दिये गये हैं। भगवतमुदित जी का संगप्रायः राधावल्लभीय वैष्णवों से अधिक रहता था, इसीलिए संभवतः उन्होंने इन भक्तों की गाथा का प्रणयन किया है।

भगवतमुदित जी का सखीभाव का साहित्य उनके वृन्दावन-शतक और पदावली में देखने को मिलता है। इनकी रचना में कोमलता है और भावों में सरलता। 'वृन्दावनशतक' से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

छप्पय

नव किशोर चित चोर, तरुन तन मोरहै।
कोटि कोटि छवि काम स्याम द्युति गौर है।
दोउ मूरति तन एक जीव जीवन रस भोगी।
कौतिक केलि विलास सदा आनंद उपजोगी।
चलत फिरत नव कुञ्ज में, कब ह्वैहै मम पुलक सन।
देखि नवल नागरी वेपथ गति ह्वै परति तन।

दोहा

परनकुटी करि विपिन में भवन लडैती स्याम।
अनायस जहां पाइये रसिक भजन विसराम।

श्री चद्रगोपाल जी

श्रीचन्द्रगोपाल जी श्रीरामराय जी के अनुज थे, तथा पिता श्रीगौर गोपाल थे। श्रीनन्दकिशोर चन्द्र जी के एक लघु ग्रन्थ 'श्रीचन्द्र-प्रभा-चम्पू' में इनका जन्म १५७७ वि० लिखा गया है। १२ वर्ष ये लाहौर में रहे तत्पश्चात् ५ वर्ष तक वाराणसी में विद्याध्ययन किया। अन्त में भ्रमण करते हुए ये

वृन्दावन आ गये। इनको सं० १६२२ में धाम-प्राप्ति हुई। चम्पूकार ने इन्हें चित्रा-सखी का अवतार लिखा है।[1]

श्री चन्द्रगोपाल जी के ग्रन्थ 'चन्द्र चौरासी' 'चैतन्य-महाप्रभु-अष्टयाम', 'राधा-माधव-विहार' आदि हैं। 'श्रीचन्द्र चौरासी' की एक सुलिखित प्रति लेखक ने इनके वंशज श्रीयमुनावल्लभ जी के पास देखी है। इनके ग्रन्थ 'राधामाधव विहार' से फाग का एक छन्द उद्धृत है:—

क्यिौ मदन मन भावनौ, सदन मोहन अनुराग।
लै निज प्रिय कों सखिन संग खेलत अद्भुत फाग।
खेलत अद्भुत फाग भाग रस सुन्दर प्यारौ।
भावत मत्त उमंग रंग अंगनि सों सारौ।
उड़त गुलाल विसाल धीरता नैकु न धारौ।
मिलकें रंग गुलाल भयौ केसर सर. गारौ।
वढ्यौ नेह माधव हृदय श्री राधा दोनों मिलत।
श्रीप्रभु 'चन्द्रगोपाल' जल पाय मधुप अंबुज खिलत।

श्रीराधिकानाथ जी

श्रीराधिकानाथ जी चन्द्रगोपाल जी के एक मात्र पुत्र थे। ये 'माखन' नाम से प्रसिद्ध थे। वाणी-रचना में पिता के ही समान थे। इनके ग्रन्थ हैं, 'श्रीगौड़ीय महावाणी' 'रस-विन्दु', 'प्रेम संपुट-लीला', 'श्रीराधासुधानिधि की टीका' और 'पदावली'। इनकी भाषा लालित्यमयी है। उदाहरण के लिये एक पद प्रस्तुत हैः—

वधूटी आज तरहटी पटी।
छटी छटी छहरात मिलत नहिं, नव जोवन सों जटी।
गलवाहीं दै छुटी न छूवत छैल छिवाई छटी।
आस आसरौ समय वितायौ मन की भ्रमना मिटी।
तुलसीमाल कंठ गुथि डारी, जय हित जमुना तटी।
चोरी करी सोहू सहि लीनी पर चोरिन हू लुटी।
टूटी लर लटकत मोतिन की पट की जोटु खुटी।
राधाप्रिया श्रीमाधव कीं रस की फांस कटी।

---

[1] श्री यमुना वल्लभ जीसे प्राप्त पदावली (हस्त०)

श्री माधुरीदास जी

माधुरीदास जी स्वसंप्रदायानुसार सखीभाव के सुदृढ उपासक थे। ये श्रीरूप गोस्वामी के शिष्य थे। श्रीराधाचरण जी गोस्वामी ने इनके परिचय में एक छप्पय अपनी 'नव भक्तमाल' में लिखा है :—

उज्वल रस अनुराग, राग-मारग विस्वासी।
राग-रंग में कुशल, माधुरी-कुंड-निवासी।
लता माधुरीध्येय गेय गोपीजनवल्लभ।
अष्टजाम अभिराम भावना सुख नित तल्लभ।
दान, मान, वंशी, विपिन, केलि कला अभिलाष की।
माधुरी भई पट् माधुरी, मधुर माधुरीदास की।[1]

उपर्युक्त छप्पय के अनुसार माधुरीदास जी माधुरी कुण्ड के निवासी थे। गान-कला में कुशल थे। गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण के उपासक थे। उज्वल रस में इनकी प्रीति थी, प्रेमा-भक्ति इनका मार्ग था। अष्टयाम भावना में सदैव तल्लीन रहते थे। इन्होंने दान-माधुरी, मान-माधुरी, वंशी-माधुरी, विपिन-माधुरी, केलि-माधुरी और अभिलाप-माधुरी इन छः माधुरी ग्रन्थों की रचना की। माधुरी दास की ये माधुरी अत्यंत मधुर हैं।

माधुरीदास जी के उपर्युक्त सभी माधुरी ग्रन्थ संकलित पदों की होरी माधुरी के साथ माधुरी-वाणी के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी एक रचना केलि माधुरी में उसका रचनाकाल सं० १६८७ दिया हुआ है :—

श्री माधुरी जी की रचनाएँ ब्रजभाषा-काव्य की उत्तम निदर्शन हैं। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से ये सुंदर हैं। सखीभाव इनकी उपासना का मूल भाव है। उत्कंठा या अभिलाप-माधुरी में इन्होंने सहचरी को ही सब रसों का मूल माना है :—

अहो विशाखा सहचरी, तुम सब रस की मूल।
यह उत्कंठा बेलि ज्यौं, नख सिख फूलै फूल।

माधुरी जी की उत्कंठा है कि वे प्रिया-प्रियतम का नवल विहार अपने नेत्रों से देखें और अपने हाथों से उनका श्रृङ्गार करें :—

एक बार इन लोचननि देखौं नवल विहार।
इनही हाथन दुहुन को, करौं बैठि श्रृङ्गार।

---

[1] नव भक्तमाल, गो० राधाचरण जी, छ० सं० ३०

नव निकुंज के रंध्र में छिन छिन नवल विहार।
निरखि माधुरी नैन भरि, भरहिं नैन मतवार।[1]

श्री गौरगणदास जी

श्री गौरगणदास जी श्री सनातन गोस्वामी जी के शिष्य थे। इनके संबंध में इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं है। इनकी छोटी रचनाओं का एक संकलन 'गौरांग भूषण मंजावली' नाम से बाबा कृष्णदास जी द्वारा प्रकाशित किया गया है।

गौरगणदास जी गोपीभाव (सखीभाव) के उपासक थे। अपनी उपासना के सम्बन्ध में उनका कथन है :—

चिन्तामनि व्रजभूमि विलोकन नित नूतन नव भाव भरी।
धूसरि धूरि अंग व्रज रज में प्रेम मत्त जनु धाव करी।
गुरु अनुसरन भाव कौ वारिधि, उमंगि उमंगि कह्यौ गौर हरी।
श्री रूप सनातन आसा उर में व्रजगोपिन अनुभाव सरी।

उनकी रूप-वर्णन की एक मांझ भी प्रस्तुत है :—

शृङ्गार सार मथि उदधि भये, जल जात हेम छवि बाल लता।
पुनि मयूखगन मध्य सजी विद्युत रस उज्वल बाल लता।
कंदर्प चपक वस कांप रही सुकुमार अंग इव बाल लता।
आनन्द लहरि सी उमंगि रही, कौमार शेप इव बाललता।[2]

श्री ब्रह्मगोपाल जी

ये राधिकानाथ जी के सुपुत्र थे। वृन्दावन में ब्रह्मपुरी नामक स्थान में निवास करते थे। इनकी रचना 'हरिलीला' प्रकाशित है। इसमें उच्चकोटि की सखीभाव सम्बन्धी रचनाएँ हैं :—

उदाहरण

जुगलवर सहज रसीले लाल।
मधुर माधुरी प्रीतम प्रेमी, रसिक रसील रसाल।
ललिता कुञ्ज ललित लीलाधर, ललित लाडिली लाल।
लिपटी प्रीति बेलि पुलकित अति सुंदरि प्रेम तमाल।

---

[1] अभिलाष माधुरी से।
[2] सिंगार की मांझ २१।

बीती सकल सर्वरी प्यारी सुख अंबुज धरि जाल।
चौंप चौगुनी वढ़त परस्पर, सुम शर कोटि विहाल।
प्यारी प्रीतम कंठ मालिका, प्रीतम प्यारी माल।
श्री प्रियासखी लखि ललिता सहचरि निज रस कुंज निहाल।[1]

श्री मनोहरदास जी

मनोहरदास जी भक्तमाल के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास जी के गुरु थे। प्रियादास जी ने अपने गुरु की प्रशंसा में निम्नलिखित कवित्त लिखा है :—

रसिकाई, कविताई, जाहि दीनी तिन पाई,
भई सरसाई हिये मन में बसाई है।
उर रंग भवन में राधिकारमन बसे,
लसे ज्यौं मुकुर मध्य प्रतिबिम्ब भाई है।
रसिक समाज में विराज रस राज कहे,
चहे सुख सब फूले सुख समुदाई हैं।
जन मन हरि लाल मनोहर नाम पायौ,
उनहू को मन हरि लीनो ताते राई है।[2]

मनोहरदास जी के गुरु का नाम श्रीरामशरण चट्टराज था। उनका मनोहरदास नाम गुरु-प्रदत्त ही है, जैसा उन्होंने कहा है :—

प्रथम प्रणाम गुरु रामसरन नाम,
चट्टराज-चरण-सरोज मन भायौ है।
कृपा करि दीनी दिच्छा शिच्छा परिचर्या निजु,
राधिकारमण वृन्दावन दरसायौ है।
सदगुण समुद्र दयासिंधु प्रेम पारावार,
सील सदाचार को कवित्त जग छायौ हैं।
ता दिन सफल जनम भयौ है अनाथ बंधु,
मनोहर नाम राखि मोहिं अपनायौ है।[3]

श्री मनोहरदास जी की रचनाओं में 'राधारमणरस-सागर' और 'चणदा-प्रीति-चिन्तामणि' हैं। 'राधारमणरस-सागर' में गुरुजनों की वंदना के अतिरिक्त

---

[1] हरि लीला से।

[2] प्रियादास कृत भक्त रस वोधिनी टीका से।

[3] राधारमणरस-सागर।

श्रीराधारमण जी की विभिन्न ऋतुओं और पर्वों की लीलाएं वर्णित हैं। इनकी कविता परिष्कृत और चारु है। 'राधारमण रस सागर' से यहाँ एक कवित्त उद्धृत है—

प्रेम के हिंडोर वलि झूलत हैं प्रिया प्रिय,
नील पोत वागे बने सोभा उछरत है।
बोलनि हँसनि गान एक रस रसकि तान,
मान सों रमकि झोटा स्वास न भरत है।
भौंह की मरोर में अनंग अंग पावैं कोर,
बोरि बोरि रंग अंग अंगनि धरत हैं।
राधिकारमण मारि 'मनोहर' चह चारी,
लोइनि चतुर चारि खंजन लरत हैं।[1]

श्री प्रियादास जी

प्रियादास जी भक्तमाल की टीका 'भक्ति-रस-बोधिनी' के रचनाकार थे। ये मनोहरदास जी के शिष्य थे। ग्रन्थ के मंगलाचरण में इन्होंने श्रीकृष्ण चैतन्य और अपने गुरु की वंदना की है। भक्ति-रस-बोधिनी टीका के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाएँ 'अनन्य-मोदिनी', 'चाह वेली', 'भक्ति सुमिरणी' और 'रसिक-मोहिनी' हैं। ये चारों लघु ग्रंथ प्रियादास जी की ग्रन्थावली के नाम से कुसुम सरोवर, मथुरा से प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस संग्रह की भूमिका में प्रियादास जी के ऐतिह्य के सम्बन्ध में बहुत थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार इनका जन्म राजपुरा (सूरत-नगर) में हुआ था। इनके पिता का नाम वासुदेव और माता का नाम गंगाबाई था। युवावस्था में ही ये वृन्दावन आये और श्री मनोहरदेव जी के शिष्य हो गये। शिष्य होने के अन्तर इन्होंने गलता (जयपुर) की यात्रा की, जहाँ इन्हें भक्तमाल की टीका करने की प्रेरणा मिली। इसमें ६३४ कवित्त हैं। इस टीका का रचनाकाल सं० १७६९ वि० है।

प्रियादास जी के ग्रन्थ 'रसिकमोहिनी' में कुल १११ दोहे हैं, जिनमें वृन्दावन धाम की महिमा का वर्णन किया गया है। 'अनन्य मोदिनी' में व्यास जी के उद्धरणों को छोड़कर कवित्त और दोहों की कुल संख्या ७५ है, इनमें भक्ति का

---

[1] राधारमणरस-सागर।

अनन्य सिद्धान्त वर्णित है। 'चाहवेली' में कुल ५१ छन्द हैं, जिनमें कृपा की चाह प्रकट की गई है। 'भक्त सुमरनी' ३५ छन्दों की छोटी सी रचना है, जो भक्तमाल में आये भक्तों की सूचीमात्र है। इनकी रचना 'रसिकमोहिनी' में भी रचनाकाल दिया हुआ है, जो सं० १७४० है।

प्रियादास जी का अधिकतर निवास वृन्दावन में ही रहा था। रसिकों का उन्होंने संग किया था। उन्होंने रसिकता का मूल-सिन्धु सम्प्रदाय के अनुसार श्री रूप-सनातन को माना है।[1] उपासना करने के लिए उनकी दृष्टि में वृन्दावन-निवास आवश्यक है, यदि तन से कोई वृन्दावन में न भी रह सके तो मन से उसके प्रति दृढ़ स्नेह निरन्तर बनाये रखे।[2] वृन्दावन में निवास करने से श्यामाश्याम के प्रति सहज ही प्रीति हो जाती है। युगल किशोर उसका चित्त सहज ही चुरा लेते हैं। वे कहते हैं, जिसका चित्त श्री युगल किशोर ने चुरा लिया है, उस प्रेम-रस पीने वाले को और किसी की आशा नहीं रहती। वह रात-दिन रूप-माधुरी का पान करता रहता है। उसका हृदय दर्पण के समान स्वच्छ और कामनाओं से विरहित हो जाता है। आँखों में भरी प्रेम की बातों को सुनकर, जिसकी बुद्धि उसी प्रेम में विलीन हो गई है, वह प्रेमी श्वासहीन सा घूमता है। बड़े भाग्य से ही ऐसे रसिक मिलते हैं, जो नेत्रों को ऐसी उपासना के दर्शन करा देते हैं।[3]

प्रियादास सेवा का क्रम बताते हुए कहते हैं कि उपासक रात-दिन प्रकट सेवा में लीन रहे। वह अपने सिद्ध (सखी) रूप से नित्य युगल की भावपूर्ण सेवा करता रहे।[4] रसिक सहचरीगण का आनुगत्य करे। सहचरीगण निरन्तर उस रूप-माधुरी का पान करती रहती हैं, क्षण भर भी युगल का सामीप्य नहीं तजतीं। इसी भाव से उपासक भी स्मरण करता रहे, नेत्रों में उत्कंठा बनी रहे, तभी वे लाडिले कृपा करते हैं। इसी भाव में सिद्धि है, परन्तु भाव को अन्तस्तल में छिपाये रखे, जग में उपहास न होने दे।[5]

---

[1] मूल सिंधु रस रसिकता श्रीरूप सनातन मान। अनन्यमोदिनी ४।

[2] श्रीवृन्दावन धाम में बसै निरन्तर देह।
जो दुर्दैव न बसि सकै, मन दृढ़ करै सनेह। अनन्य मोदिनी ९।

[3] अनन्यमोदिनी, कवित्त ६।

[4] वही, १०।

[5] रसिकमोहिनी ७९ से ८२ तक।

श्री प्रियादास जी ने सखीभाव की उपासना के गूढ़ सिद्धान्तों का वर्णन किया है। वे स्वयं प्रेमरस-मत्त थे, वही उनके ग्रन्थों में भी मत्तता है। उनकी भाषा प्रांजल है और अभिव्यक्ति सरल। यदि उन्होंने लीला-ग्रन्थ लिखे होते तो अवश्य ही उन्हें अधिक सफलता प्राप्त होती।

'रसजानि' वैष्णवदास जी

ये प्रियादास जी के पौत्र थे। 'रसजानि' इनका उपनाम था। अपने गुरु का नाम इन्होंने हरिजीवन लिखा है।

वैष्णवदास जी ने सं० १७७७ में जयदेवकृत 'गीत गोविन्द' का ब्रजभाषा में अनुवाद किया है। इनकी दूसरी बड़ी रचना 'श्री भाषा भागवत' है, जो भागवत का अनुवाद है। इसका रचनाकाल सं० १८२२ से १८३१ तक है। मिश्रबन्धुओं ने भक्तमाल-बोधिनी टीका, भक्तमाल माहात्म्य और भक्तमाल प्रसंग का भी उल्लेख इन्हीं के ग्रंथों के रूप में किया है।[1] गौरगुणगीत भी संभवतः इन्हीं की रचना है, जो सं० १८४० की है।[2]

वैष्णवदास जी रसिकों की परम्परा के अनुगत थे। इनकी वाणी अत्यन्त माधुर्यपूर्ण और मूल को यथार्थ रूप में प्रकट करनेवाली है। उनके गीत गोविन्द से राधाकृष्ण की प्रेमलीला का एक प्रसंग उद्धृत किया जा रहा है—

भुजरसभीनी गहि लीनी है तिया की पिया,
जाही सों सेजपर डारी सुकुमारी है।
मिलिवे में अन्तर कियौ है पुलकानि आनि,
देखनि में मेख सी निमेखनि ने पारी है।
पान अधरान कें कों मान दीनों बतरान,
मोद ने विनोदकेलि सोधि कें निकारी है।
वाधा हू रसीली जहां सुरत रंगीली ऐसी,
कीनी है छवीली छैल छलनि संचारी है।

श्री वृन्दावनदास जी

श्री वृन्दावनदास जी के ऐतिह्य के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इनकी दो रचनाएं 'प्रेमभक्ति-चन्द्रिका-भाषा' और 'भक्त नामावली' गो० राधाचरण जी के

---

[1] मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीयभाग, पृ० ८२६।

[2] वही, पृ० ७९१।

पुस्तकालय, वृन्दावन से प्राप्त हुई हैं। 'विलाप-कुसुमांजलि' भी इन्हीं की रचना है।

'प्रेमभक्ति-चन्द्रिका' मूल रूप में श्रीनरोत्तमदास ठाकुर ने वंग भाषा में लिखी थी। इसी का सुंदर ब्रजभाषा में पद्यानुवाद श्रीवृन्दावनदास जी ने सं० १८१३ में किया है।[1] 'विलाप कुसुमांजलि' श्रीरघुनाथदास गोस्वामी की संस्कृत-रचना है। इसका अनुवाद श्रीवृन्दावनदास जी ने सं० १८१४ में प्रस्तुत किया। रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण और भावपूर्ण है। 'भक्तनामावली' श्रीदेवकी-नन्दनदास ठाकुर की 'वैष्णवाभिधाभ' संस्कृत अथवा 'वैष्णव-वंदना' बंगला का ब्रजभाषा पद्यानुवाद है। इसमें अधिकांश में गौरभक्तों का उल्लेख है।

'प्रेमभक्ति-चन्द्रिका' में लेखक ने युगल उपासना को ही सर्वोच्च ठहराया है। उन्हीं के प्रीति-सुख के सरस सुधा-सर में निशि-वासर मग्न रहने की कवि ने कामना की है।[2] प्रिया-प्रियतम की लीला-सहचरी सखी हैं। सखी-मंजरियों के नामों का वर्णन कवि ने किया है। इन्हीं अलियों के सुभग अनुग भाव से ब्रज में सिद्ध देह प्राप्त होती है तथा उसी भाव और चाव में हृदय को सुख मिलता है :—

अलि अनुगा सुभगा सु ह्वै, लहि ब्रज मधि सिध काय।
वहै भाय अरु चाय में, निज जियरा सचु पाय।[3]

'विलाप-कुसुमांजलि' में भी सखीभाव का ही ध्यान अत्यन्त प्रगाढ़ रीति से किया है। यों तो ब्रजरस के उपासक होने के नाते इस ग्रंथ में भक्ति के सभी रसों का समावेश है, परन्तु ललिता के आनुगत्य की भावना इसमें प्रखरतम है। जहाँ अनगन अलिगण शोभित हैं, उन्हीं के बीच नमितमुखी होकर, जलजमुखी राधिका को हृदय में धारण कर कवि अपना काव्य-निवेदन करना चाहता है :—

अनगन अलिगन सौंही। ह्वै अति ही जु लजौंही।
लै मोकों सचु पाहीं। गिरि गहवर के माहीं।
ललितासों सुकुमारी। ह्वै सु जाचिता भारी।
अनगन निज गन माहीं। लाजनि सों वलि जाहीं।

---

[1] प्रेमभक्तिचन्द्रिकाभाषा।

[2] विलापकुसुमांजलि।

[3] वही, पृ० ११।

नमितमुखी अति ह्वै कैं, जलजमुखी चित दैकैं।
सरस काव्य कुल जोई। मोहि मया मरि सोई।
कब स्वामिनि बलिहारी। पाठ करै हो कारी।[1]

श्री ललितकिशोरी और ललित माधुरी

श्री ललित किशोरी और ललितमाधुरी दोनों सहोदर भ्राता थे। लखनऊ के नवाब के जौहरी शाह बिहारीलाल के पुत्र गोविन्दलाल जी की द्वितीय पत्नी से इन दोनों भाइयों का जन्म हुआ। इनका असली नाम शाह कुन्दनलाल और शाह फुन्दनलाल था। शाह कुन्दनलाल का जन्म सं० १८८२ और शाह फुन्दनलाल का जन्म सं० १८८५ वि० में हुआ। दोनों भाइयों का परस्पर इतना प्रेम था कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने इन्हें रामलछमण की उपाधि दी है।[2]

बचपन से ही इन दोनों बन्धुओं की भगवच्चरणारविन्द में प्रीति थी। सं० १९०६ में ये वृन्दावन-दर्शन करने आये, तभी से वृन्दावन रहने की उत्कंठा रहने लगी। इनके गुरु गोस्वामी राधा-गोविन्द जी थे, उनके सान्निध्य में ही ये रहना चाहते थे। जब ये लखनऊ में थे, तभी से पदरचना किया

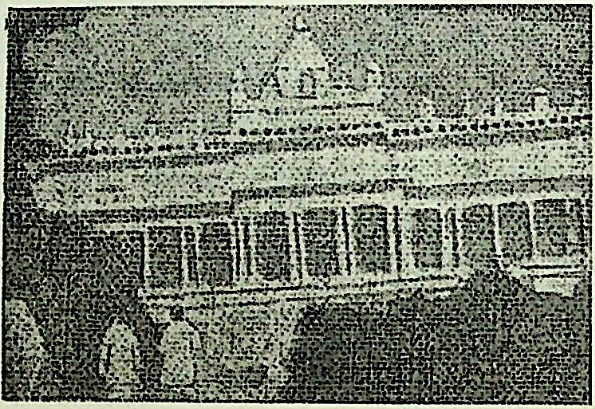

ललित निकुंज, शाह विहारी जी का मंदिर, वृन्दावन

---

[1] विलापकुसुमांजलि पृ० १४।

[2] त्रेता में जो लक्षमन करी, सो इन कलिजुग माँहि किय।
व्रजमाधुरीसार, पृ० २६७।

करते थे। सं० १९१३ में ये सर्वदा के लिये वृन्दावन आ गये। सं० १९१४ में जो राष्ट्रव्यापी विप्लव हुआ, उसमें शाह जी ने वृन्दावन को विद्रोहियों से बचाया और उनकी सहायता की। बाद में उन पर सरकार ने देशद्रोह का मुकदमा भी चलाया, पर वे मुक्त हो गये। शाह जी ने वृन्दावन में एक अत्यन्त भव्य कुटीर बनवाया, जिसका नाम 'ललित-निकुञ्ज' रखा। यह आजकल शाहविहारी के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और संगमरमर की कला का उत्कृष्ट नमूना है। शाह जी आजीवन भक्ति के रंग में रंगे रहे और व्रजरज में उन्होंने अनन्य निष्ठा रखी। अपनी मृत्यु के समय भी वे बड़े प्रसन्न थे और उनकी आज्ञा से उनकी मृत देह को वृन्दावन की रज में घसीट कर ले जाया गया। ललित माधुरी जी अपने भाई के बड़े भक्त और सच्चे भावुक थे।[1]

श्री ललितकिशोरी जी के ग्रन्थ अभिलाष-माधुरी, अष्टयाम और रसकलिका हैं। ललित माधुरी जी के पद भी इन्हीं में यत्र-तत्र संकलित हैं। दोनों ही भाई सखीभाव के उपासक और अनन्य भजनानन्दी थे।[2] इनकी रचना के सम्बन्ध में वियोगी हरि जी ने लिखा है···"ललितकिशोरी जी ने रास, विलास, अष्टयाम और समयप्रबन्ध सम्बन्धी बड़े अनूठे पद रचे हैं। छद्मलीला लिखने में तो आप सबसे बढ़े चढ़े थे। इन्होंने व्रजभाषा के साथ ही कहीं-कहीं पर उर्दू, खड़ी बोली और मारवाड़ी का भी प्रयोग किया है। इनकी खड़ी बोली की रेखता रासधारियों में खूब प्रचलित हैं। इन्होंने प्रेम का चित्रण बड़ा ही सुन्दर और सजीव किया है।"[3] मिश्रबंधुओं ने इनके श्रृङ्गारिक विषय की बड़ी आलोचना की है परन्तु इनके काव्य के सम्बन्ध में इनका भी कथन है—"ललितकिशोरी जी का काव्य बड़ा ही सरस, मधुर और प्रेमपूर्ण है। इनकी रचना से जान पड़ता है कि ये भाषा, फारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। सब बातों पर निगाह करने से इनकी रचना बहुत ही उत्कृष्ट और प्रशंसनीय है।"[4] ललित किशोरी जी की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

---

[1] देखिये, भूमिका अभिलाष माधुरी, वृन्दावन, पृ० २ से १२ तक।

[2] सोइ भजन आनन्द भाव सहचरि रंगभीनौ।

व्रजमाधुरी सार, पृ० २६७।

[3] व्रजमाधुरीसार, पृ० २६७।

[4] मिश्रबन्धुविनोद, भाग ३, पृ० १०६२।

वृन्दावन मंजु नित्य कुञ्ज तरुतमाली ।
निरतैं नव जुगल लाल, नाना धुनि गति रसाल,
हाव भाव करि कटाच्छ वाल हिये शाली ।
छुटयौ फरफंद दुन्द, राधिका गुविन्द इन्दु,
दाया नखचन्द पाद पाइ गति उताली ।
लाग्यौ मुसक्यान वान, जानै नहिं सुनैं आन,
छिन-छिन उर प्यास जुगल-माधुरी रसाली ।
पीवैं मुसक्यान मधुर, अधरामृत सैनि दिवस,
पत्रन की ओट लता-रंध्रनि की जाली ।
जानैं ना कंस बंस, हम तौ रस-रूप हंस,
पान करैं छीर, रहैं प्यासे के आली ।[1]

× × ×

लगै जो पै वृन्दावन कौ रंग ।
सुध न रहै तिल भर या तन की, निरखत दंपति अंग ।
नैनन नीर फुहारे छूटैं, मन में उठत उमंग ।
हाय-हाय पल-पल निकसै उर कसक न भृकुटी भंग ।
होय विगार धरम-पति पति सों, छुटै धीर सतसंग ।
हा राधा-राधा भजि भटकै, मानौं खाये भंग ।
गावैं कवौ, हंसैं उठि भाजैं, मतवारन के ढंग ।
'ललितकिसोरी' मुदित वजावैं, मानस ताल मृदंग ।[2]

श्री ललितमाधुरी जी का पद—

हाय कहा विपरीति भई ।
जुगल चन्द मुखचन्द विलोकन, डसी भुजंगिनि विन रदई ।
'ललितमाधुरी' विरह विथित अति, कढत न प्रानहु कठिन दई ।
मो अभाग के उदय भये कोउ, दंपति प्रीति की रीति नई ।[3]

श्री सुवलश्याम

सुवलश्याम जी गौडीय सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण कवियों में गिने जा सकते हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है परन्तु उनकी एकमात्र

---

[1] अभिलाषमाधुरी पृ० १२८ ।

[2] वही,पृ० २२५–६ ।

[3] संकलित

कृति 'चैतन्यचरितामृत' का व्रजभाषा में पद्यानुवाद है। यह अनुवाद अत्यन्त उत्तम है और बाबा कृष्णदास जी के प्रयत्न से प्रकाशित भी हो चुका है। कृष्णदास कविराज-कृत 'चैतन्य चरितामृत' गौड़ीय सम्प्रदाय का प्रामाणिक सैद्धान्तिक ग्रन्थ है, उसी को, मूल के अनुसार ही, व्रजभाषा में उपस्थित कर सुबलश्याम जी ने सम्प्रदाय का और हिन्दीभाषियों का अतीव उपकार किया है। इस रचना के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि यह सर्वत्र मूल के समान ही स्पष्ट और प्राञ्जल विषय-गर्भित है।

ग्रन्थ के अनुसार सुबलश्याम जी की गुरु परम्परा इस प्रकार है—

श्री चैतन्य, श्री गदाधर पंडित, श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी, श्रीनारायणभट्ट, श्री दामोदरभट्ट, श्री बालमुकुन्दभट्ट, श्री गोपालभट्ट, श्री व्रजपतिभट्ट, श्री यदुपतिभट्ट, और सुबलश्याम।

इनके अनुवाद का सखीभावपरक एक उदाहरण दिया जा रहा है—

लीला राधाकृष्ण की अति निगूढ़तर सोय।
वात्सल्यादिक भावकहि नहिंगोचर है जोय।
एक सखीगणको जु है सब में ह्याँ अधिकार।
होत सखीहीतें जु यह लीलाको विस्तार।
एक सखीगण बिन जु यह लीला पुष्ट न होय।
विस्तारै लीला सखी आस्वादै एक सोय।
तिहि लीलामधि सखी बिन नहीं अन्य गति जोय।
तिनही की अनुगति करैं सखीभाव जो होय।
दंपति सेवाकुञ्ज की साध्य पायहै सोय।
पैवै को तिहि साध्य के नहिं उपाय अरु कोय।[1]

श्री रामहरि

श्री रामहरि के इह जीवन के संम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। ये गोपालभट्ट् जी के परिकर में निवास करते थे। इनके रचे छोटे-छोटे ८ ग्रंथ हैं, जो रामहरि-ग्रंथावली नाम से प्रकाशित हैं। इनके नाम हैं, बुधिविलास, सतहंसी, बोधबावनी रसपचीसी, लघु नामावली, लघुशब्दावली, प्रेमपत्री और ध्यान रहसि-रचना। काल सं० १८३२ से १८३६ तक मिलते हैं:—

इनकी रचना नंददास की 'अनेकार्थ मंजरी' आदि की कोटि की हैं।

---

[1] चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, ८ म परि० पृ० ६७।

प्राचीन कवियों के उद्धरण भी इन्होंने खूब दिये हैं। अलंकारों की ओर कवि का विशेष ध्यान है। यहां 'सतहंसी' के दो दोहे उद्धृत किये जाते हैं—

दीनी कजरारे महा, इन कजरारे नैन।
कजरारे तिय क्यों करै, कजरा रेती है न।
तूउ बावरी खोल जिन, अहे बावरी बाल।
लगि जैहै कोउ बावरी, गये बावरी ताल। (सतहंसी)

श्री गुणमंजरीदास जी

गो० राधाचरण जी हिन्दी-साहित्य के प्रथम उन्नायकों में से थे। उन्हीं के स्वनामधन्य पिता जी थे गुणमंजरीदास जी, जिनका मूल नाम गल्लू जी था। इनके पिता का नाम रमणदयालु और माता का नाम सखीदेवी था। गो० गल्लू जी का जन्म वृन्दावन में सं० १८८४ में हुआ। गो० गल्लू जी सं० १९४७ में गोलोकधाम पधारे।

श्री गुणमंजरीदास जी उच्चकोटि के भक्त थे। साहित्यानुरागी ऐसे थे कि व्रजभाषा के अतिरिक्त फारसी आदि कभी न बोलते थे। उनका गुणमंजरीदास उपासना सम्बन्धी नाम था। श्री युगल छद्म, रहस्य पद तथा पदावशेष और स्फुट पद इनकी रचना हैं। श्री वियोगी हरि के अनुसार पद सब पुरानी परिपाटी के हैं। इनके पदों में रूपक और उपमाओं की अच्छी छटा है।[1] इनका सखीभावपरक होरी का एक पद नीचे दिया जाता है—

पिय प्यारी खेलत होरी।
श्रीवृन्दावन कुञ्ज भवन में, श्री जमुना जी ओरी।
नन्दनन्दन रसिकेश रसीले, श्री वृषभानु किशोरी,
भरें हियभाव कमोरी।

× × × ×

श्री ललितादिक सखी सहेली यह आनन्द लहोरी।
'गुनमंजरि' राधामाधव पर, डारत हैं तृन तोरी,
सिरावति नैननि हियोरी।[2]

---

[1] व्रजमाधुरीसार, पृ० २५३।

[2] पूरा पद वहीं देखिये।

श्री लालवलवीर जी

इनका मूल नाम बद्रीप्रसाद था। ये अग्रवाल वैश्य थे। वृन्दावन में व्यास-घेरे में निवास करते थे और तम्बाकू की दूकान करते थे। व्रजवासियों और महात्माओं को अपने हाथ से भर कर तम्बाकू पिलाते थे। इनका देहावसान ७८ वर्ष की आयु में सं० १९७१ में हुआ। उनकी रचनाओं में लेखक को दो सं० मिले हैं जो १९४७ और १९४९ हैं।[1] इन्होंने 'दास' और 'लालवलवीर' नाम से कविता की है। इनकी कविता बड़ी चोजभरी होती थी। 'व्रज विनोद' या लालवलवीर-कृत 'हजारा' नाम से इनकी रचनाओं का संग्रह इनके जीवनकाल में ही मथुरा से छपा था। एक छन्द दिया जाता है—

चाहत हैं जाकी रज संभु चतुरानन से,
करैं गुन-गान उतसाह वास ही कौ है।
घर-घर ध्यान हारे सांवल सुजान ही कौ,
स्वामिनीकृपा बिना न मिलत घरीको है।
करत खवासी हरिदासी हरिवंसी व्यासी,
जिहींसों दिखावैं होय दासीभाव जी को है।
लाल वलवीर नीको लगै प्रान पी को,
प्यारौ वृन्दावनचंद वृषभानुनंदिनी कौ है।

* * *

---

[1] इनका जीवनपरिचय इनके पुत्र श्री बाँकेलाल जी से प्राप्त हुआ है।

षष्ठ अध्याय

वल्लभ-संप्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि

वल्लभ संप्रदाय का मूल उपास्यभाव और सखीभाव

श्रीनाभा जी के भक्तमाल[1] एवं अन्य वल्लभ सम्प्रदायी कवियों के साक्ष्य[2] से सिद्ध है कि श्री वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी की परंपरा में हुए। परन्तु विष्णुस्वामी जी के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में आज अलग से कुछ भी ज्ञात नहीं है, अतः इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त श्री वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थों में ही मूल रूप में प्राप्त होता है। वे एक प्रसिद्ध दार्शनिक थे, साथ ही भक्ति के प्रबल प्रचारक भी थे। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने समय में प्रचलित भक्ति के सभी प्रकारों का विचार किया है, परन्तु विशेष रूप से उन्होंने उपासना में बाल-भाव को ही प्रमुखता दी है।[3] उन्होंने मधुर उपासना के सम्बन्ध में भी लिखा है परन्तु साधन की दृष्टि से उस पर उतना बल नहीं है। जैसा कहा जा चुका है, राधा

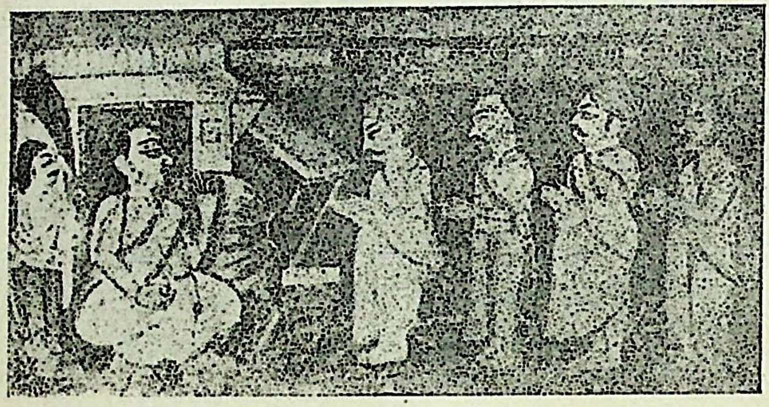

श्री विट्ठलनाथ जी, कुम्भनदास जी, सूरदास जी, परमानंददास जी और कृष्णदास जी। (श्री द्वारकादास जी पारीख से प्राप्त)

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० ४८।

[2] विष्णुस्वामी पथ श्रीवल्लभ पद नमत, कृष्णदास बड़भाग री।
कीर्तन संग्रहभाग ३, पृ० १३३।

[3] परमानन्द सागर, अलीगढ़, भूमिका, डा० हरवंशलाल, पृ० २३

की पूर्ण मान्यता न होने के कारण ही इस सम्प्रदाय में वल्लभाचार्य जी के समय में मधुरभाव की पूर्ण प्रतिष्ठा न हो सकी।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में वालभाव की प्रमुखता बनी रही। 'गुप्त रस ग्रन्थ' में श्री विट्ठलनाथ जी ने ३१ श्लोकों में संप्रदाय का गुप्तभाव प्रकट किया है,[1] यह वाल भाव ही है। किन्तु मधुर रस की उपासना भी उनके समय में क्रमशः प्रमुखता ग्रहण करती दिखाई देती है और उनके अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का स्तवन हुआ है।[2] उनके समसामयिक अष्टछाप आदि कवियों के अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार वे वाल-लीलाओं के गान से मधुर लीलाओं के गान की ओर प्रवृत्त हुए हैं। इस सम्प्रदाय में उपास्यभाव का यह विकास-क्रम लक्ष्य है, जो तत्कालीन परिस्थितियों और अन्य साधक संप्रदायों के प्रभाव तथा मधुर रस की महत्ता को सूचित करता है।

वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख कवि सूरदास, परमानन्ददास आदि ने सखीभाव से राधाकृष्ण की लीलाओं का गान किया है। डा० गुप्त के अनुसार "अष्टछाप के काव्य में सखीभाव से की गई युगल-भक्ति के पद भी एक बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रकार के पद समान भाव से आठों कवियों के उपलब्ध हैं।"[3] इस उपासना भाव के आगमन-स्रोत का वर्णन करते हुए गुप्त जी कहते हैं, "अष्टछाप भक्तों के समकालीन श्री स्वामी हरिदास जी ने भी राधाकृष्ण की युगल-लीलाओं की उपासना सखीभाव से करने का उपदेश दिया था। इन दोनों सम्प्रदायों की छाया, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वल्लभ सम्प्रदाय पर भी पड़ी।"[4] श्री वासुदेव गोस्वामी भी लिखते हैं, "अष्टछाप के कवियों पर तत्कालीन माधुर्य साहित्य के लिये हरित्रयी (हरिदास, हरिवंश और हरिराम व्यास) का भी कुछ प्रभाव स्वीकार करना पड़ेगा।"[5] यह निष्कर्ष अपने आपमें किन्हीं अंशों में ठीक भी है।

वल्लभ सम्प्रदाय के वार्ता-साहित्य से ज्ञात होता है कि उन दिनों वृन्दावन के इन रसिकों से वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों का सम्मिलन होता रहता था।

---

[1] नागरीप्रचारिणी सभा काशी के पुस्तकालय में सुरक्षित ग्रन्थ, टीका सहित

[2] देखिये, स्वामिन्यष्टक, स्वामिनी स्तोत्र आदि ग्रन्थ।

[3] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ६४४।

[4] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ६४३।

[5] भक्त-कवि व्यास जी, वासुदेव गोस्वामी, पृ० १६।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में कुम्भनदास जी के प्रसंग में ऐसा उल्लेख हुआ है।[1] 'निजमत सिद्धान्त' में स्वामी हरिदास जी और वल्लभाचार्य जी के मिलने का उल्लेख है।[2] गोवर्द्धन वृन्दावन से दूर नहीं है, ऐसी स्थिति में वहाँ वृन्दावन की सखीभाव की भक्ति का प्रभाव पहुँचना स्वाभाविक ही है। सूर ने अपने एक पद में कहा है—

हरि-रस वृंदावन तें आयौ।[3]

एक और पद में परमानन्ददास जी ने इसी बात को साफ तौर पर कहा है—

लगै जो वृन्दावन कौ रंग।
स्त्रीभाव सहज में उपजै, पुरुष भाव होय भंग।[4]

वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक कवियों के ऐसे पद प्राप्त हैं, जिनमें स्वामी हरिदास जी की प्रशंसा की गई है। गोविन्दस्वामी का पद उनके अनन्य भाव की प्रशंसा करता है।[5]

वल्लभ सम्प्रदाय में सखीभाव का विकासक्रम श्री विट्ठलनाथ जी से लेकर हरिराय जी तक देखा जा सकता है। हरिराय जी में सखीभाव का वल्लभसंप्रदायी पूर्ण रूप माना जा सकता है। हरिराय जी ने सम्पूर्ण सम्प्रदाय के भक्त और कवियों को सखी-भावना से ओत-प्रोत रूप में देखा है। 'चौरासी-वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के 'भाव' में हरिराय जी ने भक्तों का सखी-रूप दिखाया है। प्रायः सभी भक्तों के सखी-स्वरूप, उनके यूथ और सेवा-विशेष का परिचय दिया गया है। चौरासी वार्ता में सखीभाव की दृष्टि के कारण ही दामोदरदास हरसानी को ललिता का रूप, कृष्णदास को विशाखा, दामोदरदास सभलवाले को चित्रा, एक लौंडी को कृष्णावेसनि, पद्मनाभदास को चम्पकलता, उनकी बेटी को मणिकुण्डला, पार्वती को रूपविलासिनी, रघुनाथदास को गुनाभिरान्या, रजो छत्राणी को रतिकला, सेठ पुरुषोत्तमदास को इन्दुलेखा, उनकी बेटी रुक्मिनि को मोदिनी, बेटा गोपालदास को गानकला तथा रामदास को प्रेममंजरी सखी का रूप बताया गया है। ये नाम

---

[1] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, अष्टछाप स्मारक समिति, मथुरा, पृ० ८७१
[2] निजमत सिद्धान्त, मध्यखण्ड, पृ० १०३।
[3] सूर का संकलित पद।
[4] सूरनिर्णय पृ० ६९ पर उद्धृत।
[5] पूरा पद स्वा० हरिदास जी के प्रसंग में देखें।

उदाहरण के लिए क्रमशः उठा लिये गये हैं। केवल भक्त ही नहीं भगवान की सेवा में काम आने वाले पशुओं को भी लीलापरक नाम दिये गये हैं। कुम्भनदास जी के प्रसंग में एक भैंसे की कथा आती है, उसे वृन्दा सखी का रूप बताया गया है। सखी-रूप के परिचय का ढंग भी देखिये। रजो क्षत्राणी की वार्ता के आरंभ में ही 'भाव प्रकाश' में लिखा है—"सो रजो क्षत्राणी लीला में ललिता जी की सखी हैं। इनको नाम रति कला है। रति जो प्रीति ताकी कला, जो जिनकों श्री ठाकुर जी, श्री स्वामिनी जी को विहार सिद्ध हो। याही भाव में मग्न हैं। और जानत नाहीं। श्री स्वामिनी जी के लिये नाना प्रकार की सामग्री करनी। निकुञ्जादिक में रात्रि को दूध आरोगावनो। यह ललिता जी की सेवा है। तातें यहां हू रजो को, यह नेम, जो रात्र की सामग्री नित्य नेम सों आचार्य जी कों आरोगावनो। सो लीला में रतिकला कों बहोत ताप हतो। जो श्री स्वामिनी जी कों परोसौं भाग्य मेरौ कब होय। काहे तें आरोगावनो सो ललिता की सेवा है। सो कैसे मिले। ललिता जी अत्यन्त प्रिय मध्याजी हैं। सगरी लीला की सिद्धिकरता। सो ताप रतिकला के हृदय को है।"[1]

हरिराय जी का भावप्रकाश सखीभाव की ही सम्पूर्ण व्याख्या है। इस दृष्टि से इस सम्प्रदाय का अध्ययन विलकुल भी नहीं हुआ है। इसको जानने पर कहा जा सकता है कि वल्लभ सम्प्रदाय में भी सखीभाव का पूर्ण पुष्ट रूप विद्यमान है।

परंतु इस सम्प्रदाय में सखीभाव का अपना विशिष्ट रूप है। श्रीकृष्ण की ब्रजलीलाओं की प्रमुखता होने के कारण इस सम्प्रदाय के सखीभाव को गोपीभाव का ही एक रूप माना जा सकता है। यहाँ गोपी और सखी में भेद नहीं है। सखियों की सेवा में भी यहाँ अन्तर है और अधिकार में भी। श्री गोवर्द्धन नाथ शुक्ल का कथन है "वल्लभ सम्प्रदाय का गोपीभाव, उनकी भक्ति का वीज भाव है···यह गोपीभाव राधावल्लभीय अथवा चैतन्य के सखीभाव से भिन्न है। उन दोनों सम्प्रदायों में सखीभाव का स्वरूप राधा का कैंकर्य या राधा का दास्यभाव है···परन्तु परमानन्ददास जी का गोपीभाव वह पुष्टि शिखर वाला गोपीभाव है, जिसमें अंस वाहु देकर परिरंभण आलिंगनपूर्वक चर्वित तांबूल दिया जाता है।"[2] स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय में सखीभाव

---

[1] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मथुरा, पृ० १०२–१०३।

[2] परमानन्द सागर, गोवर्द्धन नाथ शुक्ल, भूमिका, पृ० २१।

कान्ताभाव का भी रूप ग्रहण कर लेता है और सखियों के साथ श्रीकृष्ण का लीलाविहार भी होता है, जो विशुद्ध सखीभाव में संभव नहीं है। श्रीकृष्ण के बहुनायकत्व के कारण ही यहां खंडिता आदि के अनेक पद देखने में आते हैं। ब्रजलीलाओं के आधार के कारण इस संप्रदाय का गोपीभाव व्यापक हो गया है परन्तु उसमें भी, जिसे समालोचकों ने सखीभाव कहा है, वैसे युगल के प्रति सख्यभाव अथवा श्रीराधा के प्रति विशेष निष्ठा रखने वाले पद भी इस संप्रदाय के कवियों ने लिखे हैं। इस संप्रदाय के उन्हीं पदों का अध्ययन सखीभाव के वास्तविक क्षेत्र में माना जा सकता है और इस प्रकार का साहित्य भी इस संप्रदाय में पर्याप्त है।

संप्रदाय के विशिष्ट कवियों के जीवन-चरित्र का अध्ययन करने से एक वात देखने में आती है कि श्रीकृष्ण की सभी प्रकार की लीलाओं का गान करने के उपरान्त अपनी वृद्धावस्था में ये कवि सखीभाव की ओर आकर्षित हुए हैं। सूर, परमानंददास आदि सभी अष्टछाप कवियों के संबंध में यह वात स्पष्ट है। प्रारम्भ में वे श्री वल्लभाचार्य के संपर्क में थे, तब तक वाल लीला का गान विशेष रूप से करते रहे, परन्तु बाद में वृन्दावन का रंग लगने पर उन्होंने अपने को सखीभावी कवियों के रूप में ढाल लिया। इन कवियों के अन्तिम जीवन की रचनाएँ प्रायः राधा की प्रधानता को सिद्ध करने वाली सखीभाव संबंधी रचनाएं हैं। यह उनके जीवन का एक क्रम-विकास है, जो महत्वपूर्ण है। इस प्रकार सूर आदि कवियों का उनके अधिकांश जीवनकाल में जो भी रूप रहा हो, अन्ततः वे सखीभावोपासक कवि ही ठहरते हैं। आगे का अनुशीलन इस तथ्य को प्रमाणित करेगा, ऐसी आशा है।

कुम्भनदास जी

कुम्भनदास जी श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और आयु में सूरदास आदि अष्टछाप के अन्य सभी कवियों से बड़े थे। वार्ता के अनुसार वे जमुनावतौ गाँव के रहने वाले थे। घर की जीविका का काम खेती था। निर्धन थे। इनके चाचा का नाम धरमदास था, जो भगवद्भक्त थे। इनके सात पुत्र थे, एक वार गो० विट्ठलनाथ जी ने विनोद में पूछा, "तुम्हारे कितने बेटे हैं?" इन्होंने उत्तर दिया—"डेढ! महाराज यों तो सात बेटा हैं। तामें पाँच तो लौकिकासक्त हैं, जो बेटा काहे के हैं। और पूरौ बेटा एक है जो चत्रभुजदास है और आधौ बेटा कृष्णदास है, सो गोवर्धननाथ जी की गायनसेवा करत है।"[1] वाद में

---

[1] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मथुरा, वार्ता प्रसंग ७, पृ० ८७८।

कृष्णदास जी की, गाय चराते हुए, मृत्यु हो गई। पाँच बेटे अलग हो गये। केवल चत्रभुजदास ही इनके साथ रहा करते थे। जाति के ये गोरवा क्षत्रिय थे।[1] इनका जन्म सं० १५२५[2] और अवसान सं० १६३९[3] माना जाता है।

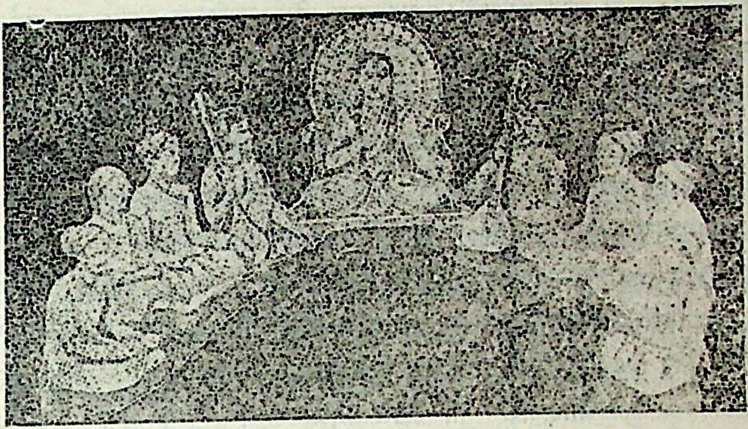

मध्य में—गोसाईं विट्ठलनाथ जी

दाहिनी ओर—१. सूरदास, २. कुंभनदास, ३. परमानन्ददास, ४ कृष्णदास
बायीं ओर—५. गोविन्दस्वामी, ६. छीतस्वामी, ७. चतुर्भुजदास, ८. नंददास
(श्री प्रभुदयाल मीतल से साभार)

"चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में कुंभनदास जी के सम्बन्ध में १५ प्रसंग लिखे गये हैं। इनमें अनेक चामत्कारिक घटनाओं की योजना की गई है। साथ ही इनके काव्य के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। वार्ता प्रसंग १ से ज्ञात होता है कि श्रीवल्लभाचार्य की शरण में आने से पूर्व भी ये पद रचना करते थे, जिनका विषय निकुञ्जलीला था। आचार्य जी के कहने से उन्होंने यह पद गाया—

सांझ के सांचे बोल तिहारे।
रजनी अनत जगे नन्दनन्दन आए निपट सवारे।
आतुर भए नीलपट ओढ़े पीयरे वसन बिसारे।

---

[1] वही, तथा अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय से संकलित, पृ० २३१ एवं आगे।

[2] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० २४२।

[3] वही, पृ० २४४।

कुम्भनदास प्रभु गोवर्धनधर भले वचन प्रतिपारे ।[1]

यह कीर्तन सुनकर आचार्य जी ने कहा, कुम्भनदास, तुम्हें निकुञ्जलीला संबंधी-रस का अनुभव हुआ है। कुम्भनदास जी ने कहा कि मुझे तो इसी रस का अनुभव कृपा करके दीजिये। कुम्भनदास जी ने सभी पद युगल रस संबंधी बनाये, ऐसा वार्ताकार का कहना है। उसके अनुसार उन्होंने बधाई, पलना, बाललीला नहीं गाई।[2] मीतल जी के अनुसार कुम्भनदास जी का दीक्षाकाल सं० १५५६ के लगभग है।[3] इस समय हिन्दी-काव्य-धारा को देखते हुए मधुर-रस की रचना करना संभव है। एक बात यह भी सिद्ध होती है कि यदि ये वल्लभाचार्य जी के प्रभाव में आने के कारण रचना करते तो संभवतः बाललीला का गान ही करते। पर ये तो मधुर रस के रंग में पहले ही रंग चुके थे, अतः उसी रस की उपासना की आज्ञा इन्होंने मांगी। परन्तु मधुर रस में संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष होते हैं, साथ ही ब्रजलीलाओं की मान्यता के कारण खंडिता आदि प्रकार भी उसमें योजित रहते हैं अतः उस समय तक मधुर रस का गान करते हुए भी राधा जी की प्रधानता संभवतः ये न मानते होंगे क्योंकि वार्ता प्रसंग ५ के अनुसार वृन्दावन के संत महंत स्वामी हरिदास जी आदि ने कुम्भनदास जी से यही कहा कि "तुमने जुगल स्वरूप के कीर्तन किये हैं, सो हमने तिहारे कीर्तन बहोत सुने, परि कोई श्री स्वामिनी जी कौ कीर्तन नाहीं सुन्यौ, तासों आपु कृपा करिकें कोई पद स्वामिनी जी कौ सुनावो।"[4] तब कुम्भनदास जी ने श्री स्वामिनी जी का एक पद बनाकर उन्हें सुनाया। उस पद की पंक्ति है—

कुंवरि राधिके तुव सकल सौभाग्य सींवा या वदन पर कोटि सत चन्द
वारि डारौं। इत्यादि।

इससे भी सिद्ध है कि कुम्भनदास जी का राधाभाव वृन्दावन के सखी भावोपासकों से मिलने के पश्चात् ही जागृत हुआ।

वार्ता प्रसंग ९ में इनकी किशोर भावना लीला का परिचय कराया गया है। एक बार उन्हें गोकुल ले जाया जा रहा था। वे लीला में मग्न थे। साथ

---

[1] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मथुरा, पृ० ८४४।

[2] वही, ८४४—८४५।

[3] अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० ९९।

[4] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मथुरा, पृ० ८७१ एवं आगे।

में गोकुलनाथ जी, बालकृष्ण जी आदि थे। रसविभोर होकर कुम्भनदास जी अपने भाव का वर्णन कर रहे थे। वार्ताकार के शब्दों में कुम्भनदास जी का ध्यान इस प्रकार था—"जो एक दिन आश्विन महीना में श्रीनाथजी और स्वामिनी जी ललितादिक सखी संग रात्रि को वन में फूल बीने। ता पाछें समाज सहित रासमंडल के पास श्रृङ्गार को चौंतरा है। सो ता ऊपर आप विराजें। तब विशाखा जी श्रृङ्गार करन लागीं। तब श्री गोवर्धन नाथ जी कहे जो आज श्रृंगार मैं करूंगो सो तब श्री गोवर्धननाथ जी श्री स्वामिनी जी के पास ठाडे भये। सो मुखादिक के दरसन विना रह्यौ न जाय दोउन सों। तब विशाखा जी परम चतुर दोउन के हृदय को अभिप्राय जान श्री स्वामिनी जी के आगे एक दरपन धरयौ। तब वा दरपन में दोउन के श्रीमुख सनमुख भये, सो अवलोकन लागे। सो श्रीठाकुर जी बड़े लम्बे बार स्याम सचिक्कन श्री हस्त में कागसी सों सम्हार एक एक बार में झीने मोती परम चतुराई सों पिरोय कें श्री स्वामिनी जी के मुख चन्द्रसोभा दरपन में देखि कें प्रसन्न होय गये, सो हाथ सों केस छूटि गये। तब सगरे मोती बार में सों निकस सिंगार को चौंतरा है, रतनखचित, तहाँ फैलि गये। तब बड़ौ हास्य भयौ। जो इतनी वार लौं सिङ्गार किये सो एक छिन में, वड़ौ होय गयौ। सो यह सखीन ने कही। तब श्री ठाकुर जी ने विशाखा जी सों कह्यौ, जो तुम बेनी पकरे रहौ, मैं पिरोऊं। तब विशाखा जी ने बेनी पकरी। सो तब फेरि बेनी मोतीन सों मांग संवारी। पाछें फूलन के आभूषण सखीजन ने बनाय कें श्रीठाकुर जी कों दिये। सो श्री ठाकुर जी पहिरावत जायँ और छिन-छिन में मुखचन्द की सोभा देखिकें रोम-रोम आनन्द पावै। सो या प्रकार सब सिंगार श्री गोवर्धन नाथ जी करिकें काजर, बेंदी, तिलक और चरण में महावर दिये। पाछें श्री स्वामिनी जी श्री गोवर्धनधर कौ सिंगार किये। ता पाछें रास विलास आदि अनेक लीला करीं। सो या प्रकार वार्ता करत करत श्री गोकुल साम्हें श्री यमुना जी के तीर लौं कुम्भनदास जी आये······सो कुम्भनदास जी कों सरीर की सुधि नाहीं, लीला रस में मगन हते।"[1]

वार्ता के इस उद्धरण से तत्कालीन वल्लभ संप्रदायी वैष्णवों की सखी-भावना का परिचय मिलता है। सखीभाव के ध्यान का यह एक सुन्दर उदाहरण है। प्रसंग के अनुसार गोकुलनाथ जी साथ थे। ये वार्ताएं गोकुलनाथ

---

[1] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, मथुरा, पृ० ८८७ से ८८६।

जी कृत कही जाती हैं। अतः कुम्भनदास जी के सखीभाव का यह वृत्त प्रामाणिक ही ठहरता है।

कुम्भनदास जी के अन्तिम समय के १५ वें प्रसंग से भी उनकी सखीभावापन्नता का परिचय मिलता है। उस समय गुसाईं जी उनके पास आये और पूछा इस समय कौन लीला में मन है। उन्होंने यह पद गाया—

विसरि गयौ लाल करत गोदोहन।
निरखि-अनूपचन्द मुख इकटक रह्यौ है सांवरौ मोहन।
नव नारी विचित्र चतुर गुन अंग अंग रूप सुठोहन।
'कुम्भनदास' लाल गिरिधर मन, हर्यौ कटीली भौंहन।

तब गुसाईं जी ने पूछा यह लीला तो तुमने सुनाई पर अन्तःकरण कहां है सो बताओ। उन्होंने यह पद गाया—

तोय मिलन कों बोहोत करत है मोहनलाल गोवरधनधारी।
उत्तर मोहि देहु किन भामिनि कहा कहौं हौं बात तिहारी।
देखी तू जो झरोखनि के मग, तन सोहत झूमक सारी।
तन मन वसी री लाल गिरिधर के एक चित्त तें टरत न टारी।
कह री सखी हौं किहि मग आऊं तू बताइ दै ठौर सुचारी।
'कुंभनदास' प्रभु बैठे तहां देखियत जहां ऊंची चित्रसारी।

तथा

रसिकनी रस में रहति गढी।
कनक बेलि वृषभानुनन्दिनी, स्याम तमाल चढी।
विहरत श्री गिरिधरन लाल संग, कौन पाठ पढी।
'कुम्भनदास' प्रभु श्री गोवर्धनधर रति रस केलि वढी।

यह पद गाकर कुम्भनदास जी देह छोड़ निकुञ्जलीला में प्रविष्ट हुए। स्पष्ट ही है कि कुंभनदास जी की अन्तिम समय की प्रवृत्ति युगल-उपासना में ही थी। वे श्री राधा की प्रधानता भी स्वीकार करते हैं और स्वयं ऊंची चित्रसारी में पहुँचना चाहते हैं, जहां प्रिया-प्रियतम केलिमग्न हैं कुंभनदास जी के अन्तिम समय के ये पद सखीभाव सम्बन्धी साहित्य के अच्छे उदाहरण हैं।

कुम्भनदास जी ने किसी ग्रन्थविशेष की रचना नहीं की है। उनके पद ही भक्तों ने समय समय पर संकलित किये हैं अथवा वे कीर्तन-संग्रहों में संकलित मिलते हैं। डा० दीनदयालु जी गुप्त के अनुसार उनके पदों के शीर्षक हैं, वधाई, पालना, अनेक त्यौहार, मान, हिंडोरा, रास आदि। स्वामिनी जी

कौ स्वरूपवर्णन, युगल स्वरूप को सौंदर्यवर्णन, सखी के वचन स्वामिनी जू प्रति, सुरतान्त, विरह आदि के पद हैं ।[1] इनमें वधाई, पलना, वाललीला आदि पदों के सम्बन्ध में चौरासी वार्ताकार का कथन है कि कुम्भनदास जी ने इनके पद नहीं वनाये । अतः या तो उसे कुम्भनदास जी के इन पदों का ज्ञान नहीं है या ये पद कुम्भनदास जी के नहीं हैं । वार्ताकार के अनुसार केवल मधुर रस के पद ही उन्होंने लिखे थे । हमारी दृष्टि में वार्ताकार की वात इस संवंध में विश्वसनीय होनी चाहिए अतः हो सकता है कि वाल-लीला,आदि के पद कुम्भनदास जी के न होकर किसी और के हों और उनके नाम से चल पड़े हों । विद्वानों को इस संवंध में शोधकर इन पदों की प्रामाणिकता सिद्ध करनी चाहिये । उनके मधुर रस के अथवा उसमें भी सखीभाव के पद अवश्य ही उनके हैं, यह वात मान लेने में कोई खटक नहीं है ।

कुम्भनदास जी का काव्य सरल भावुकता और काव्य-गरिमा दोनों दृष्टियों से उत्तम है । विशेषकर रास, रूप-वर्णन और अन्य लीलाओं के सखीभाव संवंधी पद अधिक उत्तम हैं । उदाहरण है :—

हिंडोरे माई झूलत नन्दकिसोर ।
ललिता चंपकलता विसाखा, देत हैं प्रेम-झकोर ।
जैसिय रितु वरसत सुखदायिनि, मंद मंद घनघोर ।
तैसिय गान करतिं व्रज सुंदरि, निरखि निरखि पिय ओर ।
कोटि-कोटि दंपति छवि निरखतिं, होत सवन मन मोर ।
'कुम्भनदास' श्रीगोवरधनधर प्रीतिनिवाहन ओर ।[2]

महाकवि सूरदास जी

महाकवि सूर की भक्ति-भावना से हिन्दी के सभी विद्यार्थी परिचित हैं । उनके विषय में अनेक शोध-ग्रन्थ भी लिखे जा चुके हैं । यहाँ सूर की उपासना के विशेष पक्ष सखीभाव के सम्वन्ध में ही प्रकाश डालना अपेक्षित है ।

सूर के जीवन के संवंध में निरन्तर शोधों के परिणामस्वरूप एक निश्चित सी रूपरेखा वन गई है । यद्यपि अनेक वातों में अभी मतभेद है फिर भी डा० दीनदयाल जी गुप्त का मत अधिक मान्य है । इस पक्ष के लोग चौरासी वैष्णवन की वार्ता को प्रामाणिक मान कर चलते हैं ।

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ३१२–३१३ ।

[2] अष्टछाप-परिचय से ।

हरिराय जी के अनुसार सूर का जन्म सीही नामक स्थान में हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। जन्म से ही अन्धे थे। घर से निकल कर अठारह वर्ष की अवस्था तक सीही गाँव से चार कोस दूर एक तालाब के किनारे रहे। तत्पश्चात् आगरा और मथुरा के बीच गौघाट पर रहने लगे।[१] यहां ही ये

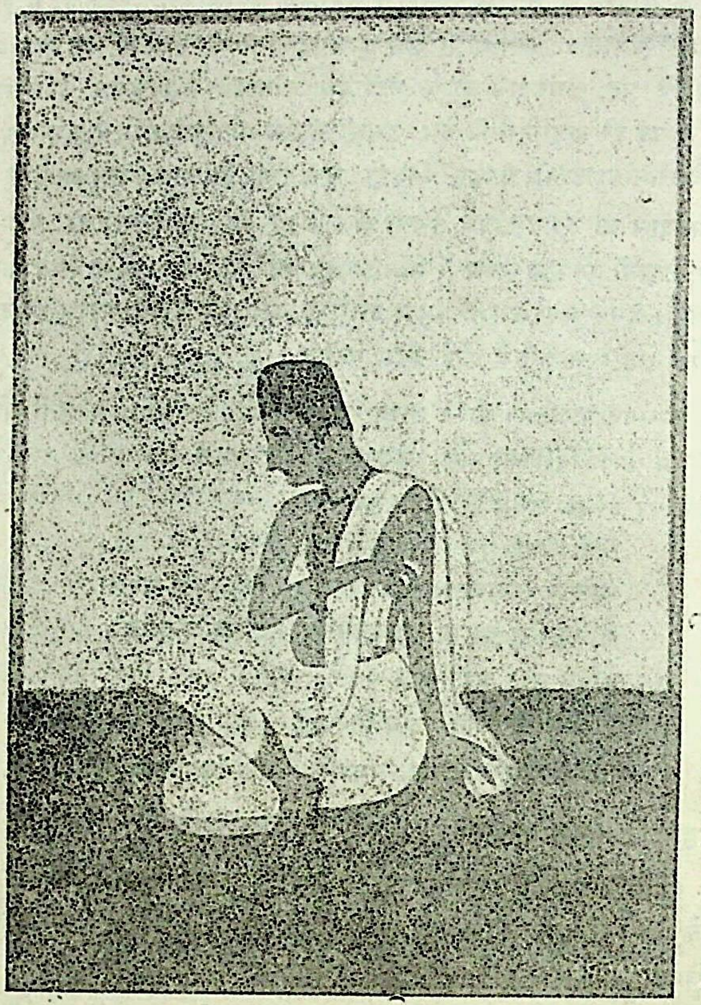

महाकवि सूरदास जी

(श्री प्रभुदयाल जी मीतल से प्राप्त)

---

[१] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, सूरदास की वार्ता पर भावप्रकाश टिप्पणी, पृ० ७२७।

वल्लभाचार्य के शिष्य हुए। फिर तो जीवन भर श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करते रहे।

सूरदास जी के जीवन-परिचय का आरम्भ करते हुए भावप्रकाशकार ने उन्हें कृष्ण-सखा और चम्पकलता सखी का रूप बताया है। वे कहते हैं—"कृष्ण के सखीजन हैं सो तिनके दोय रूप हैं। सो कहते हैं, पुंभाव के सखा और स्त्रीभाव की सखी। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव और रात्रि कों सखी द्वारा अनुभव है। सो काहे तें...जु बेद की रिचा हैं सो गोपी हैं और वेद के जो मंत्र हैं जो सखा हैं...परन्तु गोपीजन देखिवे मात्र स्त्री हैं, सो इनके पति हैं परन्तु ये स्त्री नाहीं हैं। सो ऐसे हैं। भुज्यौ अन्न होय सो धरती में बीज नाहीं ऊगै। तैसे ही इनको लौकिक विषय नाहीं हैं। सो यहां तो रसरूपलीला सदा एकरस है। सो तैसे ही अंतरंगी सखा श्री ठाकुर जी के अंग रूप हैं। सो सखीरूप सखारूप दोय रूप सों रातदिन लीला करत हैं। सो तासों सूरदास कृष्णसखा को प्राकट्य है और कृष्णसखा को दूसरो रूप सखी है सो लीला कुंज में है, सो तिनकौ नाम चम्पकलता है।"[1] इन शब्दों में भावकार ने सखीभाव की इस वल्लभसम्प्रदायी विशेषता को कि एक ही उपासक सखा और सखी दोनों रूपों में उपासना कर सकता है, स्पष्ट कर दिया है। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि सखी और गोपी यहां पर्यायवाची हैं।

सूर के जीवन में सखीभाव की साधना लक्ष्य रूप में रही है। इस साधना का क्रमिक विकास सूर के जीवन-विकास में परिलक्षित है।

सूर के ग्रन्थ सूर-सारावली से ज्ञात होता है कि सूर पहले शैव थे। अन्य मार्गों का भी उन्होंने अवलंबन किया था पर किसी से भी वे पार न पा सके—

शिव विधान तप करयौ निरन्तर, तऊ पार नहिं लीन।[2]

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूर का जीवन-परिचय वल्लभाचार्य जी के शिष्य होने के प्रसंग से आरम्भ होता है। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि वे उस समय शैव थे या नहीं। परन्तु जिस प्रकार के पद उन्होंने वल्लभाचार्य जी को सुनाये उनसे यही जान पड़ता है कि वे किसी वैष्णव सम्प्रदाय में अथवा उसके सम्पर्क में रहे होंगे।[3] डा० मुंशीराम शर्मा का अनुमान है कि वे

---

[1] वही, पृष्ठ ७२६–७२७।

[2] सूर-सारावली, मथुरा, १००२, पृ० ८०।

[3] हौं हरि सब पतितन कौ नायक, इत्यादि पद से यही ज्ञात होता है।

उस समय स्वामी हरिदास जी के शिष्य रहे होंगे।[१] यह बात स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय में कहीं सुनने में नहीं आती। दूसरे भक्ति-भावना के ज्ञाता जानते हैं कि समस्त कृष्णोपासकों का लक्ष्य राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं की प्राप्ति होता है। अतः वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त तो वृन्दावनीय सम्प्रदायों में गये परन्तु वृन्दावनीय सम्प्रदायों के भक्त वल्लभ-सम्प्रदाय में नहीं गये। फिर उपासना का 'घिघियाने वाला दैन्य रूप' हरिदासी सम्प्रदाय में नाममात्र को भी नहीं है। ऐसी अवस्था में हरिदासी सम्प्रदाय में सूर का दीक्षित होना और फिर वहां से उनका वल्लभ-सम्प्रदाय में आना संभव नहीं प्रतीत होता। फिर भी वे वैष्णव अवश्य थे, इसमें सन्देह नहीं।

'घिघियाने' वाले विनयी सूर को वल्लभाचार्य जी ने भगवल्लीला का वर्णन करना सिखाया। भागवत की कथा सुनाई। तब प्रेमलक्षणा भक्ति सिद्ध हुई। भक्ति के क्षेत्र में यह सूर का तीसरा प्रवेश है। लीला-स्फुरण होने के पश्चात् सूर ने नन्दालय की लीला वल्लभाचार्य जी के कहने से गाई :—

ब्रज भयौ महर कें पूत, जब यह बात सुनी। आदि।[२]

वात्सल्य-वर्णन के साथ ही 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' सुनकर उन्होंने प्रथम स्कंध से द्वादश स्कंध तक की भागवत की कथा कही, जिनमें दानलीला, मानलीला आदि की कथाएं भी थीं। सूर प्रायः बाललीला के पद गाते रहते थे।[३] एक बार अविद्या दूर कराने का पद जब सूर ने सुनाया तब फिर आचार्य जी ने माहात्म्ययुक्त भगवल्लीला का गान करने के लिये कहा। सूर ने प्रसन्न होकर ब्रजवासियों की महिमा गाई। आचार्य जी बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि तुम्हें पुष्टि मार्ग का सिद्धान्त फलित हुआ है।[४]

मधुर रस के पद सूर ने गाये। सभी प्रकार की लीलाएँ गाईं। संयोग और वियोग गाया। सूर ने गोपीभाव अथवा भर्ताभाव से भजन करने के लिये भी कहा है। श्रुतियों को वर देते हुए कृष्ण के द्वारा उन्होंने कहलाया है :—

जब तुम ह्वै करि गोपिका करौ हो मोसों नेह।
करौं केलि तुम सों सदा सत्य वचन मम एह।

---

[१] सूर सौरभ, प्रथम भाग, पृ० ४४।

[२] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, ७३९—७४०।

[३] वही, पृ० ७४१।

[४] वही, पृ० ७४६।

श्रुति सुनिकैं यह वचन भाग अपनौ बहु मान्यो।

× × ×

तबै रिचा ह्वै 'गोपिका हरि' सों कियौ विहार।
जो कोऊ 'भरता-भाव' करि हरि पद ध्यावै।
नारि पुरुष कोउ होय सोइ श्रुति रिचा गति पावै।
तिनकी पद रज जो कोउ वृन्दावन भुवि माहीं।
परसै सो 'गोपिका गति' लहैं संसै नाहीं।[1]

'सूरसारावली' मधुर रस से सराबोर रचना है। उसमें गोपीभाव और उसी के रूप के सखीभाव के विस्तृत चित्र प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ का आरम्भ ही नित्यविहार के होली-गान के रूप में हुआ है :—

जहां वृन्दावन आदि अजिर, जहां कुञ्ज लता विस्तार।
तहां विहरत प्रिया-प्रियतम दोउ, निगम-भृंग गुञ्जार।[2]

इसी खेल में सृष्टि रचने की इच्छा हुई। सूरदास जी ने पौराणिक लीला के इस रूप को नित्य सिद्ध रूप में देखा है और सृष्टिकर्ता के रूप में उसी परमेश्वर का व्यापक प्रसार दिखाया है। फिर सब कथाओं का गान करने के पश्चात् ये पुनः वृन्दावन की नित्य लीलाओं पर आ गये हैं। व्रज की इस निकुञ्ज-लीला का आनन्द तो सखियों को ही मिलता है। राधा एवं अन्य सखियों के साथ कृष्ण की क्रीडा हो रही है—

गहि बहियां लै चले स्यामघन, सघन कुञ्ज के द्वार।
पहले सखी सबै रचि राखीं, कुसुमिनि सेज संवार।
नाना केलि सखीन संग विहरत नागर नन्दकुमार।
आलिंगन चुम्बन परिरंभन, भेंटत भरि अंकवार।
श्रम-जल-बिंदु इन्दु-आनन पर, राजत अति सुकुमार।
मानौं विविध भाव मिलि बिलसत, मगन सिन्धुरस सार।
कुञ्ज-रंध्र अवलोक सहचरी, अपनौ तन मन वारैं।
निरखि-निरखि दंपति नेत्रन सुख तोरि-तोरि तृन डारैं।[3]

इस स्थल पर विशेष बात यह है कि वृन्दावनीय रंगरूप होते हुए भी

---

[1] सूरसागर, पद सं० १७९३।

[2] सूरसारावली, मथुरा, छं० २, पृ० १।

[3] सूरसारावली, ८९९, पृ० ७२।

वर्णनों में कान्तासक्तिमय गोपीभाव और सखीभाव दोनों ही समान रूप से मिले हुए हैं। 'भरता-भाव' भी है, सखीभाव भी। कृष्ण गोपियों के साथ भी केलि करते हैं और दम्पति की केलि को सखीजन कुञ्ज-रंध्र से देख भी रही हैं। वस्तुतः यह सम्मिलित भाव पुराणों के गोपीभाव और सखीभावोपासकों के सखीभाव को एक साथ रख कर देखने का परिणाम है। जब तक श्री राधा के प्रति विशेष आराध्य-भाव नहीं होगा, तब तक ये दोनों भाव स्वाभाविकतया मिल ही जायेंगे, इसीलिए लीला में राधा-प्राधान्य को महत्व दिया जाता है। आगे विहार-लीला में यह रूप संवरा है और वहां राधा-कृष्ण ही विहार में मत्त दिखाई देते हैं। यह विवरण बहुत लंबा है, कुछ उदाहरण देखिये :—

चले धाय नव कुँज महल दोऊ किसलय सेज विराजैं।
परिरंभण सुखरासि हास मृदु सुरति केलि सुख साजैं।
नाना बन्ध विविध रस-क्रीड़ा, खेलत स्याम अपार।
रति-रस-तत्त्व भेद नहिं जानत, दंपति अंग संभार।[1]

सूरदासजी ने राधाकृष्ण के इस विहार का वर्णन बड़ी ही आलंकारिक भाषा में किया है। सूर ने ६७ वर्ष की अवस्था में गुरु प्रसाद से यह दर्शन पाया है। सारावली की रचना सं० १६०२ में हुई थी, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। अनुमान ही नहीं, इसीसे तो ६७ वर्ष घटा कर सूर का जन्मकाल निकाला जाता है। अतएव इस समय को प्रामाणिक ही मानना चाहिये। इस समय विट्ठलनाथ जी गद्दी पर थे। अर्थात् वल्लभाचार्य जी के समय से क्रमशः इस मधुर और सखीभावना का इस सम्प्रदाय में बाहुल्य होता जा रहा था। अवश्य ही वार्ता के अनुसार सूर वल्लभाचार्य जी के सामने माधुर्य के पद बनाया करते थे, परन्तु इस भाव का विकास विट्ठलनाथ जी के समय में ही विशेष रूप से हुआ। सं० १६०२ में यद्यपि लीला की पदावली वृन्दावनीय पद्धति पर होने लगी थी फिर भी जैसा कहा गया है, अभी सूर का राधानिष्ठ होना शेष था, वह क्रम सूर के आगे के जीवन में पूरा हुआ।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार अन्तिम समय में जब सूर से चतुर्भुजदास ने पूछा, 'थोड़े से में पुष्टिभक्ति-मार्ग का स्वरूप सुनाइये।' तब सूर ने यह पद कहा...

भज सखीभाव भावक देव।
कोटि साधन करौ कोऊ, तऊ न मानैं सेव।

---

[1] सूरसारावली, ९८०, पृ० ७८।

धूम्रकेतु कुमार मांग्यौ कौन मारग रीत।
पुरुष तें तिय-भाव उपन्यौ सबै उलटी रीत।
बसन भूषन पलटि पहरे भाव सों संजोय।
उलटि मुद्रादर्श अंकन बरन सूधें होय।
वेद विधि को नेम नाहीं, जहाँ प्रीति की पहिचान।
ब्रजवधू बस किये मोहन 'सूर' चतुर सुजान।[1]

इस पद का भाव 'भाव-प्रकाशकार' ने इस प्रकार बताया है···'सो या पद में यह जतायौ, जो गोपीजन के भाव सों जो प्रभु कों भजैं सो तिनके भाविक जो श्री गोवर्धनधर, सो तिन कों गोपिन के भाव करि सखीभाव सों भजियै। कुन्ज लीला में सखीजन को अधिकार है। तासों सखी कहैं। और कोटि साधन वेद के करौ परन्तु एक हू साधन नाहिं मानत हैं' आदि।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तिम समय में सूर ने वात्सल्यादि को पुष्टि का स्वरूप न कह कर सखी-भाव को ही उसका वास्तविक तत्व बताया और जब गुसाईं जी ने पूछा—"जो सूरदास जी, अब या समय चित्त की वृत्ति कहाँ हैं", तब राधाचरणोपासक सूर ने तत्काल यह पद गाया :—

बलि बलि बलि हौं कुँवरि राधिका नन्द-सुवन जासौं रति मानी।
वे अति चतुर, तुम चतुर-सिरोमनि, प्रीति रहै कैसैं करि छानी।
वे जो धरत तन कनक पीतपट सो तौ सब तेरी गति ठानी।
तें पुनि स्याम सहज यह सोभा अंबर मिस अपने उर आनी।
पुलकित अङ्ग अबहिं ह्वै आयौ निरखि सुभग निज देह सयानी।
'सूर' सुजान-सखी के बूझें प्रेम-प्रकास भयौ बिहंसानी।[3]

यहाँ सूर सुजान-सखी के रूप में युगल-केलि का आस्वादन कर रहे हैं। पीछे 'खंजन नैन रूप रस माते' यह पद गाकर युगल-स्वरूप का ध्यान करके सूर लौकिक स्वरूप छोड़ कर लीला में प्रविष्ट हुए।[4] इस प्रकार सूर का वास्तविक भक्तिभाव सखीभाव ही था। यही उनके भक्तिपथ का चरम विकास है।

सूर ने सखीभाव के अन्य उपासकों की तरह कविता में अपना नाम

---

[1] चौरासी वैष्णवन की वार्ता पृ० ७८४।

[2] वही, भावप्रकाश, पृ० ७८४–७८५।

[3] वही, पृ० ७८६।

[4] वही, पृ० ७८६।

सखीछाप से दिया है। ऊपर एक उदाहरण दिया जा चुका है और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

१. नवल निकुञ्ज नवल नवला मिलि नवल निकेतन रुचिर बनाये।
'सूरसखी' राधा माधव मिलि क्रीडत हैं, रतिपतिहिं लजाये।[1]
२. 'सूरसखी' कैसें मन मानै, सुन्दर स्याम कुटिल न गये।[2]
३. 'सूरसखी' निसि संग स्याम के प्रगट प्रात भई चोरी।[3]
४. सुख लूटत अबहीं भई भोरी, 'सूरसखी' डारत तृन तोरी।[4]
५. 'सूरसखी' बूझैहुं न बोलति, सो कहि धौं तोहि कौन तरस।[5]
६. 'सूरसखी' आनन्द न संभारत, नागर कंठ लगावै री।[6]
७. 'सूरसखी' जाइ वलि राधिका कुमरि चलि, आजु छवि नीकी,
तेरे आछे न नीलपट की री।[7]
८. 'सूरसुजान सखी' सुन तुम विनु मनमथ पावक जरत।[8]
९. 'सूरसखी' मोहन सुख निरखहुँ धीरज नाहिं रह्यौ।[9]
१०. 'सूरसखी' उर लाइ हंसत भुज गहि झकिझोरी।[10]

ऐसे ही अनेक पदों में सूर ने सखीभाव-सम्बन्धी अपने नाम की छाप रखी है, अन्य पदों में उन्होंने अपने सामान्य नाम का भी प्रयोग किया है। सखीभाव के पद सूर-सागर में बहुत बड़ी मात्रा में हैं। ये उनके उत्तर जीवन काल की रचनाएँ हैं परन्तु इन्हें सूर-सागर में संयोग लीलाओं के क्रम में रख दिया गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे उनके वल्लभ-संप्रदाय में आने के पूर्व के विनय के पद प्रथम स्कंध में सम्मिलित कर लिये गये हैं। इन पदों में

---

[1] सूर-निर्णय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० २८४।
[2] सूरसागर, नागरी प्रचारिणी संस्करण, पृ० ११३०।
[3] वही, पृ० ११३३।
[4] वही, पृ० ११३३।
[5] वही, पृ० ११३४।
[6] वही, पृ० ११३९।
[7] वही, पृ० ११७६।
[8] वही, पृ० ११७८।
[9] वही, पृ० ११७९।
[10] वही, पृ० १२१७।

यद्यपि वल्लभ-संप्रदाय के अनुसार व्रजलीला का भाव भी है, तथापि इनकी मुक्त आत्मा में वृन्दावनीय संप्रदायों की मान्यता पैठी हुई है।

सखीभाव के ये पद संयोग श्रृङ्गार के चित्रण हैं, जिनमें राधाकृष्ण की युगल लीलाओं का वर्णन है। इन पदों में सूर की आत्मीयता कहीं अधिक बढ़ी हुई देखी जा सकती है। इन पदों में निशि-विहार, शय्या-सुख, सुरतान्त और सखियों द्वारा प्राप्त सुख के अनूठे वर्णन भरे पड़े हैं। रात्रि-लीलाओं के सम्बन्ध में सखी राधा से ही कहती हैं कि बिना छिपाये इस सुख का वर्णन करें। पर राधा उस परम सुख को कह भी नहीं पातीं। सखी द्वारा सुख जानने की उत्कंठा देखिये :—

राधा अब जनि कछू दुरावै।
हा हा करि चरननि सिर नावति, अपनौ सौंह दिवावै।
वहै कथा मोसों कहि प्यारी, चरित कहा करि कीनौ।
जा रस में तू मगन भई है, कौन अंगसुख दीनौ।
उछलित भयौ सुधा उर घट तें, मुख मारग न संभारै।
'सूर' स्याम रस-छकी राधिका, कहत न बनै विचारै।[1]

लीला में सखियों का जो महत्व है, वह भी सूरकाव्य में पूर्णतया प्रकाशित हुआ है। सभी प्रकार की सेवा करने में सखी अपना सौभाग्य मानती हैं। साथ ही वे राधाकृष्ण का मिलन कराने के लिए भी प्रतिपल उत्सुक रहती हैं। प्रिया जी के मिले बिना, प्रियतम की आधीनता और विवशता का निवेदन कर वे ही प्रिया जी को मिलने के लिये प्रेरित करती हैं। सखियों का यह व्याकुल निवेदन है···

प्यारी, प्रीतम आरति करतु।
तुम्हरे कारन कुमरि राधिका, मेरे पांयनि परतु।
वरही मुकट लुठत अवनी पर, नाहिंन निज भुज भरतु।
वार वार रहंटि के घट ज्यौं, भरि भरि लोचन ढरतु।
अति आधीन मीन ज्यौं जल बिनु, नाहिंन धीरज धरतु।
'सूर' सुजान सखी सुंन तुम बिनु मनमथ पावक जरतु।[2]

---

[1] सूरसागर, पृ० ११३८।

[2] वही, पृ० ११७८।

सूर के सखीभाव के इन पदों में राधाकृष्ण-रति की कामना प्रकट हुई है। परन्तु उल्लास भरे इन स्थलों को सर्व सामान्य के लिये प्रकाशित करते समय सूर ने कुछ संकोच भी किया है और ऐसे अनेक स्थलों पर सूर या तो दृष्टिकूट शैली का ग्रहण करते हैं अथवा अलंकारों के बीच रतिक्रीडा को निकाल जाते हैं। सूर का यह संकोच उनके वात्स्यभावोपासक अनेक साथियों के बीच ठीक ही है।

राधाकृष्ण की एकरूपता का वर्णन सूर ने अनेक स्थलों पर किया है। इसी मूल एकता के कारण पलकान्तर होने पर भी अपार व्यथा का होना संभव होता है। सखियां कहती हैं—

> तुम वे एक, न दोइ पियारी। जल तें तरंग होइ नहिं न्यारी।
> रिस रूसनो ओसकन जैसौ। सदा न रहत चाहियै जैसौ।[1]
> सुनहु स्याम, तुम हो रस-सागर। रूप-सील-गुन-प्रीति उजागर।
> तुम तें प्रिया नैंकु नहिं न्यारी। एक प्रान द्वै देह तुम्हारी।
> प्यारी में तुम तुम में प्यारी। जैसे दरपन छांह विहारी।
> रस में परै विरस जहँ आई। होइ परत तहँ अति कठिनाई।
> अबकें हम सब देतिं मनाई। परसौ प्यारी चरन कन्हाई।
> अब रुठाइहौ जो गिरिधारी। राम-राम तौ बहुरि हमारी।
> जब परसे प्यारी-चरन, परम प्रीति नंदनंद।
> छुट्यौ मान हरसो प्रिया, मिट्यौ विरह-दुख-दंद।
> हरसि मिले दोउ प्रीतम प्यारी। भईं सखी सब निरखि सुखारी।[2]

यह मान-रस संयोग के सुख को प्रतिपल बढ़ाने वाली कौतूहल की केलि है। कहां तो वियोग का उपासक, 'भ्रमर-गीत' का कवि और कहां पलकान्तर का वियोग न सह सकने वाला सखीभाव का उपासक यह सूर? ये दोनों ही प्रेम की दो भूमिकाएं हैं। और ऐसा ज्ञात होता है कि सभी रसों का अनुभव करने वाले सूर ने अंत में आनंद का आधार सखीभाव की उपासना को ही बनाया। यही उनका अंतिम संदेश भी है, जो उन्होंने चतुर्भुजदास और

---

[1] सूरसागर ११९४।

[2] वही, पृ० ११९५।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पूछने पर उन्हें बताया था। हमारी दृष्टि में वल्लभ संप्रदाय के कवियों में आनुपातिक दृष्टि से सखीभावोपासक कवि के रूप में सूर की महत्ता मानी जायगी। नीचे डा० दीनदयाल गुप्त द्वारा उद्धृत सूर के सखीभाव के दो पद दे रहे हैं :—

संग राजति वृषभानुकुमारी।
कुञ्ज सदन कुसुमनि सेज्या पर दंपति सोभा भारी।
आलस भरे मगन रस दोऊ, अङ्ग अङ्ग प्रति जोहत।
मानहुँ गौर-स्याम कैरव ससि, उत्तम बैठे सनमुख सोहत।
कुञ्ज-भवन राधा-मनमोहन चहूँ पास ब्रजनारी।
'सूर' रही लोचन इकटक करि डारत तन-मन वारी।

बसौ जु मेरे नैननि में यह जोरी।
सुंदर स्याम कमल दल लोचन, संग वृषभानुकिसोरी।
मोर मुकट मकराकृत कुण्डल, पीतांबर झकझोरी।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कों, का बरनौं मति थोरी।[1]

परमानन्ददास

परमानन्ददास जी का जीवन-परिचय वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों और वार्ताओं में प्राप्त है। उनके अनुसार वे कन्नौज के निवासी थे। ब्राह्मण थे। बचपन से ही साधु-प्रकृति के निर्लोभी व्यक्ति थे। माता-पिता ने धन कमाने के लिये आग्रह किया, परन्तु वे उनकी इच्छा पूर्ण न कर सके। उन्होंने अपना विवाह भी नहीं किया और अधिकांश साधुओं का संग ही करते रहे। वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पूर्व ही वे 'स्वामी' आस्पद से प्रसिद्ध हो गये थे।[2] एक बार मकर-संक्रान्ति के पर्व पर प्रयाग आये। वहीं स्वप्न में उन्हें नवनीतप्रिय जी के दर्शन हुए और वे वल्लभाचार्य जी से जाकर मिले। उस समय वे विरह के पद गाया करते थे। श्री वल्लभाचार्य जी के समक्ष भी उन्होंने विरह का पद गाया। आचार्य जी ने उनसे बाललीला का पद गाने के लिये कहा। तब उनकी कृपा से उन्होंने नन्दालय की लीलाएँ गाईं। तब से वे विशेषकर बाललीला के पद ही गाने लगे। 'चौरासी वार्ता'कार के अनुसार गुसाईं जी के शब्दों में "जैसे कुम्भनदास

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ६४४।

[2] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, परमानन्ददास की वार्ता, भावप्रकाश, पृ० ७८९।

कों किसोर लीला में निरोध भयौ, सौ तैसे बाललीला में परमानन्ददास कों निरोध भयौ है।"[1] बाललीला ही परमानन्ददास का विशिष्ट काव्य-विषय है। भावप्रकाशकार के अनुसार—'परमानन्ददास ने नन्दालय की लीला और बाल-लीला बोहोत वर्णन किये हैं'।[2] इसीलिये एक बार वैष्णवों ने परमानन्ददास की परीक्षा लेनी चाही, क्योंकि उनके अनुसार—'आचार्य जी के हृदय का अभिप्राय तो रासलीला है। वह परमानन्ददास ने जानी कि नहीं।' वैष्णवों के प्रश्न करने पर परमानन्ददास जी ने गोपियों के प्रेम के सम्बन्ध में यह पद गाया :—

गोपी प्रेम की धुजा।
जिन गोपाल कियौ अपने वस, उर धरि स्याम भुजा। इत्यादि।[3]

गोपी-प्रशंसा के पद सुन कर वैष्णवों को समाधान हुआ। इस प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि आचार्य जी एवं वैष्णवों द्वारा बालभाव की उपासना होने पर भी गोपीभाव को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था और परमानन्ददास गोपियों के मधुर प्रेम के प्रति भी उतने ही आसक्त थे।

परमानन्ददास जी ने रासलीला आदि शृंगार के भी अनेक पद लिखे हैं। जब जैसी लीला उनको स्फूर्त हुई, वैसी ही लीला का वे गान करते थे। उनके पदों में गोपीभाव के अनेक सुन्दर पद हैं साथ ही वे गोपीभाव के नायिकात्व से सखीत्व की ओर बढ़े हैं। धीरे-धीरे राधाकृष्ण की युगल-लीलाओं का सखीभाव से गान ही उनके काव्य का प्रधान विषय हो गया है। सखीभाव के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि जब वृन्दावन का रंग लगता है, तभी देहादि का अभिमान मिटता है; विषयी व्यक्तियों का संग छूटता है और मनुष्य का पुरुष-भाव समाप्त होकर सखी-भाव उत्पन्न होता है :—

लगै जो स्री वृन्दावन रंग।
देह अभिमान सबै मिटि जैहै, अरु विषयिन कौ संग।
सखीभाव सहज होय सजनी, पुरुष भाव होय भंग।
स्री राधावर सेवत सुमिरत, उपजत लहर तरंग।
मन कौ मैल सबै छुटि जैहै, मनसा होय अपंग।
परमानन्दस्वामी गुन गावत, मिटि गये कोटि अनंग।[4]

---

[1] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृ० ८३३।

[2] वही, भावप्रकाश पृ. ८३३।

[3] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृ० ८२५–८२६।

[4] परमानन्दसागर, अलीगढ़, पद ८३७।

वार्ताओं के अनुसार भी उनके जीवन के अन्तिम समय की साधना सखी-भाव की ही ज्ञात होती है। अन्तिम समय में जब गुसाईं जी ने पूछा कि अब तुम्हारा मन कहाँ है, तब परमानन्ददास ने श्री राधाप्राधान्य का यह पद गाया :—

राधे बैठी तिलक संवारति।
मृगनैनी कुसुमाकर धरि, नन्द सुवन कौ रूप विचारति।
इत्यादि।[1]

वार्ताकार का कथन है कि इस पद को कह कर "या प्रकार जुगल स्वरूप की लीला में मन लगाय के परमानन्ददास देह छोड़ि के श्रीगोवर्धननाथ जी की लीला में जाय के प्राप्त भये।[2] सखीभाव का प्राप्तव्य युगल लीलाएँ ही हैं।

राधाचरण-उपासक परमानन्ददास का एक पद और देखिये :—

धनि यह राधिका के चरण।
है सुभग सीतल सुकोमल, कमल कैसे बरन।
रसिकलाल मन मोदकारी, विरह सागर तरन।
विवस 'परमानन्द' छिन छिन, स्याम जाकी सरन।

नीचे परमानन्ददास जी का सखीभाव का एक और पद प्रस्तुत है···

पौढे रंगमहल गोविन्द।
राधिका सङ्ग सरद रजनी, उदित पूरन चन्द।
विविध विचित्र चित्र चित्रित कोक कोटिक फंद।
निरखि निरखि विलास विलसत, दम्पती रसकंद।
मलय चंदन अंगलेपन परसपर आनन्द।
कुसुम विजना ब्यार ढोरैं, सजनि 'परमानन्द'।

कृष्णदास

कृष्णदास जी का जीवन-परिचय वार्ता-साहित्य में प्राप्त है। वे कुशल संयोजक और सम्प्रदाय के कट्टर भक्तों में से थे। श्रीनाथ जी के मन्दिर की व्यवस्था का भार उन्हीं के ऊपर था। वार्ताओं से ज्ञात होता है कि उनके चरित्र के प्रति अनेक शंकाएँ वार्ताकार के हृदय में थीं। मीराबाई के प्रसंग में

---

[1] ८४ वै० की वार्ता पृ० ८३६।

[2] वही।

संकीर्ण साम्प्रदायिकता, विट्ठलनाथजी से विरोध, बंगाली पुजारियों की कुटी जलवा देना, कुएँ बनवाने के लिए प्राप्त रुपयों में से १०० रु० बचा लेना, गंगाबाई का संग, वेश्या का संग और इन सबके परिणामस्वरूप उनका मृत्यु के उपरांत प्रेत बनना उनके चरित्रदोष के उदाहरण माने जा सकते हैं। सम्भव है, सांप्रदायिक क्लेश के कारण ही उन पर ये आक्षेप लगाये गए हों।[1]

कृष्णदास जी का जन्म गुजरात के एक गाँव चिलोतरा में हुआ था। एक शूद्र के घर उनका जन्म हुआ। पिता गांव के मुखिया थे। एक बार लोभवश उन्होंने गाँव में आए हुए व्यापारी की चोरी करा ली और न्याय के लिए प्रार्थना करने पर उसे गाँव से निकलवा दिया। बालक कृष्णदास को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपने पिता के विरुद्ध साक्ष्य देकर राजा की सहायता से उसके १० हजार रुपये दिलवा दिये और उसके पश्चात् गृह का परित्याग कर व्रज की ओर चल पड़े।[2] वे वल्लभाचार्य जी से गोवर्द्धन में आकर मिले और उनके शिष्य हो गये। आचार्य जी ने उन्हें मन्दिर के प्रबन्ध का कार्य सौंपा।

कृष्णदास जी को सम्प्रदाय में ललिता सखी का अवतार माना जाता है।[3] ललिता जी के चार रूप हैं, मध्या रूप, जिससे वे निकुञ्जलीला का अनुभव करती हैं, ऋषभ सखा का रूप, दामोदरदास हरसानी का रूप और कृष्णदास का रूप। चौथे रूप में वे गोवर्धनधर की अधिकारी और बिलछू द्वार की मुखिया हैं, जहाँ से श्री गोवर्धननाथ रासलीला को पधारते हैं।[4]

कृष्णदास जी ने प्रायः श्रृङ्गार-लीलाओं का ही गान किया है। डॉ० दीन दयाल गुप्त के शब्दों में..."लेखक ने इनके जितने पदों—लगभग ८०० का अध्ययन किया है, वे प्रायः सब श्रृङ्गार के ही हैं, जिनमें निकुञ्ज-केलि का वर्णन है...कृष्ण की कुञ्जलीला के पद भाव और भाषा, दोनों दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं।[5] उनके पदों में प्रायः सखीभाव ही मिलता है। नीचे एक पद उद्धृत है :—

झूलत सुरंग हिंडोरे मुकुट धरि बैठे हैं नन्दलाल।
लाल काछिनी कटि पर बाँधे उर सोभित है माल।

---

[1] अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० २०९।

[2] चौरासी वैष्णवन की वार्ता पृ० ९११।

[3] वही, पृ० ९१२,

[4] वही, पृ० ९१२।

[5] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २५१।

वाम भाग वृषभानुनन्दिनी, चंचल नैन विसाल।
'कृष्णदास' दंपति छवि निरखत, अंखियां भई निहाल।

गोविन्दस्वामी

अष्टछाप के कवियों में ऊपर लिखे चारों जन श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। शेष चार कवि श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। इन सबमें गोविन्दस्वामी आयु की दृष्टि से सबसे बड़े थे, 'अष्टसखान की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैश्णवन की वार्ता' में उनका जीवन-चरित्र दिया गया है।

वार्ता के अनुसार उनका जन्म आन्तरी ग्राम में हुआ था। विरक्त होने से पूर्व उनका विवाह हुआ था और उनके एक सन्तान भी थी। विरक्त होने के पश्चात् उनकी लड़की एक बार उनसे मिलने के लिये आई थी, ऐसा उल्लेख है। सम्प्रदाय-प्रवेश से पूर्व ही वे स्वामी कहलाते थे और शिष्य करते थे। वे सुकवि भी थे। कुछ दिन महावन फिर वृन्दावन में भी उनका निवास हुआ। बाद में वे और इनकी बहिन विट्ठलनाथ जी के शिष्य हो गये और श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करने लगे।[1] उनका जन्म सं० १५६२ और अवसानकाल सं० १६४२ माना जाता है।[2]

गोविन्दस्वामी न केवल उच्चकोटि के भक्त थे, वे एक अच्छे कवि भी थे और संगीतज्ञ भी उच्चकोटि के थे। ऐसा कहा गया है कि तानसेन, जो स्वामी हरिदास जी का संगीत-शिष्य था, उनके पास भी गानविद्या सीखने के लिये जाया करता था।[3] गोविन्दस्वामी स्वामी हरिदास जी के संपर्क में आये थे और उनकी प्रशंसा में उन्होंने एक पद की रचना भी की थी।[4] संगीत और साधना दोनों ही दृष्टियों से उनका स्वामी जी के संपर्क में आना संभव ज्ञात होता है।

गोविन्दस्वामी की स्फुट पदावली डॉ० गुप्त के अनुसार २५२ पदों तक ही प्राप्त है[5] परन्तु मीतल जी के अनुसार उनके प्राप्त पदों की संख्या ६०० के लगभग है।[6] उनके अधिकांश पद राधाकृष्ण की कुञ्ज और कैशोरलीलाओं से

---

[1] दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भाव, कांकरौली तृतीय खंड, पृ० ३०७

[2] अष्टछाप-परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० २४३ और २४५।

[3] २५२ वार्ता, भाग २, पृ० १५७

[4] पद, देखिये प्रबन्ध के भाग २, अध्याय २ में।

[5] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ३८९।

[6] अष्टछाप-परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० २४५।

ही सम्बन्ध रखते हैं।[1] कुछ गोदोहन, गोचारण और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की स्तुति के भी पद हैं।

उत्सव और त्यौहारों के अनेक पदों के बीच उनके मधुर रस के भी सुन्दर पद सम्मिलित हैं। इनमें गोपियों के कान्ताभाव और सखीभाव दोनों प्रकार के पद हैं। युगल-लीलाओं की भूमिका में लिखे गये उनके पद अधिक सुंदर और काव्यात्मक हैं। कहीं राधा और कृष्ण के रूप का वर्णन है, कहीं दोनों का हिंडोरा-झूलन, कहीं अन्य प्रकार की रतिक्रीड़ाएँ वर्णित हैं। सुरति-हिंडोरे में झूलते हुए दम्पती का सखीभाव से किया हुआ कवि का दर्शन कवि-कल्पना से मंडित हैं, उदाहरण है :—

दम्पति झूलत सुरति-हिंडोरे।
गौर स्याम तन अति छवि राजत, मानों घन दामिनि जाति भौंरै।
विद्रुम खंभ जटित नग पटुली, कनिक डांडी सोभा चहुँ ओरैं।
'गोविन्द'प्रभु को देखि ललितादिक, निरखि हंसतिं नवलकिसोरैं।

छीतस्वामी

छीतस्वामी का जीवन-चरित्र वार्ता में बहुत ही संक्षिप्त है। उसके अनुसार वे मथुरा के चौबे थे। उन्हें लोग 'छीतू' कहा करते थे। वे और उनके चार साथी प्रसिद्ध गुण्डे थे और स्त्रियों को छेड़ा करते थे।[2] जाति के चौबे होने के कारण वे शिष्य भी किया करते थे, साथ ही सुकवि भी थे। एकबार उन्हें मसखरी सूझी कि विट्ठलनाथ जी की परीक्षा ली जाय। एक फूटे नारियल में राख भरकर, तथा एक खोटा रुपया लेकर वे पांचौ गोकुल गये। पहले गोस्वामी जी के पास छीतू पहुंचे और भेंट अर्पित की। विट्ठलनाथ जी ने नारियल को तोड़ा तो उसमें से गरी निकली। छीतू उनसे बहुत प्रभावित हुए और भक्त होकर बाहर निकले, बाद में वे उन्हीं के शिष्य हो गये।[3]

वे बीरबल के 'पुरोहित' थे। एक बार वे उनके यहां 'बरसौंड़ी' लेने गये। वहां उन्होंने विट्ठलनाथ जी का प्रशंसात्मक पद गाया। बीरबल ने इन्हें टोका तो वे उसके यहां से रुष्ट होकर चले आये। बाद में गोस्वामी जी ने वैष्णवों

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ३८५–३८९।
[2] दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खंड, पृ० २८६।
[3] वही, पृ० २८६–२९३।

से कह कर उनकी जीविका का प्रबन्ध करा दिया, जो उन्होंने कठिनता से स्वीकृत की।[1]

डा० दीनदयाल गुप्त ने छीतस्वामी का जन्म सं० १५६७ और गोलोक-गमनकाल सं० १६४२ माना है।[2]

गुप्त जी के अनुसार[3] छीतस्वामी के प्राप्त पद संख्या में ७२ और मीतल जी के अनुसार २०० हैं।[4] उनकी कविता भक्तिभाव से भरी है। भाव और भाषा दोनों में सरलता है। रास के पद अधिक अलंकृत और परिमार्जित हैं। संयोग श्रृङ्गार लीलाओं में ही सखीभाव-सम्बन्धी पद भी प्राप्त होते हैं—

उदाहरण—

राधे रूप निधान, गुण आगरी, नन्दनन्दन रसिक संग खेली।
कुंज के सदन अति चतुर वर नागरी, चतुर नागर सों करति केली।
नील पट तन लसे, पीत कंचुकी कसे, सकल अङ्ग भुवन निरूप रेली।
परम आनन्द सों लाल गिरिधरन हृदै सों लागि भुजनि करि मेली।
'छीतस्वामी' नवल वृषभानुनन्ददिनी, करति सुखरासि पीय संग नवेली।
सहचरी मुदित सब जाल-रन्ध्रनि निरखि, मानों अपनो भाग करति केली।[5]

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास अष्टछाप के वयोवृद्ध कवि कुम्भनदास जी के सबसे छोटे सातवें पुत्र थे। उनके पांच बड़े भाई सांसारिक प्रवृत्ति के थे। एक भाई कृष्णदास को सिंह ने गाय चराते हुए मार डाला था। इन्हें कुम्भनदास जी ने कामना कर प्रभु से मांगा था कि मेरा पुत्र भक्त हो। चतुर्भुजदास का जन्म उनकी इसी प्रार्थना के अनुसार हुआ। इनका निवास-स्थान भी जमुनावतौथा और ये जाति के गोरवा क्षत्रिय थे।[6]

कहते हैं कि जन्म के ४१ वें दिन ही कुम्भनदास जी ने इन्हें गोस्वामी जी से नाम सुनवाया और उस समय यह बालक बहुत ही मुसकरा रहा था।

---

[1] वही, पृ० २९३–२९९।
[2] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० २७८।
[3] वही, पृ० ३९०।
[4] अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० २६३।
[5] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ० ६४६।
[6] २५२ वै० की वार्ता, पृ० ३३३–३३३।

चतुर्भुजदास का पालन-पोषण उनके पिता और गोस्वामी जी की देखरेख में हुआ।[1] प्रारम्भ से ही इन्हें भक्ति के संस्कार मिले और कवित्व के बीज भी इनमें प्रारम्भ से ही जमने लगे थे। एक दिन अपने ग्राम में बैठे हुए इन्होंने और इनके पिता ने श्रीनाथ जी के मन्दिर का प्रकाश देखा। कुम्भनदास जी ने उसे देखकर एक कविता का चरण कहा जिसका दूसरा चरण चतुर्भुजदास ने उसी भक्ति-भावना की पैठ के साथ पूरा कर दिया।[2]

चतुर्भुजदास जी का विवाह भी हुआ था परन्तु उनकी स्त्री की शीघ्र ही मृत्यु हो गई। बाद में विट्ठलनाथ जी के बहुत अधिक कहने से उन्होंने एक सजातीय विधवा स्त्री से विवाह किया। उनके पुत्र भी हुआ, जिसका नाम राघवदास था। वह भी भक्त और सुकवि हुआ।[3]

चतुर्भुजदास के जन्मकाल के सम्बन्ध में मतभेद है। 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' के अनुसार उनका जन्म सं० १५९७ वि० है। डा० गुप्त ने इसे ही स्वीकार किया है परन्तु इस हिसाब से अष्टछाप की स्थापना-काल सं० १६०२ में उनकी अवस्था केवल ५ वर्ष की ठरहती है। ऐसी छोटी आयु में उनका इस मंडली में सम्मिलित होना, कुछ संभव नहीं लगता। अतः पारीख जी और मीतल जी इसे अनुमान से १५८७ वि० मानते हैं। इनका निधनकाल सं० १६४२ है, इन्होंने भी विट्ठलनाथ जी के गोलोकगमन का समाचार सुन कर अपने प्राण त्याग दिये थे।[4]

चतुर्भुजदास जी ने परंपरानुसार पदों की रचना की है। उनके लगभग ३०० पद-प्राप्ति का अनुमान है। उनके पदों का विषय भी वर्षोत्सव और नित्य कीर्तन के अवसरों का है। अपने पिता के समान हो उन्होंने भी मधुर रस का गान ही अधिक किया है। उनके पद कविता की दृष्टि से उत्तम हैं। सखीभाव का एक पद उद्धृत है...

प्यारी के गावत कोकिला मुख मूँदि रही,
पिय के गावत खग नैना मूँदि रहे सब।
नागरि के रस गिरिधरन रसिकवर,
मुरलि मलार राग अलाप्यौ मधुर जब।

---

[1] वही, ३३७।

[2] वही, पृ० ३४१–३४२।

[3] अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय पृ० २६२।

[4] अष्टछाप परिचय, पृ० २७२।

दंपति तान बंधान सुनहिं ललितादिक,
बारहि तन मन फेरहिं अञ्चल तब ।
'चतुर्भुज' प्रभु कों निरखि सुख दम्पति
कहत कहा धौं कीजै भवन अब ।[1]

श्री नन्ददास जी

'भक्तमाल' के अनुसार ये रामपुर के निवासी और जाति के शुक्ल ब्राह्मण थे । ये चन्द्रहास के बड़े भाई थे ।[2] रामपुर का समर्थन वार्ता के 'भावप्रकाश' तथा सोरों-सामग्री से भी होता है ।[3] वार्ता में उनको सनाढ्य ब्राह्मण लिखा गया है । सनाढ्यों में शुक्ल भी होते हैं, अतः दोनों कथनों को मिलाया भी जा सकता है । सोरोंसामग्री में उन्हें तुलसीदास जी का भाई लिखा गया है परन्तु नाभा जी ने इसका उल्लेख नहीं किया है । यह प्रश्न साहित्यिकों के बीच विवादग्रस्त है । वैसे वार्ता इस सम्बन्ध में सोरों-सामग्री का ही समर्थन करती हैं ।

भक्त होने से पूर्व नन्ददास की लौकिक विषयों में बहुत प्रीति थी । एक खत्री की पत्नी पर ये ऐसे आसक्त हुए कि इन्होंने अपनी द्वारका की यात्रा भी स्थगित कर दी और नित्य उसे ही जाकर देखा करते थे । बेचारे खत्री की बड़ी बदनामी होने लगी । वह विट्ठलनाथ जी का सेवक था अतः गांव छोड़कर गोकुल चला आया । नन्ददास जी भी उनके पीछे पीछे गोकुल आ गये । वैष्णव विट्ठलनाथ जी के पास पहुँचे । विट्ठलनाथ जी ने भोजन के लिये जब पत्तल लगाई, तब एक पत्तल अधिक थी । खत्री के पूछने पर विट्ठलनाथ जी ने कहा, "वह जो तुम्हारे साथ आया है, वह कहां भोजन करेगा ।" गोस्वामी जी ने नन्ददास को बुलवाया और भोजन कराया । नन्ददास गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से ऐसे प्रभावित हुए कि उनके शिष्य हो गये और सांसा[illegible] विषयों के प्रति उनकी विरक्ति हो गई ।[4]

ये सूरदास जी के साथ ६ महीने परासौली में रहे और उनसे काव्य-शिक्षा प्राप्त की । वार्ता के तीसरे और चौथे प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ६४६

[2] भक्तमाल, नाभा जी, ११० ।

[3] अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० ३०२ ।

[4] दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० २५६–२५८ ।

उन्हें पत्र लिखने और ब्रज में आने का उल्लेख है। वार्ता में इनके और भी बहुत से चमत्कार वर्णित हैं।

डाक्टर गुप्त के अनुसार इनका जन्म सं० १५९० और गोलोकवास सं० १६३९ है।[1]

नन्ददास जी अष्टछाप के आठवें सदस्य थे। अष्टछाप की स्थापना सं० १६०२ में हुई, परन्तु नन्ददास जी सं० १६०७ में सम्प्रदाय में आये और तभी से ये उसके सदस्य बने। इनके पहले विष्णुदास छीपा अष्टछाप के आठवें सदस्य थे।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से सूरदास और परमानन्ददास जी के पश्चात् अष्टछाप में इन्हीं का स्थान है। इनकी रचनाएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। विशेषकर अपनी काव्यशास्त्रीय दृष्टि के कारण इनका अष्टछाप में अद्वितीय स्थान है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले भी नन्ददास जी काव्यरचना करते थे। सम्प्रदाय-प्रवेश के अनन्तर तो इन्हें कीर्तन-सेवा प्राप्त हो ही गई थी। इनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. अनेकार्थ मंजरी, २. मान-मंजरी, ३. रस-मंजरी, ४. रूप-मंजरी, ५. विरह-मंजरी, ६. प्रेम-बारहखड़ी, ७. स्याम-सगाई, ८. सुदामा-चरित, ९. रुक्मिणी-मंगल, १० भंवर-गीत, ११. रास-पंचाध्यायी, १२. सिद्धान्त-पंचाध्यायी, १३. दशमस्कंध-भाषा, और १४. गोवर्द्धनलीला। इनका १५ वां ग्रन्थ 'पदावली' है।

नन्ददास जी ने अपने काव्य में युगल-लीलाओं का गान किया है। इन लीलाओं में कान्ताभाव और सखीभाव दोनों ही हैं। श्रीकृष्ण के साथ गोपियों के सम्बन्ध को आध्यात्मिक रूप देने की ओर भी उनका ध्यान रहा है। गोपियों को उन्होंने पंच भूतों से अलग शुद्ध प्रेम का स्वरूप माना है :—

> सुद्ध प्रेममय रूप, पंचभूतन तें न्यारी।
> तिनहिं कहा कोउ कहै, ज्योति सी जग उजियारी।[2]

इन रचनाओं में दिव्य वृन्दावन-लीला आदि के जो वर्णन हुए हैं, उनसे ऐसा ज्ञात होता है कि इनका संपर्क वृन्दावनीय सम्प्रदायों से आया अवश्य

---

[1] अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० २६१–२६२।

[2] रास पंचाध्यायी, श्री उमाशंकर शुक्ल, अध्याय १, छ० सं० ३१।

था। प्रसिद्ध है कि ये स्वामी हरिदास जी से एक बार वृन्दावन में मिले थे और उनके उपास्य ठाकुर श्री कुञ्जविहारी के दर्शन कर निकुञ्ज-सम्बन्धी एक पद बना कर भेंट किया था। यह पद इस प्रकार है :—

सब सुख-रासि लाडिली राधा।
जाके रस बस कुंजविहारी, सुमिरत हरत जनम की बाधा।
नित्यविहार कुंज वृन्दावन, व्रजवासिन की पूरन साधा।
'नंददास' राधा मोहन भजि, जोरी जुगल अनंग अगाधा।[1]

नंददास जी के पदों में सखीभाव के पद पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं। राधा-प्राधान्य भी इन पदों में द्रष्टव्य है। एक पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है:—

चांपत चरन मोहन लाल।
पलिका पौढी कुँवरि राधिका, सुन्दरि नवल विशाल।
कबहुँक कर गहि नैन सिरावत, कबहुँ छुवावत भाल।
'नन्ददास' प्रभु छवि निरखत अति, प्रीति दियैं प्रतिपाल।[2]

श्री विष्णुदास छीपा

विष्णुदास छीपा श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। 'भावप्रकाश' के अनुसार ये आगरे के पास एक छीपा के घर उत्पन्न हुए थे। आगरे में जाकर छपे कपड़े बेच आया करते थे। एक बार आचार्य जी आगरे आये। कृष्णदास उनके साथ थे। विष्णुदास जी के कुछ कपड़े आचार्य जी को पसंद आ गये। विष्णुदास ने मनचाहे दाम माँग लिये। कृष्णदास ने स्वीकार कर लिया। आचार्य जी में तेजस्विता देखकर छीपा उनकी शरण में आ गये। पहले ये अष्टछाप के कवियों में प्रतिष्ठित थे। बाद में वृद्धावस्था के कारण अशक्त हो जाने पर इनकी जगह नन्ददास जी आ गये और इन्होंने द्वार-रक्षा का काम ले लिया। वार्ता से इनका शास्त्रज्ञान प्रसिद्ध है।

विष्णुदास जी के पदों का कोई संकलन अभी तक अलग से प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रसंगवश कीर्तनसंग्रहों में उनके जो पद संकलित हो गये हैं, वे ही उनके अध्ययन के आधार हैं। सखीभाव-सम्बन्धी उनका एक पद नीचे दिया जाता है :—

---

[1] नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में सुरक्षित 'हरिदास जी की वाणी' के प्रारम्भ में दिया हुआ पद।

[2] नन्ददास-ग्रन्थावली, श्री उमाशंकर शुक्ल पद सं० १०५, पृ० ३१०।

झूलत हंससुता के कूल।
सघन निकुञ्ज पुञ्ज मधुपन के अद्भुत फूले फूल।
ललित लता लिपटी ललितादिक, बरसत आनन्द मूल।
घनदामिनि ज्यों राजत मोहन निरखि गई मति भूल।
रमा आदि सुरनारी सहचरि, नाहिं कोउ समतूल।
'विष्णुदास' गिरिधरन छबीलो, सर्वस तहां अनुकूल।[1]

श्री दामोदरदास हरसानी

ये आचार्य वल्लभ के प्रथम शिष्य थे। इनका जीवन-परिचय वार्ता में सर्वप्रथम दिया हुआ है। आचार्य जी इन्हें 'दमला' कहा करते थे। आचार्य जी ने कहा था कि यह पुष्टिमार्ग तुम्हारे लिये ही प्रकट हुआ है। सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ये प्रमाण माने जाते थे। वार्ता से ज्ञात होता है कि विट्ठलनाथ जी ने 'शृङ्गार-रस-मंडन' ग्रन्थ इन्हीं की सहायता से लिखा था।[2] इससे ज्ञात होता है कि अन्तिम समय में ये भी शृंगार-रस के पद ही लिखने लगे थे। 'कीर्तन-संग्रह' में इनके पद संकलित हैं।

उदाहरण :—

हो हो होरी खेलन जैयै।
आज भलौ दिन है मेरी प्यारी, नित ही सुहाग बढैयै।
सोवत जाय जगाय सुन्दरी, करि उबटनों सीस न्हैयै।
कुञ्ज ओट ललिता हरिदासी, राग 'दामोदर' गैयै।[3]

श्री गोपालदास जी

ये वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से सिद्ध है कि ये कवि भी थे। इस सम्प्रदाय में अनेक गोपालदास हुए हैं। ये सेठ पुरुषोत्तमदास के पुत्र थे। इन्हें सांप्रदायिक सिद्धान्तों का भी अच्छा ज्ञान था। लीला में इनका नाम 'गानकला' है।[4] इनकी रचनाएँ कीर्तन-संग्रहों में प्राप्त हैं। एक उदाहरण है :—

---

[1] कीर्तन-संग्रह, भाग २, पृ० २४०।

[2] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृ० २५।

[3] कीर्तन-संग्रह, भाग २, पृ० ४५।

[4] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, भाव सहित, पृ० २४२।

देखो हरकन नवरंग पाग की।
वाम भाग वृषभानु लाडिली, चितवन अति अनुराग की।
सुखसागर गिरिधरन छबीलौ, मूरति परम सुहाग की।
मदनमोहन राधे जू जोरी, 'गोपालदास' के भाग की।[1]

श्री लालदास जी

वार्ता के अनुसार इनके पिता गोस्वामी जी के यहाँ जलघरिया थे। इनके माता-पिता छोटी अवस्था में ही चल वसे। ये गोस्वामी जी के वालकों के साथ ही खेलते थे। इनका नाम तुलसीदास था। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी इन्हें स्नेह से लाल जी कहते थे। वड़े होने पर गोस्वामी जी ने इन्हें गोपीनाथ जी पधरा दिये। गोस्वामी जी की आज्ञानुसार ये सिन्ध प्रदेश में जाकर रहे और वहाँ पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रचार किया।[2] वार्ता से प्रकट है कि ये 'लालदास' के नाम से कविता करते थे। इनके युगल-लीला के पद सुन्दर हैं। इनकी परंपरा में केवलराम आदि अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए हैं। इनकी परंपरा को 'वल्लभ संप्रदाय की आठवीं गद्दी' कहा जाता है। इस संप्रदाय के साहित्य का पृथक् से अध्ययन अपेक्षित हैं। यहाँ लालदास जी की एक पद-रचना उद्धृत है—

जेंवत दोऊ रंग भरे।
चार भांति के व्यंजन आने, षटरस रुचिर करे।
गोपीजन के मंडल राजत, लोक वेद विसरे।
सकल मनोरथ पूरन नँदनन्दन प्रति प्रति रूप धरे।
वालर केलि मुदित गिरिधारी, सुख विलसत सगरे।
'लालदास' प्रभु यहि विधि क्रीडत, भोजन अखिल करे।[3]

श्रीमती गंगाबाई (विट्ठल गिरिधरन)

गंगाबाई की माता रूपवन्ती वहुत सुन्दर और धनवान थीं। वे महावन में रहती थीं। एक वार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी महावन पधारे। उन्हें देख कर

---

[1] कीर्तन-संग्रह भाग ३ पृ० ११७।

[2] दोसौ वावन वैष्णवन की वार्ता, भाव सहित, पृ० २५२ से २५४ तक।

[3] कीर्तन-संग्रह, भाग ३, पृ० १०२।

इस खतरानी की उनमें आसक्ति हो गई और एक दिन गोकुल जाकर इन्होंने गोस्वामी जी से अपना मनोरथ पूर्ण करने के लिये कहा। गोस्वामी जी इसके लिये प्रस्तुत न हुए। तब एक दिन स्वप्न में उनको ऐसा लगा कि उनका और गोस्वामी जी का संग हुआ है। इनके गर्भ भी रहा और एक सुन्दर कन्या ने जन्म लिया। इस कन्या का नाम ही गंगाबाई था।

गंगाबाई जी की गोस्वामी जी में बड़ी भक्ति थी। 'भावप्रकाश' के अनुसार ये १०५ वर्ष जीवित रहीं। जब श्रीनाथ जी मेवाड़ गये तब ये भी उनके साथ थीं।[1]

वार्ता के अनुसार 'विट्ठल गिरिधरन' की छाप के कीर्तन गंगाबाई के ही हैं।[2] इनके सखीभाव के अनेक पद प्राप्त हैं। रचनाओं में एक पद उद्धृत है :

बैठे फूल-महल में दोऊ राधा और गिरिधारी।
फूलन के हार सिंगार फूलन को, फूलन को फूल टिपारौ धारी।
फूल की सेज, गेंदुवा तकिया, फूलन की पिछवारी।
फूले गावत बैन बजावत, राग रंग व्है भारी।
फूले मधुप कोकिला निरखत, बहत पवन सुखकारी।
श्री 'विट्ठल गिरिधरन' लाल पर तन मन धन सब वारी।[3]

श्री पर्वतसेन

वार्ताओं के संपादकों ने '२५२ वैष्णवन की वार्ता' के एक वैष्णव क्षत्री चंदनवारौ, वार्ता सं० ८६ को ही पर्वतसेन बताया है। इनके पिता भी गोस्वामी जी के शिष्य थे। ये आगरा के निवासी थे परंतु पीछे गोकुल में आकर रहने लगे थे। गोस्वामी जी की अरगजा इत्यादि से सेवा करते थे[4]। इनके अनेक पद प्राप्त हैं :—

नंदकिसोर किसोरी की जोरी, हो हो हो कहि खेलत होरी।
ग्वाल बजावत ढपन, मृदंग, मोहन मुरली धुनि थोरी।

---

[1] दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० ४४४ से ४५० तक।

[2] वही, पृ० ४४४।

[3] कीर्तन-संग्रह भाग ३, पृ० १६५।

[4] दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भाग २, पृ० ६ से ९।

इत ब्रजनारि गारी देत, परसपर रंग बढ्यौ दुहुँ ओरी।
× × × ×
दूलह 'पर्वतसेन' को प्रभु, दुलहिन राधा गोरी।[1]

श्री जन भगवान

ये दोनों भाई जाति के गोरवा और ब्रजवासी थे। बचपन से ही गोस्वामी जी के शिष्य हो गये थे। ये बड़े ही उदार थे और जगत से 'उदास' रहते थे। इनका कुटुम्ब था परन्तु उसकी चिन्ता कभी न करते थे। दोनों सुकवि थे। वार्ता में ही इनके अनेक पद दिये गये हैं।[2] अलग से भी इनकी पदावली प्राप्त है।

उदाहरण :—

भोजन मोहन लाल कौ, मैं तो यह जानी।
दरसन प्यारी रूप कौ, पुतरिनि रुचि मानी।
मृदु बोलनि मीठी लगै, मोहन मृदुताई।
पटरस वारौं कोटि लौं दग चंचलताई।
चाह छिन छिन चौगनी, जेंवत रुचि ज्योंही।
जन भगवान जुगल-जस कहै तनमन त्योंही।[3]

श्री धौंधी

वार्ता के अनुसार धौंधी बड़ी जाति वाले अर्थात् मुसलमान थे। ये गवैया थे और मृदंग भी अच्छी बजाते थे। तीस बरस की अवस्था में इनके माता-पिता दोनों मर गये थे। इनका निवास-स्थान दिल्ली और आगरा के बीच कोई स्थान था। बाद में ये आगरा आकर रहने लगे। एक बार इन्हें गोस्वामी जी के दर्शन हुए और ये उनकी शरण हुए। एक अवसर पर इन्होंने नवनीत-प्रियजी के सामने एक पद गाया। प्रसन्न होकर नवनीतप्रियजी ताल देने लगे, ऐसा कहा गया है।[4] इन्होंने बहुत से पदों की रचना की है।

---

[1] कीर्तन-संग्रह, भाग २ पृ० १३७।

[2] दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० १२३ से १२८ तक।

[3] कीर्तन-संग्रह, भाग ३, पृ० १६९।

[4] दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० २४४ से २८५ तक।

उदाहरण :—

दुहिबौ दुहाइबौ भूलि गये हो।
सेली हाथ बछरनवा मिलवत, नूपुर को ठमकार भयौ हो।
नव जोवन नई चुनरि के रंग, घूंघट में दुरि जुरि चितयौ हो।
'धौंधी' के प्रभु दंपति परसपर, प्यारी प्यारौ रिझयौ हो।[1]

राजा आसकरन

राजा आसकरन नरवरगढ़ (ग्वालियर) के राजा थे। 'आइने अकबरी' के अनुसार ये राजा भीमसिंह कछवाहा के पुत्र थे। ये अकबर के विश्वस्त राजाओं में से एक थे।[2] 'भक्तमाल' में उनके वंश, शूरवीरता और विमल वाणी की प्रशंसा की गई है।[3] इनका जन्म सं० १६१५ माना जाता है। नाभा जी के अनुसार ये रामानन्दी सम्प्रदाय के कील्हदेव जी के शिष्य थे परन्तु 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का शिष्य बताया गया है।[4] इनके अधिकांश पद वात्सल्य भक्ति से सम्बन्धित हैं परन्तु शृङ्गार के पद भी इन्होंने लिखे हैं। एक सखीभाव-संबंधी पद उद्धृत है—

तुम पोढौ, हौं सेज बनाऊं।
चांपौं चरन, रहौं पाटी तर, मधुरे सुर केदारौ गाऊं।
सहचरि चतुर सबै जुरि आईं, दम्पति सुख नैननि दरसाऊं।
'आसकरन' प्रभु मोहन नागर, यह सुख स्याम सदा हौं पाऊं।[5]

श्री चतुरबिहारी

ये गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सेवक थे। आगरा के एक क्षत्रिय कुल में इनका जन्म हुआ था। वार्ता के अनुसार ये कवि थे और गोस्वामी जी को लीला के पद बनाकर सुनाया करते थे।[6] कीर्तन-संग्रहों में इनके पद प्राप्त हैं।

---

[1] कीर्तन-संग्रह, भाग ३, पृ० १६२।

[2] आइने अकबरी, भाग १, पृ० ५३१।

[3] भक्तमाल, रूपकला-संस्करण, पृ० ८८४।

[4] दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, सं० १२३।

[5] कीर्तन-संग्रह, भाग ३, पृ० २२१।

[6] दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भाग ३, पृ० ३२७ से ३३१ तक।

उदाहरण :—

छूटत फवारे आगैं नीके, विराजत दोऊ उसीर महल।
ललितादिक सखी गावैं बजावैं, रस की चहल पहल।
जब ये फल लै धरत धार पर, फिर व्है रहत मानी चहल।
'चतुरविहारी' गिरिधर प्यारी की सखी, भूली विजना की टहल।[1]

श्री हरिनारायन श्यामदास

ये राजस्थान के निवासी थे। श्री विट्ठलनाथ जी के सेवक थे। इनकी रचनाओं में सखीभाव का अच्छा प्रकाशन हुआ है :—

उदाहरण :—

एक सेज पौढे जुगल किसोर।
नंदनंदन वृषभानुनंदिनी, सुरतिकेलि की उठत झकोर।
बिजना ब्यार करति ललितादिक, चंदन भरि धरी कमोर।
बिजना ब्यार करति ललिता दिक, चंदन भरि भरि धरी कमोर।
'हरीनरायन स्यामदास' के प्रभु, माई विनती करत हैं दोऊ कर जोर।[2]

श्री मुरारीदास

ये रूपमुरारी या मुरारीदास के नाम से प्रसिद्ध हैं। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी इनके गुरु थे। 'भावसिन्धु' में इनकी वार्ता दी गई है। इनकी रचना युगल-उपासना-सम्बन्धी है।

उदाहरण :—

रसिक दोऊ खेलन लागे होरी।
उततें निकसे नन्दनन्दन, इत बरसाने की गोरी।
बाजत ताल मृदंग, झांझ, ढप, मुरली मधुर धुनि थोरी।
खेल मच्यौ ब्रजवीथिन महियां, कुञ्ज कुञ्ज वर खोरी।
'मुरारीदास' प्रभु फगवा दीयौ, लोचन लगी ठगौरी।[3]

---

[1] कीर्तन-संग्रह, भाग ३, पृ० १२८।

[2] कीर्तन-संग्रह, भाग ३, पृ० २१८।

[3] कीर्तन-संग्रह, भाग ३, पृ० २३०।

श्री कृष्णजीवन लछीराम

ये गोस्वामी गोकुलनाथ जी के शिष्य थे। इनका लिखा 'करुणाभरण' नाटक प्रसिद्ध है। मिश्रबन्धुओं ने इनका एक ग्रन्थ 'योग सुधानिधि' और लिखा है।[1] यह प्रमाण की अपेक्षा रखता है। इनकी पदावली प्राप्त है—

उदाहरण :—

चलो सखी बाग तमासे प्यारौ मोहन खेलत होरी।
सगरी सखी मिलि देखन निकसी, पातरी पंवारी गोरी भोरी।
काहू पै गुलाल, काहू पै केसर, अबीर लिये भरि-भरि झोरी।
'कृष्णजीवन लछीराम' के प्रभु बने किसोर किसोरी।[2]

गो० गोकुलनाथ जी

गो० गोकुलनाथ जी श्री विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पौत्र थे। इनका जन्म सं० १६०८ में अडैल में हुआ था। इन्होंने ९० वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की। अपने भाइयों में ये सबसे अधिक विद्वान्, सम्प्रदाय के मर्मज्ञ और लोकप्रिय थे। वार्ताकार के रूप में यह हिन्दी-जगत् में प्रसिद्ध हैं। वास्तव में ये वार्ताओं के कथाकार हैं और हरिराय जी इनके संपादक हैं। गोविन्दस्वामी जी से इन्होंने भाषा, काव्य और संगीत का ज्ञान प्राप्त किया था। इनकी गद्य-रचना के प्रमाण तो अनेक ग्रन्थ हैं ही इनके लिखे स्फुट पद भी प्राप्त हैं।[3]

उदाहरण :—

खेलत हैं व्रज में हरि होरी।
ग्वाल-बाल ललना संग लीने, देत कूक मिलि व्रज की खोरी।
अगर जवादि कुमकुमा केसर, चन्दन वन्दन रोरी।
सरस फुलेल अबीर अरगजा, सुरंग गुलाल लिये भरि झोरी।
× × × ×
कुसुमनि वृष्टि करत इन्द्रादिक, आये खेल फेरि सिंघपौरी।
'गोकुलनाथ' वारत तन मन धन, वलि वलि वलि कीनौ री।[4]

---

[1] मिश्रबन्धु विनोद, भाग ३, पृ० ३९३।

[2] कीर्तन-संग्रह, भाग २, पृ० १५२।

[3] अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, पृ० ७५–७९।

[4] कीर्तन-संग्रह, भाग २, पृ० २१९।

श्री हरिराय जी

यद्यपि वार्ताकार के रूप में गोकुलनाथ जी का नाम ही लिया जाता है परन्तु वार्ताओं का संपादित रूप हरिराय जी की ही देन है। ये विट्ठलनाथ जी के द्वितीय पुत्र गोविन्दराय जी के पौत्र तथा कल्याणराय जी के पुत्र थे।

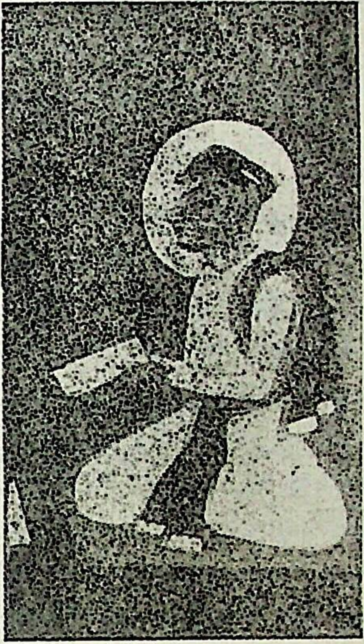

श्री हरिराय जी

(श्री प्रभुदयाल मीतल से प्राप्त)

ये अपने सम्प्रदाय के प्रचारक और उसके मर्मज्ञ हुए हैं। वार्ताओं पर 'भावप्रकाश' नामक टिप्पणी लिख कर इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध की जानकारी को इन्होंने बहुत बढ़ाया है। यद्यपि ये रचनायें अधिकांश में पुराणकोटि की हो गई हैं, फिर भी इनमें बहुत सी महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। हरिराय जी ने सं० १६४७ में जन्म लिया था और सं० १७७२ तक वे जीवित रहे।[1] अपने जीवन का अधिकांश भाग इन्होंने सम्प्रदाय के प्रचार में ही लगाया।

---

[1] अष्टछाप परिचय प्रभुदयाल मीतल, पृ० ७९—८१।

वल्लभ सम्प्रदाय के संस्कृत और हिन्दी साहित्य में इनकी रचनाएँ सर्वाधिक हैं। अभी नवीन खोज में इनके पांच सौ पदों का संकलन प्राप्त हुआ है।

इनकी 'भाव-प्रकाश' टिप्पणी से ज्ञात होता है कि इनको सखीभाव की उपासना के प्रति विशेष ममत्व था। अपने सम्प्रदाय को सखीभाव से ओतप्रोत कर देने के लिए इन्होंने वार्ताओं में उल्लिखित सभी वैष्णवोंके लीला-सम्बन्धी सखी-रूपों और नामों का निश्चय किया, जिनका परिचय पीछे दिया जा चुका है। इनकी ब्रजभाषा की कविता भी बड़ी भावपूर्ण और प्रायः सखीभाव से सम्बन्धित होती थी। कविता में ये 'रसिक' छाप रखते थे। उदाहरणार्थ एक पद प्रस्तुत है :—

हंसि हंसि दूध पीवत नाथ।
मधुर कोमल वचन कहि कहि, प्रान प्यारी साथ।
कनक कटोरा भरयौ अमरित, दियौ ललिता हाथ।
लाडिली अंचवाय पहलैं, पाछें आप अँचात।
चिन्तामनि चित वस्यौ सजनी, निरखि पिय मुसकात।
स्यामास्याम की नवल छवि पर, 'रसिक' वलि-वलि जात।[1]

श्री जगन्नाथ कविराय

ये गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की चतुर्थ पुत्री यमुना जी के पुत्र थे। 'संप्रदाय कल्पद्रुमकार' इनके भतीजे थे। इनका संस्कृत-ग्रन्थ 'गंगालहरी' प्रसिद्ध है। इनके ब्रजभाषा के भी अनेक पद प्राप्त हैं।

उदाहरण :—

कान्ह रस भीनी ग्वालिनी ओर गोरस तजि कुल कान।
ना घर में ना अंगना वाको, मन जो लाज के पान।
जोवन रूप, रिझौने नैननि सें, वाकी परी चितवन की बान।
डफ मुरली सुनि गई कोर तजि, पानी के उत्तर ठान।
खेलत मोहन गहि काजर दै, हँसी पीत पट तान।
'जगन्नाथ कविराय' के प्रभु सों, फाग खेलत खिलरान।[2]

---

[1] चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दामोदरदास हरसानी के भाव में उद्धृत।

[2] कीर्तन-संग्रह भाग २ पृ० १३४—१३५।

श्री द्वारकेश

द्वारकेश जी का जन्म सं० १७५१ है। ये पंचम गृहाधिपति कामवन के गोस्वामी थे। इन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में ही रचना की है। इनकी रचना सरस है। नीचे युगल-लीला संबंधी इनका एक पद उद्धृत है।—

जेंवत श्री वृषभानुनन्दिनी कान्ह कुँवर की परछांई।
जोइ जोइ व्यंजन गावत रुचि सों, सोइ सोइ सब ललिता ले आई।
हित सों जिमावत मोहन प्यारौ, मधु मेवा पकवान मिठाई।
अति अनुराग बढ्यौ जु परसपर, 'द्वारकेश' तहाँ वलि वलि जाई।[1]

श्री नागरीदास जी

नागरीदास नाम के अनेक भक्त-कवि हुए हैं। आलोच्य नागरीदास कृष्णगढ़-नरेश सावंतसिंह थे। इनके पिता का नाम महाराज राजसिंह था। इनका जन्म सं० १७५६ पौष कृष्णा द्वादशी को और विवाह सं० १७७७ में भावनगर के राजा यशवन्तसिंह की पुत्री से हुआ था। सावन्तसिंह बचपन से ही बड़े वीर थे। १० वर्ष की आयु में ही इन्होंने एक मदमत्त हाथी को वश में कर लिया था। १३ वर्ष की आयु में बूँदी के राजा जैतसिंह को इन्होंने रणक्षेत्र में परास्त कर दिया था। सं० १८०५ में इनके पिता का देहावसान हुआ। ये गद्दी पर बिठाये गये परन्तु एक बार जब ये किसी कार्यवश दिल्ली गये हुए थे, इनके छोटे भाई बहादुरसिंह ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। सावन्तसिंह जी ने मरहठों की सहायता से पुनः अपना अधिकार प्राप्त किया परन्तु राज्य से इन्हें कुछ ऐसी घृणा हुई कि ये अपने पुत्र को राज्य देकर स्थायी रूप से सं० १८०९ में वृन्दावन चले आये। कवीश्वर जयलाल के अनुसार इनका गोलोकवास सं० १८२१ में हुआ।[2]

कहते हैं कि नागरीदास जी जब वृन्दावन में आये, तब यह जानकर कि ये राजा हैं, कोई इनसे मिलने भी न आया परन्तु जब इन्होंने यह कहलवाया कि 'नागरीदास' आये हैं, तो सभी रसिक जन इनसे दौड़-दौड़ कर मिलने आ पहुँचे। इन्होंने लिखा है—

---

[1] वही, भाग ३ पृ० १०३।

[2] नागर-समुच्चय, स० १९५५, ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित। बाबू राधाकृष्णदास जी द्वारा लिखित नागरीदास जी के जीवनचरित से संकलित।

सुनि व्यवहारिक नाम मो, ठाडे दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन पुनि, सुनत नागरीदास।

नागरीदास राधा जी के कैंकर्य का सूचक है, अतः रसिकों ने नागरीदास के पारमार्थिक रूप का स्वागत किया। भक्ति-क्षेत्र में यह उचित ही माना जायगा।

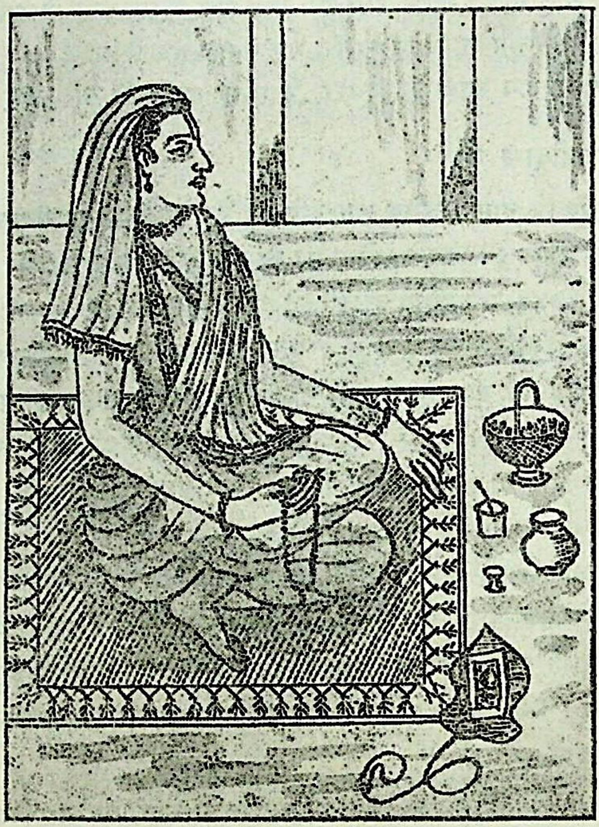

श्री नागरीदास जी, सावंतसिंह जी
(सर्वेश्वर प्रेस, वृंदावन से प्राप्त)

नागरीदास जी के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ विद्वान् उन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित मानेकनतेआग्राकरहैं[1] तथा कुछ वल्लभ सम्प्रदाय

---

[1] निम्बार्क-माधुरी, वृन्दावन, पृ० ६१०।

में ।[1] जहांतक निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रश्न है, उन लोगों का तर्क है कि इनका पूरा परिवार ही निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित था, अतः ये भी उसी सम्प्रदाय के रहे होंगे। अवश्य ही इनके परिवार के अनेक व्यक्ति निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे। परन्तु ऐसा कोई बन्धन नहीं है कि किसी परिवार का एक भी व्यक्ति दूसरे संप्रदाय में दीक्षा न ले सके। स्वयं नागरीदास जी की पासवान बनीठनी जी हरिदासी-संप्रदाय के रसिकदास जी की शिष्या हुई थीं, जिसमें नागरीदास जी की सम्मति होना आवश्यक थी। दूसरी ओर 'नागर समुच्चय' के संपादक कवीश्वर जयलाल के अनुसार वे वल्लभ सम्प्रदाय में ही दीक्षित हुए थे। प्रथम दीक्षा वल्लभ सम्प्रदाय में ही हुई थी, ऐसी सम्भावना निम्बार्कीय विद्वान् भी मानते हैं।[2] कृष्णगढ़ के तत्कालीन नरेशों की सम्मति भी उनके वल्लभ सम्प्रदायी होने की साक्षी देती है, ऐसी स्थिति में यही उचित जँचता है कि वे वल्लभ-सम्प्रदाय में ही दीक्षित हुए थे और उन्होंने अपना सम्प्रदाय नहीं बदला था। 'नागर-समुच्चय' में प्रकाशित उनकी रचनाओं से भी सहसा यह सिद्ध किया जा सकता है कि वे वल्लभीय ही थे। उनके ऐसे अनेक पद प्राप्त हैं, जिनमें उन्होंने वल्लभकुल को अपना गुरुकुल कहा है। 'सिङ्गार सागर' के आरम्भ में ही उन्होंने वंदना की है :—

श्री वल्लभकुल वंदौं। करि ध्यान परम आनन्दौं इत्यादि।[3] अतः नागरीदास जी का सम्प्रदाय वल्लभकुल है, यह निर्भ्रान्त तथ्य है। यह बात अवश्य है कि ये उपासना की दृष्टि से वृन्दावनीय सम्प्रदायों के अधिक निकट थे। ये प्रायः वृन्दावन में ही रहते थे और सखीभाव से युगल-उपासना करना ही इनकी प्रधान साधना थी। श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार इनकी भक्तिभावना पर वृन्दावन की भक्तिभावना का विशेष प्रभाव था।[4] यह बात पूर्णतया ठीक है।

नागरीदास जी ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में अपना स्थान रखते हैं। इन्होंने छोटे बड़े ७५ ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें से ७३ ग्रन्थ 'नागर-समुच्चय' में संकलित हैं।

---

[1] नागर-समुच्चय की भूमिका, पृ० ११–१२।

[2] निम्बार्क-माधुरी, पृ० ६११।

[3] ब्रजलीला, पद १।

[4] ब्रजभारती, वर्ष १०, ४।

नागरीदास जी ऐसे कवि हैं, जिनका अध्ययन स्वतन्त्र रीति से करने की आवश्यकता है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि ये प्रधानतया सखीभाव के कवि थे और उत्कृष्ट कोटि की कविता करते थे। श्री वियोगी हरि का कथन है:—"आपकी कविता हरिवंशी और हरिदासी महात्माओं की बानियों से बहुत कुछ मिलती जुलती है, यद्यपि थे आप वल्लभकुलालम्बी··· नागरीदास सरीखे महाकवि हिन्दी-साहित्य में इने गिने ही मिलेंगे। व्रजभाषा के तो आप अभिमानस्वरूप हैं[1]।" इनकी कविता के केवल एक-दो उदाहरण देकर संतोष करते हैं:—

हमारी सब ही बात सुधारी।
कृपा करी श्री कुंजविहारिनि, अरु श्री कुञ्जविहारी।
राख्यौ अपने वृन्दावन में, जिहि को रूप उज्यारी।
नित्त केलि आनन्द अखंडित, रसिक संग सुखकारी।
कलह कलेस न व्यापै इहि ठा, ठौर विश्व ते न्यारी।
'नागरिदास'हिं जनम जिवायौ बलिहारी, बलिहारी।

× × × ×

बने माधुरी के महल।
कूल जमुना फूल फल भरि, भंवर चहला पहल।
सघन वन संकुलित डारैं, मिटत दिनमनि कहल।
बिछए जल छींटनि छिरकि, बिच कदलिदल के पहल।
तहां विहरति प्रिया हरि संग, तजि सुरति रन दहल।
'दास नागरि' सखी फूली, फिरत आनन्द टहल।

* * *

---

[1] व्रजमाधुरी सार, वियोगी हरि, पृ० १८८।

सप्तम अध्याय

ललित संप्रदाय (श्री वंशीअलि जी द्वारा प्रवर्तित)

सखीभावोपासक प्रमुख कवि

सम्प्रदाय

सखीभाव का उपासक एक और ऐसा संप्रदाय है, जिसके संबंध में हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने अभी तक प्रायः कुछ भी नहीं लिखा है। यत्र-तत्र इस संप्रदाय के एक दो रसिकों का जो थोड़ा–बहुत उल्लेख हुआ है, वह भी निर्दोष नहीं है और संपूर्ण संप्रदाय की दृष्टि से उसका अधिक महत्त्व नहीं है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के नामानुसार सम्प्रदाय को 'वंशीअलि जी का सम्प्रदाय' कहा जाता है।

'श्री राधा-सिद्धान्त' में सम्प्रदाय के मर्मज्ञ श्रीनृसिंहदत्त झिंगण ने श्री वंशीअलि जी का एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है :—"इस श्लोक से श्रीमद्‌वंशीअलि जी ने अपने सम्प्रदाय का मर्म बताया है कि हमारा 'ललित सम्प्रदाय' है। नामान्तर से इसे 'रुद्र सम्प्रदाय' अथवा 'विष्णुस्वामी सम्प्रदाय' भी कहते हैं।"[1] इस सम्प्रदाय के श्री अलबेली अलि जी के विवरण में भी श्री वियोगी हरि जी ने लिखा है :—"यह विष्णुस्वामि सम्प्रदाय में हुए हैं। इन्होंने संस्कृत में गुरु-परंपरा का आद्यन्त वर्णन किया है।"[2] श्री वंशीअलि जी एवं अन्य कवियों के विवरण से सिद्ध है कि वंशीअलि जी के ललित-सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध विष्णुस्वामी सम्प्रदाय से है और इसका नाम "ललित संप्रदाय" है।

वंशीअलि जी ने अपनी विष्णुस्वामी-परम्परा को विशेष रूप से सखीभाव के रँग में रँगा और रसरीति की अमित वाणी-रचना की। सम्प्रदाय की विधिवत् स्थापना इन्हीं से हुई, अतः इस सम्प्रदाय के साथ इनका नामोल्लेख किया जाना स्वाभाविक ही है।

ललित-सम्प्रदाय में अनेक रसिक सुकवि हुए हैं। आज भी इस संप्रदाय के अनेक स्थान हैं। जयपुर का प्रसिद्ध लाडिली जी का मन्दिर इन्हीं का है।

---

[1] श्री राधासिद्धान्त, दिल्ली, पृ० २५।

[2] व्रजमाधुरीसार, पृ० २०८।

यही इनका प्रधान पीठ है। इसके अतिरिक्त दिल्ली, वृन्दावन, राधाकुंड, ललिता अटा आदि इनके स्थान हैं। श्रीकिशोर जी के अनुसार इस सम्प्रदाय के शिष्यों की वर्तमान संख्या पांच हजार के लगभग है। आजकल उनके बड़े भाई श्री युगलकिशोर जी प्रधान गद्दी के अधिकारी हैं।

श्री वंशीअलि

श्री वंशीअलि जी के पूर्व पुरुष श्री मिश्रनारायण थे। इनका वंश 'नवला वंश' के नाम से प्रसिद्ध रहा है। मिश्रनारायण जी भागवत के अनूठे वक्ता और परम विद्वान् थे। उनके सम्बन्ध में श्री नाभा जी ने अपनी 'भक्तमाल' में निम्नलिखित छप्पय लिखा है :—

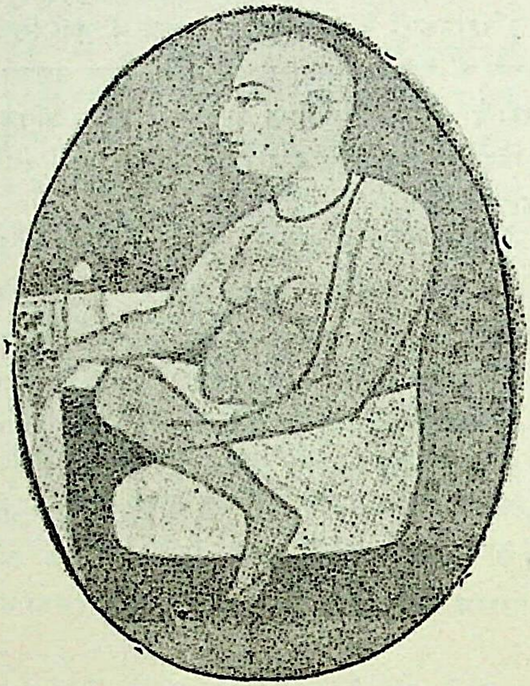

(श्री वंशीअलि जी—प्राचीन चित्र)

मिश्रनारायण नाम वंश नवला जो उजागर।
भगतन की अति भीर, भक्ति दशधा कौ आगर।
आगम निगम पुराण शास्त्र सबही करि देखे।
सुर गुर शुक सनकादि, व्यास नारद जु बिसेखे।

सुधाबोध रस सुरधुनी, जस-वितान जग में तन्यौ ।
भागौत भली विधि कथन कौं, धनि जननी एकै जन्यौ ।[1]

श्री मिश्रनारायण जी जाति के सारस्वत ब्राह्मण थे। परम्परा के अनुसार इनका जन्म सं० १५५० आषाढ सुदी पूर्णिमा को माना जाता है। प्रारम्भ में ये लाहौर में निवास करते थे, बाद में मथुरा आकर बस गये। उन्हीं के वंश में नवीं पीढ़ी पर श्री वंशीधर जी उत्पन्न हुए, जिनका उपासना संबंधी नाम वंशीअलि था।[2]

श्री वंशीअलि जी का जन्म वृन्दावन में आश्विन शुक्ला १, सं० १७६४ को हुआ। उस समय दिल्ली में औरंगजेब का बड़ा पुत्र बहादुरशाह राज्य करता था। कहा जाता है कि उनके पिता प्रद्युम्न जी का बहादुरशाह के दरबार में विशेष सम्मान होता था और ये अपने समय के प्रतिष्ठित पुरुष थे।

बचपन से ही वंशीधर जी के चमत्कार देखने में आने लगे। श्रीराधा नाम में उनकी रुचि बचपन से ही थी। शिक्षा-दीक्षा में भी ये बड़े ही तेज थे। श्रीमद्भागवत के अध्ययन में इन्हें विशेष आनन्द मिलता था। जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह के एक प्रश्न का उत्तर इन्होंने इस लाघव के साथ दिया कि राजा उससे बहुत ही प्रभावित हुए और उन्हें सम्मानार्थ अनेक वस्तुएँ भेंट दीं।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में गोस्वामी वंशीधर जी का विवाह हुआ और बीस वर्ष की आयु में इनके पुत्र पुण्डरीकाक्ष का जन्म हुआ। अपने पूर्वजों के मन्दिर और सम्पत्ति की देखभाल ये स्वयं करते थे परन्तु जो कुछ आय होती थी, उसे राधा-जन्मोत्सव पर व्यय कर दिया करते थे। श्रीमद्भागवत की कथा वे प्रेम-विह्वल होकर कहते थे। उनके जीवन में वैराग्य क्रमशः बढ़ता जा रहा था। ३० वर्ष की अवस्था में वे वृन्दावन आ गये और वहीं रहने लगे। चार वर्ष पश्चात् वे विरक्त हो गये और सखीभाव के उपासक के रूप में प्रसिद्ध हुए। सं० १८२२ में ५८ वर्ष की अवस्था में आश्विन शुक्ला १ को श्रीवृन्दावन में गोविन्द घाट पर स्थित ललित-कुञ्ज में वे निकुञ्जवासी हुए[3]।

श्री वंशीअलि जी संस्कृत और ब्रजभाषा के प्रकांड विद्वान् थे। संस्कृत में उन्होंने 'राधा-तत्व-प्रकाश' और 'राधा-सिद्धान्त' नामक ग्रंथों की रचना की।

---

[1] भक्तमाल, नाभा जी, छ० सं० १३४।

[2] श्री राधासिद्धान्त, दिल्ली, पृ० ७–८।

[3] श्री राधासिद्धान्त, भूमिका, पृ० १८।

संस्कृत के ग्रन्थ 'मोक्षवाद', 'शक्ति स्वातन्त्र्य परामर्श' और 'राधा उपनिषद' की इन्होंने टीका भी की। ब्रज भाषा में इनकी पद-रचना बड़ी मार्मिक होती थी। लीला के सहस्रों पदों की रचना इन्होंने की। 'रास पंचाध्यायी' और 'हृदय सर्वस्व' की रचना भी इन्होंने ब्रजभाषा में की।

सिद्धान्त और उपासना

श्री वंशीअलि जी श्री राधाकृष्ण के युगल स्वरूप के उपासक थे। इनकी उपासना पर हरिदासी और हरिवंशी सम्प्रदायों का पूरा प्रभाव था। इन दोनों महात्माओं के प्रति इन्होंने अपने ग्रन्थों में अनन्य निष्ठा प्रदर्शित की है और इन्हें ललितावतार माना है। महल के नित्यविहार का वर्णन करने वाले, इनकी दृष्टि में, हरिवंश और हरिदास ही हैं।[1]

सखीभाव से युगल उपासना करते हुए भी वे श्रीराधा जी को ही अपना विशिष्ट उपास्य मानते थे। श्रीवंशीअलि जी ने श्रीराधा का स्वरूप-परिचय प्रेमसिद्धान्त और दर्शन दोनों के आधार पर कराया है। उनकी दृष्टि में श्रीराधा का ही अपर नाम 'ब्रह्म' है। वे ही परा शक्ति के रूप में सर्वत्र सूत्र की भाँति व्याप्त हैं और समस्त जड़-चेतन उन्हीं स्वतन्त्रा के आधीन हैं।[2] श्रीराधा ही सच्चिदानन्दरूपिणी हैं। श्रीराधा शक्तिरूपिणी हैं परन्तु वंशीअलि जी के मत में वे ब्रह्म की प्रकाश-रूपा हैं और शाक्तों के मत में वे ब्रह्म स्वरूपा ही हैं। वंशीअलि जी के अनुसार वे ईश्वर और जीव की प्रकल्पिका और सर्वोपरि है।[3] श्रीराधा सर्वोपरि होते हुए भी भक्त-पराधीन हैं। श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधा के अनन्य भक्त हैं अतः उनके साथ समान भाव से विहार करने के लिये ही श्रीराधा जी ने अवतार ग्रहण किया है। श्रीराधा सर्वेश्वरी हैं, अतः

---

[1] श्रीहरिवंश स्वरूप हैं श्रीहरिदास उदार।
जे जे बातें महल की वरनत नित्य विहार। हृदय सर्वस्व, १८।

[2] स्याद्ब्रह्मापरपर्याय सर्वानुस्यूतरूपिणी।
स्वातंत्र्याचापि सैवास्ति, तस्मात्सर्वास्तदाश्रितः॥
श्रीराधासिद्धान्त, कारिका ७।

[3] स्वमते तत्प्रभारूपा शाक्तानां तत्स्वरूपिणी।
शक्तिरेतादृशी ज्ञेया जीवेशादि प्रकल्पिका।
श्री राधासिद्धान्त कारिका १२।

विहार में उनकी समानता और कृष्णपत्नीत्व भक्तों के आनन्द के लिये ही है[1]। उन्होंने भक्तों के लिये ही अपने विहार को प्रदर्शित किया है। वे सर्वदा स्वानंद-रस में मग्न हैं। उनकी विहार-इच्छा कामेच्छा कदापि नहीं है।[2] श्री राधा जी विशुद्ध प्रेम-मूर्ति हैं तथा वे अपने अनन्य भक्त श्रीकृष्ण और अन्य सखियों के हृदय में नित्य विराजमान रहती हैं।[3]

श्रीराधा की उपासना के लिए दास्य, वात्सल्यादि अनेक भाव हो सकते हैं परन्तु उनकी सेवा का प्रमुख भाव सखीभाव ही है। श्री ललितादिक ही उनकी सख्य रसाविष्टा सखियाँ हैं। ये सखियाँ श्रीराधा को ही अपना पति मान कर अपने को 'सुहागवती' समझती हैं और सौभाग्यसूचक वस्त्रादिक धारण करती हैं।[4] श्रीराधा का भक्तिरस नित्य सिद्ध निर्विकल्प रस है, जो रति-रस-रूप से वृन्दावन में श्रीकृष्ण और ललितादि सखियों के हृदय में नित्य स्थित है।[5] श्री कृष्णादि अखिल भक्तों की परात्परा ईश्वरी श्रीराधा, श्री ललितादि सखियों के चरणों का आश्रय कर ही सुलभ हो सकती हैं।[6] श्री वृन्दावन-विहारिणि राधा ही वंशीअलि जी की परमा गति हैं। उनके अनुसार जब तक हृदय में ललिता-रति उत्पन्न नहीं होती, तब तक राधा जी के चरण-रेणु की सुगन्धि-मात्र भी दुर्लभ है।[7]

सखी-सम्प्रदाय में भी युगल उपासना स्वीकृत है और वहाँ श्री राधा की प्रधानता भी है, परन्तु राधा-प्राधान्य की भावना वंशीअलि जी के सम्प्रदाय

---

[1] नित्यभक्त पराधीना तेन राधाविहारिणी।
साम्यं भजति भक्तेन रसे कृष्णेन लीलया।
वस्तुतो न विहारादि तस्या केनापि युज्यते।
न साम्यं न च पत्नीत्वं यत्र सर्वेश्वरेश्वरी। वही, कारिका, २१–२२।

[2] न च कृष्णे परे भक्ते प्रेमा निष्कलिते क्वचित्।
कामुकी स्याद्विहारेच्छा मग्नेरूपमहांबुधौ। वही, कारिका, २४।

[3] नापेक्षते च या शास्त्रं प्रेमैकप्रचुरा भवेत्।
सा सखीनां च कृष्णस्य हृदि नित्यं विराजते॥ वही, कारिका २५।

[4] वही, कारिका ४५।

[5] वही, कारिका ७३।

[6] वही, कारिका ७६।

[7] वही, कारिका १०३-१०४।

में और भी अधिक हो गई है। सखी-सम्प्रदायादि में राधा-प्राधान्य को शिव-शक्ति की दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित नहीं किया गया था परन्तु वंशीअलि जी ने उन्हें दार्शनिक आधार भी दिया है। राधा-प्राधान्य की यह स्थिति यहां तक पहुँची है कि वंशीअलि जी की रचना 'राधिका महारास' में श्रीकृष्ण को पूर्णतया अनुपस्थित कर दिया है और वहाँ राधा ही महारास की ठीक वैसी नायिका हैं, जिस प्रकार श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण। शेष कथा श्रीमद्भागवत के अनुसार ही है। अवश्य ही श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति के कारण रस की सिद्धि में व्याघात पहुँचा है। लीला-रस के लिये युगल नितान्त आवश्यक है और उनमें प्रेम की समता ही उस रस की अनुभूति का आधार बनती है। सखी-सम्प्रदाय में श्री लाल जी की लाडिली जी के प्रति जो पराधीनता है, वह प्रेम-विवृद्धि के लिये है परन्तु श्री वंशीअलि जी ने श्रीराधा को ऊपर उठाकर श्रीकृष्ण को मात्र सेवक कोटि में ही डाल दिया है। वे कहते हैं:—

सेव्य सदा श्री राधिका सेवक नन्दकुमार।
दूजे सेवक सहचरी, सेवा विपुल विहार।[1]

श्री वंशीअलि जी की उपासना ने श्रीराधा की प्रधानता में लौकिक काम संबंधी आरोपों को प्रायः समाप्त कर दिया है, क्योंकि कहा जा चुका है कि यहाँ सखियां श्री राधा को ही अपना पति मानती हैं। श्री राधिका जी की प्राप्ति के लिये ललिता ही एक मात्र आश्रय हैं, अतः वंशीअलि जी के सम्प्रदाय में ललिता ही इस सम्प्रदाय की परम गुरु हैं और इसीलिए इसका नाम 'ललित सम्प्रदाय' है।

इस सम्प्रदाय में श्री ललिता जी की उपासना गुरु रूप में की जाती है। उनके जन्म-दिन, वधाइयाँ और मंगलों के पदों की भी रचना वंशीअलि जी आदि ने की है। श्री राधा की सुख-साधिका श्री ललिता जी का वंशीअलि जी रचित एक मंगल नीचे दिया जा रहा है:—

जय जय श्री ललिता ललित जुगल आनन्दिनी।
जीवन प्रान समान सुकीरति नन्दिनी।
दम्पति करि गति रति मति जुग धन स्वामिनी।
निज सम्पति नित विलसति गुन-अभिरामिनी।

---

[1] हृदय सर्वस्व, ५।

अभिराम गुन बरनत थके मति कवि कथा कैसे लहैं ।
जाके प्रसाद प्रभाव लखि, जिय लाल हू सूके रहैं ।
सेवा विविध विधि चातुरी, गुन कह सकति नहिं राधिका ।
दासीजननि नित पोषिनी, प्रिय सहचरी सुख साधिका ।[1]

श्रीराधा-कृष्ण की प्रीति-रूपा और करुणाशक्ति रूपा श्री ललिता जी हैं । वे ही श्रीराधाकृष्ण के अनुपम विहार की रचना कराती हैं ।[2] प्रिया-प्रिय के अंग पर आभूषण भी ललिता के ही रूप हैं । वे सज्जारूपिणी होकर नित्य आह्लादित रहती हैं ।[3] श्री ललिता के ही अंचल में प्रिया-प्रियतम नित्य विराजते हैं । वे श्री ललिता जी के ही सहचर हैं, तीनों एक प्राण हैं ।[4] वास्तव में श्रीराधा, लाल, ललिता और वृन्दावन में कोई भेद नहीं हैं । ये सब ही श्री राधा के रूप हैं ।[5] प्रकट रूप में जहां-जहां वृषभानुकुमारी हैं, वहां श्री ललिता भी स्वयं व्याप्त हैं :—

जहां जहां नाम श्री वृषभानुकुँवरि कौ सुनौ हौं,
तहां तहां श्री ललिता व्यापक गनौं हौं ।[6]

प्रिया-प्रिय का नित्यविहार सहचरी की इच्छा के अनुकूल ही होता है[7] । ललिता जो करती हैं, वही लाल-ललना को भाता है और जो लाल-ललना करते हैं, वही ललिता को प्रिय है । ललिता ही उपासक के नेत्रों की पुतलियों

---

[1] ललिता जू कौ मंगल, वंशीअलि जी की वाणी, हस्तलिखित ।

[2] ललिता दोऊजन प्रीति हैं करुणाशक्ति स्वरूप ।
आलिंगन वपु सों रहत, रचत विहार अनूप । हृदय सर्वस्व, १३ ।

[3] हृदय सर्वस्व, १४ ।

[4] हृदय सर्वस्व १५ ।

[5] श्रीराधा मेरी वनथली, राधा ही है लाल ।
श्री ललिता राधा रूप हैं, हौं श्री राधालाल । हृदय-सर्वस्व, २९

[6] श्री ललिता जू कौ मंगल, वंशीअलि जी की वाणी, हस्तलिखित ।

[7] सहचरि करै सोई मोहि भावै । सहचरि मो मन ढारि ढरत है ।
मोपर ललिता नैन पूतरिन, मो दृग ललिता रूप धरत हैं ।
मो तन मन ते सजनी प्यारी, वह जीवन न्यौछावर करत है ।
जै श्री वंशीअलि ह्वै थके मन कौन करि हंसी जुगल जल लहरि ढरत है ।
वंशीअलि जी की वाणी, पृ० २८

में बैठकर ललित रूप का दर्शन कराती हैं, जो प्रिया-प्रिय को तन-मन से प्यारी हैं, वे ललिता उन पर अपने प्राणों को न्यौछावर करती हैं। स्पष्ट है कि वंशीअलि जी का सखीभाव अपने उत्कृष्ट रूप में काव्य में प्रकट हुआ है। उनकी उपास्या श्रीराधा हैं, जो श्रीकृष्ण के साथ नित्यविहार में रत हैं। श्री नित्यविहार रस संयोग-वियोग से परे है[1]। इस नित्यविहार की प्राप्ति राधिकाचरणकमल-कृपा बिना नहीं होती। रमापति, शुक, नारद भी श्रीराधा को अपने ध्यान में भी नहीं पा सकते। उनकी प्राप्ति सखीभाव से ही हो सकती है। स्वयं श्रीकृष्ण भी सखियों के ही चरण-कृपा-बल से श्री राधिका-चरण-कमलों को प्राप्त कर सकते हैं। यही श्री वंशीअलि जी का सिद्धान्त है—

जय जय श्री राधिका-पद-कमल।
सखीजन-मन-मोदकारी, रसिक जीवन अमल।
रमापति सुकदेव नारद नहीं पावत ध्यान।
नन्दसूनु लहत कृपाबल सखीचरन-प्रमान।[2]

श्री वंशीअलि जी की उपासना में सखीभावोपासना के तत्त्व विद्यमान हैं। उनका 'अलि' नाम भी उनके नित्य वंशी रूप का ही सूचन करता है।

काव्य-गरिमा

श्री वंशीअलि जी की वाणी विशद है। उसमें सिद्धान्त के ४१ पद, वात्सल्य के ४६ पद, माधुर्यशत के १२४ पद तथा वर्षोत्सव के अनेक पद हैं। श्री लाड़िली जू की बधाई, श्री ललिता जू की बधाई, उनकी वंशावली, हृदय सर्वस्व, श्री राधिका महारास आदि रचनाएँ भी इसमें संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त लेखक के पास इस सम्प्रदाय का एक बृहद् संकलन है, जिसमें वंशीअलि जी के अन्य अनेक पद हैं। इतनी विशद रचना होते हुए भी, खेद है कि उनका नाम साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में नहीं है। यहाँ तक कि मिश्रबन्धु विनोद के तीन भागों के बृहद् संदर्भ-ग्रन्थ में भी उनका नाम नहीं है। साहित्य के अन्य इतिहासों की तो बात ही क्या है?

जहां तक काव्य-गरिमा का प्रश्न है श्री वंशीअलि जी का काव्य ब्रजभाषा

---

[1] संयोगस्य वियोगस्य नहि तत्र विनिश्चति।
द्वाभ्यां भिन्नो रसोऽस्माकंस्थितश्चोभयरूपतः। श्री राधासिद्धांत, ९६।

[2] श्री वंशीअलि जी की वाणी, (हस्तलिखित)

का अत्यन्त सरस काव्य है। उनकी रचनाओं का महत्त्व बताते हुए पंचाध्यायी, की फलस्तुति में उनके शिष्य अलबेली अलि जी ने निम्न छन्द लिखा है :—

पंचाध्यायी पंचरस पञ्च प्रान सुखदानि।
पञ्च बान रस रसद जिहिं,. प्रगट कियौ जु बखानि।
प्रगट कियौ जु बखानि सु वंशीअलि करुनामय।
पढै सुनै जो रसिक पावै श्रीवृन्दावन आलय।
अरु पावै श्री कुँवरि कों, जहां सखियन के ठाठ।
अलबेली अलि ते करैं, परम प्रेम सों पाठ।

वाणी की उपर्युक्त फलस्तुति उपासनापरक है, परन्तु काव्य-दृष्टि से भी श्री वंशीअलि जी की वाणी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। उनकी भाषा परिमार्जित है और सर्वत्र उसमें भावोल्लास परिलक्षित है। भावों में और रचना-शैली में कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। अलङ्कार स्वाभाविक हैं। प्रायः सरल और सीधे अलङ्कारों का प्रयोग ही उनके काव्य में हुआ है। उनके सिद्धान्त-कथन में सीधापन और सरलता है तथा लीला-वर्णन में उल्लास और अलंकरण है। नीचे उनका एक छन्द उद्धृत किया जाता है—

राधा मम नैन-प्रान, राधा सुख-सम्पति है,
राधा-मुख-कमल मेरे हिय को अधार है।
धर्मपूज्य लोक इष्ट मित्र वेद राधा ही,
राधा कौ नाम मेरी रसना उचार है।
राधा विन जानौं हौं जो पै और काहू कों,
तौ पै मन लाखि लाखि लाखि कुलगारि है।
राधा ही साधन फल, सिद्ध 'वंशी' राधा ही,
मेरे मन चाह श्री राधा कौ उगार है।

श्री किशोरी अलि

श्री किशोरी अलि श्री वंशीअलि जी के शिष्य थे और व्रजभाषा के उच्च कोटि के वाणीकार थे। इनका परिचय देते हुए श्रीराधाचरण गोस्वामी ने लिखा है :—

श्री वंशी गुरु चरण कमल मधि दृढ़ विस्वासा।
सर्वशास्त्र-सम्पन्न सु जयपुर नगर निवासा।

विविध ग्रन्थ दृढ़ पंथ कियौ पंडितगण जीते ।
भाव भावना विशद कुञ्ज अनुभव नित कीते ।
श्रीवृन्दावन-वास रत, पद वाणी निरुपम ललित ।
श्री किशोरीअलि जगन्नाथ की प्रेम-प्रथा जग में विदित ।[1]

"किशवर अली या किशोर अली साधू, राधावल्लभी" नाम से किशोरी अलि जी का विवरण मिश्रबन्धुओं ने भी दिया है और दोनों के एक होने की संभावना प्रकट की है ।[2] इनके 'अली' नाम पर मिश्रबन्धुओं ने एक टिप्पणी भी लगाई है और इनके मुसलमान समझे जाने के भ्रम को दूर किया है । वे कहते हैं कि "इन्हें मुसलमान न समझा जाय । सखीभाव से भक्ति करने वाले अपने नामों के पीछे अली प्रायः लिखते हैं, अली सखी को कहते हैं ।"[3]

श्री किशोरी अलि जी का उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय उनके महत्त्व का किसी प्रकार प्रदर्शन नहीं करता । अतः श्रेष्ठ रचनाकार होते हुए भी साहित्यकारों के बीच वे प्रायः अनजाने ही हैं ।

श्री किशोरी अलि जी का बहुत थोड़ा सा जीवन-वृत्त ज्ञात है । इनका पूर्व नाम जगन्नाथ भट्ट था । पिता का नाम ब्रजनाथ था और इनका जन्म मथुरा में हुआ था ।[4] इनकी पत्नी का नाम किशोरी था । किशोरी के प्रति इनकी आसक्ति बहुत ही बढ़ी हुई थी । उसकी मृत्यु हो जाने पर ये किशोरी-किशोरी पुकारते संकेत (बरसाना) चले आये । कहा जाता है कि अपना नाम पुकारते हुए भक्त को स्वयं किशोरी राधा ने अपना दर्शन दिया । विषयासक्तों का भगवद्भक्त के रूप में परिणत हो जाना अन्य अनेक भक्तों की कथाओं के अनुसार भी स्वाभाविक ही है । सुजान के दीवाने घनानंद की स्थिति भी ऐसी ही थी । और ऐसे ही किशोरी अलि थे ।

जिस समय श्री किशोरी अलि बरसाने पहुँचे, वंशीअलि जी वहीं गहवरवन में निवास करते थे । वहीं उन्होंने जगन्नाथ को 'ललित-संप्रदाय' में दीक्षित किया और उनका नाम 'किशोरी अलि' रखा ।

---

[1] नव भक्तमाल सं० ८ ।

[2] देखिये, मिश्रबंधु विनोद, भाग २, १९८४, पृ० ८१८ ।

[3] वही, पृ० ८१८ ।

[4] ब्रजनाथसुवन की कहा कहौं, वंशीधर कर सिर धरौं ।
जगन्नाथ भट्ट मधुपुरी में अनन्य उपासक अवतरचौ ।
विनयचन्द्र कृत वधाई, रसिकमाल ।

किशोरी अलि जी प्रायः बरसाना, बृन्दावन और जयपुर में निवास करते थे। ये बड़े भारी विद्वान् और साधक थे।

इनके जन्म सं० और मृत्यु संवत् के सम्बन्ध में कुछ पता नहीं है। इतना अवश्य है कि ये राधावल्लभीय गोस्वामी चंद्रलाल जी के समय जीवित थे। इन दोनों का आपस में पत्र-व्यवहार हुआ करता था।[1] श्री चंद्रलाल जी का स्थितिकाल सं० १८२४ के लगभग है[2]। अतः मिश्रबंधुओं के द्वारा दिया हुआ सं० १८३७ उचित ही है।[3] अपने गुरु गो० वंशीअलि जी के निकुञ्जगमन सं० १८२२ के उपरान्त ये पर्याप्त समय तक जीवित रहे थे। सं० १८२३ में अहमदशाह के आक्रमण के कारण जो भगदड मची थी, उस समय का ही गो० चंद्रलाल जी का पत्र है, जिसमें इस 'भाजर' का उल्लेख है।[4] सं० १८३१ में उन्हें एक पत्र उनके शिष्य रतनलाल ने लिखा था। ये पत्र उनके जीवन-साक्ष्य की दृष्टि से बड़े उपयोगी हैं।

सिद्धान्त और उपासना

श्री किशोरी अलि जी अपने गुरु वंशीअलि जी के परम श्रद्धालु भक्त थे। अतः गुरु के सिद्धान्तों को उन्होंने ज्यों का त्यों स्वीकार किया है। वे अपने को उन सभी रसिकों की परम्परा में मानते हैं, जिन्होंने श्री राधा का गान किया है। इन्हीं रसिकों के वचनों को ये अपने सिद्धान्त के लिये प्रमाण रूप में स्वीकृत करते हैं। वे कहते हैं:—

हमारैं इनके वचन प्रमान।
श्री हरिवंश गुसाईं, श्री हरिदास किये जे गान।
व्यास समान व्यास हैं मेरे, ध्रुव ध्रुवपद के वक्ता।
विट्ठलविपुल विहारिनिदासी, रहसिकेलि अनुरक्ता।
× ×
इनहीं कौ अनुसार करें जे, तिनकों सुल्लभ होई।
यही तत्व हिय धार छोड़ अब नाना मत व्यभिचारे।
गहि अनन्य मत सेइ 'किशोरी', निरखौं जुगल विहारे।

---

[1] श्री चंद्रलाल जी की पत्री वाणी के साथ संकलित (हस्तलिखित) लेखक के पास संगृहीत हैं।

[2] श्री चंद्रलाल जी की एक पत्री से प्रमाणित।

[3] मिश्रबंधुविनोद, भाग २, पृ० ८१८।

[4] श्री चंद्रलाल जी की पत्री।

श्री किशोरी अलि जी रसिकों की परिपाटी-घाटी के ही पथिक थे। रूपराशि-स्वामिनी राधा जी ही इनकी उपास्या थीं। वे ही सखियों का जीवन और कुञ्जविहारी जी की प्रियतमा हैं। ललिता जी के साथ ही श्री वंशी से वे मुसकरा कर बातें करती हैं। वे ही ठकुरानी किशोरी अलि के नयनों की उजियारी हैं—

> रूपरासि स्वामिनी हमारी।
> अलबेली सखियनि की जीवनि, लखि जीवत प्रिय कुञ्जविहारी।
> ललित ग्रीव गरबाहीं दीये, ठाडी गहैं नीप की डारी।
> हंसि हंसि वंसी सों बतरावति, कबहुंक लेति तान रुचिकारी।
> ठकुराइनि रस रासिकेलि की, वृन्दावन की संपति भारी।
> पाई नवल 'किशोरी' गोरी अद्भुत नैननि की उजियारी।[1]

रचनाएं

श्री किशोरी अलि जी की वाणी का एक विस्तृत संग्रह लेखक के पास है। लगभग चारसौ पृष्ठों की इस हस्तलिखित वाणी में किशोरी अलि जी के पद एवं दोहे संकलित हैं। प्रारंभ में ही इनके 'जगन्नाथ' नाम से संस्कृत का राधाप्रेमाष्टक जुड़ा हुआ है, तत्पश्चात् ब्रजभाषा की वाणी है। इसमें मनशिक्षा, ललिता जू को मंगल, वृन्दावनमंगल, वीन के पद, विनय मंगल, अष्टयाम के पद, फुटकर पद, गुसाईं जी की बधाई सांझी, भागवत स्तुति, सुकदेव स्तुति, रसिक महिमा, वृन्दावन महिमा, रस केलि कहानी, पहेली, द्वितीय अष्टयाम, व्याहलौ, पूर्वानुराग, वर्षोत्सव के पद, शरद रास के पद आदि संकलित हैं, इनकी संकेतविहारलीला और भ्रमरगीत भी इसी में संगृहीत हैं।

किशोरी अलि जी का काव्य उपासना के भावों की दृष्टि से जितना गंभीर है, उनकी कविता भी उतनी ही प्रौढ़ और प्राञ्जल है। वृन्दावन की अति मनोहर एवं दिव्य पृष्ठभूमि में प्रिया-प्रियतम का परस्पर विलास और आसक्ति का चित्रण जिस भाषा में किया गया है, वह पूर्णतया भावानुकूल, लालित्यमयी और मञ्जुल है। पलक पड़ते ही जहां हृदय आकुल हो जाता है, वहां भाव की सूक्ष्मता व्यञ्जित है, देखिये:—

> पलकन सों मन दुचित रहै री।
> वदन विलोकत अन्तर पारत, उर अन्तर अकुलानि सहै री।

---

[1] किशोरीअलि जी की वाणी (हस्तलिखित) लेखक के पास संगृहीत।

प्यारी वदन सदन सुषमा कौ, नाहिंन कोई निबहै री।
तोसी तुही 'किसोरी' गोरी, यों कहि लालन चरण गहै री।

प्रिया-प्रिय की मानसिक आकुलता का एक और पद प्रस्तुत है—

मिलेई रहत मानत अनमिलिबौ, हरखि दोऊ फिरि फिरि लपटात।
अति रस लुब्ध मुग्ध मन माहीं, तृपत न नैंकु तृषित सब गात।
कबहुं कहत पिय हाय, पिया कहां, सुकुंवारी त्यौंहि कहि मुरझात।
यह विधि बोलि परस्पर अलबल, संभ्रम उभै अधिक अकुलात।
पुनि फिर करत गाढ़ आलिंगन, धरकत हिय बिछुरनिहु डरात।
'किशोरी अलि' इकटक देखत यह, अद्‌भुत प्रेम कह्यौ नहिं जात।[1]

श्री अलबेली अलि

श्री अलबेली अलि का नामोल्लेख 'मिश्रबंधु-विनोद' में हुआ है। वहां लिखा गया है कि 'इनकी कविता भक्तमाल में है और तीनसौ पद गोविंद गिल्लाभाई के पुस्तकालय में हैं। 'रसमञ्जरी' में भी इनके कवित्त हैं'[2] 'भक्तमाल' में इन की कविता होने से क्या तात्पर्य है, समझ में नहीं आया, क्योंकि नाभा जी से ये बहुत परवर्ती हैं। संभव है किसी और भक्तमाल में इनका उल्लेख देख कर मिश्रबंधुओं ने ऐसा लिखा हो।

अपने 'अलि' नाम के कारण कभी ये रसिक भक्त मुसलमान समझ लिये जाते हैं और कभी स्त्री। 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां' की लेखिका डॉ० सावित्री सिन्हा ने संदेह करते हुए भी इन्हें स्त्री-कवियों में स्थान दे दिया है[3]। वास्तव में उनके संबंध में भ्रम की गुंजाइश नहीं है। वे पुरुष थे और सखीभाव के उपासक थे।

श्री वियोगी हरि जी ने 'ब्रजमाधुरीसार' में इनकी कविताएं उद्‌धृत की हैं और इनका संक्षिप्त परिचय भी दिया है। इनका कोई ऐतिहासिक वृत्त नहीं मिलता, यह कह कर इनके जीवन-परिचय के अभाव का पता श्री हरि जी ने दिया है।[4] इतने उत्कृष्ट वाणीकारों का परिचय भी प्राप्त न होना हिन्दी-जगत् के लिये दुर्भाग्य की ही बात है। ये अलबेली अलि वंशी अलि

---

[1] किशोरीअलि जी की हस्तलिखित प्राचीन वाणी से।

[2] मिश्रबंधु विनोद, भाग २, पृ० ९४९।

[3] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० १९३–६।

[4] ब्रज माधुरी सार, वियोगी हरि, पृ० २०८।

जी के शिष्य थे। श्री वियोगी हरि जी ने स्वरचित छप्पय में उनके व्यक्तित्व का परिचय इस प्रकार दिया है :—

गुरु गोविन्द में भेद-भाव नहिं कछु ह्वै मान्यौ।
भजन कीरतन चारु सार जीवन कौ जान्यौ।
सुधी सुसील सुसन्त सहज रस रासि रंगीलौ।
निरमत्सर निरछंद कंद नव नेह रसीलौ।
रचि समै-प्रबंध पदावली लली-लाल गुन-गान कर।
श्री वंशीअलि कौ शिष्य श्री अलबेली अलि रसिकवर।[1]

श्री अलबेली अलि जी के तीन ग्रंथ खोज-रिपोर्ट से ज्ञात होते हैं, ये हैं अलबेली अलि ग्रंथावली, गुसाईं जी कौ मंगल और विनय कुंडलियां। अलबेली अलि ग्रंथावली में प्रिया जी कौ मंगल और राधाष्टक और मांझ नाम के तीन छोटे छोटे ग्रंथ संगृहीत हैं।[2]

श्री वियोगी हरि जी ने उनका ग्रन्थ 'समय-प्रबन्ध-पदावली' बताया है। वास्तव में 'समय-प्रबंध-पदावली' ही उनका बड़ा ग्रंथ है। अनेक छोटे छोटे ग्रंथ इसी के अंश हैं।

श्री अलबेली अलि जी का लक्ष्य राधाचरणकमल की प्राप्ति था। वृन्दावन-धाम में महल की निशिदिन टहल करते हुए अद्भुत प्रेम-विहार-रस प्राप्त करलेना ही जीवन का साफल्य है। यह रस रसिकों की कृपा से ही मिलता है।

लीन्यौ वृन्दावन बसि लाह्यौ।
सेवा टहल महल की निसि दिन, यह जिय नेम निबाह्यौ।
अद्‌भुत प्रेम विहार चारु रस, रसिकनि बिनु किन चाह्यौ।
'अलबेलीअलि' सफल कियौ, सब, जिन यह रस अवगाह्यौ।

इस रस की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग शुद्ध सखीभाव है। यही उपासक का प्रसिद्ध पुरुषार्थ है। यही सखीभाव अलबेली अलि जी को वंशी अलि जी से प्राप्त हुआ था।[3] इस सखीभाव की उपासना का प्रथम सोपान गुरुचरणों की

---

[1] व्रजमाधुरीसार, वियोगी हरि, पृ० २०७।

[2] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां, डा० सावित्री सिन्हा, दिल्ली, पृ० १९४।

[3] पुरुषार्थः शुद्ध सख्यं तत्प्रख्यं सर्वमेव हि।
यत्प्रसादान्मया प्राप्तं सा वंश्यालिर्गतिर्मम। श्री गुरुपरंपरा, अलबेली अलि।

शरण है। उनकी कृपा प्राप्त कर ही वृन्दावन धन प्राप्त होता है। गुरु के अनुगत होकर सखीरूप में भावना करते हुए साधक को किशोर किशोरी की मानसिक सेवा में प्रवृत्त होना चाहिये। प्रिया-प्रिय का चाव से श्रृंगार करना चाहिये और ललितादि सखियों के आनुगत्य से पुलकित हो समय-समय की सेवा में रत रहना चाहिये। 'समयप्रबन्ध' के प्रारंभ में ही उपासना की यह पद्धति प्रकट की गई है—

भोरहिं उठि अलिरूप विचारूं।
अद्भुत नवलकिसोर माधुरी, रूप अनूप निहारूं।
करि असनान उबटि अंग अंगनि नाना भाँति सिंगारूं।
भूषन वसन प्रसादी स्वामिनि पुलकि पुलकि उर धारूं।
सदा रहूं ललितादिक संगी प्रेम भरी अनुहारूं।
'अलबेली' श्री बंशी अलि बलि, महल टहल अनुसारूं।[1]

श्री अलबेली अलि के पद अत्यन्त भावपूर्ण हैं और अपने गुरु की भांति वे काव्य कला में भी पूर्ण प्रवीण हैं। वे व्रजभाषा के सुकवि हैं। लीला के पदों में उनकी काव्य-गरिमा देखी जा सकती है। 'समयप्रबन्ध' से उनका एक पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

देखु सखी इनकौ नव नेह।
उमड़ि ढेर घन रूप के मानौ, बरसत रस कौ मेह।
खान पान बसननि कल भूषन, भूले सब सुधि देह।
'अलबेली' नहिं जानत निसिदिन परे प्रेम के गेह।[2]

श्री रतन अलि

श्री रतन अलि का मूल नाम रतनलाल था। ये श्री किशोरीअलि जी के शिष्य थे। गुरुपदनिष्ठ होने के कारण प्रत्येक गुरुपूर्णिमा पर गुरुचरणों में उपस्थित हुआ करते थे। एक बार व्यासपूर्णिमा के आठ दिन शेष रह गये और राज दरबार में इन्हें ऐसा अटकाव लगा कि उनका जाना संभव न रहा। अत्यन्त व्याकुल होकर उन्होंने अपने गुरु को लिखा कि यदि श्री जी कृपा करें तभी इस बार दर्शन हो सकते हैं। उस समय श्री लाडिली जी के परम

---

[1] व्रजमाधुरीसार पृ० २०९

[2] वही, पृ० २१०।

विश्वासी श्री किशोरी अलि जी ने उन्हें एक पत्र लिखा और अंत में रतन लाल जी का कार्य संपन्न हुआ। पत्र की पंक्तियां थीं—

जाके मन में सांचौ नेह।
ताकी आस लाडिली पुजवैं, यासें नहिं संदेह।
दुर्गम बात सुगम दरसावै, ऐसी महा दयाल।
पून्यौ के तो आठ दिवस हैं, छिन में करत निहाल।

श्री किशोरी अलि जी से इनका पत्रव्यवहार प्रायः कविता में ही होता था। अपने वृन्दावन जाने के संबन्ध में भी किशोरी अलि जी ने रतनअलि जी से सम्मति मांगी थी। रतनअलि का कथन था कि वे वृन्दावन न जायें, परन्तु किशोरी अलि जी की दृढ़ निष्ठा के समक्ष उनको हार माननी पड़ी। अंत में वे भी गुरु के ही मार्ग पर आये और राधाकृष्ण की उपासना के पथिक बने।

इनकी रचनाएं सरस और सहज काव्यगुणों से युक्त होती थीं। सहज कविता इन्हें सिद्ध थी, ऐसा ज्ञात होता है। इनका एक पद उद्धृत है—

खेलत रास रसिकनी कंता।
श्री वृन्दावन शरद रैनि नभ पूरन ससि उदयंता।
जाहि जुही चमेली चहुँ दिसि, फूलि रही अगनंता।
मंडल पर रचि सखी मंडली, गति सों नृत्य करंता।
सोहत सेत जरकसी बागे सीस मुकुट कल कंता।
ढुरनि, मुरनि, बंसी की बजवनि, नूपुर सुर सु रचंता।
सनमुख सुलभ गतिन भरि आवत, मुख बीरी बदलंता।
चिबुक उठाइ प्रिया मुख निरखत, नैन सिराइ हसंता।
प्यारी सों गहि बांहि दिये वर, सुख विलास बिलसंता।
यह सुख निरखि 'रतनअलि' उर में आनंद बढ्यौ अनंता।[1]

श्री रंगीली दासी

श्री रंगीलीदासी वंशीअलि जी के कृपापात्र थे। संग्रह के विवरण के अनुसार ये सेंहुडे के निवासी थे। इनके विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं। इनकी रचित श्री किशोरी अलि जी की दो बधाई प्रस्तुत हैं—

---

[1] लेखक के निजी वाणी-संकलन से उद्धृत।

देखी प्रीति सांचली गुरु की ।
कही जात नहिं रसना सों, रुचि, अली किसोरी उर की ।
अचरज कहौ कौन यामें यह, चलि आई है धुर की ।
'दासि रंगीली' रंग बरसावनि, कहनि मांहिं कछु मुरकी ।

जो कोऊ गुरु की नेष्टा पारै ।
सो जन अली किसोरी जू की, रीति हिये में धारै ।
इन विनु को वंसी अलि जी को, रूप अनूप उचारै ।
'दासि रंगीली' सुजस गाइकें, को भव-पार उतारै ।[1]

श्री संकेत अलि

श्री संकेत अलि का मूल नाम शंकर प्रसाद था। ये जाति के मेहरे खत्री और शाहजहांपुर के निवासी थे। श्री वंशीअलि जी की परंपरा के गोस्वामी श्री लाडिली प्रसाद जी के ये प्रिय शिष्य थे। श्री लाडिलीदास जी की परंपरा इन्हीं के अनुसार इस प्रकार है—वंशी अलि, पुंडरीकाक्ष, केशवलाल, लाडिली, अलि राजीव अथवा लाडिलीप्रसाद जी ।

इनका एक ग्रंथ 'संकेत-लता' है, जो बनारस से १९५१ सं० में प्रकाशित हो चुका है। इसका रचनाकाल सं० १९३७ निकलता है, जैसा कि निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट है :—

संवत ऋषि गुण अंक शशि मधु सित नवमी चंद ।
पूरन कीनो ग्रंथ रचि अलि संकेत अनंद ।

'संकेतलता' में कवि की भाव-गरिमा के साथ उसका काव्य-नैपुण्य भी दिखाई देता है। अलंकार और छंदों की योजना में कवि पारंगत है। युगल-लीला को विभिन्न छंदों में कवि ने गाया है। शरद्-ऋतु के विहार का एक पद प्रस्तुत है :—

सरद रितु देखि लता तरु फूल ।
सुंदर स्याम सुजान प्रिया संग, विहरत यमुना कूल ।
स्रवत मयंक अमृत मधु अंबुज, चलत पवन सुखमूल ।
'अलि संकेत' सुधा रत दंपति, अभरण रुचि अनुकूल ।[2]

---

[1] लेखक के निजी संकलन से उद्धृत ।

[2] संकेतलता, पृ० ७४ ।

श्री वल्लभ अलि

श्री वल्लभ अलि का मूल नाम वल्लभ राम था। इनके भाई लज्जाराम थे। इनके संबंध में अधिक ज्ञात नहीं है, इतना ही ज्ञात है कि ये श्री वंशीअलि जी के कृपापात्र शिष्य थे। इनका श्री किशोरी अलि जी के साथ बड़ा स्नेह था। इनकी रचनाएं सुन्दर हैं। उदाहरणार्थ दो छंद प्रस्तुत हैं—

आई तहां वृषभानु सुता, नव आलिन के गन संग लिये।
नव सात सिंगार कें अंगनि में अलिवंसिका अंस पै बाहु दिये।
करकंज में कंज फिरावत भावत गावत अद्भुत हेत हिये।
मनमोहन सोहन आइ अचानक रूप सुधारस नैंन पिये।

प्रानन के अति 'वल्लभ' हो, निहचै तुम में रमैं प्रान हमारे।
याही ते यह नाम सु धारिकें; न्याइ धरौ, दैवज्ञ सु भारे।
नाम को अर्थ विचारि निहारि, करौ करुना रस रूप उजारे।
रूखे न होहु तजौ हिय छोभ, निवाहियै नेहु ये दासि निहारे।[1]

श्री जनहरि अलि

लेखक के संकलन में जनहरि अलि कृत किशोरी अलि जी की अनेक बधाइयां संकलित हैं। इनकी रचना से ये भी सुकवि जान पड़ते हैं। अवश्य ही इनके लीला के पद भी होंगे। ये सखीभाव के उपासक थे।

संकलन के उल्लेखानुसार ये रूपरसिक जी के पुत्र थे। इनका नाम हरिजनदास था। कविता में ये अलि जनहरि छाप रखते थे। यहां उनकी केवल एक बधाई प्रस्तुत है—

बाजत आज बधाई, कुंज सदन मन भाई।
अति आनंद भयौ सबहिन में पुहुप वृष्टि बरपाई।
ललिता जू की परम सहेली, वर वंसी गृह आई।
रस की खानि जानि निज अपनी, दंपति दुति दरसाई।
रोरी तिलक संवारि सखिन रुचि, फूलमाल पहिराई।
'अलि जनहरि' हिय हरखि प्रिया पिय कर धरि सिर अपनाई।[2]

* * *

---

[1] लेखक के निजी वाणी-संकलन से उद्धृत।

[2] वही।

अष्टम अध्याय

प्रणामी–संप्रदाय : सखीभावोपासक प्रमुख कवि

निर्गुणोपासक या सगुणोपासक

हिन्दी-साहित्य के समालोचकों और इतिहासकारों ने अब तक प्रणामी सम्प्रदाय को निर्गुणोपासक सम्प्रदायों की श्रेणी में स्थान दिया है। न जाने क्यों, उनकी ईश्वर की साकारवादी मान्यताओं की ओर समालोचकों का ध्यान नहीं गया है। श्री प्राणनाथ जी की वाणियों में हम साधनाओं के विभिन्न स्तरों का एक ऐसा सामञ्जस्य पाते हैं, जिसमें सगुण और निर्गुण, साकार और निराकार, पुरान और कुरान, वाइबिल और इञ्जील के अनेक तत्त्व अपनी-अपनी पृष्ठभूमियों में मिले हुए हैं। प्राणनाथ जी की वाणियों के अध्ययन से उनके विस्तृत अध्ययन की प्रवृत्ति का ज्ञान होता है। उन्होंने जो कुछ पढा और सुना है उस सभी को अपनी चेतना के अनुसार अपनी उपासना के स्तर-क्रम में स्थान दिया है। इसीलिये हम कहीं उन्हें संसार के समस्त धर्मों की मूल एकता का उपदेश देते हुए देखते हैं, कहीं मानव-धर्म का प्रस्थापन करते हुए वे दिखाई देते हैं, कहीं राष्ट्रीयता की अखण्ड ज्योति जगाते हुए वे हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिये सन्नद्ध हो जाने को कहते हैं, कहीं बेहद्दी सीमा में खड़े हो ब्रह्म का विचार करते हैं और कहीं वे श्रीकृष्ण को ही पूर्ण परब्रह्म बताकर उनकी प्रिया अथवा श्यामाश्याम की सखी के रूप में अपने को प्रस्तुत करते हैं। उनका सखी-रूप अत्यन्त मुखरित है और अपने सखी नाम 'इन्द्रावती' या 'महामति' का उन्होंने अपनी रचनाओं में अत्यधिक प्रयोग किया है।

सगुण-निर्गुण अथवा साकार-निराकार के सम्बन्ध में श्री प्राणनाथ जी ने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। उनकी दृष्टि में वेद और उपनिषद् परमात्मा को शुद्ध साकार कहते हैं। वे कहते हैं निराकार तो शून्य वस्तु का नाम है, जिसमें आकार नहीं होगा, उसमें कर्तृत्व शक्ति कहाँ से आयेगी ? निराकार पदार्थ निर्गुण होता है। वह मन-वाणी से अगोचर होता है। जो निराकार को मानते हैं, वे भी किसी न किसी रूप में साकार को मानते हैं। परन्तु जितने

भी साकार पदार्थ हैं, वे महाप्रलय में नष्ट हो जाने वाले हैं, अतः परमात्मा तो शुद्ध साकार ही है[1]। श्री शंकराचार्य ने भी कहा है कि साकार पदार्थों का विनाश अवश्यम्भावी है, और निराकार शून्य है। जो शून्य है, वह अवस्तु है अर्थात् कुछ नहीं है। जो कुछ नहीं है, वह ब्रह्म भी नहीं है। अतः साकार-निराकार दोनों से परे जो परमात्मा का स्वरूप है, वही मोक्ष है।[2] वास्तव में अहंकार उत्पन्न होने से पूर्व न निराकार था, न शून्य था, न निरंजन था, और न निर्गुण था।[3] सिद्धान्त और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से इस सम्प्रदाय में सगुण और निर्गुण की भूमिका से परे शुद्ध साकार का कथन हुआ है। यह तथ्य वैष्णव सम्प्रदायों के अनुकूल ही है। उनके इस विशुद्ध साकारवादी उपास्य रूप का परिचय उनके सखी-भावोपासक रूप में ही किया जा सकता है।

सम्प्रदाय का नाम

श्री प्रणामी सम्प्रदाय के अनेक नाम हैं। प्राणनाथ जी के गुरु देवचन्द्र जी थे, जिन्हें निजानन्दाचार्य भी कहा जाता है। अतः इस सम्प्रदाय का एक नाम निजानन्दी सम्प्रदाय भी है। प्राणनाथ जी के नाम पर इसे प्राणनाथी सम्प्रदाय कहा जाता है। परब्रह्म के मूल धाम की उपासना करने के कारण ये 'धामी' कहलाते हैं। शिष्टाचार का प्रमुख अंग प्रणाम है, उसको विशेष रूप से अपनाने के कारण ये 'प्रणामी' कहलाते हैं। श्रीकृष्ण को निरन्तर प्रणाम करने वाले इस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को 'कृष्ण प्रणामी' भी कहते हैं। प्राणनाथ जी का एक पूर्व नाम महाराज ठाकुर था, अतः इस सम्प्रदाय को 'महाराज पन्थ' अथवा 'मेराज पन्थ' भी कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के 'खिजडा' और 'चकला' नाम भी सुने जाते हैं।[4]

प्राणनाथ जी की गुरुपरम्परा और गुरु

श्री निजानन्द स्वामी अथवा देवचन्द्र जी को एक परम्परा स्वामी हरिदास

---

[1] विज्ञान सरोवर, दिल्ली, सं० २०१३, पृ० ७९।

[2] साकारस्य विनाशोऽस्ति निराकारस्य शून्यताच्छून्यस्यचावस्तुत्वादुभयपक्ष विभिन्नं वस्तु ज्ञानं मोक्षः। (वज्रसूची से उद्धृत)

[3] अब सुनियों मूल वचन प्रकार, जब नाँहि उपज्यौ मोह अहंकार।
नहीं निराकार, नहीं सुन, नाहीं निरंजन, निरगुन। प्रकटवाणी, ८।

[4] देखिये, उत्तर भारत की सन्त-परम्परा, श्री परशुराम जी चतुर्वेदी, २००८, पृ० ५३७।

जी का शिष्य मानती है। किशोरदास के 'निजमत सिद्धान्त' में भी इनकी कथा है और देवचन्द्र जी की प्रशंसा की गई है।[1] धामी सम्प्रदाय का भी एक पक्ष देवचन्द्र जी को स्वामी हरिदास जी का शिष्य मानता है।[2] कुछ विद्वान् उन्हें स्वामी हरिदास जी के किन्हीं शिष्य हरिदास जी का शिष्य मानते हैं।[3] जो, हो, देवचन्द्र और स्वामी हरिदास जी का सम्वन्ध अनेक स्थानों पर वर्णित हुआ है और उनकी उपासना पर स्पष्ट रूप से स्वामी हरिदास जी के सिद्धान्तों की छाया है अतः इस सम्वन्ध को मान लेना समीचीन ही है। इस प्रकार ये सखी-सम्प्रदाय की परम्परा के अन्तर्गत ठहरते हैं परन्तु स्वामी प्राणनाथ जी ने इस सम्प्रदाय के समस्त सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों ही नहीं ग्रहण किया है। उनके सिद्धान्तों पर उनके व्यक्तित्व की विशिष्ट छाप है तथा व्यापक रूप से उन्होंने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का पुनर्निर्माण ही किया है।

यह निर्विवाद है कि प्राणनाथ जी के गुरु देवचन्द्र जी थे। इनका जन्म मारवाड़ के उमरकोट नामक ग्राम में सं० १६३८ में हुआ था।[4] श्री परशुराम चतुर्वेदी ने उनका जन्म सं० १६५८ लिखा है।[5] परन्तु ये दोनों ही संवत् उनके स्वामी हरिदास जी के शिष्यत्व को सिद्ध नहीं करते, क्योंकि स्वामी हरिदास जी का सं० १६३० के लगभग निकुंजगमन हो चुका था। अतः ये दोनों ही संवत् विचारणीय हैं। अथवा यह मानना होगा कि देवचन्द्र जी स्वामी हरिदास जी के किन्हीं शिष्य हरिदास जी के शिष्य थे।

देवचन्द्र जी के पिता का नाम महतो (मतू मेहता) और माता का नाम कुँवरवाई था। ये वचपन से ही आध्यात्मिक खोज में लग गये थे। अन्त में भूपणदास जी के अनुसार वे स्वामी हरिदास जी के शिष्य हुए और उनसे

---

[1] निजमत सिद्धान्त, किशोरदास, मध्यखण्ड, पृ० ७९।

[2] देखिये, प्रणामी धर्माचार्य श्रीकृष्णप्रियाचार्य का लेख सर्वेश्वर, वृन्दावनांक, वृन्दावन, पृ० १००–१०३।

[3] ये हरिदास जी भोजनगर के बताये गये हैं। देखिये, विज्ञान सरोवर, दिल्ली, पृ० ९।

[4] विज्ञान सरोवर, पृ० ७।

[5] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५२९।

सखीभाव की उपासना ग्रहण की ।[1] देवचन्द्र जी मारवाड़ प्रदेश में धर्म-प्रचार करते रहे । जामनगर में इन्होंने राधाकृष्ण का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया । लगभग ७५ वर्ष की अवस्था में इनका देहावसान हुआ ।[2]

कहा जाता है कि १२ वर्ष की अवस्था में प्राणनाथ जी को उनके माता-पिता ने देवचन्द्र जी को समर्पित कर दिया था । श्री देवचन्द्र जी ने उन्हें उपदेश दिया और अपना शिष्य बना लिया । वे उस समय जामनगर में रहते थे । जामनगर प्रणामी सम्प्रदायानुयायियों का एक विशेष तीर्थ है, जिसे वे नौतपुर भी कहते हैं ।

श्री प्राणनाथ जी

जामनगर (काठियावाड़) के एक संपन्न क्षत्रिय परिवार में सं० १६७५ में श्री प्राणनाथ जी का जन्म हुआ ।[3] इनके पिता का नाम केशव ठाकुर था ।[4]

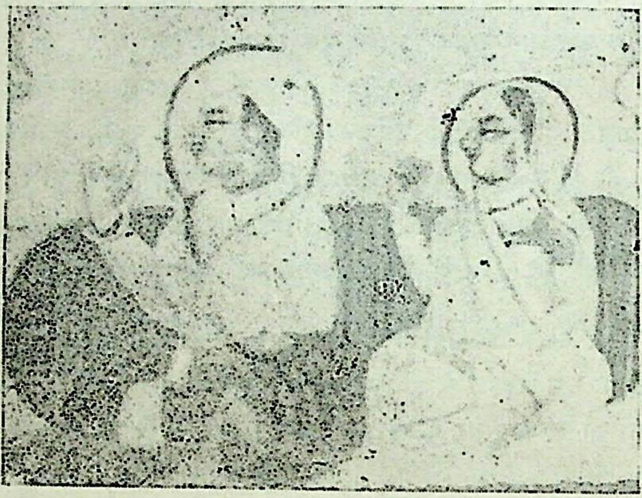

श्री प्राणनाथ जी और बाई जी, प्राचीन चित्र

---

[1] अपनौ सखीभाव करि लीजै । पुरुषभाव अपनौ तजि दीजै ।
वृत्तान्त मुक्तावली ७७ ॥

[2] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५३० ।

[3] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५२८ ।

[4] विज्ञान सरोवर, दिल्ली, पृ० १९ ।

श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इनका नाम क्षेम जी था।[1] प्राणनाथ पांच भाई थे और इनका बचपन का नाम मिहिरराज या महाराज ठाकुर था।

१२ वर्ष की आयु में मिहिरराज गुरु की शरण हुए। जिज्ञासा जाग चुकी थी और बालक मेधावी था इसलिये ज्ञानार्जन करने के लिये उसने तीर्थाटन करना आरंभ किया। भारतवर्ष के सभी तीर्थ उन्होंने छान डाले और संभवतया विदेशयात्रा भी की। उनके अध्ययन की कोई सीमा न थी। संसार के सभी धर्मों का अध्ययन कर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने का प्रयत्न मिहिरराज ने किया। इसके लिये उन्होंने सैकड़ों धर्मग्रंथ और उनकी भाषाओं का अध्ययन किया।

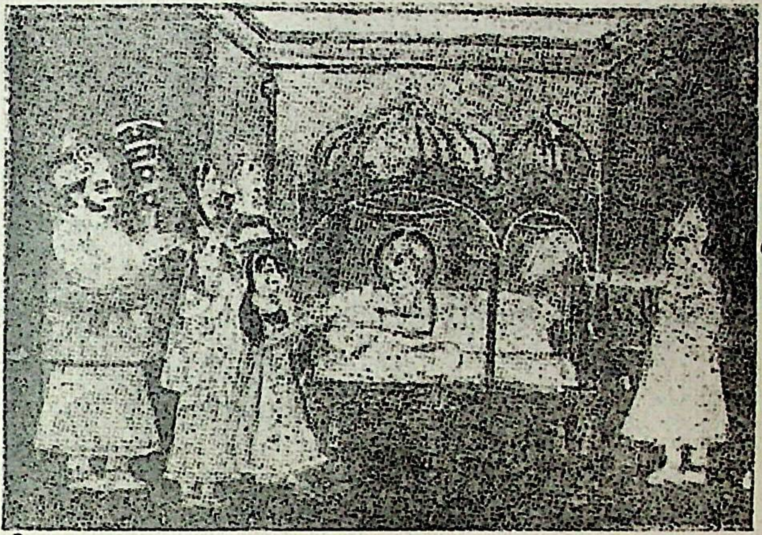

पालकी में श्री प्राणनाथ जी एवं साथ में अन्य भक्तगण

श्री कृष्णप्रियाचार्य जी से प्राप्त।

प्राणनाथ जो ने ज्ञानोपदेश करना आरम्भ किया। अनेक व्यक्ति उनके शिष्य होने लगे। वे अपनी मण्डली को 'सुन्दर-साथ' कहते थे। भक्तमण्डली को अपने गुरु में साक्षात् परमात्मा के दर्शन होते थे अतः वे उन्हें अपनी आत्मा या प्राणों का नाथ कहते थे, इसी से उनका नाम प्राणनाथ हुआ।

वि० सं० १७३५ में प्राणनाथ जी ने हरिद्वार कुम्भ के मेले में अपने

---

[1] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५२८।

सम्प्रदाय का प्रचार किया। तत्पश्चात् वे दिल्ली गये। जनता यवनों के अत्याचारों से पीडित थी। कहा जाता है कि वे औरंगजेब से भी मिले और उसे समझाया परन्तु परिणाम उलटा ही निकला। तब प्राणनाथ जी ने राजपूतों को संगठित करने का यत्न किया, जिसमें वे सम्भवतः सफल नहीं हुए। एक बार जब ये बुन्देलखण्ड पहुँचे, वहाँ मऊ के निकट किसी जङ्गल में इनकी महाराज छत्रसाल से भेंट हुई। छत्रसाल इनसे प्रभावित हुए। स्वामी जी ने इन्हें आशीर्वाद दिया:—

छत्ता तेरे राज में धकधकं धरती होय।
जित जित घोड़ा मुख करे, तिततित फत्ते होय॥[1]

प्राणनाथ जी की राष्ट्रीयता बड़ी प्रखर थी। धर्म की रक्षा के लिये उन्होंने देशवासियों को जिस वाणी में पुकारा है, वह उनके तेजस्वी विचारों और उनके हृद्गत राष्ट्रीय भावों की परिचायक थी। प्राणनाथ जी की धर्मरक्षा की यह पुकार[2] तत्कालीन राष्ट्रीयजीवन की एक सच्ची कसक है। धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से उनकी चेतना उद्बुद्ध थी। इस दृष्टि से वे अपने युग की स्वतन्त्रता के अग्रदूत थे। उनकी यह पुकार कम से कम

---

[1] विज्ञान सरोवर पृ० २०।

[2] राजाओं मिलो रे, राणे राज के, धर्म जाते कोई दौड़ो।
जागो हे जोधाओ, उठो खड़े रहो, नींद निगोड़ी छोड़ो॥

× × ×

त्रिलोकी में उत्तम खण्ड भरत का, तामें उत्तम हिन्दू धरम।
ताके छत्रपतियों के सिर, आय रही इत सरम॥
भरतखण्ड हिन्दू धरम जानिके, मांगे विष्णु संग्राम अरथ।
फिरत आप ढंढेरा पुकारता, है कोई देवे रे समरथ॥
हरद्वार ढहाये उठाये तपस्वी तीरथ, गौवध कसाइयों रे विघन।
ऐसा जुलुम हुआ जग में जाहेर, पर कमर ना बांधी रे किन॥
प्रभु प्रतिमा रे गज पाउं बांध के, घसीट के खण्डित कराय।
फरसबन्दी ताकी करके, तापर खलक चलाय॥
असुरे लगाया हिन्दुओं पर जजिया, वाको मिले नहीं खानपान।
जो गरीब दे ना सके जजिया, ताय मार करे मुसलमान।

(प्रेमपाठ, पृ० ३५)

बुन्देलखण्ड में तो अवश्य ही राष्ट्रगीत का काम देती होगी। सम्भवतः इसी के बल पर छत्रसाल जीवन भर औरंगजेब से जूझता रहा।

प्राणनाथ सिद्ध योगी थे। उन्होंने छत्रसाल को हीरे की खान बताई तथा अन्य अनेक चमत्कार दिखाये। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में इन्होंने कालपी में एक धर्मसभा की। इनका देहावसान सं० १७५१ में हुआ।[1]

स्वामी प्राणनाथ का जीवन बहुमुखी था। वे देशभक्त, सुधारक [illegible] उपदेशक, योगी, साधक और उपासक सब कुछ थे। उनका व्यक्तित्व निस्संदेह अति महान् था।

रचनाएँ

ग्राउज़ के अनुसार प्राणनाथ जी की रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं:— १. रामग्रन्थ, २. प्रकाशग्रन्थ, ३. पट्ऋतु, ४. कलस, ५. सम्बन्ध, ६. किरतन, ७. खुलास, ८. खेलवात, ९. प्रकरण इलाही दुलहन, १०. सागर सिंगार, ११. वड़े सिंगार, १२. सिंधि भाषा, १३. मारफत सागर और १४. कयामतनामा।[2] श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार उनके ग्रन्थ हैं—१. प्रकटवानी, २. ब्रह्मवार्ना, ३. बीस गिरोहों का वाब, ४. बीस गिरोहों की हकीकत, ५. कीर्तन, ६. प्रेम पहेली, ७. तारतम्य, ८. राजविनोद तथा ९. विराट चरितामृत। परन्तु उनका प्रमुख ग्रन्थ 'कलजमे शरीफ' है।[3] इस सम्प्रदाय के सखीभावोपासक 'तारतम सागर' को उनका प्रमुख ग्रन्थ मानते हैं।[4]

सिद्धान्त

कहा जा चुका है कि स्वामी प्राणनाथ जी के सिद्धान्त उपासना के विभिन्न स्तरों को ग्रहण करते हैं, परन्तु अन्तरङ्ग उपासना में राधाकृष्ण ही उनके इष्ट हैं। राधाकृष्ण की उपासना के सिद्धान्तों को भी उन्होंने व्यापक क्षेत्र से संचित किया है परन्तु उनका मुख्य आधार-ग्रन्थ भागवत पुराण है।

---

[1] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५३१।

[2] मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मैमोअर, ग्राउज, १८८३ ई०, पृ० २३१।

[3] उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५३३।

[4] तारतम सागर ग्रन्थ प्राणनाथ रचित है। वस्तुतः यह अनेक ग्रन्थों का संकलन है। इस ग्रन्थ के महत्वपूर्ण अंशों का प्रकाशन 'प्रेमपाठ' नाम से सं० २०१३ में दार्जिलिंग से हुआ है।

उनके अनुसार भागवत वेदों का सार है, जिसकी रचना सब शास्त्रों के अनन्तर हुई है।[1] शुक ने इस परम पक्व फल को प्राप्त किया है। भागवत का सार दशमस्कन्ध है। इसमें ९० अध्याय हैं। इनका सार ३५ अध्यायों में है। ये ब्रजलीला से सम्बन्धित हैं।[2] ब्रह्मलीला के दो रूप हैं, ब्रजलीला और रासलीला। पहले तीस अध्याय बाल चरित्र के हैं परन्तु इसका भी सार अगले पाँच अध्यायों (रास पंचाध्यायी) में है।[3] यह योगमाया द्वारा प्रकट लीला रास था, जब शरद में अखण्ड चेतना का विलास हुआ था। यह परम रहस्यमय लीला शुकदेव जी आवेश में आकर कह गये थे परन्तु परीक्षित इसे सहन न कर सका। शुकदेव जी उल्लासपूर्वक उस लीला का वर्णन आगे करना ही चाहते थे कि परीक्षित ने बीच में ही प्रश्न कर दिया। वास्तव में वह लीला-श्रवण का पात्र न था अतः शुकदेव जी ने दुःखी होकर आगे लीला नहीं कही। राजा का भी दोष क्या था, ब्रह्मसृष्टि के बिना कोई भी उस स्थल को पहुँच नहीं पाता।[4] यह रास सबका सार है। वही इन्द्रावती (प्राणनाथ का सखी नाम) के मुख से प्रकाशित हुआ है। यह रास का सार ही तारतम के रूप में प्रकट है।[5] उस रास में भाग लेना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है, प्राणनाथ कहते हैं कि देखें यह 'जागनी रास' कब मिलता है।[6]

विभिन्न लोक और परब्रह्मधाम

संप्रदाय की मान्यता के अनुसार इस सृष्टि का कर्ता नारायण।

---

[1] वेद कौ सार कह्यौ भागवत। यह उपजा शास्त्रों कें अंत। भागवत कौ सार, प्रेमपाठ, पृ० ३४

[2] यह फल जो भागवत भयौ। ताको सार दशमस्कन्ध कहो॥
दशम के नब्बे अध्याय। तिनका सार जुदा कहाय॥
ताको सार अध्याय पेंतीस। जो ब्रजलीला करी जगदीस॥ इत्यादि
वही, पृ० ३५

[3] वही, पृ० ३५

[4] योगमाया को लीला रास। रात अखण्ड चेतन विलास॥
यह लीला शुके आवेश में कही। राजा परीक्षित से सही न गई॥
वही पृ० ३५

[5] वही, पृ० ३६

[6] वही, पृ० ३६

उसी से चौरासी लाख योनियाँ और चौदह लोक बने। बीस लाख योनियाँ स्थिर वृक्षादि जीवों की हैं। ९ लाख योनियाँ जल-जंतुओं की हैं, ११ लाख कीडों की हैं, १० लाख पक्षियों की हैं, ३० लाख योनियां चतुष्पदों की हैं और ४ लाख योनियाँ मनुष्यों की हैं, इस प्रकार ८४ लाख योनियाँ हैं।[1] पृथ्वी के नीचे पाताल, रसातल, महातल, तलातल, सुतल, वितल और अतल लोक हैं। पृथ्वी मृत्युलोक है। इसके ऊपर भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक हैं। सत्यलोक ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश का धाम है। परंतु महाप्रलय में चौदह लोक भी नष्ट हो जाते हैं।[2] इन चौदहों लोकों का नाम ब्रह्माण्ड है। ऐसे ब्रह्माण्ड अगणित हैं। धूल के कणों की संख्या भले ही कर ली जाये, परंतु ब्रह्माण्डों की संख्या करना कठिन है।[3]

इन असंख्य ब्रह्माण्डों के ऊपर ज्योतिस्वरूप का स्थान है। ज्योतिस्वरूप को ही ईश्वर, शब्दब्रह्म, मृत्युंजय, व्यापक ब्रह्म कहा जाता है। इन से पचास करोड़ योजन ऊपर 'गायत्री' नाम की शक्ति निवास करती है। इसके ऊपर महत्तत्त्व है। इसके ऊपर सात शून्य हैं। यहीं अनंत दिव्य लीला होती है। योगी इसी शून्य में ध्यान लगाते हैं। इनसे ऊपर महाविष्णु आदि नारायण का स्थान है। यहाँ तक के समस्त लोक महाविष्णु से उत्पन्न होकर उन्हीं में लय होते हैं। ये सब क्षर हैं। इनसे ऊपर अक्षर पुरुष है। अक्षर ही अव्याकृत पुरुष है। यह अव्याकृत सदैव अविकृत रहता है। यह अखंड और, अविनाशी है। यह ओंकार का नित्य स्थान है। इसी में गोलोक और रासलीला का प्रतिबिंब है। कबीर, शुकदेव, सनकादिक आदि का यही मुक्तिस्थान है। अव्याकृत के ऊपर अक्षर ब्रह्म का चित्त रूप अंतःकरण है जिसे सवालिक ब्रह्म कहते हैं। इसकी शक्ति का नाम कालमाया या सुमंगला शक्ति है। इसी सवालिक ब्रह्म के स्थान में नित्य गोलोक लीला होती है। जहाँ नंद, यशोदा, गोप, गोपी, ग्वाल सब हैं। केवल ब्रह्म की शक्ति का नाम

---

[1] बीस धीर, नव वारिचर, रौद्र कीट दश लक्ष।
तीस चतुर्पद, चारि नर, यह चौरासी लक्ष॥
विज्ञान सरोवर, पृ० ५७

[2] विज्ञान सरोवर, दिल्ली, पृ० ६४–६७।

[3] वही, पृ० ६८।

योगमाया है। अखंड वृन्दावन उसी का स्वरूप है। यहीं श्रीकृष्ण और राधा नित्य लीला में संलग्न रहते हैं। केवल ब्रह्म के ऊपर अक्षय ब्रह्म का मन रूप अन्तःकरण है। व्रजगोपियाँ इसी मन से उत्पन्न हुई हैं। यमुना के पार का यह स्थल ही पूर्णब्रह्म परमात्मा का निवासस्थान है। यही परमात्मा का धाम है। इससे परे कुछ नहीं है।[1]

श्रीधाम वर्णन

प्राणनाथ जी के श्रीधाम का वर्णन वैष्णवों के दिव्य वृन्दावन धाम का ही वर्णन है। उन्होंने वहां के भवन, चबूतरे, पुष्पसज्जा, वन, उपवन, वेलि, क्यारियाँ, यमुना, घाट आदि का विस्तृत वर्णन किया है। यह वर्णन अत्यंत दिव्य और वैभवमय है। यह धाम अखंड वृन्दावन है।[2]

श्रीराज एवं श्यामा और सखियाँ

इस नित्य वृन्दावन धाम में चित्रकृत चक्र के ऊपर युगल विहारी विराजमान हैं।[3] वे दोनों प्रिया-प्रिय एक स्वरूप हैं। लीला के लिये दो हैं।[4] किशोर की लीलाओं का सुख सखियों को ही प्राप्त होता है। इस लीला का सुख कहा नहीं जा सकता।[5] राज (श्रीकृष्ण) और श्यामा जी (राधा जी) सखियों की सेवा प्रसन्नता से स्वीकार करती हैं। सखियाँ स्वयं प्रफुल्लित होकर समय-समय पर सेवा-रत रहती हैं। वे प्रिया-प्रिय को भोजन कराती हैं, उनके वस्त्र बदलती हैं, उनके सम्मुख नृत्य करती हैं, संगीत का आयोजन करती हैं।[6] संध्या को श्रीराज और श्यामा शय्या पर पधारते हैं और

---

[1] विज्ञान सरोवर, पृ० ६४ से ७४

[2] देखिये, प्राणनाथ रचित—श्रीधाम वर्णन, प्रेमपाठ, पृ० २८

[3] कई चाकिले चित्रकारी तापर बैठे जुगल विहारी। १७५।
श्रीधामवर्णन, प्रेमपाठ पृ० २९।

[4] स्वरूप एक हैं लीला दोई। वही, पृ० २२।

[5] और यह तो लीला किसोर। सखियाँ सुख लैवें अति जोर॥
यह लीलासुख केता कहूँ। याको पार प्रमान न लहूँ॥ वही, पृ० २३।

[6] यह सब इच्छा सों जो मंगावैं। पर सखियों को सेवा भावै॥
सैया सेवा करन वेलि लावैं। लैवैं एक दूजी पै छिनावैं॥

नित्यविहार होता है। वह प्रेम अकथनीय है। चित्त में सुख लेने की इच्छा होती है।[1] इस नित्य धाम का दरवाजा इन्द्रावती (प्राणनाथ) ने ही खोला है।[2]

श्रीकृष्ण की अवतारकालीन लीलाओं का स्वरूप

श्री प्राणनाथ जी ने श्री श्यामाश्याम जी को ही अपना धनी बताया है।[3] 'प्रगट वाणी' में उन्होंने ब्रज में श्रीकृष्ण को पूर्ण परब्रह्म माना है परन्तु वे उनकी लीला और स्वरूप में तारतम्य मानते हैं। श्रीकृष्ण ही परमतत्व हैं, यह सत्य है परन्तु उन्हें बहुत कम लोग जान पाते हैं। वैकुण्ठ, गोलोक और अखण्ड वृन्दावन के भेद से कृष्ण का स्वरूप तीन प्रकार का है।[4]

असुरों का संहार करने वाला श्रीकृष्ण का स्वरूप वैकुण्ठनिवासी विष्णु का अवतार है। वसुदेव, देवकी ने जिस चतुर्भुज विष्णु से पुत्र होने का वरदान पाया था, वे उनके यहाँ उसी रूप में अवतरित हुए।[5] तदुपरान्त वे

श्री राज बैठे वार्ता करैं। श्री श्यामा जी चित धरैं॥
सखियाँ अरस परस करैं हास। लैवैं धनी जी को विविध विलास॥
सखियाँ दौरि दौरि कें जावैं। आरोगन की वस्तु लावैं॥
हुआ सन्ध्या को अवसर। श्रीराज स्यामा जी बैठे सिंगार कर॥ इत्यादि,
वही, पृ० २६

[1] श्री राज स्यामा सेज्या पधारैं। कोई कोई वस्तर भूषण बधारैं॥ इत्यादि
वही, पृ० २७

[2] प्रियाजी कहैं इन्द्रावती। तेज तारतम जोति करावती॥ इत्यादि,
वही, पृ० ३०

[3] अपने धनी श्री स्यामा स्याम। अपना वासा है निज धाम॥
प्रकटवाणी, पृ० ४

[4] कृष्ण कृष्ण सबही कहैं पर भेद न जाने कोय।
नाम एक विध है सही पर रूप तीनि विध होय॥
एक भेद वैकुंठ का दूजा हो गोलोक।
तीसरा धाम अखंड का कहत पुराण विवेक॥ ज्ञान सरोवर, पृ० ९६

[5] कंस के बंध वसुदेव देवकी। इत आई सुरति चतुर्भुज की॥
सुरति विष्णु की चतुर्भुज जोय। दियौ दरसन वसुदेव कों सोय॥
प्रकटवाणी, पृ० ५

गोलोक के दो भुजा धारी कृष्ण के रूप में परिणत हो गये।[1] क्योंकि अपने उसी रूप में उन्हें ब्रज में लीला करनी थी। ये लीलाएँ ग्यारह वर्ष और बावन दिन हुईं।[2] कंस गोलोक का एक सखा था, जो शाप के कारण असुर बना। उसका उद्धार करने के लिए भी गोलोकवासी श्रीकृष्ण को आना था। यह कृष्ण का दूसरा स्वरूप है।[3]

इन्हीं गोलोकवासी कृष्ण के अन्दर परमधामवासी पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया। उसीसे उन्होंने रासलीला की थी। भगवान् की यह रासलीला पूर्णपरब्रह्म की रासलीला थी। इसके पश्चात् सात दिन तक गोलोकवासी श्रीकृष्ण की शक्ति ब्रज में रही और तदुपरान्त उसी शक्ति से कंसादि का वध किया। फिर गोलोकवासी कृष्ण की शक्ति निकल कर ब्रज की गोपियों में प्रविष्ट हो गई। द्वारका की समस्त लीलाएँ कृष्ण के विष्णु रूप से सम्पन्न हुईं।

पूर्णब्रह्म परमात्मा के श्रीकृष्ण में अवतार का क्या कारण था, इसको स्पष्ट करते हुए प्राणनाथ जी कहते हैं, वर्णित लोकों में जो सर्वोच्च अक्षर धाम है, उस से उत्पन्न सखियों के चित्त में धनी जी का प्रिय विलास देखने की इच्छा हुई।[4] वे ब्रह्मसृष्टि की सखियाँ ही ब्रज में गोपिकाएँ बनीं। उनके साथ गोलोक के श्रीकृष्ण भी लीला-विलास नहीं कर सकते थे अतः पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण ही अपने उस रूप में अवतरित हुए। यही पूर्णपरब्रह्म इस सम्प्रदाय के इष्ट हैं।[5] तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं में प्राणनाथ जी ने एक तारतम्य माना है और इन सबसे ऊपर उन्होंने वृन्दावन के लीला-विलास को स्थान दिया है।

---

[1] पीछे फिर काहे के हकीकत। अब दो भुजा की कहूँ विगत॥
वही, पृ० ५

[2] अग्यारे वर्ष और बावन दिन। तापीछे पहुंचे वृंदावन॥ वही, पृ० ६

[3] वही, पृ० ८।

[4] अक्षर मन उपजी यह आस। देखौं धनी जी को प्रेम विलास॥
तब सखियों मन उपजी येह। खेल देखैं अक्षर का जेह॥ वही, पृ० ५

[5] प्रकट वाणी, प्राण नाथ जी, पृ० ५।

प्राणनाथ जी का सखी-रूप

मथुरा द्वारिका लीला करने के पश्चात् श्रीकृष्ण अपने धाम चले गये।[१] मूल धाम की सखियाँ पुनः रास की आशा करती रहीं।[२] तब श्यामा जी का अवतार देवचन्द्र जी के रूप में हुआ।[३] उन्होंने ही समस्त लीलाओं का परिचय कराया।[४] उनके द्वारा दिखाये मन्दिर, महल, धाम और लीला का जितना विस्तार किया जाय, थोड़ा ही है।[५] देवचन्द्र जी सुन्दरबाई नाम से प्रसिद्ध हुए।[६] प्राणनाथ कहते हैं कि उन्होंने मेरा नाम 'इन्द्रावती' रखा[७] और मुझी से नित्यधाम का प्रचार कराया।[८]

उपासना का स्वरूप

प्राणनाथ जी ने भक्ति का विवेचन करते हुए अंत में उसे दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य चार प्रकार की बताया है। इनमें माधुर्य भक्ति सर्वोच्च है। इसी से युगल-चरण प्राप्ति होती है :—

निसिदिन गहिरा प्रेम सों, युगल स्वरूप के चरन।
निर्मल होना याही सों, और धाम बरनन॥[९]

---

[१] मथुरा द्वारिका लीला कर। जाय पहुँचे विष्णु वैकुण्ठ घर॥ वही, पृ० ८

[२] अब मूल सखियां धाम की जेह। तिन फेर आय धरी इत देह॥
रास खेलवे उमेद रही तित। सो ब्रह्म सृष्टि आई इत॥
वही, पृ० ८

[३] यामें सूरत आई स्यामा जी की सार। मतु मेहता घर अवतार॥
आये देवचन्द्र जी नौतनपुरी। सुख सबन कों देवे कों देह धरी॥
वही, पृ० ८

[४] वही, पृ० ९

[५] वही, पृ० ९

[६] वही, पृ० ९

[७] मैं सुन्दरबाई के चरणों रहूँ। ए दया मुख किस विध कहूँ॥
कह्यौ ताकौ इन्द्रावती नाम। ब्रह्म सृष्टि मिने घर धाम॥
प्रकट वाणी, पृ० ११

[८] आप भी खोले ना दरबार। मुझ से खोलाय कियौ विस्तार॥
वही, पृ० ११

[९] प्रेमभक्ति २, प्रेमपाठ, पृ० ८६।

सखीभाव से रासलीला की प्राप्ति ही जीव का लक्ष्य है। सखीरूप से रास-रस की प्राप्ति होती है। वह लीला कितनी दिव्य और नूतन है इसे प्रिय के साथ रहने वाले के अतिरिक्त और कोई कहीं जानता। स्वामी प्राणनाथ जी ने सखीभाव में कांताभाव को भी स्थान दिया है और सखीभाव को भी। श्यामाश्याम और वृंदावन के प्रति उनकी अपूर्व निष्ठा है।

धामी संप्रदाय के अनुयायी षोडशाक्षर तारतम्य मंत्र का जप करते हैं। वे माथे पर तिलक लगाते हैं और गले में कंठी धारण करते हैं। प्राणनाथ जी ने मूर्तिपूजा का उपदेश नहीं किया था, वे मानसी सेवा को ही श्रेष्ठ समझते थे। इनके अनुयायी तारतम्य ग्रंथ की पूजा करते हैं।

साहित्यिक मूल्यांकन

स्वामी प्राणनाथ जी की रचनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध कर सकना कठिन कार्य है। फिर भी उनके जितने ग्रंथ आज प्राप्त हैं, उनसे उनकी धारणा शक्ति की महत्ता के साथ ही उनकी काव्यशक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। इन्होंने अपने ग्रंथों में खड़ी बोली, व्रज, गुजराती, मारवाड़ी, सिंधी, उर्दू, फारसी आदि अनेक भाषाओं का बेधड़क प्रयोग किया है। इसीलिये सामान्य पाठक को इनके सम्पूर्ण काव्य को समझने में कठिनाई होती है। कहीं-कहीं भाषा अधिक खिचड़ी हो गई है और दुरूह बन गई है। फिर भी भाषा के विस्तृत स्वरूप पर उनका अधिकार है, ऐसा कहा जा सकता है।

सिद्धान्तों के निर्वचन में प्राणनाथ जी ने सूक्तियों का उपयोग किया है। उनकी कल्पना सहज उदाहरणों को संकलित करने में सिद्धहस्त है और इस प्रकार वे विषय को बोधगम्य बना देते हैं। एक उदाहरण देखिये :—

कबूतर बाजीगर के जैसे कंडिया भरिया।
तबही देखे फूक देय तुरत खाली करिया॥
ऐसी बाजी छल की ब्रह्माण्ड जो रचियौ।
देख बाजी कबूतर, साथ माहे मचियौ॥

स्वामी प्राणनाथ जी की रचनाओं में काव्यसौष्ठव भले ही उच्चकोटि का न हो, परन्तु वे पाठक को मानव-जीवन की एक व्यापक भूमिका का दर्शन कराती हैं। उनके धाम-वर्णन आदि सखीभाव के प्रसंग विशेष सुन्दर हैं और उनमें लालित्य भी है।

* * *

अन्य रचनाकार

स्वामी प्राणनाथ जी के शिष्यों में अनेक वाणीकार हुए हैं और उनका सखीभाव सम्बन्धी साहित्य प्राप्त है। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कुछ का उल्लेख किया जा रहा है।

श्री मुकुन्ददास जी

ये स्वामी प्राणनाथ जी के शिष्य थे। इनके सिद्धान्त के अनेक पद हैं। एक पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :—

कृष्ण नहीं अवतारी साधो, कृष्ण नहीं अवतारी।
पूरण ब्रह्म सनातन दोय भुज, कहत हैं निगम पुकारी॥
गोपी कृष्ण अनादि एक हैं, जल तरंग ज्यों वारी।
कारण मूल रच्यौ एक कारज, आय भई ब्रजनारी॥
वेद रिचा तलफत ब्रज छोड़ी, विरह दाह में जारी।
कृष्ण द्वारिका काहे न बुलाई, गोकुल गोप कुमारी॥
लीला त्रिविध भई नाना विधि, वाल तरुन बृध भारी।
कहत मुकुन्द सतगुरु समरथ, कोई न सकै निरवारी[1]॥

महाराज छत्रसाल

ये इतिहासप्रसिद्ध राजा छत्रसाल हैं। पहले इन्होंने रामभक्ति की कविता की थी। प्राणनाथ जी के शिष्य होने पर इन्होंने उनके सिद्धान्तों के अनुसार कविताएँ लिखी। इनमें सखीभाव का भी सुंदर प्रकाशन हुआ है। एक उदाहरण है—

पूरण ब्रह्म ब्रह्म से न्यारे आनन्द अखण्ड अपार।
शिव सनकादि आदि के इच्छित, शेप न पावैं पार॥
अगम जानि कें निगम कहाये, खोजि खोजि पचिहार।
जानि मूलधनी अंगना अपनी सों घर आये हमार॥
श्री ठकुरानी जी सखियनि सूदो लीन्हें संग अपार।
त्रिगुण पास के फंद परे थे सो फन्दा निरवार॥
वारी वारी जाऊं मैं अपने पिया पर, शोभा मुख से न आवै।
सिंहासन आसन बैठारूं 'छत्रसाल' गुन गावै॥[2]

---

[1] मुकुन्ददास जी के हस्तलिखित पद।

[2] विज्ञान सरोवर से उद्धृत।

श्री भूषणदास जी

श्री भूषणदास जी इस सम्प्रदाय के वाणीकार तथा इतिहासकार हैं। श्री पं० कृष्णदत्त जी के अनुसार इनका समय सं० १७५५ है। ये प्राणनाथ जी के समकालीन ही ठहरते हैं।

श्री भूषणदास जी ने 'बोधसागर' और 'वृत्तान्त मुक्तावली' दो ग्रन्थों की रचना की है। 'वृत्तान्त मुक्तावली' में देवचन्द्र जी और प्राणनाथ जी के चरित्रों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इन्होंने देवचन्द्र जी को स्वामी हरिदास जी का ही शिष्य बताया है और उन्हें सखीभाव का उपासक लिखा है। सखीभाव का सिद्धान्त बताते हुए वे कहते हैं :—

श्रीकृष्णचन्द्र जानौं गुरु आपन। श्यामा निज उपासन थापन॥
सखी बिना इत पुरुष न पहुँचै। कोटि कष्ट करि जो मन सोचै॥
तातें सखीभाव करि लीजै। पुनि यह नाम मन्त्र रस पीजै॥

धाम का सुन्दर वर्णन भी देखिये :—

नित्य वृन्दावन सदा निज, नित्य अचल लहौं।
ब्रह्माण्ड पिण्ड नसैं सवै, यह अखण्ड दूरि कह्यौ॥
रस रहस हास विलास रास, सदा अभंग हुलास।
मणि हेम हीरा जटित छिति अधिक जोति उजास॥
चर अचर चेतन सवै, चित चहे सब सुख लहैं।
सिकता जमुना जटित मणिमय, त्रिविध मारुत बहै॥
जहं छहौं रितु नित निशाकर युत विरह नाहिं वियोग॥
जहं स्याम स्यामा सखिन सहित, कटाच्छ प्रेम संजोग।
जहाँ हरष शोक न जरा आरति, सत्व रज तम नाहिं॥
उद्वेग विछुरन जहाँ नहिं है, सदा आनन्द मांहिं।
शिव विरंचि रमा रमण, सन शुक मुनी नहिं व्यास॥
शेष सारद निगम नारद, करहिं तिहिं पद आस।
उत्कृष्ट कुंजविहार वृंदावन, अखण्ड अनूप॥
इहिं रमन सुमिरन मन सदा, कर जुगल रूप सरूप।
हरिदास की निज आस यह, पद इष्ट मन्त्र निदान॥
देवचन्द्र कौं देन सोइ, मनहिं ठन्यौ ए ठान।

(वृत्तान्त मुक्तावली से)

नवम अध्याय

शुक-संप्रदाय (चरणदासी संप्रदाय)

सखीभावोपासक प्रमुख कवि

संप्रदाय का नाम

विवेच्य संप्रदाय के संस्थापक श्री स्वामी चरणदास जी थे अतः इस संप्रदाय को 'चरणदासी संप्रदाय' कहा जाता है। स्वामी चरणदास जी ने अपने ग्रंथ में गुरु-महिमा का अपूर्व वर्णन किया है और शुकदेव जी को उन्होंने अपना गुरु बताया है। उनके अनुसार इस संप्रदाय का नाम शुकदेव मुनि का संप्रदाय 'शुक संप्रदाय' है।[1] इस संप्रदाय के ये दोनों नाम प्रचलित हैं।

परिस्थितियां

शुक संप्रदाय की स्थापना का समय राजनीतिक और सामाजिक दृष्टियों से भारत, विशेषकर हिन्दुओं के लिये अत्यन्त कष्टकर था। श्री चरणदास जी का जीवनकाल सं० १७६० से सं० १८३९ वि० तक है। इसी बीच १७६४ वि० में हिन्दुओं के विरोधी मुगल बादशाह औरंगजेब की अहमदनगर में मृत्यु हुई। उसके पुत्र बहादुरशाह की मृत्यु सं० १७६९ में हुई। तत्पश्चात् निरंतर संघर्ष कर मुहम्मदशाह सिंहासन पर बैठा। सं० १७९६ में भारत को नादिरशाही आक्रमण का सामना करना पड़ा। सं० १८०४, १८०८, १८१३ और १८१४ में लगातार भारत पर अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण हुए। दूसरे आक्रमण में ही उसने पंजाब को जीत लिया। तीसरे में उसने दिल्ली में कत्लेआम किया और चौथे में उसने मराठों की शक्ति का पानीपत में पतन कर दिया। तात्पर्य यह है कि यह काल राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही उथल-पुथल का काल था।[2]

---

[1] संप्रदाय शुकदेव मुनि, चरणदास गुरुद्वार।
परम धर्म भागवत मत, भक्ति अनन्य विचार।
भक्ति सागर, चरणदास जी, लखनऊ, पृ० ४७८।

[2] ऐन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड ऐथिक्स, भाग ३, पृ० ३६५।

हिन्दुओं की स्थिति इस समय बड़ी हीन थी। नृशंस औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारियों के समाजविरोधी और धर्मविरोधी आदेशों के नीचे वे पिस रहे थे। धर्म का सामूहिक आचरण कर सकना असंभव था। इसका परिणाम यह हुआ कि पुनः एकबार भारतीय धर्म रहस्यवाद की ओर उन्मुख हुआ और आन्तरिक साधनाएं उस समय के साधकों का आश्रय हुईं। सगुण भक्ति का विकसित रूप अब भी भक्तिकेन्द्र मथुरा, वृन्दावन आदि में जीवित था परन्तु भक्तों को प्रायः इन स्थानों से बाहर चला जाना पड़ता था। इसी काल के प्रसिद्ध कवि चाचा वृन्दावनदास जी को प्रायः वृन्दावन से बाहर रहना पड़ा था और घनानंद को तो अपनी जीवनलीला ही समाप्त कर देनी पड़ी। जो हो, इस आपत्ति काल में सगुण और निर्गुण दोनों उपासनाएं बहुत ही निकट आ गईं और स्वामी चरणदास जी की साधना के रूप में दोनों का अपूर्व समन्वय हुआ। स्वामी चरणदास जी ने प्रायः समस्त भारतीय उपासनाओं के लिये एक सामान्य रंगमंच देने का स्तुत्य प्रयत्न किया, जो उस काल की सबसे बड़ी आवश्यकता थी।

संप्रदाय का स्वरूप

हिन्दी के जिन विद्वानों ने चरणदासी संप्रदाय का अध्ययन प्रस्तुत किया है, उन्होंने चरणदास जी को निर्गुण परंपरा में ही रखा है।[1] इस संप्रदाय के सगुण तत्व पर अभी तक प्रायः विचार नहीं हुआ है। सम्प्रदाय का वर्तमान रूप प्रायः सगुणोपासक है। उनके इष्ट विशेषरूप से राधा-कृष्ण ही हैं परन्तु स्वामी चरणदास जी ने निर्गुण-सगुण दोनों का ही कथन किया है।[2] उनके ग्रंथ 'भक्तिसागर' के अधिकांश भाग में निर्गुण, निराकार, निरञ्जन का कबीर आदि के समान गान हुआ है।[3] परन्तु स्वामी चरणदास जी कबीर के समान सगुण के कहीं भी विरोधी नहीं हैं। वे कहते हैं, जो निर्गुण है, वही सगुण होकर भी अनेक आश्चर्यजनक लीलाओं का विस्तार कर रहा है। वह निर्गुण है, सगुण भी है, दोनों से परे भी है। उसकी शक्ति, लीला, गुण, भाव और कौतुक अनंत हैं। श्री चरणदास जी ने सगुण भक्तों के समान ही ईश्वर के

---

[1] उत्तरीभारत की संत परंपरा, श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ५९६

[2] सूरदास सर्गुण कथे, निर्गुण कथे कबीर।
चरणदास दोनों कथे, पूरणपुरुष गंभीर—संकलित।

[3] अलख निरंजन अगम अपार आदि पद, भक्तिसागर, पृ० १७७।

अवतारों का लीला-गान किया है। भगवान् के दशावतारों की वन्दना उन्होंने की है, चौवीस अवतारों की कथा का गान उन्होंने किया है और उन अवतारों में से राम और कृष्ण को सर्व प्रकार से श्रेष्ठ पूर्ण कलासंपन्न माना है। राम और कृष्ण की उपासना का उन्होंने विशेष रूप से उपदेश दिया है।[1] इन दोनों में से श्री कृष्ण की उपासना पर उन्होंने विशेष वल दिया गया है और स्वामी चरणदास जी ने उन्हें ही अपना इष्ट वताया है।[2] स्वामी चरणदास जी के ग्रंथों का कालक्रम से अध्ययन करने पर वे प्रमुख रूप से सगुणोपासक ही ठहरते हैं।

स्वामी चरणदास जी

स्वामी चरणदास जी का जीवन-परिचय उन्हीं के दो शिष्यों द्वारा लिखा गया है। श्री रामरूप कृत 'गुरु-भक्ति-प्रकाश,' का लेखन सं० १८२६ में प्रारंभ हुआ था और श्री जोगजीत का 'लीलासागर' ग्रंथ वाद में लिखा गया। इनमें 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' अधिक प्रामाणिक माना जाता है। यद्यपि इसमें चरणदास जी का जीवन चामत्कारिक कथाओंका संयोजन करके लिखा गया है, परंतु वह कहीं भी ऐतिहासिकता का विरोधी नहीं ज्ञात होता। इधर योरोपीय विद्वान् विल्सन, पालिट, मेक्लागन, क्रुक तथा ग्रियर्सन ने भी प्रसंगवश इनके जीवन, सिद्धान्त आदि का संक्षिप्त संकलन अपने ग्रंथों में किया है।[3]

श्री चरणदास जी का जन्म अलवर रियासत के अन्तर्गत डहरा नामक गांव में सं० १७६० में हुआ। वचपन में इनका नाम रणजीत था। ये ढूसर जाति के थे। इनके वंश में शोभन नाम के एक पूर्वपुरुष भक्त थे। इनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का नाम कुंजोदेवी था।

वचपन से ही इनका पर्यटन, ध्यान और प्रार्थना में मन लगता था।

---

[1] वहि निरगुण सरगुण वही, वहि दोनों से न्यार।
जो था सो जाना नहीं, सोचा वारंवार।
अनंत शक्ति लीला अनंत गुण अनंत बहु भाव।
कौतुक रूप अनंत हैं, चरणदास वलि जाव। इत्यादि, भक्तिसागर, पृ० १७८

[2] देखिये, ऐसेज आन दि रिलिजन आफ दि हिन्दूज, विल्सन, लन्दन, १८६१, पृ० १७१।

[3] गजैटियर आफ अलवर, पी० डब्ल्यू० पालिट, १८८०, पृ० २१४।

५ वर्ष की आयु में इन्हें शुकदेव जी के दर्शन हुए। पिता मुरलीधर के दिवंगत होने पर ये कोटकासिम तथा बाद में दिल्ली में निवास करने लगे। १९ वर्ष की आयु में इन्हें पुनः शुकदेव जी के दर्शन हुए, जिन्होंने इन्हें कृष्ण-मंत्र देकर दीक्षित किया। तत्पश्चात् ये चौदह वर्ष तक दिल्ली में गुफा बना कर योग-साधना करते रहे। बाद में ५ वर्ष तक ये शाही ठाठ-बाट से दिल्ली में रहे। एक बार इन्होंने व्रज की यात्रा भी की और ये वृन्दावन आये। अन्य अनेक स्थानों पर धर्म प्रचार करते हुए अन्त में सं० १८३९ में ये अमरलोक धाम पधारे।[1]

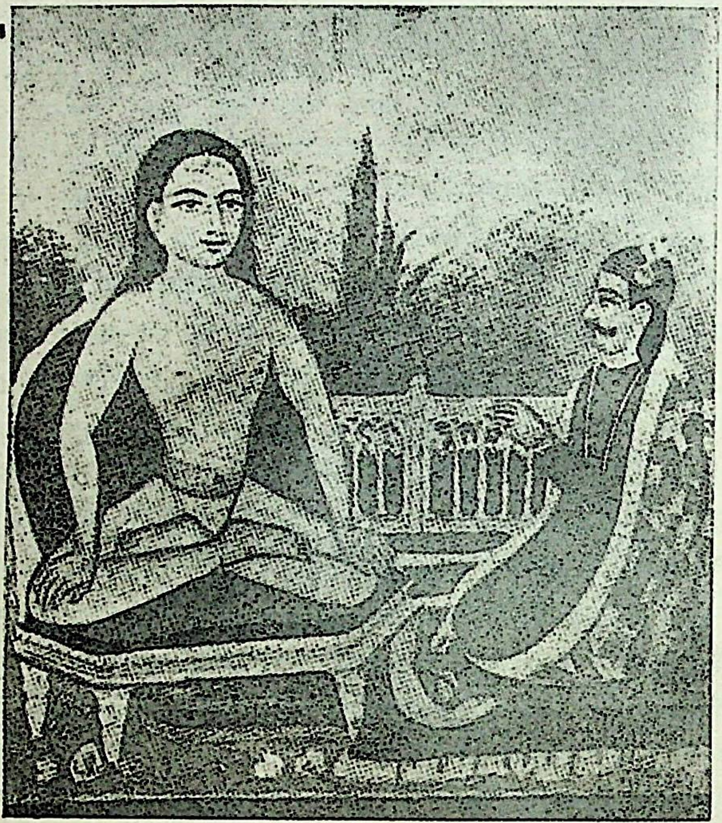

श्री चरणदास जी श्री शुकदेव जी के सामने

---

[1] पंजाब सेंसस रिपोर्ट १८९१, ई० डी० मेक्लागन, पृ० १२०।

स्वामी चरणदास जी उच्चकोटि के योगी पुरुष थे। उनके जीवन में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएं घटित हुईं। एक खत्री की लड़की को लड़का कर देना, सिंह को दीक्षा देना, नादिरशाह के जाने की तिथि-वार सहित पूर्व-सूचना देना, उसके द्वारा बंदी किये जाने पर अंतर्धान हो जाना, सोते समय उसके कमरे में प्रकट हो उसके लात मारना, अहमदशाह को चमत्कृत करना, स्वयं भगवान के दर्शन कर दूसरों को दर्शन कराना आदि अनेक चमत्कारों का वर्णन उनके जीवन से संबंधित है।[1]

सखी-रूप

श्री चरणदास जी के ब्रजागमन की कथा भी अलौकिक है। जब वे वृन्दावन आये तब राधाकृष्ण की नित्य-विहार-स्थली सेवाकुंज में जानबूझ कर रात्रि में रह गये। यहां उन्हें श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ और फिर उनकी कृपा से ही नित्य रास का भी सुख मिला। इस रास में चरणदास जी सखी-रूप होकर रहे।[2]

तत्पश्चात् स्वामी चरणदास जी सखीभाव में इतने मत्त हुए कि इन्होंने सखीवेश भी धारण करना आरंभ कर दिया। सखियों जैसी चूड़ी, मांग, सिंदूर, मेंहदी और वस्त्राभूषण आदि धारण कर ये सुशोभित होते थे।[3]

---

[1] ट्राइब्स एंड कास्ट्स आफ दि नार्दर्न वैस्ट प्रोवि० एंड अवध, १८९६, डब्ल्यू क्रुक, भाग २ एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एंड एथिक्स में भाग ३ ग्रियर्सन पृ० ३६५।
तथा गुरुभक्तिप्रकाश और लीलासागर से संकलित।

[2] सेवाकुंज वृन्दावन का प्रसिद्ध लीला स्थल है। परंपरा है कि रात्रि में यहां कोई मनुष्य, पशु पक्षी आदि नहीं रहते। यहीं स्वामी जी ने रास का दर्शन किया। कहा है :—

निज वृन्दावन देखिया, नित अखंड जहां रास।
पिय प्यारी विहरत सदा, जा पहुंचे व्हां दास।
नांचैं ललित लाल अरु प्यारी। लीला करहीं बहुतक भारी।
ये हू सखीरूप हो गये। सिंघासन ढिंग ठाडे भए।
गुरुभक्ति प्रकाश, पृ० ९७।

[3] सखीभेष चरनदास जु धारें। चूडी मांग सिंदूर संवारें।

परंतु एक वर्ष उपरान्त ही इन्होंने बाह्य वेश धारण करना छोड़ दिया और गुप्त रीति से सखीभाव की उपासना करते रहे।

रचनाएँ

चरणदास जी द्वारा रचित प्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्ति-सागर' है।[1] इस ग्रंथ की रचना संवत् १७८१ में आरंभ हुई[2] और संभवतः १८३३ में समाप्त हुई। स्वामी चरणदास जी के ही अनुसार उन्होंने सर्वप्रथम ५००० वाणी बना कर गुरु के नाम से गंगा में बहा दी पुनः ५००० वाणी बना कर हरि के नाम से अग्नि को समर्पित कर दी, पुनः जो रचना हुई, वही संतों के पढ़ने के लिये सुरक्षित रहने दी. यही भक्तिसागर है।[3]

'भक्तिसागर' के संपादित (हस्तलिखित और प्रकाशित) रूप में सर्वप्रथम ब्रजचरित्र वर्णित है। दूसरा प्रसंग अमरलोक अर्थात् नित्य वृन्दावन का है। तत्पश्चात् धर्म जहाज वर्णन, अष्टांग योग वर्णन, अष्ट प्रकार के कुंभक, छहों कर्म हठयोग वर्णन, पांचों उपनिषदों (हंसनाथ, सर्वोपनिषद, तत्वयोग, योगशिखा और तेजबिन्दु) का भाषान्तर, भक्तिपदार्थ, नाम अंग, क्रोध अंग, लोभ अंग आदि का वर्णन और भक्तिसागर के अनंतर परिशिष्ट में जागरण महात्म्य, दानलीला, माखनचोरी लीला, कालीनाग नाथ लीला, मटकी लीला, श्रीधर ब्राह्मण लीला, कुरुक्षेत्र लीला, नासिकेतोपाख्यान आदि हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'भक्तिसागर' ग्रंथ का संपादन स्वामी चरणदास जी के ही जीवनकाल में सं० १८३३ में हो गया था, जैसा कि हस्तलिखित प्रति से ज्ञात होता है। सं० १८३३ से १८३९ तक की रचनाएं संभवतः वे हैं, जिन्हें परिशिष्ट में सम्मिलित किया गया है। ये बाद की रचनाएं प्रायः कृष्णचरित्र

कर मेंहदी पग कंकन साजें। सखीभेष पट भूषन विराजें।

लीलासागर, जोगजीतकृत, (हस्तलिखित)

[1] यह ग्रंथ परिशिष्ट सहित नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित है। यहां इसके १९१९ ई० में प्रकाशित, चतुर्थ संस्करण का उपयोग किया गया है। इसकी एक अत्यंत प्राचीन प्रतिलिपि वृन्दावन में प्राप्त है, जो सं० १८३३ में चरणदासजी के समय में ही लिखी गई थी।

[2] भक्तिसागर, हस्तलिखित, पृ० ३८८।

[3] वही, पृ० ३८८

संबंधी हैं। 'भक्तिसागर' का संपादन क्रम महत्त्व के अनुसार ही रखा गया ज्ञात होता है और यह महत्त्व उन्होंने उपासना के आधार पर दिया है। अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चरणदास जी की वृन्दावन-यात्रा सं० १८०० के पश्चात् हुई[1] और उसी के पश्चात् उन्होंने 'व्रजचरित्र' की रचना की[2]। इन्हीं व्रजचरित्र आदि रचनाओं को ग्रंथ के सम्पादन के समय सर्वप्रथम स्थान दिया गया[3]। जीवन के अन्तिम वर्षों में स्वामी चरणदास जी सखीभाव के ही उपासक थे, ऐसा उनके जीवनचरित्र से जान पड़ता है।

सिद्धान्त

श्री चरणदास जी के गुरु श्री शुकदेव जी थे। संप्रदाय में ये शुकदेव जी, भागवतकार शुकदेव जी से अभिन्न माने जाते हैं। संप्रदाय में भागवत ही एकमात्र प्रमाण ग्रन्थ माना जाता है[4] और उस पर आधारित चरणदास जी की वाणी अथवा अन्य भक्तों की वाणी प्रमाण कोटि में आती हैं।

जैसा कहा जा चुका है, भक्तिसागर में योग, शब्द आदि अनेक मार्गों का वर्णन किया गया है, परन्तु वह सब विभिन्न प्रकार के अधिकारियों के लिए ही हैं। स्वामी जी तो प्रेम को ही सब धर्मों की कसौटी मानते हैं। प्रेम उनकी दृष्टि में सब धर्मों का राजा है, योग से भी बड़ा है, उसी से वैराग्य उत्पन्न होता है। प्रेम से ही त्याग जागता है, प्रेम से ही ज्ञान उपजता है तथा प्रेम के ही वश भगवान् हैं। प्रेम के बराबर न योग है, न ज्ञान। उसके बिना सब साधना और ध्यान थोथे हैं। प्रेम से ही जगत छूटता है और राम मिलता है।[5] यह प्रेमा भक्ति सर्वोपरि है। जब प्रेम की डोरी लग जाती है, पल भर भी चैन

---

[1] सं० १७६० में जन्म, १९ वर्ष की आयु में शुक-दर्शन, १४ वर्ष योग-साधना, ५ वर्ष तक दिल्ली में राजसी ठाठ से निवास, तत्पश्चात वृन्दावन-यात्रा।

[2] जैसी व्रज में लीला चीन्ही। व्रजचरित्र की पोथी कीन्हीं।
गुरुभक्ति प्रकाश, पृ० १५३।

[3] दो पोथी बहु हित सों साजी। ग्रंथ बीच रहें सिरे विराजी।
वही, पृ० १५३।

[4] परम धर्म भागवत यह भक्ति अनन्त विचार, भक्तिसागर पृ० ८३३।

[5] भक्तिसागर, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण, पृ० १८१-१८२।

नहीं पड़ता।[१] चरणदास ऐसे ही 'प्रेम बावरी' हो गये हैं।[२] नंदलाल की सखी चरणदासी दर्शनों के लिए अतीव व्याकुल है।[३]

वृन्दावन-धाम

अन्य सखीभावोपासकों के समान श्रीचरणदास जी ने भी वृन्दावन को लाल-लाडिली का नित्य लीला-धाम माना है। इस वृन्दावन के सूक्ष्म रूप को समझना आवश्यक है।

'व्रजचरित्र-वर्णन' में चरणदास जी ने द्वादश वनों का वर्णन किया है, जिनमें सर्वाधिक सुरम्य वृन्दावन है, जहां वनवारी ने रास किया है।[४] वृन्दावन सबका सार है जैसे दूध में घी।[५] यह वृन्दावन बीस कोस के फेर में है। यहां की कुंजगली अत्यन्त सुहावनी हैं। यह कंचन की भूमि पूर्ण सतोगुणी है, जिसे दिव्य दृष्टि से देखा जा सकता है।[६] इस महा वृन्दावन के अन्तर्गत निज वृन्दावन है। यह त्रिकोण है तथा इसका परिमाण एक योजन का है।[७] इसी वृन्दावन की नित्य निकुञ्जों में रङ्गमहल हैं, इन्हीं में राधाकृष्ण विहार करते हैं।[८] यह वृन्दावन अत्यन्त गुप्त है। यह चारों युगों में गुप्त ही रहता है,[९] जिन्होंने हरि के रूप को देखा है, वे ही वृन्दावन को भी देख सकते हैं।[१०]

---

[१] वही, पृ० ३६१।

[२] चरणदास भई प्रेम वावरी, आनि गहौ क्यों न वहियां। वही, पृ० ३६१।

[३] चरणदास यह सखी तिहारी, हो शुकदेवदयाल। वही, पृ० ३६१।

[४] वृन्दावन की शोभा भारी। रास रच्यौ जहां श्री बनवारी॥ वही, पृ० ५।

[५] बीस कोस के फेर में वृन्दावन को जान।
कुंजगली अतिसोहनी द्रुमवेली पहिचान॥
कंचन की यह भूमि है, धरे सतोगुण वेख।
चरणदास बलि बलि गयौ, दिव्यदृष्टि करदेख। भक्तिसागर, पृ० ५।

[६] वही, पृ० ५।

[७] तिहिं मधि वृंदावन महा, निज वृंदावन जान।
तिरकोनी वर्नन कियौ योजन एक प्रमान॥ वही, पृ० ५।

[८] भक्तिसागर, पृ० ८।

[९] वृन्दावन चारों युग माहीं। गुप्त रहै शुकदेव बताहीं॥ वही, पृ० ७।

[१०] वृन्दावन सोइ देखिहै, जिन देख्यौ हरि रूप।
दुर्लभ देवन कों भयौ, महागूप सों गूप॥ भक्तिसागर, पृ० ७।

अमरलोक अखंड धाम का वर्णन वास्तव में वृन्दावन का ही वर्णन है। यह अमरलोक त्रिगुणरहित परम सुखदायी है। तेजपुंज के ऊपर अहं विराट से यह परे है। तेजपुंज को सूर्यमण्डल कहा गया है। योगी इस धाम को योग-युक्ति से प्राप्त करते हैं। अमरलोक धाम इन सबसे और काल गति से भी परे है।[1] इस अगमपुरी का वर्णन करना कठिन है। इसकी शोभा निराली है। यहां सभी एक रूप, एक गति के होकर निवास करते हैं। इसके विभिन्न स्थल परम रम्य हैं, जहां उपासक अपने अधिकार के अनुसार ही पहुँच सकते हैं। अन्तिम स्थिति के पूर्व तक सखाभाव की पहुंच है परन्तु इसके अंततम प्रदेश में सखीभाव ही पहुँच पाता है।[2] इस स्थल की भूमि मणिमरकतमयी है। करोड़ों सूर्यों का प्रकाश यहां लज्जित है। समस्त ऋतुएं यहां सर्वदा सुशोभित हैं। यह निज वृन्दावन है। चरणदास जी कहते हैं कि यही वृन्दावन मेरे हृदय में बसा रहे।[3]

ऐसा ज्ञात होता है कि अमरलोकस्थित वृन्दावन ही चरणदास जी का नित्य वृन्दावन है और मथुरा मंडलस्थ वृन्दावन उसका अंश है।[4] यह स्थिति गोलोक और वृन्दावन के सम्बन्ध जैसी ही है। परंतु दिव्यता में स्वामी चरणदास जी ने दोनों का समान में वर्णन किया है।

श्री राधाकृष्ण

निजधाम वृन्दावन में कृष्ण और राधाप्यारी नित्यविहार करते हैं। वृषभानुदुलारी राधा गोरे रूप हैं तथा कृष्णमुरारी श्याम हैं।[5] श्री कृष्ण पीत वसन पहिने, मोर मुकुट धारण किये हुए हैं कानों में कुण्डल, और गले में

---

[1] भक्तिसागर, चरणदास जी, पृ० १६।

[2] सखाभाव पहुंचत वहि ठांई। सखीभाव भीतर को जाई।।
वही, अमरलोकवर्णन, पृ० १९।

[3] निज वृन्दावन है वह ठाहीं। सदा बसो मेरे मन माहीं।। वही, पृ० १९।

[4] अमरलोक बिच है निज धामा। जासु अंश वृन्दावन नामा।।
व्रजचरित्र, पृ० ७।

[5] नितबिहार जहं करैं विहारी। कृष्णकुंवर अरु राधा प्यारी।
गौर रूप वृषभानुदुलारी। श्याम रूप हैं कृष्णमुरारी।।
भक्तिसागर, पृ० ८।

मोतियों की माला है। श्रीकृष्ण के स्वरूप का 'व्रजचरित्र' में विस्तृत वर्णन है परन्तु राधा के भूषणों की छवि का वर्णन करने से पूर्व कवि को संकोच होता है।[१] इसीलिए संभवतः राधातत्त्व का विस्तृत वर्णन चरणदास जी की रचनाओं में नहीं मिलता। कुरुक्षेत्र लीला में अवश्य ही राधा की महिमा का वर्णन है। सूर्य-ग्रहण-स्नान के लिये रुक्मिणी आदि रानियों के साथ श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र गये थे, वहां ही नंदादि के साथ श्रीराधा भी आईं। राधा रूपसौंदर्य में सर्वोत्कृष्ट थीं। रुक्मिणी द्वारा राधा को गरम दूध दिये जाने पर कृष्ण के चरणों में छाले पड़ गये।[२] यह राधा-कृष्ण के परस्पर प्रेम का ही निदर्शन था। कवि ने राधा को यहां 'व्रजभूमि का टौना' कहा है।[३] साथ ही श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कर दिया है कि जो मुझे वश में करना चाहता है वह पहिले श्रीराधा की सेवा में अपना चित्त लगाये।[४] श्रीराधा ने कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण से यही वर मांगा कि अब वे वृन्दावन में ही नित्यलीला करते रहें, जिसे श्रीकृष्ण ने स्वीकार कर लिया और अपने निज स्वरूप से वे वृन्दावन के नित्यलीलाविहार में रत हो गये।[५] श्री चरणदास जी ने कहा है कि श्री राधा का प्रेम ही पूर्ण है प्रेम है।[६] यही प्रेम नित्यविहार का आधार है।

सखीगण

सखीगण का वर्णन चरणदास जी ने अनुपाततः अधिक किया है। श्रीराधा-कृष्ण के साथ असंख्य सखियां हैं जो अनेक प्रकार से रास का खेल करती हैं। जहां अखण्ड रास हो रहा है, वहां सखियों के पगों के घुंघरू शब्द कर रहे हैं। सखियां अनेक प्रकार के दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये हैं। सभी सदा सुहागिनि हैं। चूड़ी, सुवक, पछेली, बंगरी, कंगनी, जहंगीरी, चौकी,

---

[१] राधे भूषण छवि कह गाऊं। नाम लेत मन में शरमाऊं॥
भक्तिसागर, पृ० ९०।

[२] भक्तिसागर, पृ० ५३१।

[३] वही, पृ० ४२९।

[४] मन वच करकें मोहि जु चाहै बस करै।
श्रीवृषभानुकुमारी सेवा चित धरै॥ वही, पृ० ४२९।

[५] वही, पृ० ५५३।

[६] राधा जी को प्रेम कि बिसवै वीस है। वही, पृ० ५५३।

आरसी, धीरी, छाप-छला, अंगूठी और नुहसत इत्यादि पहने हैं। वे विभिन्न प्रकार से श्यामश्यामा की सेवा करती हैं। कोई नृत्य करती हैं, कोई गाती हैं, कोई वाद्य-वादन करती हैं। रास-केलि का समस्त आयोजन ये सखियां ही करती हैं।[1]

निज वृन्दावन धाम में सखियों से सेवित राधाकृष्ण नित्यविहार में रत हैं। यह नित्यविहार दिव्यातिदिव्य है। इस लीला का वर्णन करने में संकोच होता है।[2] सखियों के उसी यूथ में विश्राम पाने की कामना चरणदास जी करते हैं,[3] वही चरणदास जी का वसीला है।[4] अपने समय में ही चरणदास जी सखीभाव के उपासक के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। श्री किशोरीअलि जी का पत्र उनके सखीभावोपासक होने की स्पष्ट चर्चा करता है।[5]

काव्य-गरिमा

श्री चरणदास जी की रचनाओं का परिमाण अच्छा-खासा है। उनके द्वारा लिखा गया उपनिषद् संबंधी साहित्य धार्मिक साहित्य की कोटि में रखे जाने योग्य है। योग संबंधी साहित्य रहस्यवादी रचनाओं की श्रेणी में और सखीभाव संबंधी साहित्य प्रमुखतया भावपरक होने के कारण विशुद्ध साहित्य में स्थान पाने का अधिकारी है। एक ओर चरणदास जी का काव्य कबीर आदि की परंपरा के अनुरूप है तो दूसरी ओर उनकी रचनाएं भक्त कवियों की सरस कविता से मेल खाती हैं। यह चरणदास के कृतित्व की विशेषता है।

इनका साहित्य भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से प्रसादगुण-युक्त है।

---

[1] देखिये भक्तिसागर पृ० ९।

[2] भक्तिसागर, पृ० २४।

[3] चरणदास कों दीजियै सखियन में विश्राम। वही, पृ० २१

[4] वृन्दावन में ऐसी लीला। चरणदास को वहीं वसीला॥
वही, पृ० १०

[5] ता स्वामिनि की सखी ह्वै सेवा पाई आप।
प्रिया चरण सेवन करत, मिली चरण की छाप॥
चरणदास जी को लिखा गया पत्र। हस्तलिखित, लेखक के संग्रह में।

योग और उपनिषदों के रहस्य को पद्य में प्रस्तुत करने पर भी उसे उन्होंने कहीं भी अस्पष्ट नहीं होने दिया है। उनकी वाणी में अनुभव का संदेश है और सरल आत्मा का अभिव्यक्तीकरण। कृत्रिमता से वे कोसों दूर हैं, अलंकारों का जमघट उन्होंने कहीं नहीं होने दिया है।[1] उनकी कविता में उच्चकोटि जी काव्यात्मकता ढूंढना व्यर्थ है, क्योंकि उनका प्रधान लक्ष्य भक्ति प्रचार करना था, फिर भी भावात्मक स्थलों में भावों की सहज छटा विद्यमान है। उनका कृष्णलीला संबंधी एक पद नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

रास में निरत करत बनवारी।
मुदित मनोहर रंग बढावत, संग वृषभानुदुलारी।
मोर मुकुट छवि शीश विराजत, नाक बुलाक सुढारी।
कर मुरली कटि काछनी काछे, अलकैं घूंघरवारी।
राधाजू के शीश चंद्रिका नीलांबर जरतारी।
गावैं सखी श्याम श्यामा संग, नखशिख रूप उज्यारी।
ताधिन ताधिन बजत पखावज, ताल वीण गति न्यारी।
ठनन ठनन ठन नूपुर की धुनि, झनन झनन झनकारी।
थेइ थेइ थेइ थेइ नचत दोऊ मिले, विहंसि विहंसि सुसकारी।
'चरणदास' शुकदेव दया सूं, पायौ दरस मुरारी।[1]

परंपरा

श्री चरणदास जी प्रतापी महात्मा थे। उनके सहस्रों शिष्य हुए, जिनमें प्रमुख ५२ माने जाते हैं। इन्हें स्वामी जी ने पीला चोला और टोपी देकर विभिन्न नगरों में धर्मप्रचार के लिए भेजा। इस संप्रदाय में सखीभाव की उपासना बराबर चलती रही है, उसमें कुछ उपासकों का परिचय आगे दिया जा रहा है।

श्री रामसखी

रामसखी जी श्री चरणदास जी के शिष्य थे और सखीभाव को विशेष रूप से माननेवाले थे। कहा जा चुका है कि इस उपसना पर पुरुष, स्त्री या नपुंसकों में किसी का एकाधिपत्य नहीं है। सखीभाव के क्षेत्र में पुरुष और स्त्री साधक तो अनेक सुने गये हैं परन्तु रामसखी जी मनुष्य शरीर से नपुंसक

---

[1] भक्तिसागर, (शब्द-वर्णन) पृ० ३५६–३५७

थे। ये दिल्ली के एक कायस्थ कुल में जन्मे थे। पैदा होते ही नपुंसकों का दल इन्हें लेने आ गया, पिता इन्हें अपने पास ही रखना चाहते थे। चरणदास जी से न्याय करने के लिये कहा गया। उन्होंने कहा "बालक जिसकी गोद में जाकर बैठ जाय, वहीं रहे।" बालक स्वयं चरणदास जी की गोद में आकर बैठ गया वचनानुसार चरणदास जी ने ही उसे पाला और 'रामसखी' नाम देकर सखीभाव से उपासना करने का उपदेश दिया। साधना के पूर्ण होने पर ये देहसहित प्रभु-पति से जाकर मिले।[1]

श्री रामसखी जी का ग्रंथ 'भक्तिरसमञ्जरी' है, जिसमें सखीभाव से लिखे गये युगल-लीला के पद हैं। इस ग्रंथ का इस दृष्टि से विशेष सम्मान है। इनकी वानी रस-सानी है। काव्य के उत्कृष्ट-गुण इनकी कविता में विद्यमान हैं। एक पद प्रस्तुत है :—

कुंज की कुटीर दोऊ आली री उमंग भरे,
गावत अतिरंग भरे धीरे-धीरे झूलैं।
वृंदावन फूलि रह्यौ, अलिनी गुंजार करैं,
बोलत हैं पिकी मोर यमुना के कूलैं।
अलिगन सब साज लिये, मंद मंद सुरन भरे,
निरपि निरपि युगल छवि देहदशा भूलैं।
मनसिज मदन मित होत बरसत हैं मोद झरी,
झूलन कों जोरि सखी मेलैं भुज झूलैं।
शोभा कौ उदधि आज, उमड्यौ मरजाद छाड़ि,
'रामसखी' त्रिभुवन में उपमा नहीं तूलैं।[2]

श्री रामरूप जी 'गुरुभक्तानन्द'

दिल्ली के निकट जयसिंहपुरे के महाराज नामक गौड़ ब्राह्मण के यहां इनका जन्म हुआ। १० वर्ष की आयु में अनाश्रित हो जाने के कारण ये चरणदास जी की शरण आ गये। योगसाधना में पारंगत होकर इन्होंने सखीभाव की साधना की। इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, 'मुक्तिमार्ग' और 'गुरुभक्ति-प्रकाश'। 'गुरुभक्तिप्रकाश' की रचना सं० १८२६ में आरंभ हुई थी। राधाकृष्ण

---

[1] ये चरित्र नवसंतमाल और लीलासागर के आधार पर दिये गये हैं।

[2] चरणावत संतों की वाणी (हस्तलिखित)।

की लीला का गान इन्होंने सखीभाव से किया है। अपना सिद्धान्त बताते हुए उन्होंने स्पष्ट ही कहा है—

राधाकृष्ण उपास्य ध भागवत हमारौ।
निज वृन्दावन धाम, मुक्ति सामीप निहारौ।
× × ×
संप्रदाय शुकदेव मुनि, आचार्य श्यामचरणदास।
'रामरूप' तिन पद शरण, नवधा भक्ति निवास। (गुरुभक्तिप्रकाश)

श्री जुगतानंदजी

'लीलासागर' ग्रंथ के अनुसार गुसाईं जुगतानंद जी का जन्म मेवात प्रदेश में हरसौरा नामक गांव में हुआ था। ये ब्राह्मण थे। बचपन से ही सत्संग में रुचि थी। स्वप्न में चरणदास जी का दर्शन कर उनसे प्रेरित हो चरणदास जी के शिष्य बने।

इनका प्रसिद्ध ग्रंथ भक्ति-प्रबोध है। इन्होंने श्रीमद्भागवत की एक भाषाटीका भी की है।[1] इनके ग्रंथ भक्तिसाधना की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। एक छंद है—

ऐसी बनमाली आली वंसी बजाई।
सुन धुन व्याकुल रह्यौ न जाई।
त्यागी सदन बदन सुधि बिसरत, कुंजकुंज तन हेरत धाई।
अहो मालती मोहिं बतावो, मनमोहन ब्रजराज कन्हाई।
स्यामसुंदर प्रीतम बिन देखैं, अति व्याकुलता नाहिं सुहाई।
वृंदावन को दरसन दीजै, 'जुगतानंद' मोहन सुखदाई।[2]

श्री आत्माराम जी

ये जाति के धूसर थे और दिल्ली के ही निवासी थे। चरणदास जी से साक्षात्कार होने से इनकी नास्तिकता दूर हुई और भक्ति-पथ के पथिक बने। ये सखीभावोपासक थे और सुंदर कविता करते थे। एक उदाहरण है—

---

[1] इनके ग्रंथ (हस्त०) वृन्दावन में श्री विहारीशरणजी के पास सुरक्षित हैं।
[2] चरणावत वैष्णववर्षोत्सव, पृ० ९८

आनन अनूप रूप लोचन बिसाल महा,
रतिहू तें नीकी देखि शशि तो लजात है।
हाटक सूं सरस अंग, कोमल किसोर वैस,
चंपक की डार मानों भंव्रर लुभात है।
कमला चपला सी वृषभानु की सुता सो चप,
लपि सुचारु रूप मन मो हुलसात है।
कहते 'सखी आतम' श्याम नैकौ न कीजै न्यारी,
ऐसी पिय प्यारी जू विसारी कैसे जात है।

श्री जोगजीत जी

ध्यानेश्वर जोगजीत चरणदास जी के शिष्य थे। इन्होंने 'लीलासागर' लिखकर चरणदास जी और उनके भक्तों के चरित्र को अमर कर दिया है। उन्होंने यह ग्रंथ ४५ वर्ष की आयु में सं० १८१९ में प्रारंभ किया।[1]

ये राधाकृष्ण के उपासक थे। चरणदास जी ने अधिकारी जान कर इन्हें रास का ध्यान बताया और तदनुसार इन्होंने राधाकृष्ण का दर्शन किया। इनकी रचना की कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं—

पहुंची हो, सोई कहे रंगमहल की बात।
जाय सो पटली जात है री, हेली छूटै बरन कुल जाति।
सब ही कहावैं पीव की री, हेली अपनी-अपनी ठौर।
जो महरम वा धाम की सोइ सबन सिरमौर॥

× × ×

चरनदास सतगुरु मिले री, हेली दीनों भेद बताय।
'जोगजीत' पिया पायकें, आपन गई भुलाय॥

सहजोबाई जी

सहजोबाई से हिन्दीजगत् परिचित है। ये और दयाबाई दोनों चरणदास जी की शिष्या थीं। सहजोबाई हरिप्रसाद दूसर की पुत्री थीं और दिल्ली में निवास करती थीं। ये साधक और भावुक महिला थीं, जैसा कि इनकी वाणी से ज्ञात होता है।

---

[1] वही पृ० १०३

सहजोबाई की रचनाओं का संकलन प्रकाशित है। निर्गुण भक्ति का प्रभाव इनकी रचनाओं पर अधिक है। सगुणभक्ति के पद भी इन्होंने लिखे हैं। उदाहरण है—

मुकट लटक अटकी मन माई।
निरतत नटवर मदन मनोहर, कुंडल झलक अलक बिथुराई।
नाक बुलाक हलत मुकताहल, होठ मटक गति भौंह चलाई।
ठुमक ठुमक पग धरत धरनि पर, बांह उठाय करत चतुराई।
झुनक झुनक नूपुर झनकारत, ताता थेई थेई रीझि रिझाई।
चरनदास 'सहजो' हिये अन्तर, भवन करो जित रहो सदाई।[1]

दयाबाई जी

ये भी दूसर थीं। बाल्यकाल से ही भक्ति के रंग में रँग गई थीं। इनका ग्रंथ 'दयाबोध' नाम से प्रसिद्ध है। रचना का उदाहरण है—

श्याम रंग अरु नैन सलोने, अलक रही बल खाई।
मोर मुकट सिर अधिक विराजै, मुरली मधुर बजाई।
मुक्ताहल नासा बिच राजै, लाल अधर पर वारी।
'दासी दया' दरस की प्यासी, किरपा करो बिहारी।[2]

श्री गुरुछौना जी

ये दिल्ली के किसी रईस सरदार के पुत्र थे और अनुपम रूपवान थे। एक दिन घोड़े पर सवार हो ये यमुना की ओर गये। वहां चरणदास जी विराजमान थे। इन्हें देखकर चरणदास जी ने कहा महल तो अच्छा है, पर दीपक नहीं है। उस शरीर मंदिर में सतगुरु चरणदास जी ने ही ज्ञान का दीपक जलाया। 'ज्ञान-समूह-ग्रंथ' के अनुसार इन्हें गुरु जी ने सखीभाव की उपासना बताई—

निज वृन्दावन रंगमहल राजत प्यारी पीय।
अष्टसखी शोभित टहल, बहुत मंजरी तीय।
सखीभाव राधा भजे सो पहुंचे निजधाम।
टहल लहै सामीपता तब रीझैं घनश्याम।[3]

---

[1] चरणावत वैष्णवों की वाणी (हस्त०)

[2] वही १-८९

[3] शुक संप्रदाय सिद्धान्त चंद्रिका, जयपुर, १९८०, पृ० ५१-५२.

रचना का उदाहरण—

कर कंकन पग नूपुर झुनकैं मोर मुकुट सिर भारी।
दीरघ नैन जरद सिर फेंटा जुल्फ भुवंगम कारी।
लटक चाल आवत अलबेलौ, मोह लिये नर नारी।
'गुरुछौना' छवि श्यामचरन पर, जन हीरा बलिहारी।[1]

श्री लक्षदास जी

श्री लच्छदास जी चरणदास जी के कृपापात्र आत्माराम जी के शिष्य थे। ये जयपुर में बारह गणगौर के रास्ते में स्थित आत्म कुंज के महंत थे। लच्छदास जी विशेष रूप से वृन्दावन के प्रेमी और नित्यविहार के उपासक थे। वृन्दावनवास और दंपति के नित्यविहार-अवलोकन की कामना इनके निम्नलिखित छन्द से ज्ञात होती है—

कर दरस ना अघाऊं, वास वृन्दावन पाऊं,
कर सेवा हुलसाऊं जो रेखा भाग भूर की।
संतन के संग कथा सुधा स्रवन पान करूं,
ये ही चित्त चाऊं और बातें सब दूर की।
यमुना के निकट कदंब तरु तर लोटूं,
निरखूं कब हरषित ह्वै सोभा ब्रजधूर की।
'लच्छदास' दंपति विहार सुख लखत रहूं,
अरजी हमारी आगें मरजी हजूर की।[2]

लच्छदास जी की वाणी उच्च कोटि की है। भाषा और भाव दोनों में सूक्ष्म माधुर्य और गंभीरता है। नित्यविहार में राधारानी की प्रधानता सर्वत्र है। प्रिया-प्रियतम के वृन्दावन रास का अपनी विशद वाणी में इन्होंने गान किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

आज वृन्दावन रास रच्यौ री।
नदंनंदन वृषभानुनंदिनी, नृत्यत जुगल भांवती जोरी॥
श्री ललिता वीन बजावत गावत, ताल तान सुर लेत खिंच्यौ री।
उघटत श्यामाश्याम दोऊ मिलि, सुरपुर लौं आनंद मच्यौ री।
सजत समाज बन्यौ जैसौ जब, सुख वरसत दुख मूल नस्यौ री।

---

[1] चरणावत वैष्णव वर्षोत्सव, पृ० १०

[2] चरणावत वैष्णव वर्षोत्सव से संगृहीत

पूरन भाग सकल ब्रज वनिता, गृह वन संग रहत इक ठौरी।
आतमराम बेद वंदित जेहि, भक्ति हेत यह काछ्र कछूयौ री।
'लच्छदास' प्रभु प्रेम प्रीति बस, वालन के संग नाच नच्यौ री।[1]

सेवादास जी

सेवादास जी मानदास जी के शिष्य थे। ये बड़े भावुक और सुकवि हुए हैं। इनकी वाणी नित्यविहार संबंधी है। उदाहरण—

मोहन की बजै बांसुरी।
टेर सुनी सरवन में अली, गयौ मेरें सांस री।
× × ×
मानदास गुरु श्याम मिलावो, अर्ज करे 'सेवादास' री।[2]

श्री लालदास जी

लालदास जी भी मानदास जी के शिष्य थे। इनकी वाणी मधुर है। श्री राधा के प्रति इनकी अनन्य निष्ठा थी। रचना प्रायः कवित्त-सवैयों में हुई है। उदाहरण—

हूँ तो चेरौ राधे कौ, नाम रटूं राधे कौ,
सुमिरन नित राधे कौ राधे कौ ध्यान जू।
भजन करूं राधे कौ, इष्ट रखूं राधे कौ,
उपास मेरैं राधे कौ, राधिका ही प्रान जू।
तन मन कर आठों जाम, आस राधे की मोकों,
आसरौ राधे कौ और ना पहिचान जू।
कल्यान की करता और हरता है चिन्ता की,
'लालदास' वारी तापै निश्चै यहि जान जू।

श्री रामशरण जी

अपने गुरु लच्छदास जी के समान ही इन्होंने भी प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार से संबंधित भावपूर्ण कोमल रचनाएं की हैं। निम्नलिखित पद में वे युगल पर बलिहारी हो रहे हैं।

---

[1] वही पृ० १००

[2] चरणावत वैष्णवों की वाणी से संकलित।

चलो सखी देखन प्रान पियारा।
रच्यौ समाज रास ब्रज दूलह, गई बनिता ब्रज सारा।
सखी सखी के संग कन्हैया, कर में लिये करतारा।
लाल लाडिली मध्य विराजे, सुख कौ पुंज अपारा।
बाजे बजें छतीसौ अद्भुत, मुनि जन करत उचारा।
ताल तान सुर लेत खिंच्यौ अति, गावत राग केदारा।
लच्छदास सनमुख छवि निरखत, दुलही नन्द दुलारा।
'रामसरन' बलिहार जुगल पै, तन मन धन सब वारा।[1]

श्री जनगोविन्द जी

महात्मा जनगोविन्द जी भी लच्छदास जी के शिष्य थे। ये सखीभावोपासक और वाणी रचना में कुशल थे। उदाहरण—

आजु दोऊ निकसे कुंज तें भोर।
आलस भरे नींद रस पागे, निस जागे इक ठौर।
आगे श्री वृषभानुनंदिनी, पाछें जुगलकिसोर।
झूमत चलत झुकत ज्यों मायल, लटके पटके छोर।
दै चुटकी जमुहात परस्पर, सुन्दर स्यामल गौर।
तजि मारग चलि जात अनत ही, दंपति अति चित चोर।
'जन गोविंद' बलिहारी चरन की, आनंददायक मोर।[2]

श्री अगमदास जी

श्री अगमदास जी सहजोबाई के शिष्य और निकुंज-रस-माधुरी के गायक थे। इनकी कविता बड़ी सरस और सप्राण है।

उदाहरण—

खेलत बसंत व्रजराज श्याम, जाको शिव ब्रह्मादिक रटत नाम।
बहुत सखीन की लिये भीर। हरि ठाडे हैं कालिन्दी तीर।
नखशिख भूपन सब सजे अंग। को छवि बरने, लाजत अनंग।
सिर मोर मुकुट गर गुंजमाल। नील वसन नव तन रसाल।
फेंट गुलाल जु भरि उमंग। अधर बैन राजत स्वरंग॥

× × ×

---

[1]-[2] चरणावत वैष्णवों का वाणी से संकलित

प्रिया प्रियतम को रसविहार । मोहे ऋषि मुनि जन सब निहार ।
को कवि कहे सोभा अनंत । सेष सारद नहिं पावें अन्त ।
'अगमदास' उर यही आस । प्रभु दीजै चरनन निवास ।[1]

श्री मनमोहनदास जी

मनमोहदास जी चरणदासी सन्त सिद्धराम जी की शिष्या विविदासी जी के शिष्य थे। इन्होंने विविदासी जी को व्रजचौरासी कोस की यात्रा अशक्त होने के कारण, अपने कंधों पर बैठा कर कराई। ये दिल्ली के निवासी थे। इनकी वाणी 'प्रेमपयोनिधि' सरस रचना है।

उदाहरण—
दोऊ निरतत हैं मिलि लटक लटक ।
आज रास में रसिक पिया प्यारी, अंस भुजन कभु छिटक छिटक ।
सकल समाज साज सज तन पट, भूषन चमकत चटक चटक ।
छुम छननन नूपुर धुनि बाजत जु धरत धरनि पग पटक पटक ।
विविध लेत गति में सु निकट अति, रहत परस्पर अटक अटक ।
निरखत छवि विविदासि 'मोहनमन', होत लट्टू भट्टू मटक सटक ।[2]

श्री सरसमाधुरी जी

श्री सरसमाधुरी जी का मूल नाम पं० शिवदयालु था। इनका जन्म सं० १९१२ में मंदसौर में हुआ। ये गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम घासीराम और माता का नाम पार्वती था। ये श्री बलदेवदास जी के शिष्य थे। बाल्यकाल से ही सत्संग में इनकी विशेष निष्ठा थी। अध्ययन के साथ ही इन्हें बलदेवदास जी ने योग आदि की शिक्षा दी थी। इनका बाल्यकाल प्रायः बहादुरपुर में व्यतीत हुआ तथा बाद में ये जयपुर आगये। जयपुर में कुछ दिन इन्होंने वकालत भी की थी। जो कुछ भी कमाते साधु सन्तों की सेवा में लगा देते थे। इन्होंने दो विवाह किये परन्तु बाद में गृहकार्य से विरक्त हो संप्रदाय की सेवा में ही तन मन धन अर्पण कर दिया। इनका शरीरपात सं० १९८३ वि० में हुआ।

श्री सरसमाधुरी जी उन महात्माओं में से थे, जिन्होंने अपने उद्योग

---

[1] चरणावत वैष्णव वर्षोत्सव से संकलित

[2] वही

और प्रतिभा से चरणदासी संप्रदाय का प्रायः जीर्णोद्धार ही किया। इस संप्रदाय के स्थान और ग्रंथ प्रायः लुप्त हो रहे थे। साधुओं की संख्या भी कम हो गयी थी परंतु इनके अनवरत अध्यवसाय और भावुकता के कारण यह संप्रदाय जीवंत रूप में उठ खड़ा हुआ। इनके कारण से नवीन शिक्षा से दीक्षित सहस्रों व्यक्ति भी इस संप्रदाय की ओर आकर्षित हुए, इस दृष्टि से सरसमाधुरी जी का स्थान अद्वितीय है। सरसमाधुरी जी ने संप्रदाय में विशेष रूप से सखीभावोपासना का प्रचार किया। आज भी सरसमाधुरी जी के सहस्रों शिष्य सखीभावोपासना में लगे हैं।

श्री सरसमाधुरी जी की रचनाओं का परिमाण विपुल है, जिनका प्रकाशन 'सरससागर' नाम से तीन भागों में हो चुका है। रचनाएं ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही हैं। अनेक छंदों का प्रयोग इनमें हुआ है। सहज भावुकता और सहज अभिव्यक्ति इनकी रचानाओं की विशेषता है। उदाहरणार्थ एक पद दिया जा रहा है—

'रंगमहल राज रहे राधिका विहारी।
हिलमिल लपटाय रहे, हंस हंस मुसकाय रहे,
मंद मधुर गाय रहे, मदन मनोहारी।
छतियन सों, लागि रहे, बतियन रस पागि रहे,
अति ही अनुराग रहे, आनंद मन भारी।
नख शिख श्रृंगार किये, मादक रस प्रेम पिये,
घूमत हैं नैन निकट प्रेम के अहारी।
निरखत दंपति विलास, सखी खडी आस पास.
'सरसमाधुरी' सुदृष्टि टरत नाहिं टारी।'[1]

श्री रूपमाधुरीशरण जी

श्री रूपमाधुरीशरण जी का मूल नाम स्वरूपनारायण है। इनका जन्म सं० १९५५ में जयपुर में हुआ। शरीर माहेश्वरी वैश्य परिवार का है। पिता का नाम दामोदर जी था, जो वल्लभ कुल में दीक्षित थे। कपड़े का काम करते थे। रूपमाधुरी जी का ८ वर्ष की आयु से ही सत्संग में मन लगने लगा। २८ वर्ष की आयु में विरक्त होकर ये वृन्दावन आगये। ये बाल ब्रह्मचारी हैं और संप्रदाय के प्रचार में अपने गुरु सरसमाधुरी जी के समान

---

[1] सरससागर, भाग ३, पृ० २१०

ही रुचि लेते रहे हैं। आज भी ये वृन्दावन में युगलघाट पर स्थित सरसनिकुंज में भजन करते हैं।

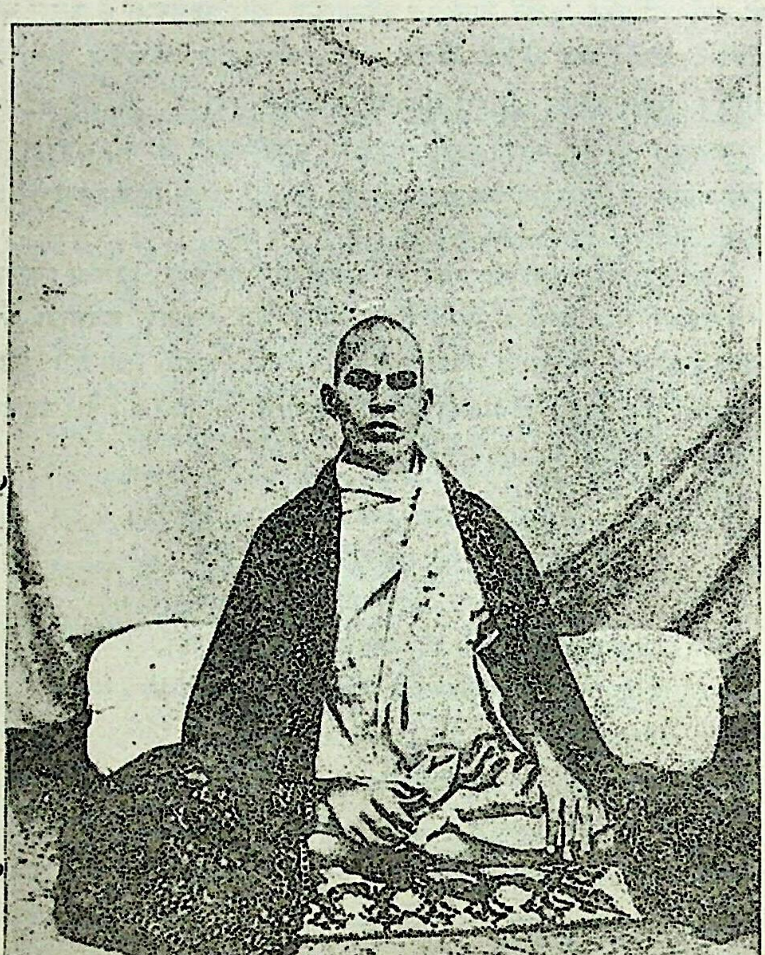

श्री रूपमाधुरीशरण जी

सरसमाधुरी जी के ये शिष्य अनेक ग्रंथों के रचयिता और प्रकाशक हैं। इनके द्वारा संपादित और लिखित ग्रंथ इस प्रकार हैं—१. उपदेश चिन्तामणि, २. नव सन्तमाल, ३. चरणावत वैष्णव सदाचार, ४. चरणावत वैष्णव वर्षोत्सव,

५. शुक महत्व, ६. शुक संप्रदाय प्रकाश, ७. चरण प्रकाश और ८. नित्यपाठ।

रूपमाधुरीशरण जी स्वयं अच्छे रचनाकार हैं और पुरानी परिपाटी की सुंदर कविता करते हैं। ये नित्य निकुंज के उपासक हैं और इनकी रचनाओं में प्रायः उसी का गान हुआ है।

उदाहरण—

आज सखी बनी है अनोखी जोरी।
कालिन्दी के कूल मनोहर, विहरत निज रुचि सों री।
फूलन के बंगला में राजैं, मोहन राधा गोरी।
फूल सिंगार सजे अंग अंगन, उपमा कहे कवि को री?
'रूपमाधुरी' रूप निहारत, बंधी प्रेम की डोरी॥

* * *

उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन से निःसृत निष्कर्ष और उपलब्धियों को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है :—

१. हिन्दी-भक्ति-साहित्य की कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति दोनों ही शाखाओं में सखीभाव से की गई उपासना से संबंधित विपुल साहित्य विद्यमान है। इनमें कृष्ण-भक्ति-शाखा का सखीभाव प्राचीन, मौलिक और स्वाभाविक रूप से विकसित उपासना का भाव है।

२. सखीभाव के साधकों के संबंध में विदेशी विद्वानों एवं उनके अनुकरण पर एतद्देशीय अनेक विद्वानों की यह धारणा रही है कि ये लोग स्त्री-वेश में रहते हैं, इनका वैसा ही स्वाभाव और आचरण होता है। उनका विश्वास है कि ये लोग स्त्रैण हैं और वैसी ही हेय इनकी उपासना है। ये सभी विचार तत्त्वदर्शन के अभाव के कारण ही प्रकट हुए हैं, क्योंकि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। इस प्रबंध के प्राक्कथन में ही इस विषय का स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

३. भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में ही रस-साधना के बीज विद्यमान दिखाई देते हैं। सखीभाव की उपासना भी उसी रस-साधना का विकसित रूप है।

४. सखीभाव का उपास्य वही 'रस' तत्त्व है, जिसकी ओर श्रुतियों ने भी इंगित किया है। वही 'रस' तत्त्व प्रिया-प्रिय के रूप में द्विधा होकर नित्य लीलारत है।

५. रस-रूप कृष्ण की माधुर्य भाव की उपासना के प्रमुखतया दो भेद हैं। कान्ताभाव और सखीभाव। उपास्य के युगल होने पर सखीभाव ही अधिक स्वाभाविक है।

६. रसिकों ने कान्ताभाव में 'रिरंसा' को आवश्यक माना है, सखीभाव में उसका अभाव होता है। सखीभाव पूर्ण निष्काम-भाव है, इसलिये अधिक श्रेष्ठ है।

७. गोपीभाव का वास्तविक रूप कान्ताभाव ही है। सखीभाव इससे भिन्न है, परंतु अधिकांश संप्रदायों में गोपीभाव और सखीभाव को एक ही स्तर पर स्वीकृत किया जाता है।

८. सखीभाव की रस-रीति दूसरे उपासना-भावों के साथ मिलकर 'मिश्र' हो जाती है और अपने स्वच्छ रूप में उसे 'अमिश्र' या 'विशुद्ध' कहा जाता है।

९. विशुद्ध सखीभाव के उपास्य नित्यविहारी (राधाकृष्ण) जन्म, कर्म, अवतार, गुण, काल आदि समस्त प्राकृत तत्त्वों से परे नित्य दिव्य वृन्दावन-धाम में केलि करते हैं। ये नित्यविहारी तत्त्वतः व्रज के श्रीकृष्ण से भिन्न हैं। नित्य निकुंजों में व्रज के श्री कृष्ण की भी पहुंच नहीं है।

१०. व्रजलीलाओं का आनन्द गोपियों को प्राप्त होता है, निकुंज-लीला का आनन्द सखियों को। गोपियों और सखियों में तत्त्वतः भिन्नता है। नित्य वृन्दावन की लीला में गोपियों का प्रवेश सम्भव नहीं है।

११. सखीभाव का सम्बन्ध अवतारी नित्यविहारी की अन्तरंग रस-लीलाओं से ही है।

१२. उपास्य प्रिया-प्रियतम का नित्यविहार 'सौन्दर्य' और 'प्रियता' इन दो तत्त्वों पर आधारित है। इन दो तत्त्वों की तीव्रता के कारण प्रेम में नित्य नूतनता और मिलन की अतृप्त चाह बनी रहती है।

१३. लीला के इस क्षेत्र में प्रिया-प्रिय को पलकान्तर का मान भी सह्य नहीं है। स्थूल वियोग यहां किसी रूप में स्वीकृत नहीं है।

१४. प्रिया-प्रियतम की परस्पर की प्रीति 'सम' है। प्रेम की विषमता यहां मान्य नहीं है। फिर भी लीलानन्द के लिये और लाल जी के प्रेमाधिक्य के कारण यहां राधा जी की प्रधानता रहती है।

१५. राधा-प्राधान्य के कारण कुछ विद्वान् सखीभावोपासना में शक्तिवाद का प्रभाव देखते हैं, जो उचित नहीं है क्योंकि इस क्षेत्र में केवल प्रेम का ही एकच्छत्र राज्य है। शक्तिवाद यहां किसी रूप में मान्य नहीं है।

१६. प्रेमतत्त्व की पूर्णतम अभिव्यक्ति नित्यलीलाओं में ही होती है। प्रिया, प्रियतम, सखी और वृन्दावन ये चारों प्रेम के ही चार रूप हैं, जो प्रेम-केलि की सिद्धि करते हैं।

१७. सखियां प्रेरक प्रेम का रूप हैं। वे ही युगल की इच्छा-शक्ति या मनोरथ की असंख्य मूर्तियां हैं, जो प्रिया-प्रियतम को नित्य लीलारत रखती हैं।

१८. प्रिया-प्रिय के नित्यविहार की संयोजिका और निकुंज-रस की आस्वादिका ये सखियां ही हैं।

१९. सखियां दिव्य तनु-धारिणी आनन्दरूपा हैं। इन्हीं के भाव-धारण से उपासक का नित्य-लीला में प्रवेश संभव है।

२०. किसी रसिक गुरु से सम्बन्ध-भाव लेकर, वैदिक-लौकिक विधि-निषेध से परे होकर उपासक सखीभाव की उपासना में प्रवृत्त होता है।

२१. उपासक मानसी-सेवा के लिये अपने सखी-रूप का चिन्तन करता है। उस क्षेत्र में उसका अपना सखीनाम भी होता है परन्तु उपासक अपने आन्तरिक रूप अथवा भाव का प्रकाशन कभी नहीं करता।

२२. उपासना-दृष्टि से कुछ संप्रदायों में सखियों के विभिन्न यूथ, सेवा, स्थितियां आदि का भी विचार किया जाता है परन्तु सखी-संप्रदाय में श्री ललिता को ही प्रधान सखी मान कर उनका आनुगत्य स्वीकृत है।

२३. वाणी-पाठ या वाणी-रचना भी उपासना का एक अंग है। इसीलिये लीला-गान के रूप में सखीभाव-संबंधी साहित्य निर्मित हुआ है।

२४. सखीभाव के प्रथम पुरस्कर्ता और साहित्यकार के रूप में स्वामी हरिदास ही सामने आते हैं। सखीभावोपासना की परिपाटी उन्हीं से चली। उनके द्वारा संस्थापित संप्रदाय की स्थापना का काल सं० १५६५ के लगभग है।

२५. सखीभाव की उपासना की पृष्ठभूमि में जो चार-पांच शताब्दियां (११वीं से लेकर १५वीं तक) हैं, उन्हें लेखक ने वैष्णव धर्म की दृष्टि से संप्रदायोद्भवकाल नाम दिया है।

२६. इस समय की नृशंस राजनीति और उससे प्रभावित धार्मिक सामाजिक दृष्टि से विपन्न परिस्थितियों के बीच के भारतीयों का ध्यान ऐकान्तिक प्रेम की ओर जाना स्वाभाविक ही था।

२७. वैधी भक्ति के स्थूल कर्मकाण्ड और व्रजलीलाओं की पौराणिक स्थूलताओं ने भी सखीभाव की सूक्ष्म अभिव्यंजना का मार्ग प्रशस्त किया।

२८. कुछ विद्वानों ने तन्त्रों का भी प्रभाव सखीभाव-साधना पर माना है। प्रबन्ध में सिद्ध किया गया है कि सखीभावोपासक तान्त्रिक कर्मकाण्ड के पूर्ण विरोधी हैं, केवल वैष्णव तंत्रों के उपास्य-स्वरूप से सखीभाव के उपास्य की समता मानी जा सकती है, पद्धति की नहीं।

२९. स्वामी हरिदास जी के संबंध में डा० गोपालदत्त जी की जीवन-संबन्धी अनेक मान्यताओं का निराकरण कर भिन्न मतों की स्थापना की गई है, ये हैं—

अ. आधारभूत सामग्री में निजमत-सिद्धान्त को अप्रामाणिक ठहराया गया है।

आ. आशुधीर जी को उनका पिता माना गया है।

इ. जाति सारस्वत ब्राह्मण और जन्मस्थान हरिदासपुर निश्चित किया गया है।

ई. इनका संप्रदाय निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत किसी प्रकार नहीं माना जा सका है। सखी-संप्रदाय उपासना और तथ्य दोनों दृष्टियों से स्वतन्त्र संप्रदाय है।

उ. साहित्यविचार की दृष्टि से उन्हें भक्तिकाल का स्वच्छन्दमार्गी कवि सिद्ध किया गया है।

३०. हरिदासी संप्रदाय का प्रायः समस्त साहित्य सखीभाव से ही संबंधित है। बिहारिनिदास जी, ललितकिशोरी और भगवतरसिक संप्रदाय के समर्थ कवि हैं।

३१. राधावल्लभ संप्रदाय के संप्रदाय के संस्थापक श्री हरिवंश जी का सखीभाव की दृष्टि से असाधारण महत्त्व है परन्तु उनके समकाल में संप्रदाय में गोपीभाव और सखीभाव में भेद नहीं किया गया था।

३२. ध्रुवदास जी ने इस संप्रदाय में सखीभाव की पूर्ण प्रतिष्ठा की। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से उनका साहित्य महत्त्वपूर्ण है।

३३. निम्बार्क संप्रदाय की मूल परंपरा में वैधी भक्ति, मन्त्र-तन्त्रों से युक्त नारायण की उपासना थी।

३४. दशश्लोकी श्री निम्बार्क की रचना नहीं हो सकती क्योंकि वह उनके भाष्य से किंचत् भी मेल नहीं खाती। अन्य स्तवादि भी उनके नाम से प्रचलित की हुई पश्चात्कालीन रचनाएं हैं।

३५. इस संप्रदाय में सखीभाव का आरम्भ स्वामी हरिदास जी के पश्चात् श्रीभट्ट जी और हरिव्यासदेव जी के समय में हुआ।

३६. महावाणी रूपरसिक जी की रचना है। यह नित्य-विहार का अत्यन्त सुन्दर ग्रंथ है और निम्बार्कीय सखीभावोपासना का आधार है।

३७. सुन्दर सखी का परिचय प्रथम बार कराया गया है।

३८. गौड़ीय संप्रदाय के गदाधर भट्ट, सूरदास मदनमोहन, रामराय, वल्लभरसिक जी आदि सखीभाव के समर्थ वाणीकार हैं।

३९. रामराय जी और उनके वंशधरों का इस रूप में प्रथम बार परिचय दिया गया है।

४०. वल्लभ संप्रदाय के कवि अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में सखीभाव के उपासक बन गये थे।

४१. हरिराय जी ने इस संप्रदाय को सखीभाव से ओतप्रोत कर दिया।

४२. नागरीदास जी को वल्लभ-संप्रदाय का अनुयायी माना गया है।

४३. हिन्दी-जगत् वंशीअलि जी के संप्रदाय से प्रायः अपरिचित ही था। इस संप्रदाय और वंशीअलि तथा किशोरीअलि जैसे वाणीकारों का परिचय प्रथम बार कराया गया है।

४४. प्रणामी संप्रदाय को निर्गुणोपासक माना जाता है। सखीभावोपासना की दृष्टि से इस संप्रदाय का यह प्रथम और मौलिक मूल्यांकन है।

४५. चरणदासी संप्रदाय को भी प्रायः निर्गुणोपासकों की कोटि में स्थान दिया जाता है। इस संप्रदाय के रसिकों, उनके सखीभावी दृष्टिकोण और साहित्य को इस प्रबन्ध में प्रथम बार स्थान दिया गया है।

* * *

परिशिष्ट १

सखीभावोपासक संप्रदायों के तिलक

तिलक-चित्र

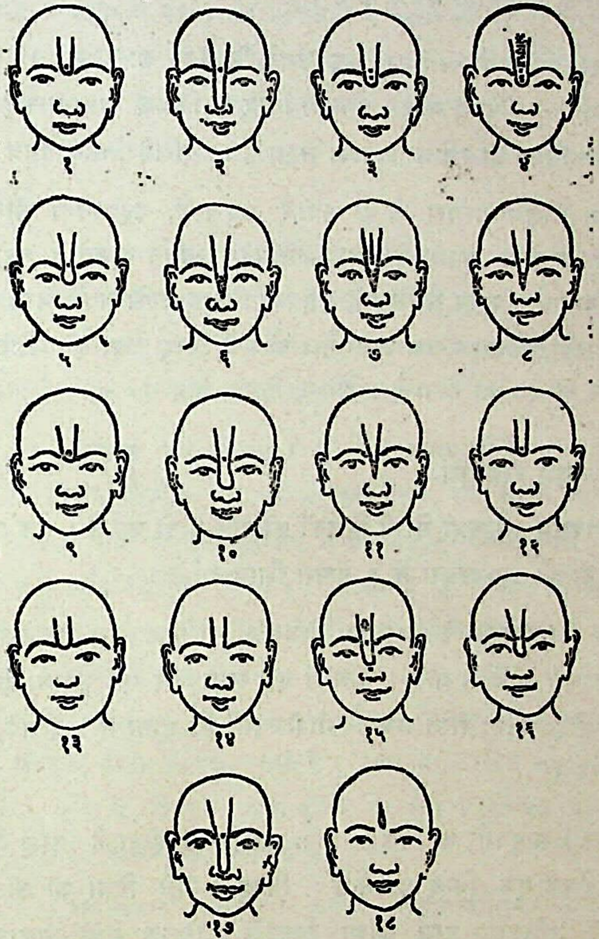
१
२
३
४
५
६
७
८
९
१०
११
१२
१३
१४
१५
१६
१७
१८

[तिलकों का परिचय लेखक ने विभिन्न संप्रदायों के व्यक्तिगत संपर्क में आकर प्राप्त किया है। प्रणामी संप्रदाय के तिलकों का परिचय सूरत के श्री कृष्णप्रियाचार्य जी से प्राप्त हुआ है। इन तिलकों का अन्तर D. A. Pai के ग्रन्थ Monograph on the Religiuos sects in India, Among the Hindus के पृ० २४ पर दिये तिलकों के साथ देखिये।]

१. हरिदासी संप्रदाय

स्वामी हरिदास जी के प्राचीनतम चित्रों में किसी विशेष प्रकार का तिलक नहीं मिलता। आज कल इस संप्रदाय के दो प्रमुख वर्ग हैं। एक वर्ग स्वामी हरिदास जी की वंश-परंपरा में है तथा दूसरा उनकी शिष्य-परंपरा में। दोनों के तिलक दो प्रकार के हैं।

(अ) गोस्वामी परिवार तथा उनके शिष्यवर्ग का तिलक।[1] भ्रूमध्य से ललाट पर्यंत। नीचे से गोल, बीच में बिन्दु। तिलक प्रसादी चंदन, रोली अथवा वृन्दावन की रज का लगाया जाता है। देखिये तिलक चित्र सं० १।

(आ) शिष्य-परंपरा के दो स्थान प्रमुख हैं, टट्टी-स्थान और रसिक-विहारी। ये दोनों अपने को निम्बार्क-संप्रदायान्तर्गत मानते हैं परंतु इनका तिलक निम्बार्क संप्रदाय से भिन्न है। इनका तिलक नासिका के निम्नतम भाग से प्रारंभ होकर केशमूल तक जाता है। बीच में बिन्दु होता है। तिलक प्रायः गोपीचंदन या रज का होता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० २।

२. राधावल्लभ संप्रदाय

राधावल्लभ संप्रदाय में भी तिलकों की दृष्टि से दो वर्ग हैं। एक वर्ग हित-हरिवंश जी की वंश-परंपरा में है, दूसरा शिष्य-वर्ग है।

(अ) गोस्वामी परिवार का तिलक। नासिका मूल से केशपर्यंत दो सीधी रेखाएं। नीचे से गोल। बीच में एक लाल और एक श्याम, दो बिन्दु। तिलक प्रसादी चंदन, रोली अथवा गोपीचंदन का होता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० ३।

(आ) साधुवर्ग का तिलक प्रायः पूर्वानुसार होता है परंतु ये तिलक के बीच केवल एक बिन्दु लगाते हैं। बिन्दु के नीचे प्रिया जी की चंद्रिका और ऊपर 'श्रीराधा' नाम लिखा रहता है। तिलक रोली, गुलाल अथवा राधाकुंड की रज का लगाया जाता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० ४।

३. निम्बार्क संप्रदाय

निंबार्क संप्रदाय में प्रायः एक ही प्रकार का तिलक प्रचलित है। यह लगभग अर्द्ध नासिका से आरम्भ होकर केशमूल तक जाता है। दो रेखाएं

नीचे गोल होकर मिलती हैं। बीच में एक विन्दु होता है। तिलक गोपीचंदन का लगाया जाता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० ५।

४. गौड़ीय संप्रदाय

इस संप्रदाय के ६४ महंत प्रसिद्ध हैं। सभी की परंपरा में अलग-अलग तिलक हैं। मूल रूप में गौड़ीय संप्रदाय के तिलक के नीचे एक तिकोनी भाल नासिका पर लगाई जाती है परन्तु श्यामानंदी अथवा भट्ट परिवार में यह मूलाधार नहीं है। यहां कुछ संबंधित परिवारों के ही तिलक दिये जा रहे हैं—

(अ) सनातन गोस्वामी परिवार। सूरदास मदनमोहन श्री सनातन गोस्वामी के शिष्य थे। इस परिवार में नासिका पर भाल तथा ऊपर बाहर को झुकी दो सीधी रेखाएं होती हैं। तिलक की रचना प्रायः राधाकुंड की रज से की जाती है। देखिये, तिलक-चित्र सं० ६।

(आ) गोपाल भट्ट परिवार। श्री गोपाल भट्ट जी के परिवार में पूर्वोक्त भालदार तिलक के बीच एक सीधी खड़ी रेखा और खींची जाती है। श्री गुणमंजरीदास 'गल्लू' जी इसी परिवार के थे। देखिए, तिलक-चित्र सं० ७।

(इ) ललितकिशोरी परिवार। यद्यपि ये गोपालभट्ट परिवार के शिष्य थे परन्तु पूर्वोक्त तिलक में सीधी रेखा नहीं खींचते। बीच में एक विन्दु लगाते हैं। देखिये, तिलक-चित्र सं० ८।

(ई) गदाधर भट्ट परिवार। इस परिवार के साधकगण लगभग विष्णुस्वामी संप्रदाय जैसा तिलक लगाते हैं। यह भाल रहित और नीचे से गोल होता है। बीच में विन्दु। प्रायः रोली या पीत चन्दन का तिलक। विन्दु का रंग काला। देखिये, तिलक-चित्र सं० ९।

(उ) श्यामानन्दी परिवार। इनका तिलक नासिका के अर्धभाग के तनिक नीचे से प्रारम्भ होता है और दोनों ओर फैलता हुआ भ्रूमध्य में संकुचित हो ललाट पर केशमूल तक जाता है। प्रायः राधाकुण्ड की रज का प्रयोग किया जाता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० १०।

(ऊ) व्यास परिवार। हरिराम व्यास का विवरण राधावल्लभ संप्रदाय के अन्तर्गत दिया गया है। परन्तु उनके परिवार के व्यक्ति उन्हें गौड़ीय मानते हैं और वैसा ही तिलक धारण करते हैं। देखिये, तिलक-चित्र सं० ११।

५. विष्णुस्वामी संप्रदाय

विष्णुस्वामी संप्रदाय का तिलक भ्रूमध्य से गोलाई में आरंभ होकर ललाट पर दो सम रेखाओं के रूप में जाता है। मध्य में बिन्दु। तिलक गोपीचंदन या पीतश्री का होता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० १२।

६. वल्लभ संप्रदाय

(अ) वल्लभ संप्रदाय को विष्णुस्वामी संप्रदाय से संबंधित माना जाता है। तिलक प्रायः वैसा ही होता है। केवल बीच में बिन्दु नहीं होता। तिलक रोली का लगाया जाता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० १३।

(आ) गोकुलनाथ परिवार। गोकुलनाथ जी के परिवार के तिलक में थोड़ी भिन्नता होती है। वे केवल दो सीधी समानन्तर रेखाएं ही खींचते हैं। भ्रूमध्य में रेखाएं मिलती नहीं। देखिये, तिलक-चित्र सं० १४।

७. ललित संप्रदाय

वंशीअलि जी का संप्रदाय भी विष्णुस्वामी संप्रदाय के अंतर्गत है परंतु इनके तिलक में भी थोड़ी भिन्नता है। इनका तिलक अर्द्ध नासिका से आरंभ होकर केशमूल तक जाता है। तिलक के सिंहासन के नीचे ये एक तिलक लगाते हैं। तिलक के बीच मस्तक पर एक बिन्दु और उसके ऊपर 'श्री' शब्द धारण करते हैं। तिलक प्रायः गोपीचंदन या पीतश्री का होता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० १५।

८. प्रणामी संप्रदाय

प्रणामी संप्रदाय का एक वर्ग निम्बार्क संप्रदाय के अनुसार ही अपना तिलक लगाता है। देखिये, तिलक-चित्र सं० १६।

इस संप्रदाय का दूसरा तिलक नासिका के बिलकुल नीचे से केश-पर्यंत है। बीच में एक बिन्दु। देखिये, तिलक-चित्र सं० १७।

९. चरणदासी संप्रदाय

चरणदासी संप्रदाय में तिलक की आकृति अन्य संप्रदायों से भिन्न है। ये केवल ज्योतिस्वरूप पीला तिलक मस्तक पर धारण करते हैं। देखिये, तिलक-चित्र सं० १८।

* * *

परिशिष्ट २

परम्पराएँ

भक्तिक्षेत्र में आचार्य और गुरु का महत्त्व निर्विवाद है। प्रत्येक साधक अपनी गुरु-परम्परा का पूर्ण ध्यान रखता है और उन्हीं महनीय पूर्व पुरुषों के आचरण और आदेशानुसार उपासना में प्रवृत्त होता है। वैष्णव संप्रदायों में ये परम्पराएं प्रायः दो प्रकार की हैं। एक वंश-परम्परा या आचार्य-परम्परा कहलाती है, जो पिता-पुत्र के सम्बन्ध से चलती है, दूसरी गुरु-परम्परा कहलाती है, जो केवल गुरु-शिष्य के सम्बन्ध पर निर्भर रहती है। कुछ संप्रदायों में केवल आचार्य-कुल के लोग ही दीक्षा देते हैं। इन परम्पराओं का महत्त्व काल-निर्धारण की दृष्टि से भी कम नहीं है। नीचे संप्रदायों की एक-एक शाखा की परम्पराएँ दी जारही हैं :—

१. हरिदासी संप्रदाय

आचार्य-परम्परा

श्री गर्गाचार्य जी
(यदुकुल के पुरोहित, सारस्वत ब्राह्मण)
शाण्डिल्य जी
सर्वेश्वर जी
नन्दीलाल जी
सुमुख जी
सर्वगत जी
सुयश जी
सुकर्मा जी
सुयोग्य जी
युवरथ जी
सर्वरी जी

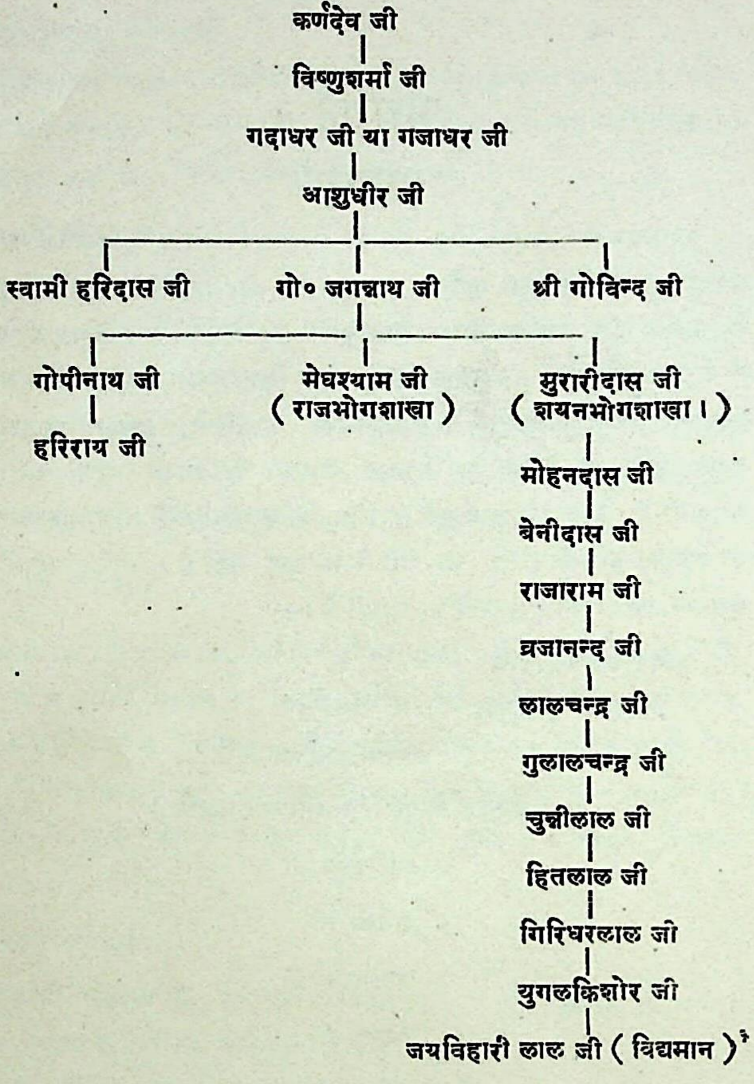
कर्णदेव जी
विष्णुशर्मा जी
गदाधर जी या गजाधर जी
आशुधीर जी
स्वामी हरिदास जी
गो० जगन्नाथ जी
श्री गोविन्द जी
गोपीनाथ जी
हरिराय जी
मेघश्याम जी
(राजभोगशाखा)
मुरारीदास जी
(शयनभोगशाखा।)
मोहनदास जी
बेनीदास जी
राजाराम जी
व्रजानन्द जी
लालचन्द्र जी
गुलालचन्द्र जी
चुन्नीलाल जी
हितलाल जी
गिरिधरलाल जी
युगलकिशोर जी
जयविहारी लाल जी (विद्यमान)[1]

गुरु-परंपरा

स्वामी आशुधीर जी
|
स्वामी हरिदास जी
|

---

[1] प्राचीन वंशवृक्ष से, स्वामी हरिदास जी से पूर्व के नामों में कहीं-कहीं अधिक विस्तार भी देखा गया है। यह परंपरा गो० मगनलाल जी के अनुसार है। स्वामी हरिदास जी के बाद की परंपरा सनदों से प्रमाणित है।

विट्ठल विपुल जी
|
बिहारिनिदास जी
|
सरसदास जी
|
नरहरिदास जी
|
रसिकदास जी
|
ललित किशोरी जी
|
ललित मोहनी जी
|
चतुरदास जी
|
ठाकुरदास जी
|
राधिकादास जी
|
सखीसरण जी
|
राधाप्रसाद जी
|
भगवानदास जी
|
रणछोडदास जी
|
राधाचरण जी[1] (विद्यमान)

निम्बार्क संप्रदाय के क्रम में गुरु-परंपरा

भगवान नारायण हंसावतार
|
सनकादि ऋषि
|
नारद जी
|
निंबार्काचार्य
|
श्रीनिवासाचार्य
|
विश्वाचार्य
|
पुरुषोत्तमाचार्य
|

---

[1] गुरु प्रणालिका से संकलित ।

विलासाचार्य
|
स्वरूपाचार्य
|
माधवाचार्य
|
वलभद्राचार्य
|
पद्माचाय
|
श्यामाचार्य
|
गोपालाचार्य
|
कृपाचार्य
|
देवाचार्य
|
व्रजभूषणदेव
|
व्रजजीवनदेव
|
जनार्दनदेव
|
वंशीधर देव
|
भूधरदेव
|
हरिवल्लभ जी
|
मुकुन्द जी
|
ललितभानु जी
|
कन्हरदेव जी
|
वासुदेव जी
|
सुरतभानु जी
|
पीताम्बरदेव जी
|
चिन्तामणि जी
|
युगलकिशोर जी
|
दामोदर जी
|

कमलनयन जी
गोबर्धन जी
श्यामदेव जी
हृषीकेश जी
मधुसूदन जी
गोपदेव जी
रूपनिधान जी
जनहरिया जी
मथुरानाथ जी
प्रेम नारायण जी
अनन्यदेव जी
श्यामसखी जी
लघुवीठलदेव जी
मोहन जी
त्रिभंगदेव जी
हरिविलास जी
यशोदानन्द जी
जयदेव जी गीतगोविंदकार
जनगोपाल जी
माधवदेव जी
विष्णुदेव जी
बालमुकुन्द जी
रामकृष्ण जी
परमानन्द जी

भागवतदेव जी
जनभगवान जी
कृष्णदेव जी
पुरुषोत्तम देव जी
नन्दलाल जी
हरदेव जी
आशुधीर जी
स्वामी हरिदास जी[1]

२. राधावल्लभ संप्रदाय

आचार्य परंपरा

ब्रह्मा
मरीचि ऋषि
कश्यप ऋषि
अचलेश्वर ऋषि
अचिन्त ऋषि
हलधर ऋषि
श्रीधर ऋषि
पानधर ऋषि
गंगाधर ऋषि
विजय भट्ट
कुलाजित भट्ट
विद्याधर भट्ट

---

[1] स्वामी हरिदास जी से आगे की शिष्य-परंपरा पृ० ७५६ के अनुसार-निजमतसिद्धान्त के आचार्यखण्ड से संकलित ।

जालप मिश्र
|
प्रभाकर मिश्र
|
उजागर मिश्र
|
जीवन मिश्र
|
हिमकर मिश्र
|
केशोदास मिश्र
|
श्री हिततहरिवंश जी
|
गो० वनचंद जी (चार भाई)
|
सुंदरवर जी
|
दामोदरवर जी
|
रासदास जी
|
व्रजलाल जी
|
चंद्रलाल जी
|
कीर्तिलाल जी
|
चतुरशिरोमणिलाल जी
|
आनन्दलाल जी
|
भजनलाल जी
|
प्रेमलाल जी[1]

३. निम्बार्क संप्रदाय

गुरु-परम्परा

हंसावतार श्री नारायण भगवान् से देवाचार्य जी तक की परम्परा पीछे हरिदासी संप्रदाय के क्रम में देखें। यहाँ देवाचार्य से आगे की परम्परा दी जा रही है—

सुन्दरभट्टाचार्य
|
पद्मनाथ भट्ट
|

---

[1] राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, परिशिष्ट २, ३ से।

उपेन्द्र भट्ट
|
रामचन्द्र भट्ट
|
वामन भट्ट
|
श्रीकृष्ण भट्ट
|
पद्माकर भट्ट
|
श्रवण भट्ट
|
भूरि भट्ट
|
माधव भट्ट
|
श्याम भट्ट
|
गोपाल भट्ट
|
बलभद्र भट्ट
|
गोपीनाथ भट्ट
|
केशव भट्ट
|
मंगल भट्ट
|
काश्मीरिकेशव भट्ट
|
श्री भट्ट जी
|
हरिव्यासदेव जी
|
परशुरामदेव
|
हरिवंशदेव
|
नारायणदेव
|
वृन्दावनदेव
|
गोविन्ददेव
|
गोविन्दशरणदेव
|
सर्वेश्वरशरणदेव
|

निम्बार्कशरण देव
|
व्रजराजशरणदेव
|
गोपेश्वरशरणदेव
|
घनश्यामशरणदेव
|
बालकृष्णशरणदेव
|
राधासर्वेश्वरशरण देव[1] (विद्यमान महंत)

४. गौड़ीय संप्रदाय

गुरु परंपरा

श्रीमन्नारायण
|
श्री ब्रह्मा
|
नारद
|
वेदव्यास
|
मध्वाचार्य
|
पद्मनाभ
|
नरहरि
|
माधव
|
अक्षोभ
|
जयतीर्थ
|
ज्ञानसिंधु
|
श्री महानिधि
|
श्री विद्यानिधि
|
श्री राजेन्द्र
|
श्री जयधर्म
|
श्री ब्रह्मण्य
|

---

[1] युगतत्व समीक्षा में उल्लिखित परम्परा से ।

श्री पुरुषोत्तम
श्री व्यासतीर्थ
श्री लक्ष्मीपति
श्री माधवेन्द्र
श्री ईश्वर
श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु
श्री गोपाल भट्ट जी
श्री निवासाचार्य जी
श्री मनोहरदास जी
श्री प्रियादास जी[1]

(श्री गोपालभट्ट जी आदि की परंपराएं अलग हैं)

५. वल्लभ संप्रदाय

आचार्य परंपरा

विष्णुस्वामी की परंपरा में श्रीवल्लभाचार्य हुए
श्री वल्लभ
श्रीविट्ठलनाथ जी (दो भाई)
श्री गिरिधर जी[2] (सात भाई)

६. ललित संप्रदाय

गुरु परंपरा

श्री विष्णुस्वामी
रोहिण्याचार्य
देवाचार्य
हिरण्यगर्भाचार्य

---

[1] मनोहरदासकृत 'संप्रदायबोधिनी' से संकलित।

[2] इस वंश का विस्तार, वल्लभवंश-वृक्ष में देखें।

गोविन्दाचार्य
मंगलाचार्य
लोकाचार्य
विलोकाचार्य
मिश्रनारायण
(यहां से वंश-परंपरा और गुरु-पंरपरा साथ हैं)
श्री किशोरीदास
गोवर्द्धन दास
कल्याणराय
भूपतिराय
जयकृष्ण
व्रजभूषण
कमलनयन
प्रद्युम्न जी
वंशीधर जी (वंशीअलि जी)
पुण्डरीकाक्ष जी
केशवराय जी
लाडिलीप्रसाद जी
राधाप्रसाद जी
युगलकिशोरजी, श्यामकिशोर जी, श्रीकिशोर जी[1] (विद्यमान)

७. श्री प्रणामी संप्रदाय

गुरु-परंपरा

स्वामी हरिदास जी
हरिदास जी

---

[1] श्री राधासिद्धान्त से संकलित ।

देवचंद जी
|
प्राणनाथ जी[1]

८. चरणदासी संप्रदाय

गुरु-परंपरा

श्री शुकदेव जी
|
श्री चरणदास जी
|
रामरूप जी
|
रामकृपालु जी
|
विहारीदास जी
|
ठाकुरदास जी
|
बलदेव जी
|
सरसमाधुरी जी
|
रूपमाधुरीशरण जी[2] (विद्यमान)

* * *

---

[1] इनके अनेक शिष्य हुए और शाखाएं चलीं।

[2] सरसमाधुरी जी के एक पद से संकलित, रूपमाधुरी जी से प्राप्त।

परिशिष्ट ३

सहायक साहित्य

१. हिन्दी-ग्रंथ (हस्तलिखित)

अगमदास जी की वाणी : श्रीरूपमाधुरीशरण जी, वृन्दावन
अन्योक्ति विन्दु : गो० नवनागरीदास जी, निजी संग्रह
अनन्य अलि जी की वाणी : गो० ललिताचरण जी, वृन्दावन
अलबेली अलि जी की वाणी : निजी संग्रह
अष्टाचार्यों की वाणी : ”
अष्टयाम : किशोरीदास जी, निजी संग्रह
अष्टादश सिद्धांत के पद : स्वामी हरिदास जी, ”
आनन्द चमन : शीतलदास जी, ”
आर्त पत्रिका : चाचा वृन्दावनदास जी, गो० रूपलाल जी, वृन्दावन
आसकरन की पदावली : श्री प्रभुदयाल मीतल, मथुरा
कल्याण पुजारी की पदावली : गो० ललिताचरण जी, वृन्दावन
किशोरी अलि जी की वाणी : निजी संग्रह
किशोरीदास जी के पद : ”
कुंजविहारी सर्वस्व : गोस्वामी रामनाथ जी शास्त्री, निजी संग्रह
कृपा अभिलाष वेली : चाचा वृन्दावनदास जी, रूपलाल जी, वृन्दावन
कृष्णजीवन लच्छीराम के पद : संकलित
केलिमाल विभिन्न प्रतियां : स्वामी हरिदास जी, निजी संग्रह
केलिमाल की टीका : नरहरिदास जी ”
केलिमाल की टीका : पीतांबरदास जी ”
केलिमाल की टीका : राधासरनदास जी ”
गादी सेवा प्रकट : गो० रूपलाल जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन
गुरुछौना जी के पद : श्री रूपमाधुरीशरण जी, वृन्दावन
गुरु प्रणालिका : सहचरिशरण जी, श्री जी की कुंज, वृन्दावन
गो० किशोरीलाल जी की पदावली : गो० बालकृष्ण, वाराणसी
गो० गुणमंजरीदास जी के पद : संकलित, गो० विश्वम्भर जी, वृन्दावन
गो० निधिवनदास जी की वाणी : गो० ओंकारनाथ जी, वृन्दावन
गो० वंशीधर जी की वाणी : गो० रासबिहारी जी, वृन्दावन

गंगा लहरी : गो० रामनाथ जी शास्त्री, निजी संग्रह
चरणावत रसिकों का वाणी संग्रह : श्री रूपमाधुरीशरण जी, वृन्दावन
चाचा वृन्दावनदास जी का पदसंग्रह : निजी संग्रह
चैतन्य महाप्रभु का अष्टयाम : चन्द्रगोपाल जी, गो० यमुनावल्लभ जी, वृन्दावन
चन्द्र चौरासी : चन्द्र गोपाल जी, यमुनावल्लभ जी, वृन्दावन
जगन्नाथ कविराय के पद : संकलित, निजी संग्रह
जगन्नाथ जी की वाणी : निजी संग्रह
जनहरि की पदावली : लाड़िली जी का मंदिर, जयपुर
जयति चतुर्दश : गोविन्ददेव जी, जयपुर
जयविहारिनिदास जी की पदावली : निजी संग्रह
तारतम्य सागर : प्राणनाथ जी, ना० प्र० सभा, काशी
तिथिवारलीला : परशुराम जी, " "
धौंधी की पदावली : रागमाला से संकलित
नवलदास जी की वाणी : "
नागरीदासजीकी वाणी 'हरिदासी' : निजी संग्रह
" 'राधावल्लभीय' : गो० ललिताचरण जी, वृन्दावन
निजमत सिद्धांत : किशोरदास जी, रसिक विहारी जी का मन्दिर, वृन्दावन
नित्यविहार पदावली : रूपरसिक जी, श्री जी की कुंज, वृन्दावन
पद प्रसंग माला : नागरीदास जी, गो० राधाविहारी, वृन्दावन
प्रियासखी की वानी : निजी संग्रह
प्रेम पच्चीसी : गो० नन्दकिशोर जी, निजी संग्रह
प्रेम पयोनिधि : मनमोहनदास जी, "
वल्लभ अलि जी की पदावली : लाड़िली जी का मंदिर, जयपुर
वारहमासा : गो० नन्दकिशोर जी, निजी संग्रह
वीठल विपुल जी की वाणी : निजी संग्रह
वीठल विपुल जी कौ मंगल : "
वैन कवि की वाणी संपूर्ण : निजी संग्रह तथा ना० प्र० सभा, काशी
भक्ति प्रबोध : जुगतानन्द जी, श्री रूपमाधुरीशरण जी, वृन्दावन
भक्तिमाला : चरणदास जी 'हरिदासी' निजी संग्रह
भक्ति रस मंजरी : रामसखी जी, श्री रूपमाधुरीशरण जी, वृन्दावन
भावना पच्चीसी : गो० चन्द्रलाल, गो० वलदेवलाल जी, वृन्दावन
मन शिक्षा बत्तीसी : गो० रूपलाल जी "

माधुर्य लता : रसिकदास जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन

माधुर्य विलास : हित अनूप, वंशीधर, गो० ललिताचरण जी, वृन्दावन

मानसिक सेवा : गो० रूपलाल जी, गो० रूपलाल जी, वृन्दावन

युगलकेलि रस माधुरी, : गो० प्रेमकिशोर जी, वृन्दावन

युगल विनोद : किशोरदास जी, गो० रूपलाल जी, वृन्दावन

युगल रस माधुरी : रसिक गोविन्द जी, श्री जी की कुंज, वृ०

रति लता : रसिक दास जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन

रस कंदर्प चूडामणि : रसिकदास जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन

रस तरंग : गो० छबीलेवल्लभ जी, ललितवल्लभ वृन्दावन

रस विग्दु : गो० नवनागरीदास जी, निजी संग्रह

रस रत्नाकर : गो० रूपलाल जी, गो० रूपलाल जी, वृन्दावन

रस सार : रसिकदास जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन

रहस्य दर्पण : चरणदास जी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

रहस्य चन्द्रिका : चरणदास जी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

रसिक अनन्य परिचयावली : चाचा वृन्दावनदास जी, गो० बलदेवलाल जी वृन्दावन

रसिक अनन्यमाल : भगवत मुदित जी, गो० ब्रजभूषण जी, वृन्दावन

रसिक गोविन्दानन्द घन : रसिक गोविन्द जी, राजकीय केन्द्रीय पुस्तकालय, पटियाला, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर, जोधपुर

राधा स्तोत्र : गो० रूपलाल जी, गो० रूपलाल जी, वृन्दावन

राधा माधव विहार : चन्द्र गोपाल जी, गो० यमुनावल्लभ जी, वृन्दावन

राधिकानाथ जी की पदावली : गो० यमुनावल्लभ जी, वृन्दावन

ललित किशोरी जी की वाणी : निजी संग्रह

ललित किशोरी जी की साखी : निजी संग्रह

लीला विंशति : रूपरसिक जी, श्री जी की कुञ्ज, वृन्दावन

लीला सागर : जोगजीत जी, विहारीशरण जी, वृन्दावन

वाणी विलास : गो० रूपलाल जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन
विप्रमतीसी : परशुराम जी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अलवर
विहार चमन : शीतलदास जी, रसिक बिहारी का मन्दिर, वृन्दावन
विहार रसामृत : सन्तदास जी, निजी संग्रह
विहारिनिदास जी की वाणी (संपूर्ण) : निजी संग्रह
विहारिनिदास जी की साखी : निजी संग्रह
वृत्तान्त मुक्तावली : भूषणदास जी, गो० छबीलेवल्लभ, वृन्दावन
वृन्दावन महिमा भाषा : चन्द्रलाल जी गो०, निजी संग्रह
वृन्दावन प्रकाशमाला : चंद्रलाल गोस्वामी, बाबा ध्रुवालिशरण, वृन्दावन
वृन्दावन सत : अलबेली अलि, लाडिली जी का मन्दिर, जयपुर
वृन्दावन सत : भगवतमुदित जी, बाबा कृष्णदास जी, कुसुम सरोवर मथुरा
वृन्दावन धामानुरागावली : गोपालकवि, गो० ओंकारनाथ जी, वृन्दावन तथा अद्वैतपुस्तकालय, वृन्दावन
वृन्दावन रहस्य : गो० रूपलाल जी, गो० रूपलाल जी, वृन्दावन
वंशवृक्ष गोस्वामी परिवार, : गो० मगनलाल जी, बिहारीपुरा, वृन्दावन
वंशीअलि जी की वाणी : लाड़िली जी का मंदिर, जयपुर, तथा शाहजहाँपुर वाला मंदिर, वृन्दावन
वंशी अवतार : गो० रूपलाल जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन
ब्रजदासी भागवत : ब्रजदासी जी, शुक-भवन, वृन्दावन
श्याम सगाई : बैनदास जी. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
श्री हित हरिवंश चरित्र : उत्तमदास जी, गो० ललिताचरण जी, वृन्दावन
समय प्रबन्ध : गो० रूपलाल जी, गो० रूपलाल जी, वृन्दावन
समय प्रबन्ध : ललितकिशोरी जी, शाहजी का मंदिर, वृन्दावन
समय प्रबन्ध : अलबेलीअलि जी, ना० प्र० सभा, काशी,
साखी का जोड़ा : परशुराम जी, राजस्थान प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान, अलवर

सारचन्द्रिका : किशोरअलि निजी संग्रह
सांगीतविन्दु : गो० नवनागरीदास जी, निजी संग्रह
सुखसार लता : रसिकदास जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन
सुन्दर सखी की वाणी : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,
सेवक वाणी : निजी संग्रह
स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य : डा० गोपालदत्त जी अप्रकाशित थीसिस, आगरा विश्वविद्यालय
हरिराय जी की पदावली : श्री प्रभुदयालजी मीतल, मथुरा
हित चौरासी : हित हरिवंश जी, निजी संग्रह, तथा गो० लीलाधर जी, वृन्दावन
हित प्राकट्य प्रमाण : गो० रूपलाल जी, गो० ललिताचरण, वृन्दावन
हित रूप चरित्र बेली : चाचा वृन्दावनदास जी, गो० बलदेवलाल जी, वृन्दावन
हितकुल शाखा : जयकृष्ण जी, गो० बलदेवलालजी, वृन्दावन
हित वृन्दावनदास जी की ७१ बेलियां : गो० रूपलाल जी, वृन्दावन
हित वृन्दावनदास जी की छद्मलीलाएं : गो० रूपलाल जी, वृन्दावन

प्रकाशित

अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, विश्वविद्यालय-प्रकाशन, लखनऊ, १९५०
अद्भुत आनन्द सत : किशोरदास जी, सिद्धान्तरत्नाकर, वृन्दावन
अध्यात्मयोग और चित्तविकलन : वेंकटेश्वर शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५७
अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ : भगवतरसिक जी, कानपुर, प्रथम संस्करण
अनन्यमोदिनी (प्रियादास जी की ग्रंथावली) : प्रियादास जी, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा, सं० २००७
अपूर्व गुच्छा : गो० रामनाथ जी शास्त्री, भागवतभवन, वृन्दावन
अभिलाष माधुरी : ललितकिशोरी, ललितमाधुरी, शाह जी का मंदिर, वृन्दावन
अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय २ भाग : डा० दीनदयाल गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००४
अष्टछाप परिचय : प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा
अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका : अमोलक राम जी, वृन्दावन
आचार्य चाणक्य : सत्यकेतु विद्यालंकार, सरस्वतीसदन, मसूरी
आचार्य तत्त्व निर्णय : श्री नंदकुमारशरण ब्रह्मचारी, वृन्दावन, सं० १९९५

आचार्य परम्परा परिचय : पं० किशोरदास जी, रामचंद्रदास वैष्णव, वृन्दावन, सं० १९९३

आदिवाणी : रामराय जी, यमुनावल्लभ गोस्वामी, वृन्दावन

उत्तरी भारत की संत परम्परा : परशुराम जी चतुर्वेदी, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

उपदेश आनन्द सत : किशोरदास, सिद्धान्तरत्नाकर, वृन्दावन, सं० २०१३

उपदेश चिन्तामणि : रूपमाधुरी शरण जी, युगलघाट, वृन्दावन

कवीर का रहस्यवाद : डा० रामकुमार वर्मा, साहित्यभवन लि०, इलाहाबाद

कबीर ग्रन्थावली : डा० श्यामसुन्दरदास, ना० प्र० सभा, काशी सं० २००४

कवीर वचनामृत : डा० मुंशीराम शर्मा, साहित्यनिकेतन, कानपुर,

कामकला : ठाकुरविजयवहादुरसिंह, हिन्दीसाहित्य कुटीर, वनारस, सं० २०१२

काव्यदर्पण : पं० रामदहिन मिश्र, ग्रंथमाला कार्यालय, पटना

कीर्तन संग्रह ३ भाग : प्र० लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद सं० १९९३

कीर्तन कुसुमाकर : अहमदाबाद,

कुंजविहारी अष्टक : गो० रामनाथ जी शास्त्री, भागवतभवन, वृन्दावन

केलिमाधुरी, माधुरी वाणी : माधुरीदास जी, बावा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा

केलिमाल, स्वामी हरिदास : सुदर्शनसिंह चक्र की भूमिका सहित, कुंजविहारी पुस्तकालय, वृन्दावन

गदाधर भट्ट जी की वाणी : वृन्दावन तथा कुसुम सरोवर संस्करण

गीतगोविन्द ब्रजभाषापद्यानुवाद : रामराय जी, रघुनन्दनप्रसाद सिंह, वृन्दावन, प्रथम संस्करण

गीतगोविन्दपद, रामराय जी : वावा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा

गीतगोविन्द : रसजानि वैष्णवदास, वावा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा,

गीतारहस्य या कर्मयोग शास्त्र : श्री तिलक, जयंतश्रीधर, पूना

गुरु भक्ति प्रकाश : रामरूप जी गुरुभक्तानन्द, पं० श्रीकृष्णदास, देहली, सं २००७, द्वितीय संस्करण

गुलजार चमन : महन्त शीतलदास जी, शुकदेव प्रसाद, मथुरा, सं० १९६९

गोपी प्रेम : हनुमान प्रसाद जी पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०११

गौरांगभूषणमंजावली : बाबा कृष्णदास कुसुमसरोवर, मथुरा, सं० २००७

घनानन्द ग्रन्थावली : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रसादपरिषद्, बनारस, सन् १९५२

घनानन्द और स्वच्छंद काव्यधारा : मनोहरलाल गौड़, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सन् १९५८

चरणावत वैष्णव वर्षोत्सव : रूपमाधुरीशरण जी, वृन्दावन

चरणावत वैष्णव सदाचार : रूपमाधुरीशरण जी, वृन्दावन

चाहवेली (प्रियादासजी की ग्रंथावली) : प्रियादास जी, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, सं० २००७

चिन्तामणि भाग १ : आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल, इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९५६

चैतन्य चरितामृत, ब्रजभाषापद्यानुवाद : श्री सुबलश्याम, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा, सं० २००६

चौरासी वैष्णवन की वार्ता : सं० द्वारकादास परीख, मथुरा

छायावाद : रामरतन भटनागर, किताबमहल, इलाहाबाद

जन्मभूमि : शरणबिहारी गोस्वामी, जगत बुकडिपो, मथुरा, सं० २००९

जायसी ग्रंथावली : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

तसव्वुफ अथवा सूफीमत : चन्द्रबली पाण्डेय, नंदकिशोर एंड संस, बनारस, प्रथम संकरण

तुलसी ग्रन्थावली : सं० रामचंद्र शुक्ल आदि, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००४,

दानमाधुरी : माधुरीदास जी, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा

दिल्ली सल्तनत : आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, शिवलाल अग्रवाल, आगरा,

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, (भाव सहित) : मथुरा

द्वादशयश : चतुर्भुजदास जी, शेठ मणिलाल जमुना दास शाह, अहमदाबाद, सं० १९९३

नव भक्तमाल : स्व० गो० राधाचरण जी, वृन्दावन

नव संतमाल : रूपमाधुरीशरण जी, युगलघाट, वृन्दावन, सं० १९९०

नागर समुच्चय : सं० जयलाल कवि, ज्ञान सागर प्रेस, बम्बई, सं० १९५५

निकुंजकेलि माधुरी : माधवदास जी माधुरीअलि, वृन्दावन

निकुंज प्रेम माधुरी : माधवदास जी माधुरीअलि, वृंदावन

निजमत सिद्धान्त ४ खण्ड : किशोरदास जी, केदारनाथ वैश्य लखनऊ, सं० १९६८–१९७२

नित्यपाठ : रूपमाधुरीशरण जी, युगलघाट, वृंदावन

नित्यविहार लीला, : गो० गंगाप्रसाद, प्र० गो० वंशीधर, दिल्ली, सन् १९४१

निम्बार्क माधुरी : सं० विहारीशरण जी, वृन्दावन

नीति विज्ञान : गोवर्धनलाल जी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२३

नंददास ग्रंथावली : उमाशंकरशुक्ल, नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९५७

परमहंस वंशावली, घनानंद ग्रन्थावली : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र काशी

परमानन्द सागर : सं० गोवर्धन नाथ शुक्ल, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९५८

प्रेम दर्शन मीमांसा : इन्द्र ब्रह्मचारी, स्वामी श्री नारायणदास, वृन्दावन, सं० १९९४

प्रेमवाटिका : रसखान, मथुरा

प्रेम पाठ : प्राणनाथ जी, दार्जिलिंग, सं० २०१३

प्रेम भक्ति चन्द्रिका भाषा : वृन्दावनदास जी, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा, सं० २०००

बयालीस लीला और पदावली : ध्रुवदास जी, रामरत्न 'रत्नेश सनाढ्य' कानपुर,

बिहारी बोधिनी : लालाभगवानदीन, साहित्य सेवासदन, काशी, १९८२ वि०

ब्रज का इतिहास : सं० कृष्णदत्त वाजपेयी, ब्रजसाहित्य मण्डल, मथुरा, सं० २०११

ब्रजमाधुरीसार : वियोगी हरि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सप्तम संस्करण

भक्तकवि व्यास जी : वासुदेव गोस्वामी, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, सं० २००९

भक्तमाल : नारायणदास जी नाभा, लीथो संस्करण, लखनऊ

भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका सहित : प्रियादास जी, लखनऊ

भक्तमाल रूपकला टीका सहित : नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १९३७, तृतीय संस्करण

भक्त नामावली : ध्रुवदास जी, बा० राधाकृष्णदास जी, नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९२८
भक्ति का विकास : डा० मुंशीराम शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, प्रथम संस्करण
भक्तिसागर : चरणदास जी, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण
भंवरगीत, नंददास ग्रंथावली : नन्ददास, नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९५७
भगवन्नाम चंद्रिका : दुलारे प्रसाद शास्त्री, वृन्दावन, सं०१९८८
भागवत सम्प्रदाय : पं० बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २०१०,
भारतीय दर्शन : पं० बलदेव उपाध्याय, शारदामंदिर, काशी, द्वितीय सं०, १९५४
भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास : डा० देवराज, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, सन् १९४१
भारतीय साधना और सूर साहित्य : डा० मुंशीराम, आचार्य शुक्ल साधना सदन, कानपुर
भ्रमरगीत सार : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, साहित्य सेवा सदन, वाराणसी
मध्यकालीन धर्म साधना : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन (प्रा०) लि. इलाहाबाद
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां : डा० सावित्री सिन्हा, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
महाकवि सूरदास : नन्ददुलारे वाजपेयी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
महावाणी : सं० ब्रह्मचारी बिहारीशरण, वृन्दावन, प्रथम संस्करण, सं० २००५
माधुर्य लहरी : कृष्णदास जी
मान माधुरी, माधुरी वाणी : माधुरीदास जी, बाबा कृष्णदास, कुसुम-सरोवर, मथुरा
मिश्रबंधु विनोद : मिश्रबंधु, गंगापुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ, प्रथम तथा द्वितीय संस्करण
मुकुट की लटक : बिहारीदास, वृन्दावन
मुक्ति मार्ग : रामरूप जी, श्री रूपमाधुरीशरण, वृंदावन
मुन्शी अभिनन्दन ग्रंथ : कानपुर, सन् १९५८ ई०
मैथिल कोकिल विद्यापति : व्रजेन्द्र नंदन सहाय, नागरी प्रचारिणी सभा, आरा

मैथिल कोकिल विद्यापति की पदावली : शंभुप्रसाद बहुगुना, लखनऊ

युगल शतक : श्रीभट्ट जी सं० व्रज वल्लभ शरण जी, श्री व्रजविहारीशरण, गया, सं० २००९

युगल सनेह पत्रिका : चाचा वृन्दावनदास, श्री भीमसेन वकील, अटेर, सं० १९८५

योग प्रदीप : ले० अरविन्द, अरविन्द ग्रन्थमाला, कलकत्ता, सन् १९३६

रसिक पथ चन्द्रिका : चाचा वृन्दावनदास जी, वृन्दावन

रसिक भक्तमाल : यमुनावल्लभ गोस्वामी, गो० पन्नालाल, वृन्दावन, सं० १९८६

राजस्थानी भाषा और साहित्य : मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

राधा रमण रस सागर : मनोहरदास जी, बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर, मथुरा, सं० २००८

राधा रहस्य प्रकाशिका : हंसदास, बरसाना

राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २०१४

राधा का क्रम-विकास : डा० शशिभूषण दासगुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सन् १९५६

राधावल्लभ भक्तमाल : प्रियादास, वृन्दावन, सं० १९९४

राधासिद्धान्त की टीका : नृसिंहदत्त झिंगण, कटरानील, दिल्ली, सं० १९९८, प्रथम संस्करण

राधिका महारास : वंशीअलि जी, प्रकाशक कृष्णरूप, वृन्दावन, सं० १९९१ वि.

राधिका नामावली : राधेश्याम गुप्ता, वृन्दावन, सं० २०१५

रामचरित मानस : गो० तुलसीदासजी, गीता प्रेस, गोरखपुर

रामभक्ति में रसिक संप्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह, अवध साहित्य मन्दिर, बलरामपुर, सं० २०१४

रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना : भुवनेश्वर मिश्र माधव, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, सं० २०१४

रामहरि ग्रंथावली : बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा, सं० २००८

रास छद्मविनोद : चाचा वृन्दावनदास जी, गो० रूपलाल, वृन्दावन

रासलीलानुकरण : बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर, मथुरा, सं० २००३

रास सर्वस्व : राधाकृष्णदास जी, मथुरा
रूपसखी की वाणी : श्री जी की कुंज, वृन्दावन, तथा सिद्धान्तरत्नाकर में प्रकाशित
लघुरस कलिका : शाह जी का मंदिर, वृन्दावन, लीथोटाइप
ललित प्रकाश : सहचरिशरण जी, वृन्दावन
लाड सागर : चाचा वृन्दावनदास, प्र० लाला जुगलकिशोर काशीराम, रोहतक मंडी, सं० २०११
लीला विंशति : रूपरसिक जी, बाबा माधुरीदास, वृन्दावन, सं० २०१५
वचनिका सिद्धान्त : ललितकिशोरी जी, स्वामी नारायणदास, वृन्दावन, सं० १९९४
वल्लभरसिक की वाणी, : बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा, सं० २००५
विद्यापति : सं० श्री खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमानबिहारी मजुमदार, पटना, सं० २०१०
विद्यापति पदावली : कुमुद विद्यालंकार, रीगल बुकडिपो, दिल्ली
विहारी भजनावली : गो० रामनाथ जी शास्त्री, भागवतभवन, वृंदावन
विहारी रत्नाकर : जगन्नाथदास जी रत्नाकर, ग्रन्थकार, बनारस
विज्ञान सरोवर : दिल्ली
वृन्दावनशतक : प्रबोधानन्द सरस्वती, कलकत्ता
वृन्दावन गोपी माहात्म्य : सुंदरि कुंवरि जी
वृन्दावन-रस-मंजरी : श्री माधवदास जी अलीमाधुरी, वनविहार, वृन्दावन, सं० १९९२
वेदान्तदर्शन : ब्रह्मसूत्र, श्री सुधीरगोपाल मुखोपाध्याय, दौलतपुर, सं० १९८६
वेदान्तपदार्थ परिचय : श्री वैष्णवदास शास्त्री, वृन्दावन, सं० १९८५
वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह : श्यामलाल जो हकीम, सेवाकुंज, वृन्दावन
व्यासवाणी, राधाकिशोर गोस्वामी, : वृन्दावन, सं० १९९४
व्रज का इतिहास : कृष्णदत्त जी वाजपेयी, व्रजसाहित्य मंडल, मथुरा
व्रज प्रेमानन्द सागर : चाचा वृन्दावनदास जी, मुखिया व्रजवल्लभदास, वृन्दावन, सं० २०१५

व्रज माधुरी सार : सं० वियोगीहरि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन् १९५६
व्रज विनोद हजारा : लाल बलवीर, मथुरा
शृंगार रस सागर २ भाग : बाबा तुलसीदास जी, वृन्दावन
शिवसिंह सरोज : शिवसिंह सेंगर, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १९२६
शिक्षा प्रकाश : चरणदास जी, युगलघाट, वृन्दावन
शुक संप्रदाय प्रकाश : रूपमाधुरीशरण जी, युगलघाट, वृंदावन, प्रथम संस्करण
शुक महत्व : रूपमाधुरीशरण जी, युगलघाट, वृन्दावन, सं० १९९१
शुक संप्रदाय सिद्धान्त चंद्रिका : जयपुर
श्री चरणप्रकाश : रूपमाधुरीशरण, युगलघाट, वृन्दावन
श्री कृष्णलीलारहस्य : इन्द्र ब्रह्मचारी, प्र० स्वामी श्री नारायण दास, वृन्दावन सं० १९९४ वि०
श्री भगवत्तत्त्व : श्री हरिहरानन्द सरस्वती करपात्री, प्र० मूलचन्द चोपड़ा, वनारस, सं० १९९७
समयप्रबंध पदावली : अलबेली अलि, स्व० जगन्नाथदास रत्नाकर, काशी, सन् १९००
षोडश ग्रंथावली : गोपालवल्लभ गोस्वामी, वृन्दावन
श्रीलाल ग्रंथमाला : गोस्वामी बाँकेलाल जी, वृन्दावन, सन् १९५५ ई०
सरस सागर ३ भाग : सरस माधुरी जी, पं० राधेलाल शर्मा, जयपुर, सन् १९३६
सरस मंजावलि : सहचरिशरण जी, ब्रह्मचारी विहारीशरण, वृन्दावन
सत्यकवीर की साखी : वेंकटेश्वर प्रेस, वंवई, सं० १९७७
सामान्य मनोविज्ञान : रामप्रसाद पाण्डेय, श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी, मुजफ्फरपुर, १९५५ ई०, द्वि० सं०
साहित्य रत्नावली : सं० किशोरीशरण अलि, राधावल्लभीय वैष्णव, वृन्दावन, सं० २००७
साहित्य और सौंदर्य : डा० फतेहसिंह, संस्कृति सदन, कोटा
सिद्धान्त रत्नाकर : सं० बाबा विश्वेश्वरशरण, प्र० निम्बार्क शोधमंडल, वृन्दावन, सं० २०१३ वि०
सिद्ध साहित्य : डा० धर्मवीर भारती, किताबमहल इलाहाबाद, १९५५ ई०

सुधर्म बोधिनी : लाडिलीदास, वृन्दावन

सुहृद बानी : सूरदास मदनमोहन की वाणी, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा, सं० २०००

सूर और उनका साहित्य : डा० हरवंशलाल शर्मा, भारतप्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, प्र०, सं० सं० २०१५

सूर की झांकी : डा० सत्येन्द्र, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं०, आगरा, सन् १९५६

सूरदास मदनमोहन जीवनी और पदावली : श्री प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य : डा० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी-१

सूफी काव्य संग्रह : परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सूर सागर २ भाग : सं० नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० २००९, द्वितीय सं०

सूरनिर्णय : द्वारकादास परीख, प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस मथुरा, सं० २००८, द्वितीय संस्करण

सूरसारावली : प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, सं० २०१४

सूर साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई

सूर सौरभ : मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना सदन, कानपुर, सन् १९५६

सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि : डा० रत्नकुमारी, एस० चाँद एंड कं०, दिल्ली

संकेत लता : संकेत अलि, बनारस, सं० १९५१

संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएं : नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद

स्वामी हरिदास (महाकाव्य) : शरणविहारी गोस्वामी, वाणी प्रकाशन, वृन्दावन, सं० २०१०

स्वामी हरिदास अभिनन्दन ग्रन्थ : बाँकेबिहारी जी का मंदिर, वृन्दावन, सं० २०१४

हरिलीला : ब्रह्मगोपाल जी, बाबा कृष्णदास, कुसुम-सरोवर मथुरा, सं० २००५

हरिव्यास यशामृत : रूपरसिक जी, वृन्दावन

हितवाणी : हित हरिवंश जी की समस्त रचनाएं, स्वामी नारायण दास वृंदावन, सं० १९९३

हित हरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य : ललिताचरण गोस्वामी, प्रथम सं०, वेणुप्रकाशन, वृंदावन, सं० २०१४ वि०

हिन्दी साहित्य : डा० श्यामसुन्दर दास, इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९५६

हिन्दी साहित्य : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अतरचंद कपूर एंड संस, दिल्ली, १९५२

हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर, बंबई, सन् १९४४ द्वि० सं०

हिन्दुत्व : रामदास गौड़, ज्ञानमंडल, काशी, सं० १९९०

क्षणदा गीति चिन्तामणि : बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर, मथुरा

संस्कृत ग्रंथ

अग्निपुराण : गुरुमण्डल ग्रंथमाला, कलकत्ता, सन् १९५७

अनंगरंग : कल्याणमल्ल, विद्याविलास प्रेस, बनारस, १९२३ ई०

अणुभाष्य : वल्लभाचार्य, ब्रजवासीदास एण्ड कं०, बनारस, सन् १९०७

अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतकम् : महेश्वरानन्द गिरि, प्र० मंगलचैतन्यगिरि, कनखल, सं० २००५

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कालिदास

अमरकोश : अमरसिंह, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई, सन् १९३०

अमरुशतकम् : अमरुक कवि, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, सन् १९२९

अष्टकालीन नित्यलीला (अष्टयाम) : श्री नित्यानन्द भट्ट, वृन्दावन, सं० २०१५

अहिर्बुध्न्य संहिता : हस्तलिखित, वृन्दावन

ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद् : निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९३२ ई० चतुर्थ संस्करण

उज्ज्वल नीलमणि : रूप गोस्वामी, निर्णयसागर मुद्रणालय, बंबई, द्वितीय संस्करण, १९३२ ई०

ऊर्ध्वाम्नाय तंत्र : अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं० १९८८ वि०

ऋग्वेद : तिलक विद्यापीठ, पूना

औदुम्बर संहिता : औदुम्बराचार्य

कठोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर

कामसूत्र (जयमंगला टीका सहित) : वात्स्यायन, भूमिका, माधवाचार्य, बंबई

काव्यप्रकाश : मम्मट, विद्याविलास प्रेस, बनारस

कुमारसंभवम् : कालिदासग्रन्थावली बनारस

कुञ्जकलिका (हस्तलिखित) : गो० केशवदेव जी, वृन्दावन

कृष्णकर्णामृत (भक्तभारत अंक) : बिल्वमंगल, सं० रामदास शास्त्री, वृन्दावन, सं० २००७

कृष्णोपनिषद् : ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बंबई

कृष्णयामल : हितवाणी के साथ प्रकाशित

कृष्ण सिद्धान्तसार : वृन्दावन

क्रम दीपिका : केशवभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९१७ ई०

कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् : ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बंबई

गर्ग संहिता : पद्मपुराण कलकत्ता

गाथासप्तशती (गाहासत्तसई) : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस

गीतगोविन्द : जयदेव, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, सन् १९१७

गुप्त रस ग्रन्थ (हस्तलिखित) : विट्ठलनाथ जी, ना० प्र० सभा० काशी

गोपाल तापनी उपनिषद् : ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद्, बंबई,

गोपाल पूजन पद्धति : रामेश्वरशरण, वृन्दावन

गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, : सं० म० म० गोपीनाथ कविराज, सरस्वतीभवन टैक्स्ट्स, काशी, सं० १९२५

गोविन्द भाष्य : बलदेव विद्याभूषण, बाबाकृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा

गोवर्द्धन भट्ट ग्रन्थावली : बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा, सं० २०१२

गौतमीय तंत्र : हस्तलिखित तथा मुद्रितनागरी-बंगाक्षर, कलकत्ता, १९४९ ई०

चैतन्यचन्द्रामृत : प्रबोधानन्द सरस्वती, बाबाकृष्णदास, कुसुमसरोवर, सं० २००८

चन्द्रप्रभा चम्पू : गो० नन्दकिशोर जी, वृन्दावन

छान्दोग्य उपनिषद् : गीताप्रेस गोरखपुर

तत्त्वदीप निबन्ध : वल्लभाचार्य, सं० नन्दकिशोर भट्ट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

तंत्रालोक : अभिनवगुप्त, सं० मुकुन्ददास शास्त्री, श्रीनगर, सन् १९१८

तैत्तिरीय उपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर
दशश्लोकी अथवा वेदान्तकामधेनु : वृन्दावन
द्वैताद्वैतविवेक : पं० बिहारीदास जी, मथुरा, सं० २००२
ध्वन्यालोक : गौतम बुक डिपो, दिल्ली, सन् १९५२
नारद पांचरात्र : बंबई
नारद भक्ति सूत्र : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००८
निकुंजरहस्यस्तव : रूप गोस्वामी, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, मथुरा सं० २००९
निम्बार्क विक्रान्ति : औदुम्बराचार्य, श्रीरामचंद्रदास वैष्णव, वृन्दावन, सं० १९९८ वि० प्रथम सं०
निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम : सदानन्द भट्टार्य, वृन्दावन
निरुक्तम् : यास्क, मनसुखराय मोर, कलकत्ता, सं २०१०
नृसिंह तापनी उपनिषद्, : ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बंबई
पद्मपुराण : खेमराज श्री कृष्णदास, बंबई
पद्यावली (बंगाक्षर) : रूपगोस्वामी, शचीनाथराय चौधुरी, मैमनसिंह, सन् १९४६
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी बुद्धि सेवाश्रम बिजनौर, द्वितीय संस्करण, सं० २०११
पंचसायक : ज्योतिरीश्वर
पुराण संहिता : सं० कृष्णप्रियाचार्य जी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९५१ ई०
पुरुषार्थ बोधिनी उपनिषद् : हस्तलिखित, वृन्दावन
पंच सूक्त : वृन्दावन
प्रपन्न कल्पवल्ली : निम्बार्क, शुकदेव नारायणसिंह, बिहार, सं २००६
प्रपन्न सुरतरु मंजरी सौरभ : सुन्दरभट्टाचार्य, प्र० शुकदेव नारायणसिंह, बिहार, सं० २००६
प्रमेयरत्नार्णव : बालकृष्ण, बनारस
प्रातःस्तवम् : स्तोत्ररत्नहार, सनत्कुमारदास, वृन्दावन, सं० १९९६
प्रेमपत्तनम् : रसिकोत्तंस, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं० १९८९
ब्रह्मवैवर्त पुराण, : राधाकृष्ण मोर, कलकत्ता, सन् १९५५
ब्रह्मसूत्र (निम्बार्कदर्शन) : पंडित कल्याणदास, वृन्दावन, सं० १९८९
ब्रह्मसंहिता, टीकासहित : (बंगाक्षर) वृन्दावन
भक्तमाल : ईश्वरीसिंह, राजकीय पुस्तकालय, जयपुर

भक्तमाल : चन्द्रदत्त, बंबई
भक्तमाल : कर्ता अज्ञात, प्राचीन हस्तलिखित, वृन्दावन
भक्तिरसायन : मधुसूदन सरस्वती, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
भगवद्गीता : गीताप्रेस, गोरखपुर
भागवतपुराण अष्टटीका सहित : राधाविनोद मंदिर, वृन्दावन
भरत नाट्यशास्त्र : निर्णयसागर प्रेस, बंबई, सन् १९४३
मध्वसिद्धान्तसार : वृन्दावन
महाभारत : बंबई और गोरखपुर संस्करण
मुण्डकोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर
मंत्र रहस्य षोडशी : श्री निम्बार्क, सं० किशोरदास वैष्णव रामचन्द्रदास, वृन्दावन, सं० १९६३
यमुनाष्टक : हित हरिवंश जी, हितवाणी में संकलित
यमुनालहरी : गो० जगदीश जी, ईश्वरदास, वृन्दावन, सं० १९९४
याज्ञवल्क्य स्मृति : लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० १९८०
युग्म तत्व समीक्षा : पं० भगीरथशर्मा झा, विहारीदासजी, वृन्दावन, सं० २००७
योगदर्शन, पातंजल (वंगाक्षर) : कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, तथा गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०१३
योग वासिष्ठ : गोपालनारायण एण्ड कंपनी, बंबई
राधा प्रेमाष्टक : किशोरीदास, वृन्दावन
राधासहस्रनाम, स्तोत्ररत्नहार : सनत्कुमारदास, वृन्दावन
राधा सिद्धान्त : वंशी अलि जी, नृसिंहदत्त झिंगण, दिल्ली, सं० १९९८
राधा सुधानिधि : हित हरिवंश जी. वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० १९६४
राधा स्तवराज, स्तोत्ररत्नहार : सनत्कुमारदास, वृन्दावन
राधिकोनिषद् : (हस्तलिखित) वृन्दावन
राधिका तापनीयोपनिषद् : (हस्तलिखित) वृन्दावन
राधोपनिषद् : (हस्तलिखित) वृन्दावन
रासोल्लास तंत्र : (हस्तलिखित) वृन्दावन
लघुस्तवराजस्तोत्रम् : क्रमदीपिका के साथ प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९१७ ई०
विदग्ध माधव नाटक : रूप गोस्वामी
विद्वन्मण्डनम् : विट्ठलनाथ जी, बनारस
विष्णुपुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर

विहगेन्द्रसंहिता : (हस्तलिखित) वृन्दावन
वृन्दावनमहिमामृतम् : प्रबोधानन्द सरस्वती
बृहदारण्यकोपनिषद् : ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बंबई
बृहद् ब्रह्मसंहिता : (हस्तलिखित) वृन्दावन
बृहदुपासना रहस्य : (हस्तलिखित) वृन्दावन
वेदान्त कौस्तुभ : श्रीनिवास आचार्य, वृन्दावन
वेदान्त कामधेनु (दशश्लोकी) : खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर पटना, सं० १९७४, तृतीय संस्करण
वेदान्तकौस्तुभ प्रभावृत्ति : केशव काश्मीरि भट्ट, जानकीदास बेरी निवासी, रोहतक, सन् १९३८
वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००९
वेदान्त पारिजात सौरभ : निम्बार्काचार्य
वेदान्त रत्नमाला : अनंतराम देवाचार्य, अ० भा० निम्बार्क महासभा, वृन्दावन, सं० १९९६
वेदान्त रत्न मंजूषा : पुरुषोत्तमाचार्य, बनारस
वेदान्तसार : श्री रामानुज, श्री रामाचार्य ब्रह्मचारी, वृन्दावन
वैशेषिकदर्शन : कणाद, प्रेमपुस्तक भंडार, बरेली, सन् १९५४
वैष्णव धर्म सुरद्रुम मंजरी : संकर्षणदेव, रामचन्द्रदास वैष्णव, वृन्दावन, सं० १९८६
व्रजभक्तिविलास : श्रीलनारायण भट्ट गोस्वामी, बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर, सं० २००८
शाण्डिल्य भक्ति सूत्र : सं० म० म० गोपीनाथ कविराज, जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, काशी
शाण्डिल्य संहिता : म० म० गोपीनाथ कविराज, गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, १९३६ ई०
शिवपुराण : खेमराज श्री कृष्णदास, बंबई
शृंगार रस मण्डन : विट्ठलनाथ जी, बनारस
श्रीकृष्णस्तवराज : वेदान्ततत्त्वसुधा व्याख्या सहित, सेठ नंदराम श्रीनिवास, बंबई, सं० २००७
श्री षट्संदर्भ : जीवगोस्वामी, प्र० श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता, शकाब्द १८२३
श्री गोपालपूजन पद्धति : बाबा रामचन्द्रदास, वृन्दावन, सं० १९९४, द्वितीय संस्करण

श्रीमदाचार्यपरंपरास्तोत्रम् , : वैष्णव रामचंद्रदास, वृन्दावन, सं० १९९२
श्रीभाष्य : रामानुजाचार्य गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस बंबई, सन् १९१४
श्रीलघुस्तवराजस्तोत्रम् : श्रीनिवासाचार्य, श्री किशोरदास, वृन्दावन, सं० १९९४ वि०
श्वेताश्वतर उपनिषद् : ईशाद्यष्टोत्तरशत उपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बंबई
सनत्कुमार संहिता : (हस्तलिखित) निजी संग्रह
सदुक्तिकर्णामृत : संकलन
सर्वदर्शनसंग्रह : मध्वाचार्य, लक्ष्मी वेंकटेश्वर, प्रेस, बम्बई सं० १९८२
सर्वोत्तम स्तोत्र : विट्ठलनाथ जी (हस्तलिखित), निजी संग्रह तथा अन्त संस्करण
सात्वत संहिता : (हस्तलिखित)
सामरहस्योपनिषद् : हस्तलिखित, वृन्दावन
साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, सं० शालिग्राम शास्त्री, मोती, लाल बनारसीदास, बनारस
सिद्धान्तमुक्तावली : वल्लभाचार्य षोडश ग्रंथ में सम्मिलित, सं० भट्ट रमानाथ शर्मा, १९३८ ई०
सिद्धान्त-रत्नांजलि : हरिव्यासदेव, २ भाग, हंसदास जी, बरसाना, प्रथम संस्करण, सं० १९८३,
सुबोधिनी : वल्लभाचार्य, विद्याविभाग, नाथद्वारा
सुधर्माध्वबोध : (हस्तलिखित) अपूर्ण प्रति, वृन्दावन
स्कंदपुराण : खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई
स्तोत्ररत्नहार : सनत्कुमार दास, वृन्दावन
स्वामिनी स्तोत्र : विट्ठलनाथ जी, निर्णयसागर प्रेस, बंबई
स्वामिन्यष्टक : विट्ठलनाथ जी, निर्णयसागर प्रेस, बंबई
संगीतरत्नाकर : शार्ङ्गदेव, आड्यार संस्करण, मद्रास
हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : रूप गोस्वामी, टीका जीव गोस्वामी सहित, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, सं० १९८८ वि०
हरिदासमहिमामृत : गो० नन्दकिशोर जी, वृन्दावन
हरिस्मरणपद्धति : (हस्तलिखित) गो० केशवदेव, वृंदावन

ENGLISH BOOKS

Ain-E-Akabari : Abul Fazl : Gladwin.

Akabar. the Great Moghul : Vincent A Smith, Claredon Press, Oxford 1817 A. D.

A History of Hindi Literature : F. E. Rey.

A Little Road-Book for Mystics : Aelfrida Tillyard, London 1931 A. D.

A History of Indian Philosophy : S. N. Dasgupta, Cambridge Vol. I, 1922, Vol. II, 1932.

Among the Hindus : R. Manohar Lall, Minerva Press, Cawnpore, 1933 A. D.

An Advanced History of India : Majumdar, Ray Chaudhary.

An Outline of the Religious Literature of India : J. N. Farquhar.

A Sketch of the Religious Sects of the Hindus : H. H. Wilson.

Benaras : E. B. Havell, London 1905.

Bengali Religious Lyrics, Sakta : E. J. Thompson & A. M. Spencer, Calcutta, 1923.

Bhakti Cult in Ancient India : B. K. Goswami.

Buddhism : Monier Williams.

Catalogous Catalogorum : Theodore Aufrect. Lipzig, 1896.

Doctrine of Nimbark and his Followers : Roma Bose.

Early History of Vaishnava Faith and Movement in Bengal. S. K. Dey.

Encyclopedia of Religion and Ethics : James Hestings. Edinburgh, 1921.

Essays and Lectures Chiefly of the Religion of Hindus : H. H. Wilson.

Gazetteer of Alwar : P. W. Pawlit.

Gazetteer of Mathura : Dr. Darke Brockman.

Heritage of India : Max Muller.

Hinduism Past and Present : J. M. Michell, London.

History of Aesthestic : Bosenquet.

History of Hindi Literature : F. E. Keay, Association Press, Calcutta 1920.

History of the Rise of the Mohammadan Power in India : Briggs.

Hymns of Alwars. : J. S. M. Hooper. Association Press, Calcutta 1929.

Idea of the Holy : Rudolf Otto France.

Indian Antiquary : Vol. 23.

India and It's Faiths : James Bisset, Pratt, Ph. D. London, 1916.

Imperial Gazetter of India : Ed. 1909.

Lectures on Comparative Religions : Arthur Anthony. M.A., Calcutta 1925.

Lessons on the Vedas : Max Muller. Heritage of India Series, 1892.

Mathura : A District Memoir : F. S. Growse.

Medieval Mysticism of India : Kshiti Mohan Sen.

Moghul Empire in India : S. R. Sharma, Karnatak Printing Press, Bombay 1934.

Monograph of the Religious Sects in India among the Hindus : D. A. Pai., Bombay, 1928.

Obscure Religious Cults : Dr. S. B. Dasgupta, University of Calcutta, 1946.

Origin and Evolution of Religion : Ablert Churchwan. London, 1924.

Primer of Hinduism : J. N. Farquhar, M. A. The Christian Literature Society, London, 1912.

Punjab Census Report : Maclagan, 1891.

Psalms of Maratha Saints : N. Macnicol M. A. D. Lit. Calcutta, 1919.

Sankar's Select Works : S. Venkatraman, Madras.

Sociology of Religion : Joa Chim Wach, London, 1947.

Shakti and Shakta : Sir John Woodroffe, Madras, 1951.

Systems of Meditation in Religion : W. Loftus-Hare, London, 1937.

The Crown of Hinduism : J. N. Farquhar M. A., Bombay 1913.
The Evolution of Religion : Edward Caird, Glasgow, 1907.
The Higher Hinduism in Relation to Christianity : T. E. Slater.
The Idea of the Holy : Rudolf Otto, Oxford, 1925.
Theory of Aesthetic : Historical Summary.
The Religions of India : A Barth, 1891.
The Religious Policy of the Moghul Emperors : S. R. Sharma.
The Sadhs : W. Allison, Calcutta, 1935.
The Soul of India : George Hovells, London, 1913.
Tribes and Castes of the N. W. Prov. and Avadh : 1896.
Truth and Falsehood in Religion : W. Ralph Inge, London, 1907.
Vaishnavism, Saivism and Other Miner Religious Systems : R. G. Bhandarkar.
Vedant Parijat Saurabha of Nimbark : Roma Bose.
Yuganadha : Herbert Gunther.

वंगला-ग्रंथ

चैतन्य चरितामृत : कृष्णदास कविराज
गौडीय वैष्णव साहित्य : हरिदास दास,नवद्वीप
श्री राधार क्रम विकास : डा० शशिभूषणदासगुप्त
श्री ब्रह्मसंहिता : श्री रवीन्द्र वंद्योपाध्याय, भक्तिविद्यालय, वृन्दावन

पत्र-पत्रिकाएँ

आजकल, उर्दू, दिल्ली।
ईश्वर प्राप्ति, राधा अंक।
उषा, इन्दौर।
कबीर संदेश, वाराणसी।
कल्याण, विभिन्न अंक, गोरखपुर
प्रेम सन्देश, वृन्दावन।
सर्वेश्वर, वृन्दावन।
सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग।
समालोचक, आगरा।
हिन्दुस्तान, साप्ताहिक, दिल्ली।
त्रिपथगा, लखनऊ।
अन्य खोज रिपोर्ट, विवरण, हस्तलेखादि।

वैदिक साहित्य का इतिहास

लेखक—डा० पारसनाथ द्विवेदी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, व्याकरण-साहित्याचार्य

संकायाध्यक्ष—साहित्य-संस्कृति-संकाय

श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रस्तुत संस्करण अधिक व्यापक एवं प्रामाणिक होते हुए अत्यन्त सुबोध है। इसमें वैदिक वाङ्मय के साक्ष्य से अनेक मौलिक स्थापनाएँ हैं तथा वैदिक अनुशीलन का इतिहास एवं वैदिक देवताओं पर विशेष रूप से विचार किया गया है। वेदकालीन समाज की सभ्यता एवं संस्कृति के स्वरूप एवं विकास की रूप-रेखा अङ्कित है। वेद क्या है? उनकी रचना कब हुई? इनके प्रतिपाद्य विषय क्या हैं? इन सब विषय का विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है। लेखक ने पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के विचारों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए प्रतिपाद्य विषय के निदर्शन के लिए वैदिकसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र-साहित्य एवं विभिन्न ग्रन्थों तथा लेखकों के उद्धरण यथास्थान देकर विषय को अधिक सुस्पष्ट बनाने का प्रयास किया है। पुस्तक के अन्त में सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची एवं विषयानुक्रमणी भी दी गई है जो अनुसन्धान करने वाले छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। वैदिक साहित्य का यह इतिहास अध्येताओं एवं शोधकर्त्ताओं के लिए अत्यन्त उपादेय सामग्री से सुसम्पन्न है। शोधकर्त्ताओं, परीक्षार्थियों एवं पुस्तकालयों के लिए यह ग्रन्थ संग्रहणीय है। छात्रों की अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह संस्करण सर्वथा उपयोगी सिद्ध होगा। २५—००

अमरकोष का कोषशास्त्रीय तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययन

लेखक—डॉ० कैलाशचन्द्र त्रिपाठी

कोषग्रन्थों में 'अमरकोष' का प्रचलन सर्वाधिक है। यदि कहा जाय कि 'अमरकोष' के अतिरिक्त शब्दज्ञान का व्यावहारिक लघुभूत उपाय दूसरा कोई नहीं तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं है। इसकी उपादेयता का मूल्याङ्कन अब तक उपेक्षित रहा है। डा० कैलाशचन्द्र त्रिपाठी ने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध लिखकर इस अभाव की पूर्ति की है। प्रस्तुत ग्रन्थ में शोधकर्ता ने कोषविद्या के विकास एवं तुलनात्मक विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपना कर शब्दों के स्वरूपात्मक-विवेचन में समन्वयात्मक मार्ग अपनाया है। इस कारण इस ग्रन्थ की उपयोगिता और बढ़ गई है। शब्दों की प्रायोगिक विशेषताओं की समीक्षा किये जाने से इसका व्यावहारिक पक्ष और अधिक व्यापक हो गया है। मूल्य ४०—००